

GL H 891.431
RAS



123810
LBSNAA

श्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

L.D.S. National Academy of Administration

मसूरी
MUSSOORIE

पुस्तकालय
LIBRARY

— 123810

अवधि संख्या

Accession No.

~~15046~~

वर्ग संख्या

Class No.

GLH

891.431

पुस्तक संख्या

Book No.

RAS

रसिकेश

हिन्दी में नीति-काव्य का विकास

हिन्दी में नीति-काव्य का विकास

(सं० १६०० वि० तक)

(दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डा० रामसरूप शास्त्री 'रसिकेश'

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच० डी०

प्राध्यापक, हंसराज कालेज

तथा

दिल्ली विश्वविद्यालय,

दिल्ली

दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
के निमित्त

दिल्ली पुस्तक सदन,

बिल्ली, पटना, जयपुर

द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक :
दिल्ली पुस्तक सदन,
बैंगलो रोड, दिल्ली

©, १९६२ रामस्वरूप शास्त्री

मूल्य : २५-००

मुद्रक :
रामस्वरूप शर्मा,
राष्ट्र भारती प्रेस,
कूचा चेलान, दिल्ली।

समर्पण

अकथ्य भावनाओं सहित

पूज्य पिता

श्री मंगल सैन जी

के

कर-कमलों में

सादर समर्पित

हमारी योजना

‘हिन्दी में नीति-काव्य का विकास-सं० १६०० वि० तक’ हिन्दी अनुसंधान परिषद् ग्रन्थमाला का छब्बीसवाँ पुष्प है। ‘हिन्दी अनुसंधान परिषद्’ दिल्ली-विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग की संस्था है। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिन में प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर, विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ, प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे जिन पर दिल्ली-विश्वविद्यालय की ओर से पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है; और तीसरे वे, जिनका अनुसंधान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (२) हिन्दी वक्रोचितजीवित, (३) भरतू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा (७) काव्य-कला (होरेस-कृत), (८) सौन्दर्य-तत्त्व (९) हिन्दी अभिनव-भारती, तथा (१०) हिन्दी नाट्यदर्पण। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटकः उद्भव और विकास, (३) सूफी मत और साहित्य (४) अपभ्रंश-साहित्य (५) राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य (६) गूरु की काव्यकला, (७) हिन्दी में अमरगीत काव्य और उसकी परम्परा (८) मैथिलीशरण गुप्तः कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिरामः कवि और आचार्य, (११) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यसिद्धान्त, तथा (१२) ब्रज-भाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य-भक्ति। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसंधान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, तथा (३) अनुसंधान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का तेरहवाँ प्रकाशन है, जिसे हम हिन्दी-काव्य-मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं। इसके लेखक डॉ० रामसरूप शास्त्री हिन्दी-संस्कृत के

अत्यन्त अनुभवी प्राध्यापक हैं जो देश-विभाजन से पूर्व १५ वर्ष तक डी० ए०-बी० कालेज, लाहौर, में अध्यापन करते रहे और गत १४ वर्षों से हंसराज कालेज, दिल्ली, तथा दिल्ली-विश्वविद्यालय में कार्य कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध इनके पाँच वर्ष के अनुसंधान का निष्कर्ष है जिसमें ११३ कवियों के १५५ नीति-काव्यों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए हिन्दी-नीति-काव्य के विकास का सम्यक् विवेचन किया गया है। लेखक ने अपनी लम्बी साहित्यिक यात्राओं में अनेक अप्रकाशित हिन्दी-नीति-काव्यों का अन्वेषण किया है जिनका आलोचनात्मक अध्ययन पहली बार हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। इस अध्ययन के फलस्वरूप निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दी-नीति-काव्य दस-पाँच रचनाओं तक ही सीमित न था, अपितु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से वह अत्यंत विस्तृत, गम्भीर एवं परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुरूप था। डा० शास्त्री ने निश्चय ही अपने प्रबन्ध द्वारा हिन्दी के शोषपरक साहित्य को समृद्ध करने में स्तुत्य योगदान किया है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसंधान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली
कार्तिक-पूर्णिमा, २०१६ वि०

नगेन्द्र
अध्यक्ष

प्राक्कथन

जब सन् १९५३ ई० में मैंने 'हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास' पर अध्ययन आरम्भ किया तब विदित न था कि इसी विषय पर कोई अन्य विद्वान् भी अनुसन्धान कर रहे हैं या नहीं। दो-एक वर्ष के बाद ज्ञात हुआ कि श्री भोलानाथ तिवारी एम० ए० की खोज का विषय भी लगभग यही है। उस समय मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्रीर प्रपने निरीक्षक डा० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट् से विषय-परिवर्तन के सम्बन्ध में परामर्श किया। उन्होंने यह सम्मति दी कि विषय व्यापक है; अनु-सन्धित्सुओं के दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् हो सकते हैं; अतः कार्य जारी रखना चाहिए। सो कार्य चलता रहा।

सौभाग्य से जब डा० तिवारी यहीं आ गये तब उनके प्रबन्ध की हस्तलिखित प्रति देखने का अवसर प्राप्त हुआ। यह देख कर संतोष हुआ कि उनका श्रीर मेरा दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है। उनके प्रबन्ध में तो नीति के विभिन्न विषयों पर विभिन्न नीतिकवियों के विचारों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं और प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी के नीतिकाव्य का, आदिकाल से गीतकाल की समाप्ति तक, कालक्रम तथा प्रवृत्तिक्रम से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उनका अध्ययन तो अधिकतर प्रकाशित नीतिकाव्यों पर निर्भर है परन्तु मुझे हस्त-लिखित नीतिकाव्य अधिक देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। इस प्रकार ये दोनों प्रबन्ध एक दूसरे के पूरक हैं और आशा है कि उन पाठकों की जिज्ञासा शान्त करने में सहायक होंगे जो नीतिकाव्य के अध्ययन में रुचि रखते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में नीति के लगभग साठ मुख्य और इतने ही सामान्य नीति-कवियों का परिचय दिया गया है। इस संख्या में नाथ-कवि, सन्त, सूफी, राम-कवि, कृष्ण-कवि, शृंगारी कवि और संग्रहकार सम्मिलित नहीं हैं। प्रमुख कवियों का संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा उनकी कृतियों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है और सामान्य कवियों का संक्षिप्त निर्देश कर दिया गया है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर काल-विशेष की समीक्षा भी दे दी गई है।

उपयुक्त नीतिकवियों में से अधिकतर ऐसे हैं, जिनकी अप्रकाशित कृतियाँ मुझे बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय, सेठिया जैन ग्रंथालय, अनूप संस्कृत पुस्तकालय तथा श्री मोतीचन्द खजानची के पुस्तक भंडार में, जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर, काले छाबड़ों के मंदिरों, ग्रामेर शास्त्र भंडार, ठोलियों के मंदिर और विद्याभूषण पुस्तकालय में, उदयपुर के सरस्वती-भण्डार और साहित्य-संस्थान में तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के सभासंग्रह और याज्ञिक संग्रह में प्राप्त हुई। उक्त कृतियों में से अधिकांश के नाम और संकेत मात्र भले ही खोज-विबरणों में प्राप्त हो जाएँ परन्तु नीतिकाव्य की दृष्टि से उनका विस्तृत विवेचन अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। इस प्रबन्ध में

नीति की मौलिक काव्य-कृतियों का ही नहीं, अनूदित तथा संग्रहात्मक-रचनाओं का भी संक्षिप्त विवरण दे दिया गया है, जिससे परवर्ती अन्वेषकों को कुछ उपयोगी संकेत मिल सकें।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खण्डों में विभाजित है—१. भूमिका २. शोध। यद्यपि भूमिका-खण्ड में भी बहुत सी मौलिक-सामग्री प्रस्तुत की गई है तथापि मेरा वास्तविक प्रतिपाद्य शोध-खण्ड में ही उपन्यस्त है। भूमिका-खण्ड में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में नीति की परिभाषा, प्रकार और नीतिकाव्य के काव्यत्व पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं के साहित्य तथा कोशों के अवलोकन से मुझे “उचित व्यवहार” ही नीति की सर्वोत्तम परिभाषा प्रतीत हुई। विद्वानों ने राजनीति, धर्मनीति, कुटिल नीति, सरल नीति आदि नीति के कई सम्भव भेद किये हैं परन्तु मैंने नीति का वर्गीकरण यों किया है—व्यक्ति, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, इतर-प्राणि-विषयक और मिश्रित नीति। इस वर्गीकरण में व्यक्ति को केन्द्र मानकर क्रमशः उसके व्यवहार-क्षेत्र को विस्तृत किया गया है। पहले तो मेरा विचार था कि धर्मनीति और राजनीति को भी विवेच्य-क्षेत्र में समाविष्ट कर लूं परन्तु जब अपनी साहित्यिक यात्राओं में इन विषयों के विशाल साहित्य को देखा तब विस्तार-भय से विषय को संकुचित रखना ही उचित समझा। अब मैंने धर्म, राजनीति, देश काल, मृत्यु, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि का उल्लेख मिश्रित नीति में ही कर दिया है। कई लोग नीतिकाव्य का काव्यत्व ही स्वीकार नहीं करते, इसलिए इसी अध्याय में उनके आक्षेपों का भी निराकरण कर दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में नीति की परम्परा का उल्लेख किया गया है क्योंकि इसके बिना हिन्दी के नीति काव्य का विकास समझ में नहीं आ सकता। इसमें क्रमशः वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के नीति-काव्यों का दिग्दर्शन कराया गया है। संस्कृत तथा अपभ्रंश नीतिकाव्य का परिचय अधिक विस्तार से देना पड़ा क्योंकि प्रथम भाषा ने हिन्दी नीतिकाव्य को सबसे अधिक प्रभावित किया और दूसरी तो उसकी जननी ही है।

शोधखण्ड में सात अध्याय हैं। प्रथम पाँच अध्यायों में हिन्दी के नीति काव्य का विकास दिखाया गया है। यदि अध्ययन काल की ही दृष्टि से किया जाता तो तीन अध्याय पर्याप्त थे। परन्तु वीर-काव्यों की रचना आदि काल में ही अवसित नहीं हो गई, परवर्ती कालों में भी होती रही। जहाँ प्रथम अध्याय में नाथों श्री सुमरी के काव्यों के नीतिकाव्य का विवेचन किया गया है वहाँ द्वितीय अध्याय में समग्र वीर-काव्यों के नीतिरस पर प्रकाश डाला गया है। भूपण, गोरेलाल, सूदन आदि कवियों के नीति-काव्य का परिचय आदि काल में देना अनूचित होता, अतः सब वीर कवियों को, नीति की प्रायिक समता के कारण, एक ही अध्याय में रखा गया है। इसी प्रकार भक्ति-काल में जो सन्तकाव्य, सूफीकाव्य, रामकाव्य और कृष्णकाव्य की धाराएँ उद्भूत हुई

वे रीतिकाल के अन्त तक प्रवाहित होती रहीं। इस लिए जहाँ तृतीय अध्याय में प्रमुख नीति-कवियों, अकबरी दरबार के नीति-कवियों, अनुवादकों और फुटकर नीतिकवियों का कविशः और कृतिशः परिचय दिया गया है वहाँ चतुर्थ अध्याय में सन्तों, सूफियों रामकवियों और कृष्णकवियों की रचनाओं के नीतितत्त्व का चार वर्गों में सामूहिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

रीतिकाल में जहाँ आशा से अधिक कवियों ने मौलिक स्वतन्त्र नीतिकाव्यों का प्रणयन किया, वहाँ कई एक ने प्राचीन नीतिग्रन्थों के अनुवाद भी किए। फिर शृंगारिक कवियों की रचनाओं में भी स्फुट रूप से नीति पाई जाती है और काव्य-संग्रहों में भी। इनके अतिरिक्त कुछ साधारण नीति-कवियों के स्फुट पद्य या कृतियाँ मिलती हैं। इन पंचविध साहित्यकारों का पृथक्-पृथक् विवरण पंचम अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

छठे अध्याय में पूर्ववर्ती नीतिकाव्यों का हिन्दी नीतिकाव्य पर भाव और कला की दृष्टि से प्रभाव दिखाया गया है। चूँकि इस विषय पर डॉ० तिवारी भी सविस्तर लिख चुके हैं और प्रस्तुत प्रबन्ध में भी अनेकत्र प्रकाश डाला जा चुका है अतः इस अध्याय को संक्षिप्त रखना ही उचित प्रतीत हुआ। यद्यपि प्रत्येक काल तथा प्रवृत्ति के नीतिकाव्य का मूल्यांकन उस-उस अध्याय के अंत में किया गया है तथापि सप्तम अध्याय में उपसंहार रूप में अपने समस्त अध्ययन का निष्कर्ष दे दिया गया है।

अपने अध्ययन का उपक्रम करते समय मुझे सन्देह था कि इतने नीतिकाव्य उपलब्ध भी होंगे या नहीं, जिन पर एक प्रबन्ध लिखा जा सके। परन्तु जब उपर्युक्त स्थानों और पुस्तक-भंडारों में जाकर ग्रंथावलोकन का अवसर प्राप्त हुआ तब संशय निवृत्त हो गया। अब तो ऐसा लगता है कि उत्तर भारत के अन्य भंडारों में भी खोज करने पर नीति-विषयक अनेक उपयोगी काव्य मिल सकते हैं।

इधर जिन काव्यों के अवलोकन का अवसर मुझे मिला है वे भी संख्या, कवित्व और उपयोगिता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उनसे सिद्ध होता है कि हिन्दू, सिख, जैन, मुसलमान स्त्री, पुरुष सभी ने स्वतन्त्र काव्यों या स्फुट पद्यों के रूप में ऐसी रचनाएँ की हैं जो सरमता-पूर्वक जन-समुदाय का पथ-प्रदर्शन करती हैं।

यह भली भाँति जानते हुए कि आजकल बृहत्परिमाण प्रबन्ध प्रशंसनीय नहीं समझे जाते, मैंने प्रस्तुत प्रबन्ध को अमौलिक, अनावश्यक, असंगत और पुनरुक्त सामग्री से बचाने का यथाभव प्रयास किया है। इसी उद्देश्य से अनूदित तथा संग्रहात्मक कृतियों और फुटकर कवियों तथा उनके काव्यों का परिचय भी अतिसंक्षेप से दिया गया है। इतने पर भी यदि यह प्रबन्ध यथेष्ट संक्षिप्त नहीं हो सका तो इसके कई कारण हैं। प्रथम, उन लोगों के मत का निरसन नितान्त आवश्यक था जो नीतिकाव्य के काव्यत्व का ही निषेध करते हैं। द्वितीय, प्रबन्ध में हिन्दी के नीति-काव्य का विकास स्पष्ट करना था, अतः पूर्ववर्ती भाषाओं के नीतिकाव्यों पर कुछ विस्तृत प्रकाश डालना अनिवार्य था। तृतीय, नीतिकाव्य नीति-कवियों की ही कृतियों में प्राप्त नहीं होता,

नाथों, वीर-कवियों, सन्तों, सूफियों, रामकवियों, कृष्णकवियों और शृंगारी कवियों की रचनाओं में भी विकीर्ण है, अतः इस प्रासंगिक नीतिकाव्य की उपेक्षा भी अवांछनीय थी। चतुर्थ, तुलसीदास, रहीम, गंग, वृन्द, बांकीदास, दीनदयाल आदि प्रमुख नीति-कवियों के नीतिकाव्य की दृष्टि से विस्तृत अध्ययन के बिना हिन्दी-नीतिकाव्य का विकास दुर्बोध रहता। और अन्त में सबसे बड़ा कारण है, वह प्रचुर मौलिक हस्त-लिखित सामग्री जो सौभाग्यवश साहित्यिक यात्राओं में मेरे हाथ लगी। उस सामग्री का उपयोग भी मैंने आंशिक रूप से ही किया है। इतने पर भी यदि यह प्रबन्ध उक्त कारणों से कुछ बड़ा हो गया तो विवशता के लिए मैं क्षन्तव्य हूँ।

परीक्षक महोदयों ने प्रबन्ध-परीक्षण के पश्चात् कृपा-पूर्वक जो अमूल्य सुझाव दिये थे, उनके अनुसार प्रबन्ध में यथा-सम्भव परिवर्तन कर दिये गये हैं। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के पाठों को मैंने कई कारणों से प्रायः भ्रक्षुण्ण रहने दिया है। आशा है विज्ञ पाठक अध्ययनकाल में स्वयं ही उनका संशोधन कर लेंगे।

प्रस्तुत विषय का अध्ययन डॉ० नगेन्द्र डी-लिट् के निर्देशन में संपन्न हुआ। मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अग्रचंद नाहटा का मैं विशेष आभारी हूँ जिनके अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, में मुझे एक मास तक अनेक पुस्तकें देखने का सुवसर प्राप्त हुआ। इनके अतिरिक्त मैं दिल्ली के श्री पन्नालाल जैन और श्री परमानन्द जैन, भलीगंज (एटा) के श्री कामताप्रसाद जैन, हापुड़ के डॉ० रामदत्त भारद्वाज, वाराणसी के डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, उदयपुर के मुनि कान्तिसागर तथा डॉ० मोतीलाल मेनारिया और जयपुर के मुनि जिनबिजय, डॉ० मथुरालाल, पुरोहित रामगोपाल तथा श्री कस्तूरचंद कासलीवाल का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्रत्यक्षतः या पत्र-व्यवहार द्वारा मेरी अनेक प्रकार से सहायता की। यहीं पर मैं उपयुक्त साहित्यिक तथा धार्मिक संस्थाओं के संचालकों के प्रति कृतज्ञता-प्रदर्शन भी अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी कृपा से मुझे अनेक हस्तलिखित और प्रकाशित ग्रन्थ देखने की सुविधा प्राप्त हुई। मैं उन विद्वानों को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिनकी प्रकाशित पुस्तकों की सूची परिशिष्ट में दी गई है और अन्त में दिल्ली पुस्तक सदन के संचालकों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने प्रबन्ध के सुप्रकाशन में स्तुत्य सहयोग दिया है।

बोषान्निरस्य गृह्णन्तु गुणमस्या मनीषिणः।

पांसूनपास्य मञ्जर्या मकरन्दमिवालयः॥

डी—१४१,

झारदा निकेतन,

राजेन्द्र नगर, दिल्ली

—रामसरूप

कार्तिक-पूर्णिमा, २०१६ वि०

विषय-सूची

विषय

पृष्ठ-संख्या

हमारी योजना

प्राक्कथन

भूमिका-खण्ड (१-१२८)

प्रथम अध्याय—नीति की परिभाषा और प्रकार तथा नीति-काव्य का काव्यत्व

३—३३

(क) नीति की परिभाषा, ३; व्युत्पत्त्यात्मक तथा प्रचलितार्थ, ३; वैदिक साहित्य में नीति के अर्थ, ३; प्राचीन महाकाव्यों में नीति के अर्थ, ४; अभिजात संस्कृत साहित्य में नीति के अर्थ, ७; संस्कृत के नीति-साहित्य में नीति के अर्थ, ६; हिन्दी-साहित्य में नीति के अर्थ, १२; कोशों में नीति के अर्थ, १३। (ख) नीति के प्रकार, १५; (ग) नीति काव्य का काव्यत्व, १८; प्रथम आक्षेप की परीक्षा, २८; द्वितीय आक्षेप की परीक्षा, २३; विदेशीय विद्वानों का मत, २४; काव्य का मुख्य प्रयोजन, २५; नीति-काव्य का प्रयोजन, २७; काव्य में नीति-काव्य का स्थान, २८; निष्कर्ष, ३२

द्वितीय अध्याय—भारतीय साहित्य में नीति-काव्य की परम्परा

३४—१२८

वैदिक साहित्य में नीति-काव्य, ३४; संस्कृत का नीति-काव्य, ४३; रामायण, ४३; महाभारत, ४५; पुराण, ४६; समीक्षा, ५१; महाकाव्य, ५२; खण्डकाव्य, ५४; ऐतिहासिक काव्य, ५६; चम्पू-काव्य, ५७; मुक्तक काव्यों में नीति, ५८; दृश्य काव्यों में नीति, ६२; नीति-काव्यों में नीति, ६५; प्रत्यक्ष नीति-काव्य, ६५; अन्या-पदेशिक नीति-काव्य, ७१; सुभाषित-संग्रहों में नीति-काव्य, ७२; संस्कृत के नीति-काव्य की आलोचना, ७३; पालिभाषा का नीति-काव्य, ८२; पालि-नीति-काव्य की समीक्षा, ८४; साहित्यिक प्राकृतों का नीति-काव्य, ८७; प्राकृत नीति-काव्य की समीक्षा, ९५; अप-भ्रंश का नीति-काव्य, १०३; धार्मिक साहित्य, १०३; ऐहिक

साहित्य, ११२; अपभ्रंश-नीति-काव्य की समीक्षा, ११३; नीतिकाव्य परम्परा का निष्कर्ष, १२५

शोध-खण्ड (१२६—६४१)

प्रथम अध्याय—आदिकाल का नीति काव्य

१३१-१४१

नाथ-काव्य में नीति-तत्त्व, १३१; खुसरो के काव्य में नीति-तत्त्व, १३६

द्वितीय अध्याय—वीरकाव्य में नीति-तत्त्व

१४२-१८०

वैयक्तिक नीति, १४२; पारिवारिक नीति, १४५; सामाजिक नीति, १४६; आर्थिक नीति, १६०; इतर-प्राणि-विषयक नीति, १६१; मिश्रित नीति, १६२; वीरकाव्यों के नीति-काव्य पर एक दृष्टि, १६६; निष्कर्ष, १८०

तृतीय अध्याय—भक्तिकाल का नीति-काव्य

१८१-२६०

(१) भक्तिकाल के प्रमुख नीति-कवि, (१८२-२४७): पद्मनाभ, १८२; ठकरसी, १८३; छोहल, १८५; गो० तुलसीदास, १८७; रत्नावली, १९६; देवीदास, २०१; उदैराज, २०५; जानकवि, २११; बनारसी-दास, २१७; सुन्दरदास, २२६; बाजिन्द, २३५; बांन, २३७; राजसमुद्र, २४०; कुशलधीर, २४१; लाल (?), २४३; समीक्षा, २४५

(२) अकबरी दरबार के कवि, (२४७-२८६): महापात्र नरहरि, २४८; राजा टोडर मल, २५७; ब्रह्म, २५८; गंग, २६३; रहीम, २७०; सिंहावलोकन, २८२

(३) अनुवादक कवि, (२८६-८८): बनारसीदास, २८६

(४) फुटकल नीति कवि, २८८-६०

चतुर्थ अध्याय—भक्तिकाव्य में नीति-तत्त्व

२६१-४५६

(क) सन्त-काव्य में नीति-तत्त्व, (२६१-३२०): वैयक्तिक नीति, २६२; पारिवारिक नीति, २६५; सामाजिक नीति, २६७; आर्थिक नीति, ३०५; इतर-प्राणि-विषयक नीति ३०७; मिश्रित नीति, ३०८; आलोचना, ३१२; प्रमुख विशेषताएँ ३१६

(ख) सूफी-काव्य में नीति-तत्त्व, (३२०-३६४): प्रेमकथानक, ३२०; वैयक्तिक नीति, ३२१; पारिवारिक नीति, ३२८; सामाजिक नीति, ३३२; आर्थिक नीति, ३३६; इतर-प्राणि-विषयक नीति, ३३६; मिश्रित नीति, ३३६; प्रेमकथानकों के नीतिकाव्य पर एक दृष्टि: विषय, ३४४; भारतीय नीति-काव्य का प्रभाव, ३४६; विदेशी प्रभाव, ३५०; स्फुट रचनाएँ, ३५३; स्फुट सूफी-काव्य पर एक दृष्टि, ३५५;

सन्तों और सूफियों के नीतिकाव्य की तुलना, ३६१; निष्कर्ष, ३६४
(ग) रामकाव्य में नीतितत्त्व : (३६५-४२०); वैयक्तिक नीति, ३६६;
पारिवारिक नीति, ३७४; सामाजिक नीति, ३८६; आर्थिक नीति,
४०२; इतर-प्राणिविषयक नीति, ४०६; मिश्रित नीति, ४०६; राम-
काव्य पर एक दृष्टि, ४१५; प्रमुख विशेषताएँ, ४२०

(घ) कृष्णकाव्य में नीति तत्त्व, (४२०-४५६) : वैयक्तिक नीति,
४२१; पारिवारिक नीति, ४२४ सामाजिक नीति, ४२६ आर्थिक नीति,
४३६; इतर-प्राणिविषयक नीति, ४३६; मिश्रित नीति, ४४०; कृष्ण-
काव्य पर एकदृष्टि, ४४५; रामकाव्य और कृष्णकाव्य, ४५३; प्रमुख
विशेषताएँ, ४५६

पंचम अध्याय—रीतिकाल का नीतिकाव्य

४५७-६२७

(१) प्रमुख नीतिकवि, (४५८-५८४) : जसराज (जिनहर्ष), ४५६;
सुखदेव, ४६१; हेमराज, ४६२; भैया भगवतीदास, ४६३; लक्ष्मी-
वल्लभ, ४६५; वृन्द, ४६७; धर्मसिंह, ४८१; जिनरंग सूरि, ४८५;
बालचन्द, ४८६; अक्षर अनन्य, ४८६; देवीदास, ४८७; केशवदास
जैन, ४८६; गोपाल चानक, ४८६; रघुराम, ४८४; किसन, ४८६;
भूषरदास, ४८७; घाघ ५००; चाचा हितवृन्दावनदास, ५०२;
गिरिधर कविराय, ५०४; विनय भक्ति, ५१०; ज्ञानसार, ५११;
नाथूराम (नाथिया), ५१४; गणपति भारती, ५१६; स्यामदास,
५१७; कृपाराम बारहठ, ५१८; बाँकीदास, ५१६; बैताल, ५४६;
मनरंगलाल, ५४७; रघुनाथ, ५४६; बुधजन, ५५०; दीनदयाल
गिरि, ५५७; गुपाल कवि, ५७२; केसीदास, ५७८; भड्डरी, ५७८;
मानिकदास, ५७६; मनराम, ५७६; मूर्खभेद चौपाई, ५८१; त्रीया-
विनोद चरित, ५८२; दातार सूर नो संवाद, ५८३

(२) नीति-ग्रंथों के अनुवादक कवि, (५८४-८६) : जयसिंहदास, ५८४;
नयनसिंह, ५८४; कृष्ण कवि, ५८५; द्वारकानाथ सरस्वती, ५८५;
देवीचन्द, ५८६; ब्रजनिधि, ५८६; चन्दनराम, ५८७; उम्मेद राम,
५८७; विष्णुगिरि, ५८८

(३) शृंगारी कवियों का नीतिकाव्य, (५८६-६०८) : वैयक्तिक नीति,
५८०; पारिवारिक नीति, ५८२; सामाजिक नीति, ५८४; आर्थिक
नीति, ६००; इतर-प्राणिविषयक नीति, ६०१; मिश्रित नीति, ६०४;
आलोचना, ६०५; निष्कर्ष, ६०७

(४) संग्रह-ग्रंथों में नीतिकाव्य, ६०८-११

(५) फुटकल नीतिकवि, ६११-६१५

रीतिकालीन नीतिकाव्य की समीक्षा, ६१५; रीतिकालीन नीतिकाव्य
को प्रमुख विशेषताएँ, ६२५

षष्ठ अध्याय—पूर्वर्ती नीतिकाव्य का हिन्दी नीतिकाव्य पर प्रभाव ६२८-६३४
भाव, ६२८; भाषा, ६३१; रस, ६३२; मलंकार, ६३२; काव्यविधान,
६३३; शैली, ६३४; छन्द, ६३४

सप्तम अध्याय—उपसंहार ६३५-६४१
क्रमिक विकास, ६३५; मूल्यांकन, ६३५; तुलनात्मक मूल्यांकन, ६३८;
परिमाण, ६३८; वर्ण्य विषय, ६३८; मौलिकता, ६३९; उपयोगिता,
६३९; काव्य-सौष्ठव, ६४०; निष्कर्ष, ६४१

प्रथम परिशिष्ट—हस्तलिखित ग्रंथों की सूची ६४२-६४४

द्वितीय परिशिष्ट—प्रकाशित ग्रंथों की सूचियाँ व संकेत ६४५-६५२

अनुक्रमणी— ६५३-६५९

ग्रन्थ सूची ६६०-६६९



(१)

भूमिका-खण्ड

प्रथम अध्याय

नीति की परिभाषा और प्रकार तथा नीति-काव्य का काव्यत्व

(क) नीति की परिभाषा

व्युत्पत्त्यात्मक तथा प्रचलित अर्थ—संस्कृत का शब्द “नीति” प्रापणार्थक धातु “नी” (णीञ्) तथा भावार्थक प्रत्यय “ति” (क्तिन्) के संयोग से निष्पन्न होता है। इसलिए “पीति” (पान) तथा “अधीति” (अध्ययन) के समान “नीति” का अर्थ भी नयन (ले जाना) वा प्रापण (पहुँचाना) ही है। परन्तु आज यह प्रायः उचित (अर्थ-प्रापक वा लक्ष्यसाधक) व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

वैदिक साहित्य में नीति के अर्थ—संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में “नीति” शब्द स्वतन्त्र रूप में तो उपलब्ध नहीं होता, परन्तु समासान्त में इसका प्रयोग अनेकत्र मिल जाता है। जैसे—

१—ऋजुनीति नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान् ।^१

मित्र और वरुण हमें कौटिल्य-रहित नीति (प्रापण) द्वारा अभीष्ट फल दिलाएँ। यहाँ नीति के पूर्व “ऋजु” का प्रयोग यह ध्वनित करता है कि प्रायः नीति में कुछ चातुर्य मिश्रित रहता है।

२—वामी वामस्य धृतयः प्रणीतिरस्तु स्मृता ।^२

हे प्रकम्पित करने वाले मरुत देवताओं, तुम्हारी वाणी हमारे लिए धन खूब लाने वाली हो।

१. णीञ् प्रापणे । सिद्धान्त कौमुदी (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३८ ई०) पृष्ठ ४७० ।

२. स्त्रियां क्तिन्, पाणिनि, अष्टाध्यायी—३-३-६४ ।

३. ऋग्वेद १।६०।१; प्र०—अरविन्द आश्रम पाण्डेयरी । सायणभाष्य—ऋजुनीत्या ऋजुनयनेन ।

४. कौटिल्यरहितेनागमनेन नयतु अभिमतं फलं प्रापयतु ।

सिद्धान्तनाम्न भाष्य—कौटिल्यज्ञानेन नयनेन नेतव्यमुत्तमस्थानं प्रति प्रापणेन । ऋग्वेद ६।४८।२०; सायण भाष्य—(हे कल्पितारः मरुतः) युष्मदीया वाक् प्रणीतिरस्तु, अस्मदर्थं वनानां प्रणेत्री भवतु ।

१—यदा गच्छादसुनीतिमेतामय देवानां वशनीर्भवाति ।^१

जब यह प्राणापहारक देवता के पास जा पहुँचता है तब यह देवताओं का वशवर्ती बन जाता है ।

४—इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छुद्धनीतिः प्रमायिनाममिनाद् वर्पनीतिः ।^२

प्रवृद्ध कर्माँ वाले इन्द्र ने वृत्र को घेर लिया तथा युद्ध में शत्रुओं के प्रहारों के निवारक कर्म करने वाले इन्द्र ने मायावी असुरों का अत्यधिक वध किया ।^३ इसी मन्त्र के “वर्पनीति” शब्द का अर्थ महीधर ने “नाना रूपधारी” अर्थात् कपटी असुरों को अनेक रूप प्राप्त करके मारने वाला (इन्द्र) किया है । इससे कपटी लोगों के प्रति नीति के व्यवहार की ध्वनि भी निकलती है ।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में नीति शब्द चार अर्थों में व्यवहृत हुआ है—

२—प्रापण अर्थात् पहुँचाना

२—लाने वाली

३—ले जाने वाली

४—कर्म, व्यवहार

प्राचीन महाकाव्यों में ‘नीति’ के अर्थ

वैदिक साहित्य में तो समास-रहित नीति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, परन्तु हमारे महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—में वह और उसका पर्यायवाची “नय” सहस्रों स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है । जैसे—

१—श्री रामचन्द्र के गुरुओं के उल्लेख में वाल्मीकि कहते हैं—

बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमान्छत्रुनिवहणः ।^४

श्री रामचन्द्र बुद्धिमान्, नीति-कुशल, सुवक्ता तथा शत्रुनाशक थे । तिल-

१. अथर्व०—१८।२।५

सायणभाष्य—असुनीतिम्—असून् प्राणान् नयति लोकान्तरमिति असुनीतिः प्राणापहर्त्री देवता ताम् ।

२. ऋग्वेद ३।३४।३

सायणभाष्य—शर्षं प्रवृद्धं नीतिः कर्म यस्य सः । तथा वर्पनीतिः युद्धे परप्रहाराणां निवारककर्मा इन्द्रः मायिनो असुरान् प्रकर्षेणावधीत् ।

३. वर्प इति रूपनाम (निघंटु : ७) । वर्पं नानारूपं नयति प्राप्नोति वर्पनीतिः नानारूपधारी (महीधर भाष्य) ।

४. रामायणम् (तिलकव्याख्यासमेतम्), निर्णयसागर प्रेस, १९३०, बालकांड, सर्ग १, श्लोक ६ । तिलक—नीतिः कामन्दकादिप्रसिद्धराजनीतिः, वही, १।१।६ ।

काव्या व्याख्या के रचयिता राम के मत में इस स्थल पर नीति शब्द राजनीति का वाचक है।

२—वाल्मीकि ने दशरथ के भ्रमास्थों को 'नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः'^१ अर्थात् नीति-शास्त्र के विशेष ज्ञाता कहा है। कहना अनावश्यक होगा कि यहाँ नीति का आशय राजनीति से ही है।

३—राम के राजतिलक के प्रसंग में मन्थरा कैकेयी को प्रबोधित करती हुई कहती है कि राजा के सभी सुत सिंहासनासीन नहीं हुआ करते। क्योंकि—

स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ।^२

'सभी के अभिषिक्त होने पर बड़ा भारी अनय हो जाएगा।' तिलककार ने 'अनय' का अर्थ अन्याय (अनीति, अनुचित व्यवहार) किया है।

४—वाल्मीकि रामायण में मन्त्रियों के गुण-वर्णन में 'नय' शब्द का व्यवहार राजनीति के अर्थ में भी दृष्टिगोचर होता है—

हितार्थाच्च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा ।^३

'वे मन्त्री नरेन्द्र (दशरथ) के हितार्थी तथा नीति के नेत्रों से सदा जागरित रहते थे।' यहाँ प्रसंग-बल से 'नीति' शब्द की राजनीतिपरकता असंदिग्ध है।

५—महाभारत के उद्योग पर्व के ३३-४० अध्याय विदुरनीति के नाम से प्रख्यात हैं। इनमें से प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'विदुरनीति'^४ पद वर्तमान है। इस से स्पष्ट है कि इन अध्यायों का विषय नीति है। इन अध्यायों के परिशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि नृप-कर्तव्य और लोक-कर्तव्य दोनों को ही नीति कहा गया है। जैसे—

(१) नृपकर्तव्य—स्त्री-विषयक आसक्ति, जुआ, शिकार, मद्यपान, वचन की कठोरता, अत्यन्त कठोर दंड देना और धन का दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजा को सदा त्याग देने चाहिए। इन से दृढ़-मूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं।^५

(२) लोक-कर्तव्य—मनुष्य दिन में वह काम करे जिस से रात में सुख से रहे और आठ मास वे कार्य करे जिन से चौमासा सुख से बीत जाए।^६

६—महाभारत में नीति शब्द पुष्पिकाओं मात्र में ही नहीं, मूलश्लोकों में भी उपलब्ध होता है। जैसे—

१. बही, १।७।१६

२. बही, १।८।२३ । तिलक—अनयो अन्याय ईर्ष्या परस्परप्रजापीडनरूपः ।

३. बही, १।७।१६

४. इति श्रीमहाभारते, उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये, अध्यायः (चित्रगाला प्रेस पूना, भाग ३, १९३१ ई०)

५. विदुरनीति, गीता प्रेस, गोरखपुर, २०११ वि०; अध्याय १, श्लोक ६६-६७ ।

६. बही अध्याय ३, श्लोक ६७

(१)—बण्डो बसयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।^१

गीता की संस्कृत टीकाएँ अनेक विद्वानों ने की हैं परन्तु इस श्लोक में आये हुए 'नीति' शब्द के अर्थ में कोई वैमत्य लक्षित नहीं होता। स्वामी शंकराचार्य ने नीति शब्द को ज्यों-का-त्यों रहने दिया है।^२ आनन्दगिरि और मधुसूदन ने 'नीति' का अर्थ ऐसा न्याय किया है जो जय के उपाय का प्रकाशक हो।^३ नीलकंठ और घनपति के मत में जय का साधन या हेतु ही नीति है।^४ श्रीधर ने सामादि उपायों को ही नीति कहा है।^५ गीता रहस्य के अंग्रेजी अनुवादक ने 'नीति' का अर्थ कूटनीति (डिप्लोमेसी),^६ महात्मा गांधी ने 'नीति'^७ और डॉ० राधाकृष्णन् ने 'विवेकपूर्ण नीति' (वाइज पालिसी) ^८ किया है।

इन टीकाकारों का साम्मत्य इसी बात को सिद्ध करता है कि यहाँ 'नीति', उस उपाय, साधन वा हेतु को कहा गया है, जिस से नरपति स्व शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ होते हैं और वह राजनीति का ही एक अंग है।

(२) नीति शब्द भगवद्गीता के अन्तिम श्लोक में भी व्यवहृत हुआ है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीविजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥^९

इस श्लोक की टीका में आनन्दगिरि तो मोन रहे हैं, परन्तु शेष सभी आचार्यों ने नीति का अर्थ 'नय' (नीतिर्नयः) किया है। लोकमान्य तिलक,^{१०} महात्मा गांधी^{११} और डॉ० राधाकृष्णन्^{१२} ने यहाँ नीति शब्द का अर्थ नीति अर्थात् सदाचार (मोरे-

१. भगवद्गीता १०।३८

२. नीतिरस्मि जिगीषतां जेतुमिच्छताम् (शंकराचार्य) भगवद्गीता, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, १९३६ : पृष्ठ ४६३

३. नीतिन्यायो धर्मस्य जयोपायस्य प्रकाशकः (आनन्दगिरि) वही, पृष्ठ ४६३
नीतिन्यायो जयोपायस्य प्रकाशको अहमस्मि, (मधुसूदन), वही, पृष्ठ ४६३

४. जेतुमिच्छतां जयसाधनं नीतिरस्मि (नीलकंठ), वही, पृष्ठ ४६३
जेतुमिच्छतां जयहेतुनीतिरहम् (घनपति) वही, पृष्ठ ४६३

५. सामाद्युपायरूपा नीतिरस्मि (श्रीधर), वही, पृष्ठ ४६३

६. गीतारहस्य का भालचन्द्र सीताराम कृत अंग्रेजी अनुवाद, पुना, १९३६, भाग २, पृष्ठ १०७७

७. महात्मा गांधी, अनासक्तियोग, नई दिल्ली, १९४४, पृष्ठ १४६

८. डॉ० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, लंदन, १९४६, पृष्ठ २६७

९. भगवद्गीता १८।७८ ॥

१०. तिलक, गीता रहस्य अंग्रेजी अनुवाद, भाग २; पृष्ठ १२०६

११. गांधी, अनासक्तियोग; पृष्ठ २४२

१२. राधाकृष्णन्, भगवद्गीता (लंदन, १९४६ ई०) पृष्ठ ३८३

लिटी) किया है ।^१

उक्त कतिपय उद्धरणों से निष्कर्ष यह निकलता है कि नीति वा नय शब्द हमारे महाकाव्यों में निम्नांकित अर्थों का प्रतिपादन करता है—

(१) नृप, मंत्री आदि के शासन-सम्बन्धी कर्तव्य

(२) जय का साधन वा हेतु

(३) साम, दाम आदि उपाय

(४) कूटनीति (डिप्लोमेसी)

(५) उचित वा न्याय्य लोक-व्यवहार

(६) विवेकपूर्ण नीति (वाइज पालिसी)

इनमें से २-४ तक के अर्थ प्रथम में और छठा अर्थ पांचवें में अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार दो ही मुख्यार्थ अवशिष्ट रहते हैं—राजनीति तथा उचित व्यवहार (सामान्य नीति)।

अभिजात संस्कृत साहित्य में नीति के अर्थ

वैदिक साहित्य तथा प्राचीन महाकाव्यों के पश्चात् अभिजात संस्कृत साहित्य में भी नीति या नय शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर विभिन्न अर्थों में किया गया है। कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति, श्री हर्ष आदि की अमरकृतियों में इन शब्दों के प्रयोग तथा अर्थ द्रष्टव्य हैं—

१—जब रावण द्वारा न्यक्कृत बिभीषण राम की शरण में पहुँचा, तब कालिदास के शब्दों में—

तस्मै निशाचरैश्चर्यं प्रतिशुभाव राघवः ।

कासे ललु समारब्धाः फलं बप्नन्ति नीतयः ॥^२

‘राघव ने उस बिभीषण को राक्षसाधिपति बनाने की प्रतिज्ञा की। समय पर काम में लाई हुई कूटनीतियाँ^३ आगे चलकर अवश्य फल देती हैं।’

१. यहाँ प्रसंगबश यह कह देना भी अयुक्त न होगा कि राजनीति के लिए महा-भारत में राजधर्म^१ और दण्डनीति^२ शब्दों का तथा राजनीति-शास्त्र के लिए राजशास्त्र^३ का प्रयोग भी देखने में आता है।

(१) (शान्तिपर्व, १-१३० अध्यायों की पुष्पिका)

(२) (शान्तिपर्व, अध्याय ५६, श्लोक ७८)

(३) (महाभारत, भावि पर्व, अध्याय १४०, श्लोक २, ४)

*अभिजात=क्लासिकल।

२. कालिदास, रघुवंश, १२।६६

३. सं०—सीताराम चतुर्वेदी, कालिदास ग्रंथावलि, काशी, २००१ वि०; रघुवंश १२।६६ की टीका।

२—भारवि ने किरातार्जुनीय में 'नय' शब्द को अनेकत्र व्यवहृत किया है। उसके टीकाकार मल्लिनाथ ने अधिकतर स्थलों पर तो 'नय' का अर्थ 'नीति' किया है पर कहीं-कहीं 'राजनीति' तथा 'विवेकपूर्वक कृत कार्य' भी किया है। जैसे, दुर्योधन की गतिविधि का रहस्य जानने के लिए प्रेषित बनवासी किरात लौटकर युधिष्ठिर को सूचित करता है—

तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवत्सं विद्विषाम् ।^१

'यह आपका ही प्रभाव है जिससे मैंने शत्रुओं के रहस्यमय संविधिग्रहादि छह गुणों के प्रयोग^२ को जान लिया है ।'

भारवि अन्यत्र कहते हैं—शरीर का अलंकार पवित्र ज्ञान है, पवित्र ज्ञान का अलंकार शान्ति है, शान्ति का अलंकार पराक्रम और पराक्रम का अलंकार विवेक-पूर्वक कार्य-विधि द्वारा सिद्धि-प्राप्ति है ।^३

३—माघ ने शिशुपालवध में—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।^४

कहकर अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि को ही नीति का सार कहा है।

४—श्रीहर्ष-कृत 'नेषध-चरित' महाकाव्य में 'न्याय्य व्यवहार' के अर्थ में नीति शब्द का प्रयोग हुआ है। जब नल इन्द्र के कपट को ताड़ गया तब उसने—

'आचरत्तुञ्चितामय वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' ।^५

'कपट के अनुरूप ही वाणी का प्रयोग किया क्योंकि कुटिलों से ऋजुता का व्यवहार नीति नहीं, अपितु कपटी के प्रति कपटी होना ही न्याय (नीति) है ।'

५—भवभूति-विरचित 'मालतीमाधव' नाटक में 'नीति' शब्द कार्यसाधक उपाय^६ तथा कूटनीति^७ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

१. भारवि, किरातार्जुनीय, १।६

२. नयवत्सं षाड्गुण्यप्रयोगः, किरातार्जुनीय, १।६ पर मल्लिनाथ की टीका ।

३. शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यसंक्रिया ।

प्रशमभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः । (किरात० २।१२)

मल्लिनाथ की व्याख्या—स पराक्रमः नयापादिता नीतिसंपादिता, विवेकपूर्वकेति यावत् ।

४. माघ, शिशुपालवध, २।३०; मल्लिनाथ टीका—आत्मन उदयो वृद्धिः परस्य शत्रोऽज्यानिर्हानिः, इति द्वयम्, इयती एतावती, नीतिर्नीतिसंग्रहः ।

५. श्री हर्ष, नैषधचरित, ५।१०३ तथा उस पर नारायण की टीका ।

६. कल्याणं विवधातु वा भगवतीनीतिर्विपर्येतु वा । सं०—एम० आर० काले, मालती-माधव, बंबई, १६२८ ई० ६।३; नीति=डीवाइस ।

७. वयस्य कथं भगवत्याः सुमेवसो नीतिः विपर्येय्यति । बही; ६।३ के नीचे । नीति=डिप्लोमेसो ।

उपर्युक्त अवतरणों तथा उनकी प्रामाणिक टीकाओं से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अभिजात संस्कृत साहित्य में 'नीति' शब्द निम्नांकित अर्थों का प्रकाशक है—

१—कूटनीति

२—संधिविग्रहादि षाड्गुण्यमयी राजनीति

३—विवेकपूर्वक कार्य-विधि

४—अपनी उन्नति, शत्रु की अवनति

५—कार्य-साधक उपाय अथवा युक्ति

उपर्युक्त अर्थपंचक पर गम्भीर दृक्पात करने से ज्ञात होता है कि प्रथम तथा द्वितीय अर्थ राजनीति के अंतर्भूत हो जाते हैं और तृतीय तथा पंचम अर्थ उचित व्यवहार के। चतुर्थ अर्थ वस्तुतः नीति का अर्थ न होकर लक्ष्यमात्र है, जो नीति का साध्य है। इस प्रकार नीति के दो ही अर्थ शेष रहते हैं—राजनीति और उचित व्यवहार। इनमें भी द्वितीय अर्थ ही इस प्रबन्ध का विवेच्य विषय है।

संस्कृत के नीति-साहित्य में 'नीति' के अर्थ

पीछे उन्हीं ग्रन्थों में प्रयुक्त नीति शब्द के अर्थ स्पष्ट करने का यत्न किया गया है जिनकी रचना तो हुई थी किसी अन्य उद्देश्य से परन्तु जिनमें नीति शब्द व्यवहृत हुआ प्रसंग-वश। अब नीति शब्द का वाच्य उन ग्रन्थों में देखना समीचीन होगा जिनकी रचना का लक्ष्य ही नीति-प्रतिपादन था।

प्रख्यात राजनीतिज्ञ चाणक्य के नाम से तीन पुस्तकें उपलब्ध होती हैं—“कौटिल्यायंशास्त्र, चाणक्य-सूत्र और चाणक्य-नीति।” ‘कौटिल्यायंशास्त्र’ में कहा गया है—

‘नयानयो दण्डनीतया’^१

अर्थात् राजा को उचित तथा अनुचित व्यवहार^२ की शिक्षा दण्डनीति से ग्रहण करनी चाहिए।

चाणक्य-सूत्र में कुल ५७१ सूत्र हैं। कुछ सूत्रों में नीति शब्द निस्सन्देह राजनीति का वाचक है परन्तु एक सूत्र में वह सामान्य नीति का द्योतक है। जैसे—

(क) ‘राज्यतंत्रायत्तं नीतिशास्त्रम्’^३

१. सं०—शाम शास्त्री, कौटिलीयमयंशास्त्रम् (मैसूर, १९२४ ई०) अधिकरण १, अध्याय २।

२. नयानयो=एकसपीडिष्टं एंड इनएकसपीडिष्टं। कौटिलीयमयंशास्त्रम् का शाम शास्त्री कृत ग्रंथोद्गी अनुवाद (मैसूर, १९२६ ई०) पृष्ठ ६

३. कौटिलीयम् अयंशास्त्रम् के परिशिष्ट में ‘चाणक्यसूत्रम्’, सूत्र ४३

(ख) 'नीतिशास्त्रानुगो राजा'^१

(ग) 'नीतिज्ञो देशकालो परीक्षेत्'^२

इनमें से पहले दो सूत्रों में 'नीति' राजनीति का और तीसरे में सामान्य नीति का अर्थ देता है। यहाँ यह बात लक्ष्य करने की है कि यद्यपि इस सूत्रग्रन्थ का नामान्तर 'चारणक्य राजसूत्र'^३ भी मिलता है तो भी इसमें संकड़ों सूत्र सामान्य नीति के हैं। जैसे—

न मीमांसया गुरवः^४; जिह्वायत्तो वृद्धिर्विनाशी,^५ आदि ।

'चारणक्यनीति' सम्भवतः प्राचीनतम पुस्तक है जिसके नाम का नीतिशब्द सामान्य नीति या लोकव्यवहार का वाचक है। इसमें राजनीति के श्लोक नाम-मात्र हैं और इसकी रचना भी राजकुमारों के शिक्षार्थ नहीं, 'लोकानां हितकाम्यया'^६ हुई थी।

'शुक्र नीति' के कुल चार अध्यायों में से तृतीय अध्याय का विषय सामान्य नीति है। इस ग्रन्थ में "नीति" शब्द "राजनीति" तथा साधारण व्यवहार दोनों का बोधक है। जैसे—

अतः सदा नीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्नतो नृपः ।^७ (राजनीति)

अथ साधारणं नीतिशास्त्रं सर्वेषु चोच्यते ।^८ (सामान्यनीति)

भट्टहरि के "नीतिशतक" का विषय निविवादरूप से सामान्य नीति है।

उसमें—

(क) प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ।^९

(ख) निबन्धु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुबन्तु ।^{१०}

ये उपलभ्यमान "नय" और "नीति" शब्द क्रमशः सविवेक व्यवहार तथा लोकोचित व्यवहार के अर्थ में आए हैं।

१. वही, सूत्र ४८

२. वही, सूत्र ११२

३. चारणक्यराजसूत्रं, प्र०—आर्य प्रकाशन मण्डल, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली ।

४. चारणक्य सूत्र, सूत्र ४२२

५. वही, सूत्र ४४०

६. चारणक्यनीतिवर्णन, प्र०—गोवर्धन पुस्तकालय, मथुरा; प्रथम संस्करण; अध्याय १ पद्य ३ ।

७. अनु०—मिहिरचन्द्र, शुक्रनीति; बेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १९८२ वि०, १।६

८. वही, ३।१

९. सं०—डी० डी० कोसम्बी, शतकत्रयम्, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४६ ई० पृष्ठ ११, पद्य १८ । संस्कृत टीका 'नयो नीतिः' ।

१०. वही, पृष्ठ ४४।७५ । संस्कृत टीका—नीतिनिपुणाः नयविशारदाः ।

पंचतन्त्र^१ और हितोपदेश^२ को इन ग्रन्थों में भी “नीतिशास्त्र” कहा गया है। यद्यपि इनकी रचना विवेकहीन और उन्मार्गगामी नृपकुमारों के शिक्षार्थ की गई थी तो भी प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ये सामान्य नीति से प्रपूर्ण हैं। यही कारण है कि राजाओं ने इन्हें जनता में भी प्रचारित किया। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि नीतिशास्त्रों में सामान्य व्यवहार राजनीति से मिश्रित रहता था। सोमदेव के सूत्रात्मक ग्रन्थ “नीतिवाक्यामृत” के विषय में भी यह बात सर्वथा सत्य है।^३ यद्यपि उशना और बृहस्पति के सुविख्यात अर्थशास्त्र आज कहीं उपलब्ध नहीं होते तो भी उनके आदिम श्लोकों को “नीतिवाक्यामृत” के एक अज्ञातनामा टीकाकार ने उद्धृत किया था। उनसे यह तो ज्ञात होता है कि उनकी रचना राजाओं के सुख के लिए हुई थी, परन्तु निश्चित रूप से यह बताना असम्भव है कि उनमें भी सामान्य नीति का मिश्रण था या नहीं। चूँकि उक्त टीकाकार ने लिखा है कि “नीतिवाक्यामृत” प्रायः संग्रहात्मक ग्रन्थ है जो उन तथा अन्य नीति-शास्त्रों पर अवलम्बित है, अतः सम्भावना यही है कि नीति के उन नामशेष प्रख्यात ग्रन्थों में भी, नीतिवाक्यामृत के समान, राजनीति व सामान्य नीति मिश्रित रही होगी।

छा द्विवेदी ने नीतिमंजरी नामक लोकव्यवहार-शिक्षक ग्रन्थ में ‘एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीति’^४ इन शब्दों में कार्य करने की उचित रीति को ही नीति कहा है।

चौदहवीं से अठारहवीं शती तक ‘राजनीतिरत्नाकर’, ‘राजनीति मयूख’ आदि ग्रन्थों की रचना हुई, जिनका विषय, जैसा कि नामों से ही स्पष्ट है, राजनीति है, सामान्य नीति नहीं।

उक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१—नीति-परक ग्रन्थों में नीति शब्द राजनीति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और सामान्य नीति के अर्थ में भी।

२—नीति-विषयक प्रारम्भिक ग्रन्थ राजाओं की शिक्षा के लिए लिखे गए।

३—उन ग्रन्थों में प्रसंगवश लोकव्यवहार की भी प्रचुर सामग्री आ गई है।

४—परवर्ती काल में प्रायः सामान्य नीति के लिए नीति शब्द और राजनीति के लिए राजनीति शब्द प्रचलित हो गया।

१. अथीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च। न पराभवमाप्नोति शकावपि कदा-
चन। पंचतन्त्र, पण्डित पुस्तकालय काशी, १९५२ ई०, पृष्ठ ६।१०।

२. हितोपदेश, निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई १९४९ ई० प्रस्ताविका, पृष्ठ ११।

३. इट इज ए मिक्सचर आफ एथिक्स एण्ड पालिटिक्स—के० पी० जायसवाल,
हिन्दू पालिटी, बंगलौर १९५५ ई०; पृष्ठ ८।

४. छा द्विवेदी, नीतिमंजरी; (प्र०—हरिहरमंडल, काल भैरव, बाराणसी १९३३ ई०) पृ० १।

हिन्दी साहित्य में नीति

हिन्दी के कवियों की कृतियों में 'नीति' शब्द का प्रयोग प्रायः उन्हीं ग्रंथों में हुआ है जिनमें पूर्ववर्ती साहित्य में । निम्नांकित कतिपय उदाहरणों से उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है—

१—छरन सरोवर माहि मोन मन रहत एक रस रीति ।

तुम निरगुन बारू पर डारत 'सूर' कोन यह नीति ॥^१

सूरदास (उचित या न्याय्य व्यवहार)

२—पन्नगारि असि नीति लुति सम्मत सज्जन कहहि ।

अति नोचहु सन प्रीति करिय जानि निज-परम-हित ॥^२

तुलसीदास (अर्थसाधक व्यवहार)

३—सुनि मुनीसु कह वचन सप्रीति । कस न राम तुम्ह राखहु नीति ॥^३

तुलसीदास (मर्यादा)

४—साम दान अरु दंड विभेदा । नृप उर बसहि नाथ कह वेदा ।

नीति धर्म के चरन सुहाये । अस जिय जानि नाथ यहि प्राये ॥^४

तुलसीदास (राजनीति)

५—सेवक सदन स्वामि आगमन । मंगल भूल अमंगल दमन ।

तवपि उचित जन बोलि सप्रीति । पठइय काज नाथ असि नीति ॥^५

तुलसीदास (प्रचलित लोकव्यवहार)

६—नीति निपुन जिन्ह कह जग लोका । घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका ॥^६

तुलसीदास (सदाचार)

७—भीत न नीति गलीतु ह्वै, जो धरिये धनु जोरि ।

लाएँ खरचं जो जुरै, तो जोरिये करोरि ॥^७

बिहारी (जीवनयापन का ढंग)

१. सं०—नंदबुलारे बाजपेयो, सूर सागर, (ना० प्र० सभा, काशी, २००७ वि०)

द्वितीय खंड, पृ० १५३८ ।

२. सं०—श्यामसुन्दरदास, रामचरित मानस, इंडियन प्रेस, प्रयाग; पृष्ठ १०११

३. वही, पृ० २०६

४. वही, पृ० ८६१

५. वही, पृ० ३५६

६. वही, पृ० ४६७

७. सतसई सप्तक, पृ० ६८।४८१

८—जो जैसो तिहं तैसियै, करियै नीति प्रकास ।

कठिन काठ भेदै भ्रमर, मृदु भरविन्द निवास ॥^१

बुन्द (पात्रानुसार व्यवहार)

९—सब नीतिन की नीति यह, राज-रंक जो कोइ ।

समय देखि कै अनुसरै, अंत सुखी वह होई ॥^२

अज्ञात कवि (समयानुकूल व्यवहार)

उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य अवतरणों पर दृक्पात करने से ज्ञात होता है कि हिन्दी के कवियों ने प्रायः निम्नलिखित अर्थों में 'नीति' शब्द प्रयुक्त किया है—

१—उचित व्यवहार (देशकालपात्रानुसार व्यवहार)

२—अर्थसाधक व्यवहार

३—प्रचलित व्यवहार

४—जीवनयापन की विधि

५—सदाचार

६—राजनीति

कोशों में 'नीति' के अर्थ—साहित्य-रचना के पश्चात् कोशकार उपलब्ध साहित्य तथा शब्दों के प्रचलित अर्थों के आधार पर कोश-संकलन किया करते हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी के कोशों में 'नीति' शब्द के जो अर्थ उपलब्ध होते हैं वे नीचे दिए जाते हैं—

संस्कृत-कोशों में 'नीति' शब्द के अर्थ—संस्कृत के विभिन्न कोशों में नीति शब्द जिन-जिन अर्थों में व्यवहृत हुआ है, प्रायः उन सभी का संग्रह वाचस्पत्य तथा शब्दार्थ चिन्तामणि नामक कोशों में कर दिया गया है। उक्त कोशों में 'नीति' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं।^३

१—शुक्रादि द्वारा उक्त राजविद्या (राजनीति)

२—उसके शास्त्र (राजनीति के ग्रंथ)

३—प्राप्ति (प्राप्त करना, प्राप्त कराना)

४—नय (उचित व्यवहार)

५—नीति की अधिष्ठात्री देवी

६—(युद्ध में) जय का उपाय

७—साम, दान आदि उपाय

१. वही, पृ० ३३६। ६८६

२. नागरी प्रचारिणी सभा काशी, याज्ञिक संग्रह ५७४।३१, पृ० १, बोहा १।

३. वाचस्पत्य कोश तथा शब्दार्थ चिन्तामणि कोश।

८—अर्थप्रापक व्यवहार^१

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा सम्बन्ध चौथे तथा आठवें अर्थ से ही है। अर्थात् ऐसे व्यवहार जो देश-काल-पात्र के अनुकूल हो और अर्थ का साधक हो।

प्राकृत भाषाओं के कोशों^२ में 'एणीइ' (नीति) शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये गए हैं—

१—राजनीति

२—व्यवहारविधि (समाज नीति)

३—न्याय

४—उचित व्यवहार

प्रस्तुत प्रबन्ध का विशेष सम्बन्ध उपर्युक्त अर्थों में से द्वितीय तथा चतुर्थ अर्थ से है।

हिन्दी के कोशों^३ में नीति के प्रायः निम्नांकित अर्थ उपलब्ध होते हैं—

१—व्यवहार का ढंग।

२—कार्यसंचालन का आधारभूत सिद्धान्त।

३—लोक-व्यवहार के निर्वाह के लिए नियत किया गया आचार।

४—लोकाचरण की ऐसी पद्धति जिससे निज कल्याण हो और दूसरे को हानि न पहुँचे।

५—कार्य-विशेष की सिद्धि के लिए काम में लाई जाई जाने वाली युक्ति।

६—चतुराई-भरी चाल

७—औचित्य

८—योजना

९—किसी राष्ट्र या संस्था द्वारा स्वकार्य-संचालन के लिए नियत की गई कार्यपद्धति।

१०—ले जाने की क्रिया, भाव या ढंग।

११—राजनीति।

१२—प्राप्ति

१. नीति : (स्त्री०) नीयन्ते उन्नीयन्ते अर्थाः अत्रानया वा—नी + क्तिन् (वाचस्पत्य कोश १८७३ ई०)

२. १—गुलाबचन्द : अर्द्ध मागधी कोश, १९३० ई०

२—रत्नचन्द, „ „ १९२७ ई०

३—हरगोविन्ददास, पाइअ-सद्-महण्णवो, कलकत्ता १९८२ वि०

३. १—हिन्दी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

२—बृहद् हिन्दी कोश, ज्ञानमण्डल, काशी।

१३—मोट देना

१४—सम्बन्ध

१५—सहारा

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध उक्त प्रथम घाठ अर्थों से ही है। गहरी दृष्टि से देखने पर ये घाटों अर्थ उचित व्यवहार में अन्तर्भूत हो जाते हैं और यही अर्थ हमें भी अभीष्ट है।

(ख) नीति के प्रकार

उचित व्यवहार (कर्तव्य) का नाम नीति है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। परन्तु सर्वसाधारण के लिए व्यवहार के औचित्य-अनीचित्य का निर्णय करना कठिन है। सज्जन तो सदा यही चाहते हैं कि संसार भर के लोग स्वस्थ, बुद्धिमान्, परिश्रमी, सदाचारी, परोपकारी आदि बनें, जिससे संसार स्वर्ग बन जाए। परन्तु पृथ्वी पर सज्जनों का ही नहीं, दुर्जनों का भी निवास है। वे दूसरों के हितों की उपेक्षा कर जैसे-तेसे अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। यही कारण है कि विद्वानों को नीति के मुख्य दो भेद करने पड़े—सरल नीति और कुटिल नीति। सरल नीति को ऋजु नीति, धर्म-नीति और शिव-नीति, तथा कुटिल नीति को घोर-नीति और शाठ्य-नीति भी कहते हैं। सज्जनों के प्रति सरल नीति से बतना चाहिए और दुर्जनों के प्रति कुटिल नीति से।^१ इसी को दूसरे शब्दों में उचित व्यवहार कहते हैं।

ज्यों ही मनुष्य शैशव को पार करता है त्यों ही उसे कर्तव्य आ घेरते हैं और ऐसे घेरते हैं कि जब तक वह जीवित, स्वतन्त्र और अनुमत्त रहता है तब तक उनसे मुक्त नहीं हो सकता। चूँकि ये कर्तव्य उसे अनेक क्षेत्रों में रहते हुए पालन करने पड़ते हैं, अतः नीति को भी अनेक प्रकारों या भेदों में विभक्त किया जा सकता है। उक्त दृष्टि से नीति के निम्नलिखित सात प्रकार हैं :—

१—व्यक्ति

२—पारिवारिक

३—सामाजिक

४—आर्थिक

१. नीति प्रकार—नीतिद्विधेरिता धर्मशाठ्यप्राधान्यभेदतः ।

धर्मशाठ्ये संबन्धतो द्विधा सा यथायथम् ॥

शिवा धर्मानुबिद्धा स्याद् घोरा कीटिल्यगमिता ।

साध्वाचारः साधुनेति, म्यायाद् योज्या द्वयोर्द्वयोः ॥

(मुद्राराक्षस नाटक पर टुंढिराज की टीका; प्र०—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८३६ ई० उपोद्घात, पृष्ठ ४६-४६)

५—राजनीति

६—इतर प्राणि-सम्बन्धी

७—मिश्रित

१—वैयक्तिक नीति—व्यक्ति समाज का अंग हैं। विरले ही व्यक्ति निर्जन वन या गिरि-गुहा आदि में रहते हैं; शेष का जीवन तो समाज में ही व्यतीत होता है। चाहे कोई मानव वन-पर्वत में रहे या समाज में, उसे सम्यक् जीवन-यापन के लिए कुछ वैयक्तिक कर्तव्यों का पालन करना ही होगा।

उन कर्तव्यों के निर्धारणार्थ मनुष्य के व्यक्तित्व को तान अंगों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) शरीर (ख) मन या बुद्धि (ग) आत्मा। इसी के आधार पर वैयक्तिक नीति के भी निम्नलिखित तीन उपभेद हैं—शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक नीति।

(क) शारीरिक नीति—जीवन में साफल्य-प्राप्ति के लिए स्वास्थ्य और पुष्टि नितान्त आवश्यक हैं। इसलिए नीरोग तथा हृष्ट-पुष्ट होने के लिए उचित खान-पान, व्यायाम आदि की ओर पूरा ध्यान देना मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। भोजन, व्यायामादि में जिन बातों का ध्यान रखना चाहिए, उन्हें भोजन तथा व्यायाम सम्बन्धी नीति कह सकते हैं, परन्तु इतने अधिक विस्तार में जाना हमें अभीष्ट नहीं है।

(ख) मानसिक या बौद्धिक नीति—प्रायः बौद्धिक विकास के कारण ही मानव इतर सजीव सृष्टि से उत्कृष्ट माना जाता है। इसलिए ज्ञान-प्राप्ति द्वारा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाकर जीवन को अधिकाधिक सुखी तथा समृद्ध बनाना उसका कर्तव्य हो जाता है। इसलिए अध्ययन-श्रवणादि के विषय, मात्रा और विधि की ओर सतर्क रहना प्रत्येक धीमान् मानव के लिए आवश्यक है।

(ग) आत्मिक नीति—शरीर और बुद्धि के वैभव से युक्त होने पर भी जो मनुष्य आत्मिक गुणों से हीन होता है, वह अपने तथा समाज के लिए अभिशाप-रूप हो जाता है। हृष्ट-पुष्ट और बुद्धिमान् लोग भी चरित्र-हीन होने की दशा में सफल चोर-डाकू बन सकते हैं। इसलिए व्यक्तित्व के सद्-विकास के लिए मानव का कर्तव्य हो जाता है कि वह काम-क्रोध आदि दोषों को नियन्त्रण में रखे तथा वीरता, उदारता, जितेन्द्रियता आदि गुण धारण करके बाल्य, यौवन तथा वार्द्धक्य में अपने कर्तव्यों का पालन करे।

२—पारिवारिक नीति—बालक परिवार में जन्म लेता है और वहीं पालित-पोषित होता है। वहीं पर वह माता-पिता आदि गुरु-जनों, बहिन-भाइयों तथा पड़ोसियों से उचित व्यवहार करने के प्रथम पाठ ग्रहण करता है। गृहस्थ बनने पर वह अपने परिवार का निर्माण करता है। तब उपयुक्त सम्बन्धियों के अतिरिक्त पत्नी, सन्तान तथा अन्य परिजनों से भी उचित व्यवहार करके ही वह जीवन-यात्रा को सफल बना सकता है। इन सम्बन्धियों से उचित व्यवहार को पारिवारिक नीति

कहते हैं ।

३ सामाजिक नीति—प्रत्येक परिवार एक ऐसे विशाल मानव-समाज का अंग है, जो अनेक धर्मों, मतों, वर्गों, जातियों तथा उपजातियों में विभक्त है । सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए समय-समय पर अनेक नियमोपनियम बनते रहते हैं । प्रत्येक धर्म, मत, वर्ग, जाति आदि के लोग अपने सधर्मियों, सबर्णों आदि से एक प्रकार का व्यवहार करते हैं और विधर्मियों तथा भिन्न वर्ग वालों से दूसरे प्रकार का । इस प्रकार की नीति को हम सामाजिक नीति कह सकते हैं ।

४ आर्थिक नीति—अर्थ (धन) के बिना सम्यक् लोक-यात्रा असम्भव है । जन्म से मृत्यु-पर्यन्त आवश्यकताएँ मानव को घेरे रहती हैं और जब तक वे अपूर्ण रहती हैं, मनुष्य दुःखित रहता है । उनकी पूर्ति के लिए अर्थ अनिवार्य है और अर्थ की प्राप्ति के लिए नीति परमावश्यक है । सच तो यह है कि नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र का ही एक अंग है । लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ मनुष्य का घनाढ्य होना असम्भव-सा है । धन का महत्त्व, तज्जनित सुख-दुःख, धन-प्राप्ति के उपाय, धन का वितरण, समाज के आर्थिक सम्बन्ध, दान और उसके पात्रापात्र, लोभ, कृपणता, याचक-निन्दा आदि आर्थिक नीति के अनेक अवान्तर भेद किये जा सकते हैं ।

५ राजनीति—जब एक सामान्य गृहस्थ को सुचारुता से गृहस्थी चलाने के लिए पर्याप्त कौशल से काम लेना पड़ता है तब एक शासक को समस्त देश पर सुशासन करने तथा दूसरे देश के साथ सम्यक् निर्वाह के लिए कितनी निपुणता की आवश्यकता होती है, यह कहना अनावश्यक है ।

शासक और मन्त्रियों को स्वदेश की रक्षा, शान्ति तथा हर प्रकार के अशान्ति के लिए पग-पग पर नीति-निर्धारण करना पड़ता है । सामान्य जन द्वारा की गई नीति की चूक तो प्रायः उसी व्यक्ति या उसके परिवार का अनिष्ट करती है परन्तु राजनीति की भूल तो सारे राष्ट्र को धूल में मिला देती है । साम, दाम, दंड और भेद नामक उपाय तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, मंत्रय, द्वैधीभाव नामक षड्गुण राजनीति के प्रसिद्ध अंग हैं ।

६ इतर-प्राणि-सम्बन्धी नीति—जो मनुष्य जितना ही शिष्ट-सम्य होता है वह उतना ही दूसरों के सुख-दुःख में सहानुभूति प्रदर्शित करता है । असभ्य मनुष्य मानुषिक मांस को भी भक्ष्य मानता था परन्तु नीतिमान् मानवों ने निरोह और उपकारक पशु-पक्षियों को भी अपना अनुज माना है । इसलिए उनकी व्यर्थ हिंसा को अनैतिक कार्य माना जाता है । इनसे सम्बन्धित व्यवहार को इतर-प्राणि-सम्बन्धी नीति कह सकते हैं ।

७ मिश्रित नीति—मनुष्य प्रायः अपने ग्राम वा नगर में रहता है परन्तु उसकी दृष्टि वहीं तक सीमित नहीं होती । वह अपने व्यवहार में उन्हीं के हितों का ध्यान नहीं रखता । कभी-कभी स्व-प्रान्त और वि-प्रान्त, स्वदेश तथा विदेश, इह लोक तथा

परलोक का भी ध्यान रख लेता है। समय भी परिवर्तित होता रहता है और ऋतुएँ भी। प्रत्येक कार्य करने का कोई उचित समय वा स्थान होता है। कुछ मनुष्य भाग्य को प्रबल मानकर स्व-कर्तव्य निश्चित करते हैं तो कुछ पुरुषार्थ को। इस प्रकार के विषयों को मिश्रित नीति की कोटि में समाविष्ट कर सकते हैं।

हमारा अभिप्रेत—उक्त सात प्रकार की नीतियों में से राजनीति का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है; इसलिए हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में उसका विवेचन समीचीन नहीं समझा। शेष वैयक्तिक, पारिवारिक आदि छह नीतियाँ ऐसी हैं, जिनका सम्बन्ध सर्वसाधारण के सामान्य व्यवहार से है। इसलिए हमने अपने विवेचन-क्षेत्र को उन्हीं तक सीमित रखा है।

(ग) नीतिकाव्य का काव्यत्व

दो आक्षेप—यदि इतना मान लिया जाय कि उचित व्यवहार का नाम नीति है तो इसे मानने में भी कोई विप्रतिपत्ति न होनी चाहिए कि उचित व्यवहार के प्रतिपादक काव्य का नाम नीति-काव्य है। परन्तु कुछ लोग इस विचार से सहमत न होकर नीतिकाव्य के काव्यत्व पर दो आक्षेप करते हैं—

(१) नीति-काव्य पद्य या सूक्ति हो सकता है किन्तु काव्य नहीं।

(२) काव्य का प्रयोजन आह्लाद है, नीति-काव्य का प्रयोजन कर्तव्य-निदर्शन, अतः नीति-काव्य काव्य नहीं।

प्रथम आक्षेप की परीक्षा—हम पहले, पहले आक्षेप को लेते हैं। चूँकि पद्य, सूक्ति और काव्य का स्वरूप सम्यक् समझे बिना इस आक्षेप का तात्पर्य अवगत नहीं हो सकता, अतः पहले तीनों का भेद जान लेना चाहिए। ताल, तुक, लय, यति, वराँ, मात्रा आदि छन्द के नियम पालन करने वाली रचना पद्य कही जाती है।^१ संक्षेप से कहें तो छन्दोबद्ध रचना-मात्र पद्य है। शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार आदि से उपेत उक्ति को सूक्ति कहते हैं। पद्य तथा सूक्ति में अन्तर यह है कि पद्य के लिए तो संगीत-तत्त्व अर्थात् छन्द अनिवार्य है परन्तु सूक्ति गद्य और पद्य दोनों में हो सकती है। पद्य अपने संगीत-तत्त्व के कारण श्रवण-नामक बाह्येन्द्रिय को ही आकर्षित करता है परन्तु सूक्ति जहाँ शब्द-चमत्कार के कारण कर्णहर होती है, वहाँ अर्थ-चमत्कार आदि के कारण मरितष्क को भी प्रभावित करती है। जिस पद्य अर्थात् छन्दोबद्ध रचना में शब्द, अर्थ आदि का कोई चमत्कार विद्यमान हो वह पद्य नहीं रहती, सूक्ति पद की अधिकारिणी बन जाती है। जैसे पद्य और सूक्ति के स्वरूप के विषय में विद्वानों में वैमत्य नहीं है, वैसे ही काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में साम्मत्य नहीं है। पिछले दो-ढाई सहस्र

वर्षों में देश-विदेश के असंख्य विद्वानों ने काव्य को विविध परिभाषाओं में सीमित करने का भरसक उद्योग किया परन्तु दृष्टिकोणों की विभिन्नता और काव्य की व्यापकता के कारण पूर्णतया सफल नहीं हुए। प्रत्येक आलोचक ने “मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना”, के अनुसार काव्य-स्वरूप को समझा और “तुण्डे-तुण्डे सरस्वती” के अनुरूप उसकी परिभाषा बना दी। उन्होंने इतने पर ही संतोष नहीं किया, अपनी पूर्ववर्तिनी परिभाषाओं के दोष भी दिखाये और अपनी परिभाषा को निर्दोष सिद्ध करने का यत्न भी किया। परन्तु जैसा व्यवहार उन्होंने पूर्ववर्ती विद्वानों से किया वैसा ही परवर्ती पंडितों से प्राप्त भी किया। इस प्रकार वाद-विवाद तो पर्याप्त और पर्याप्त काल तक होता रहा परन्तु काव्य का स्वरूप यथेष्ट रूप से स्पष्ट न हुआ। सच तो यह है कि हृदय-संवेद्य विषयों को परिभाषा-बद्ध करना प्रति दुष्कर कार्य है। यही कारण है कि कविता-स्वरूप-विषयक प्रश्न के उत्तर में सेंट आगस्टाइन ने कहा था—‘यदि न पूछो तो जानता हूँ और पूछो तो नहीं जानता।’^१

यहाँ कहा जा सकता है कि यद्यपि काव्य परिभाषा की पकड़ में सरलतया नहीं आता तथापि काव्य को अकाव्य से पृथक् करने के लिए प्रचलित परिभाषाओं में से कोई-न-कोई माननी प्रथवा कोई नई बनानी पड़ेगी। यदि प्राचीनों से ही काम चल जाए तो नव-निर्माण निरर्थक होगा। इसलिए पहले प्राचीन परिभाषाओं पर ही दृष्टि-पात करना उचित है।

हमें न भामह के काव्य-लक्षण “शब्दार्थो सहितो काव्यम्”^२ से संतोष होता है न रुद्रट के “ननु शब्दार्थो काव्यम्”^३ से। कारण, काव्य-लक्षण का निर्माण करते समय इनकी दृष्टि शब्द और अर्थ (काव्य का शरीर) के साहचर्य पर रही, अन्दर आत्मा में न पँठ सकी। कला-पक्ष की ओर संकेत-मात्र तो निस्सन्देह हो गया पर भावपक्ष नितान्त उपेक्षित रह गया।

मम्मट के काव्य-लक्षण “तददोषी शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि”^४ का हेमचन्द्र ने “काव्यानुशासन”^५ में, विद्यानाथ ने “प्रतापसूत्रशोभूषण”^६ में और द्वितीय बागभट ने “काव्यानुशासन”^७ में लगभग अनुकरण ही किया। इन सभी ने

१. गिरिजाप्रसाद आनन्द : कॉलेज करेंट एस्सेज, न्यू इम्पीरियल बुक डिपो, (दिल्ली १९४५ ई०), पृ० २१८

२. भामह : काव्यालंकार (चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी, १९८५ वि०) १।१९

३. रुद्रट : काव्यालंकार (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९२८ ई०) २।१

४. मम्मट : काव्यप्रकाश (चौखम्भा विद्याभवन, १९५५ ई०) १।४

५. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१४ ई०) पृ० १६

६. विद्यानाथ : प्रतापसूत्रशोभूषण; (कन्हैयालाल पोद्दार, संस्कृत साहित्य का इतिहास, १९३८ ई० द्वितीय भाग, पृ० २६ पर उद्धृत)।

७. द्वितीय बागभट : काव्यानुशासन (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ई०) पृ० १४

दोष-रहित, गुण-सहित, प्रायः अलंकृत शब्दार्थ को काव्य कहकर भामह और रुद्रट के लक्षणों की मानो व्याख्या ही कर दी है। इस लक्षण में कलापक्ष पर तो आचार्यों का ध्यान गया है परन्तु भाव-पक्ष का अभाव लक्षण को अपूर्ण ठहराता है।

कुछ आचार्यों ने काव्य के शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर आत्मा के अन्वेषण का उद्योग किया। आचार्य वामन ने “रीतिरात्मा काव्यस्य”^१ में रीति को काव्य की आत्मा, तथा “विशिष्टा पदरचना रीतिः”^२ और “विशेषो गुणात्मा”^३ कहकर गुण-मंडित पद-रचना को रीति स्वीकृत किया है।

निस्सन्देह इस लक्षण के निर्माण के समय आचार्य का ध्यान कलापक्ष की ओर इतना अधिक रहा कि भाव-पक्ष विस्मृत हो गया। इसके अतिरिक्त पद-संघटना को काव्य की आत्मा मानना भी उपयुक्त नहीं, भले ही अभिव्यंजनावादी इसे अत्यधिक महत्त्व देते रहें। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने “काव्यस्यात्मा ध्वनिः”^४ कहकर प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा माना है। कहना न होगा कि प्रतीयमान अर्थ भी अर्थ का ही एक भेद है। अतः उनकी दृष्टि भी व्यंग्याय तक ही अवरुद्ध हो गई। यदि इसे काव्य-लक्षण माना जाय तो कहना पड़ेगा कि कलापक्ष आचार्य की दृष्टि से छूट गया।

परन्तु यह न भूलना चाहिए कि आचार्य वामन तथा आनन्दवर्द्धन काव्य की परिभाषा नहीं प्रस्तुत कर रहे थे, काव्य की आत्मा-मात्र की ओर संकेत कर रहे थे। भोजराज, प्रथम वाग्भट तथा जयदेव के काव्य-लक्षणों में मम्मट, हेमचन्द्र आदि के लक्षणों से कुछ विशेषता उपलब्ध होती है। भोजराज^५ ने काव्य-लक्षण में ‘रस’, को, प्रथम^६ वाग्भट ने ‘रस और रीति’ को तथा जयदेव^७ ने ‘रस, रीति और वृत्ति’ को भी आवश्यक ठहरा दिया। माना कि इन आचार्यों की दृष्टि काव्य के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों रूपों पर गई थी परन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि इनमें एक तो आह्लादक-तत्त्व पर अपेक्षित बल नहीं दिया गया और दूसरे पारिभाषिक शब्दावला से भरपूर होने के कारण ये लक्षण सुगम नहीं हैं।

विश्वनाथ ने ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’^८ में काव्य की परिभाषा में रस को आत्मा कहकर एक महान् कार्य किया। यों तो रस के प्रति आदर-भाव भरत के काल से चला आ रहा था परन्तु काव्य के लक्षण में उसे आत्मा का स्थान सर्वप्रथम विश्वनाथ

१. वामन : काव्यालंकारसूत्र वृत्तिः (कलकत्ता, १९२२ ई०) १।२।६

२. वही, १।२।६

३. वही, १।२।६

४. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक (चौखम्भा संस्कृत सोरीज, काशी, १९४० ई०) १।१

५. भोजराज : सरस्वती कंठाभरण, (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२५ ई०) १।२

६. प्रथम वाग्भट : वाग्भटालंकार (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३ ई०) १।२

७. जयदेव : चन्द्रालोक (प्र० खेलाड़ी लाल एण्ड संस, काशी, १९५४ ई०) १।७

८. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण (वाचस्पत्य यंत्र, कलकत्ता १९३४ ई०) १।१

ने ही दिया। परन्तु यह लक्षण भी अव्याप्ति दोष से युक्त है क्योंकि वस्तुगत ध्वनि, अलंकारगत ध्वनि, तथा गुणीभूत व्यंग्य से युक्त रचनाएँ इसके अनुसार काव्य-कोटि से बहिष्कृत हो जाएँगी। दूसरे, इस लक्षण में काव्य के भावपक्ष पर तो अपेक्षित बल विद्यमान है परन्तु कलापक्ष उपेक्षित रह गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण “रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्” का भाष्य यही है कि लोकोत्तर आनन्दप्रद अर्थ के प्रतिपादक शब्दों को काव्य कहते हैं। इसमें का रमणीयता-तत्त्व अपनी परिधि में वामन के ‘सौन्दर्य’, दण्डी के “इष्टार्थ, आनन्दवर्द्धन के “लोकोत्तर आह्लाद” तथा काव्य-शास्त्र में बहुत प्रयुक्त “चमत्कार” शब्द को अपनी परिधि में समाविष्ट कर लेता है। जहाँ “सौन्दर्य” तथा “चमत्कार” शब्द काव्य के कलापक्ष के महत्त्व पर बल देते हैं, वहाँ “लोकोत्तर आह्लाद” तथा ‘रस’ शब्द काव्य के भावपक्ष पर। परन्तु रमणीयता शब्द दोनों पक्षों का समान रूप से सूचक होने के कारण सब से अधिक उपयुक्त है।

पं० जगन्नाथ ने पूर्व किये गये काव्य-लक्षणों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) आनन्द और रस के लक्षणों में शब्द और अर्थ का संयोग-मात्र काव्य है। इससे अधिक की वहाँ अपेक्षा नहीं।

(२) मम्मट, हेमचन्द्र आदि के लक्षणों में निर्दोष, सगुण तथा प्रायः अलंकृत शब्दार्थ को काव्य माना गया है, परन्तु इनमें रसजन्य लोकोत्तराह्लादकता का स्पष्ट शब्दों में निर्देश नहीं।

(३) भोजराज, जयदेव आदि ने स्व-स्व काव्य-लक्षणों में रीति, गुण, अलंकार, वृत्ति के साथ रस की गणना-मात्र तो अवश्य कर दी है परन्तु रस के अपेक्षित प्राधान्य का निर्देश नहीं किया।

(४) आनन्दवर्द्धन, कुन्तक और विश्वनाथ ने क्रमशः ध्वनि, वक्रोक्ति तथा रस को काव्य की आत्मा कहकर काव्य-लक्षणों की ओर संकेत किया है परन्तु इनके लक्षण व्याख्याधीन होने के कारण सुगम नहीं हैं।

पं० जगन्नाथ का काव्य-लक्षण उपर्युक्त सभी दोषों से मुक्त है। वह शब्द और अर्थ के संयोगमात्र को काव्य नहीं कहता। वह रस या लोकोत्तर आनन्द की ओर स्पष्ट निर्देश ही नहीं करता, उसे प्रधान स्थान भी देता है। वह गुणीभूत व्यंग्य, चित्र आदि काव्यभेदों को भी अन्तर्भुक्त कर लेता है जिन्हें आनन्दवर्द्धन और विश्वनाथ के लक्षण नहीं करते। वह रस, अलंकार, गुण, रीति आदि पारिभाषिक शब्दों से नितान्त निर्मुक्त है। अतएव हम पण्डितराज जगन्नाथ के इस लक्षण से सहमत हैं कि रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्दों को काव्य कहते हैं।

उपयुक्त विवेचन का सार यह है कि छन्दोबद्ध रचना को पद्य, चमत्कारी रचना को सूक्ति तथा राग-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व के सहज समन्वय से जन्य आह्लाद प्रदान करने वाली रचना को काव्य कहते हैं। यदि इन परिभाषाओं को स्वीकृत कर लिया जाय तो हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि अन्य-विषयक रचनाओं के समान नीति-रचनायें भी पद्य, सूक्ति तथा काव्य तीनों हो सकती हैं। जब वे छन्दोबद्ध मात्र होंगी तब पद्य, जब कुछ चमत्कारयुक्त होंगी तब सूक्तियाँ और जब रागतत्त्व तथा कल्पनातत्त्व के प्राधान्य के कारण आनन्ददायक होंगी तब काव्य कहलाएँगी। नीचे तीनों के उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत किये जाते हैं—

कहूँ अनादर पाय कै, गुनी न करो अंसेस ।

विद्या है तो करहिहे, सब कोऊ आवेस ॥^१

इस दोहे में वृन्द कवि ने अनुभव और उपदेश की बात कही है। संसार में कभी-कभी गुणी या विद्वान् व्यक्ति का अनादर भी हो जाता है परन्तु सब मिलाकर देखा जाय तो लोग उसके श्रद्धालु तथा आज्ञानुवर्त्ती ही होते हैं। इन शब्दों में वृन्द ने उस क्वाचित्क अनादर की उपेक्षा तथा सतत विद्योपार्जन करने की प्रेरणा की है। परन्तु इस कथन में दोहे की लय के अतिरिक्त अन्य कोई चमत्कार दिखाई नहीं देता। बात सीधी-सादी है, छन्द में कह दी गई है, अतः इसे पद्य या छन्दोबद्ध उक्तिमात्र कहना ही उपयुक्त है। अब सूक्ति को लीजिए—

आदि अन्त 'मथुरा' बरन, जपे बिलोम न जोय ।

मध्यम अक्षर तासु मुख-मध्य करौ सब कोय ॥^२

इस दृष्टकृत दोहे का अर्थ यह है कि जो मनुष्य "मथुरा" शब्द के आदिम तथा अन्तिम अक्षरों (म, रा) को उलटा कर (रा, म) नहीं जपता, उसके मुख में सब लोग "मथुरा" का मध्यम अक्षर (यु) करें। भाव यह है कि राम-राम न जपने वाले व्यक्ति के मुँह में थूकें। परन्तु कवि ने इस भाव को सरल रीति से न कहकर चमत्कारी रीति से कहा है। वह चमत्कार "मथुरा" शब्द के अक्षरों पर आधृत है। सकृत् पठन से अर्थ अवगत नहीं होता, पर जब माथापच्ची करने पर स्पष्ट होता है तब हम कवि-बुद्धि के चमत्कार की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह रचना दोहाबद्धता के कारण पद्य-मात्र नहीं है, चमत्कार-युक्त होने के कारण सूक्ति है। अब नीति के काव्य का उदाहरण देखें—

१. सं० श्यामसुन्दरदासः सतसई सप्तक (हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग, १९३१) पृ० ३२२, वृन्दसतसई, बोहा, ४१७

२. अर्जुनदास केडिया : भारतीभूषण (भारतीभूषण कार्यालय, काशी, १९८७ वि०) पृ० ४६

रहिमन असुप्ता नैन ठरि, जिय बुझ प्रगट करेइ ।

जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि बिह ॥^१

हम लोग कभी-कभी स्वयं भी रोते हैं और कभी-कभी दूसरों को भी घासू बहाते हुए देखते हैं; किन्तु अश्रुमोचन की ये घटनायें हमारे हृदयों को वैसे प्रभावित नहीं करतीं जैसे कवियों के, आन्तर्दशियों के । रहीम ने नेत्रों से नीर निकलता देखा और एक सुन्दर नैतिक परिणाम निकाल लिया । वह यह कि जिसे घर से निकालोगे, वह तुम्हारे सब रहस्य खोल देगा और भगली बात, जो अधिक मार्मिक है, वह सहृदय-संवेद्य रहने दी कि भेद प्रकट हो जाने पर तुम्हारी दशा वही होगी जो विभीषण को निर्वासित कर देने पर रावण की हुई थी । इस आशंका के भाव को कवि ने अभिहित नहीं किया व्यंग्य ही रहने दिया और इसी कारण यह दोहा और भी सहृदयाह्लादक बन नीति का सच्चा-खरा काव्य बन गया है ।

इस प्रकार हमने देखा कि नीति की बात पद्य में भी कही जा सकती है, सूक्ति में भी, काव्य में भी । कवि यदि उत्तम होगा तो नीति-काव्य का प्रणयन हो जायगा, मध्यम होगा तो नीति-सूक्तियों का और सामान्य होगा तो नीति-पद्यों का । सिद्धान्त रूप से इस कथन में कोई सार नहीं कि नीति-विषयक काव्य हो ही नहीं सकता ।

द्वितीय आक्षेप की परीक्षा—द्वितीय आक्षेप यह है कि काव्य का प्रयोजन आह्लाद है, नीतिकाव्य का व्यवहारोपदेश; इसलिए तथाकथित नीतिकाव्य काव्यपद का अधिकारी नहीं । चूंकि इस आक्षेप का सम्बन्ध काव्य के प्रयोजन से है, इसलिए पहले इसी पर विचार कर लिया जाय ।

भारतीय आचार्यों का मत—इस विषय में भारतीय आचार्यों में वैसा वैमत्य नहीं है जैसा काव्यस्वरूप के सम्बन्ध में ऊपर दिखाया गया है । नाट्याचार्य भरत का कथन है कि

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि-विबुधं नम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥^२

“नाट्य (काव्य) धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि तथा लोकोपदेश देने वाला होगा ।” भामह ने सुकाव्य-रचना के प्रयोजन निम्नलिखित पद्य में कहे हैं—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैद्यक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥^३

१. सं वज्ररत्नवासः रहिमन विलास; (प्र० रामनारायण लाल, प्रयाग, १६८७ वि०) पृष्ठ १८।१७२

२. भरतः नाट्यशास्त्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी, १।११२--११३

३. भामहः काव्यलंकार १।२

प्राशय यह कि सुन्दर काव्य का प्रणयन धर्मार्थकाममोक्ष-रूप चतुर्वर्ग, कलाओं में निपुणता, कीर्ति और प्रीति (आनन्द) का देने वाला है। रुद्रट, वामन, भोज, कुन्तक आदि आचार्यों के काव्य-प्रयोजन भी लगभग इसी प्रकार के हैं। आचार्य मम्मट ने तो माने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-प्रयोजनों की सूची को—

काव्यं यशसे ऽयंकृते व्यवहारविषे शिषेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्बृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुक्ते ॥^१

इस एक श्लोक में समाहृत कर दिया है। उनका भाव यह है कि काव्य यश, अर्थ (सम्पत्ति), व्यवहारज्ञान, अमंगलनाश, तत्काल लोकोत्तर आनन्द तथा कान्ता-संमित उपदेश के लिए होता है। उपर्युक्त छंदरणों से इतना तो निर्विवाद-रूप से सिद्ध हो जाता है कि भारतीय आचार्यों के मत में काव्य का प्रयोजन आह्लादमात्र नहीं है। जहाँ उससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यश, आयु, बुद्धि, कला-कीर्ति, मंगल आदि की प्राप्ति होती है, वहाँ लोकोपदेश तथा व्यवहारज्ञान भी उपलब्ध होता है। ये लोकोपदेश तथा व्यवहारज्ञान नीति के ही नामान्तर हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक उपदेश भी काव्य के प्रयोजनों में से एक है।

विदेशीय विद्वानों का मत—यह तो हुआ भारतीय आचार्यों का मत, अब कतिपय विदेशीय आलोचकों के मन्तव्य भी द्रष्टव्य हैं। सर फिलिप सिडनी काव्य के लक्षण तथा प्रयोजन एक ही वाक्य में यों कहते हैं—‘काव्य अनुकरण की एक कला है। रूपकमयी भाषा में कहें तो एक सवाकूचित्र है, जिस का लक्ष्य शिक्षा तथा आनन्द देना है।’^२ इस उद्धरण में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शिक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है और “आह्लाद” को द्वितीय। ड्राइडन का मत इससे सर्वथा भिन्न है। उनके विचार में यदि आनन्द काव्य का एकमात्र लक्ष्य नहीं तो मुख्य लक्ष्य तो है ही; उसमें शिक्षा को स्थान मिल सकता है परन्तु द्वितीय; क्योंकि काव्य आनन्द देते हुए ही शिक्षा देना है।^३ तात्पर्य यह है कि ड्राइडन काव्य में शिक्षा की सत्ता अनिवार्य नहीं मानते। उनके मत में आनन्द ही काव्य का एकमात्र अथवा प्रधान प्रयोजन है; उसमें शिक्षा यदि होगी भी तो उस का स्थान सर्वदा गौण रहेगा। इस

१. मम्मटः काव्यप्रकाश १।२

२. पोएसी इज ऐन आर्ट ऑफ़ इमिटेशन—दु स्पीक मैटाफोरिकली, ए स्पीकिंग पिक्चरः विव दिस एंड, दु टीच एंड डोलाइट—सर फिलिप सिडनीः ऐन एपॉ-लोजी फार पोएट्री; ए० सी० एस० पृ० ४४

३. “(डोलाइट) इज बि चीफ़ इफ़ नाट दि ओग्ली एंड आफ़ पोएट्री; इन्स्ट्रक्शन कैन बी एडमिटिड वट इन दि कंक्रिट प्लेस, फार पोएसी ओग्ली इन्स्ट्रक्ट्स ऐज इट डोलाइट्स” जे० ड्राइडनः डीकेंस आफ़ ऐन ऐस्से आफ़ ड्रामैटिक पोएट्री ए० सी० एस० पृ० ४५

प्रकार इनका मत सिडनी के मत के सर्वथा विरुद्ध है। जानसन काव्य-प्रयोजन के विषय में अपना मत इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—“लेखन का लक्ष्य है शिक्षा देना; काव्य का लक्ष्य है आनन्दित करते हुए शिक्षा देना।”^१ तात्पर्य यह कि ये काव्य का ही नहीं, रचना-मात्र का उद्देश्य शिक्षा देना मानते हैं। काव्य में विशेषता यह बतलाते हैं कि वह आनन्द के माध्यम से शिक्षा प्रदान करे, नीति-शास्त्रों के समान नीरस वाक्यों से नहीं। काव्य के साधन तथा प्रयोजन के विषय में ले हंट का मत इस प्रकार है—“इस (काव्य) के साधन हैं विश्व भर में विद्यमान समस्त पदार्थ और लक्ष्य हैं आनन्द तथा उन्नयन।”^२ भाव यह है कि हंट केवल आनन्द को काव्य का लक्ष्य नहीं मानते, शिक्षा द्वारा उत्थान को भी आवश्यक प्रयोजन मानते हैं। सब मिलाकर कह सकते हैं कि अधिकतर विदेशीय आलोचक काव्य में शिक्षा को आवश्यक तो ठहराते हैं परन्तु उसे प्रधान स्थान न देकर द्वितीय स्थान देने के पक्ष में हैं।

उपर्युक्त पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों के मतों की तुलना करने पर दोनों में तत्त्वतः कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता; हाँ, शब्दों की न्यूनाधिकता अवश्य विद्यमान है। जहाँ भारतीय आचार्य आनन्द, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यश, धन, आयु, बुद्धि, उपदेश, व्यवहारज्ञान आदि अनेक प्रयोजन परिगणित करते हैं, वहाँ विदेशीय आलोचक प्रायः आनन्द और (मंगलकारी) शिक्षा इन दो शब्दों में निज अभीष्ट को पर्यवसित कर देते हैं। वस्तुतः शिक्षा शब्द इतना व्यापक है कि धर्म, अर्थ आदि अनेक शब्द उसकी परिधि में सहज ही समा जाते हैं। इस प्रकार काव्य के दो ही प्रयोजन शेष रहते हैं—आनन्द और मंगल। दोनों में से मुख्य कोन है ?

काव्य का मुख्य प्रयोजन

विद्वानों ने समस्त वाङ्मय के दो भाग किये हैं—ज्ञानात्मक साहित्य और रसात्मक साहित्य। इतिहास, भूगोल, दर्शन, धर्म, आयुर्वेद आदि ज्ञानवर्द्धक विषयों के ग्रन्थ ज्ञानात्मक साहित्य में परिगणित होते हैं और कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि रसात्मक साहित्य (काव्य) में। ज्ञानात्मक साहित्य की रचना के समय लेखकों की दृष्टि तथ्यों के यथातथ्य प्रतिपादन द्वारा लोक-मंगल पर केन्द्रित रहती है, परन्तु रसात्मक साहित्य के प्रणयन-काल में प्रतिपाद्य को अधिकाधिक सरस बनाने पर। वही कारण है कि इतिहासादि विषयों के रचयिता तो अपनी कृतियों में तथ्यों से तिल-मात्र भी दूधर-उधर नहीं हो सकते, परन्तु काव्य-नाटक आदि के प्रणेता आह्ला-

१. वि एंड आक्र राइटिंग इज टु इन्स्ट्रक्ट: वि एंड आक्र पोएट्री इज टु इन्स्ट्रक्ट बाइ प्लोजिंग” एस० जॉह्नसन: प्रीफेस टु शेक्सपियर: एस० सी० एस० पृ० ५०
२. इट्स मींस आर गूटेबर वि यूनिवर्स कानटेन्स; ऐण्ड इट्स ऐंड्स, प्लेसर ऐंड एक्साल्टेसन:” ले हंट: गूट इज पोएट्री; एस० सी० एस० पृ० १४

दकता की दृष्टि से निज रचनाओं में पर्याप्त परिवर्तन, संकोचन, परिवर्द्धन आदि कर दिया करते हैं। इस प्रकार जब काव्य रसात्मक साहित्य का पर्यायवाची है तो स्पष्ट ही है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन रस वा आनन्द ही है, लोक-मंगल नहीं। नाट्यशास्त्र में रस-विवेचन तो बहुत किया गया है परन्तु इसका यह तात्पर्य त्रिकाल में भी नहीं है कि आनन्द और मंगल में कोई विरोध है। तथ्य तो यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

भारतीय आचार्यों की दृष्टि पहले मंगल पर अधिक थी परन्तु धीरे-धीरे उन्हें आन हो गया कि काव्य का मुख्य उद्देश्य मंगल नहीं है, आनन्द है। भरत ने जिस उपर्युक्त सिद्धान्त-श्लोक^१ में नाट्य (काव्य) के प्रयोजनों की गणना की है, उसमें आनन्द का नाम तक नहीं है। भामह के उपरिलिखित श्लोक^२ में “प्रीति” (आनन्द) का उल्लेख तो है परन्तु सब के अन्त में। इनका कारण सम्भवतः यह है कि भारत का प्राचीनतर साहित्य—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि—धार्मिक था; उस की दृष्टि अधिकतर मंगलपक्ष पर थी।^३ धीरे-धीरे ऐहिक दृष्टि के प्रबल होने पर आनन्द-पक्ष प्रधान होता गया। जहाँ भामह ने काव्य-प्रयोजनों में चतुर्वर्ग को सर्वप्रथम रखा है, वहाँ कुन्तक ने—

चतुर्वर्गकलास्वादिमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।^४

कहकर काव्यामृत के रस को चतुर्वर्ग के आनन्द का भी अतिक्रामक कह दिया है। मम्मट ने उक्त कारिका^५ के “सद्यः परनिवृत्तये” पदों की व्याख्या में “सकल-प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्” लिखकर काव्य से तुरन्त प्राप्य अलौकिक आनन्द को ही प्रमुखतम प्रयोजन माना है। इसी कारिका के “कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे” पद एक अन्य आवश्यक तथ्य की ओर संकेत करते हैं। जहाँ भरत “लोकोपदेशजननम्” मात्र से ही सन्तुष्ट थे, वहाँ मम्मट ने प्यारी स्त्री के मनभावन उपदेश कहकर उपदेश का सरस होना अनिवार्य बना दिया है। बात भी यथार्थ है। जब तक रस न होगा तब तक रचना इतिवृत्तमात्र या उपदेशमात्र ही रहेगी, काव्य न बन सकेगी। इस प्रकार पश्चिम के समान हमारे यहाँ भी काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द ही है परन्तु इस रस के लिए औचित्य का आधार भी अनिवार्य

१. प्रस्तुत प्रबन्ध का २३वाँ पृष्ठ देखें।

२. प्रस्तुत प्रबन्ध का २३वाँ पृष्ठ देखें।

३. रामायण और महाभारत की रचना भी शिक्षा देने के लिए की गई थी, काव्यजन्य आनन्द देने के लिए नहीं।

४. बक्रोक्तिजीवित (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५५ ई०) पृष्ठ १२; १।५।

५. प्रस्तुत प्रबन्ध का २४ पृष्ठ देखें।

माना गया है । आनन्दवर्द्धन के शब्दों में—

अनीचित्याद् ऋते नाम्यद्रसभंगस्यकारणम् ।

प्रसिद्धोचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परः ।^१

अनीचित्य ही रसभंग का एकमात्र कारण है और औचित्य-युक्तता ही रस की परम सहायक है । कहना न होगा कि सब औचित्यों में प्रमुख स्थान नैतिक औचित्य का है, क्योंकि उसके अभाव में रस, रस-पदवी से च्युत होकर, रसाभास मात्र हो जाता है ।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि देश-विदेश के अधिकतर विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द है, द्वितीय प्रयोजन शिक्षा । यश, धन आदि भी प्रयोजन होते या हो सकते हैं परन्तु उन का स्थान इन दोनों के पश्चात् ही है । हमारा भी मत यही है ।

नीति-काव्य का प्रयोजन

नीतिकाव्य का लक्ष्य विशुद्ध काव्य से भिन्न है । नीति-काव्य का मुख्य लक्ष्य वही है जो नीति-शास्त्र का है; अर्थात् मनुष्यों को उचित व्यवहार की शिक्षा देना । परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि नीति-शास्त्र तो व्यवहार की शिक्षा सामान्य नीरस वाणी में देते हैं और नीति-काव्य काव्य के उपकरणों की सहायता से सरस वाणी में । शुष्क होने के कारण शास्त्रीय कथन उतना प्रभावशाली नहीं होता जितना नीतिकाव्य । अधिक विस्तार में न जाकर एक लोकविश्रुत घटना का उल्लेख मात्र समीचीन होगा । महाराज जयसिंह नीति-शास्त्रों के ज्ञाता होते हुए भी नीति को विस्मृत कर नवेली रानी के प्रेम में ऐसे फँसे कि राज-काज की उपेक्षाकर उसीके प्रासाद में पड़े रहने लगे । उनके पास न पंडितों की कमी थी, न मन्त्रियों की और न सुहृदों की । परन्तु महाराज को कर्तव्योन्मुख करना सहज न था ।

अन्त में यह दुष्कर कार्य कविवर विहारी के नीतिकाव्य ने कर दिखाया । उन्होंने यह दोहा—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।

अली कली हो सौ बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥^२

लिखकर महाराज के पास पहुँचा दिया । जो काम पण्डितों का पाण्डित्य, मन्त्रियों का मन्त्र तथा सुहृदों की सीख न कर पाई, वही कुशलकवि का नीति-काव्य कर गया ।

१. ज्योत्सालोक,

बीरबंसा संस्कृत सीरीज, काशी १९४० ई०

उद्योत ३, कारिका १४ की वृत्ति में ।

२. सतसई सप्तक, पृष्ठ, १६४।३८

महाराज मोह का परित्याग कर पूर्ववत् कर्तव्यपरायण हो गये और पतनोन्मुख राज्य सँभल गया। कितना महान् लोकोपकार हुआ !

कहा जा सकता है, यह दोहा विशुद्ध काव्य है, नीतिकाव्य नहीं है, क्योंकि इसमें शिक्षा प्रत्यक्षतः नहीं दी गई, व्यंग्यार्थ से ध्वनित होती है। हम इस विचार से विमत हैं। हमारी दृष्टि से यह दोहा शुद्ध नीति-काव्य है। क्योंकि इस की रचना कवि ने सहज भाव से नहीं की, नैतिक उपदेश देने के लिए ही की। नीति-काव्य होता हुआ भी यह विशेष सरस है। दोहे की प्रथम अर्द्धाली में कवि ने वह भूमिका प्रस्तुत की है जिस से भ्रमर की मूढ़ता का भाव सम्यक् ध्वनित हो सके। “ब्रंध्यो” पद संयोग शृंगार की उत्कटता का सूचक है। चतुर्थ चरण में भावी अनिष्ट की आशंका का संकेत है। इस प्रकार शृंगार रस तथा मूढ़ता और आशंका रूपी भावों से युक्त होने के कारण दोहा पद्य या सूक्ति के स्तर से ऊँचा उठकर सु-काव्य बन गया है।

सार यह कि उक्त दोहे का प्रधान प्रयोजन शिक्षा है, आह्लादकता नहीं। परन्तु शिक्षा के साथ ही आह्लादकता भी उतनी ही मात्रा में विद्यमान है, जितनी किसी सुकवि के किसी अन्य-विषयक काव्य में। इसी कारण इसे नीतिकाव्य का सुन्दर उदाहरण कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कवि कुशल हो तो नीति-विषयक काव्य भी उतना ही सरस हो सकता है, जितना किसी अन्य विषय का। लोक-मंगल की दृष्टि से देखा जाय तो नीति-काव्य का प्रयोजन अन्य काव्यों के प्रयोजनों से उत्कृष्ट है। अन्य काव्य मुख्य रूप से आनन्द के लिए रचे जाते हैं, शिक्षार्थ नहीं। उनमें शिक्षा का अभाव भी हो सकता है। रीति-काल में ऐसी रचनाओं की प्रचुरता रही परन्तु उसका नैतिक परिणाम क्या निकला? सच्चरित्रता का कितना विनाश हुआ और समाज का कितना ह्रास, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य यह कि नीति-काव्य का मुख्य लक्ष्य तो शिक्षा देना है परन्तु साथ ही वह इस बात के लिए सचेष्ट रहता है कि वह शिक्षा यथासम्भव सरस ढंग से दी जाय।

काव्य में नीतिकाव्य का स्थान

ऊपर हमने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि नीति की रचना काव्य-पद की अधिकारी हो सकती है और नीति काव्य के अनेक प्रयोजनों में से एक प्रमुख प्रयोजन है। अब अंत में इस बात का भी विवेचन उचित है कि नीतिकाव्य किस कोटि का काव्य है।

विविध काव्य

आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद बताये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम (अधम)। उन के विचार में उत्तम काव्य वह है जिसमें वाक्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ

अधिक चमत्कार-जनक हुआ करता है और जिसे काव्यतत्त्वदर्शी लोग “ध्वनि-काव्य” कह चुके हैं।^१ मध्यम काव्य वह है जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारक नहीं होता और इसीलिए उसे “गुणीभूतव्यंग्य” कहा गया है।^२ अवर काव्य उसे कहते हैं, जिसमें व्यंग्यार्थ का अभाव रहता है। इसके दो भेद होते हैं—अर्थ-चित्र और शब्दचित्र।^३ काव्य के एक भेद को अवर (अधम) कहना सटकता अवश्य है परन्तु इस संज्ञा का तात्पर्य यही समझना चाहिए कि इसके प्रणयन में महाकवि नहीं अपितु काव्य-रचना के अभ्यासी प्राथमिक कवि ही प्रवृत्त होते हैं। यहाँ उक्त भेदों को हृदयंगम करने के लिए एक-एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा।

(क) उत्तम अथवा ध्वनि-काव्य

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ बसतीं,
तब नख-ज्योति-मिष मृदुल अंगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता ॥^४

मैथिलीशरण गुप्त का यह छन्द ध्वनिकाव्य का सुन्दर उदाहरण है। वाच्यार्थ इतना सुस्पष्ट है कि उसका उल्लेख अनावश्यक है। परन्तु वास्तविक चमत्कार तो व्यंग्यार्थ में है। यहाँ “विशाल कचभार” से केशों की सघनता तथा सुदीर्घता, “एड़ियाँ बँसतीं” से तुनयष्टि की सुकुमारता और भार-वहन की अक्षमता, भाराक्रांत एड़ियों तथा नखों से फूटने वाली अरुण आभा से शरीर की स्वस्थता ध्वनित हो रही है। वाच्यार्थ से उक्त व्यंग्यार्थ के अधिक चमत्कारक होने के कारण ही यह छन्द उत्तम काव्य है।

(ख) मध्यम अथवा गुणीभूतव्यंग्य काव्य

आज बचपन का कोमल गात जरा का पीला पात।

चार दिन सुलब खीबनी रात और फिर अंधकार अज्ञात ॥^५

पन्त जी के इस छन्द से यह व्यंग्यार्थ निस्सृत हो रहा है कि संसार में किसी की भी अवस्था एक-सी नहीं रहती। जो आज सुखी तथा संपन्न है वही कल दुखी और विपण्ण है। इस पद्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ विशेष चमत्कारपूर्ण नहीं है।

१. इदमुत्तममतिज्ञयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधेः कथितः ॥ (काव्यप्रकाश १।४)

२. अतावृत्तिं गुणीभूतव्यंग्ये तु मध्यमम्। (काव्यप्रकाश १।५)

३. शब्दचित्रं वाच्याच्चित्रमव्यंग्यं शब्दरं स्मृतम्। (काव्यप्रकाश १।५)

४. मैथिलीशरण गुप्तः साकेत (१९६८ बि०), अष्टम सर्ग, पृ० २०४

५. सुमित्रानन्दन पन्तः पल्लव (१९४२ ई०) पृष्ठ ७८

दोनों में चमत्कार समान होने से व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं रही। इस प्रकार व्यंग्यार्थ गौण हो जाने से यह मध्यम काव्य ही माना जायगा।

(ग) अवर (अधम) काव्य

(१) अर्थचित्र अधमकाव्य

विप्रकोप है ओवं, जगत जलनिधि का जल है।

विप्रकोप है गरल-वृक्ष, क्षय उस का फल है ॥

विप्रकोप है अनन, जगत यह तुण-समूह है।

विप्रकोप है सूर्य, जगत यह घूकव्यूह है ॥^१

रामचरित उपाध्याय के इस छन्द में श्री रामचन्द्र परशुराम के सम्मुख विप्रकोप की उग्रता स्वीकृत कर रहे हैं। इस पद्य की रचना के समय कवि का ध्यान रूपकों की माला जुटाने पर इतना अधिक केन्द्रित है कि रस, ध्वनि आदि की भावना बहुत पीछे छूट गई है। व्यंग्यार्थ का अभाव होने तथा अर्थालंकार मात्र का चमत्कार होने के कारण यह छन्द अवर काव्य के अर्थचित्र नामक प्रभेद में ही गणनीय है।

(२) शब्दचित्र अधमकाव्य

लोल लाल-लै लौ लली, लोल लली लौ लाल।

लोल लला लै लालली, लोल लली लो लाल ॥^२

श्री अर्जुनदास केडिया के उक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार है—इधर लाइली राधिका जी प्यारे कृष्ण की वेणुध्वनि के लिए चंचल हो रही थीं, उधर कृष्ण जी राधिका जी के लिए अधीर। (तब एक अन्तरंग सखी उन्हें मिलाकर बोली) हे लाइली जी, चंचल कृष्ण जी को लीजिए और हे कृष्ण जी, चंचल राधा जी को लीजिए। कहना न होगा कि उक्त दोहे में अधीरता, रति आदि भावों के रहते हुए भी न पाठक का मन उनकी ओर आकृष्ट होता है, न अर्थ को ओर। वह चमत्कृत होता है तो शब्द-चमत्कार से क्योंकि समस्त दोहे में एक ही अक्षर का प्रयोग किया गया है। व्यंग्यार्थ के अभाव तथा शब्दचमत्कार मात्र की सत्ता के कारण यह दोहा अवर काव्य है।

नीतिकाव्य की कोटि ?

उपर्युक्त कसौटी पर कसने से विदित होता है कि समग्र नीतिकाव्य को किसी एक कोटि में रखना अयुक्त है। वह अपनी विशेषताओं के अनुरूप उत्तम भी हो

१. रामवहिन मिश्र: काव्य-वर्णन (पटना, १९५१) पृष्ठ २२६ ॥

२. अर्जुनदास केडिया: भारती मूषण, पृष्ठ ५०

सकता है, मध्यम भी और अधम भी । जिस नीति-काव्य में रागतत्त्व और कल्पनातत्त्व प्रधान हों तथा बुद्धतत्त्व गौण, वह उत्तम काव्य; जिसमें कल्पनातत्त्व तो प्रधान हो और राग-तत्त्व तथा बुद्धितत्त्व गौण, वह मध्यम काव्य; जिसमें रागतत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का अभाव हो, और बुद्धतत्त्व को अलंकारों से चमत्कृत किया गया हो, वह अधम काव्य माना जायगा और जिसमें केवल बुद्धितत्त्व हो, राग-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और अलंकारों में से कुछ भी न हो, वह काव्य नहीं, केवल पद्य कहलायगा । निम्निलिखित उदाहरणों से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है—

उत्तम कोटि का नीति-काव्य

राम-रावण का द्वन्द्व होने का था । रावण रथ पर था, राम भूमि पर । इसलिए भक्त विभीषण भावी अनिष्ट की आशंका से अधीर हो उठा । तब राम उसे डाढस देने के लिए बोले—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना । जेहि जय होइ सो स्यंवन आना ॥
सौरज धोरज तेहि रथ चाका । सत्य शील हृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल विवेक दम पर हित घोरे । क्षमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजन सारथी सुजाना । विरति चर्म सन्तोष कृपाना ।
दान परसु बुधि सवित प्रचंडा । बर विग्यान कठिन कोदंडा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जा के । जोतन कहें न कतहुं रिपु ताके ॥^१

चौपाइयों का शब्दार्थ यह है कि धातुकाष्ठमय रथ पर आसीन योद्धा विजयी नहीं होता अपितु धर्म-रूप रथ का रथी विजेता होता है क्योंकि धर्म-रथ के अंग, शस्त्रास्त्र, सारथी आदि अधिक सुदृढ़ तथा चतुर होते हैं । परन्तु इस अर्थ की अपेक्षा यह व्यंग्यार्थ कहीं अधिक चमत्कारक है कि विश्व-विजिगीषु मानव को शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, दम, क्षमा, कृपा, समता आदि गुणों से युक्त होना चाहिए । यहाँ भाव, कल्पना, अलंकार, विचार सभी काव्यतत्त्व विद्यमान हैं परन्तु भावतत्त्व और कल्पनातत्त्व की मुख्यता के कारण इसे उत्तम नीति काव्य के अन्तर्गत माना जाएगा ।

मध्यम कोटि का नीति-काव्य

हाथी को नित्य सिर पर मिट्टी डालते देखकर रहीम की कल्पना ने उड़ान ली और परिणाम में इस दोहे का निर्माण हो गया—

धूर धरत नित सीस पै कहु रहीम केहि काज ।
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी सो बूढत गजराज ॥^२

१. रामचरित मानस सटीक, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पृष्ठ ६०७-८

२. रहिमत विलास, प्रयाग, १६८७, पृष्ठ १२

पूर्व-दल में प्रवन है, उत्तर-दल में उत्तार । शब्दार्थ सुस्पष्ट है परन्तु यह दोहा उसकी अभिव्यक्ति के लिए नहीं लिखा गया । व्यंग्यार्थ यह है कि हाथी पशु होता हुआ भी श्रीराम की चरण-धूलि को मोक्षार्थ ढूँढ़ रहा है, तुम मनुष्य होते हुए भी प्रभु-चरणों में चित नहीं लगाते । परन्तु दोहे की रचना ऐसी है कि इस अभीष्ट व्यंग्यार्थ की अपेक्षा हृदय कल्पना-जनित आनन्द में विभोर हो उठता है । इस प्रकार रागतत्त्व की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व की प्रधानता के कारण इसे मध्यम काव्य ही कहना उचित प्रतीत होता है ।

अधम कोटि का नीति-काव्य

(क) अर्थचित्र नीति-काव्य

जहँ सजन तहँ प्रीति है, प्रीति तहां सुख ठौर ।

जहां पुष्प तहँ बास है, जहां बास तहँ भीर ॥^१

वृन्द ने दोहे की प्रथम अर्द्धाली में सुख का कारण प्रेम तथा प्रेम का कारण सज्जन-सहवास बताया है । दूसरी अर्द्धाली में उक्त नैतिक तथ्य को सुन्दर दृष्टान्त द्वारा पुष्ट किया गया है । ध्वनि के अभाव तथा अर्थालंकार-जनित चमत्कार के कारण यह दोहा अधम कोटि का (अर्थचित्र) नीति-काव्य है ।

(ख) शब्दचित्र नीति-काव्य

उबर मरन के कारने, प्राणी करत इलाज ।

नांचे बांचे रन भिरं, रांचे काज अकाज ॥^२

इस दोहे का आशय इतना ही है कि मनुष्य को निज पेट भरने के लिए सब प्रकार के भले-बुरे तथा संकट-जनक कार्य करने पड़ते हैं । अर्थ में कोई रमणीयता नहीं परन्तु कवि ने नांचे, बांचे, रांचे में अनुप्रास द्वारा दोहे को चमत्कृत करने का यत्न किया है । व्यंग्यार्थ के अभाव तथा शब्द-जनित चमत्कार के कारण इसे अधम कोटि का (शब्दचित्र) नीतिकाव्य ही मानना पड़ेगा ।

निष्कर्ष

उपयुक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि नीति काव्य का उत्तम, मध्यम या अधम होना कवि की प्रतिभा और कौशल पर अवलम्बित है । इसके अतिरिक्त कोई एक कवि भी सदा एक-सी रचनाएं नहीं करता । दीनदयालगिरि की अन्योक्तियों में जो सरसता है वह उनको दृष्टान्त-तरंगिणी के दोहों में नहीं है । वृन्द के अधिकतर दोहे

१. सतसई सप्तक, पृष्ठ ३२६, दोहा, ५५२ ।

२. वही, पृष्ठ ३३०, दोहा, ५५६ ।

तो अवर-काव्य में ही गणनीय हैं परन्तु कुछ एक उत्तम तथा मध्यम काव्य में । संस्कृत तथा हिन्दी के नीतिकाव्यों पर दृक्पात करने से यही ज्ञात होता है कि अधिकतर नीति-रचनाएँ अवर काव्य में परिगणित होंगी, अनेक मध्यम काव्य में और कुछ एक उत्तम काव्य में । परन्तु इस कथन से यह न समझना चाहिए कि नीति का काव्य अधम होने के कारण अत्यन्त हेय है । वस्तुतः वह अपने सुन्दर उपदेशों तथा शब्दगत व अर्थ-चमत्कार के कारण पर्याप्त लोक-प्रिय है । तुलसी, रहीम, वृन्द आदि के जितने नीति-सम्बन्धी दोहे लोगों को कंठस्थ हैं उनसे तो यही सिद्ध होता है कि लोग उनसे शिक्षा और आह्लाद दोनों ही प्राप्त करते हैं । शिक्षा विशुद्ध काव्य से अधिक और आह्लाद विशुद्ध काव्य से ग्यून ।

द्वितीय अध्याय भारतीय साहित्य में नीति-काव्य की परम्परा

हिन्दी-साहित्य के आरम्भ से पूर्व भारत में एक ऐसे विशाल और भव्य वाङ्मय की सृष्टि हो चुकी थी, जिसने हिन्दी-साहित्य को भाव, भाषा, रस, छन्द, अलंकार आदि की दृष्टि से पर्याप्त प्रभावित किया। वह साहित्य वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश इन पाँच भाषाओं में लिखा गया था। चूँकि उसके नीति-सम्बन्धी काव्य ने हिन्दी के नीति-काव्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित किया है, इसलिए पृष्ठ-भूमि के रूप में उसका परिचय प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है।

१—वैदिक साहित्य में नीति-काव्य

संहिताओं में नीति-काव्य

वेदों, (मूल संहिताओं), ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के समुदाय को वैदिक साहित्य कहते हैं। इनमें संहिताएँ प्राचीनतम और प्रायः छन्दोबद्ध हैं। भारतीय वाङ्मय का उपक्रम इन्हीं से होता है। चारों संहिताओं में बीस सहस्र के लगभग मंत्र हैं, जिनमें से अधिकतर मंत्रों का सम्बन्ध स्तुति, प्रार्थना, उपासना, यज्ञादि धार्मिक कृत्यों से है। शेष मंत्र लोक-व्यवहार आदि से सम्बद्ध हैं और वही हमारे विवेचन के विशिष्ट विषय हैं। नीति के सभी प्रकार संहिताओं में बीजरूप में उपलब्ध होते हैं। यथा—

वैयक्तिक नीति

मनुष्य का व्यक्तित्व शरीर, मन तथा आत्मा के संयोग से निर्मित होता है। यों तो प्रायः प्रत्येक व्यक्ति दीर्घजीवी, हृष्ट-पुष्ट, ज्ञानवान् तथा सदाचारी होना का उद्योग करता है परन्तु प्राचीन आर्य तो इस विषय में विशेष प्रयत्नशील थे। कारण यह कि वे अपने आदिम निवासस्थान से प्रस्थान कर दल-बद्ध रूप में भारत में पहुँचे थे। यहाँ पर पाँव जमाने के लिए उन्हें बहु-संख्यक आदिवासियों से अहर्निश लोहा लेना पड़ता था। उन संग्रामों में विजय-लाभ की आशा तभी सम्भव थी जब वे

शारीरिक, मानसिक तथा चारित्रिक बल में परिपंथियों से बढ़-चढ़कर हों। कदाचित् यही कारण है कि वेदों में मृत्यु-निवारण की, दीर्घायु-प्राप्ति की, रोग-नाश की, स्वास्थ्य-लाभ की तथा तनपुष्टि की अनेकानेक प्रार्थनाएँ ही नहीं मिलतीं, उपदेश भी उपलब्ध होते हैं। वे लोग मध्यकालीन लेखकों के समान शरीर को मलागार तथा जीवन को निस्तार न समझते थे। वे देह को देवताओं की पुरी तथा परम ज्योति के दर्शन का मन्दिर मानते थे —

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां प्रयोध्या ।

तस्यां हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाबुतः ॥^१

यह शरीर देवताओं की अयोध्यापुरी है जिसमें आठ चक्र और नवद्वार हैं। उसमें सुखदायक स्वर्गमय कोश है जो प्रभु की ज्योति से व्याप्त है।

ज्ञान उनके जीवन का अनिवार्य अंग था। जहाँ मेधा, बुद्धि तथा बाणी के विकास के लिए वेदों में अनेकत्र प्रार्थनाएँ की गई हैं वहाँ ज्ञान के स्वरूप, महत्त्व तथा अधिकाारियों के निरूपण से ऋग्वेद का ज्ञानदेवताक सूक्त^२ परिपूर्ण है। उसमें मित्रों के मानसिक विकास के तारतम्य का उल्लेख यों किया गया है—“मित्रों के नयन और कान तो समान होते हैं परन्तु मन की दौड़ पृथक्-पृथक्। (ज्ञान की दृष्टि से) कुछ उन सरोवरों के समान हैं जिनका जल कटि तक पहुँचता है। कुछ उनके, जिनका मुख तक और कुछ गहरे सरोवरों के, जिनमें मनुष्य खुला स्नान कर सकता है।^३

वे आत्मा की अमरता तथा कर्म-फल के सिद्धान्त के विश्वासी थे। उनके विचारानुसार, आत्मा की आवाज के विपरीत आचरण करने वाले लोग मृत्यु के पश्चात् प्रकाश-रहित लोकों को प्रस्थान करते हैं।^४ सब बुराइयों के त्याग के सम्बन्ध में वेद की काव्यमयी भाषा दृष्टव्य है—

यथा सूर्यो मुख्यते तमसस्पति रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।

एवाहं सर्वं दुभूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥^५

अर्थात् जैसे सूर्य अन्धकार से मुक्त हो जाता है, रात्रि को छोड़ देता है और उषाकालीन प्रकाशों को भी त्याग देता है, वैसे ही मैं सारी बुराइयों को, हिंसक-कृत हिंसा को, छोड़ता हूँ। जैसे हाथी धूल को उड़ा फेंकता है वैसे ही मैं पाप को। सार यह कि दीर्घ जीवन, पुष्ट शरीर, उज्ज्वल मस्तिष्क तथा पवित्र चरित्र वैदिक युग की वैयक्तिक नीति थी।

१. अथर्ववेद १०।२।३१

२. ऋग्वेद १०।७१

३. ऋग्वेद १०।७१।७

४. यजुर्वेद ४०।३

५. अथर्ववेद १०।१।३२

पारिवारिक नीति

जीवन की सुखमयता अधिकांश में पारिवारिक शान्ति पर अवलम्बित है। पति तथा पत्नी का, सन्तान तथा जनकों का, भाइयों तथा बहिनों का पारस्परिक बैमनस्य गृहस्थी को नरक बना दिया करता है। उस अवांछनीय स्थिति से बचाव के लिए वेद पारिवारिक नीति का यों प्रतिपादन करता है—“तुम्हारा पारस्परिक प्रेम ऐसा हो जैसा गाय का नव-जात वत्स से। पुत्र पिता का आज्ञानुवर्ती तथा माता से सामंजस्य रखनेवाला हो। पत्नी पति के प्रति मधुर तथा शान्त वाणी का प्रयोग करने वाली हो। न भाई भाई से द्वेष करे, न बहिन बहिन से। लक्ष्य तथा आचार-व्यवहार समान रखते हुए भली वाणी का व्यवहार करो।”

सामाजिक नीति

सामाजिक नीति के क्षेत्र में वेद भेद-भाव को त्यागकर मिलकर खान-पान तथा पूजा-पाठ करने का उपदेश इन शब्दों में देता है—

समानी प्रपा सह बोऽन्नमागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्म ।

सम्यंचोऽग्निं सपर्यंतारा नाभिभिर्वाभितः ॥^२

तुम्हारे जलपान-स्थान समान हों; तुम्हारा भोजन मिलकर हो; तुम्हें समान स्नेहपाश में बाँधता हूँ। ऐसे मिलकर अग्नि की सपर्या करो जैसे कि अग्ने रथचक्र की नाभि के चारों ओर मिले हुए रहते हैं।

समाज में मित्र तथा उदासीन लोग ही नहीं होते, शत्रु भी होते हैं। उनके दमन के लिए जो तेज अग्निवार्य होता है, उसकी कामना इन शब्दों में की गई है—

सिंह में, व्याघ्र में, चीते में, अग्नि में, बाह्यण में, सूर्य में जिस शक्ति का प्रकाश हो रहा है वही मेरे अन्दर भी हो। शासक-गण में, दुन्दुभि की तुमुल-ध्वनि में, घोड़े की हिनहिनाहट में, पुरुष की ललकार में जिस शक्ति का प्रकाश हो रहा है, वही मेरे अन्दर भी हो।^३ इसी प्रकार अथर्ववेद के छठे काण्ड के ६५-६७ सूक्त शत्रु के विद्रावण तथा संहार की भावनाओं से पूर्ण हैं।

लोकोपकारी सदाचारी विद्वान् अतिथियों के सम्बन्ध में वेद इस नीति का विधान करता है—जो व्यक्ति अतिथि से पूर्व भोजन करता है, वह अपने घरों के दृष्ट और पूर्त्त, दूध और रस, शक्ति और संपत्ति, संतति और पशु तथा कीर्ति और यश को ही खा जाता है।^४

१. अथर्ववेद ३।३०।१-३

२. अथर्ववेद ३।३०।६

३. अथर्ववेद ६।३८।१-४

४. अथर्व०—६।६।३१-३५

व्यक्ति को समाज में रहते हुए निज पुरुषार्थ द्वारा उन्नति करने की शिक्षा काव्यमयी भाषा में इस प्रकार दी गई है—

ब्रूया ब्रूधिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि । आप्नुहि अयंसमति सर्वं काम ।^१

हे मनुष्य, तू दूषक का दूषक, मादक का मादक और वज्र का वज्र है । तू बराबर वालों को पीछे छोड़कर उनमें जा मिल जो तुझ से श्रेष्ठ हैं ।

आर्थिक नीति

प्राचीन आर्य लोग सुखैषी गृहस्थ थे । साधु-सन्तों का-सा तपोमय तथा अकिञ्चन जीवन उन्हें पसन्द न था । वे पुत्र-पौत्रों के साथ घर में आमोद-प्रमोद-पूर्ण जीवन-यापन का लक्ष्य अपने सम्मुख रखते थे ।^२ इसी कारण वैदिक साहित्य में आर्थिक उपदेश इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं—यहाँ कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवन की इच्छा करो ।^३ सौ हाथों से कमाओ तथा हजार हाथों से दान-पुण्य करो ।^४ वे वित्तैषी तो थे परन्तु पैसा पुरुषार्थ^५ से उपाजित करने के पक्षपाती थे, जूए^६ या अनीति^७ से नहीं ।^८ पाजित धन का एकाकी उपभोग उनके मत में नीति-विरुद्ध था, अतएव उन्होंने यह कहा “अकेला खाने वाला केवल पाप खाता है ।”^९ वे जीवन-यात्रा में जहाँ-के-तहाँ रहना उचित न समझते थे और प्रगतिशील जीवन को ही सुनीति मानते थे—“अपनी-सी स्थिति वालों से आगे निकल जाओ तथा उन्नत लोगों से जा मिलो ।”^{१०}

इतर-प्राणि-सम्बन्धी नीति

कृषिकर्म और पशुपालन आर्यों के प्रिय व्यवसाय होने के कारण वेद-मंत्रों में पशुओं की प्राप्ति और रक्षा के लिए विशेष कामनाएँ तथा प्रार्थनाएँ की गई हैं ।^{११}

१. अथर्ववेद २।१।१
२. ऋग्वेद १०।६५।४२
३. यजुर्वेद ४०।२
४. अथर्ववेद ३।२४।५
५. यजुर्वेद ४०।२
६. ऋग्वेद १०।३४।१३
७. यजुर्वेद ४०।१
८. ऋग्वेद १०।११७।६
९. अथर्ववेद २।११।४, ५
१०. यजुर्वेद १।१; २।२।२२

गौ, घोड़ा, बैल आदि उपयोगी पशुओं के लिए ही विशेष प्रार्थनाएँ नहीं हैं, प्राणि-मात्र को मित्र की चक्षु से देखने की भावना तथा जीव-रक्षा में प्रमाद न करने का उपदेश भी उपलब्ध होता है।^१ परन्तु सिंह, सूअर, सर्प आदि घातक जीव-जन्तुओं के विनाश की प्रेरणाएँ भी विद्यमान हैं।^२

मिश्रित नीति

वेद इस लोक को प्रियतम मानता है, दुःखों का घर नहीं।^३ वह वाढ्यव्य से पूर्व मरने का निषेध तथा दीर्घ जीवन को हँसते और नाचते हुए व्यतीत करने का विधान करता है।^४ पालक-पोषक होने के कारण भूमि और पशुजन्तु हमारे माता पिता हैं तथा उपकारक होने के कारण सूर्य, चन्द्र, जल आदि पदार्थ हमारे सम्मान्य हैं।^५ वेद पुरुषार्थ का महत्त्व यों प्रतिपादित करता है—जो परिश्रम नहीं करता, देवता उसे मित्र नहीं बनाते।^६ हे मनुष्य ! तू उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो, अवनति के पथ पर नहीं।^७

संहिताओं के नीति-काव्य की समीक्षा

रस काव्य की आत्मा है। अतः सहृदयों के हृदय में रस का संचार करने में समर्थ रचना ही काव्य नाम की अधिकारिणी होती है। इस तुला पर तोलने से संहिताओं के अधिकांश नीति-मंत्रों को, छन्दोबद्ध होते हुए भी, काव्य मानना कठिन है। उनके श्रवण और अध्ययन से व्यवहार-सम्बन्धी ज्ञानवृद्धि तो होती है परन्तु हृदय में रसोद्रेक नहीं होता; कर्तव्य का मार्ग तो निर्दिष्ट हो जाता है परन्तु उस अलौकिक आनन्द की अनुभूति नहीं होती जिसमें मन विभोर हो उठे। तो भी यह नीरसता सार्वत्रिक नहीं है; कहीं-कहीं ऐसे भी मन्त्र दिखाई देते हैं जिन्हें पढ़कर हृदय एक या दूसरे रस या भाव में लीन हो जाता है। प्रायः मनुष्य सम्पन्न होने पर इतना अभिमानी हो जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों की ओर झूँट उठाकर देखने में भी अपना अपमान मानता है। वेद लक्ष्मी की चंचलता दिखाकर गर्व के त्याग और उदारता के ग्रहण की यों प्रेरणा करता है—

१. यजुर्वेद ३६।१८; अथर्ववेद १८।१।७

२. अथर्ववेद ४।३।४

३. अथर्ववेद ५।३०।१७

४. ऋग्वेद १०।१८।३

५. अथर्ववेद १२।१।१२

६. ऋग्वेद ४।३३।११

७. अथर्ववेद ५।३०।७

पृथीयादिन्मात्रमानाय तथ्यान् द्राधीर्यासमनुपश्येत पन्थाम् ।

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥^१

घनाढ्य को याचकों की कामनाएँ पूर्ण करनी चाहिएं । उसे मार्ग की दूरी पर दृष्टि रखनी चाहिए । घन तो रथ के चक्रों के समान घूमते रहते हैं । आज इसके यहाँ, कल उसके वहाँ ।

भाषा—वेद के उपदेश त्रैदिक भाषा में हैं जो संस्कृत से भी प्राचीनतर है । वह सरल स्वाभाविक भाषा है परन्तु उसकी स्वाभाविकता मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियों की भाषा के तुल्य ऊबाने वाली नहीं है । वेद के नैतिक मंत्रों में कहीं-कहीं वह चमत्कार अनायास आ गया है, जिसे परवर्ती साहित्य-शास्त्रियों ने अलंकार नाम से अभिहित किया है । वह चमत्कार तीन प्रकार का है—१. शब्दगत, २. अर्थगत, तथा ३. शब्दार्थगत ।

(१) शब्दगत चमत्कार

(क) पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः ।^१ (वृत्त्यानुप्रास)

(ख) समानि व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥^३ (लाटानुप्रास)

(२) अर्थगत चमत्कार

(क) भूमि माता है, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ ।^४ (रूपक)

(ख) (ये पाँसे) कभी नीचे पड़ते हैं और कभी ऊपर । स्वयं तो हाथ नहीं रखते परन्तु हाथ वालों को पराजित कर देते हैं, फलक पर (ये) दिवा अंगारे स्वयं शीतल होते हुए भी हृदय को जला डालते हैं ।^५ (विरोधाभास तथा रूपकातिशयोक्ति)

(ग) दो समान हाथ समान कार्य नहीं करते, समान समय पर प्रभूता दो गौएँ समान दूध नहीं देतीं । दो यमज बच्चों की शक्तियाँ समान नहीं होती । एक ही परिवार के दो व्यक्ति समान उधार नहीं होते ।^६ (दृष्टान्त)

१. ऋग्वेद १०।११७।५

२. ऋग्वेद ६।७५।१४

३. ऋग्वेद १०।१६१।४

४. अथर्ववेद १२।१।१२

५. ऋग्वेद १०।३४।६

६. ऋग्वेद १०।११७।६

(३) शब्दार्थ चमत्कार

किसी-किसी सूक्त में तो वेद शब्द तथा अर्थ-सम्बन्धी अलंकारों की मालाएँ प्रस्तुत कर देता है। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड का पन्द्रहवाँ सूक्त इस बात का सुन्दर निदर्शन है। इसमें मनुष्य निर्भयता प्राप्ति के लिए अपने प्राण को यों संबोधित करता है—“जैसे घी और पृथ्वी न डरते हैं, न हानि उठाते हैं, ऐसे ही हे मेरे प्राण, तू मत डर।” इसी प्रकार पृथक्-पृथक् मंत्रों में दिन और रात, सूर्य और चाँद, ब्रह्म और क्षत्र, सत्य और अनृत, भूत और भविष्यत् की उपमाएँ देकर निज प्राण को निर्भयता का उपदेश दिया है। आधुनिक छायावादी कवियों के समान वेद भी सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक तथा भूत-भविष्यत् आदि अप्राकृतिक पदार्थों में निर्भयता की कल्पना कर उन्हें प्राण के उपमान बनाता है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

छन्द—संहिताओं के नीतिकाव्य में भी उन्हीं गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् आदि वैदिक वर्ण-छन्दों का व्यवहार किया गया है, जिनका सामान्य मन्त्रों में। उनमें अक्षर-संख्या पर तो प्रायः दृष्टि रहती है परन्तु गुरु-लघु-विचार पर नहीं।

काव्यविधान—काव्य-विधान की दृष्टि से वैदिक नीतिकाव्य मुक्तक काव्यों की कोटि में ही सन्निविष्ट हो सकता है प्रबन्ध काव्यों में नहीं। दान, ज्ञान, द्यूत निन्दा, अतिथिसेवा, सामंजस्य आदि विषयों पर जो सूक्त दिखाई देते हैं उनका प्रत्येक मन्त्र अपने-प्राय में पूर्ण है। यद्यपि एक-एक सूक्त के अनेक मन्त्रों का विषय प्रायः एक ही होता है तथापि अर्थाभिव्यक्ति में उन्हें अन्य मन्त्रों का प्रश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे भर्तृहरि के नीति-शतक के विषय विभिन्न दशकों में विभक्त हैं, वैसे ही वैदिक सूक्त भी। अतएव जैसे ये मुक्तक काव्य हैं वैसे ही वे।

गुण—वैदिक नीतिकाव्य में रस का अभाव-सा है अतः उसमें गुणों की विशेष खोज करना भी निरर्थक है। उसमें भोज तथा माधुर्य की विशेष मात्रा न रहते हुए भी प्रसाद गुण की न्यूनता नहीं है। वेद अपने भाव तथा भाषा को सर्वथा स्पष्ट रखता है; न भावों में दुरुहता आने देता है, न भाषा में। यही कारण है कि मन्त्र पढ़ते ही अर्थ तुरन्त हृदयंगम हो जाता है।

शब्दशक्ति—वेद ने नीति का प्रतिपादन करने के लिए प्रायः अभिधा शक्ति का आश्रय लिया है। परन्तु कहीं-कहीं लक्षणा तथा व्यंजना द्वारा विषय को अधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है। वास्तविक तथा नाममात्र के ज्ञानियों के भेद को वेद इस प्रकार स्पष्ट करता है—“एक मनुष्य को लोग वाणी की मित्रता में सम्यक् प्रतिष्ठित कहते हैं उसे ज्ञानवृद्धों के समाज से बहिष्कृत नहीं करते। परन्तु जिसने फल-रहित और वे फूल-रहित वाणी का श्रवण किया है वह किसी मायामयी गी के साथ ही

घूमता है।”^१

बाणी को पुष्प-फल-रहित कहने में लक्षणा का प्रयोग हुआ है तथा निदर्शना भ्रूलंकार द्वारा यह व्यंग्य है कि निस्सार बाणी का श्रवण नितान्त निरर्थक है।

बोध—वेदों के भाष्यकारों ने वैदिक मन्त्रों में कहीं-कहीं भिन्न-क्रमत्व, पुरुष-व्यत्यय, विभक्तिव्यत्यय, यत्तदोव्यत्यय आदि की ओर संकेत किया है।^२ परन्तु उक्त स्थलों पर विचार करने समय यह बात स्मरणीय है कि वैदिक भाषा संसार की प्राचीनतम भाषा है। पाणिनि आदि के व्याकरण तथा भामह आदि के काव्य-शास्त्र जिनके आधार पर हम आधुनिक कृतियों की आलोचना किया करते हैं, बहुत ही पीछे की रचनाएँ हैं। इतने सुदीर्घ काल में भाषा, शैली आदि में परिवर्तन हो ही जाया करते हैं। अतः इनके आधार पर उनकी सूक्ष्म आलोचना करना उचित नहीं प्रतीत होता।

उपर्युक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर सहज ही पहुँच जाते हैं—

- (१) वेदों के कुछ अंशों में नीतिकाव्य बीजरूप में विद्यमान है।
- (२) उसका सम्बन्ध मानव-जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से है।
- (३) वैदिक नीतिकाव्य ऐहिक जीवन को विशेष महत्त्व देता हुआ शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक गुणों के विकास की प्रबल प्रेरणा करता है।
- (४) पारिवारिक सम्बन्धों को सत्य मानते हुए उनके निर्वाह का सम्यक् यत्न करना चाहिए।
- (५) वेद सबमे मिल-जुलकर रहने का उपदेश देता है परन्तु शत्रुओं के प्रति मृदु व्यवहार का पक्षपाती नहीं है।
- (६) वेद धन को तुच्छ नहीं मानता। उसे परिश्रम-पूर्वक उपार्जित करने तथा उदारतापूर्वक व्यय करने की प्रेरणा करता है।
- (७) वेद लाभप्रद प्राणियों का हितैषी है परन्तु हिंस्र जीवों के संहार का समर्थक है।
- (८) वेद कर्म और पुरुषार्थ को विशेष महत्त्व देता हुआ सुखी जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है।
- (९) वैदिक नीतिकाव्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से चाहे सर्वांश में सरस न हो परन्तु उसके कुछ अंश तो अवश्य ही काव्यपद के अधिकारी हैं।

(ख) परबर्ती वैदिक साहित्य में नीतिकाव्य

वेदों की संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना हुई। कहते हैं कि वेदों की ११३० संहिताओं के समान कभी ब्राह्मण, आरण्यक

१. ऋग्वेद, १०।७।१।५

२. यजुर्वेद, ४०।१।१ परट उव तथा महीधर के भाष्य देखिए।

आदि भी इतनी-इतनी ही संख्या में विद्यमान थे, परन्तु आज १८ ब्राह्मण ग्रंथ, ७३ आरण्यक और २२० उपनिषदें ही प्राप्त हैं। शेष काल के गाल में समा गई हैं। ब्रह्म (यज्ञ) के प्रतिपादक होने अथवा यज्ञों के ब्राह्मण-संचालित होने के कारण इन ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रंथ नाम दिया गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में दर्श, पौर्णमास, पुत्रेष्टि, राजसूय, सोमयाग आदि अनेक यज्ञों के अनुष्ठानार्थ सविस्तर निर्देश है। इनमें मन्त्रों की अर्थ-मीमांसा, शब्दों की व्युत्पत्ति, प्राचीन ऋषियों तथा राजाओं की कथाएँ भी हैं। नीति की बातें तो कहीं-कहीं आ जाती हैं परन्तु उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रायः नीरस गद्य में होने के कारण नीति का काव्य अत्यल्प मात्रा में ही उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, इन्द्र का रोहिताश्व को उद्योग-विषयक उपदेश द्रष्टव्य है—

आस्ते मग आसीनस्योर्ध्वंस्तिष्ठति तिष्ठतः।

शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो मगः, चरंवेति।^१

बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य बैठा, खड़े होने वाले का खड़ा, सुप्त का सोया तथा चलने वाले का चलता है। अतः तू भी चल।

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्, चरंवेति।^२

सोया हुआ व्यक्ति कलियुग होता है, निद्रा का त्याग करता हुआ द्वापर, खड़ा होता हुआ त्रेता तथा चलता हुआ कृतयुग, अतः तू भी चल।

आरण्यक आरण्यवासी वानप्रस्थ लोगों के काम के ग्रंथ हैं। गृहस्थ लोगों के यज्ञों का विवरण ब्राह्मण ग्रंथों में है तो वानप्रस्थों के यज्ञ, महाव्रत, होत्र आदि का विवरण आरण्यक ग्रन्थों में। ये मुख्यतः यज्ञों के रहस्यों का प्रतिपादन करते हैं, अतएव इन्हें रहस्य ग्रंथ भी कहा गया है।^३ आरण्यकों में विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्यों का उल्लेख तो है परन्तु वह, आरण्यकों के ब्राह्मणवत् हो प्रायः नीरस गद्य होने के कारण, नीति-काव्य में परिगणित नहीं हो सकता।

उपनिषद् (उप + नि + सद्) शब्द की व्युत्पत्ति से ही प्रतीत हो जाता है कि ये परब्रह्म के समीप बैठाने वाले ज्ञान से पूर्ण ग्रन्थ हैं। ब्रह्म का स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति का उपाय ही उपनिषदों के प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। आजकल २२० के लगभग उपनिषदें प्राप्य हैं और उनका अधिकांश नीरस गद्य में है। यद्यपि उनमें सत्य, त्याग, तप, तृष्णा, दान, दम, दया, अतिथिसेवा आदि नैतिक विषय भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं तथापि प्रायः नीरस गद्य या पद्य में होने के कारण वे काव्य में नहीं गिने जा सकते। हाँ, कहीं-कहीं कुछ अंशों का जैसे-तैसे नीतिकाव्य में अन्तर्भावित कर सकते हैं। जैसे, मानवीय व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों के सापेक्ष सम्बन्ध के विषय में उपनिषद् में यों कहा गया है—

१, २. ऐतरेय ब्राह्मण, (आनन्दाश्रम पूना, १९३१ ई०) अध्याय ३३, श्लोक ३।

३. रामगोविन्द त्रिवेदी: बौद्ध साहित्य, १९५० ई०, पृष्ठ १५०।

आत्मानं रयिर्न विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहु विशयास्तेषु गोचराण्य ।'

आत्मा को रथी समझो और शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि जानो और मन को लगान, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और विषय उनके मार्ग ।

अन्त में समग्र वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि मुख्यरूप से धार्मिक, याज्ञिक और भाष्यात्मिक साहित्य होने के कारण एक तो इसमें विशुद्ध नीति की मात्रा ही थोड़ी है और दूसरे नीतिकाव्य की तो उससे भी थोड़ी । परन्तु जैसी और जितनी भी है, उसने हमारे परवर्ती साहित्य को कुछ-न-कुछ अवश्य प्रभावित किया है ।

(२) संस्कृत का नीतिकाव्य

संस्कृत के जिन ग्रन्थों में नीति-काव्य उपलब्ध होता है, वे दो प्रकार के हैं । एक वे जिनका मुख्य विषय तो कोई अन्य है किन्तु जिनमें नीति गौण रूप से समाविष्ट है । दूसरे वे जिनकी रचना का उद्देश्य ही नीति का उपदेश है । विवेचन-सौकर्य के लिए हम इन्हे 'मिश्रित-काव्य' तथा 'नीति-काव्य' नामों से अभिहित करेंगे । मिश्रित-काव्य तीन वर्गों में विभाज्य है—१. प्रबन्ध काव्य २. मुक्तक काव्य ३. दृश्यकाव्य प्रबन्ध काव्यों के निम्नांकित अवान्तर भेद हो सकते हैं—(क) रामायण और महाभारत (ख) पुराण (ग) महाकाव्य (घ) खण्ड काव्य (ङ) ऐतिहासिक काव्य (च) चम्पू काव्य । मुक्तक काव्य भी तीन वर्गों में विभाज्य है—

(क) शृंगार-मुक्तक

(ख) वैराग्य-मुक्तक

(ग) स्तोत्र-मुक्तक ।

नीतिकाव्य भी तीन प्रकार का है—

(क) प्रत्यक्ष नीतिकाव्य

(ख) अन्यापदेशात्मक नीतिकाव्य

(ख) सुभाषित-संग्रहों का नीतिकाव्य ।

(प्र) मिश्रित काव्यों में नीति

१. प्रबन्ध काव्य

क. रामायण और महाभारत

रामायण—रामायण हमारा प्रादि काव्य है । इसका मुख्य विषय राम का चरित्र-चित्रण तथा उनकी रावण पर विजय है । नायक-प्रतिनायक के राजा होने के कारण

१. कठोपनिषद्, १।१।३-४

इस काव्य में राजनीति का निरूपण तो स्वाभाविक ही था, सामान्य नीति भी प्रसंग वश समाविष्ट हो गई है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—

सत्यसन्धत्व तथा पुत्रवात्सल्य के कारण जब दशरथ की गति सांप-छछूंदर की-सी हो गई तब कैकेयी ने अग्नीष्ट-सिद्धि के लिए दशरथ को सत्य-नीति का महत्त्व यों समझाया—

सत्यमेकपदं ब्रह्म, सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।

सत्यमेवाक्षया देवाः, सत्येनावाप्यते परम् ॥^१

सत्य ही एकाक्षर ब्रह्म है, सत्य पर ही धर्म प्रतिष्ठित है, सत्य ही शाश्वत वेद हैं, सत्य से ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है। रामायण में पिता को साक्षात् देवता तथा उसके आदेश-पालन को परम कर्तव्य माना गया है। पिता को मूर्छित देखकर राम कैकेयी से कहते हैं—“मनुष्य का जिस व्यक्ति के कारण पृथ्वी पर प्रादुर्भाव होता है, उस प्रत्यक्ष देवता का वशवर्तित्व वह क्यों न करे।”^२ क्रूर-कर्मा कैकेयी पर भरत और शत्रुघ्न दोनों को असौम क्रोध आ रहा था तो भी क्षुब्ध भरत ने क्रुद्ध शत्रुघ्न को इस नीति द्वारा शान्त किया—‘किसी भी प्राणी को स्त्री-हत्या नहीं करनी चाहिए, इस लिए इसे क्षमा कर दीजिये।’^३ सीतापहरण के कारण शोक-मग्न तथा हतोत्साह राम को लक्ष्मण इन शब्दों द्वारा प्रोत्साहित करते हैं—“हे भाय्य, उत्साह में बहुत बल होता है। उत्साह से बड़ा बल कोई भी नहीं होता। लोक-लोकान्तरों में उत्साही व्यक्ति के लिए कोई भी पदार्थ दुष्प्राप्य नहीं होता।”^४ लोकापवाद के कारण पति द्वारा निर्वासित दुखिनी भी सीता लक्ष्मण के समक्ष पति का महत्त्व इन शब्दों में प्रतिपादित करती है—

पतिर्हि देवता नार्याः, पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ।

प्रार्थरन्नि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः ॥^५

स्त्री के लिये तो पति ही देवता, पति ही बन्धु और पति ही गुरु है। इसलिए पत्नी को पति की अग्नीष्ट-सिद्धि के लिए प्राणोत्सर्ग करने में भी संकोच न करना चाहिए।

इनके अतिरिक्त यत्रतत्र वे भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं जो आज पर्यन्त हमारे समाज में प्रचलित हैं। जैसे—राजतिलक के स्थान पर वनवास मिलने पर क्रुद्ध लक्ष्मण श्रीराम से कहते हैं—

१. वाल्मीकि रामायण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, २।४।७।

२. वाल्मीकि रामायण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, २।१८।१६

३. वही २।७५।२१

४. वही ४।१।१२१

५. वही ७।४८।१७, १८

भरतस्याथ पश्यो वा, यो वास्यहितमिच्छति ।

सर्वास्तीक्ष्ण बधिष्यामि, मृदुहि परिभूयते ॥^१

जो-जो भी भरत के पक्षपाती और हितैषी होंगे, उन सबको मैं मार डालूँगा । जगत् में जो कोमल स्वभाव का होता है, वह तिरस्कार-पात्र बनता है ।

जैसा-तैसा भी पति पूज्य है, इस नीति की शिक्षा अनुसूया सीता को इन शब्दों में देती है—

दुःशीलः कामधुसो वा, धनैर्वा परिवर्जितः ।

स्त्रोणामार्यस्वभावानां, परमं देवतं पतिः ॥^२

दुःशील, व्यभिचारी तथा दरिद्र भी पति आर्य नारियों के लिए परम देवता होता है ।

कन्या के पिता को समाज में झुकना ही पड़ता है, इस बात को सीता अनुसूया के सम्मुख स्वीकार करती है—

सदृशाश्चापकुष्ठाश्च, लोके कन्यापिता जनात् ।

प्रधर्षणमबाध्नोति, शक्नेणापि समो भुवि ॥^३

संसार में कन्या के इन्द्रतुल्य पिता को भी अपने तुल्य और अपने से छोटे व्यक्ति के संमुख भी दबना पड़ता है ।

उपर्युक्त नीत्यात्मक अवतरण तो वाल्मीकि-रामायण के विभिन्न काण्डों से प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु कहीं-कहीं एक स्थल पर नीति के बीसियों श्लोक विद्यमान हैं । जैसे रामनिर्वासन में अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिए भरत ने कौशल्या के सम्मुख जो सौगन्धे उठाई, उनसे तत्कालीन नीति का सुन्दर परिचय मिलता है । भरत ने कहा—“जिसकी अनुमति से राम वन को गये हों वह पापियों का प्रेष्य बने । सूर्याभिमुख मूत्रविसर्जन करे, सोई हुई गौ को पांव से ठोकर मारे, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले नृप के प्रति विद्रोह करे; गुरुओं की निंदा करे; गौओं को पांव से छुए; मित्र से द्रोह करे; परिवार तथा दासों से युक्त घर में अकेला ही बढ़िया भोजन करे; राजा, स्त्री, बाल या वृद्ध की हत्या करे; नौकर को नौकरी से हटा दे; मद्यप, व्यभिचारी और द्यूतकार बने; काम और क्रोध का शिकार बने; प्रातः और सायं सन्ध्याकाल में सोता रहे; बाह्यण के भावी पूजा-सत्कार में विघ्न डाले तथा छोटे बछड़े वाली गौ का दूध दोहे ॥”^४

महाभारत—रामायण में नीतिकाव्य प्रसंगवश कहीं-कहीं ही उपलब्ध होता है परन्तु महाभारत को तो नीतिकाव्य का भंडार कहना ही उचित है । छिट-पुट रूप

१. वाल्मीकि रामायण, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, २।२१।११

२. वही २।११७।२४

३. वही २।११८।३५

४. वही २।७५।२२, २४, ३०, ३१, ३४, ३७, ४१, ५४

में तो नीतिकाव्य महाभारत के प्रत्येक पर्व में प्राप्त होता है परन्तु उद्योग, शांति और अनुशासन पर्व तो नीति के कोश-से ही हैं। इनके अध्ययन से अनुमान होता है कि ये महाभारत की कथा में सहज भाव से नहीं आए, नीति का उपदेश देने के लिए योजना-पूर्वक रचे गये हैं। उदाहरणार्थ, उद्योग-पर्व के विदुर-वाक्य नामक संदर्भ (अध्याय ३३-४०) पर दृक्-पात कीजिये। सामान्यतः “विदुरनीति” नाम से प्रख्यात इस संदर्भ को नीति की अष्टाध्यायी कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि इसका उपदेश पुत्रों तथा भतीजों के पारस्परिक वैमनस्य से विह्वल धृतराष्ट्र को शान्ति प्रदान करने के लिए दिया गया था तो भी इसके अवलोकन से निश्चय हो जाता है कि इसमें मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक विषय पर प्रकाश डाला गया है। निम्नोद्धृत अंशों से महाभारत के नीति-वाक्य की बानगी ली जा सकती है—

एकं हन्यान्नवा हन्याद्विषमुक्तो धनुष्मता ।

बुद्धिबुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्वाष्ट्रं सराजकम् ॥^१

किसी धनुर्धर द्वारा फेंका हुआ बाण सम्भवतः एक को भी मारे या न मारे परन्तु बुद्धिमान् द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजा के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर सकती है।

धूमायन्ते व्यपेतानि उवलन्ति सहितानि च ।

धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥^२

हे भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र, जलती हुई लकड़ियाँ पृथक् पृथक् होने पर धूमाँ फेंकती हैं और एक साथ होने पर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जातिबन्धु भी विघटित होने पर दुःख और संघटित होने पर सुख प्राप्त करते हैं।

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।

वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥^३

हे धृतराष्ट्र, जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, सम्बन्धियों और गोओं पर शूरता प्रकट करते हैं, वे ऐसे नीचे गिरते हैं जैसे डंठल से पके हुए फल।

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोपि बलीयसा ।

अल्पोपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥^४

बलवान् को निर्बल शत्रु की भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए क्योंकि तनिक-सी भी अग्नि जला डालती है और जरा-सा भी विष प्राण ले लेता है।

१. महाभारतम् (चित्रशाला प्रेस, पूना, १९३१ ई०) उद्योग पर्व, अध्याय ३३, पद्य ४३

२. वही, उद्योग पर्व, ३७।६०

३. वही, ३७।६१।

४. सं०-सी० बी० गेह, संक्षिप्त महाभारतम्। (बम्बई, १९१२ ई०) पृष्ठ ४३७, पद्य २५२।

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेरासीविवक्ष्य च ।

अविवक्ष्यतमं मन्ये मा स्म दुर्गलमासदः ॥^१

दुर्बल मनुष्य, मुनि तथा सर्प के नेत्रों का तेज सर्वाधिक असह्य होता है । इसलिए कभी दुर्बल को मत सताओ ।

न चैवास्ति तलं व्योम्नि लक्ष्यते न हुताशनः ।

तस्मात्प्रत्यक्षदृष्टे अपि युक्तो ह्ययं परीक्षितुम् ॥^२

दिखाई देने पर भी न गगन में तल होता है न जुगनू में अग्नि । इसलिए प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु की भी परीक्षा सम्यक् करनी चाहिए ।

समीक्षा

रामायण और महाभारत के नीति-ग्रंथों पर विहंगमदृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि रामायण में नीति-काव्य न्यून है, महाभारत में अधिक । सत्य, प्रतिज्ञापलन, पितृ-भक्ति आदि गुणों पर जितना बल रामायण में लक्षित होता है, उतना महाभारत में नहीं । रामायण में दृष्टि आदर्श पर केन्द्रित प्रतीत होती है, महाभारत में व्यावहारिकता पर ।

भाषा-शैली

दोनों काव्यों की भाषा तथा छन्दों में विशेष अन्तर नहीं है परन्तु शैली-भेद पर दृष्टि अनायास जा पड़ती है । रामायण में नीतिकाव्य छुट-पुट रूप में सन्निविष्ट है । महाभारत में पंडित, मूढ़, मित्र, शत्रु, जाति, कुल, देव, पुरुषार्थ आदि अंगों में विभाजित है । महाभारत में पशु-पक्षियों की कथाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रवृत्ति लक्षित होती है । परन्तु रामायण में उसका अभाव है । कहना न होगा कि परवर्ती नीति-साहित्य को ऐसी कथाओं के लिये महाभारत का प्रत्यक्ष या परोक्ष आभार मानना होगा । महाभारत में गणित के एक से लेकर दस तक अंकों का क्रमशः आधार लेकर भी नीतिकाव्य रचा गया है । यह आधार दो प्रकार से लिया गया है :—

क—एक ही अंक पर अनेक पद्यों की रचना द्वारा, जैसे—देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचों की पूजा से ही मनुष्य लोक में निर्मल यश प्राप्त करता है ।^३

‘‘हाँ-जहाँ भी तू जाएगा वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रयदाता तथा

१. वही पृष्ठ ४४४ । ३५८

२. वही, पृष्ठ ४४८ । ४०६

३. विष्णु नीति, बीताग्रस, गोरक्षपुर सं० २०११ पृष्ठ १६।८०

आश्रयापेक्षी ये पाँच तेरा अनुगमन करेगे ।^१

ख — एक पद्य में अनेक प्रंकों के उल्लेख द्वारा, जैसे—

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रीन्वचतुर्भिर्बन्धे कुतः ।

पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥^२

वाल्मीकि रामायण में भरत के सौगन्धों वाले उपयुक्त प्रसंग में श्लोक के अन्तिम चरण की आवृत्ति अनेक श्लोकों में देख पड़ती है। प्रतिपाद्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए वहाँ “यस्यार्थोऽनुमते गतः” की सभी पद्यों में आवृत्ति की गई है। यह प्रवृत्ति महाभारत में अनेकत्र देखने में आती है। यहाँ “स वै पण्डित उच्यते, नराः पण्डितबुद्धयः, तमाहुर्मूढचेतसम्” आदि अन्तिम चरणों को अनेक श्लोकों में दुहराया गया है।^३

अलंकार

रामायण की अपेक्षा महाभारत में अलंकारों का प्रयोग कहीं अधिक है। इससे जहाँ नीति-पद्यों की नीरसता में न्यूनता आई है, वहाँ प्रतिपाद्य की प्रभावकता में वृद्धि हुई है। अलंकार तीनों प्रकार के उपलब्ध होते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा लाटानुप्रास का और अर्थालंकारों में उपमा, रूपक तथा आवृत्ति-दीपक की बहुलता है। व्यतिरेक, अन्योन्य, तुल्ययोगिता आदि अलंकार भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं। प्रायः उपमा का प्रयोग श्लोक के अन्तिम चरण वा अन्तिम दो चरणों में हुआ है।^४

काव्यत्व की दृष्टि से रामायण का नीतिकाव्य महाभारत से उत्कृष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि वहाँ नीति प्रत्यक्षतया उपदिष्ट नहीं है, व्यंग्य है। नीति की यह व्यंग्यता ही पाठक को विशेष भाव में मग्न कर आनन्दित कर देती है। कहीं भरत कुछ इस प्रकार कह देते हैं कि यदि राम के निर्वासन में मेरा हाथ हो तो भगवान् मुझे नरक में फेंके तो उक्ति नीरस हो जाती। परन्तु उनका यह कहना कि जिसका अनुमति से राम वन को गए हों, वह परिवार में रहता हुआ भी एकाकी मधुर भोजन खाए तथा बालवत्सा गौ को दोहे, हृदय को अनेक रम्य भावों में मग्न कर देता है। ऐसी उक्तियों से भरत के प्रति तो श्रद्धा का जागरित होना स्वाभाविक ही है, अप्रत्यक्ष रीति से नीति के ये उपदेश भी हृदयंगम हो जाते हैं कि हम भी अग्रजसेवी बनें, बाँटकर खाएँ और बालवत्सा गौ को न दोहें। महाभारत के अधिकतर नीत्यात्मक प्रसंगों

१. वही, पृष्ठ २०।८१

२. वही, पृष्ठ १२।४६

३. वही, पहला अध्याय, श्लोक २०-४५

४. विदुरनीति, पृष्ठ ४०।३३, ४३। ४४, ४०। ३२, १४५। २२, ४१। ३६ पर उक्त अलंकारों के उदाहरण देखिये।

में नीति अभिहित है, व्यंग्य नहीं। इसी कारण वह मस्तिष्क को तो प्रभावित करती है, हृदय को भावाबिभोर नहीं।

जैसे—“मनुष्य आपत्ति से बचाव के लिए धन की रक्षा करे और धन के द्वारा भी पत्नी की रक्षा करे, तथा स्त्री और धन दोनों के द्वारा सदा अपनी रक्षा करे।”^१ माना कि व्यास जी ने इस उक्ति में सामान्य नीति के तीन उपयोगी उपदेश गिना दिए हैं और उसे भावृत्तिदीपक की सहायता से सूक्ति बना दिया है तो भी यह स्वीकार करना ही होगा कि यह रस-भाव शून्य होने के कारण सत्-काव्य नहीं मानी जा सकती। इसलिए यह मानते हुए भी कि महाभारत में कहीं-कहीं सुन्दर-सरस नीति-काव्य विद्यमान है, इस बात का प्रत्याख्यान करना कठिन है कि उसके अधिकतर नीति-प्रसंग अवरकाव्य के अन्तर्गत ही स्थान पा सकते हैं।

(ख) पुराण

यद्यपि प्रायः अठारह पुराण और इतने ही उपपुराण माने जाते हैं तथापि पुराण नाम से प्रचलित पुस्तकों की संख्या सौ से भी ऊपर ही है। इनमें सृष्टि-रचना, लोक-परलोक, इतिहास, देव-कथा, धर्म, नीति आदि विषयों की सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। इनमें नीति के अनेक विषय दृष्टिगत होते हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—स्त्री, पण्डित, मूर्ख, सज्जन, दुर्जन, देव-कर्म, सुख-दुःख, विद्या, विद्यार्थी, काल-महत्त्व, सत्य, भावशुद्धि, गृहसुख, उद्यम, चिन्ता, मित्र-शत्रु आदि।

चतुर्वर्ग की सिद्धि शरीर के रहते हुए सम्भव है, अतः बुद्धिमान् को प्रेरणा की गई है कि वह महान् प्रयत्न से शरीर की रक्षा करे।^२ अर्थज्ञान बिना अध्ययन की निष्फलता का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

स्वर्गाय बद्धकसो यः पाठमात्रेण ब्राह्मणः ।

स बालो मातुरंकस्थो, ग्रहीतुं सोममिच्छति ॥^३

‘जो विप्र ग्रन्थों के पाठमात्र से स्वर्ग जाने को कटिबद्ध होता है वह उस बालक के तुल्य है जो माता की गोद में बैठकर चन्द्र को पकड़ना चाहता है।’ चूँकि बाह्य क्रिया-कलाप मन की वृत्तियों पर आधृत होते हैं, अतः भावशुद्धि पर बहुत बल दिया गया है—कान्ता का आलिंगन एक भाव से किया जाता है और दुहिता का दूसरे भाव से।^४ सन्त-साहित्य में निन्दक की प्रशंसा का जो विचार दिखाई देता

१. वही, पृष्ठ ६७।१८

२. पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू० = पुरानिक बर्द्ध अफ बिज्जम, बम्बई (१९४७ ई०)
पृष्ठ ५८।८१७

३. वही, पृष्ठ ४८।७०३

४. वही, ,, ५१।७४६

है वह पद्मपुराण में पहले ही व्यक्त किया जा चुका था—

आक्रोशकसमो लोके सुहृद्वन्यो न विद्यते ।

यस्तु बुष्कृतमादाय सुकृतं स्वं प्रयच्छति ॥^१

संसार में निन्दक के समान कोई मित्र नहीं, क्योंकि वह पाप लेकर अपना पुण्य दे देता है । स्त्रियों को कहीं पर तो जोंक से भी जघन्य कहा गया है और कहीं पर विप्र से भी पवित्र—

जलौका केवलं रक्तमावदाना तपस्विनी ।

प्रमदा सर्वमावत्ते चित्तं वित्तं बलं सुखम् ॥^२

अजायवयोर्मुखं मेध्यं गावो मेध्यस्तु पृष्ठतः ।

पादयोर्बाह्या मेध्याः स्त्रियो मेध्यास्तुसर्वतः ॥^३

बेचारी जलौका तो केवल रक्त चूसती है परन्तु नारी चित्त, वित्त, बल तथा सुख सब कुछ छीन लेती है । बकरी तथा घोड़े का मुख पवित्र होता है, गोमूत्र का पृष्ठ-भाग पवित्र होता है, बाह्याणों के चरण पवित्र होते हैं परन्तु स्त्रियों का तो सर्वांग ही पवित्र होता है ।

पुराणों में धन की निन्दा और स्तुति दोनों ही पाई जाती है परन्तु निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा की प्रचुरता है । धनाढ्य के दुःखों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

यथामिधं जले मत्स्योर्भक्ष्यते श्वापदंभुवि ।

आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥^४

जैसे मांस को जल में मछलियाँ, भूमि पर हिरण्य पशु तथा आकाश में पक्षी खा जाते हैं, वैसे ही धनवान् को सब लोग सर्वत्र खाने को दीड़ते हैं । इसके विपरीत दरिद्रता-जन्य अवमानना का उल्लेख यों किया है—जैसे पक्षी शुष्क वृक्ष को छोड़ जाते हैं वैसे ही बन्धु-बान्धव उत्तम तथा कुलीन धनहीन व्यक्ति को ।^५

याचक विष्णु के समान लघुता को ही प्राप्त नहीं करता,^६ उन सभी लक्ष्मणों से युक्त हो जाता है जो मरणासन्न व्यक्ति में दिखाई देते हैं :—

१. वही, ,, ५५।७६४

२. वही, ,, १।८

३. वही, पृष्ठ २।१५

४. वही, ,, २७।३६२

५. वही, ,, २६।३८३

६. वही, ,, ३३।४८३

मुखभंगः स्वरो बीनो गात्रस्वेवो महद्भयम् ।

मरणो यानि चिन्हानि तानि चिन्हानि याचके ॥^१

मुख की वक्रता, स्वर में दीनता, शरीर पर प्रस्वेद तथा भारी भय—ये सब बातें मरणासन्न मानव तथा याचक में समान होती हैं ।

अनेकत्र तो सत्याचरण की प्रेरणा की गई है पगन्तु गौ, स्त्री तथा द्विजों के रक्षार्थ, विवाह-काल में, मित्रों के प्रसंग में, प्राण-संकट में तथा सर्वस्व लुटते समय झूठ बोलने को भी पाप नहीं माना गया है ।^२

समीक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशाल-पुराण साहित्य में नीति के प्रायः समग्र विषय यत्र-तत्र विकीर्ण हैं । नीति के श्लोक प्रायः किसी व्रत, कथा, अध्यात्मचर्चा आदि के प्रसंग में दिखाई देते हैं । अनेक श्लोक तो वही हैं जो मनुस्मृति, भगवद्गीता, हितोपदेश, पंचतन्त्र तथा शतकत्रयी में भी उपलब्ध होते हैं । गरुड़ पुराण के पूर्व-खंड, आचारकांड (१०८-११४ तथा ११५ अध्याय) में बृहस्पति-नीतिसार तथा शौनकीय-नीतिसार भी समाविष्ट हैं । जहाँ उनमें नृपनीति का निर्देश है वहाँ लोकनीति की भी पर्याप्त सुन्दर सामग्री है ।

पुराणों में नीति-काव्य की एक अन्य शैली भी दिखाई देती है जिसे नैतिक उपमानों की शैली कह सकते हैं । उसमें प्राकृतिक घटनाओं की उपमा नैतिक अनुभवों से दी गई है । अप्रत्यक्ष रूप से नीति का संकेत करने के कारण यह शैली अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती है । जैसे—

गात्रवारिचरास्तापमविन्दश्चरवर्कजम् ।

यथा बरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥^३

थोड़े जल में रहने वाले जीवों को शरत्कालीन सूर्य की प्रखर किरणों से बहुत दुःख होने लगा—जैसे अजितेन्द्रिय, दरिद्र एवं कंजूस कुटुम्बी को बहुत ताप सताते रहते हैं ।

पुराणों का नीति-काव्य विषयों की व्यापकता के विचार से तो प्रशंसनीय है परन्तु उनका अधिकतर भाग पद्यमात्र ही है । तो भी कहीं-कहीं पर शब्दों तथा अर्थों में वह चमत्कार प्राप्त हो जाता है जो उन्हें काव्य की परिधि में समाविष्ट कर देता है । जैसे—

१. वही, ,, ३३।४८१

२. वही, ,, ६०।८६५

३. श्रीमद् भागवत पुराण, १०।२०।३७

शरत्-पद्मोत्सवं वक्त्रं वक्षश्च भवणामृतम् ।

हृदयं क्षुरधारामं स्त्रीणां को वेव चेहितम् ॥^१

स्त्रियों का मुख-मंडल शरद् ऋतु के कमल के समान प्रफुल्ल होता है; उनकी वाणी कणों के लिए भ्रूत के तुल्य होती है; परन्तु हृदय क्षुरे की धार के समान कटीला होता है। उनकी चेष्टाओं को कौन जान सकता है ?

(ग) महाकाव्य

संस्कृत में अश्वघोष, कालिदास, श्री हर्ष आदि महाकवियों ने ऐसे अनेक महाकाव्यों की रचना की है जिनका मुख्योद्देश्य धर्मप्रचार न होकर सुकाव्य-सुलभ आह्लाष का प्रदान है। उन ग्रन्थों में नीतिकाव्य अच्छी मात्रा और प्रशस्त रूप में उपलब्ध होता है। जैसे—

जब एक वृद्ध को देखकर सिद्धार्थ ने अपने सारथी से उसके सम्बन्ध में प्रश्न किया तब उसने जराजन्य दोषों का इस प्रकार उल्लेख किया—

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनिनिधनं रतीनाम् ।

नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेवा जरा नाम ययं भग्नः ॥^२ (अश्वघोष)

इसका रंग-रूप उस बुढ़ापे ने बिगाड़ दिया है जो रूप का नाशक, बल का उत्पादक, शोक का कारण, आनन्दों का उन्मूलक, स्मृति का ध्वंसक और इन्द्रियों का बेरी प्रसिद्ध है।

जिन विषयों के पीछे संसार पागल बना फिरता है, उनकी दुष्परिणामता बुढ़ इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

गीर्तं ह्यन्ते हि मृगा वधाय रूपार्थमग्नौ शलभाः पतन्ति ।

मत्स्यो गिरत्यायसमामिषार्थी तस्मादनर्थे विषयाः फलन्ति ॥^३ (अश्वघोष)

गीतों से आकर्षित होकर मृग मारे जाते हैं; रूप पर मोहित होकर पतंगे अग्नि में दग्ध हो जाते हैं; मांस के लोभ से मछली लोहमय काँटे को निगलकर मर जाती है; इस प्रकार विषयों से तो अनर्थ ही होता है।

स्त्रियों की वाणी और मन में वैषम्य का वर्णन करने के पश्चात् श्रमण, नन्द को उनके मन की दुर्ग्राह्यता का यों उपदेश देता है—

प्रबहन् बहनी ऽपि गृह्यते, विशरीरः पवनोपि गृह्यते ।

कुपितो भुजगोपि गृह्यते, प्रमदानां तु मनो न निगृह्यते ॥^४

१. भागवत पुराण ६।१८।४१

२. बुद्धचरित ३।३०

३. „ ११।३५

४. सौन्दरानन्द ८।३५

जलाती हुई अग्नि पकड़ी जा सकती है, शरीर-रहित वायु पकड़ी जा सकती है, क्रुद्ध सर्प भी पकड़ा जा सकता है परन्तु स्त्रियों का मन नहीं पकड़ा जा सकता ।

अशोकवाटिका में रहने के उपरान्त सीता को स्वीकार करने के कारण नग्न में रामचन्द्र की निन्दा होने लगी । वे दुविधा में पड़ गये, सीता को छोड़ें या लोकापवाद की उपेक्षा कर दें । अन्त में, कालिदास के शब्दों में—

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति बाध्यं, त्यागेन पत्न्याः परिभाष्युं मैच्छत् ।

अथि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थाद् यशोवनानां हि यशो गरीयः ॥^१

“यह निश्चय करके कि इस अपवाद की निवृत्ति अन्य उपाय से असम्भव है, राम ने पत्नी-परित्याग से ही उसे शान्त करना चाहा; क्योंकि यशस्वी लोग इन्द्रियाओं का तो कहना ही क्या, स्व-शरीर से भी यश को मूल्यवान् मानते हैं ।”

महापुरुषों की उदारता तथा शरण्याता का उल्लेख कालिदास ने हिमालय-वर्णन में इस प्रकार किया है—

बिवाकराग्रजति यो गुहासु लीनं विवाभीतमिवाग्नकारम् ।

सुद्रेपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुज्ज्वलं शिरसां सतीव ॥^२

हिमालय अपनी गुफाओं में लीन उस अग्निकार की सूर्य से रक्षा करता है जो मानो डरकर वहाँ आ छिपा हो । सचमुच महापुरुष शरण में आए नीचों से भी बैसा ही स्नेह करते हैं जैसा सज्जनों से ।

कपटी लोग कपटव्यवहार के ही अधिकारी होते हैं, इस नीति को द्रौपदी युधिष्ठिर के सम्मुख यों व्यक्त करती है—

ब्रजन्ति ते मूढधियः परामर्शं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।

प्रविश्य हि णन्ति शठास्तथाविधानसंभृतांगान्निक्षिता इवेव ॥^३

जो मूढ़ मानव कपटियों से कपट-व्यवहार नहीं करते वे परामर्श को ही प्राप्त करते हैं । धूर्त लोग ऐसे सरल-हृदय लोगों पर अपना विश्वास उत्पन्न कर उन्हें बँधे ही मार डालते हैं जैसे तीव्र वाण कवचरहित लोगों को ।

शरद् ऋतु की शोभा के वर्णन में कवि मानिनी के स्वभाव का उल्लेख यों करता है—

प्रातःकाल की वायु से कम्पित आकार वाली कमलिनी अङ्कित नायिका की तरह मानो कुपित होकर क्रुमुदती के पराग से रंजित शरीर वाले भौंर को हटाती है, क्योंकि अभिमानिनी नारी अपने प्रियतम का पराई स्त्री से सम्पर्क सहन नहीं कर

१. रघुवंश, १४।३५

२. कुमारसंभव, १।१२ ।

३. किराताकुंभीय, १।३०

सकती ।^१

बलराम कृष्ण से कहते हैं कि बड़े लोग सदा महत्वाकांक्षी होते हैं—

तृत्विद्योगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम् ।

पूर्वैश्चन्द्रोदयकांक्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥^२ (माघ)

बड़े मनुष्य प्रभूत संपदा पाकर भी वैसे ही सन्तुष्ट नहीं होते जैसे विशाल सागर जलपूर्ण होता हुआ भी निजवृद्धि के लिए चन्द्रोदय की आकांक्षा करता है ।

अपराध समान होने पर भी दंड निर्बल को ही अधिक मिलता है, इस नीति को बलराम यों स्पष्ट करते हैं—

तुल्येऽपराधे स्वर्मानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।

हिमांशुमाशु प्रसते तन्म्रबिम्बः स्फुटं फलम् ॥^३ (माघ)

सूर्य और चन्द्रमा ने समान अपराध किया था परन्तु राहु सूर्य को तो देर से हड़पता है और चन्द्र को शीघ्र । स्पष्ट है कि यह फल चन्द्रमा की कोमलता का ही है ।

इन्द्र के याचना करने पर नल दाता का कर्तव्य इन शब्दों में स्पष्ट करता है—

अग्निने न तृणवद्धनमात्रं किं तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।

एवमाह कुशवज्रजलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥^४ (श्री हर्ष)

‘कुशजल-सहित दान दिलाते हुए शास्त्रज्ञ धन-दान की विधि इस प्रकार बताते हैं कि याचक के लिए केवल धन ही नहीं अपितु प्राण भी तृणवत् दे देने चाहिए ।’

उपर्युक्त कतिपय उद्धरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि संस्कृत के महाकाव्यों में प्रतिपादित नीति-काव्य विचार, भाव, कल्पना और कला सभी दृष्टियों से सुन्दर हैं । साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब नीति का निरूपण कुशल कवियों द्वारा किया जाता है तब वह सत्काव्य कहलाने की सहज ही अधिकारिणी हो जाती है ।

(घ) खण्डकाव्य

महाकाव्यों के समान ही संस्कृत के खण्डकाव्यों में भी यत्र-तत्र नीतिकाव्य उपलब्ध होता है । घटकपूर का ‘घटकपूर’, कालिदास का ‘मेघदूत’, विक्रम का ‘नेमिदूत’, श्रीकृष्ण कवि का ‘ताराशशांक’ आदि संस्कृत के प्रसिद्ध खण्डकाव्य हैं । इनके नीतिकाव्य की बानगी निम्नोद्धृत छन्दों में देखी जा सकती है ।

१. महिम्नानी : भट्टिकाव्य, २।३४

२. माघ : शिशुपालवध, २।३१

३. बह्वी, २।४६

४. श्रीहर्ष : नैवमीयचरित, ५।८६

जब निर्वासित यक्ष मेघ को देखकर उसके द्वारा प्रियतमा को सन्देश भेजने पर उद्यत हो जाता है तब कालिदास उसकी मनोदशा का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

धूमज्योतिः तमिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः

सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।

इत्योत्सुषयादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥^१

कहाँ तो धूम, अग्नि, जल और वायु के मिश्रण से निर्मित मेघ और कहाँ सन्देश की वे बातें जिन्हें चतुर जन ही पहुँचा सकते हैं। परन्तु उत्सुकता के कारण इस बात पर विचार न कर यक्ष मेघ के समक्ष गिड़गिड़ाने लगा। सच है, काम-पीड़ित जनों को यह सुघ ही नहीं रहती कि कौन जड़ है और कौन चेतन।

जित प्रकार “मेघदूत” में यक्ष ने मेघ द्वारा सन्देश भेजा उसी प्रकार “नेमिदूत” में विरक्त नेमिनाथ को उनकी रानी राजीमती ने। पर्वत-शिखर पर समाधिस्थ नेमिराज तक अपना सन्देश पहुँचाने के लिए कामार्त राजीमती ने पर्वत को अपना दूत बनाकर यों विनती की—

‘क्षरणागतों की रक्षा करना राजाओं का धर्म है। मैं आपके अधीन हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरी रक्षा करें। गुणी के सामने हाथ फेंका, रिक्तहस्त जोट आना अच्छा है परन्तु अधम से मनोवांछित फल पाना अच्छा नहीं।’^२

ताराशशांक के आरम्भ में कीर्ति की कामना करता हुआ कवि निज नम्रत्व यों प्रदर्शित करता है—

बाह्यमपि कविकीर्ति लोकानां लालनीय एव स्याम् ।

लोके न हासहेतुश्चन्द्रकलाग्रहणचापलं हि शिशोः ॥^३ (श्रीकृष्ण कवि)

मैं कवि-कीर्ति का इच्छुक होता हुआ भी लोगों के लाड़ का पात्र ही बनना चाहता हूँ। जैसे चन्द्रकला को पकड़ने के इच्छुक शिशु की चपलता लोक में उपहास का कारण नहीं होती।

जैसे कि उपर्युक्त उद्धरणों से विदित होता है, खण्डकाव्यों में नीति-कार्य संपूर्ण पद्यों के रूप में भी पाया जाता है तथा पद्यांश रूप में भी। अधिकतर पद्यों में वह विषय-विशेष के समर्थन या दृष्टान्त रूप में आया है। ऐसा होते हुए भी वह प्रसंगवर्ती रस के सम्पर्क से पर्याप्त सीमा तक आकर्षक बन गया है।

१. कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ, ५

२. काव्यमाला, द्वितीय गुच्छक, बम्बई १९३२, पृ० ८६

३. काव्यमाला चतुर्थगुच्छक, बम्बई १९३७, पृ० ७२।६

(ङ) ऐतिहासिक काव्य

पुराणों तथा बौद्धग्रन्थों में जो थोड़ी-बहुत ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है, वह प्राधुनिक इतिहासकारों की दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं रखती। उनमें राज-वंशावलियों तथा प्रायः अविवक्षणीय तिथियों का उल्लेख तो है परन्तु उस ऐतिहासिक विवेचन-पद्धति का अभाव है जिसकी प्राधुनिक इतिहासकारों से अपेक्षा की जाती है। ईसा की ग्यारहवीं शती और उसके बाद की पद्मगुप्त-कृत नवसाहसार्कचरित, बिल्हण-कृत विक्रमांकदेव चरित, कल्हण-कृत राजतरंगिणी, हेमचन्द्र-कृत कुमारपाल-चरित, शम्भु-कृत राजेन्द्र-कण्णूर आदि कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें साहित्य के इतिहास-लेखकों ने 'ऐतिहासिक काव्य' नाम से अभिहित किया है। परन्तु उनमें से भी कल्हण की राजतरंगिणी के सिवा शेष कोई भी प्राधुनिक ग्रंथों में इतिहास की कसीटी पर खरी नहीं उतरती। यद्यपि उक्त काव्यों की रचना प्रायः आश्रयदाताओं के जीवन-चरित के वर्णन तथा गुणगान के लिए की गई थी तो भी उनमें कहीं-कहीं सुन्दर नीति-काव्य की झलक दिखाई दे जाती है। जैसे—

बिल्हण के विचार में और लोगों का तो कहना ही क्या राजाओं तक को भी कवियों का सम्मान करना चाहिए—

हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधम्

शुद्धा कीर्तिः स्फुरति भवतां नूनमेतत्प्रसादात् ।

तुष्टेर्बन्धं तबलघु रघुस्वामिनः सचचरित्रम्

कुटुम्बीतस्त्रिभुवनविजयी हास्यमार्गं वशास्यः ॥^१

हे तृपत्रुन्द, मुकवियों के प्रेम-बन्धन का विरोध छोड़ दीजिए। क्योंकि आपकी उज्ज्वल कीर्ति का प्रसार उन्हीं के प्रसाद से होता है। वे कुतज कवि ही थे जिन्होंने श्रीराम का चरित्र तो पवित्र और महान् अंकित किया और वे क्रुद्ध कवि थे जिन्होंने त्रिभुवन-विजयी रावण को हास्यास्पद बना डाला।

जो दूसरों के लिए गढ़ा खोदता है, उसके लिए कूपाँ खुद जाता है, इस नीति का उल्लेख कल्हण एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा यों करते हैं—

यो यं जनापकरणाय सृजत्युपायम्

तेनैव तस्य नियमेन भवेद्विनाशः ।

धूमं प्रसीति नयनाल्पकरं यमनि-

भूतबाम्बुदः शमयेत् सलिलस्तमेव ॥^२

जो मनुष्य लोकापकार के लिए कोई षड्यन्त्र रचता है वह अवश्य ही उससे स्वयं नष्ट हो जाता है। यमनि जिस धूम को लोगों को भन्वा बनाने के लिए उत्पन्न

१. विक्रमांकदेव चरित (ज्ञानमंडल ग्रन्थालय काशी, सं० १९७८) सर्ग १८।१०७

२. ए० बी० कोष : एच० एस० एस० (१९४८ ई०) पृष्ठ १७१

करती है, वही धूम मेघ बनकर वृष्टि से अग्नि को बुझा देता है।

शम्भु अपने आश्रयदाता और दाता आदि की प्रशंसा एक ही पद्य में इस प्रकार करते हैं—हे राजन्, उदारता धनी का, नीति गुणी का, लज्जा कुलीना का, सत्काव्य मुख का, मद गज का, कोयल कानन का, भ्रमर कमल का, नख-क्षत कांटा-कपोल का, तन्वी शय्या का मंडन है और आप भूमण्डल के ।^१

ऐतिहासिक काव्यों के अधिकतर रचयिता कोरे पद्यकार न थे, राजाओं के सभासद कुशल कवि थे। इसलिए उनकी रचनाएँ ऐतिहासिक इतिवृत्तों से युक्त होती हुई भी सर्वत्र पद्यमात्र नहीं हैं। उनमें काव्यत्व की छटा अच्छी मात्रा में दिखाई देती है।

(च) चम्पू-काव्य

गद्य-पद्यमयी काव्य-रचना का ही नामान्तर चम्पू है। इस शैली की काव्य-रचना का पूर्वं रूप जातक-कथाओं में देखा जा सकता है। चम्पू ईसा की दसवीं शती से बाद के ही उपलब्ध होते हैं। त्रिविक्रमभट्ट का “नल-चम्पू” तथा “मदालसा-चम्पू”, सोमदेव का “यशस्तिलक चम्पू”, हरिचन्द्र का “जीवनधर चम्पू”, भोजराज तथा लक्ष्मणभट्ट का “रामायण चम्पू”, अनन्त का “भारत चम्पू”, बेंकटाध्वरी का “विश्वगुणादर्श चम्पू”, सोड्डल की “उदयसुन्दरी कथा” तथा नारायण का “स्वाहा-सुधाकर चम्पू”, संस्कृत के प्रमुख चम्पू काव्य हैं। इन काव्यों में भी कई स्थानों पर अच्छा नीतिकाव्य दृष्टिगत होता है।

काव्य-प्रणयन तथा शर-प्रहार किस प्रकार का होना चाहिए, इस विषय में त्रिविक्रमभट्ट की श्लेषमयी सरसोक्ति द्रष्टव्य है—

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः ।

परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥^२

उस कवि के काव्य से क्या और धनुर्धारी के बाण से क्या जो क्रमशः सहृदय और शत्रु के हृदय में लग कर उनके सिर को घुमा नहीं देते। धायु प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है तथा मृत्यु युवक-वृद्ध और छोटे-बड़े के भेद को नहीं जानती, इन नीतियों को सोमदेव सरस ढंग से प्रकट करते हैं—

उत्सृज्य जीवितजलं बहिरन्तरेते

रित्वा विनान्ति मरुतो जलयन्त्रकल्पाः ।

१. काव्यमाला, प्रथमगुच्छक, १६२६ ई०, राजेश्वरकालापुर पृष्ठ ३१

२. नलचम्पू, (चौखम्भा संस्कृत सीरिज बनारस, १६३२ ई०) १।५

एकोद्यमं जरति यूनि महत्यसौ च

सर्वकवः पुनरयं यतते कृतान्तः ॥^१

जीवन-रूपी जल को बाहर फेंक कर रिक्तीभूत स्वास ग्रहट के लोटों के समान पुनः शरीर-रूपी कूर्प में प्रविष्ट होते हैं। यह सर्वप्राप्ती मृत्यु बूढ़े और जबान तथा लघु और महान् में समान रूप से उद्यमशील दिखाई देती है। सोमदेव के विचार में साहित्य-समालोचक होने के लिए साहित्यकार होना आवश्यक नहीं है—

अवक्तापि स्वयं लोकः कामं काव्यपरीक्षकः ।

रसपाकानिभिन्नोपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ॥^२

लोग स्वयं काव्य-रचना में असमर्थ होते हुए भी काव्य-समालोचक हो सकते हैं। क्या जो व्यक्ति रसोले भोजन बनाना नहीं जानता वह उसका स्वाद भी नहीं ले सकता ?

जब द्विजवेषधारी इन्द्र ने कर्ण से कवच-कुण्डल की याचना की तब सूर्य देवता ने कर्ण को रोकना चाहा। इस पर कर्ण ने यह सूक्ति कही—

विश्वेश ! यः खलु शयः प्रतिकर्तुं

धृतलालसो भवति नार्थिषु बन्धम् ।

प्रतिपादयेत् स तु कथं पुरुषस्य

प्रतिकूलवर्णनिजनामपवार्यम् ॥^३

हे सूर्य, जो शय (हाथ) याचकों की दीनता दूर करने को उत्सुक नहीं होता वह मनुष्य को अपने नाम के अक्षरों को उलटने से बने पद (यश) को नहीं दिला सकता।

विश्वगुणादशं चम्पू में विश्वावसु और कृशानु नाम के विमानस्थ गन्धर्व विभिन्न प्रदेशों पर विहंगम दृष्टि डालते तथा उनके वासियों के गुण-दोष प्रकट करते हैं।

संस्कृत के चम्पू-काव्य रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि की कथाओं के आधार पर ही नहीं, अनेक स्थानों तथा श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-चरितों पर भी लिखे गये हैं। उनका नीतिकाव्य जीवन के प्रायः प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश डालता है और साहित्यिकता की दृष्टि से भी उपेक्ष्य नहीं है।

(२) मुक्तककाव्यों में नीति

संस्कृत के मुक्तक-काव्यों की रचना, नीति के अतिरिक्त, प्रायः तीन विषयों पर की गई है—शृंगार, वैराग्य और स्तोत्र।

१. यशस्तिलकचम्पू, आशवास २, पद्य, १०५

२. ए० बी० कीषः एच० एस० एल०, पृष्ठ ३३५

३. चम्पूभारतम् (निरालयसागर प्रेस, बम्बई १९५० ई०), पंचमस्तवकः, पद्य ८८

(क) शृंगार-मुक्तक

शृंगारविषयक मुक्तक काव्यों में संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के प्रतिरिक्त-नक्ष-शिक्ष तथा षड्भूतुओं का वर्णन भी दिखाई देता है। कालिदास (?) का शृंगार-तिलक, भर्तृहरि तथा जनार्दनभट्ट के शृंगार-शतक, मयूर का "मयूरशतक", भ्रमर-बा भ्रमरक का "भ्रमरशतक", गोवर्धनाचार्य की "भार्यासप्तशती" तथा बिल्हण की "चौर्यपंचाशिका" संस्कृत के प्रसिद्ध शृंगार-विषयक मुक्तक काव्य हैं। माना कि इन काव्यों में नीति की मात्रा अत्यन्त अल्प है परन्तु जितनी भी है, वह सुन्दर तथा हृदयस्पर्शी है। जैसे, भर्तृहरि स्त्रियों के चांचल्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।

हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥^१

स्त्रियां वाक्केलि एक पुरुष से करती हैं, मविलास देखती दूसरे को हैं और हृदय में चिन्तन तीसरे का करती हैं। स्त्रियों का प्रिय कौन होता है !

जनार्दनभट्ट पुरुषों की मलिनमनस्कता तथा पाषाणहृदयता को एक विरहणी के मुख से इस प्रकार व्यक्त करवाते हैं—

यदि मलिन-मन मेष जोर-जोर से गरजता है तो गरजे क्योंकि ये पुरुष स्वभाव के कठोर होते हैं। परन्तु हे बिजली, क्या तू भी विरह-व्यथा से अनभिज्ञ है जो मुझ दुःखिनी के सामने सब तरफ नृत्य करती फिरती है।^२

गोवर्धनाचार्य सज्जनों को दुर्जनविजय का उपाय निम्नलिखित भार्या में बताते हैं—

पिणुनः ससु सज्जनानां खलमेव पुरो विधाय जेतव्यः ।

कृत्वा ज्वरमात्मीयं जिगाय वारं रणे बिष्णुः ॥^३

सज्जनों को दुष्टों पर विजय किसी खल के माध्यम द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए, स्वयं लड़-भिड़ कर नहीं। जैसे—रण में वाराणसुर को जीतने के लिए बिष्णु ने ज्वर को आत्मीय बना लिया था।

सज्जनों का दुष्टों को आश्रय देना उचित नहीं, इस नीति को गोवर्धनाचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रायः मलिन लोग ही मलिनों को आश्रय दिया करते हैं, सत्पुरुष नहीं। कालियनाभ को शक्य कालिन्दी ने दी थी न कि सुरसरिता ने।^४

१. शतकत्रयम् (भारतीय विश्वामयन, बम्बई, १९४६ ई०) शृङ्गार शतक, पृष्ठ ७८।५०

२. काव्यमाला, एकादश गुच्छक, शृङ्गारशतकम्, पृष्ठ १३६, पद्य १७

३.-४. भार्यासप्तशती, (चौर्यपञ्चांगर प्रेस, बम्बई १९३४), पृष्ठ १६६, १६७

(ख) वैराग्य-मुक्तक

वैराग्य भारतीय मुक्तककारों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। भर्तृहरि का वैराग्य शतक तो सुविख्यात है ही, अप्पयदीक्षित, जनार्दन, नीलकण्ठ, शंकराचार्य, पद्मानन्द आदि ने भी वैराग्यशतकों की रचना की है। पद्मसंख्या सौ से कुछ न्यूनाधिक होने पर भी ये मुक्तक-संग्रह शतक ही कहे जाते हैं। संसार की नश्वरता, शरीर की क्षण-भंगुरता तथा मलिनता, विषयों की तुच्छता, स्त्रियों की निन्दा, मन तथा इन्द्रियों का निग्रह, मुक्ति की लालसा, आदि इन लेखकों के प्रधान विषय रहे हैं। निवृत्ति-मार्ग के उपदेशक इन ग्रंथों में भी कहीं-कहीं ऐसी बातें दिखाई दे ही जाती है जो लोक-व्यवहारोपयोगी हैं। जैसे—

प्रायः मनुष्य चेतता तब है जब समय निकल जाता है। इसलिए भर्तृहरि “वैराग्यशतक” में समय पर ही सावधान होने की प्रेरणा इस प्रकार करते हैं—

जब तक शरीर स्वस्थ और नीरोग है, जब तक जरा दूर है, जब तक इन्द्रिय-शक्ति अविकल है, जब तक वय का क्षय नहीं होता है, विद्वान् व्यक्ति को तब तक आत्मकल्याण के लिए महान् उद्योग करते रहना चाहिए। जब घर को आग लग गई तब कूर्मा खोदने से क्या लाभ होगा।^१

पितृविरोधी तथा परदारगामी गृहस्थ पुरुषों पर अप्पयदीक्षित वैराग्यशतक में यों मीठी चुटकी लेते हैं—

पितृभिः कलहायन्ते पुत्रानध्यापयन्ति पितृभक्तिम् ।

परदारानुपयन्तः पठन्ति शास्त्राणि वारेषु ॥^२

लोग पितरों से तो कलह करते हैं और पुत्रों को पितृभक्ति का पाठ पढ़ाते हैं; स्वयं तो पर-स्त्री-गमन करते हैं परन्तु निज पत्नियों में बैठकर (पातिव्रत्य की शिक्षा देने के लिए) शास्त्रों का पाठ करते हैं।

कर्तव्य और अकर्तव्य में भेद न जानने वाला मनुष्य पशु ही है, इस नीति को नीलकण्ठ दीक्षित ने “शान्तिविलास” में यों व्यक्त किया है—क्या मनुष्य और पशु समय-समय पर प्राप्त भोजन नहीं खाते और जल-पान नहीं करते? क्या दोनों ही रात्रि को निद्रामग्न नहीं होते? क्या स्त्री-सुख नहीं भोगते और अपने-अपने बच्चों का पालन-पोषण नहीं करते? कर्तव्य तथा अकर्तव्य के भेद से अपरिचित मनुष्यों तथा पशुओं में क्या अन्तर है?^३

सामान्यजन तो जमकदार पत्थरों को रत्न मानते हैं परन्तु पद्मानन्द ने अपने वैराग्यशतक में वास्तविक रत्न का निर्देश इस प्रकार किया है—

१. शतकत्रयम्, वैराग्यशतकम्, पृ० १५६।७५

२. काव्यमाला, गुच्छक १, पृ० ६३

३. काव्यमाला, बृष्ट गुच्छक (१६३० ई०) पृ० १५ पद्य १५

नास्त्यसङ्भाषितं यस्य, नास्ति भङ्गो रत्नाङ्गनाम् ।

नास्तीति याचके नास्ति, तेन रत्नवती क्षितिः ॥^१

जो मनुष्य कभी बुरी बात नहीं कहता, जो कभी रणक्षेत्र में पीठ नहीं दिखाता, जो भिक्षारी को रिक्तहस्त नहीं लौटाता, वही इस भूमि का सच्चा रत्न है ।

धायु की अमूल्यता बताने तथा शरीर के प्रति मोह को दूर करने के लिए कोई अज्ञात कवि "प्रबोध-सुधाकर" में इस प्रकार कहता है—

करोड़ों सुवर्णमुद्राएँ देकर भी क्षणमात्र भी धायु नहीं ली जा सकती । यदि वह व्यर्थ ही चली जाए तो बताएँ कि उससे बड़ी हानि क्या होगी । जो शरीर कभी पुष्पों से शोभायमान शय्या पर सोया करता था, हा, वही कभी लकड़ी तथा रस्सी से जकड़ा हुआ अग्नि में फेंक दिया जाता है ।^२

(ग) स्तोत्र

इन्द्र, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की स्तुतियाँ वैदिक काल में गाई जाती थीं । बाद में राम, कृष्ण, दुर्गा आदि के स्तोत्रों को भी रचना होने लगी । महाभारत, पुराणों आदि में भी कई स्तोत्र उपलब्ध होते हैं । इन स्तोत्रों में देवी-देवताओं के एकाधिक—प्रायः शत वा सहस्र—नामों का ही उल्लेख नहीं होता, उनके वीर कृत्यों व दयालुता आदि की चर्चा भी होती है तथा अपनी दीनता प्रदर्शित करते हुए पाप-क्षमा कराने के लिए प्रार्थनाएँ भी रहती हैं । कहीं-कहीं पर इन स्तोत्र-काव्यों में नीति की बातें भी दृष्टिगत हो जाती हैं ।

इनकी रचना ब्राह्मणों, बौद्धों, जैनों सभी ने की है और अपने-अपने उपास्यों का ही नहीं, गंगा, यमुना, आदि देवी-रूपिणी नदियों का भी गुणगान किया है । बाल का चण्डीशतक, मयूर का सूर्यशतक, मेरुतुंग का भक्तामर स्तोत्र, सिद्धसेन दिवाकर का कल्याणमन्दिर स्तोत्र, सर्वज्ञमित्र का लघ्वरा स्तोत्र, शंकराचार्य का शिवापराध-क्षमापण स्तोत्र, जगन्नाथ की अमृतलहरी, गंगालहरी, यमुनालहरी, कल्याणलहरी, आदि संस्कृत के प्रख्यात स्तोत्र ग्रंथ हैं । इनमें से कतिपय नीतिपद्य उद्धृत किये जाते हैं । काल की गतिशीलता, लक्ष्मी की चंचलता तथा जीवन की क्षणभंगुरता का उल्लेख स्वामी शंकराचार्य अपने 'शिवापराधक्षमापणस्तोत्र' में इस प्रकार करते हैं—

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनम् ।

प्रत्यायन्ति गताः पुनर्न विद्यताः कालो जगद्भक्षकः ।

लक्ष्मीस्तोयतरङ्गभङ्गवपला विद्युच्छलं जीवनम् ।

यस्मान्मां शरणागतं शरणं त्वं रक्ष रक्षापुना ॥^३

१. काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, १९२६ ई०, पृ० ७५, पद्य २८

२. " अष्टम गुच्छक, १९११ ई०, पृ० ११०, पद्य १११

३. शंकराचार्यः शिवापराधक्षमापणस्तोत्र, पद्य १३

देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र में शंकराचार्य अपनी भूलों का असकृत् उल्लेख करते हुए कहते हैं—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।^१

अर्थात् पुत्र कुपुत्र हो सकता है परन्तु माता-कुमाता नहीं ।

पण्डितराज जगन्नाथ की “करुणालहरी” अत्यन्त सरसस्तोत्र है, जिसमें स्तुति तथा नीति का मिश्रण मार्मिक रीति से किया गया है । यथा—

अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि निवार्यते जवात् ।

जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो ॥^२

हे विभो ! गढ़ में गिरते हुए शिशु को तो अपरिचित पथिक भी दौड़कर बचा लेता है, तब आप पिता होकर भी मुझे संसार-सागर में गिरने से क्यों नहीं बचाते ?

कुद्ध बालक की वाणी क्षम्य होती है, इस नीति को पण्डितराज यों व्यक्त करते हैं—हे विभो, मुझ बालक की ऊटपटांग बातों पर क्रोध न कीजिए; क्या महाशय लोग कुपित, आतुर बालक की बातों पर ध्यान दिया करते हैं ?^३

स्तोत्रों की रचना प्रायः अष्टक, पंचाशिका, शतक, पंचशती, सहस्रनाम आदि के रूपों में की गई है । स्तोत्रों में स्तुतियों तथा संतप्त हृदयों के उद्गारों का प्राधान्य है और नीति की न्यूनता । वह नीति जहाँ कुशल कवि द्वारा व्यक्त की गई है, वहाँ सरस है परन्तु सामान्य रूप से तो सामान्य ही है ।

(३) दृश्यकव्यों में नीति

अव्यकाव्यों के समान संस्कृत का दृश्यकव्य-साहित्य भी बहुत विशाल है । भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति आदि की रूपकमयी कृतियों से भारत का मस्तक उन्नत हुआ है । इन प्रख्यात नाटककारों ने जहाँ अपने रूपकों से असंख्य नर-नारियों का मनोरंजन किया है वहाँ कर्तव्य-मार्ग दिखाकर उनका असीम कल्याण भी किया है । इनके नाटकों में स्थान-स्थान पर नीति के ऐसे सुन्दर उपदेश मिलते हैं जिनसे आह्लाद के साथ-साथ संतप्त हृदयों को शान्ति तथा पथभ्रष्ट जनों को मार्ग मिल जाता है । निदर्शनार्थ कुछ पद्य लीजिए—“स्वप्नवासवदत्तम्” में शोकार्त राजा को ढाढस बँधाने के उद्देश्य से काँचुकीय इस प्रकार कहता है—

१. देव्यपराधक्षमापणस्तोत्र, पद्य ४

२. काव्यमाला, द्वितीय गुच्छ, १९३२ ई० पृष्ठ ५७

३. ” ” ” ” ५८

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
रज्जुच्छेदे के घटं धारयति ।
एवं लोकस्तुल्यधर्मा बनानां
काले-काले छियते दह्यते च ॥^१ (भास)

मृत्यु का समय आ जाने पर कौन किसे बचा सकता है ? रस्सी टूट जाने पर घड़े को कौन रोक सकते हैं ? इस प्रकार प्राणी की गति वन के समान है जो समय पर कटता भी है और उगता भी ।

अन्य व्यवसायों के लोग तो सुविधा के अनुसार किसी व्यक्ति का सत्कार या तिरस्कार कर सकते हैं परन्तु वेद्या नहीं । 'मृच्छकटिक' का घट इस विषय में वारांगना वसन्तसेना को उसका कतव्य इस प्रकार समझाता है—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाश्रमः
कुत्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बहिष्णा ।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयंवेतरे,
त्वं वापीव लतेव नीरिव जनं वेद्यासि सर्वं भज ॥^२ (शूद्रक)

'वापी में विद्वान् विप्र भी स्नान करता है और मूर्ख शूद्र भी । जिस कुसुमित वल्ली पर मोर बैठता है, उसी पर कौआ भी । जिस नाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य नदी के पार जाते हैं उसी से शूद्र आदि भी । तू वेद्या है, इसलिए वापी, वल्ली और नाव के तुल्य ऊँच वा नीच सभी को संतुष्ट कर ।'

सहज-सुन्दर शरीर पर सब प्रकार के वसनाभूषण खिल उठते हैं, इस नीति का प्रतिपादन कालिदास ने दुष्यन्त से इस प्रकार करवाया है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥^३ (कालिदास)

सेवार से भी घिरा होने पर कमल कमनीय लगता है, चाँद का मलिन घड्ढा भी उसका श्रो-वद्धक है; यह तन्वंगी (शकुन्तला) वल्कल के वस्त्रों में भी बहुत प्यारी लग रही है । सच तो यह है कि सुन्दर शरीर पर सब कुछ खिल उठता है ।

गृहस्थी को सुखमयी बनाने के लिए कण्व ने जो उपदेश शकुन्तला को दिया वह आज भी वधुओं को सुगृहिणी पद दिलाने में समर्थ है—

१. स्वप्नवासवदत्तम् ६।१०

२. मृच्छकटिकम् १।३२

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १।१६

शुभ्रूषस्व गुह्यं कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥^१ (कालिदास)

‘ससुराल में गुरुजनों की सेवा करना । स्व सपत्नियों से प्रिय सखियों का-सा स्नेह रखना । पति द्वारा निराहत होने पर भी क्रुद्ध होकर विपरीताचरण न करना । निज दास-दासियों को प्यार से रखना तथा अपने भाग्य पर मत इतराना । इस प्रकार के आचरण से तो स्त्रियाँ सुगृहिणी बनती हैं परन्तु इसके प्रतिकूल चलने वाली कुलकलंकिनी हो जाती है ।’

दुष्यन्त तो शकुन्तला को सर्वथा भूल चुका था परन्तु शागंरव शकुन्तला को वहीं छोड़कर जाना चाहता था । इस पर दुष्यन्त ने परदारभिगमन को इन शब्दों में अनीति कहा—

कुमुदाम्ब्येव शशांकस्सविता बोधयति पंकजाम्ब्येव ।

वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखो वृत्तिः ॥^२ (कालिदास)

‘चन्द्रमा केवल कुमुदों को और सूर्य केवल कमलों को विकसित करता है । इसी प्रकार जितेन्द्रिय लोग परनारीगमन की कामना तक नहीं करते ।’

एक ही गुरु से अध्ययन करने पर भी कोई छात्र अधिक लाभान्वित होता है तो कोई न्यून । लव-कुश को अपनी अपेक्षा कुशाग्रबुद्धि देखकर आत्रेयो उक्त नीति के विषय में वनदेवता से कहती है—

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे

न तु खलु तयोऽग्निं शक्तिं करोति अपहन्ति वा ।

भवति च पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा

प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदां लयः ॥^३ (भवभूति)

‘गुरु बुद्धिमान् तथा मूर्ख दोनों शिष्यों को एक-सी विद्या देता है । न वह एक की ज्ञानशक्ति उत्पन्न करता है, न दूसरे की नष्ट । फिर भी दोनों को जो फल मिलता है, उसमें भारी भेद होता है । सच है, बिम्ब-ग्रहण में निर्मल रत्न ही समर्थ होता है, मिट्टी का ढेर नहीं ।’

उपयुक्त पद्यों द्वारा, स्थाली-पुलाक-न्याय से, सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि संस्कृत के रूपकों का नीतिकाव्य विषय की दृष्टि से कितना व्यापक और

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४।१८

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५।२८

३. उत्तररामचरित, २।४

अनुभूतिपूर्ण तथा कला के विचार से कितना सुन्दर और भाङ्गादक है ।

(आ) नीतिकाव्यों में नीति

हम ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत का नीतिकाव्य तीन वर्गों में विभाज्य है—

(क) प्रत्यक्ष नीतिकाव्य (ख) ग्रन्थापदेशिक नीतिकाव्य, और (ग) सुभाषित-संग्रहों का नीतिकाव्य । नीचे तीनों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है ।

(क) प्रत्यक्ष नीतिकाव्य

प्रत्यक्ष नीतिकाव्य से अभिप्राय उन काव्य-ग्रन्थों से है जिनका प्रणयन प्रत्यक्ष रूप से नीति-शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया । इस प्रकार का प्राचीनतम काव्य 'चाणक्यशतक' कहा जाता है जिसके सत्रह अध्यायों में लगभग बीस-बीस श्लोक हैं । बृहत्चाणक्य, मधुचाणक्य, चाणक्य-नीति, राजनीति-समुच्चय आदि ग्रन्थों में भी प्रायः यही श्लोक कुछ न्यूनाधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं । निष्णात राजनीतिज्ञ चाणक्य के नाम से सम्बन्धित होने पर भी इस पुस्तक में राजनीति के श्लोकों की संख्या नगण्य है, सामान्य नीति का ही बाहुल्य है । गवेषकों की धारणा है कि ग्रन्थ को गौरव प्रदान करने के विचार से ही चाणक्य का नाम संयुक्त कर दिया गया है । इसमें ज्ञान, दान, सज्जन, दुर्जन, वाङ्माधुर्य, परोपकार आदि सैकड़ों विषयों पर सीधी-सादी भाषा में लोक-व्यवहार की शिक्षा दी गई है । निम्नांकित उदाहरणों से इसका विषय-वैविध्य सहज ही अनुमित हो जाता है—

मनुष्य को बार-बार देश-काल, आय-व्यय, मित्र-वन्धु तथा निज शक्ति पर विचार करना चाहिए ।^१

भूठ, साहस, कपट, मूर्खता, अति लोभ, अपवित्रता और निर्दयता स्त्रियों के सहज दोष हैं ।^२

जब प्राणी गर्भ में ही होते हैं तभी उनकी आयु, कर्म, धन, विद्या तथा मृत्यु-विधि निश्चित कर दी जाती है ।^३

अतिश्रान्त होने पर भी भारवहन करते जाना, सर्दी-गर्मी की उपेक्षा करना तथा सदा संतुष्ट रहना—ये तीन गुण गधे से सीखने चाहिए ।^४

हे प्यारे, यदि मुक्ति की अभिलाषा है तो विषयों को विषवत् त्याग कर क्षमा,

१. 'चाणक्य नीति' (गोबिन्दन पुस्तकालय, मथुरा), पृ० १६।१८

२. वही, पृ० ७।१

३. वही, पृ० १६।१

४. वही, पृ० २६।२१

ऋजुता, दया, पवित्रता और सत्य का अमृतवत् पान कर ।^१

यद्यपि पुस्तक का अधिकतर भाग लघ्वाकार अनुष्टुप् छंद में है तो भी कहीं-कहीं शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, उपजाति आदि दीर्घाकार वृत्त भी प्रयुक्त हुए हैं । अधिकांश छन्द तो चमत्कार-रहित नीरस पद्य ही हैं परन्तु कहीं-कहीं अलंकारों का चमत्कार भी देख पड़ता है । उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अर्थालंकारों की अपेक्षा अनुप्रास, लाट आदि शब्दालंकारों का ही बाहुल्य है । जो अन्योक्ति अलंकार परवर्ती नीतिकाव्यकारों का अतिप्रिय बना वह भी एकाध स्थल पर उपलब्ध हो जाता है ।^२ स्मरण-सौकर्य के लिए अंकों के प्रयोग की शैली, जो महाभारत, पालि के अंगुत्तर निकाय और जैन स्थानांग में दिखाई देती है, इसमें भी व्यवहृत हुई है । जैसे—

एक से तप, दो से अध्ययन, तीन से गान, चार से यात्रा, पाँच से खेती तथा बहुतों से युद्ध सम्यक् सम्पन्न होता है ।^३

दाक्षिणात्य आचार्य सुन्दर पाण्ड्य ने ईसवी पाँचवीं शती से पूर्व आर्या छन्द में 'नीतिद्विशतिका' का प्रणयन किया । इसमें नीति-वाक्यों को सुन्दर उपमाओं द्वारा समर्थित किया गया है । पुस्तक की मनोहरता इसी बात से प्रमाणित है कि समसामयिक तथा परवर्ती विद्वानों ने इसका पर्याप्त सम्मान किया । उदाहरणार्थ—

सह वसतामप्यसतां जलश्जलवद् भवत्यसंश्लेषः ।

दूरेऽपि सतां वसतां प्रीतिः कुमुदेन्दुवद् भवति ॥^४ (सुन्दर पाण्ड्य)

'साथ-साथ रहते हुए भी दुर्जन जल और जलज के समान पृथक्-पृथक् ही होते हैं और दूर-दूर रहते हुए भी सज्जन कुमुद तथा चन्द्र के तुल्य प्रेमवद् ।'

ईसवी पाँचवीं शती के लगभग 'शिष्यलेखाधर्मकाव्य' की रचना चन्द्रगोमिन् ने की । जब नृप रत्नकीर्ति अपने इस सभाकवि पर रुष्ट हो गया तब कवि ने इस ग्रंथ को पत्र-रूप में ११४ पद्यों में लिखा । सुकवि ने इसमें घन, बल आदि सांसारिक पदार्थों की निस्सारता का ऐसा मार्मिक वर्णन किया कि राजा उसे पढ़कर विरक्त हो गया । काव्य में धर्म के साथ नीति के भी सुन्दर उपदेश हैं । जैसे—

विषस्य विषयाणां हि बुध्यते महबन्तरम् ।

उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि ॥^५ (चन्द्रगोमिन्)

'विष और विषयों में बहुत दूर का अन्तर है । विष तो भक्षण के पश्चात् ही

१. 'चाणक्य नीति' (गोवर्द्धन पुस्तकालय, मथुरा), पृ० ४०।१

२. वही, पृ० ५३।४

३. वही, पृ० १८।१२

४. 'नीतिद्विशतिका', पद्य १०७, एम० कृष्णन् आचार्यररः एच० सी० एस० एल० (१९३७ ई०) पृ० ३१४

५. सु० २० भा० पृ० १५८।२३१

प्राण लेता है परन्तु विषय स्मरणमात्र से ही मार डालते हैं ।”

शान्तिदेव ने ‘बोधिचर्यावतार’ नामक सुकाव्य में नीति और दर्शन का सुन्दर सम्मिश्रण किया है। ग्रंथ की लोक-प्रियता इसकी अनेक टीकाओं से ही सिद्ध है। नीति तथा दर्शन जैसे जटिल विषयों पर जितनी सुन्दर कविता इसमें अवलोकित होती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

भर्तृहरि अपनी ‘सुभाषित त्रिशती’ या ‘शक्तत्रयम्’ (नीतिशतक, शृंगार-शतक, वैराग्यशतक) के ही कारण लोक-विख्यात हैं, यद्यपि ‘शान्तिपद्धति’ नाम से उनका एक चतुर्थ-संग्रह भी बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। नीतिशतक में सुजन-दुर्जन, मूर्ख-विद्वान् आदि पर, शृंगारशतक में स्त्रियों के सौन्दर्य, स्वभाव आदि पर और वैराग्य-शतक में याज्ञा, तृष्णा तथा सांसारिक भोगों की नश्वरता पर सुन्दर काव्य-रचना की गई है। जैसे—

कुसुमस्तम्बकस्येव द्वयी वृत्तिर्मेनस्विनः ।

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीयन्ते वन एव वा ॥’ (भर्तृहरि)

‘पुष्प-गुच्छ के समान मनस्वियों की वृत्ति दो ही प्रकार की होती है। या तो वे सब लोगों के सिर पर स्थान पाते हैं या फिर वन में ही विलीन हो जाते हैं।’

‘चाहे जाति रसातल में जाए, गुण-गण उससे भी नीचे धंस जाएँ, शील शैल-तट से गिरकर चूर हो जाए, शूरता पर सहसा वज्रपात हो जाए, हमें तो केवल धन की आवश्यकता है जिस एक के अभाव में उपर्युक्त सभी गुण तिनके की तरह तुच्छ हो जाते हैं।’^१

भर्तृहरि का शतक परिष्कृत, मधुर, सरस भाषा में है। इस में अनुष्टुप् छन्दों की संख्या न्यून है, शार्दूल०, शिखरिणी, वसन्ततिलका आदि बड़े-बड़े छन्दों का अधिक व्यवहार हुआ है। स्वामी शंकराचार्य के नाम से प्रचलित मोहमुद्गर, शतश्लोकी, प्रश्नोत्तरी आदि पुस्तिकाओं में वैराग्य की प्रधानता होते हुए भी यत्र-तत्र सुन्दर नीति उपलब्ध होती है। जैसे—

कंठा क्या है ? ममत्व का अभिमान ।

सुरा-सम संमोहनकारी कौन है ? स्त्री ।

निपट अन्धा कौन है ? कामातुर ।

मृत्यु क्या है ? अपना अयश ।^३

‘सुभाषित-रत्न-सन्दोह’ जैन साधु अमितागत की विख्यात, मधुर व सरस कृति है जिसके ६१५ पद्यों को कवि ने ३२ प्रकरणों में उपनिबद्ध किया है। कवि

१. शतकत्रयम्, पृ० १५।२५

२. शतकत्रयम्, पृ० १६।३१

३. प्रश्नोत्तरी, (गीताप्रेस, गोरखपुर, सं २०१०, पृष्ठ ६।६

ने अन्य विषयों के प्रतिरिक्त मद्य, मांस, मधु, दूत, स्त्री-गुणदोष, बेव्यागमन, शोच, देव आदि पर तो पृथक्-पृथक् प्रकरण-रचना की परन्तु पुरुषार्थ पर पूरे प्रकरण का अभाव है। कवि का भाषा तथा शब्दभंडार पर प्रभूत अधिकार है। प्रायः प्रत्येक प्रकरण में किसी एक ही छंद का प्रयोग है और कई प्रकरणों के अन्त में छंद परिवर्तित भी कर दिया गया है। इससे अनुमान होता है कि कवि ने इस की रचना संस्कृत के महाकाव्यों का-सी शैली पर की है। शोकप्रकरण के निम्नांकित पद्य से कवि के काव्य-कौशल की अच्छी झलक प्राप्त होती है—

परिधावति रोवति पूरुकुप्ते पतति स्खलति त्यजते वसनम् ।

व्यथते हलन्ते लभते न सुखं गुहशोकपिशाचवशो मनुजः ॥^१

‘भारी शोक-रूपी पिशाच से ग्रस्त मनुष्य इधर-उधर दौड़ता है, रोता है, आहें भरता है, गिरता है, लड़खड़ाता है तथा वस्त्र उतार देता है। वह पीड़ित और शिथिल होता है परन्तु उसे किसी प्रकार भी सुखोपलब्धि नहीं होती।

क्षेमेन्द्र ने नीति-विषयक अनेक काव्यों की रचना की। इनके “चारु-चर्या-शतक” में सच्चरित्र-सम्बन्धी सौ छन्द हैं जिन में प्रतिपाद्य की पुष्टि पौराणिक तथा लौकिक आख्यानों के संकेतों द्वारा की गई है। “चतुर्वंगसंग्रह” में धर्म, धर्म, काम और मोक्ष की प्रशंसा और ‘सेव्यसेवकोपदेश’ में स्वामी तथा सेवकों के कर्तव्य का प्रतिपादन है। ‘समय-मातृका’ में वारांगनाओं तथा ‘कलाचिलास’ में विभिन्न व्यवसायियों की वंचनाओं का विशद वर्णन है। दर्पोत्पत्ति के साथ विभिन्न कारणों तथा उसके दलन के उपायों का उल्लेख ‘दर्पदलन’ के सात खंडों में किया गया है। निम्नांकित नीति-श्लोकों से क्षेमेन्द्र की काव्यकुशलता, कमनीय कल्पना तथा प्रसादपूर्ण व्यंजना सम्यक् स्पष्ट हो जाती है—

कलमान्तनिर्गंतमथोविन्दुव्याजेन सांजनाभ्रकणा ।

कायस्थलुण्ठ्यमाना रोवति खिन्नेव राजषीः ॥^२

‘कायस्थ से लूटी जाती हुई राजश्री खिन्न होकर कलम से निकलने वाली स्याही की बूंदों के बहाने कज्जल-कलित अश्रुकण बरसाती हुई रो रही है।’

गुणेषु यत्नः कियतां किमाटोपेः प्रयोजनम् ।

विक्रीयते न घण्टाभिर्गावः क्षीर-विवर्जिताः ॥^३

‘गुण-प्राप्ति के लिए प्रयास कीजिए, आडम्बरों से कुछ भी नहीं बनेगा। दूध-रहित गोएँ घटियों के कारण बिका नहीं करती।’

१. सुभाषित रत्न संदोह, पृष्ठ ८७।७३५

२. जलहण, सुखितमुक्तावली, पृष्ठ ३११

३. " " , पृष्ठ ४२६

वीर्येव ओत्रहीनस्य लोलासीव विचक्षुषः ।

व्यसोः कुसुममालेव श्रीः कदर्यस्य निष्कला ॥ १

‘जैसे बहिरे के लिए वीर्या, अग्ने के लिए सुन्दरी और मृतक के लिए पुष्प-माला निष्कल होती है वैसे ही कंजूस के लिए धन ।’

मेरुः स्थितोऽतिदूरे मनुष्यभूमि परित्यज्य ।

भीतो भयेन घौर्याच्चौराणां हेमकाराणाम् ॥ २

‘मेरु पर्वत इस मनुष्य-भूमि से इतनी दूर क्यों स्थित है ? इसीलिए तो कि वह इन सुनार-रूपी चोरों से भीत है ।’

हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) के ‘योगशास्त्र’ में जैनों के कर्तव्यों, ग्रहिसा, स्त्री-निन्दा आदि पर विशेष बल दिया गया है। सरल अनुष्टुप् में लिखा हुआ यह ग्रंथ काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। जल्हण (११५० ई०) ने भोले लोगों को वेश्याओं के जाल से बचाने के लिए ‘मुग्धोपदेश’ की रचना की जो प्रभाव तथा काव्यत्व दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट है। वेश्याओं के अनुराग की कृत्रिमता का जल्हण ने यों उल्लेख किया है—

कालश्चेत्कदणपरः कलियुगं यद्यद्य धर्मप्रियं,

निस्त्रिंशो यदि पेजलो विषधरः संतोषदायी यदि ।

अग्निश्चेदतिशीतलः खलजनः सर्वोपकारी स चे-

दायुष्य यदि वा भविष्यति विषं वेश्यापि तद्वरिणी ॥ ३

‘यदि यमराज दयालु, कलियुग धर्मप्रिय, खड्ग कोमल, सर्प संतोषदायक, अग्नि शीतल, दुष्ट उपकारी और विष वायुवद्धं वन जाएगा तो वेश्या भी अनुरागवती हो जाएगी ।’

सिल्हण (१२०५ ई०) ने मनःशान्ति की प्राप्ति के लिए भर्तृहरि के नीति तथा वैराग्य शतकों के अनुकरण पर ‘शान्तिशतक’ की रचना की। ‘शृंगार वंराग्य तरंगिणी’ केवल छयासीस छन्दों का छोटा-सा परन्तु सुन्दर काव्य है जिसमें सोमप्रभ ने स्त्री-संसर्ग की हानियों तथा विरक्तजीवन के लाभों को व्यक्त किया है।

दाक्षिणात्य वेदान्तदेशिक (१२६८-१३६६ ई०) ने भर्तृ-कृत ‘नीतिशतक’ के अनुकरण पर ‘सुभाषित-नीवी’ की रचना की जिसके १२-१२ श्लोकों के बारह अध्यायों में अहंकार, दुष्टता, सेवा आदि का वर्णन है। कुसुमदेव के ‘दृष्टान्तशतक’ (१५०० ई० से पूर्व) में व्यावहारिक उक्तियों को उपयुक्त दृष्टान्तों द्वारा अधिक

१. वपंवलन ३।५१, सूक्तिमुक्तावली पृष्ठ ६१

२. ‘कलाविज्ञान’ से, एब० बी० कीचः एब०एस०एल० (१९४८ ई०) पृष्ठ २४०।

३. जल्हणः मुग्धोपदेश, पद्य ७, काव्यमाला, भाग ८ (निरांयसागर प्रेस, बम्बई १९११)

प्रभावक बना दिया गया है। जैसे—

क्लेशज व्याकुलता को कुलीन ही सह सकता है, सामान्य जन नहीं। बड़े सान की रगड़ को रत्न ही सहार सकता है, बूलिकर नहीं।^१

द्या विवेदी ने 'नीतिमंजरी' (१४६४ ई०) में नीति-सूक्तियों को सायणकृत वेदभाष्य की कथाओं से उपवृत्त किया।

विक्रम की पंद्रहवीं शती के अन्त में जैन कवि धनदराज ने भर्तृहरि के शतक-त्रय के अनुकरण पर 'शृंगारधनद', 'नीतिधनद' और 'वैराग्यधनद' रचे। नीलकण्ठ दीक्षित (सत्रहवीं शती ईसवी) ने कलिविडम्बन, सभारंजन, शान्ति-विलास आदि कई छोटे-छोटे नीतिकार्य लिखे। सभारंजन में राज-सभा तथा विद्वन्मंडली को आह्लादित करने के उपाय दिये हैं गए और 'कलिविडम्बन' में नीति की व्यंग्यपूर्ण चुभती हुई सूक्तियाँ हैं। जैसे—

शक्तिं करोति संचारे, शीतोष्णे मर्षयरथयि।

दीपयस्युवरे बल्लिं, दारिद्र्य परमौघघस्य ॥^२

'धूमने-फिरने का सामर्थ्य देती है, सर्दी-गर्मी सहने की शक्ति प्रदान करती है, जठराग्नि को तीव्र करती है, दरिद्रता सचमुच सबसे बड़ी दवा है।' 'हाथ में आई हुई पाँच-छः कौड़ियाँ मनुष्य को शास्त्र पढ़ा देती हैं, विद्वानों का तिरस्कार करना सिखा देती हैं और स्व-जाति का विस्मरण करा देती हैं।'^३

गुमानी का 'उपदेश-शतक' तथा बेंकटाध्वर का 'सुभाषित-कोस्तुभ' भी इसी काल की कृतियाँ हैं।

अज्ञात-कालक कवि दक्षिणामूर्ति ने 'लोकोक्ति-मुक्तावली' नामक ६४ पद्यों के काव्य में नीति की प्रत्येक उक्ति को लोकोक्ति से पुष्ट किया है। जैसे—

दारिद्र्यरोगविबशा अपि चेन्मनुष्याः,

संबद्धमेतदसिद्धं निजकर्मपाशैः।

संचिन्त्य भाक्षिपत देवमहोत्तिष्ठताः

किं भिद्यते हि मुकुरो निजवक्त्रदोषात् ॥^४

'हे मनुष्यो, यदि तुम दारिद्र्य और रोगों से पीड़ित हो तो भी, यह सोचकर कि यह सब अपने कर्मों का फल है, क्रुद्ध होकर देव को बुरा-भला मत कहो। क्या अपने मुख की कुरूपता के कारण दर्पण तोड़ दिया जाता है?'

१. ए० बी० कीच, एच० एस० एल०, पृष्ठ २३४

२. कलिविडम्बन, पद्य ३४, काव्यमाला भाग ५, (निर्णयसागर प्रेस, १९०८ ई०)

३. वही, पद्य ६८ " " "

४. लोकोक्ति मुक्तावली, पद्य ५७, काव्यमाला गुच्छ ११, १९३३ ई०।

उपबृंक्त विवरण से विदित होता है कि भारम्भ में तो प्रत्यक्ष नीतिकाव्यों की रचना फुटकल विषयों पर नीरस पद्यों में हुई, परन्तु क्रमशः स्वामि-सेवक, वारांगना, कसा, वपं, शान्ति, कलिकाव, समा-रंजन आदि विशिष्ट विषयों पर स्वतन्त्र काव्यों का भी प्रणयन होने लगा जिनमें सूक्तियों और सुन्दर काव्य की भी कमी नहीं।

(ख) अन्यापदेशिक नीतिकाव्य

नीतिकाव्य के इस रूप में उपदेश किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु द्वारा दिया जाता है, प्रत्यक्षतः नहीं। इस प्रकार की सर्वप्रथम रचना भल्लट-कृत 'भल्लटशतक' (नवीं शती ई०) है जो सुन्दर, लोक-प्रिय तथा स्वतन्त्र चिन्तन की परिचायक है। गुरुहीन व्यक्ति को बड़ा नाम देना दुष्टों का ही काम है, इस भाव को यों व्यक्त किया है—

सूर्याभिनयत्र यज्जन्त्रेऽप्यर्थासंस्पर्शं तत्कृतम् ।

अद्योत इति कीटस्थ नाम दुष्टेन केनचित् ॥^१

‘जो ‘अद्योत’ नाम चन्द्र को भी नहीं, केवल सूर्य को सुहाता है, वह न जाने किस दुष्ट ने एक कीड़े को दे दिया है।’

काश्मीर में ग्यारहवीं शती के अन्त में शम्भु ने ‘अन्योक्तिमाला शतक’ की रचना की जिसमें सहज काव्यत्व का अभाव है।

पंडितराज जगन्नाथ के ‘भामिनीविलास’ के अन्तिम तीन विलासों—शृंगार, करुण, शान्त—में भी नीतिकाव्य के कुछ सुन्दर निदर्शन मिलते हैं, परन्तु प्रथम—प्रास्ताविक—विलास तो कहलाता ही ‘अन्यापदेश शतक’ है और यह इस शैली के नीतिकाव्यों की सुन्दरतम रचना है। किसी कृपण घनाढ्य को लक्ष्य बनाकर कवि कासार को कहता है—

इयस्यां संपत्तावपि च सलिलानां त्वमधुना,

न तृष्यतामात्तानां हरसि यवि कासार सहसा ।

निदाघे चण्डांशो करति परितोऽगारान्करान्

कुशीभूतः केवामहह परिहर्तांसि खलु ताम् ॥^२

‘हे कासार, इस अपार जल-संपदा के रहते हुए भी यदि तू प्यासों की प्यास तुरन्त शान्त नहीं करता तो फिर जब ग्रीष्म में सूर्य की अंगारदृष्टि से तू क्षीणतोय हो जाएगा तब किसकी प्यास बुझाएगा?’

‘अन्यापदेश शतक’ में नीलकण्ठ दीक्षित ने अपनी प्रसाधारण कल्पना का पुष्ट प्रमाण दिया है और यह इस शैली की उत्कृष्ट रचनाओं में गण्य है। बीरेन्द्रवर का

१. भल्लटशतक, पद्य १३, अल्हण : सूक्तिमुक्तावली पृष्ठ ८३

२. भामिनीविलास, प्रास्ताविक विलास, पद्य ४१

‘अन्योक्तिशतक’ भी अग्निदिष्ट काल की उत्कृष्ट रचना है। ‘चातक शतक’ भी इसी प्रकार की एक प्रख्यात कृति है जिसमें चातक के चरित्र द्वारा मनुष्य को मान-रक्षा का उपदेश दिया गया है।

यद्यपि प्रत्यक्ष नीतिकाव्यों की अपेक्षा अन्यापदेशिक नीतिकाव्यों की संख्या न्यून है तथापि नीत्युपदेशों के व्यंग्य होने के कारण जो आह्लादकता तथा मार्मिकता अन्यापदेशिक काव्यों में है, वह प्रत्यक्ष नीतिकाव्यों में नहीं।

(ग) सुभाषित-संग्रहों में नीतिकाव्य

सुभाषितों या सूक्तियों के संग्रह की प्रथा भारतवर्ष में चिरकाल से प्रचलित है। इन संग्रह-ग्रंथों में नवरस, षड्भूत, नख-शिख आदि विषयों के अतिरिक्त नीति-काव्य भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। ऐसे संग्रहों में प्राचीनतम संग्रह का नाम ‘कवीन्द्रवचन-समुच्चय’ है, जिस में ईसा की दसवीं शती के अन्त^१ में किसी अज्ञातनामा व्यक्ति ने ५२५ पद्य संकलित किये। सोमेश्वर ने इसवी बारहवीं शती के पूर्वाद्ध^२ में ‘अभिलषितार्थ-चिन्तामणि’^३ का संकलन किया जिसमें अनेक विद्याधों तथा कलाधों का सुन्दर परिचय दिया गया है। श्रीधरदास ने ‘सदुक्तिकर्णामृत’ या ‘सूक्तिकर्णामृत’ (१२०५ ई०)^४ में ४४६ कवियों की २३६८ सूक्तियों का संकलन किया। बरहण ने अपनी ‘सूक्तिमुक्तावली’ (१२५७ ई०)^५ में जहाँ २४३ कवियों के २७९० सुभाषित संगृहीत किये हैं वहाँ उनकी विषय-सूची भी दी है। प्रसिद्ध वेद-भाष्यकार सायणाचार्य ने इसवी चौदहवीं शती में ‘सुभाषित सुधानिधि’^६ नामक संग्रह का संकलन किया। लगभग उसी समय^७ शार्ङ्गधर ने ‘शार्ङ्गधरपद्धति’ में १६३ शीघ्रकों के नीचे ४६८९ सूक्तियाँ संचित कीं। काश्मीरी कवि वल्लभदेव ने ‘सुभाषितावली’ में ३५२७ सूक्तियों का संग्रह किया। यह संग्रह काश्मीर-नरेश गुलतान जैलबदीन (१४१७-६७ ई०)^८ के पश्चात् किया गया होगा क्योंकि वल्लभदेव ने उसमें सुलतान के समकालीन जोनराज का उल्लेख किया है। सम्भवतः इसवी सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध^९ में

१. एच० सी० एस० एल०, पृष्ठ ३८४

२. वही, पृष्ठ ८५३-५४

३. इसी का नामान्तर ‘मानसोल्लास’ हैं

४. एच० एस० एल०, पृष्ठ २२२

५. एच० सी० एस० एल०, पृष्ठ ३८५

६. वही, पृष्ठ ३८९

७. एच० सी० एस० एल०, पृष्ठ १८६

८. वही, पृष्ठ १८७

९. वही, पृष्ठ ३८७

दक्षिणात्य कवि हरिकवि ने 'हारावलि' या 'सुभाषित हारावलि' में उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के कवियों की सूक्तियों का संकलन किया। उसने जगन्नाथ के 'भामिनी-विलास' के अतिरिक्त अकबरी दरबार के किसी अकबरीय कालिदास के सुभाषित भी उद्धृत किये हैं। सुभाषितों के संग्रह की यह प्रथा हमारे समय तक चली आ रही है।^१

उक्त संग्रहों में जहाँ बहुत से सुभाषित सुपरिचित या अल्पपरिचित कवियों के उपलब्ध होते हैं, वहाँ अनेक अज्ञात-नामा कवियों के भी। ऐसे ही अज्ञातकर्तृक तथा अल्पपरिचित कवियों के एक-दो पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

सति पुण्यप्रकर्षेऽपि श्रीनिबंधः समुद्यमः ।

किं वरिण्विपरिणमिता हस्त्यजीर्णं हरीतकी ॥^२ (कस्यापि)

'पुण्यों का उदय होने पर भी उद्यम के बिना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती। क्या बनिये की दुकान पर पड़ी हुई हरड़ से अजीर्ण रोग दूर हो सकता है?'

रिक्ताः कर्मणि पटवस्तृप्तास्त्वलसा भवान्त ये भूयाः ।

तेषां जलौकसामिष पूरणां रिक्तता कार्या ॥^३ (अर्घटस्य)

'जो सेवक निर्वनता की अवस्था में कार्यकुशल रहते हैं और धनी होने पर आलसी हो जाते हैं, उन्हें समृद्ध होने पर जोंकों के समान रिक्त कर देना चाहिए।'

स्मरण रहे कि सुभाषितसंग्रहों का नीतिकाव्य कदापि सूक्तिकाव्य से निम्न-कोटि में नहीं जाता। अनेक स्थलों पर तो वह अपनी उत्कृष्ट कल्पना और व्यंजना के कारण उत्तम काव्य में सहज ही परिगणित हो सकता है।

संस्कृत के नीतिकाव्य की आलोचना

वर्ण्य विषय

गौरवपूर्ण, पवित्र तथा सफल जीवन व्यतीत करने के लिए वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में शरीर की क्षणभंगुरता, सत्यभाषण, वाग्मिता, वाङ्माधुर्य, शम, दम, विवेक, विद्वत्ता, विद्या का महत्त्व, विघ्न तथा साधन, तेजस्विता, मनस्विता, उद्योग, परोपकार, धैर्य, वीरता, धर्म, भक्ति, विनय, क्षमा, दया, उदारता, शील और संतोष की उपादेयता पर विशेष बल दिया गया है। इनके विरुद्ध विकल्थन, अनृत तथा कटु-भाषण, पैशुन्य, वाचालता, अविवेक, मूर्खत्व, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार,

१. गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डॉ० बोटलिक ने संस्कृत साहित्य की सुन्दरतम सूक्तियों को 'इंडियन स्प्रीचे' में संकलित किया। 'सुभाषित रत्न भाण्डागार' नामक प्रसिद्ध सुभाषित संग्रह का संकलन का० पा० परब ने किया जिसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

२. जल्हणः सूक्तिमुक्तावली, पृ० ४०४।१६

३. जल्हणः सूक्तिमुक्तावली, पृ० ४०६।१६

मात्सर्य, कार्पण्य, आलस्य, कुतञ्जता तथा स्वार्थ के परिहार की प्रेरणा की गई है।

पारिवारिक नीति के क्षेत्र में कहीं तो गृहस्थाश्रम को धन्य कहा गया है और कहीं जघन्य। उसकी यह प्रशस्यता या निन्दता साधनों पर अवलम्बित है, निरपेक्ष नहीं। यदि आवास उत्तम, कान्ता मृदुभाषिणी, पुत्र विनयशील, और सेवक आज्ञा-परायण हो तब तो गृहस्थाश्रम के सामने वैकुण्ठ भी कुंठित है^१ और यदि घर धूमाच्छन्न हो, भार्या कटुभाषिणी हो, स्वामी क्रोधी हो और शिशुओं की चित्लाहट हो तो गृहस्थी धिक्कार्य है।^२ कन्या की अपेक्षा पुत्र को शुभ माना गया है। कन्या के योग्य वर तथा उसके भावी सुख के सम्बन्ध में जनक चिन्तित हो उठते हैं। पुत्रों तथा पीत्रों का जन्म गृहस्थ की धन्यता का सूचक माना जाता था परन्तु अनेक निगुण पुत्रों की अपेक्षा एक ही गुणी पुत्र तथा निगुण पुत्र की अपेक्षा निस्सन्तानत्व श्रेष्ठ समझा जाता था।

पुत्रों से जनक-सेवी, विद्वान्, धार्मिक, दूर, विनयी, धनी, दानी तथा यशस्वी होने की आशा की जाती थी। जनकों की आज्ञा न मानने वाला, रात को विलम्ब से घर लौटने वाला, राह चलती युवतियों से छेड़-छाड़ करने वाला, सम्बन्धियों के हित-कर वचनों पर क्रुद्ध होने वाला, साधुओं का निन्दक तथा दुर्जनों को मित्र मानने वाला पुत्र कुपुत्र कहा जाता था।^३

सामाजिक नीति के क्षेत्र में सज्जन, सुमित्र, गुरु, सत्संगति, कुलवधू तथा आज्ञा-परायण सेवक विशेष प्रशंसनीय कहे गये हैं और दुर्जन, कुमित्र, कुसंगति, वैश्यागमन, व्यभिचार तथा परगृहवास निन्दनीय। विद्या, विनय आदि सद्गुणों से विहीन हो जान के कारण स्त्री पहले के समान संमान्य नहीं रही। वैराग्यप्रधान बौद्ध तथा जैनधर्म में उसे विशेष निन्दा कहा गया। वैदिक काल में सम्राज्ञी^४ मानी जाने वाली नारी धीरे-धीरे पुरानी प्रतिष्ठा से रहित होती चली गई। चरित्र-भ्रष्टता के कारण पौराणिक, मलिनता, क्रोध, हिंसा तथा चौर्य के कारण पुरोहित, चंचलता, क्रूरता, मद्य-मांस-भक्षण, पर-निन्दा तथा तस्करता के कारण कायस्थ कुत्सित कहे गये हैं।^५ पुरुषों में नाई तथा स्त्रियों में मालिन बेसी ही धूर्त समझी गई जैसे पक्षियों में कौआ और पशुओं में गीदड़।^६ स्व-स्व व्यवसायों में कुशलता या फूहड़ता तथा अन्य गुणों वा दोषों के कारण वैद्य, कवि, ज्योतिषी, पंडित, वैयाकरण, मीमांसक,

१. सुभाषितरत्नभाण्डागारम् (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३ ई०) पृ० ८९, गृहस्थाश्रमप्रशंसा, पद्य ४ ॥

२. वही, पृ० ८९, गृहस्थाश्रमदूषणम्, पद्य ३।

३. सु० २० भा०, पृ० ६०, कुपुत्रनिन्दा, पद्य २, ६, १२

४. ऋग्वेद १०।८५।४६

५. सु० २० भा० पृ० ४४-४३

६. शास्त्रकविनीति पृ० २४, पद्य २१

नेयायिक, तथा छान्दस लोग नृत्य या निन्द्य माने गये । विद्वानों का निर्वाह प्रायः व्यापारियों के आश्रय से हुआ करता था, अतएव वे स्तोतव्य कहे गये हैं ।

सांसारिक सुखों तथा समाज में सम्मान के साधन धन का आर्थिक नीति में प्रमुख स्थान है । गुण-गण-भूषित भी मानव धनाभाव के कारण समाज में उपेक्ष्य बन जाता है और दोष-समुदाय से दूषित होने पर धनीसंमानित^१ । इसी कारण नीति-काव्यों में जहाँ धन व धनियों की प्रचुर प्रशंसा उपलब्ध होती है वहाँ दारिद्र्य और दरिद्रों की निन्दा । परन्तु यह बात ऐकान्तिक नहीं है । धन के उपार्जन, रक्षण आदि में विविध कष्ट होते हैं और समृद्ध होने पर मनुष्य में ग्रहंकार, चरित्रभ्रंश आदि दोष भी सहज ही आ जाते हैं । अतएव कहीं-कहीं धन और धनियों की निन्दा भी दृष्टि-गाचर होती है ।^२ लक्ष्मी की चंचलता तथा न्याय से बित्तोपार्जन पर भी यत्र-तत्र सूक्तियाँ मिलती हैं ।^३ ऋण, भिक्षा, सेवा, सेवकों तथा याचकों को निन्द्य माना गया है और उद्योग द्वारा धनोपार्जन की प्रबल प्रेरणा की गई है ।

इतर प्राणियों के प्रति नीति में विशेष परिवर्तन हो गया । बौद्ध तथा जैनधर्म के प्रभाव के कारण पशु-हिंसा निन्द्य हो गई और प्राणियों के प्रति दया परम कर्तव्य । मांस-भोजन इस प्रकार त्याज्य माना गया—

“न घर में आसक्त व्यक्ति विद्वान् हो सकता है, न मांस-भोजी दयालु; न धन का लोभी सत्त्वा हो सकता है, न कामुक मानव पवित्र ।”^४

पशु-पक्षियों की हत्या तो दूर, उनसे अनेक शिक्षाएँ लेने के उपदेश दिये गये ।^५ जैन नीतिकारों ने तो मधु-मक्खियों की हत्या से उपन्ध होने के कारण मधु को भी सर्वथा त्याज्य कहा ।

सामान्य विषयों में से कर्म और देव दोनों ही पर नीतिकाव्यकारों ने रचना की है । जहाँ देव के प्राबल्य को स्वीकृत किया गया है, वहाँ कर्म को उससे भी अधिक बलवान् इस कारण बताया गया है कि पूर्व जन्मों में कृत कर्म ही मनुष्य के भाग्य-निर्माता होते हैं । कर्म की महत्ता विधाता से भी अधिक कही गई है क्योंकि वह नियत कर्मों का फल मात्र दे सकता है, अन्य कुछ बिगाड़-संवार नहीं सकता ।^६ संहिता-काल की ऐहिकता क्रमशः क्षीण होती गई । उग्रनिषदों तथा वैराग्यप्रवण जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवाह के कारण यह लोक स्पृहणीय स्थान न रहकर दुस्तर सागर-सा प्रतीत

१. पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू० पृ० २७।३६०

२. श्रीमद्भागवत महापुराण १।१२३।४२२ तथा १०।१०।१३

३. पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू० पृ० ३१।४६१

४. आरण्यक नीति, पृ० ४८।५

५. वही, पृ० २८-२९

६. सतकथयधु, नीतिसतकधु, पृ० ५५।११

होने लगा । तप, संयम तथा विषयों का त्याग भवजय के विशेष उपाय माने गये । यद्यपि नीतिकारों का मुख्य उद्देश्य लोक-व्यवहार की शिक्षा देना ही था तो भी परंपरागत धार्मिक संस्कार इतने प्रबल थे कि नीतिकार यत्र-तत्र मुक्ति, परलोक, धर्म आदि विषयों पर लिखने के लोभ का संवरण न कर सके ।

इनके अतिरिक्त मानवों को परमार्थ की ओर प्रवर्तित करने के लिए माया की मोहकता का, गर्भवास के विकट दुःखों का तथा काल की बलवत्ता का भी बहुत उल्लेख हुआ है । यौवन-सुलभ दोषों को देखते हुए तारुण्य, तथा निर्बलता व अनादर की जननी होने कारण जरा भी निन्द्य मानी गई है । नाना स्वांग रचवाने तथा अनेकत्र अपमान कराने वाले उदर तथा क्षुधा को भी झाड़े हाथों लिया गया । स्थान के महत्त्व का भी अनेक नीतिकाव्यों ने बखान किया है । घन, बुद्धि, अनुभव आदि का वर्द्धक होने के कारण प्रायः प्रवास प्रशस्य ही माना गया है, परन्तु तत्सम्बन्धी कष्टों तथा कान्ता-वियोग-जनित वेदना के कारण कहीं-कहीं उसकी गद्दी भी की गई है । मनुष्य के आचार-विचार के बिगाड़ का कारण कलियुग को भी स्वीकार किया गया है तथा जीवों और बुद्धि आदि के नाशक होने के कारण मांस, मद्य, तमाखू, भांग आदि मादक पदार्थों को त्याज्य कहा गया है ।

पिछले दो हजार वर्षों के संस्कृत नीति-काव्य की वैदिक नीति-काव्य से तुलना करने पर विदित होता है कि जहाँ सत्य, मधुरभाषण, ज्ञान, परोपकार, प्रतिधिसेवा, दान, पुरुषार्थ आदि पुरातन विषय यथापूर्व चलते रहे वहाँ अनेक नूतन विषयों पर भी नीतिकाव्य की रचना हुई । नूतन विषयों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) स्तुत्य (२) निन्द्य (३) मिश्रित ।

१. स्तुत्य विषय—गुरु, विद्वान्, सुजन, व्यापारी, राजा, ग्रहिसा, वैराग्य आदि ।

२. निन्द्य विषय—मूर्ख, दुर्जन, तारुण्य, वार्द्धक्य, मृत्यु, कन्यापितृत्व, वेश्या-गमन, व्यभिचार, सेवा, सेवक, पुरोहित, नापित, कायस्थ, मधुभक्षण, मद्यपान, धूम्रपान, भांग, माया, दैव, विषय, संसार आदि ।

३. मिश्रित—इस वर्ग में वे विषय परिगणित हैं जिनकी कहीं प्रशंसा है तो कहीं निन्दा । सद्गुण-भूषित होने से वे स्तुत्य तथा दुर्गुण-दूषित होने से गद्दी कहे गये हैं । जैसे, गाहंस्थ, घन, पुत्र, मित्र, नैयायिक, वैयाकरण, मीमांसक, छान्दस, वैद्य, कवि, ब्राह्मण, स्त्री, प्रवास आदि ।

विषय-विस्तार के कुछ सामान्य कारणों का उल्लेख ऊपर यत्र-तत्र किया गया है, परन्तु मुख्य कारण है—ऐहिक दृष्टि । पहले लक्ष्य यह था कि देवता कैसे प्रसन्न हों, स्वर्ग कैसे प्राप्त हो, ब्रह्मत्व की उपलब्धि क्योंकर हो । परन्तु अब लक्ष्य बहुत कुछ परिवर्तित हो गया । यद्यपि पारलौकिक तथा आध्यात्मिक विषय नितान्त विस्मृत न किये जा सके तो भी अधिक बल उन विषयों पर दिया गया जिन का ऐहिक जीवन से विशिष्ट सम्बन्ध है, जैसे-घन, मान, शौर्य, मूर्ख, पंडित, सज्जन, मित्र, शत्रु आदि ।

भाव यह कि निःश्रेयस की अपेक्षा अभ्युदय पर दृष्टि अधिक जम गई ।

भाषा--

भाषा में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया । वैदिक भाषा के नामों तथा शब्दावली के बहुत से रूप लुप्त हो गये । शनैः-शनैः भाषा पाणिनीय व्याकरण के अनुसार चलने लगी और स्वाभाविकता का स्थान लम्बे-लम्बे समासों तथा साहित्यिक परिष्कार ने ले लिया । प्रारम्भिक रचनाएँ तो प्रायः अनुष्टुप् और श्रग्विन्दों में हुईं परन्तु क्रमशः मालिनी, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, उपजाति आदि अनेक बड़े-बड़े वृत्त प्रयुक्त होने लगे । वैदिक नीतिकाव्य में अलंकारों का विशेष प्रयोग न था परन्तु संस्कृत नीति-साहित्य में नैतिक तथ्य को उपयुक्त दृष्टान्तों से उपबृंहित करने की तथा विभिन्न अलंकारों के प्रयोग की प्रथा क्रमशः बढ़ती गई ।

रस-भाव

यह भी निस्संकोच कह सकते हैं कि वैदिक नीति-काव्य की अपेक्षा संस्कृत नीतिकाव्य के द्वारा हृदय में रसों तथा भावों का उन्मेष अधिक होता है । महाभारत, चाणक्यनीति आदि में यह क्षमता चाहे अधिक न हो परन्तु सुन्दरपांथ्य, भल्लट, क्षेमेन्द्र, जगन्नाथ आदि के नीतिकाव्य नीरस नहीं कहे जा सकते । वेश्याओं की शृंगार-प्रियता का वर्णन हास्यरस की इस उक्ति में देखते ही बनता है—पिता की मृत्यु पर वारांगना 'हा तात ! हा तात ! हा तात !' ही कहती हुई रोती है जिससे कि चर्चित पान से रंजित अधरों की लाली मिट न जाए ।^१ एक मृगी द्वारा कथित और आश्वेत की निन्दता का प्रतिपादक, निम्नस्थ श्लोक करुणरसोद्रेक में पूर्णतया समर्थ है—

अरे शिकारी, मेरे शरीर का सारा मांस ले जाओ परन्तु मुझे और मेरे स्तनों को छोड़ जाने की कृपा करो । मेरे बच्चे अभी घास के कौर खाना नहीं सीखे हैं, वे दुःखी होकर मेरे मार्ग को देख रहे होंगे ।^२

१. पितरि मृते अपि हि वेश्या रोदिति हा तात तात तातेति ।

उपभुक्तस्य विरबीटिक प्रणिताधररंगभंगभयात् ॥

(उच्छ्रितस्यः जलहण-कृत सूक्ष्ममुक्तावली, पृ० ३११)

पिता आदि ओष्ठ्य अक्षरों के उच्चारण से लाली के मिटने की आशा का है, अतः अनोष्ठ्य-अक्षर-युक्त शब्द ही बोलती है ।

२. आदाय मांसमलिलं स्तनवर्जमंगे

मां मुञ्च बागुरिक यामि कुब प्रसादम् ।

सीदन्ति शष्पकवलप्रहृष्टानभिजा

मन्मार्गवीक्षणवराः शिशवो मदीयाः ॥

(नरवेवर्जमणः, जलहण-कृत सूक्ष्ममुक्तावली, पृष्ठ ३१३)

इसी प्रकार तेजस्विता, मनस्विता, क्षमा, उदारता, उत्साह, परोपकार आदि भावों का संचार करने में नीतिकाव्य सर्वथा समर्थ है ।

इस सरसता का चरम प्रकर्ष अन्यापदेशिक नीति-काव्य में उपलब्ध होता है । जिन प्राणियों तथा वस्तुओं को संबोधित कर अन्योक्तियाँ रची गई हैं, उनकी गणना दुष्कर है । देवताओं में इन्द्र, शिव, राम आदि, मनुष्यों में सुवर्णकार, कर्ण-चार, मालाकार आदि, पशुओं में सिंह, गज, रासभ आदि, पक्षियों में हंस, कोकिल, काक आदि, भूषणों में हार, कुंडल, वलय आदि, तत्त्वों में पृथ्वी, जल, आकाश आदि, ग्रहों में सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि, जलाशयों में समुद्र, नदी, सर आदि, अग्निजों में रत्न, शंख, दावानल आदि, वृक्षों में कल्प, चंदन, अश्वत्थ आदि और पुष्पों में पाटल, बकुल, पद्म आदि के मिष मनोहर उपदेश दिए गए हैं ।

काव्यविधान

काव्यविधान की दृष्टि से संस्कृत का नीति-काव्य दो रूपों में उपलब्ध होता है—प्रबन्ध और मुक्तक । रामायण, महाभारत, रघुवंश तथा अभिज्ञानसाकुन्तल आदि प्रबन्ध और दृश्यकाव्यों के नीतिकाव्य को प्रबन्ध नीतिकाव्य कह सकते हैं, और चाणक्यनीति, भर्तृहरि-कृत नीतिशतकादि को मुक्तक नीतिकाव्य । मुक्तकों के भी दो भेद किए जा सकते हैं—गेय मुक्तक और पाठ्य मुक्तक । स्तोत्र-ग्रन्थादि में आने वाले पद्य गेय मुक्तक के अन्तर्गत हैं और शेष पाठ्य मुक्तक में । पाठ्य मुक्तक चार वर्गों में विभाज्य हैं—

१. एक कवि-रचित स्फुट पद्यों का संग्रह, जैसे चाणक्यनीति आदि ।
२. एक कवि-प्रणीत विषयानुसार संग्रह, जैसे, भर्तृहरि-कृत नीतिशतकादि ।
३. एक कवि-कृत एक विषय पर संपूर्ण रचना, जैसे दर्पदलनादि ।
४. सुभाषित संग्रहों के मुक्तक—जैसे सदुक्तिकर्णामृतादि में ।

शैली

संस्कृत के नीति-काव्यों में निम्नलिखित शैलियों का प्रश्रय लिया गया है—

- (क) तथ्यनिरूपक शैली
- (ख) उपदेशात्मक शैली
- (ग) आत्माभिव्यंजक शैली
- (घ) प्रश्नोत्तर शैली
- (ङ) कथात्मक शैली
- (च) संख्यात्मक शैली
- (छ) व्याख्यात्मक शैली
- (ज) अन्यापदेशात्मक शैली

(झ) नैतिक उपमानों की शैली

(ञ) कूट शैली

(ट) रूपककाव्य शैली

(क) तथ्यनिरूपक शैली—इस शैली कवि नैतिक तथ्यों का उल्लेख-मात्र अपनी ओर से अन्य पुरुष में करता है। अधिकतर नीतिकार्य इसी शैली में गुम्फित हैं। ऊपर कई उदाहरण दिए जा चुके हैं।^१

(ख) उपदेशात्मक शैली—कभी-कभी कवि पाठकों को विशेष ढंग का आचरण करने के लिए मध्यमपुरुष द्वारा प्रत्यक्ष उपदेश देते हैं। जैसे, तृष्णा को काट, क्षमा धारण कर, मद को त्याग, पाप से प्रेम न कर आदि।^२

(ग) आत्माभिव्यञ्जक शैली—इस शैली में कवि अपने अनुभवों का प्रकाशन उत्तम पुरुष में करता है। यथा—न तो मुक्ति पाने के लिए प्रभु के चरणों का ध्यान ही किया, न स्वर्ग में स्थान दिलाने वाले धर्म का ही उपाजन किया, न कभी स्वप्न में दाम्पत्य-सृष्टि का ही अनुभव किया, हम तो केवल माता के यौवन-रूपी वन के लिए कुल्हाड़े ही बने।^३

(घ) प्रश्नोत्तरी शैली—इस शैली के दो उपभेद हैं—(१) दो व्यक्तियों का परस्पर प्रश्नोत्तर, जैसे महाभारत में युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर भीष्म और धृतराष्ट्र के प्रश्नों का उत्तर विदुर देते हैं। (२) कवि का स्वयं ही प्रश्नोत्तर, जैसे—हे विप्र, बताओ, इस नगर में महान् कौन है? ताड़ के वृक्षों का समूह। दाता कौन है? घोड़ी, जो प्रातः वस्त्र ले जाता है और सायं दे जाता है। दक्ष कौन है? सब लोग पराया धन व नारियाँ हरने में दक्ष हैं? हे मित्र, फिर जीते कैसे हो? जैसे विष का कीड़ा विष में।^४

(ङ) कथात्मक शैली—प्राचीन आख्यानों तथा पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा भी नैतिक तथ्यों का निरूपण हुआ है, जैसे विदुरनीति में सुन्धवा तथा प्रह्लाद की कथा^५ द्वारा और महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्याय १३७) में तीन मछलियों की कहानी द्वारा।

(च) संख्यात्मक शैली—उपयोगी बातें कण्ठस्थ करने के लिए संख्याएँ विशेष सहायक होती हैं। संभवतः इसी कारण से नीतिकार्यों ने उनका बहुत प्रयोग किया है। पालि के अंगुत्तर निकाय, जैनो के स्थानांग तथा महाभारत में बहु

१. यथा: 'सति पुण्यप्रकर्षेऽपि' (प्रस्तुत प्रबन्ध, पृष्ठ ७६)

२. शतकत्रयम्, पृष्ठ ४०।६६

३. ,, , पृष्ठ १४२।४५

४. आणक्य नीति, पृष्ठ ५४।६

५. विदुर नीति (गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०११), पृष्ठ ५४-६२

प्रवृत्ति पर्याप्त विकसित है। जैसे, एक से तप, दो पठन, तीन से गान, चार से गमन, पाँच से खेती और बहुनों से युद्ध सम्पन्न होना है।^१

(छ) व्याख्यात्मक शैली—कहीं-कहीं पर कवि एकाध श्लोक में सूत्र-रूप में प्रतिपाद्य विषय का संकेत करता है और अधोवर्ती अनेक श्लोकों में उनकी व्याख्या देता है। जैसे—सिंह से एक, बगुले से एक, कुक्कुट से चार, कौए से पाँच, कुत्ते से छह तथा गधे से तीन गुण ग्राह्य हैं। मनुष्य जिस भी छोटे या बड़े कार्य को करना चाहे, उसे पूर्ण प्रयत्न से करे, यह एक गुण सिंह से सीखना चाहिए, आदि।^२

(ज) ग्रन्थापदेशात्मक शैली—इस शैली में सम्बोधित तो किया जाता है वधु, पक्षी, नदी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि को परन्तु उपदेश का लक्ष्य होता है कोई मानव या मानवसमुदाय। इस प्रकार इस शैली में ग्रन्थोक्तियों द्वारा नीति-शिक्षा दी जाती है। पीछे कह चुके हैं कि 'भल्लटशतक' आदि काव्य इसी शैली में रचे गए।^३

(झ) नैतिक उपमानों की शैली—इस शैली में कवि का वर्ण्य विषय तो कोई अन्य ही होता है परन्तु उसका समर्थन या स्पष्टीकरण वह किसी नैतिक उपमान से करता है। पीछे इस शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया जा चुका है।^४

(ञ) कूट शैली—सम्भवतः ग्रपना बुद्धिचातुर्य प्रदर्शित करने या पाठकों को विस्मय-विमग्न करने के लिए कविजन कहीं-कहीं गूढ़ार्थक पद्यों की रचना करते हैं। जैसे, बुद्धिमानों का समय प्रातः छूतप्रसंग में, दोपहर को स्त्रीप्रसंग में तथा रात को चोर-प्रसंग में व्यतीत होता है।^५ टीकाकारों के बिना यह ज्ञान कठिन होगा कि यहाँ छूतप्रसंग आदि महाभारत, रामायण तथा भागवत या ग्रन्थयन है।

(ट) रसक काव्य शैली—इस शैली में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, विद्या, बुद्धि, श्रद्धा आदि मन के भावों को पात्रों का रूप देकर कथाओं वा दृश्य-काव्यों की रचना की गई है। इस शैली के बीज उपनिषदों और बौद्धसाहित्य में मिलते हैं जिनका विकास सिद्धिपि की 'उपमित भवप्रपंच कथा', कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' (नाटक) आदि ग्रन्थों में हुआ।

१. चारणका नीति, पृष्ठ १८।१२

२. चारणका नीति पृष्ठ २८।१५-२१

३. प्रस्तुत प्रबन्ध, पृष्ठ ७१

४. प्रस्तुत प्रबन्ध, पृष्ठ ५१।^२

५. चारणका नीति, पृष्ठ ४२।११

६. छान्दोग्योपनिषद् १।२, जातकनिदानकथा के 'अविदूरे निदान' की भारविजय सम्बन्धी व्याख्यायिका, 'अपभ्रंश साहित्य' पृष्ठ ३३५।

गुण

काव्यगुणों की दृष्टि से संस्कृत का नीतिकाव्य प्रसाद-गुण-प्रधान है। माधुर्य तथा भोज गुण प्रसादवत् प्रधान न होते हुए भी प्रसंगानुसार पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हो हैं।

संस्कृत-नीतिकाव्य के सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि सैकड़ों-सहस्रों सूक्तियाँ ऐसी हैं जो अनेक ग्रंथों में ज्यों-की-त्यों या एकाक्ष शब्द वा अक्षर के भेद से उपलब्ध होती हैं। उनके कर्ताओं का निश्चय करना असम्भव-सा ही है। उस युग में जब मुद्रणालयों का अभाव था तथा कवि लोग निज कृतियों में स्वनाम का उल्लेख करना अहंकार-मात्र मानते थे, ऐसी बात का होना अस्वाभाविक नहीं। कवि जहाँ अपनी रचनाएँ करते थे वहाँ प्राचीनों के सुपद्यों को भी अपनी कृतियों में समाविष्ट करना अनुचित न समझते थे। जैसे—

अनागतविवाता च प्रयुत्पन्नमतिश्च यः।

हावेव सुकमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति ॥

महाभारत^१ का यह श्लोक चारणक्यनीति^२ तथा पंचतन्त्र^३ में लगभग इसी रूप में दिखाई देता है। इसी प्रकार मनुस्मृति का 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'^४ चारणक्य-नीति में^५ तथा चारणक्य-नीति का, 'लोभश्चेदगुणेन किम्'^६ श्लोक भर्तृहरिकृत नीति-शतक^७ में भी विद्यमान है।

निष्कर्ष—उपयुक्त विवेचन का सार यह है कि संस्कृत का नीतिकाव्य अत्यन्त व्यापक और समृद्ध है। जहाँ वह अन्यविषयक अनेक ग्रंथों में फुटकर रूप से पाया जाता है, वहाँ विशुद्ध ऐहिक व्यवहार के विषय पर संस्कृत में दो-चार नहीं, दर्जनों ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। उनके विषयों की व्यापकता आश्चर्यजनक है। ऐसे लगता है कि संस्कृत के कवियों की दृष्टि धर्म से सम्बन्धित इने-गिने विषयों तक ही सीमित नहीं रही, ऐहिक-जीवन-सम्बन्धी प्रायः प्रत्येक विषय की, तब तक जा पहुँची। फिर, उन विषयों का प्रति-पादन भी नीरस पद्यमयी उपदेशात्मक शैली में नहीं किया गया। अधिकांश कवियों ने विभिन्न छन्दों में, अनेक शैलियों में, विविध रसों में और अलंकृत भाषा में उनका

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १३७।१

२. चारणक्य नीति पृष्ठ ६६।७

३. पंचतन्त्र, पृष्ठ १६७।३४७

४. मनुस्मृति, अध्याय ६।४६

५. चारणक्य नीति, पृष्ठ ४४।२

६. चारणक्य नीति, पृष्ठ ७५।४

७. शतकवयसु, पृष्ठ २५।४४

प्रकाशन सुरुचिपूर्वक किया। तात्पर्य यह कि प्राचीन भाषाओं में से एक भी तो ऐसी दिखाई नहीं देती जो उसकी इस क्षेत्र में समता भी कर सके, अतिक्रमण की तो बात ही क्या ?

(३) पालि भाषा का नीति-काव्य

५०० ई० पू० से १००० ई० तक के १५०० वर्षों में भारत में मुख्यतः तीन भाषाओं का प्रचलन रहा—पालि, प्राकृत और अपभ्रंश। इन में से प्रत्येक भाषा क्रमशः लगभग पाँच-पाँच सौ वर्ष तक प्रचलित रही।*

पालि-साहित्य का १६ प्रतिशत भाग बुद्धवचनसंग्रह तथा उसकी व्याख्या-मात्र है। बुद्ध के उपदेश तीन पिठकों में संगृहीत हैं। अभिघम्म पिठक में दार्शनिक सिद्धान्त हैं तो विनय-पिठक में भिक्षुचर्या। ह्रीं, सुत्तपिठक के धम्मपद, सुत्तनिपात और सिंगलसुत्त आदि कुछ ग्रंथों में पर्याप्त नीतिकाव्य पाया जाता है। इन में से भी डॉ० ए० बी० कीथ के मतानुसार^१ 'धम्मपद' भारतीय-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नीति-काव्य है। यह ग्रंथरत्न बौद्ध-जगत् में वैसे ही प्रख्यात तथा समादृत है जैसे हिन्दू-जगत् में भगवद्गीता। ४२३ गाथाओं (पालिपद्यों) का यह काव्य २६ वर्गों (वर्गों) में विभक्त है, जिनके नाम प्रायः विषय के अनुसार—कोषवग्गो (कोषवर्गः), तण्हावग्गो (तृष्णावर्गः) आदि हैं। इस ग्रंथ में उत्साह, प्रमाद, चित्त का वशीकरण, शरीर की अनिष्टता, कथनी और करनी, सज्जन का यश, मूर्ख, विद्वान्, सन्तसेवा, सदाचार-महत्त्व, अहिंसा, कटुवचन, देह की मलिनता, जरा, कृपणता, दान, सुख, दुःख, क्रोध, सत्य, तृष्णा, शान्ति, आर्य, अनार्य, संसार, कर्मफल, जाति-पानि, भिक्षु, सच्चा ब्राह्मण आदि विषयों पर मनोहर उपदेश हैं। धम्मपद में अर्हंतों तथा भिक्षुओं से संबंधित पृथक्-पृथक् वर्ग हैं। परन्तु हम उनकी उपेक्षा कर ऐसे ही वर्गों से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं जो सामान्य जनों के लिए उपयुक्त हैं।

चित्त-चांचल्य के निवारण तथा एकाग्रता-धारण के विषय में तथागत यों कहते हैं—चित्त क्षणिक है, चंचल है, इसे रोकना और निवारण करना प्रति दुष्कर है। फिर भी बुद्धिमान् मानव इसे ऐसे ही सीधा करता है जैसे इषुकार इषु को।^२

तृष्णा के आशु-विस्तार तथा कटु परिणाम का निदर्शन इस प्रकार किया गया है—

मनुबस्य पमस चारित्तो तण्हा बड्ढति मालुवा विथ ।

सो पलवती ठुराठुरं फलमिच्छं व वनस्मिं वानरो ॥^३

१. बाबुराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान (२००६ वि०) पृष्ठ २६१

२. ए० बी० कीथ : एच० एस० एल०, पृष्ठ २२७

३. (अनुवादक अवधकिशोर) धम्मपद (महाबोधिसत्ता, सारनाथ, १९९५ वि०) चित्तवग्गो, पद्य १

५. बम्मपद, पुटकबग्गो गाथा, ११

सफलता उन्हीं पर निर्भर है—सदाचारी विद्वान् मधुसूदनी के समान भोगों को संचित कर प्रज्वलित अग्नि के तुल्य चमकता है। उसके भोग बस्त्रीक की भाँति बढ़ते जाते हैं।^१

संसार की क्षणभंगुरता तथा जरा-मरण की प्रबलता दिखाते हुए अस्पृशः पुण्योपाजन की प्रेरणा इस प्रकार की गई है—जो इस लोक को बुलबुले और मृग-मरीचिका के समान समझता है, उसे यमराज नहीं देख पाता।^२

जैसे ग्वाला साठी से गौओं को चरागाह में ले जाता है वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की प्रायु को ले जाती है।^३

वह (पुण्य) मेरे पास नहीं आएगा, यह सोचकर पुण्य का तिरस्कार न करना चाहिए। जिस प्रकार पानी की बूँदों के निरन्तर पड़ने से घड़ा भर जाता है इसी प्रकार धीरे व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा संचय करता हुआ पुण्य को भर लेता है।^४

पालि-नीति-काव्य की संक्षिप्त समीक्षा

पालि में महात्मा बुद्ध के वचनों और उन की व्याख्या का ही बाहुल्य है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश समकालीन पूर्वी भाषा में दिए थे, जिन का अनुवाद ई० पू० तीसरी शती के लगभग पच्छिमी भाषा पालि में किया गया। इस भाषा के नीतिकाव्य के अधिकतर वर्ण्य विषय वे ही हैं, जिनका उल्लेख संस्कृत-नीति-काव्य में किया जा चुका है। परन्तु कई भेद ऐसे हैं जिन पर दृष्टि सहसा जा पड़ती है। वैदिक तथा संस्कृत नीति-काव्यों में ईश्वर, शिव, विष्णु आदि देवताओं की पूजा करने की तथा वेदवाक्य को परम-प्रमाण मानने की जो प्रेरणा मिलती है, उसका इस काव्य में सर्वथा अभाव है क्योंकि महात्मा बुद्ध इस विषय में उदासीन रहे और सच्चरित्रता पर ही विशेष बल देते रहे। निर्वाण, परलोक, स्वर्ग, नरक आदि का उल्लेख तथा कर्मों के फल रूप में उन की प्राप्ति का वर्णन पालि-नीति-काव्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। इस बात में वह संस्कृत-नीति-काव्य के समान है। यज्ञों में होने वाली जीव-हिंसा को देख दयालु तथागत का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने अहिंसा पर विशेष बल दिया तथा सौ वर्ष तक किए जाने वाले यज्ञों की अपेक्षा मुहूर्त-मात्र की महात्म-पूजा को श्रेष्ठ बताया।^५

प्राचीनतर काल में वर्ण-व्यवस्था कर्ममूलक थी परन्तु बुद्ध के समय में वह

१. तिगालसुत्तं पृष्ठ १८, पद्य १८

२. वम्मपद, लोकवग्गो, गाथा ४

३. ,, वण्डवग्गो, ,, ७

४. ,, पापवग्गो, ,, ७

५. ,, सहस्रवग्गो, गाथा ७

बन्धमूलक हो गई थी। इसी कारण न्यायप्रिय बुद्ध ने वर्णव्यवस्था को कर्ममूलक मानने का उपदेश^१ देकर ब्राह्मण को श्रेष्ठ तथा भवध्य कहा। यद्यपि पालि-साहित्य में माता-पिता, गुरुजन आदि बन्ध कहे गए हैं तो भी तत्त्वतः परिवार को बन्धरूप ही माना गया है। संसार को अनित्य, भूठा, मायामय तथा दुःखद कहकर उसमें आसक्ति का निषेध ही प्रधान स्वर है। शरीर को मलागार तथा निन्द्य माना गया है और जरा के कष्टों व मृत्यु की प्रबलता का बार-बार उल्लेखकर मोक्षपरायणता को उपदेश दिया गया है। सार यह है कि जिस प्रेय-मार्ग को उपनिषदों के अपकृष्ट^२ कहा था उसे पालिनीति-काव्य ने हेयतर^३ रूप से वर्णित किया है। अहिंसा, समाजिक समता, अनासक्ति, सदाचार आदि द्वारा श्रेय मार्ग पर चलने का अधिक उपदेश दिया है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस नीति-काव्य में आदर्श व्यवहार को ही उच्च कहा गया है, देश-काल-पात्र के अनुसार यथायोग्य आचरण पर बल नहीं दिया गया।

वर्ण्य विषयों की दृष्टि से उदात्त होता हुआ भी पालिनीति-काव्य काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली नहीं कहा जा सकता। कारण, रस तथा भाव ही काव्य की आत्मा हैं और इनकी यहाँ न्यूनता है। माना कि इस काव्य में निर्वेद, उदारता, शान्ति, क्षमा, दया, मंत्री आदि के सुन्दर उपदेश हैं परन्तु प्रायः प्रत्यक्षतया उपदिष्ट होने के कारण वे काव्य नहीं बन पाये। वे सम्मार्ग दिखाते अवश्य हैं परन्तु हृदय को उन-उन भावों में विमोर नहीं कर पाते। इसका कारण है अभिधा की व्यापकता तथा लक्षणा-व्यञ्जना की उपेक्षा।

पालि-नीतिकाव्य केवल मुक्तक काव्य के रूप में मिलता है। महात्मा बुद्ध के उपदेशों के सर्वश्रेष्ठ संग्रह 'बम्मपद' में मुक्तकों का वर्गशः संकलन है। 'सुत्तनिपात' का स्थान भी अत्युच्च है। उसमें गद्य और पद्य मिश्रित है। 'सिगालसुत्त' में भगवान् बुद्ध के वे सुन्दर नैतिक उपदेश हैं जो उन्होंने एक सेठ के पुत्र को दिये थे। इसमें गद्य, पद्य और सूत्र तीनों व्यवहृत हुए हैं। जातकों की गद्यमयी कथाओं में भी, इसी प्रकार कहीं-कहीं नीति के मुक्तक आ जाते हैं।

इस साहित्य में अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती आदि वैदिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं अनुष्टुप् छः-छः चरणों के भी दिखाई देते हैं तो कहीं-कहीं पद्यों के चरणों में अक्षर-संख्या भी न्यूनधिक है।^४

रस-भाव की न्यूनता को पालि-नीतिकाव्य अलंकारों के सुप्रयोग से पूर्ण कर

१. ,, ब्राह्मण वर्णो, ,, १४

२. कठोपनिषद् १।२।१-२

३. बम्मपद, देखें भगवद्गीता, तथा लघुभाष्यो

४. ,, अथकव्यो, भाषा १, २, ७

देता है। पालि-काव्य सुन्दर स्वाभाविक उपमाओं तथा दृष्टान्तों के लिए प्रख्यात ही है। ये उपमाएँ प्रकृति पर आश्रित तथा व्यापक होने के कारण सहज ही पाठक का मन हर लेती हैं। जैसे—

‘भूखें यदि जन्म भर भी विद्वान् की सेवा करे तो भी धर्म के ज्ञान से वैसे ही शून्य रहता है जैसे करछी सूप के स्वाद से।’

राग के समान आग नहीं है, द्वेष के तुल्य ग्रह (भूत) नहीं है, मोह के सदृश जाल नहीं है और तृष्णा के समान नदी नहीं है।^२

संख्याश्रयी तथा कूट-शैली का महाभारत के समान यहाँ भी कहीं-कहीं प्रयोग हुआ है। सम्भवतः तत्कालीन श्रोताओं को आश्चर्य द्वारा नीति की ओर आकृष्ट करने के लिए इनका प्रयोग किया जाता था। जैसे—माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं तथा ससेवक राष्ट्र को मार कर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।^३ उन दिनों के वातावरण में भले ही श्रोतागण ऐसी गाथाओं का आशय समझ जाते हों परन्तु आज तो हम टीकाकारों की सहायता बिना नहीं जान सकते कि इसमें तृष्णा को माता, अहंकार को पिता, शाश्वत और उच्छेद दृष्टियों को क्षत्रिय नृपयुगल तथा संसारिक सासकृतियों को ससेवक राष्ट्र कहा गया है।

जैसे कि संस्कृत-नीति-काव्य की समीक्षा के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि अनेक नीतिपद्य एकाधिक संस्कृत-ग्रन्थों में अक्षरशः उसी रूप में या न्यूनाधिक भेद के साथ उपलब्ध होते हैं, वैसे ही यह देखकर भी आश्चर्य होता है कि पालि के अनेक नीति-पद्य संस्कृत के कई ग्रंथों में उपेक्षणीय भेद के साथ विद्यमान हैं। जैसे—

(क) अभिवादनशीलस्य नित्यं बुद्धोपसेविनः

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ।^४

अभिवादनशीलस्त निष्णं बद्धापचायिनो ।

चत्वारो धम्मा बद्धन्ति आयुं वृष्णो सुखं बलम् ॥^५

नीति के इन दोनों पद्यों में अभिवादनशील, वृद्धसेवी व्यक्ति को प्राप्त होने वाले चार-चार लाभों का उल्लेख है। आयु तथा बल—ये दो लाभ तो दोनों में समान हैं परन्तु मनुस्मृति के विद्या और यश रूप दो लाभों का स्थान धम्मपद में वरुण और सुख को दे दिया गया है। इस भावसाम्य के प्रतिरिक्त भाषा-साम्य भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। भाव और भाषा दोनों का यह साम्य निष्कारण नहीं है।

१. धम्मपद, बालवग्गो, गाथा ५

२. ,, बही, मलवग्गो, गाथा १७

३. ,, पक्किल्लक वग्गो, गाथा ५

४. मनुस्मृति, २।१२१

५. धम्मपद, गाथा १०६

अवश्य ही एक दूसरे का रूपान्तर-सा है परन्तु कौन किस का, यह कहना कठिन है । अधिक सम्भावना यही है कि संस्कृत के पद्यों को पालि में रूपान्तरित किया गया है । क्योंकि धम्मपद का वातावरण (जैसे कि निम्नांकित उदाहरण से भी प्रतीत होता है) महाभारत, मनुस्मृति आदि की अपेक्षा अधिक शान्त तथा अहिंसामय है ।

(क) अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः ।

आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्य नैव सुखी भवेत् ॥^१

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्स्यात्मसुखेच्छया ।

स जीवन्श्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ।^२

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिसति ।

अस्य नो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥^३

महाभारत में कहा गया है कि अपने सुख की इच्छा से अहिंसक प्राणियों को दण्ड से मारने वाला मरकर सुखी नहीं होता । मनुस्मृति में उसी विचार को कुछ बढ़ाकर कहा है कि मरकर ही नहीं, जीवन में भी सुखी नहीं होता । धम्मपद में महाभारतवत् मर कर ही दुखी होने का उल्लेख है परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ महाभारत में अहिंसक प्राणियों को मारने का निषेध है वहीं धम्मपद में सुखकामी प्राणियों अर्थात् प्राणीमात्र को ही मारने का प्रतिषेध है । इस प्रकार भाव-विकास के द्वारा अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः उक्त पद्यों में पालि नीति-काव्य महाभारत व मनुस्मृति का ऋणी है ।

४—साहित्यिक प्राकृतों का नीतिकाव्य

पालि के पश्चात् निम्नलिखित पाँच प्राकृतों में साहित्य-रचना की गई—
(१) महाराष्ट्री, (२) शौरसेनी, (३) अर्द्ध मागधी, (४) मागधी, (५) पेशाची ।
यद्यपि प्राकृतों में ऐहिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की रचनाएँ की गईं तथापि यह मानना ही पड़ता है कि इनमें अभी तक एक भी काव्य-ग्रंथ ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ जो केवल नीति-विषयक हो । स्फुट रूप में उपलब्ध प्राकृत के नीतिकाव्य को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) ऐहिक साहित्य में नीतिकाव्य

(२) धार्मिक साहित्य में नीतिकाव्य

प्रागामी पृष्ठों में इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है ।

१. धम्मपद, पृ० १७२

२. मनुस्मृति, ५।४५

३. धम्मपद, वाचा, १३१

‘कुलीनजन का वाग्बन्धन लोहे की शृंखलाओं तथा अन्य अनेक प्रकार के पाश-बन्धनों से भी अधिक दृढ़ होता है।’ नीति का शुद्ध स्वरूप तो मानो निम्नस्व भार्या में ही यों व्यक्त हुआ है—

‘अपना हित करना चाहिए और यथासम्भव पराया भी हित करना चाहिए, परन्तु जहाँ प्रश्न अपने और पराये हित में चुनाव का आ पड़े, वहाँ अपना ही हित करना चाहिए।’^२

प्राकृत-सुभाषितों के संग्रह की यह प्रथा मध्यकाल^३ से होती हुई हमारे समय तक आ पहुँची है। आधुनिक ‘प्राकृत सुभाषित संग्रह’^४ तथा ‘सूक्तिसरोज’^५ में प्राकृत नीति काव्य के अनेक सुन्दर निदर्शन उपलब्ध होते हैं। जैसे—

निहणंति धणं धरणीयलं मि इय जाणि ऊण किविण जणा ।

पायालं गन्तव्यं ता गच्छ अगठाणं पि ॥^६

‘कृपण जन भूमि खोदकर उसमें अपनी संपत्ति गाड़ देते हैं। मानो उन्हें नरक में जाने का निश्चय होता है इसलिए अपनी संपदा पहले ही वहाँ पहुँचा देते हैं।’

एकस्मि जह तलाए धेणु यसप्पेण पाणियं पीयं ।

सव्ये परिणमइ विसं वेणुसु क्षीरं समुत्तमवइ ॥^७

‘एक ही सरोवर से धेनु और सर्प द्वारा पिया हुआ पानी सर्प में तो विष बन जाता है और गौ में दूध।’

(ख) प्रबन्ध-काव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

प्रवरसेन का ‘रावण बहो’ (रावण बध) या ‘दहमुहवहो’ (दशमुखबध), वाक्पतिराज के ‘गउडवहो’ (गोडबध), तथा ‘महुमहविषय’ और ‘रामपाणिवाद’ का ‘कंसवहो’ माहाराष्ट्री प्राकृत के प्रख्यात महाकाव्य हैं।^१ रावणवहो की रचना

१. डा० सरसूप्रसाद अग्रवाल: प्राकृतविमर्श (लखनऊ, सं० २००६) जयनिका पृ० ६।२

२. " " " " " " " " " " ६।३

३. जयपुर के पुरातरव मंदिर में ‘सुभाषित गाथा सटीक त्रिपाठ’ (क्रमांक २४६३) नामक पाँच पत्रों की हस्तलिखित पुस्तक (आकार १२½" × ४½") हमारे देखने में आई थी। पत्रों के मध्य में प्राकृत-सुभाषित हैं, ऊपर संस्कृत में टीका और नीचे टिप्पणियाँ। मुख्य विषय शृंगार है।

४. सं०, प्रो० बी० एम० झाह, प्राकृत सुभाषित संग्रह (नानपुरा सुरत, १९३५ ई०)

५. सं० मुन विनयचन्द्र, सूक्तिसरोज, प्र० धर्मदास जैन मिश्र मंडल, रित्तलान, बि० १९६६।

६. प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृ० ४३।३६३

७. सूक्तिसरोज, पृष्ठ २।३

काश्मीर-नरेश द्वितीय प्रवरसेन ने सातवीं शती ईसवी से पूर्व की थी। 'बप्पइराध' (बाष्पतिराज) ने ईसा की आठवीं शती में 'गउड़बहो' के १२०६ आर्या छन्दों में अपने आश्रयदाता कनौजाधिपति यशोवर्मा द्वारा गौड़नरेश के वध का वर्णन किया है। 'कंसबहो' में आठवीं शती ईसवी के मालावारी कवि रामपाणिवाद ने श्रीकृष्ण के हाथों कंस के वध का ही चित्रण नहीं, कालियमर्दन, गोवर्धन-धारण, रासलीला आदि का भी उल्लेख किया है। इस कवि ने प्राकृत के प्रख्यात छंद गाथा को सर्वथा त्यागकर बंशस्थ, वसन्ततलिका, प्रहर्षिणी आदि छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। उपर्युक्त महाकाव्यों में प्रसंगवश नीति की सूक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। जैसे—

ते बिरला सप्पुरिसा जे अभरण्ता घडेन्ति कज्जालावे ।

योअच्चिअ बि बुमा जे अमुणिअकुसुमणिग्गमा बेन्ति फलम् ॥^१

‘ऐसे सत्पुरुष बिरल ही होते हैं जो कार्यकलापों को बिना कहे ही कर डालते हैं। जैसे, वे वृक्ष न्यून ही होते हैं जो कुसुमित हुए बिना ही फलित हो जाते हैं।’

दुरपत्यता की अपेक्षा निरपत्यता के बरतव का उल्लेख रामपाणिवाद इन शब्दों में करते हैं—

अवच्चक्षुणो चिरमवसदे वि दे

संहति अं णो पिदरा णिअंतणं ।

सरोरिणो ता बुरवच्चसंभवो

वदन्ति सक्खं णिरवच्चदा वरं ॥^२

कृष्ण अकर से कहते हैं—‘हम दो पुत्र तो यहाँ स्वस्थ रूप में विद्यमान हैं और हमारे माता-पिता वहाँ घोर नियंत्रण सह रहे हैं। इसीलिए तो लोग बुरी संतान की अपेक्षा संतान के अभाव को उत्तम मानते हैं।’

(ग) दृश्यकाव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

इस प्रकार का प्राकृत-नीतिकाव्य दो वर्गों में विभाज्य है—१. संस्कृत-दृश्य-काव्यान्तर्वर्ती, २. प्राकृत-दृश्यकाव्यान्तर्वर्ती ।

१. संस्कृत-दृश्य-काव्यान्तर्वर्ती प्राकृत-नीतिकाव्य

संस्कृत के श्रव्य काव्य तो संस्कृत में ही लिखे जाते थे परन्तु संस्कृत के दृश्य-काव्यों में प्राकृत भाषाओं का भी व्यवहार किया जाता था। प्रायः कुलीन पुरुष-पात्र संस्कृत में वार्तालाप करते थे और स्त्रियाँ तथा सामान्य जन विभिन्न प्राकृतों में। भास,

१. प्रवरसेन : सेतुबन्धम् (बहमुहबहो) (निरंयसागर प्रेस, बम्बई, १८१५ ई०), आशवासक ३, पद्य ६। ('सेतुबन्धम्' रावणबहो का ही संस्कृतानुवाद है) ।

२. कंसबहो (हिन्दी अम्बरत्माकर कार्यालय, बम्बई, १९४० ई०) सर्ग १, पद्य १२०

कालिदास, शूद्रक आदि के रूपक इस बात के प्रमाण हैं। निम्नलिखित पद्य में 'मृच्छकटिक' का भिक्षु नीति की वही बात कहता है जिसे परवर्ती सिद्धों तथा सन्तों ने अनेक बार दुहराया—

‘सिर मुँडवा लिया, मुख मुँडवा लिया, यदि चित नहीं मुँडवाया तो सिर और मुख क्या मुँडवाया ! परन्तु जिसने मन मुँडवा लिया, उसका सिर भलीभाँति स्वयमेव मुँड गया ।’

२. प्राकृत-दृश्यकाव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

महाकवि राजशेखर- रीति ‘कपूर्वमंजरी’ सट्टक आद्योपान्त प्राकृत-रचना है। इसमें भी प्रसंगवश नीति की कई मनोहर सूक्तियाँ आ गई हैं। जैसे—

रिणसग्ग चंगस्स वि भाच्चुसस्स सोहा समुम्मल्लि भूसल्लोह ।

मल्लोणं जञ्जणं वि कंचणोण विभूसणो लब्भदि का वि लच्छो ॥^१ (राजशेखर)

‘सहज सोम्यं से युक्त मनुष्य की भी शोभा भूषणों से वैसे ही बढ़ जाती है जैसे श्रेष्ठ रत्नों की आभा सुवर्णमय आभूषणों में जटित होने से ।

(घ) काव्यशास्त्रान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

हमारे यहाँ के काव्य-शास्त्रकारों ने जहाँ अपने ग्रन्थों में काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों का त्रिवेचन किया, वहाँ स्व प्रतिपाद्य विषयों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत के ही नहीं, प्राकृत के भी अनेक सुन्दर पद्य उपन्यस्त किये। ऐसे ४५ पद्य आनन्दवर्द्धन के ‘ध्वन्यालोक’ में, ३५० पद्य भोज के ‘सरस्वती कंठाभरण’ में, ८० पद्य हेमचन्द्र के ‘काव्यानुशासन’ तथा उसकी वृत्ति में और अनेक पद्य ‘दशरूपक’, ‘साहित्य दर्पण’ और ‘रसगंगाधर’ में उपलब्ध होते हैं। माना कि उनमें पर्याप्त संख्या अन्य-विषयक पद्यों की है तो भी नीति-विषयक सूक्तियों की संख्या भी नगण्य नहीं है। उदाहरणार्थ—

‘रात्रि चन्द्र-किरणों से, सरोवर कमलों से, लता पुष्पों के गुच्छों से, शरद की शोभा हंसों से तथा काव्यकथा सज्जनों से गुरुत्व प्राप्त करती है ।^२

ए एण वरकोअण्डवण्ण ए युति भाच्चुलेवि एमेअ ।

गुणवज्जिए ए आअइ वसुप्पण्णे वि टंकारो ॥^३

१. मृच्छकटिकम्, अंक ८, पद्य ३

२. कपूर्वमंजरी, अवलोकान्तर २, पद्य २५

३. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, (प्र० महावीर जैन विद्यालय बम्बई १९१८ ई०) पृ० ३५५, पद्य ५५१

४. सरस्वतीकंठाभरणम् (निर्वाणसागर प्रेस, बम्बई १९१४ ई०), परिच्छेद ३, उदाहरण पद्य ८६

‘हे पुत्रि, सुन्दर धनुष-दण्ड में ही नहीं, मनुष्य में भी यह बात चरितार्थ होती है कि वंश (बौंस, सुकुल) से उत्पन्न होने पर जब तक गुण (प्रत्यंचा, सद्बुत्त) न हो तब तक टंकार (धनुष-ध्वनि, ख्याति) नहीं होती ।’

(२) धार्मिक काव्य में नीति-काव्य

इस बात का अधिकतर श्रेय जैन मुनियों तथा विद्वानों को है कि उन्होंने ने अपनी सैकड़ों रचनाओं से प्राकृत भाषा के कोश को समृद्ध किया और अपने धार्मिक तथा नैतिक संदेशों को जनता तक जनता की ही तत्कालीन भाषा में पहुँचाया । जैन विद्वानों ने अपनी रचनाएँ अर्द्धमागधी (आर्य), शौरसैनी तथा माहाराष्ट्री प्राकृतों में कीं । अर्द्धमागधी में अंग, उवंग (उपांग), पइणा (प्रकीर्ण) आदि सिद्धांत-ग्रन्थ हैं । दिगम्बर जैनों ने अपनी रचनाएँ प्रायः शौरसैनी में कीं और श्वेताम्बर जैनों ने महाराष्ट्री में । सिद्धान्त-ग्रन्थों में तो नीतिकाव्य की खोज निष्फल है परन्तु सामान्य गृहस्थों के आचार-व्यवहार के निर्देशक विविध ग्रन्थों के नीतिकाव्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं । ऐसे ग्रन्थ निम्नलिखित दो वर्गों में विभाज्य हैं—(क) मुक्तक तथा (ख) प्रबंधात्मक ।

(क) मुक्तक रचनाएँ

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का ‘अष्टपाहुड़े, बट्टकेराचार्य का ‘मूलाचार’, बसुएँदि का ‘उवासयज्भयरां’ या ‘आवकाचार’ तथा समय-सुन्दर गण-संकलित ‘गाथा सहस्री’ आदि ग्रन्थ इस वर्ग के अतंगत आते हैं । इन ग्रन्थों में नीति का तो बाहुल्य है, परन्तु नीतिकाव्य की न्यूनता । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

तिरणकट्ठेण ब अण्णो सबणसमुद्धो एणीसहस्सेहि ।

एण इमो जीवो सक्को तिप्पेवुं कामभोगेहि ।’

‘तिनकों तथा काष्ठ से अग्नि, सहस्रों नदियों से सारा समुद्र तथा काम भोगों से यह जीव कभी तृप्त नहीं हो सकता ।’

तह चंडो मणहत्थो उद्दामो विषयराममग्गि ।

एणएणकुसेणा धरिदो यद्धो बह मत्तहत्थिब ।’

‘मस्त हाथी के समान मन-रूप उग्र और उच्छृंखल हाथी को भी विषय-रूपी राजमार्ग में ज्ञान-रूपी अंकुश से ही बशवर्ती किया जाता है ।’

सत्यासत्य का आचरण अत्यन्त विवेकपूर्वक ही करना उचित है—

अलिखं न भातिग्रन्थं, अलिखं तु सच्चं पि खं न वतम्बं ।^१

सच्चं पि होइ अलिखं, खं परस्पीडाकरं वयम्बं ॥

‘झूठ नहीं बोलना चाहिए, ऐसा सत्य भी सम्भव है जो बाध्य न हो, परपीड़ा-जनक सत्य भी झूठ ही होता है ।’

(ख) प्रबन्धात्मक रचनाएँ

उपयुक्त धार्मिक मुक्तक रचनाओं से कुछ अधिक सरस वे अनेक प्रबन्धात्मक कथाकाव्य तथा चरितकाव्य हैं जिन्हें जैन विद्वानों ने धर्म तथा नीति के प्रचाराय रचा, परन्तु उनके भी नीति-सम्बन्धी ग्रंथों में राग-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व की कमी ही है। विमल सूरि का ‘पद्मचरिय’^२ (जैन रामायण), शीलाचार्य का ‘महापुरुष चरित’,^३ भनेश्वरमुनि का ‘सुरसुन्दरी चरिय’,^४ महेश्वर सूरि की ‘ज्ञानपञ्चमी कथा’^५, जिनेश्वर सूरि का ‘कथाकोशप्रकरण’,^६ हेमचन्द्र का ‘कुमारपालचरित’^७ (ग्रंथतः), लक्ष्मणगणिका का ‘सुपाश्वनाथ चरित’,^८ सोमप्रभाचार्य के ‘सुमतिनाथ चरित’ तथा ‘कुमारपाल प्रतिबोध’^९ (ग्रंथतः), तथा जनहर्षगणिका का ‘रयणसेहरी कहा’^{१०} इसी वर्ग की प्रमुख कृतियाँ हैं। निम्नांकित उद्धरणों से इनकी बानगी देखी जा सकती है—

कन्या का जन्म पिता के लिए अनेक चिन्ताओं का कारण होता है, इस नीति को महेश्वर सूरि यों स्पष्ट करते हैं—

उप्पणाए सोगो वड्ढंतीए य वड्ढए चिंता ।

परिणीयाए उवन्तो खुवइयिया बुविल्लओ निच्चं ॥^{११}

‘कन्या-जन्म पर शोक होता है। ज्यों-ज्यों वह बड़ी हाती जाती है त्यों-त्यों

१. समयसुन्दर गणिका, गायसहस्री (निरांयसागर प्रेस, बम्बई १९४० ई०, गाथा ३४६

२. अतुर्थ शती या बाब, डॉ० रामसिंह तोमर के प्रबन्ध का सार (‘आलोचना’, जुलाई १९५३ ई०, पृ० ५३.)

३. रचनाकाल ८६८ ई०

(आलोचना जुलाई १९५३ ई०, पृ० ५३)

४. ,, १०६५ वि०

,, ,, ,, ,, ५४

५. समय अनिश्चित

,, ,, ,, ,, ,,

६. रचनाकाल १२वीं शती वि० का प्रथम चरण

,, ,, ,, ,, ,,

७. जीवनकाल (११४५-१२२६ वि०)

,, ,, ,, ,, ,,

८. रचनाकाल (११९९ वि०)

,, ,, ,, ,, ,,

९. ,, वि० तेरहवीं शती का मध्य

,, ,, ,, ,, ,,

१०. पन्द्रहवीं शती का अन्तिम चरण

,, ,, ,, ,, ,,

११. महेश्वर सूरि: मात्स्यपञ्चमी कहाओ (ज्ञानपञ्चमी कथा) (भारतीय विद्यामन्त्र, बम्बई १९४९ ई०) सर्ग १, पद्य ८८ ।

चिन्ता भी बढ़ती जाती है। विवाह हो चुकने पर उसकी दशा के सम्बन्ध में चिन्ता रहती है। कन्या का पिता तो नित्य ही दुःखी रहता है ।’

बिह्वेण जा न भुल्लसि, जो न बियारं करेई तावन्ने ।

तो देवाण बि पुजो किमंग पुण मच्छुअलोयस्स ॥^१

‘जो वैभव में दर्पान्ध नहीं होता, जो यौवन में विकारग्रस्त नहीं होता, वह देवताओं का भी पूज्य होता है, मनुष्यों का तो कहना ही है क्या ।’

शास्त्रोक्त नरक तो परोक्ष ही है परन्तु प्रत्यक्ष नरक वहाँ है जहाँ कुभार्या, दारिद्र्य, व्याधि तथा कन्याओं का आधिक्य हो—

दुकलसं दालिहं बाही तह कन्ध्याण दाहुल्लं ।

पच्चक्खं नरयमिणं सत्थुबड्ढं च बि परोक्खं ॥^२

कामी व्यक्ति विवेक से हाथ धोकर पतन की पराकाष्ठा तक जा पहुँचता है, इस बात को मुनि हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल की परमार्थ चिन्ता के प्रसंग में यों स्पष्ट किया है—

एणीएण्ति मित्त मज्जं रक्खन्ति सुधं बह्वं पि पवघन्ति ।

एणीसुक्कन्ति च गुरु-गोहिणीं पि काम-वस-परिअलिआ ॥^३

‘काम के वश में पड़े हुए लोग मित्र की पत्नी, अपनी पुत्री, बहू, तथा गुरु-गोहिणी से संभोग करने में संकोच नहीं करते ।’

स्त्रियाँ आपातरमणीय होती हैं परन्तु अन्तःकटुक, इसलिए निज मन को सतकं करता हुआ नृप कुमारपाल कहता है—

अणफुडिअ-इन्दवारण-रम्मा रामा अफिट्ट-कटुअन्ता ।

रे हिअय फुट्ट चुक्कसि कि भग्गा ताहि भुल्लविअं ॥^४

‘स्त्रियाँ उस अविदीर्ण इन्द्रवारण फल के तुल्य बाहर से ही रम्य होती हैं जिसकी आन्तरिक कटुता अभी बाहर नहीं आई। इसलिए हे दुःशील हृदय, तू उनके भुलावे में आकर मार्गभ्रष्ट क्यों होता है ? जब तक मन निर्विषय नहीं होता तब तक जीव अव-मुक्त नहीं होता—

अच्छति रन्ने सेले वि अच्छते दड-तपं तपन्तो वि ।

ताव न सभेय्य मुक्कं याव न विसयान तूरातो ॥^५

१. वही, २।६५

२. महेश्वर सूरिः नालपञ्चमी कहाओ (ज्ञानपञ्चमी कथा) (भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९४६ ई०) सर्ग ७ पद्य ६।

३. हेमचन्द्रः कुमारपालचरित (बाम्बे संस्कृत एंड प्राकृत सीरिज, १९३६ ई०) सर्ग ७।८

४. वही, ७।२०

५. वही, ८।१०

‘मनुष्य भरप्य में भी बँठता है, पर्वत-दरी में भी बँठता है और चोर तप भी करता है । परन्तु तब तक मोक्ष नहीं मिलता जब तक वह विषयों को मन से दूर नहीं करता ।’

प्राकृतनीतिकाव्य की समीक्षा

जब संस्कृत भाषा सामान्यजनों के लिए सुबोध न रही तब जनसाधारण के काव्यरसास्वादन के लिए प्राकृत में रचनाएँ होने लगीं ।^१ लोगों को अपनी बोल-चाल की यह भाषा संस्कृत की तुलना में इतनी कोमल प्रतीत हुई कि उन्हें सम्भवतः लिखना पड़ा—संस्कृत-रचना परुष होती है परन्तु प्राकृत-कृति सुकुमार । जितना अन्तर पुरुषों और महिलाओं में होता है उतना ही इन दोनों में दिखाई देता है ।^२ कवियों ने इसमें ऐसी सुधामयी सूक्तियों की रचना की कि यह रसिकों को प्रिया के शशिमुख के समान मनोहर लगने लगी ।^३ यहाँ तक कि ललित पद रचना में पट्ट दण्डी भी इसके सूक्ति-रत्नों की स्तुति किये बिना न रह सके ।^४ यह प्राकृत-प्रेम इतना बढ़ा कि प्राकृत की कविगोष्ठियों में संस्कृत-भाषी बुरी तरह से खटकने लगा—

पाइयकम्बुलाबे पडिबयण सककएण जो वेइ ।

सो कुसुम सत्थरं पत्थरेण अणुहो बिरासेइ ॥^५

‘जो मनुष्य प्राकृत-काव्यालाप में प्राकृत-कविता का उत्तर संस्कृत-कविता द्वारा देता है वह मूढ़ कुसुमों की क्यारी को पत्थरों से नष्ट-भ्रष्ट करता है ।’

वैयक्तिक नीति

बौद्ध तथा जैनधर्म के प्रभाव के कारण प्राकृत-नीतिकाव्य में मान, तेज, वीरता आदि गुणों का उतना महत्त्व दिखाई नहीं देता जितना क्षमा, दया, तप, भावशुद्धि आदि विषयों का । क्षमा के बिना तो समस्त गुणनिकाय हतप्रभ हो जाता है—

क्षमा-रहित समग्र गुण सोभाग्य-प्रदान में वैसे ही असमर्थ होते हैं जैसे असंख्य

१. प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृ० ३२।२८८

२. कर्पूरमंजरी सट्टक (निरांयसागर प्रेस, बम्बई, १९२७) १।८

३. अहो तत् प्राकृत हारि प्रियावक्त्रेनुसुन्दरम् ।

सूक्तयो यत्र राजन्ते सुधानिष्यन्वनिर्भराः ॥

[प्राकृत मञ्जरी) (प्राकृत प्रकाशवृत्ति) में; अथअंश काव्यजयी, भूमिका, पृ० ७५ पर उद्धृत]

४. काव्यादर्श १।३४

५. प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृ० ३२।२९३

सारोंसे युक्त चन्द्रकला-विहीन रजनी ।^१

प्रत्येक प्रकार की पवित्रता प्रशंसनीय है परन्तु उन सब में मनः शुद्धि ही श्रेष्ठ है—

सम्बाह्वं वि बुद्धीणां मलमुद्धी शेष उत्तमा लोए ।

आलिंगनस्यैव भावेणान्नेन प्रसं न ॥^२

‘संसार में सब प्रकार की शुद्धियों में से मन की शुद्धता उत्तम होती है। स्त्री पति का आलिंगन एक भाव से करती है व धीरे पुत्र का दूसरे से।

पारिवारिक नीति

पारिवारिक नीति में स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिए शील का पालन आवश्यक कहा गया है, परन्तु शीलभंग का अपराध स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक देखा जाता है, संभवतः इसलिए कवि ने उसके विषय में कटुतर भाषा का प्रयोग किया है—

‘जिस युवती का शरीर शील-रूपी रत्न से मंडित नहीं होता, उसका हार भार-रूप, तड़ागी बन्धन-रूप और नूपुर निगड़-रूप होते हैं ।’^३

उच्छिष्टं विदुः विष परनारि परिहरन्ति सप्पुरिता ।

सेवन्ति सारमेयव्य निदिया न्ने दुरायारा ॥^४

‘श्रेष्ठ पुरुष तो परायी नारी को जूठन और विषा के समान जानकर उससे दूर रहते हैं, परन्तु निदित दुराचारी लोग उसका कुत्ते के समान सेवन करते हैं ।’ परदार-अभिगमन के तुल्य ही वेश्यागमन को भी बहुत गर्ह कहा गया है।

सामाजिक नीति

सामाजिक नीति में सज्जनों को जैसे को तैसा का उपदेश न देकर भीदार्यं को भंगीकार करने प्रेरणा की गई है ।^५ वास्तविक सज्जन तो वह है जो भारी क्रोध की दशा में भी कटु-भाषण नहीं करता—

हृद्रोसकलुसिघत्स वि सुप्रणस्य मुहार्ह विपिषं कन्तो ।

राहुमुहम्मि वि ससिणीकिरणा ममघं विष सुप्रन्ति ॥^६

‘तीव्र क्रोध से तिलमिलाते हुए भी सज्जन के मुख से अप्रिय वचन कहीं निकलते हैं ? चाँद चाहे राह के मुख में भी पड़ा हुआ हो तो भी उसकी किरणें सुधावृष्टि ही करती हैं ?’

१. लूकित सरोज, पृष्ठ १७१।७

२. लूकित सरोज, पृष्ठ १५।९

३. ” ” २१।६

४. ” ” २१।१०

५. ” ” ७२।१

६. नाया सप्तसती शतक ४, नाया १६

अभयंता वि नञ्जंति सुपुरिता गुणगणोहि नियर्णहि ।

किं कुल्लंति मणीप्रो जाप्रो सहस्तेहि धिप्यंति ॥^१

‘श्रेष्ठ लोग अपने मुख से कुछ न कहने पर भी निज गुणों के समूह के कारण पहचान लिए जाते हैं । जो रत्न सहस्रों रूप्यों से खरोदे जाते हैं क्या वे स्वयं कुछ कहा करते हैं ? इसके विपरीत दुष्ट लोग दूध पिलाने पर भी डसने से नहीं चूकते—

मलिया कुटिलगइप्रो परछिहरया य भीसया दसया ।

पयपाणेण वि लालयन्तस्स मारंति बीजीहा ॥^२

‘मलिन, कुटिल-गति, परछिद्रान्वेषी, विषले दाँतों वाले सर्प (दुर्जन) दूध पिलाने वाले को भी डसकर मार देते हैं ।’

समाज में दुष्टों और श्रेष्ठों की परस्पर पट नहीं सकती—

बावो सहाव सरलं विच्छिद्वइ सरं गुणम्मि वि पडन्तम् ।

वंकस्स उज्जुप्रस्स अ सम्बन्धो किं चिरं होइ ॥^३

‘धनुष, स्वभावतः सरल और गुण (प्रत्यंवा, गुण) का आश्रय लेने वाले बाण को भी दूर फेंक देता है । क्या वक्र और सरल व्यक्ति का सम्बन्ध अधिक काल तक ठहर सकता है ?

समाज में गुणों का विकास तभी संभव है जब उसमें गुणग्राही जन विद्यमान हों—

सहृदयों द्वारा गृहीत होने पर ही गुणों का उद्भव होता है । कमल वस्तुतः कमल तभी बनते हैं जब सूर्य की रश्मियाँ उन्हें अनुगृहीत करती हैं, अन्यथा नहीं ।^४

प्राकृत-नीतिकाव्य में स्त्रियों की स्तुति और निन्दा दोनों ही पाई जाती हैं परन्तु प्रशंसा की अपेक्षा भवहेलना पर बल अधिक प्रतीत होता है । बार-बार नमस्कार उन्हीं नारियों को किया गया है जो प्रेम, प्रिय, विरह और विषय-तृष्णा से अनभिज्ञ हैं,^५ परन्तु सामान्यतः स्त्री-स्वभाव के सम्बन्ध में तो ऐसे ही उद्गार लक्षित होते हैं—

घेप्पइ मच्छाण पए आयासे पक्खिणो य पयमगो ।

एकं नवरि न घेप्पइ दुल्लवस्सं कामिणीहिमयं ॥^६

१. सूक्तिसरोज, पृष्ठ ७८।७

२. सूक्तिसरोज पृष्ठ १०६।६

३. गाथा सप्तशती, शतक ५, गाथा २४

४. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन (प्र० महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९३८ ई०) पृ० २०६। २३५॥

५. प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृष्ठ १०। ८७

६. " " " " ६। ७६

‘जल में मछली के और आकाश में पक्षी के पदचिह्न तो पहचाने जा सकते हैं परन्तु नारी-हृदय को पहचानना कठिन और वश में करना असम्भव है ।’

आर्थिक नीति

आर्थिक नीति के क्षेत्र में लक्ष्मी के महत्त्व को मुक्तकंठ से स्वीकृत किया गया है क्योंकि—

विगुणमवि गुणशृङ्गं द्रवहीरांषि रम्भं
जडमवि मडमतं मंदसत्तपि सूरं
अकुलमवि कुलीरां तं पयपति बोध्या
नवकमलदलच्छीजं पलोएइ लच्छा ॥^१

‘नवकमलदलाक्षी लक्ष्मी निज कृपाकटाक्ष से समाज में निर्गुण को गुणी, कुदशन को सुदर्शन, मूर्ख को मतिमान्, कातर को दूर तथा कुलहीन को कुलीन बनाने में पूर्णतया समर्थ है ।’

परन्तु लोभजन्य दुष्परिणामों से पाठकों को यह कहकर सचेत भी किया गया है कि धन का लोभी मनुष्य, माता, पितः पत्नी और मित्र को भी ठगने से नहीं झूकता । वह तो बान्धवों के भी प्राण हर लेता है ।^२ इस प्रकार दोनों सीमाएँ दिखाकर मध्यम मार्ग अपनाने की ही प्रेरणा की गई है । दान का गुणगान भी पर्याप्त किया गया है और पात्र-कुपात्र पर दृष्टि रखने का प्रबल अनुरोध भी पाया जाता है ।

इतर-प्राणि-सम्बन्धी-नीति

जैन तथा बौद्ध विचारों के प्रभाव के कारण जीवहत्या करने वालों को महापापी और अत्यन्त प्रमादी कहा गया है—

खणामतमुखकज्जे जीवे निहणंति जं महापावा ।

हरिचदणवणखड्गं दहति ते छारकज्जम्मि ॥^३

‘अर्थात् जो महापापी रसनाविषयक क्षणिक मृत्यु के लिए जीव-घात करते हैं, वे राख की प्राप्ति के लिए हरिचन्दन के वन को दग्ध करते हैं ।’

मिश्रित नीति

मिश्रित नीति के अन्तर्गत पुण्यार्थ की अपेक्षा देव तथा पूर्व कर्मों का बल

१. सूक्तिसरोज, पृष्ठ १७८।२

२. सूक्तिसरोज, पृष्ठ १८१।३

३. १४।१६

अधिक माना गया है। लक्ष्य करने की बात है कि प्राकृत नीति-संग्रहों में दान, शील, तप, दैव आदि पर तो पृथक् वर्ग प्राप्त होते हैं परन्तु पुरुषार्थ, मान, शौर्य आदि पर नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस देश में धर्म और परलोक की भावना प्रायः ऐसी प्रबल रही है कि उसने यहाँ के निवासियों को इस लोक के जीवन को सच्चा समझने और ऐहिक दृष्टि को प्रधान मानकर इसे सम्यक् व्यतीत करने की प्रेरणा ही नहीं की। शतवर्षीय जीवन की ओर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया गया जितना क्षणिक मृत्यु की बलवत्ता दिखाने और मोक्ष का अक्षय आनन्द पाने की ओर।

खण्डिज्जइ विहिणा ससदरो सूरस्स वि अत्यमणं ।

हा दिव्व परिणईए कवलिज्जइ को न कालेण ॥^१

‘देव चन्द्र को भी खंडित कर देता है, सूर्य को भी अस्त कर देता है। हा ! ऐसा कौन है जो देव के प्रभाव के कारण काल-कवलित नहीं हो जाता ।’

सांसारिक सुखों की अपेक्षा विरक्ति को अधिमान दिया गया है। संसारी और वंरागी मनुष्यों की समानता क्रमशः मिट्टी के गीले और सूखे गोलों से की गई है जिन्हें दीवार पर दे मारने पर गीला तो चिपक जाता है और सूखा भलग गिर पड़ता है। ऐसा कहकर उन काम-कामी जनों को दुर्बुद्धि कहा गया है जो संसार में आसक्त हो जाते हैं ।^२

रस-भाव

चूँकि अधिकतर प्राकृत-नीतिकाव्य धर्म-विषयक ग्रंथों में उपलब्ध है इसलिए उसमें स्वभावतः शान्त रस का आधिक्य है। करुण, रोद्र, हास्य और वीर्य रस भी उपलब्ध होते हैं परन्तु न्यून मात्रा में। शृंगार, वात्सल्य आदि का प्रायिक अभाव स्वाभाविक है क्योंकि इस साहित्य में भी संसार भूटा, सम्बन्ध मायिक, संबंधी स्वाध्याय-परायणता और विषय गह्वं कहे गए हैं। अहिंसा, सन्तोष, दैन्य, ग्लानि, मोह, चिन्ता क्षमा, श्रद्धा आदि भावों की व्यापकता है। उपरिलिखित उद्धरणों में उक्त रसों तथा भावों के उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं, तो भी एक-दो उदाहरण और प्रस्तुत किए जाते हैं—

‘परामशं कार्यानुष्ठान से पूर्व ही लेना चाहिए, इस नीति की हास्यरसमयी व्यंजना निम्नलिखित पद्य में की गई हैं—

काराविऊण खउरं गामउलो मज्जिमो अ जिमिमो अ ।

एकसत्तसिहिवारे जोइसिअं पुच्छिउं वलिमो ॥^३

१. सक्तिसरोज, पृष्ठ १६१।१२

२. " " १२८।१२, १३

३. भोज : सरस्वतीकंठाभरण, (निर्यायसागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ई०) पच्छिम १, उदाहरण-पद्य ५५ ।

‘ग्राम का मुखिया सिर मुंडवा, स्नान और भोजन कर, नक्षत्र, तिथि और वार पूछने के लिए चल पड़ा ।’ क्षमा तथा उदारता के भावों का मिश्रण सज्जनों के स्वभाव में इस प्रकार दिखाया गया है—

अवयारपरे बि परे कुणति उवयारमुत्तमा नूनं ।

सुरहेइ चंदलदुमो परसुमुहं छिज्जमाणो बि ॥^१

‘उत्तम जन अपने अपकारियों का सदा उपकार ही करते हैं । कटता हुआ भी चन्दन-वृक्ष काटने वाले कुठार के मुख को सुवासित करता ही है ।’

अलंकार

प्राकृत भाषा की सुकुमारता तथा मधुरता का निर्देश पीछे कर ही चुके हैं । प्राकृत के कवियों ने अपनी वाणी को विविध भूषणों से सुसज्जित किया है । ‘धार्मिक काव्यों की अपेक्षा यह अलंकार-चमत्कार ऐहिक काव्यों में अधिक दृष्टिगत होता है । ऐहिक काव्यों में बिरले ही पद्य ऐसे होंगे जो किसी अलंकार के सुप्रयोग द्वारा चमत्कृत न हों । शब्दालंकारों में श्लेष तथा अनुप्रास का और अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा अर्थान्तरन्यास तथा दीपक का व्यवहार अधिक किया गया है । ये अलंकार कविता पर लादे हुए नहीं लगते, कवियों के गम्भीर निरीक्षण, कुशल कल्पना और परिमार्जित रुचि के परिचायक हैं । जैसे—

सरए महदबाणं अन्ते तिसिराई बाहिरुण्हाइं ।

जाभाई कुबिअसज्जणहिअप्र सरिच्छाईं सलिलाईं ॥^२ (उपमा)

‘सदियों में बड़े सरोवरों के जल श्रद्धा सज्जनों के हृदय के सदृश बाहर से तो तप्त परन्तु अन्दर से शीतल हैं ।’ कवि ने शीतकाल में सरोवर से उठते हुए वाष्प को देखकर उपमा के माध्यम से क्या ही सुन्दर नैतिक उपदेश दिया है !

चन्दमऊहेहि निसा, रालिणी कमलेहि, कुसुमगुच्छेहि तया ।

हुंसेहि सरयसोहा कव्वकहा सज्जणेहि कीरई गुई ॥^३ (दीपक)

‘चन्द्र की किरणों से रात्रि का, कमलों से तरंगों का, पुष्प-स्तवकों से बत्ती का, हंसों से शरद् ऋतु की छटा का तथा सज्जनों से काव्य-कथा का गौरव बढ़ जाता है ।’

चूँकि प्राकृत के नीतिकाव्य में अभिधा की अपेक्षा लक्षणा तथा व्यंजना का प्रयोग अधिक है, इसलिए उसमें सरसता तथा प्रभावकता अधिक दिखाई देती है । जैसे—

१. सूक्तिसरोज, पृष्ठ ७२।१

२. गाथा सप्तशती, शतक, २ गाथा ८६

३. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृष्ठ ३५५ । ५५१

जे जे गुणियो जे जे प्र चाइयो जे विद्वद् विष्णुखा ।

बारिह रे विष्णुखा ताणं तुमं सागुराओति ॥^१

“कवि दारिद्र्य की व्याज-निन्दा करता है क्योंकि वह गुणियों, त्यागियों और विज्ञानियों का पिण्ड नहीं छोड़ता । निर्जीव, दारिद्र्य का अनुरागवान् होना असम्भव है । अतः यहाँ लक्षणा द्वारा दो नैतिक तथ्यों की व्यंजना की गई है । प्रथम यह कि विष्णु मनुष्य वही है जो गुणी, त्यागी और विज्ञानवान् मानव की संगति से साभान्वित होता है । द्वितीय, समाज को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि गुणी और विद्वज्जन निर्धनता की यन्त्रणाओं से मुक्त रहें ।

छन्द—गाथा या गाहा छन्द का प्रयोग प्राकृत में प्रचुरता से होता था । नीतिकाव्य में भी उसी का बाहुल्य है परन्तु आर्या, वसन्ततिलका, अनुष्टुप्, वंशस्थ आदि भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं ।

शैली—संस्कृत-नीतिकाव्य की समीक्षा में निदिष्ट शैलियों^२ में से प्राकृत-नीतिकाव्यों में तथ्य-निरूपक और उपदेशात्मक शैलियों का प्रयोग बहुल दिखाई देता है । प्रश्नोत्तर, आत्माभिव्यंजक, अन्यापदेशिक तथा नैतिक उपमानों की शैलियाँ भी व्यवहृत हुई हैं परन्तु अल्प मात्रा में । तथ्य-निरूपक, उपदेशात्मक और नैतिक उपमानों की शैलियों के अनेक उदाहरण पीछे^३ प्रसंगवश आ ही चुके हैं, अन्य शैलियों के निदर्शन द्रष्टव्य हैं—

ढुंल्लितुं मरिहसि कंटयकलिघ्राहं केमइवराहं ।

मालइ कुसुमेण समं भमर भमंतो न पाविहसि ॥^४ (अन्योक्ति शैली)

“हे भंवरे, तू काँटों से पूर्ण केतकी के बनों में ढूँढ़ता हुआ मर जाएगा, परन्तु बहुत घूमने पर भी मालती के समान कुसुम तुझे प्राप्त न हो सकेगा ।” कहना न होगा कि इस अन्योक्ति का वास्तविक लक्ष्य वह नायक है जो स्व-सती-साध्वी पत्नी से विमुख हो अन्योन्मुख हो रहा है ।

का बिसमा विष्वगई कि लट्ठं जं जणो गुणग्राही ।

कि सुवसं सुकलसं कि दुग्गेवभं जसो सोओ ॥^५ (प्रश्नोत्तर शैली)

“विषम क्या है ? देवगति । लट्ठ (भाबार) क्या है ? गुणग्राही मानव । सुख क्या है ? साध्वी पत्नी । किसे वश करना कठिन है ? दुष्ट लोगों को ।

कहीं-कहीं पर तो तथ्य-निरूपक और प्रश्नोत्तर शैली का सुन्दर सम्मिश्रण

१. संकेत तथा अर्थ, प्रस्तुत प्रबन्ध, पृष्ठ ८८, टि० २

२. प्रस्तुत प्रबन्ध का पृष्ठ ७८-६ देखिए ।

३. प्रस्तुत प्रबन्ध का पृष्ठ ८८-६२ देखिए ।

४. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृष्ठ १४३, पद्य ५०५

५. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन पृ० १६५ पद्य ६५०

कर दिया गया है। यह शैली अन्यत्र देखने में नहीं पाई। इसमें पहले जिस तथ्य का निरूपण होता है, ठीक उसके विरोधी तथ्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है और फिर उत्तर दिया जाता है। जैसे—

कोहो बिसं, कि अमयं, अहिंसा,
माणो अरो, कि हियमस्पमाओ ।
माया भयं, कि सरणं, तु सच्चं,
लोहो दुहं, कि सुहमाहु, तुडिठं ॥^१

“क्रोध तो विष है, फिर अमृत क्या है ? अहिंसा ।
अभिमान तो शत्रु हैं, फिर मित्र क्या है ? अप्रमाद ।
माया तो भय है, फिर आश्रय क्या है ? सत्य ।
लोभ तो दुःख है, फिर सुख क्या है ? सन्तोष ।

संस्कृत-नीतिकाव्य से साम्य

देश में प्राकृत भाषाओं का प्रचलन हो जाने पर भी संस्कृत-वाङ्मय की सृष्टि होती रही। तथ्य तो यह है कि अधिकतर अभिजात-संस्कृत-साहित्य की रचना हुई ही उस काल में जब प्राकृत भाषाएँ देश में प्रचलित हो चुकी थी। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत साहित्य प्रायः समसामयिक होने के कारण विचार, शैली आदि के क्षेत्रों में थोड़ा-बहुत साम्य रखते हैं। उदाहरणार्थ, कन्या-जन्म से जग्य पितृचिन्ता का जैसा उल्लेख प्राकृत-कवि महेश्वर सूरि^२ ने किया है, लगभग वैसा ही संस्कृत में भी उपलब्ध होता है।^३ कहीं-कहीं पर प्राकृत-कवियों ने संस्कृत-कवियों के भाव को कुछ परिवर्तित तथा परिवर्द्धित कर दिया है। जैसे, संस्कृत में कहा गया है—

“जो पुरुष पराई निन्दा करने में गूंगा, पराई स्त्री को देखने में अन्धा और पराये धन को लेते समय पंगु हो जाता है, वह त्रिलोकी में विजय प्राप्त करता है।”^४
प्राकृत-कवि का कथन है—

“जो कुकार्य करते समय आलसी, प्राणिवध के समय पंगु, परनिन्दा सुनते समय बहिरा और पर-नारी को देखते समय अन्धा है, वही प्रशस्त है।”^५ कहीं-कहीं पर भाव-साम्य होते हुए भी कुछ नवीनता साने के लिए दृष्टान्त-विपर्यय कर दिया

१. प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृष्ठ ४२।३८१

२. महेश्वर सूरि, नाणपंचमी कहाओ, सर्ग १।८८

३. सु० २० भा०, पृष्ठ ६०।१

४. वही, ,, ४८।१२४

५. प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृष्ठ ४४।४०९

गया है। जैसे—

मनसंघ कृत्तं पापं न शरीरकृतं कृतम् ।

येनैवालिङ्गिता कांता, तेनैवालिङ्गिता सुता ॥^१

“मन से किया हुआ पाप ही पाप होता है, केवल शरीर से किया हुआ नहीं। जिस शरीर से पत्नी का आलिङ्गन किया जाता है, उसी से ही पुत्री का भी।”

सव्वाण वि शुद्धिण मणमुद्धी चैव उत्तमा लोए ।

आलिङ्गई भस्तरं भावेणान्नेण पुत्तं च ॥^२

“समाज में सब शुद्धियों में से मनकी शुद्धि उत्तम है। स्त्री पति का आलिङ्गन एक भाव से करनी है और पुत्र का दूसरे भाव से।”

इस प्रकार के साम्य का कारण निम्नव्यपेक्षक बताना अत्यन्त कठिन है। फिर भी संस्कृत के प्राचीनतर होने तथा संस्कृत-भाषों का विकास प्राकृत में देखे जाने से सम्भावना यही होती है कि प्राकृत कवियों ने संस्कृत-कवियों से भावों के बीज ग्रहण कर उन्हें अपनी बुद्धि और कल्पना के जल से सिंचित कर पल्लवित-पुष्पित किया है। अन्त में इतना ही कहकर समाप्त करते हैं कि प्राकृत का नीतिकाव्य संस्कृत के समान विद्यान न होता हुआ भी अपनी विषय-व्यापकता तथा सरसता के कारण अत्यन्त स्वाधनीय है।

अपभ्रंश का नीतिकाव्य

अपभ्रंश भाषा हिन्दी की जननी है। विरकाल तक इसका अध्ययन उपेक्षित रहा, परन्तु अब, सौभाग्य से, इस का साहित्य क्रमशः प्रकाशित हो रहा है।

उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य दो वर्गों में विभाज्य है—

(१) धार्मिक साहित्य

(२) ऐहिक साहित्य

१. धार्मिक साहित्य

धार्मिक साहित्य का विवेचन दो उपवर्गों द्वारा करना उपयुक्त होगा—

(क) सिद्ध साहित्य में नीतिकाव्य

(ख) जैन साहित्य में नीतिकाव्य

यद्यपि इन दोनों उपवर्गों का साहित्य मुख्य रूप से स्व-स्व सम्प्रदाय के सिद्धान्तों तथा आचार-विचार के प्रचारार्थ लिखा गया था तो भी उस में यत्र-तत्र प्रसंगवश नीतिकाव्य भी समाविष्ट हो ही गया है।

१. सुभाषितरत्नाकर, पृष्ठ १०१।५

२. सुक्तिसरोज, पृष्ठ ५५।२

सिद्ध साहित्य में नीतिकाव्य

परिस्थितियों के प्रभाव से पुनीत बौद्ध-धर्म क्रमशः विकृत होता गया। उसमें तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, डाकिनी-शाकिनी आदि का ही प्रचार नहीं हुआ, भैरवी-चक्र, मद्य, मैथुन आदि का भी प्रचलन बहुत बढ़ गया। यह यौन-स्वातंत्र्य वस्तुतः उस कठोर संयम की सहज प्रतिक्रिया था जिस की आशा बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों से आमरण की जाती थी। सिद्धों ने सुधार का बीड़ा उठाया और उसके लिए सहज मार्ग या सहजयान की स्थापना की। चौरासी सिद्धों में से अधिकतर तो तथाकथित निम्न जातियों के थे और कुछ तथाकथित उच्च जातियों के। इन्होंने वरुण और वरुण के भेद को सर्वथा ठुकरा दिया। नदी-स्नान से निर्वाण, केश-लुचन से कल्याण, निराशावाद, योग, वैराग्य आदि अनेक पाखंडों का जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थे, सिद्धों ने तीव्र खंडन किया। इन्होंने मंत्र-देवता आदि की निरर्थकता प्रतिपादित की और आशावादी होते हुए सदाचार-पूर्वक सहज जीवन को सहज ढंग से व्यतीत करने की नीति बताई। इन्होंने आत्मावलम्बन की नीति श्रेष्ठ बताई परन्तु गुरु का महत्त्व बहुत बढ़ा दिया जो परवर्ती काल में अनिष्टकारक सिद्ध हुआ। ये सिद्ध सांसारिक सुख सहज रीति से भोगने का उपदेश देते थे और इसी कारण इनका मार्ग सहजयान कहलाता है। अपनी विद्वत्ता व सच्चरित्रता के कारण सिद्धों में से सरहपा, कण्हा, लुङ्पा, और शान्तिपा विशेष विख्यात हैं। इन की कविताओं के कतिपय उद्धरणों से सिद्ध नीतिकाव्य की बानगी देखी जा सकती है।

उस काल में अनेक साधु नख बढ़ाते, विशेष वेप धारण करते, मलिन अथवा शिम्बर रहते, शरीर के बाल उखाड़ते तथा मोक्ष को अपने से बाहर खोजते थे।^१ सरहपा इन बातों का सहज भाव से यों खंडन करते हैं—

बड़ एगगाविइ होइ मुक्ति, ता सुणह सिद्धान्ह ।

लोम उपाइएण अत्थि सिद्धि, ता सुबइ-एिअम्बह ॥^२

‘यदि नंगे रहने से मुक्ति मिलती हो तब कुत्तों और गोदड़ों को भी जिल जाएगी। यदि लोम उखाड़के सिद्धि प्राप्त होती हो तो युवतियों के नितंबों को भी प्राप्त हो जाएगी।’

जिस शरीर की बौद्ध व जैन नीतिकार निन्दा करते न सकते थे, उसी को सरहपा सहिताकालीन ऋषियों के समान अनुपम तीर्थ मानते थे—‘सुरसरि व यमुना यहीं (इसी शरीर में) हैं, गंगासागर भी यहीं है, प्रयाग तथा बनारस भी यहीं हैं, सूर्य और चन्द्र भी यहीं हैं।’^३

१. जे० डी० एल० कलकत्ता, भाग २८ (१९३५ ई०) पृष्ठ १०, बोधा ६

२. वही, पृ० १०।७

३. वही, पृ० १५।४७

इन्द्रियों का निग्रह तथा विषयों से विरक्ति बाह्यरूप, बौद्ध और जैन सभी के नीतिकाव्यों के प्रमुख विषय रहे हैं। परन्तु सरहपा ने इन्हें अस्वाभाविक मानकर कहा—

वेस्लहु सुगुह परोसहु जाहु । जिग्यहु कमहुं बइठ-उठ्ठाहु ।

आल माल व्यवहारे पेस्लहु । मण छुहु एक्काकार न बस्लहु ॥^१

‘देखो, सुनो, छुप्रो, खाप्रो, सूँघो, घूमो, बैठो, उठो तथा क्रय-विक्रय आदि व्यवहार उत्साहपूर्वक करो ।’

जिन वेद, शास्त्र और पुराणों की शिक्षाओं का हिन्दू सम्मान करते थे और बौद्ध तथा जैन उपेक्षा, उन्हें ये सिद्ध भी विशेष महत्त्व न देते थे। कण्हपा शास्त्रों तथा पंडितों के सम्बन्ध में यों कहते हैं—‘पण्डित लोग अपने वेद, शास्त्र और पुराणों पर बहुत मान करते हैं। परन्तु वे वैसे बाहर-ही-बाहर घूम रहे हैं जैसे पके हुए श्रीफल के बाहर भंवरे ।’^२

याचक को निराश लौटाना सिद्धों के मत में बहुत बुरा था। सरहपा कहते हैं—

जो अरथो अण्ठीअउ, सो जइ जाइ एगरास ।

कण्णु सरावें भिक्खु बर, त्यजहु ए गृहवास ॥^३

‘यदि याचक तुम्हारे घर से निराश लौट जाता है तो तुम्हें गृहवास छोड़ देना चाहिए। ऐसी गृहस्थी की अपेक्षा तो दूटे हुए खप्पर में भीख माँगकर जीना अच्छा है।’

परोपकार तथा दान में ही जीवन की परम सार्थकता मानते हुए सरहपा कहते हैं—

‘न तो परोपकार ही किया और न ही दान दिया। फिर इस संसार में जीने का लाभ ही क्या है ! इससे तो स्वदेह-त्याग ही भला ।’^४

गुरु-महिमा तो भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित है परन्तु सिद्धों ने उसका स्थान वेद-शास्त्रों से भी ऊँचा कर दिया। परिणामतः आगे भक्ति-काल में ‘गुरु महिमा’ इतनी बढ़ी कि गुरु भगवान से भी अधिक पूज्य बन गए। सरहपा की उक्ति है—

गुरु उबएसे अमिअ रसु, चाव ए पीअउ बेही ।

बहु सत्यएष मकरलहि, तिसिए मरिअउ तेहि ॥^५

१. बही, पृ० १६।५५

२. बही, पृ० २४।२

३. बही, पृ० २३।१११

४. बही, पृ० २३।११२

५. बही, पृ० १६।५६

‘जिसने गुरु के उपदेश रूपी अमृत के रस का पान दौड़कर न किया वह शास्त्रों के अर्थ रूपी मरुस्थल में प्यासा ही मर गया ।’

महासुख की प्राप्ति के साधन चित्तस्थैर्य का प्रतिपादन सरहपा सांग रूपक द्वारा इस प्रकार करते हैं—यह काया सुन्दर नौका है, मन नौकादंड है । सद्गुरु के वचनों से पतवार को धारण करो । चित्त को स्थिर कर इस नौका को दबा कर बंठो । यह किसी अन्य उपाय से पार नहीं जा सकती ।^१

सिद्धों ने अपनी रचनाएँ मगही (मागधी) अपभ्रंश में कीं जिसे संध्या भाषा भी कहते हैं । इन रचनाओं में किसी रस का विशेष परिपाक तो नहीं । फिर भी इन से उत्साह तथा आशा का संचार होता है और मन कड़े तप-त्याग तथा धोर विषयासक्ति की सीमाओं को त्यागकर मध्यम सहज मार्ग पर चलने की स्वच्छ प्रेरणा प्राप्त करता है यद्यपि सिद्धोंने राग-मुक्त गीतों, सोरठा, छप्पय आदि का प्रयोग भी किया तथापि नीति-रचना प्रायः दोहा तथा सोलह मात्राओं के पञ्चटिका और अनित्य छन्दों में है । इन की रचनाएँ सरल, सुबोध स्वाभाविक भाषा में हैं परन्तु कहीं-कहीं सुन्दर रूपक, उपमाएँ, दृष्टान्त सहज भाव से आ गये हैं । सार यह कि कवित्व की दृष्टि से सिद्धों का नीतिकाव्य विशेष महत्त्व न रखता हुआ भी भावों की मौलिकता तथा परवर्ती हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करने के कारण अपना विशेष स्थान रहता है ।

(ख) जैन-साहित्य में नीतिकाव्य

जैन मुनियों तथा श्रावकों ने अपभ्रंश भाषा में अनेक सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत कर प्राचीन हिन्दी के उद्भव तथा विकास में स्तुन्य सहयोग दिया । अपभ्रंश-नीति-काव्य के दो रूप हैं—(क) प्रबन्ध (ख) मुक्तक ।

(क) प्रबन्ध काव्यों में नीति

जैन कवियों ने अपने धर्म के प्रचारार्थ अनेक सुन्दर चरित-काव्यों, कथा-काव्यों और पुराणों का प्रणयन किया जिनमें पद्मचरिउ^३, रिट्ठणमिचरिउ^३, लायकुमारचरिउ^४, तिसट्ठमहापुरिसगुणालंकार^५, जसहरचरिउ^६, भविस्सयत्तकह^७, सुदंसारचरिउ^८, कुमार-

१. वही, भाग ३० (१६३८ ई०) पृष्ठ ८३, चर्यापद ३८

२-३. प्रणेतृ स्वयम्भू (रचनाकाल ८-९ वीं शती, हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य (भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली) (सं० २०१३) पृष्ठ ४०९

४-६. प्रणेतृ पुष्पवत (रचनाकाल १०१६-१०२२ वि),

७. प्रणेतृ धनपाल (१००० ई०) हि० का षा० पृष्ठ २६०

८. प्रणेतृ नयनवी (रचनाकाल ११०० वि०) अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ १५७

पासचरित (अंशतः)^१ तथा खेमिणाहचरित^२ आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इन काव्यों में २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ६ वासुदेवों और ६ बलदेवों के चरित्रों के अतिरिक्त जैन-रामायण व जैन-महाभारत की कथाओं तथा जैन नरेशों आदि का काव्यमय वर्णन ऐसी रीति से किया गया है कि पाठक जैन धर्म तथा नीति से प्रभावित हो। इन सरस काव्यों में आनुषंगिक रूप से आई हुई नीति के कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं। स्वयम्भू मानव-शरीर की नश्वरता तथा निम्सारता यों व्यक्त करते हैं—

रंभा-गम्भेण व खीसारें । पक्क-फलेण व सउणाहारें ।

सुण्ण हरेण'व विहडिय-बंभें । पच्छहरेण'व अइहुगंभें ॥^३

काया कदली-वृक्ष के मध्य भाग के समान निम्मार है, पक्क फल के तुल्य पक्षियों, का आहार है, मूत्र घर के समान शिथिल बंधनों वाली है, और शीचालय के मृदु दुर्गन्ध का भंडार है।

कार्य की शोभा उसकी सफल संपन्नता पर ही निर्भर है, इस नीति का उल्लेख पुष्पदंत के शब्दों में यों हुआ है—

सोहइ पाउसु सास-ममिद्धए । सोहइ विहउ स परिण-रिद्धिए ।

सोहई माणुस गुण संपत्तिएं । सोहई कजारंभु समत्तिएं ॥^४

'वर्षा ऋतु की शोभा सस्यो की समृद्धि में, वैभव की भव्यता निज परिजनों की ऋद्धि से, मनुष्य की शोभा गुण-रूपी मांदा में और कार्यारंभ की शोभा उस की सफल समाप्ति से होती है।'

जैसा बोझोगे, वैसा काटोगे की नीति घनपाल के शब्दों में यों व्यक्त हुई है—

जहा जेण दत्तं तहा तेण पत्तं, इमं सुखए सिट्ठलोएण वृत्तं ।

सु पायन्तवा कोइवा जस माली, कहं सो नरो पावए तत्त्वसाली ॥^५

जिन ने जैसा दिया, उस ने वैसा पाया, शिष्ट लोगों ने यह सत्य ही कहा है। जो माली कोदव बोधगा, वह शाली कहाँ से प्राप्त करेगा ?

संसार के लोग विविध प्रभावों से पीड़ित हैं, इस अनुभव को लखमदेव ने यों व्यक्त किया है—

जसु गेह अण्णु तसु अरुइ होइ, जसु भोज तत्ति तसु ससु ए होइ ।

जसु दाण छाहु तसु बबिण्णु एत्थि, जसु बबिण्णु तासु अइ सोहु अत्थि

जसु मयण राउ तत्ति एत्थि भाम, जसु भाम तासु उखवण काम ॥^६

१. प्रणेता हेमचन्द्र (११४५-१२२६ वि०) अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ ३२१-२२।

२. प्रणेता लखमदेव (१५१० वि० से पूर्व), अपभ्रंश साहित्य पृ० २३२।

३. पउमचरिय (रामायण) ७७।४, हि० का० पा० पृष्ठ १२२।

४. आबिपुराण, पृष्ठ ४०७, " " , पृष्ठ २३२।

५. भविसयत्तकहा (सं० बलाल, गुणो१६२३ ई०) पृष्ठ ८४, अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ १०२।

६. खेमिणाह चरित (अप्रकाशित) ३।२, अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ २३३।

‘जिस के घर में धन है, उसे भूख ही नहीं लगती और जिस में भोजन पचाने की शक्ति है, उस के पास शस्य ही नहीं। जो दान देने में उत्साही है, उस के पास द्रविराज का अभाव है और जिसके पास धन है वह अति लोभी है। जिस में काम का आधिक्य है वह भामा-रहित है और जिसके पास भामिनी है उसका काम ही शांत हो चुका है।’

अपभ्रंश के ‘जीवमनःकरण संलाप कथा’^१, ‘मयराजपराजय चरित’,^२ ‘मयराज जुझ’,^३ आदि प्रबन्ध-काव्य कथाबद्ध रूपक शैली में लिखे गये जिस का प्रयोग, उपनिषदों तथा बौद्ध-साहित्य^४ में भी किया गया था। इस शैली का प्रयोग, परन्तु नाटक के रूप में, कृष्ण मिश्र ‘प्रबोधचन्द्रोदय’ में इन कवियों से कुछ पूर्व कर ही चुके थे। जैसा कि इन काव्यों के नामों से अनुमित होता है इनकी रचना मन, इन्द्रियों, काम आदि को वश में करने का उपदेश देने के लिए की गई थी। प्रत्यक्षोपदेश की अपेक्षा कथात्मक उपदेश के अधिक प्रभावशाली होने के कारण ही कवियों ने इस शैली को स्वाकृत किया। इसमें मन, इन्द्रिय, काम, मोह, राग, द्वेष आदि को पात्रों का रूप देकर कथा के ढाँचे में बैठाया गया है। उपदेश-वृत्ति की प्रधानता के कारण यद्यपि काव्यत्व की दृष्टि से इन कथाओं का महत्त्व उपर्युक्त प्रबन्ध-काव्यों का-सा नहीं है तो भी कहीं-कहीं विशेष चमत्कार मन को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। जैसे—

पट्ट ! अप्पह नरिबालं दुम्भंती दूसए गुणकलावं ।

एक्कंपि तुं बिराणे बीयं नासेइ गुलभारं ॥^५

हे प्रभो ! कुमन्त्री राजा के गुण-समूह को ऐसे दूषित कर देता है जैसे तुम्बिनी का एक ही बीज सारे लता गुल्म को ढाँप लेता है।’

कहना न होगा कि इस रूपक-काव्य-शैली ने परवर्ती हिन्दी काव्य को प्रभावित किया। सूफी कवियों के प्रेम-काव्य तथा जयशंकर प्रसाद की कामायनी इसी परम्परा में सन्निविष्ट होती हैं।

(ख) जैन मुक्तक काव्य में नीति

जैन मुक्तक काव्य दो धाराओं में प्रवाहित हुआ। रहस्यवादी धारा और उपदेशात्मक धारा।

१. रचयिता सोमप्रभाषाय (१२४१ वि०) ,, ,, पृष्ठ ३३५
२. रचयिता हरिदेव (१५-१६वीं शती विक्रमी) अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ ३३८
३. रचयिता कुचराय (१५८६ वि०) ,, ,, पृष्ठ ३३६
४. बृहदारण्यकोपनिषद्, १।३, छान्दोग्योपनिषद् १।२
५. जातक निदान कथा के ‘अविदूरे निदान’ की मारविजय-सम्बन्धी आख्यायिका, अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ ३३४।
६. अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ ३३८

(१) रहस्यवादी धारा

इस धारा की काव्य-कृतियों में आत्मा, परमात्मा, योग, मोक्षादि के विवेचन का प्राधान्य होते हुए भी कहीं-कहीं नैतिक उपदेश उपलब्ध हो जाते हैं। जोइन्दु (योगीन्दु) का परमात्मप्रकाश^१ और योगसार^२, मुनि रामसिंह का पाहुड़दोहा^३, सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार^४ इसी कोटि के मुक्तक काव्य हैं। इनमें सूक्तियाँ तो बहुत हैं परन्तु उपयुक्त प्रबन्ध-काव्यों की-सी सरसता का प्रायः अभाव है। निदर्शनार्थं एकाध उदाहरण ही पर्याप्त होगा।

पंचहुं सायकु बसि करहु जेण होंति बसि अण्य ।

मूल बिणट्ठइ तरवरहुं, अवसाहि सुषर्कहि पण्य ॥^५ (योगीन्दु)

‘पाँच इन्द्रियों के नायक (मन) को वश में करो जिससे अन्य भी अधीन हो जाते हैं। वृक्ष का मूल नष्ट होने पर पत्ते अवश्य सूख जाते हैं।’

(१) उपदेशात्मक धारा

कई जैन विद्वानों ने कतिपय ऐसे मुक्तक काव्यों का भी सर्जन किया जिनका उद्देश्य ही व्यावहारिक उपदेश देना था। ऐसे ग्रन्थों में देवसेन का ‘सावयधम्म दोहा’ सर्वप्रथम हमारे समक्ष आता है। मंगलाचरण और दुर्जन स्मरण के अनन्तर कवि ने दोष-त्याग, अहिंसा-पालन, इन्द्रिय-निग्रह, मनवचकाय-शुद्धि आदि विषयों पर सुन्दर अनुभव-पूर्ण मुक्तकों की रचना की है। जैसे—

भोगहुं करहि पमाथु जिय, इन्द्रिय म करि सबप्य ।

हुंति ए भल्ला पोसिया, दुखे काला सप्य ॥^६

‘हे जीव, भोगों का सीमित उपभोग कर। इन्द्रिय को सदप्य मत होने दे। दूध से कृष्ण-सर्प का पोषण भला काम नहीं।’

अं बिज्जइ तं पाबिअइ, एउ ए बयण विसुद ।

गाइ पइणइ लउभुसई, कि ए पयच्छइ दुदु ॥^७

‘क्या यह बात सत्य नहीं है कि जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है? नाय को खली-भूसा खिलाने पर क्या वह दूध नहीं देतो?’

१-२. (रचनाकाल ८-६ बी० शती), अपभ्रंश साहित्य, पृ० ४०६

३. (रचनाकाल १०५७ वि० लगभग) " " "

४. (रचनाकाल ११-१३ बी० शती) " " ४१०

५. सं० राष्ट्रल सांस्कृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ २४८।२६३

६. सं० राष्ट्रल सांस्कृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७०।६५

७. सावयधम्मदोहा, नामवरसिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग (प्रयाग, १९५४)

पृष्ठ ३२६।१७

जिनदत्त सूरि^१ का 'उपदेश-सायन रास' ८० पद्यटिका छन्दों का लघुकाय मुक्तक काव्य है। इसमें जहाँ उपयुक्त जैनप्रिय नैतिक विषयों का वर्णन है वहाँ धर्मकार्यार्थ की गई हिंसा की प्रशंसा भी है—

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ,
पर मारइ कीवइ जुज्झंतउ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासई,
परम पइ निवसइ सो सासइ ॥^२

'यदि कोई धार्मिक मनुष्य धर्मकार्य की सिद्धि के निमित्त युद्ध करता हुआ दूसरे को मार भी डालता है तो भी वह धर्मच्युत होकर नष्ट नहीं होता, अपितु परम-पद प्राप्त करता है।'

'काल स्वरूप कुलक' या 'उपदेश कुलक' सूरि जी की केवल २ पद्यों की रचना है परन्तु उसमें नीति के उपदेश सुन्दर दृष्टान्तों से समर्थित हैं। जैसे—

कज्जउ करइ बुहारी बढी,
सोहइ गेहु करेइ समिढी।
जइ पुरा सा वि बुयं बुय किज्जइ,
ता कि कज्जतीह साहिज्जइ ॥^३

'बंधी हुई बुझारी कार्य करती है। वह घर को स्वच्छ और समृद्ध करती है। परन्तु यदि उसकी तीलियाँ पृथक्-पृथक् कर दी जाएँ तो उससे क्या कार्य सिद्ध हो सकता है?'

महेश्वर सूरि^४ की 'संयम मंजरी' के वर्ण्य विषय का अनुमान पुस्तक के नाम से ही हो जाता है। ३५ दोहों की इस पुस्तिका में कवि ने १७ प्रकार के संयमों का निरूपण कर जीवहिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, पग्निग्रह आदि को पातक कहा है। इन्द्रिय-दोष-जन्य आशु विनाश का उल्लेख कवि इस प्रकार करता है—

गय मय महुअर अस सलह नियनिय विसय पसल।
इक्किक्केण इ इन्दिगण बुक्ख निरंतर पल ॥
इक्किणि इन्दिग मुक्कलण लब्भइ बुक्खसहस्स।
जस पुरा पंचइ मुक्कला कहकुसलत्तण तस्स ॥^५

अर्थात् गज, मृग मधुकर, मीन और शलभ स्व-स्व विषय में आसक्त होकर

१. जीवन-काल सं० ११३२-१२१० अथभ्रंश साहित्य, पृष्ठ २८८-२८९।

२. अथभ्रंश काव्यत्रयी' में संकलित उपदेशरसायनरास, पद्य २६।

३. कालस्वरूप कुलक. पद्य २७, अथभ्रंश काव्यत्रयी पृष्ठ ७८ पर उद्धृत।

४. सं० १५६१ से पूर्व: अथभ्रंश साहित्य पृष्ठ २६५।

५. संयममंजरी, बोहा १७-१८, अथभ्रंश साहित्य पृष्ठ २६५।

एक-एक इन्द्रिय द्वारा ही निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं। एक-एक इन्द्रिय की सदोषता से जब सहस्र दुःख प्राप्त होते हैं तब जिनकी पाँचों ही इन्द्रियाँ उच्छृंखल हों उसका श्लेष्म कहाँ !

‘चूनड़ी’^१ की रचना भट्टारक बालचन्द के शिष्य भट्टारक विनयचन्द ने की थी। वैसे तो चूनड़ी स्त्रियों के रंग-विरंगे दुपट्टे को कहते हैं किन्तु इस कृति में एक कामिनी निज कन्त से ऐसी चूनड़ी की प्रार्थना करती है जिसे ओढ़कर वह जिन-शामन में विचक्षण हो जाए। इसी बात को ध्यान में रखकर कवि ने धर्म और सदा-चारमयी चूनड़ी ओढ़ने का उपदेश दिया है।

वीरचन्द के शिष्य महचन्द की कृति ‘वारस्करी दोहा’ (बारह खड़ी दोहा) के रचना-काल के विषय में कुछ कहना कठिन है, किन्तु ब्रह्मसाल्हा के शिष्य चाहुड़ सोगाणी ने सं० १५६१^२ में इसकी प्रतिलिपि की, अतः यह उससे पूर्व की ही रचना हो सकती है। १२ पत्रों की यह अप्रकाशित रचना जयपुर के तेरहपंथी बड़ा मन्दिर में^३ विद्यमान है। रचना का महत्त्व विषय की अपेक्षा शैली के कारण अधिक है। इसमें वर्ण-माला के एक-एक अक्षर से कई-कई दोहों का प्रारम्भ होता है। एक दोहा द्रष्टव्य है—

कूड चित्त तिय संपडा, गुरु बयनं कुद क्षत्त।

अछहि कोल्हव वसहु जिम, एर संसारि भमंत ॥^४

‘कूड-चित्त, स्त्रीलंपट, तथा गुरु के वचन खंडित करने वाला व्यक्ति संसार में पुनः पुनः ऐसे आता है जैसे कोल्ह का बेल।’

मुक्तकों का यह वर्ण निम्नलिखित कारणों से पाठकों का ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित कर लेता है—

(१) चूँकि यह सामाजिक जीवन के उत्थानार्थ लिखा गया है, और सामाजिक जीवन की इकाई ग्राहस्थ है इस लिए इसमें न गृहस्थाश्रम की अनुचित गहीं हैं न नारी की।

(२) विधर्म होने पर सी माता-पिता की सेवा करना तथा बन्धु-बांधवों से मिल-जुलकर रहना, इस काव्य के विशेष उपदेश हैं।

१. इस पुस्तिका की रचना गिरिपुर में, सं० १५७६ से पूर्व की गई। देखें ‘सिद्ध साहित्य,’ पृ० २६६

२. पुस्तक के अन्त में यह पाठ है—‘इति बारस्करी दोहामह्यंदकृत समाप्तः। संबत्-१५६१ वर्षे पोष सु १२, वृत्पति वासरे, रोहिंगि नक्षत्रे लिप्यतः...’ चाहुड़ सोगाणी लिखतं कर्मक्ष यनिमिस्ति।

३. बेठन संख्या १६५३, प्रति का क्रमांक १८२५।

४. बारस्करी दोहा, पत्र १।१२॥

- (३) सांसारिक भोगों की अनुचित निन्दा नहीं है, त्याग-भाव से सुख भोगने तथा दानादि द्वारा समाजोत्थान की प्रेरणा प्राप्त होती है ।
- (४) गृहस्थों के पूजा-स्थानों के विधि-विधानों का भी पर्याप्त निर्देश किया गया है ।

२. ऐहिक साहित्य में नीतिकाव्य

ऊपर कह चुके हैं कि सिद्धों तथा जैनों की अपभ्रंश रचनाओं का मुख्य उद्देश्य ऐहिक न होकर आध्यात्मिक, धार्मिक व पारलौकिक था । तो भी अपभ्रंश में कुछ ऐसी भी कृतियों का प्रणयन हुआ जिन का लक्ष्य केवल ऐहिक था । उनके भी दो रूप हैं—(क) मुक्तक (ख) प्रबन्ध ।

(क) ऐहिक मुक्तक काव्य

इस वर्ग के पद्य न संख्या में बहुत अधिक हैं और न उनका कोई स्वतंत्र संग्रह ही उपलब्ध होता है । वे प्रबन्धों तथा व्याकरण, छंद, अलंकार आदि के ग्रंथों में छिट-पुट रूप से बिखरे हुए हैं । नीति, वीरता, शृंगार, वैराग्य आदि विषयों के ये पद्य चंड के 'प्राकृत लक्षण', भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण', 'प्राकृत पैंगल' 'प्रबन्ध चिन्ता-मणि' और सब से अधिक हेमचन्द्र के 'सिद्ध हैम शब्दानुशासन' नामक व्याकरण-ग्रंथ में उपलब्ध होते हैं । ये मुक्तक संख्या में अल्प होते हुए भी साहित्यिक सौन्दर्य से छलक रहे हैं । इनकी विविधता तथा सरसता हेमचन्द्र के व्याकरण से उद्धृत निम्नांकित दोहों से भली भांति अनुमित की जा सकती है—

कहि ससहस्र कहि मयरहस्र कहि बरिहियु कहि मेहु ।

दूर-ठिप्राहं वि सज्जन हं, होइ असड्डलु नेहु ॥^१

'चन्द्र कहाँ है और समुद्र कहाँ, मेघ कहाँ है और मोर कहाँ । सज्जन एक-दूसरे से चाहे दूर रहें, उनका अनुराग तो निराला ही होता है ।'

गुणीह न संपइ किति पर फल लिहिआ भुञ्जति ।

केसरि न लहइ षोडिअ वि गय लखेहि घेष्मति ॥^२

गुणों से सम्पत्ति नहीं, कीर्ति प्राप्त होती है । मनुष्य भाग्य के लेखानुसार फल भोगता है । सिंह के लिए कोई कौड़ी भी नहीं देता और हाथी लाखों रुपयों से खरीदे जाते हैं ।

(ख) ऐहिक प्रबन्ध काव्य

अभी तक दो ही ऐहिक अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्य उपलब्ध हुए हैं—ग्रहमाण

१. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण (प्र० मोतीलाल शुक्लाजी, पुना, १९२८ ई०) = ८।४।४२२

२. वही, ८।४।११५

(अम्बुन रहमान) का 'संनेहरासय' (संदेशरासक) तथा विद्यापति की 'कीर्ति लता' । 'संनेहरासय' एक संदेश-काव्य है जिसमें कवि ने अत्यन्त मार्मिक भाषा में प्रोषित-पतिका की वेदना का वर्णन किया है । वह अपने प्रियतम को किसी पथिक द्वारा शीघ्र लौटने का संदेश भेजती है और अन्त में युगल का मिलन हो जाता है । विरह-वेदना से पूर्ण यह काव्य, नीतिकाव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता फिर भी प्रसंगवश आए हुए कुछ नीति-पद्य यत्किंचित् चमत्कार रखते ही हैं । जैसे, ग्रन्थारम्भ में कवि वियन-प्रदर्शन करता हुआ कहता है—'निशानाथ के उदय पर क्या नक्षत्र नहीं चमकते ? यदि तरु-शिखर पर आसीन कोयल सुमधुर कूजन करती है तो क्या कोए कांव-कांव करना त्याग देते हैं ? यदि त्रैलोक्य-पावनी सागराभिमुख बहती है तो क्या अन्य सरिताएँ बहना बंद कर देती हैं ? यदि चतुर्वंदन ब्रह्मा ने वेदों का प्रकाश किया तो क्या अन्य कवि काव्य-रचना त्याग दें ? नहीं, जिसमें जो शक्ति हो उसका प्रकाशन करना ही चाहिए ।'^१

'कीर्तिलता' में विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह के पराक्रम व कीर्ति का वर्णन किया है । पुस्तक आद्यन्त छन्दोबद्ध नहीं है, बीच-बीच में गद्यांश आने के कारण चम्पू-सी लगती है । नीति के पद्य कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं; जैसे—

पुरिसत्सरोन पुरिसघो नहि पुरिसघो बम्भमसेन ।

जसदानेन हु जलघो नहु जलघो पुंजिघो घूमो ॥^२

'पुरुषत्व से ही पुरुष का सार्थकता है, जन्म-मात्र से पुरुष, पुरुष नहीं बनता । जल-दान से ही मेघ जलद कहलाता है, पुंजित घूएँ को जलद नहीं कहते ।'

सो पुरिसघो जसु मानो सो पुरिसघो जस्स अन्धेन सति ।

इअरो पुरिसाआरो पुच्छ विहूना पसू होइ ॥^३

'पुरुष वही है जो मानवान् है, पुरुष वही है जिसमें धनोपार्जन की शक्ति है । शेष तो पुच्छहीन पशु ही हैं, आकार पुरुष का हुआ तो क्या !'

अपभ्रंश नीतिकाव्य की समीक्षा

यद्यपि अभी तक अपभ्रंश भाषा में विशुद्ध नीति-परक काव्य-ग्रंथ एक भी उपलब्ध नहीं हुआ तथापि उपर्युक्त धार्मिक और ऐहिक काव्य-ग्रन्थों में ऐसी पर्याप्त

१. सं० मुनि जिनविजय व हरिवल्लभः संदेशरासक, (प्र० भारतीय विद्याभवन, बम्बई वि० २००१) १।८-१७।

२. सं०—डा० बाबूराम सक्सेनाः कीर्तिलता (प्र० इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९८६ वि०) पृष्ठ ६।

३. वही, पृष्ठ ६।

सामग्री बिखरी पड़ी है जो निस्सन्देह नीतिकाव्य के अन्तर्गत मानी जा सकती है। उस पर दृष्टपात करने से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश-कवियों ने छहों प्रकार की नीति से सम्बद्ध काव्य-रचना की है।

वैयक्तिक नीति

शरीर के सम्बन्ध में अपभ्रंश के नीतिकाव्य में दो प्रकार के विचार दिखाई देते हैं। कहीं तो शरीर को तीर्थतुल्य और देवल-सदृश कहा है और कहीं पर उसे अत्यन्त मलिन और घृणास्पद। सिद्धों ने तो काया की निंदा नहीं की, परन्तु जैन मुनियों ने निंदा-स्तुति दोनों की हैं। कारण यह कि सिद्ध तो जीवन के सुखों को सहज भाव से भोगने के पक्षपाती थे और महामुख की प्राप्ति भी शारीरिक साधनाओं द्वारा ही सम्भव थी, परन्तु जनों का दृष्टिकोण विरक्ति-प्रधान ही रहा। उन्होंने काया को देवल-तुल्य इसीलिए कहा है कि उसी में आत्मसाक्षात्कार की सम्भावना है। जहाँ शरीर को दुर्गन्धगार वा मल-भंडार कहा है वहाँ इसलिए कि लोग शारीरिक भोगों को ही चरम लक्ष्य मान कर परम ध्येय से पराङ्मुख न हो जायें। निम्नांकित उद्धरणों से उपर्युक्त द्विविध दृष्टिकोण का समर्थन होता है—

(१) जैनः देहादेवलं सिव वसइ तुहुं देवलइं विएहि ।^१

(२) बौद्धः देहा सरिसमा तित्थ, मइं सुह घण्ण ए बिदुओ ।^३

(३) जैनः जोव्वणु गंडहों अणुहर माणउ । सिह णालियर-करं-समाणउ ।^४

कहना न होगा कि प्रथम दो अवतरणों में काया की पवित्रता और तृतीय में गहंता का उल्लेख है। परन्तु यहाँ यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि सुख-भोगों में 'अति' अर्थात् सीमोत्तंघन और आसक्ति को सरहपा बुरा समझते थे—

विस आससि म बन्ध करु, अरे बडु ! सरहें वुत्त ।

मीण-पद्मंगम-करि-भमर, पेक्खह हरिणहें वुत्त ॥^५

'सरह कहते हैं—अरे मूढ़ विषयासक्ति-रूपी बंधन में मत फँसो। देखो, उस बंधन में फँसने से मछली, शलभ, गज, भैंवर और मृग की क्या दशा हुई।'।

अधिकतर अपभ्रंश-साहित्य की रचना बौद्ध-सिद्धों तथा जैन-मुनियों द्वारा होने के कारण उस में ऐहिक विद्याओं के उपाजनों पर बल नहीं दिया गया। अधिक ग्रन्थों के अध्ययन से मनुष्य प्रायः आध्यात्मिक जीवन से विमुख हो जाता है जो इन

१. सरहपा : बोहाकोष, जे० डी० एल० कलकता, भाग २८, पृष्ठ १२।२४।

२. रामसिंह : पाठुडु बोहा, (करंजा, १९३३) पृष्ठ ५६।

३. सरहपा : बोहाकोष, जे० डी० एल० कलकता, भाग २८, पृष्ठ १५।४८।

४. स्वयम्भू : रामायण ५४।११, हि० का० धा०, पृष्ठ ११२ पर उद्धृत।

५. सरहपा : बोहाकोष, जे० डी० एल० कलकता, भाग २८, पृष्ठ १६।७१।

सिद्धों और मुनियों का मुख्य लक्ष्य था। इसीलिए इस साहित्य में प्रायः पोथी-पत्रे की उपेक्षा ही देखी जाती है। कण्हपा का कथन है—

आगम-वेध-पुराणे (हि), पण्डित मारण वहन्ति ।

पक्क सिरीफले अलिघ्न जिम, बाहेरीघ्न भमन्ति ॥^१

‘पंडित लोग शास्त्र, वेद और पुराण पढ़कर अभिमानी बन जाते हैं, वास्तव में उनकी दशा उन भँवरों की-सी है जो पके हुए श्रीफल के बाहर ही मँडराया करते हैं।’

योगीन्द्र भी शास्त्राध्ययन-जन्य जड़त्व का उल्लेख करते हुए आध्यात्मिकता पर ही अधिक बल देते हैं—

सत्यं पदं तु वि होइ जड़, जो एण हरोइ विघ्नपु ।

देहि बसंतु वि शिम्मलउ, एवि मण्णइ परमपु ॥^२

‘जो मनुष्य मन के विकल्पो का नाश नहीं करता तथा शरीर में वर्तमान निर्मल आत्मा को परमात्मा नहीं मानता, वह शास्त्र पढ़ता हुआ भी मूर्ख ही है।’

आत्मिक नीति के क्षेत्र में अपभ्रंश-कवियों का योगदान प्रशंसनीय है। प्रायः सभी लेखकों ने सदाचार, परोपकार, संतोष, धर्मचिरण, व्यसन-त्याग आदि सद्गुण अपनाने तथा दुर्गुणोत्सर्ग पर विशेष बल दिया है। सरस्वा दान और परोपकार में ही जीवन की साधकता समझते हैं—

पर ऊमार ए कीमऊ अत्थि ए बीमऊ दाए ।

एहु संसारे कबण फलु बरच्छइहु अण्णए ॥^३

देवसेन के विचार में मदिरापान सर्वगुणों का नाशक है—

महु आसायउ थोइउवि एासह पुण्ण बहुत्तु ।

बइसाणरहु तिडिबकडइ काणखु उहइ महत्तु ॥^४

अर्थात् थोड़े से भी मदिरापान से बहुत गुणों का ऐसे ही नाश होता है जैसे अग्नि की चिनगारी से भारी जंगल का।

पारिवारिक नीति

जहाँ अपभ्रंश-कवियों ने पारिवारिक जीवन की जड़ों पर कुठाराघात करने वाले वेदयागमन,^५ परकलत्रानुराग, दासी-प्रेम आदि व्यसनो की तीव्र आलोचना

१. कण्हपा : बोहाकोष, बही पृष्ठ २४।२।

२. योगीन्द्र : परमात्मप्रकाश, हि० का० भा०, पृष्ठ २४८।२०६।

३. सं० विद्योगी हरि : संत सुधासार, पृष्ठ ६।१२।

४. देवसेन : साव्यषष्मदोहा, २३, हि० का० भा०, पृष्ठ १६८।२३।

५. जिनबत्तसूरि : उबएसरसायखु, हि० का० भा०, पृष्ठ ३५५।

की है वहाँ कोटुम्बिक जीवन को स्वर्गमय बनाने के लिए निम्नलिखित उपकरणों की सत्ता आवश्यक कही है—

सुधम्मचित्ता गुरुवत्तपुत्ता सुकम्मरत्ता विण्णया कलत्ता ।

विसुद्ध-वेहा धणवत्तगेहा कुणति के बम्बर सगगणेहा ।^१

इसके विपरीत जैन कवियों की रचनाओं में आध्यात्मिक स्वर के अधिक मुखर हो जाने के कारण, कोटुम्बिक तथा सामाजिक सम्वन्धों को झूठा ही बताया गया है । जैसे—

जगे जीवहो एणहि सहाउ कोवि । रइ बंधइ मोहवसेण तोवि ।

इय घर इउ परियणु इउ कलत्तु । एउ बुज्झइ जिह सयलोहि चित्तु ॥^२ (स्वयम्भू)

ऐसा होने पर भी, माता-पिता के विधर्मी हो जाने पर उनकी भोजन-वस्त्र आदि से सेवा करने तथा उनके साथ विवाद न करने का उपदेश दिया गया है ।^३ सामाजिक नीति

सामाजिक नीति में गुरु के महत्त्व का बहुत बखान किया गया है । उसके दर्शन को महाफल-दायक तथा उसकी शिक्षा को अत्यन्त कल्याणकारिणी माना है । कारण यह कि इस साहित्य में गुरु का अभिप्राय सामान्य अध्यपक न होकर आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक से है । वस्तुतः साधना के पथ पर वही चला सकता है, पुस्तकी विद्या से काम नहीं बनता । इसी प्रकार जैन मुनियों के दर्शन और पूजन पर भी पर्याप्त बल दिया गया है ।

जिएण कय नाणा चित्तइं, चित्त हरंति सहु ।

तसु बंसण विण पुनिहि, कउ लब्भइ कुलहु ॥^४ (जिनदत्त सूरि)

इस काव्य में दिखावे-मात्र के लिए किये गए वेद-पाठ, यज्ञ-याग, दंडधारण, भस्मलेप, जटाधारण, आसन लगाना, तीर्थयात्रा, मंत्र-पाठ, देवता-पूजन आदि रूढ़ियों का प्रबल खंडन किया गया है ।^५ यह बात विशेष लक्ष्य करने की है कि जहाँ सिद्ध-कवियों ने जात-पात का प्रबल खंडन किया है, वहाँ जैन-लेखकों ने, अपने पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों के विपरीत, जात-पात की रक्षा पर बल दिया । जैसे—

बेट्टा-बेट्टी परिणविज्जहि । तेवि समाण धम्म-धरि विज्जहि ॥

विसमधम्म-धरि जइवीवाहइ । तो सम्मत्तु सु निच्छइ वाहइ ॥^६

(जिनदत्त सूरि)

१. हि० का० धा०, पृष्ठ ३१४।११७ ।

२. स्वयम्भू, रामायण ५४।७, हि० का० धा० पृष्ठ १२० पर उद्धृत ।

३. उवएस रसायण, पद्य ७६, 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' में संकलित ।

४. जिनदत्त सूरि, चाचरि ७, हि० का० धा०, पृष्ठ ३५० पर उद्धृत ।

५. हि० का० धा०, पृष्ठ ४, २५६ ।

६. जिनदत्त सूरि, उवएस रसायण ६३, हि० का० धा०, पृष्ठ ३५४ पर उद्धृत ।

ऐहिक तथा आधुनिक, शारीरिक, आर्थिक आदि विषयताओं का कारण इन लेखकों के मत में धर्म और पाप ही था । स्वयम्भू कहते हैं—

धर्मे बर-पल्लवं सुता । पावे तिर-संधारे बिभुता ।

धर्मे एर बेबत्ता पता । पावे एरयधोरे संकता ॥

धर्मे सुं बच संग एवदुड । पावे पंगुलड बि बिहरंघड ॥^१

इस काव्य में सामाजिक संगठन पर इतना बल लक्षित नहीं होता जितना वैयक्तिक कल्याण पर । जैसे—

एकरोष भवेब्बड भवसमुदे । कमोह मोह जलयर-रउदे ।

एकहो जे बुक्ख, एकहो जे सुक्ख । एकहो जे बंधु एकहो जे मोक्ख ॥^२

आर्थिक नीति

अपभ्रंश-काव्यों में निर्धनता-मय जीवन की निन्दा तथा सुखी जीवन की प्रशंसा उपलब्ध होती है । कारण यह कि धन के बिना मान और सुख भी नहीं मिलता । परन्तु, धन को जैसे-तैसे भी उपाजित करने का तथा उसका केवल अपने लिए उपभोग करने का निषेध है । पर-धनहरण का प्रत्याख्यान तथा सुपात्र को दान का प्रत्यक्ष विधान उपलब्ध होता है । निम्नोद्धृत पद्य उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हैं—

रिद्धि बिहणह माणसह, न कुणइ कुवि सम्माण ।

सउल्लिहि मुंक्खइ कलरहिउ, तरवर इत्यु पमाण ॥^३ (सोमप्रभ)

पुरिसि पुरिसिब्बड पालिब्बड । परधण परकलत्तुणउ लिब्बड ।

तं बल जं अबिणासिय धर्मे । लवभइ पुव्वकिक्खं सुहकम्मे ॥^४ (धनपाल)

इतर-प्राणविषयक नीति

राजनीतिक कारणों से जब युद्ध अनिवार्य हो जाता तब तो पर-पक्ष के योद्धाओं का संहार भी निन्द नहीं माना जाता था, परन्तु सामान्य स्थिति में मनोविनोद अथवा जिह्वा-लील्य के कारण श्लेष वा पशु-हिंसा तक को इस साहित्य में त्याज्य ही कहा गया है । कारण यह कि अधिकतर अपभ्रंश साहित्य जैन-विद्वानों की कृति है और वे जीवहिंसा को घोरतम पाप तथा जीवदया को महत्तम पुण्य मानते हैं । देवसेन की उक्ति है—

१. स्वयम्भू, रामायण २८।६, हि० का० घा०, पृष्ठ १३० पर उद्धृत ।

२. " " ४५।७ " " " " ।

३. सोमप्रभ : कुमारपाल प्रतिबोध, हि० का० घारा, पृष्ठ ४१० पर उद्धृत ।

४. धनपाल : भविस्यत्तकहा, पृष्ठ २०, हि का० घा०, पृष्ठ २६८ पर उद्धृत ।

मरण-वध-कामहि वय करहि, जेस ए दुखकइ पाउ ।

उरि सषणाहि बढइए, प्रवसि न लगइ बाउ ॥^१

मिश्रित नीति

मिश्रित नीति के अन्तर्गत अपभ्रंश-काव्यों में मनुष्य-जन्म को बहुत दुर्लभ तथा गर्भवास और आश्रयमान को दुःखों का मूल कहा गया है। पूर्व कर्मों की महिमा भी पर्याप्त वर्णित है। अधिकतर कवियों ने संसार को तुच्छ मानकर उसके भोगों को हेय तथा वैराग्य को उपादेय माना है। धर्माचरण पर बहुत बल दिया गया है तथा भाग्य की रेखाओं को अमिट कहा है। जिनदत्त सूरि का कथन है—

लब्धउ माणस-जन्मु महारहु । अप्पा भवसमुहि गउ तारहु ।

अप्पु म अप्पहु रायह रोसह । करहु निहाणु म सबह बोसह ॥^२

(जिनदत्त सूरि)

जब कुलीन और वदान्य युधिष्ठिर-से भी संकट-मुक्त न रह सके तब भाग्यलेख को अमिट ही समझना चाहिए—

पंडव-वंसहि जन्म धरोजं । संपन्न प्रजिज्ज धम्मक विज्जं ।

सोउ जुहुट्टिठर संकट पावा । देवक लेखिल केण भेटावा ॥^३ (प्रज्ञात कवि)

अधिकतर अपभ्रंश-काव्य की रचना सामन्त-काल में हुई जब विभिन्न प्रदेशों के वीर तथा भोगी नरेश तनिक-सी बात पर तुनककर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते थे। अतएव इस साहित्य में राजाओं, मंत्रियों, उनकी पत्नियों, रण-यात्राओं, युद्धों, युद्ध में छल आदि पर तो पर्याप्त लिखा गया, परन्तु जन-सामान्य-सम्बन्धी नीति यहीं तक सीमित रही कि वे राज-हित के निमित्त प्राणों को वीरता-पूर्वक ग्योछावर करने के लिए बद्ध-परिकर रहें। युद्ध से विजेता के रूप में लौटना अप्रतिम सम्मान माना जाता था। रण क्षेत्र में प्राण-विसर्जित करना भी कम गौरवास्पद न था परन्तु जीते-जी कीर्ति का प्राप्ति उत्कृष्टतर समझी जाती थी—

१. मन, वचन और कर्म से दया करो जिससे कि पाप पास न फटकने पाए। जब छाती पर कवच बांध लिया जाता है, तब घाव से अवश्य बचाव रहता है।

सावय धम्म दोहा, ६०, हि० का० घा०, पृष्ठ १६८ पर उद्धृत।

२. अत्यन्त मृत्युवाञ्छु मनुष्य-जन्म प्राप्त करने के बाद अपने को संसार-सागर के पार पहुँचाओ।

राग और रोष तथा अन्य समस्त दोष अपने में न धुसने दो। (उपएस रसायन

२, हि० का० घा०, पृष्ठ १५६ पर उद्धृत)।

३. प्राकृत-पैंगल में संगृहीत, हि० का० घा०, पृ० ४६४ पर उद्धृत।

किसी सा सलहिज्जइ जा सुखीइ अप्परोहि कखरोहि ।

एक्का मुअण सुअरि ! सा किसी होउ ना होउ ॥^१ (अज्ञात कवि)

रस और भाव

यद्यपि अधिकतर अपभ्रंश-साहित्य धार्मिक तथा अध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रचा गया तो भी सरहपा, काण्हपा आदि कतिपय सिद्धों की विद्वत्ता तथा अधिकतर जैन व अन्य कवियों की काव्य-कुशलता के कारण उसका नीतिकाव्य पर्याप्त अंश तक नीरस होने से बच गया । नीति-काव्य में शान्त, शृंगार तथा वीर रस का बाहुल्य है और बीभत्स तथा हास्य-रस की न्यूनता । कवियों की सूक्तियों में यथास्थान और यथा-अवसर प्रसाद, भोज तथा माधुर्य भी लक्षित होते हैं । निम्नांकित पद्य में नीति तथा शृंगार का कल्पना-प्रधान मिश्रण द्रष्टव्य है—

कोडेंति जे हियइउ अप्पणउ, ताहें पराई कवण वुल ।

रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा, बालहे जाया विषमयल ॥^२

युद्ध-वीर तथा दान-वीर का सुन्दर निदर्शन निम्नलिखित दोहे में देखा जा सकता है—

जीविउ कासु न बल्लहु, अणु पुणु कासु न इट्ठु ।

बोण्णिअि अवसर निबडिअइं, तिए सम नणइ विसिट्ठु ।^३

“जीवन किसे प्यारा नहीं लगता और धन कौन नहीं चाहता ? परन्तु, श्रेष्ठ लोग अवसर या पड़ने पर दोनों को तिनके के समान तुच्छ ही मानते हैं ।”

निर्वेद, श्रद्धा तथा हास्य का मिश्रण निम्नोद्धृत दोहे में अवलोकनीय है—

संता विसय जु परिहरइ, बलि किउअउ हउं तामु ।

सो इइवेण जि मुडियउ, सोस खडिल्लउ जामु ॥^४ (योगीन्दु)

‘जो विद्यमान भोगों को त्याग सकता है, मैं उस पर बलि-बलि जाता हूँ । जिस का सिर देव ने ही गंजा बना दिया है, उसे मुण्डो बनने का श्रेय कहीं !”

कहीं-कहीं नीति की एक ही बात को हृदयंगम कराने के लिए ऐसे अनेक सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किये गए हैं जिनसे कई नैतिक उपदेश स्वतः एव हृदयांकित हो जाते हैं । जैसे—

१. हे सुअरि, कीर्ति वही इलाध्य है जो अपने कानों से सुनी जाती है । मृत्यु के बाद कीर्ति का होना न होना समान ही है । (हि० का० भा०, पृ० ४७८ पर उद्धृत)

२. जगन्नाथराय शर्मा, अपभ्रंश बर्णण, (पटना, सं० १९९८), पृ० १ ।

३. हेमचन्द्र सूरि : प्राकृत व्याकरण, हि० का० भा०, पृष्ठ ३८२ पर उद्धृत ।

४. योगीन्दु : परमप्ययसु (परमार्थप्रकाश), पद्य २७०, अपभ्रंश काव्यजयी, भूमिका-पृष्ठ १०३ पर उद्धृत ।

रिगभोगिस्ते संखिय बचिरां । रिगभोहे बरभारिणि रमरां ।

अबिय अपसे बिष्णुं बाणं । मोह-रयंवे धम्म-बन्तारं ॥^१ (पुष्पवन्त)

“मोह-रूपी घूल से अन्धे हुए व्यक्ति को धर्मोपदेश ऐसे ही व्यर्थ है जैसे कंजूस के लिए संगृहीत धन, अनेह-रहित के लिए सुन्दरी-संभोग तथा अपात्र को दिया हुआ दान ।”

बीभत्स रस की व्यंजना देह की दुर्गन्धमयता के प्रकरण में पीछे देख ही चुके हैं ।^२

यह रस-परिपाक मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्यों में अधिक देखने में आता है । सीता की अग्नि-परीक्षा के प्रसंग में राम ने स्त्रियों को अशुद्ध, निलंज, कुटिल-मति, घृष्ट, गुणहीन, कुल-कलंकिनी आदि कहा था ।^३ इस पर सती सीता ने बीर-रसमयी वाणी में राम के आक्षेप का प्रतिवाद करते हुए पुरुषों से स्त्रियों को इस प्रकार उत्कृष्ट बताया—

ससि सकलंकु तहि जि पहणिम्मल । कालउ मेहु तहि जि तडि उज्जल ।

उबलु अपुम्बु ए केण वि छिप्पइ । तहि पडिम चंदणेण बिलिप्पइ ।

दोबउ होइ सहावें कालउ । बट्ठिसिहए मंडिज्जइ आलउ ।

एर-एरिहि एबड्डउ अंतउ । मरणे वि वेत्ति ए मेत्तिइ तदवव ॥^४

“चंद्र कलंकी होता है और उसकी प्रभा निर्मल, मेघ काला होता है और विद्युत् उज्ज्वल, पत्थर अपूज्य होता है, उसे कोई छूता भी नहीं, परन्तु उसीसे बनी हुई प्रतिमा को चंदन-चर्चित किया जाता है । दीपक स्वभाव से श्याम होता है, परन्तु उसकी बत्ती की लौ से घर जगमगा उठता है । नर और नारी में यही अन्तर है कि मरने पर भी बत्ती वृक्ष से विलग नहीं होती ।”

काव्य-विधान

काव्य-विधान के विचार से अपभ्रंश का नीतिकाव्य द्विविध रचनाओं में उपलब्ध होता है—प्रबन्ध और मुक्तक । मुक्तक रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं—पद तथा छन्दोबद्ध । प्रबन्ध-काव्यों तथा छन्दोबद्ध मुक्तकों की रचना जैन-कवियों ने की और पदों तथा छन्दोबद्ध मुक्तकों की रचना सिद्धों ने । सिद्धों के चर्यापदों में रहस्यमय भावनाओं का आधिक्य है और नीति की न्यूनता । हाँ, उनके दोहों में नीति का निस्सन्देह प्राचुर्य है । सिद्धों के ५० पद उपलब्ध हुए हैं जिनमें से लुईपा, भुमुकुपा, काण्हापा, सरहपा और जयनन्दीपा के आठ^५ पदों में स्पष्ट रूप से नीति पाई जाती है ।

१. पुष्पवन्त : असहरचरिउ (पृ० १६), हि० का० धा०, पृष्ठ २३२ पर उद्धृत ।

२. देखें ‘जैन प्रबन्ध-काव्यों में नीति’ (पीछे) ।

३. तिहुयल सयंभु : सियबिम्बकहारणउ, अपभ्रंश पाठावली (ग्रहमदाबाद, सं १९६२) पृष्ठ २१ पर उद्धृत ।

४. वही, पृष्ठ २४ पर उद्धृत ।

५. डा० जर्मबीर भारती : सिद्ध साहित्य (प्रयाग, १९५५), पृष्ठ २५६ ।

प्रत्येक पद के साथ भैरवी, गुंजरी, आदि विशिष्ट राग का नाम भी निदिष्ट है और उनकी कुल संख्या १८ है ।

भाषा

जैन विद्वानों ने अपनी कृतियों में पश्चिमी (शौरसेनी) अपभ्रंश का प्रयोग किया है, परन्तु सिद्धों की समस्त कृतियों की भाषा एकरूप नहीं है । चर्यापदों की भाषा पुरानी बंगाली है । दोहा-कोषों की पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश है, किन्तु पूर्वी प्रांतों में लिखी जाने के कारण उसमें अनेक पूर्वी रूप तथा वाग्धाराएँ समाविष्ट हो गई हैं ।^१ चूंकि पश्चिमी अपभ्रंश में दोहों की परम्परा पहले से प्रचलित थी, इसलिए सिद्धों ने दोहा-रचना में उसी भाषा को अपनाना उचित समझा । अपभ्रंश-नीतिकाव्य की भाषा प्रसाद-पूर्ण और भाव व्यंजना में समर्थ है । संस्कृत के समान उसमें लंबे-लंबे समास नहीं हैं । दो से अधिक शब्दों के समास कदाचित् क्वचित् ही दिखाई देते हैं । भाषा में लोकोक्तियों तथा वाग्धाराओं की मात्रा भी अच्छी है । उनमें से कुछ तो निस्सन्देह पुरानी हैं और कुछ प्रचलित भाषा से ली गई प्रतीत होती हैं । जैसे—

चणय विक्केसि बंछेसि वर मुत्तिए ।

अं जि वाविज्जए तंजि (ति) खलु लुज्जए ॥^२ (जयदेव)

“बिचते हो चने और चाहते हो मोती ! मनुष्य जो बोता है वही काटता है ।”

उच्च रे उच्च छड़ि मा सेहु बंक । निघड़ि बोहि मा जाहु रे लंक ।

हाथेर कंकण मा सेहु रूपण । अपण आया बुझु-निघ-मण ॥^३ (सरहपा)

छन्द

जैसे अपभ्रंश भाषा अपने नीतिकाव्य के अनेक भावों के लिए संस्कृत, प्राकृत आदि पूर्ववर्ती भाषाओं की ऋणी है, वैसे ही भारतीय वाङ्मय दोहा, सोरठा, चौपाई, पढ़ड़िया, छप्पय, कुंडलिया, कव्व (रोला), उल्लाल आदि अनेक छन्दों के लिए अपभ्रंश का । नीतिकाव्य के लिए उक्त छन्दों में से दोहा का प्रयोग, हिन्दी के समान ही, सर्वाधिक हुआ है । उसके बाद पढ़ड़िका (पञ्कटिका, पढ़ड़िया) भरिल्ल, घत्ता,^४ कव्व

१. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, ओरिजन एण्ड डिवेलपमेंट आफ़ बंगाली लैंग्वेज, खंड १ पृष्ठ ११२ ।

२. जयदेव, भावना संधि प्रकरण, पद्य ५२, अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ २१४ पर उद्धृत ।

३. सरहपा, चर्यापद ३२, हि० का० बा०, पृष्ठ १८ पर उद्धृत ।

४. “सन्ध्याशो कव्वकान्ते च भ्रुवं स्यादिति भ्रुवा, भ्रुवं घत्ता वा । सा त्रेधा पदपदी चतुष्पदी, द्विपदी च ॥” हेमचन्द्र, छन्दोमुद्रासन वृष्टाध्याय के आरम्भ में, ‘अपभ्रंश पाठावली’ पृष्ठ ६ की पादटिप्पणी में उद्धृत ।

छप्पय, कुंडलिया आदि छंदों का । दोहे के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उस काल में दोहे का रूप स्थिर न था । १४+१२, १३+१२, १३+११ मात्राओं के दोहों का भी प्रचलन था । जब चौदहवीं शती में “प्रकृत पैगलम्” में १३+११ के क्रम को साम्य ठहराया गया तब शेष रूप क्रमशः स्वतः एवं विस्मृत हो गए ।^१ अपभ्रंश-कवियों ने मात्रिक छन्दों के प्रयोग में पर्याप्त स्वतन्त्रता से काम लिया है । उन्होंने चतुष्पदी छन्दों को कहीं द्विपदी के रूप में तो कहीं अष्टपदी के रूप में भी प्रयुक्त किया है ।^२ कहीं-कहीं पर चरणों के अन्त में ए, तु आदि एकाध निरर्थक अक्षर का प्रयोग आलाप में सहायता या पादपूर्ति के लिए भी कर दिया गया है । जैसे—

घरि पुलितंमि लरिण सकइ को कूष ए ।

बुद्ध भावंमि पुण मलिसि निय हस्य ए ॥^३

“घर में प्राग लगने पर कौन कहां खोद सकता है ! बुढ़ापे में फिर अपने हाथ मलोगे ।”

शैली

अपभ्रंश के नीतिकाम्य में मुख्य रूप से निम्नलिखित शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं—

- (क) तथ्यनिरूपक शैली
- (ख) उपदेशात्मक शैली
- (ग) कथात्मक शैली
- (घ) अन्यापदेशात्मक (अन्योक्ति) शैली
- (ङ) रूपक काव्य शैली
- (च) कवका शैली
- (छ) कड़वक शैली
- (ज) शब्दावतंक शैली
- (झ) व्यंग्यात्मक शैली
- (ञ) कविनामनिर्देश शैली

कविनाम-निर्देश शैली में कवि अपने नाम का निर्देश ‘भूषण भनत’, ‘कह गिरि-घर कविराय’ आदि के समान करता है । उक्त शैलियों में से अनेक के स्वरूप का स्पष्टीकरण संस्कृत-नीति-काव्य की समीक्षा के प्रसंग में किया जा चुका है । कड़वक शैली में कुछ षोडश-मात्रिक छन्दों के पश्चात् घटा का प्रयोग ‘रामचरित मानस’ की

१. डॉ० धर्मवीर, सिद्ध साहित्य, पृष्ठ २६४-६५ ।

२. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ ४०६ ।

३. जयदेव मुनि, भावना संधि प्रकरण, अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ २६३ ।

बोहा-बोपाई शैली के समान किया जाता है। कक्काशैली, कड़वक शैली तथा कविनाम-निर्देश शैली के बिना प्रायः सभी शैलियाँ संस्कृत में प्रयुक्त हो चुकी थीं। संस्कृत की आत्माभिध्यंजक, प्रश्नोत्तर, संख्यात्मक, व्याख्यात्मक तथा नैतिक उपमानों की शैली का अपभ्रंश के नीतिकाव्य में अभ्राव-सा दिखाई देता है। उपर्युक्त शैलियों में से अधिकतर के उदाहरण ऊपर प्रसंगवश आ ही चुके हैं, कुछ के निम्नस्थ उद्धरणों में देखे जा सकते हैं—

भमरा एत्थु विलिम्बडइ केवि वियहडा विलम्बु ।

घण-वत्तलु छाया-वट्टलु कुल्लइ जाम कयम्बु ॥^१

(अन्यापदेशात्मक शैली)

“हे भंवरे, जब तक घने पत्रों तथा घनी छाया से युक्त कदम्ब का वृक्ष पुष्पित नहीं होता तब तक कुछ दिन इस नीम के वृक्ष पर ही विश्राम करो ।”

सोहइ जलहष मुरघणु-छायए । सोहइ मार-वव सक्कए वायए ।

सोहइ कइ-यणु कहए सुबडए । सोहइ साहउ विज्जए सिद्धए ॥^२

(पुष्पदन्त, शब्दावर्त्तक शैली)

“जलधर इन्द्रधनुष से सुशोभित होता है, श्रेष्ठ मनुष्य सत्यवाणी से सुशोभित होता है, कवि-जन सु-रचित कथा से सुशोभित होते हैं और साधक विद्या सिद्ध होने पर शोभा देता है ।”

मुप्पउ भणइं मा परिहरहु पर उबचार (यार) चरत्थु ।

तसि सूर बुहु भयवणि भणहं कवण धिरत्थु ॥^३

(सुप्रभाचार्य, कविनाम-निर्देश शैली)

“सुप्रभ कहते हैं कि परोपकार-मय आचरण का परित्याग मत करो। जब शशी और सूर्य भी स्थिर नहीं हैं तो यहाँ अन्य कोन स्थिर रह सकता है !”

सरहपा,^४ सुप्रभाचार्य आदि ने इस शैली का अनेकत्र प्रयोग किया है।

अलंकार

अपभ्रंश-नीतिकाव्य के अलंकारों के विषय में संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि स्वयम्भू, पुष्पदन्त आदि महाकवियों के प्रबन्ध-काव्यों के नीतिविषयक अंशों में इनका प्रयोग अत्यन्त सुरचिपूर्वक हुआ है। सिद्धों तथा जैन आचार्यों के जिन काव्यों की रचना धार्मिक और नैतिक उपदेशों के लिए ही हुई है उनमें इनका प्रयोग उतना

१. हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, ८।५।३८७।

२. पुष्पदन्त, आदिपुराण (पृ० ४०७), हि० का० भा०, पृ० २३२ पर उद्धृत।

३. सुप्रभाचार्य, बैराग्यसार, पृष्ठ ३, ‘अपभ्रंश साहित्य’, पृ० २७६ पर उद्धृत।

४. सरहपा, चर्यापद ३२, ३८, ३९, हि० का० भा०, पृ० १८।

प्रभावशाली नहीं दिखाई देता। इनकी अपेक्षा ऐहिक स्फुट पद्यों में आत्मकारिक चमत्कार कुछ अधिक प्रतीत होता है। अपभ्रंश-नीतिकाव्यों में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों पर अधिक बल दिया गया है जिसका कारण सम्भवतः यह है कि कवियों का ध्यान पाठकों के हृदय पर नीति के आशय को प्रकट करना था पाठकों को नाद-सौन्दर्य से प्रभावित करना नहीं। फिर भी अपभ्रंश नीतिकाव्य में तीनों प्रकार के भाषाभूषण लक्षित होते हैं—

(क) शब्दालंकार

पुष्पदन्त मानव-शरीर की दुःखपूर्णता, मलिनता, दुर्गन्धता और निर्बलता के सम्बन्ध में कहते हैं—

माणस-सरीरं बुह-पोट्टलउ । धायेउ-धायेउ अइ-विट्टलउ ।

वासिउ-वासिउ एउ सुरहि मलु । पोसिउ-पोसिउ एउ धरइ बलु ॥^१ (वीप्सा)

भाग्य और पूर्व-कर्मवाद के उल्लेख में पुष्पदन्त का कथन है—

एणिकाम एण्डाम एण्छाम एण्णाम । एण्छय एण्णाम्ण चंडाल ते पाण ।

ते डोंब कल्लाल मंछंघि एण्णाल । बाढाल ते कोल ते सोह-सबुल ॥^२

(छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास)

(ख) अर्थालंकार

अग्नि और लोहे के उदाहरण द्वारा योगीन्दु कुसंगति-जन्य विनाश को यों बताते हैं—

भस्लाहं वि एासंति गुण अहं संसगु खलेहि ।

बइसाएर लोहहं मिलिउ तें पिट्टियइ धखेहि ॥^३ (अर्थान्तरन्यास)

मुनि जिनदत्त सूरि के मत में सुगुरु और कुगुरु में बाह्य साम्य होते हुए भी, वही भेद है जो गौ और आक के दूध में—

बुढु होइ गो-यक्किहि धवलउ

पर पेज्जंतइ अंतर बहलउ ।

एक्कु सरीरि सुक्खु संपाडइ,

अवर पिउ पुणु मंसु वि साडइ ॥^४ (यथासंख्य)

१. पुष्पदन्त (पुष्पदन्त), जसहरचरिउ, हि० का० धा०, पृ० २३४ ।

२. पुष्पदन्त, जसहरचरिउ, हि० का० धा०, पृ० २३६ ।

३. योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, पद्य २४५, अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका पृ० १०३ पर उद्धृत ।

४. जिनदत्त सूरि, कालस्वरूप कुलकम्, पद्य १०, अपभ्रंशकाव्यत्रयी, पृ० ७१ ।

प्रत्येक घनाद्वय से माँगना उचित नहीं होता, इस नीति की व्यंजना किसी अज्ञात कवि ने चातक व समुद्र के दृष्टान्त से इस प्रकार की है—

बन्धीहा कइं बोलिलछेण निघिण बार इ बार ।

सायरि भरिछइ बिमल-जलि लहहि न एकइ बार ॥^१

(अप्रस्तुत-प्रशंसा)

(ग) उभयालंकार

भवसागर में मनुष्य की एकाकिता का उल्लेख स्वयम्भू ने इन शब्दों में किया है—

एक्केण भमेव्वउ भवसमुहे । कंमोह मोहजलयर-रउहे ।

एक्कहो जे दुक्खु एक्कहो जे सुक्खु, एक्कहो जे बंधु एक्कहो जे मोक्खु ॥^२

(लाटानुप्रास, यमक, रूपक की संसृष्टि)

जिस अन्त्यानुप्रास या तुक का संस्कृत तथा प्राकृत के साहित्य में प्रायः अभाव था, उसका प्रायः प्रत्येक पद्य में प्रयोग इन अपभ्रंश-कवियों ने किया। इसके कारण जो नाद-सौन्दर्य भारतीय भाषाओं में आया उसका श्रेय अपभ्रंश-कवियों को ही है।

नीतिकाव्य परम्परा का निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी भाषा के उद्भव तथा विकास के पूर्व वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में पर्याप्त और व्यापक नीतिकाव्य का सज्जन हो चुका था। यद्यपि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में थोड़ी-बहुत साहित्य-रचना बाद की शताब्दियों में भी होती रही, तथापि यह स्वीकृत करना ही पड़ता है कि उनके यौवन के दिन समाप्त हो चुके थे और वे हिन्दी के आरम्भ के बाद ह्रासोन्मुख हो गई थीं।

वैदिक नीतिकाव्य

गत कुछ सहस्राब्दियों में उक्त भाषाओं में जो नीतिकाव्य रचा गया उसका स्वरूप सर्वत्र समान नहीं है। वैदिक संहिताओं के नीति-विषयक मंत्रों में पर्याप्त ऐहिकता है। उनमें दीर्घ जीवन, स्वस्थ शरीर तथा सांसारिक सुखों की उत्कट अभिलाषा व्यक्त होती है और पारिवारिक जनों तथा सामाजिक सज्जनों से प्रेम-पूर्वक निर्वाह करने की पुनीत प्रेरणा मिलती है। न संसार मिथ्या है, न सम्बन्धी स्वार्थी हैं, न धन-सम्पदा हेय है। मित्र काम्य हैं, तटस्थ उपेक्ष्य है, शत्रु ताड्य हैं। ज्ञान उपयोगी

१. हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, ८।४।३८३।

२. स्वयम्भू, रामायण, ५।४।७, हि० का० पा०, पृ० १३० पर उद्धृत।

है, इसलिए प्रशंसनीय और ग्राह्य है; अविद्या अन्धकार है, इसलिए अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना ध्येय है। सत्य, मैत्री, वदान्यता, प्रेम, उद्योग आदि प्रशंसनीय गुण हैं, जिन्हें ग्रहण करने की अनेकत्र शिक्षा दी गई है। ईश्वर और परलोक को भी विस्मृत नहीं किया गया है, परन्तु इस जीवन को काम्य कहा गया है, उपेक्ष्य नहीं।

प्रतीत होता है, यह ऐहिक दृष्टिकोण चिरकाल तक बना नहीं रहा। भारत की उर्वरा वसुन्धरा ने आर्यों की सुखाभिलाषाओं को शीघ्र ही पूर्ण कर दिया। ऐहिक भोगों की यहाँ कमी न थी कि ध्यान उन्हीं की ओर लगा रहता। परिणाम यह हुआ कि विचारशील महात्मा लोग परमात्मा, आत्मा, मन, सृष्टि आदि के स्वरूप और कार्यों के चिन्तन में मग्न हो गए। यमराज ने नचिकेता से वर माँगने को कहा तो उसने भोग्य पदार्थ नहीं माँगे, प्रेत्य-भाव या पुनर्जन्म का स्वरूप समझने की कामना की।^१ जब इस शरीर की यात्रा थोड़ी है और आत्मा की अनन्त, तब ऋषियों ने यही निश्चय किया कि इस शरीर और इस जीवन का कोई महत्त्व नहीं है। वास्तविक जीवन तो वही है, जो निधन के अनन्तर उपलब्ध होगा। अपरा विद्याओं की अपेक्षा परा विद्या, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, श्रेष्ठ मानी जाने लगी।^२ दान, तप, दया, दमन आदि गुणों पर विशेष बल दिया गया। जन्म देने के कारण माता-पिता, शिक्षा देने के कारण आचार्य और उपदेश देने के कारण संचरणशील अतिथि तो देवता कहलाए, परन्तु बहिन-भाइयों तथा अन्य सम्बन्धी-पड़ोसियों के विषय में विशेष निर्देश अनावश्यक ही माने गए। जब ब्रह्म ही एक वास्तविक सत्ता है, अन्य कुछ है ही नहीं, जो है वह आभास-मात्र है, तब न लौकिक उपदेशों की आवश्यकता रहती है न अवकाश। इसलिए परवर्ती वैदिक काल की नीति परमार्थ की साधन-रूप है, शुद्ध ऐहिक नहीं।

संस्कृत नीतिकाव्य

अधिकतर संस्कृत-नीतिकाव्य की रचना तब हुई जब बौद्ध व जैनधर्म के वैराग्य-प्रधान विचारों का प्रचार हो चुका था। संहिताओं के विचार भी ब्राह्मण-धर्म के प्रचार के कारण चले आ रहे थे। अतएव दोनों विचार-धाराओं के मिश्रण के फलस्वरूप संस्कृत-नीतिकाव्य में कहीं तो शरीर की क्षण-भंगुरता, निश्चयता आदि का उल्लेख है, तो कहीं स्त्री और सम्पत्ति को न्योछावर करके भी उसकी रक्षा का। इस साहित्य में विद्योपाजन की प्रचुर प्रशंसा है और मूर्खों की निन्दा। गाहस्थ्य-जीवन सिद्धान्ततः धन्य है, यद्यपि सन्तान के आधिक्य व धन के अभाव के कारण कहीं-कहीं उसकी निन्दा भी की गई है। स्त्री का सम्मान पूर्ववत् नहीं रहा। कई जातिश्री नीच

१. कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय, प्रथम बल्ली।

२. मुण्डकोपनिषद्, प्रथम मुंडक, प्रथम खंड।

मानी गई हैं। धन की अधिकतर प्रशंसा ही दिखाई देती है। इतर प्राणी पहले से प्रियतर हो गए हैं। पुरुषार्थ के महत्त्व का पर्याप्त बखान है परन्तु पूर्व जन्म के कर्मों तथा देव के प्राबल्य को भी स्वीकृत किया गया है। सम्भवतः परवर्ती जीवन की आर्थिक कठिनाइयों के कारण क्षुधा और उदरदरी की दुष्पूरता का भी पर्याप्त उल्लेख है। संसार संहिता-काल के समान काम्य नहीं रहा, दुस्तर सागर बन गया है, जिसे भक्ति, तप, त्याग, संयम से ही पार किया जा सकता है।

पालि, प्राकृत व अपभ्रंश का नीतिकाव्य

पालि की रचनाएँ बौद्धों द्वारा और प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाएँ प्रायः जैन मुनियों और सिद्धों द्वारा की गई हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म किसी सृष्टि-कर्ता ईश्वर में विश्वास नहीं रखते, परन्तु परलोक, मोक्ष, आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यधिक उद्योगशील दिखाई देते हैं। दोनों ही धर्म वैराग्य-प्रधान हैं। इनमें, दुर्गन्धमय, मलिन, अस्थिचर्ममय होने के कारण शरीर की प्रायः निन्दा की गई है परन्तु कहीं-कहीं मोक्ष-प्राप्ति का साधन होने के कारण प्रशंसा भी। धर्म-ग्रंथों के स्वाध्याय के उपदेश तो मिलते हैं परन्तु अधिक पठन-पाठन, आध्यात्मिक मार्ग में बाधक होने के कारण, उपेक्ष्य ही ठहराया गया है। माता-पिता आदि की सेवा को तो कर्त्तव्य कहा गया है परन्तु सिद्धान्त रूप से गार्हस्थ्य बंधन-रूप है। पालि में जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था का तो खंडन है परन्तु परवर्ती जैन काव्यों में जाति-पाति, ब्राह्मण-धर्म के प्रबल प्रभाव के कारण, पुनः आ धुमी। स्त्रियों की निन्दा इन साहित्यों का प्रिय विषय रहा है।

धन बंधन-रूप है और अहिंसा परम धर्म है। त्याग, संयम, क्षमा, दया, परोपकार, सत्य, अस्तेय आदि का महत्त्व बहुत वर्णित है परन्तु मान, शौर्य, पराक्रम आदि की उपेक्षा है। दृष्टि आदर्श व्यवहार पर अधिक लगी दिखाई देती है, ययायोग्य व्यवहार पर नहीं। संसार झूठा है, मायामय है, निर्वाण और स्वर्ग काम्य लक्ष्य हैं। पुरुषार्थ की अपेक्षा देव पर बल अधिक प्रतीत होता है। कहीं-कहीं पर कभी कुछ व्यावहारिक बातें भी आ जाती हैं; जैसे, पर-पीड़ा-जनक सत्यभाषण न करना चाहिए, धर्मार्थ किये गए युद्धों में की गई हिंसा पाप नहीं होती, धन बिना सम्मान नहीं मिलता, हत्यादि।

सिद्धों की रचनाएँ तथा ऐहिक अपभ्रंश-काव्य उक्त कथन के अपवाद माने जा सकते हैं। सिद्धों ने न शरीर की निन्दा की, न गार्हस्थ्य की, न संसार की। अति को वर्जित करते हुए उन्होंने सांसारिक सुख सहजभाव से भोगने और सदाचारपूर्वक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा की। उन्होंने तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, तीर्थ-स्नान, केश-मुंडन, मंत्रदेवता, केशलुंचन, मिथ्या-वेश, पोथी-पत्रा, जात-पात आदि का प्रबल खंडन किया। अपभ्रंश का ऐहिक काव्य मात्रा में अत्यल्प होता हुआ भी नीति, श्रृंगार और वीरता के भावों से ओत-प्रोत है।

कलापक्ष की दृष्टि से भी प्राचीन भारतीय नीतिकाव्य महत्त्वशून्य नहीं है। यह नीरस पद्यमयी रचना नहीं है जिसे कवियों ने शिक्षामात्र देने के उद्देश्य से छन्दो-बद्ध कर दिया हो। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, अनेक विद्वानों ने इसे यथाशक्ति सरस और भावपूर्ण बनाने का उद्योग किया है। कहीं किसी विशिष्ट शैली से, कहीं शब्द-चमत्कार से, कहीं अर्थ-चमत्कार से और कहीं दोनों चमत्कारों के सम्मिश्रण से, उन्होंने इसे हृदयहारी बनाने की भरसक चेष्टा की है। जो रचनाएं अन्वोक्ति-शैली में की गई हैं वे विशेष मनोहर हैं। यही कारण है कि नीति की शान-सहस्रों सूक्तियाँ जनता के हृदयपटल पर अंकित होती आई हैं। यह होते हुए भी मानना पड़ता है कि अधिकतर नीतिकाव्य राग-तत्त्व तथा कल्पना तत्त्व की कमी और शाब्दिक या आर्थिक चमत्कार के प्रभाव के कारण भवरकोटि के काव्य में ही परिगणनीय है।

एक दृष्टि से भारत का उपर्युक्त नीतिकाव्य प्रशंसनीय है क्योंकि उसने मानव को काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, हिंसा, अनृत, स्तेय, कामुकता, परिग्रह आदि दोषों से बचाकर संयम, शान्ति, संतोष, विवेक, नम्रता, प्रेम, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का पाठ पढ़ाया है। सत्य, संयम, त्याग, दमन, दान, परोपकार आदि ऐसे सद्गुण हैं जो मनुष्य को देवता बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। यदि इन गुणों का सार्वभौम प्रचार हो जाए तो संसार निस्सन्देह देवलोक बन जाए। परन्तु अति तो सबकी वर्जित होती है। इन गुणों का यहाँ इतना अधिक प्रचार हुआ कि लोग मनुष्यता को भूल देवता बन बैठे। वैरागियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। गृहस्थ लोग भी बाहर से गृहस्थ होते हुए अन्दर से विरक्त हो गए। प्रत्येक व्यक्ति शरीर को तुच्छ, जीवन को निस्तार, संसार को मायामय मान बैठा। जीवन के प्रति वह उत्साह, वह उमंग, वह ललक न रही जो जीवन को सुखमय बनाती। शरीर धरती पर रहने लगा, मन आकाश पर। वीरता, पराक्रम, पुरुषार्थ आदि की कमी हो गई। सन्तोष, दया, क्षमा, भाग्यवाद आदि प्रधान बन बैठे। मनुष्य, मनुष्य न रहकर देवता बन बैठे। परन्तु यह पृथिवी मर्त्यलोक है, देवलोक नहीं है। यहाँ पर सुख-सम्मानपूर्वक निवास के लिए देवोचित गुणों की ही आवश्यकता नहीं, मानवोचित गुणों की भी है। सांसारिक जीवन की सफलता के लिए जीवन को सच्चा, संसार को काम्य, सम्बन्धों को वास्तविक, जीवन को संघर्षमय मानना आवश्यक है। परन्तु हमारा अधिकांश नीतिकाव्य इन भावनाओं से शून्य है। वह व्यक्ति को सांसारिक जीवन में उतना सफल नहीं बना सकता जितना कि उसे आन्तरिक शान्ति दे सकता है और मोक्ष के पथ पर खला सकता है।

(२)
शोध-खण्ड

प्रथम अध्याय

आदिकाल का नीति-काव्य (सं० १०५०-१३७५ वि०)

संवत् १०५० से १३७५ वि० तक का समय हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आदि-काल माना जाता है। यह वह काल था जिसमें आक्रान्ता मुसलमान तो भारत पर अपना शासन जमाने का उद्योग करते रहे और भारत के हिन्दू उन्हें देश से बहिष्कृत करने का। कभी एक विजयी होता तो कभी दूसरा। चूँकि राजपूत नरेश शताब्दियों की फूट और पारस्परिक विग्रहों के कारण पर्याप्त निःसत्त्व हो चुके थे, अतः अन्ततः विजय मुसलमानों की हुई और यह विशाल देश उनके अधिकार में चला गया। युद्ध-विग्रहों के इस काल में नीति की एक भी स्वतन्त्र रचना दिखाई नहीं देती। जो भी नीति-काव्य उपलब्ध होता है, वह अन्य-विषयक काव्यों में प्रकीर्ण रूप से ही समाविष्ट है। ऐसे अन्य-विषयक ग्रन्थ चार वर्गों में विभाज्य हैं—अपभ्रंश काव्य, नायकाव्य, वीरकाव्य और खुसरो के काव्य।

इस वर्ग-चतुष्टय में से अपभ्रंशान्तर्वर्ती नीतिकाव्य का परिचय गत अध्याय में दिया जा चुका है। वीरकाव्यों की रचना चंद बरदाई, जगनिक आदि आदिकालीन कवियों ने ही नहीं की, केशवदास, भूपरण, गोरेलाल, जोधराज, पद्माकर, सूदन आदि भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन कवियों ने भी की। चूँकि प्रवृत्ति की दृष्टि से वे सभी कवि एकवर्गीय हैं, इसलिए हमने इनकी वीरतामयी रचनाओं का विवेचन एक सूत्र ही अध्याय में करना उचित समझा है। नायों और खुसरो के काव्यों के नीति-सत्त्व का विवेचन प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

(क) नायकाव्य में नीतितत्त्व

चौरासी सिद्धों के समान नायों की संख्या भी चौरासी गिनाने का यत्न किया जाता है परन्तु वस्तुतः वे ७५ या ७८ से अधिक नहीं हैं। उनमें से मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ एक महान् व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने नाथ-सम्प्रदाय को संगठित किया था। अभी तक नाथ-सम्प्रदाय का थोड़ा ही साहित्य प्रकाशित हुआ है। गुरु गोरखनाथ के नाम से संस्कृत की दो दर्जन से अधिक तथा हिन्दी की चालीस कृतियाँ मिली हैं। यद्यपि इनकी प्रामाणिकता के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है तो भी डा०

बड़वाल ने चौदह ग्रन्थों* को विश्वसनीय मानकर गोरखवाणी^२ में प्रमुख स्थान दिया है। शेष अनेक पुस्तकों को परिशिष्टों में डाल दिया गया है।

गोरखनाथ के हिन्दी-ग्रन्थों के प्रचलन से यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जाती है कि ये साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं जो शिष्यों को योगमार्ग की शिक्षा देने के लिए रचे गये हैं। यही कारण है कि इनमें से अनेक ग्रन्थों की पुष्पिका में पुस्तक के नाम के अनन्तर 'योग ग्रन्थ सास्त्र संपूर्ण समाप्तः' आदि शब्द दिखाई देते हैं।^३ यौगिक क्रियाओं तथा अनुभवों की प्रचुरता होते हुए भी गोरखनाथ की हिन्दी-कृतियों में नीति की अनेक सोकोपयोगी उत्तमोत्तम बातें प्रसंग-वश आ गई हैं जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

वैयक्तिक नीति—जिस प्रकार प्राचीन जैन कवियों ने रज-वीर्य से उत्पन्न होने तथा मल-मूत्रादि दूषित वस्तुओं का समुदाय होने के कारण शरीर को अमेध्य माना था उसी प्रकार नाथ-संप्रदाय में भी उसे अपवित्र और नाथ-पद की प्राप्ति में प्रत्यवाय-रूप माना गया है। जैसे—

मन मुषि जाता गुर मुषि लेहु। लोही मास अगनि मुष बेहु।

मात पिता की भेटो बात। ऐसे होइ बुलाबे नाथ।^४

“मन की ओर जाती हुई (बहिर्मुखी) वृत्ति को गुरु की ओर (अन्तर्मुख) करो। रक्त-मांस की काया को ब्रह्माग्नि में भस्म करो। माता-पिता की धातु को मिटा डालो अर्थात् वंश की वृद्धि में न लगे। ऐसे वशी को परब्रह्म स्वयं बुलाते हैं।”

परन्तु आत्म-वशित्व तब तक असम्भव है जब तक मनुष्य मिताहारी नहीं होता। अधिक भोजन से उत्पन्न इन्द्रियों की प्रबलता, ज्ञान का नाश, मैथुन की इच्छा, निद्रा की अधिकता, शीघ्र मृत्यु आदि दोषों का उल्लेख इस पद्यमें द्रष्टव्य है—

अति अहार यंत्रो बल करे, नासै ग्यान मैथुन बित धरे।

व्यापे ग्यंदा भूषे काल, ताके हिरबै सदा अंजाल ॥^५

रसना-लोल्य के कारण जहाँ मनुष्य उक्त दोषों का भाजन बनता है वहाँ वाचालता, पर-निंदा, कटुभाषण आदि द्वारा समाज में निन्द्य हो जाता है। ऐसे असंयमी व्यक्ति को गोरखनाथ साक्षात् चूहड़ा और जितेन्द्रिय वाचंयम को उत्तम सत्पुरुष कहते हैं—

१. ये चौदह ग्रन्थ ये हैं—सबदी, पद, सिध्यादरसन, प्राणसंकली, नरबं बोध, आत्मबोध (१), अभेमात्रा जोग, पन्द्रह तियि, सप्तवार, मछोन्द्र गोरखबाध, रोमावली, ग्यान-तिलक, ग्यान चौतीसा, पंचमात्रा।

२. गोरखवाणी : प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, २००३ वि०।

३. 'गोरखवाणी', पृष्ठ १६३, १६८ इ०।

४. वही, पृष्ठ ६१, पद्य १८०।

५. वही, पृष्ठ १४, पद्य ३६।

घड़ी का लड़बड़ा, जिन्या का फूटड़ा । गोरख कहै ते वर्तधि बहड़ा ।

काछ का जती मुख का सती । सो सतपुष उतमो कधी ॥^१

इन्द्रियों की उच्छृंखलता के ही कारण लोग मांस, मदिरा, भांग आदि मादक द्रव्यों का सेवन किया करते हैं । इन कृत्यों के दोष दिखाते हुए गोरखनाथ उनके सेवन का इस प्रकार निषेध करते हैं—

अवधू मांस भक्षत बया धरम का नास । मद पीबत तहाँ प्राण निरास ।

भांगि भवंत ध्यान ध्यान धोवंत । जम दरबारी ते प्राणी रोवंत ॥^२

इस साहित्य में मन की पवित्रता तथा दृढ़ता और काम क्रोधादि के दमन पर विशेष बल दिया गया है । यदि चित्त दृढ़ हो तो फिर व्यवहार में चाहे जितना हँसो-खेलो, कोई हानि नहीं—

हसिबा खेलिबा रहिबा रंग । काम क्रोध न करिबा संग ।

हसिबा खेलिबा गाइबा गीत । बिड़ु करि राखि आपनी चीत ॥^३

पवित्र और दृढ़ मन पर जितना बल दिया गया है, उतनी ही बौद्धिक विकास की अपेक्षा दिखाई देती है । कारण यह कि मुमुक्षुओं के लिए पुस्तकी ज्ञान व्यर्थ होता है—

पढि पढि पढि केता मुबा, कथि कथि कथि कहा कीन्ह ।

बडि बडि बडि बहु घट गया, पार बह्य नहीं चीन्ह ॥^४

नाथों की दृष्टि में तो विद्वत्ता की अपेक्षा धैर्य, शान्ति, शील, नम्रता आदि गुण अधिक आवश्यक हैं जो सज्जनों के भूषण होते हैं—

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा, धीरे धरिबा पाँव ।

गरब न करिबा, सहज रहिबा, अलग गोरख राँव ॥^५

कई लोग बातचीत से तो अत्यन्त सज्जन प्रतीत होते हैं परन्तु उनकी रहन-सहन कथन के विपरीत होती है । इस दो-रंगी चाल का निषेध गोरखनाथ ने इस प्रकार किया है—

कहणि मुहेली रहणि मुहेली, कहणि रहणि बिन धोयी ।

पढ्या गुण्या सूबा बिलाई पाया, पण्डित के हाथ रह गई पोथी ॥^६

पारिवारिक नीति—स्त्री-लग्न का सर्वथा परित्याग ही नाथ-नीति का आदर्श

१. 'गोरखबानी', पृष्ठ ५२, पद्य १५२

२. " , पृष्ठ ५६, " १६५

३. " , पृष्ठ ३, " ७

४. " , पृष्ठ ७७, " २४८

५. " , पृष्ठ ११, " २७

६. " , पृष्ठ ४२, " ११६

था । वे तो उसके साथ पानी पीना तक हेय समझते थे और मंथन को मृत्यु का मार्ग—
बानीं धागे सोइबा, जम जा भोगवा, संगे न पीबला पाली ।

इमतो धजरांवर होइ मछिन्दर, बोस्यो गोरख बाली ॥^१

गृहस्थी को सर्वथा गहलं और स्त्री को बाधिन इस कारण कहा गया है कि उससे गति डगमग हो जाती है, शरीर शिथिल हो जाता है, बाल बगुले के पंख-से बन जाते हैं तथा मनुष्य निर्बीर्य और निकम्मा हो जाता है—

गोइ भए डगमग पेट भया ढीला तिर बगुला की पधियां ।

अमी महारस बाधलीं सोष्या, घोर मथन अंसी अधियां ॥^२

इस विषय में 'अति' को भी प्रशस्त मानते हुए गोरखनाथ शेष बातों में मध्यम मार्ग को ही सुनीति बताते हैं—

बायें भी मरिये, अराणाये भी मरिये । गोरख कहै पूता संजमि ही तरिये ।

मधि निरन्तर कीजं बास । निहचल मनुवा धिर होइ सास ॥^३

नाथ-साहित्य में पारिवारिक नीति न होने के तुल्य ही है । जहाँ नारी को बाधिन कहा गया और उसके संसर्ग को दूषण वहाँ गृहस्थों को निद्य और ज्ञान का अपात्र ही माना जा सकता है—

गिरही को ग्यान, अमली, को, ध्यान । बूचा को कान, वेस्या को मान ।

बेरागी घर माया स्यू हाथ, या पांचा को एको साथ ॥^४

सामाजिक नीति—जब तक गुरु न मिले तब तक ज्ञान नहीं होता और जब तक ज्ञान न हो तब तक, अन्य उपाय करने पर भी, उन्नति नहीं होती । इस तथ्य को गोरखनाथ रूपकातिशयोक्ति द्वारा यों स्पष्ट करते हैं—

गुर कीजं गहिला, निगुरा न रहिला,

गुर बिन ग्यान, न पायल रे भाईला ।

दूषे घोया कोइला, उजला न होइला,

कागा कंठे पट्टप माल, हंसला न भेला ॥^५

निगुरा व्यक्ति चारणक अर्थात् कुटिल व्यवहार भले ही जान जाए परन्तु सुनीति का ज्ञान और गुणों की प्राप्ति गुरु-कृपा से ही सम्भव है—

साध का सबद सोना का देख, निगुरां कौं चारणक, सगुरां कौं उपदेश ।

गुर का मुहुया गुण में रहै, निगुरा भ्रमे प्रोगुण गहै ॥^६

१. 'गोरखबानी', पृष्ठ ८६ पद्य ४
२. " , पृष्ठ १३८, " २
३. " , पृष्ठ ८१, " १४६
४. " , पृष्ठ ८७, " २४५
५. " , पृष्ठ १२८, टेक पद्य १
६. " , " ५१, " १४६

गुरु का गुरुत्व ज्ञान के आधिपत्य के कारण होता है, वयोवृद्धत्व से नहीं । ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् शिष्य स्वेच्छानुसार गुरु के साथ भी रह सकता है या अकेला भी ।^१ शिष्य को ज्ञान उसकी योग्यता के अनुसार ही देना उचित है, क्योंकि अधिक वस्तु भरने से पात्र के फूटने का भय रहता है—

चापि भरै तो बासण फूटै, बारै रहै तो छीजै ।

बसत धरैरी बासण बोझा, कहो गुर क्या कीजै ॥^२

समाज में मूल्य भी होते हैं और पण्डित भी । गोरखनाथ जहाँ मूल्यों की सभा में बैठना उचित नहीं समझते वहाँ पंडितों से विवाद करना भी ।^३ विकलांग व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा की जो भावना आज के समाज में भी कुछ-न-कुछ विद्यमान है, वह गोरखनाथ के 'सबदों' में भी उपलब्ध होती है—

सति सति बोलै गोरख राणा ।

तीनि जणै का संग निबारी, नकटा बूचा काणा ॥^४

इनके अतिरिक्त भांड, कबाड़ी, विसर्जित सभा, भ्रातुर नारी, निरक्षर ब्राह्मण और गृहस्थ योगी की संगति भी त्याज्य कही गई है ।^५

तत्कालीन समाज में धर्म के तत्त्व पर लोगों की उतनी श्रद्धा नहीं थी जितनी बाह्य आडम्बरों पर । हिन्दू मूर्ति-पूजा, तीर्थयात्रा आदि को, मुसलमान नमाज, बाँग आदि को, जैन उपवास, केशलुचन आदि को कल्याण का साधन मान रहे थे । गोरख नाथ ने इन सब कार्यों का अनौचित्य निर्भीकता से निदर्शित किया है । पत्र-पुष्प आदि द्वारा प्रतिमापूजन का खंडन इन शब्दों में किया गया है—

पत्रे ब्रह्मा, कली बिसना, फल मधे रहम देवा ।

तीनि देव का छेद किया, तुम्हें करहु कौन की सेवा ॥

बीबसियाँ ने पूनमियाँ जैन व्रतधारी हवा ।

अरहंत की तिन पार न पायो, केस लोचि-लोचि मूवा ॥

येक मुलानम् बोइ कुरानम् ग्यारह घुरसारणी हवा ।

असह की तिन पार न पायो, बंग देइ-देइ मूवा ॥^६

समाज के विभिन्न वर्गों के लोग अयोग्य होते भी जनता को ठग रहे थे । गोरख ने उनसे सचेत रहने का इस प्रकार उपदेश दिया—

१. 'गोरखबानी', पृष्ठ ५५, पद्य १६१
२. " , , ७८, " २५५
३. " , , ४३, " १२१
४. " , , ७७, " २८६
५. " , , ८०, " २६१
६. " , , १३२।१, १३३।५, ६

त्रिया न स्वाति (साति?), बंद न रोगी, रसायणी घोर जाचि लाय ।

बूढ़ा न जोगी, सूरा न पीठ पाछें घाव, यतना न माने श्री गोरखनाथ ॥^१

अर्थात् जो स्नेह-हीन हो वह नारी नहीं, जो रोगी हो वह बंध नहीं, जो सोना बनाना जानता हो वह भिखारी नहीं, जो बूढ़ा हो वह योगी नहीं और जिसकी पीठ पर घाव हो वह वीर नहीं । इसी प्रकार यंत्र-मंत्र-तंत्र आदि का और जड़ी बूटियों से अमरत्व-प्राप्ति का उग्र खंडन किया गया है—

जड़ी बूटी भूलै मत कोइ, पहली राई बंद की होइ ।

जड़ी बूटी अमर बने करे, तो बंद धनंतर काहे मरे ॥^२

इन पाखंड-पूर्ण बातों से दूर रहकर सच्चे व्रत धारण की शिक्षा दी गई है ।

जैसे—

एक व्रत जो इंद्री गहै, बूझा व्रत राम मुख कहै ।

तीजा व्रत मिथ्या नहि भाषे, चौथा व्रत दया मनि राखै ॥^३

आर्थिक नीति—इस क्षेत्र में धन को निन्द्य और आशा को त्याज्य कहा गया है तथा विविध रूपधारिणी माया से मुक्त रहने की प्रेरणा की गई है । यथा—

जे आसा तो आपदा, जे संसा तो सोग ।

गर मुषि बिना न भाजसी, (गोरख) ये बूग्यो बड़ रोग ॥^४

इतरप्राणिविषयक नीति—दूसरे प्राणियों को अपना ही सम्बन्धी समझकर उनका वध न करने की मुन्दर शिक्षा भी दी गई है—

जीव सोव संगे वासा, बधि न लाइबा कप मासा ।

हंस घात न करिबा गोतं, कथंत गोरख निहारि पोतं ॥^५

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति में मृत्यु की प्राकस्मिकता का उल्लेख कर उससे भीत होने का तथा जीवन इस ढंग से व्यतीत करने का उपदेश दिया गया है जिससे न पुनर्जन्म हो, न पुनः स्तन्यपान करना पड़े ।^७

भाषा—नाथों का अधिकतर नीतिकाव्य सीधी-सादी पूर्वी भाषा में लिखा गया है । वस्तुतः उनके काव्य न कहकर तुकबंदी कहना ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि

१. 'गोरखबानी', पृष्ठ ६६, पद्य २१०

२. " , , १७७, आत्मबोध, पद्य १७

३. " , , २४५, परिशिष्ट २ (ख) २

४. " , , ७४, पद्य २३५

५. " , , ७३, , २२७

६. " , , २६, , ७४

७. " , , ८३, , २७५

उसमें बुद्धितत्त्व का प्राधान्य है और भावतत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का प्रायः अभाव । बात को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं दृष्टान्तों का भी प्रयोग किया गया है । जैसे—

कबे न सौभं सुन्दरी, सनकादिक के साथि ।

जब सब कलंक लगाइसी, काली हांडी हाथि ॥^१

कहीं-कहीं तो अनुप्रास का प्रयोग हास्यजनक ही प्रतीत होता है । जैसे माया के विभिन्न रूपों के निम्नांकित वर्णन में—

कुम्हरा कं घरि हांडी छाछे, अहीरा कं घर सांडी ।

बबना कं घरि रांडी छाछे, रांडी सांडी हांडी ॥^२

इसी प्रकार आगामी चरणों में 'तेल, बेल, सेल', और 'हींग त्र्यंग, स्र्यंग' आदि के अनुप्रास हैं ।

छन्द—छन्दों के विषय में इतना ही कथन पर्याप्त है कि प्रायः दोहा, चौपाई, चौपई, हागी, सार आदि मात्रिक छन्दों का प्रयोग करने का यत्न किया गया है । बहुत थोड़े पद ऐसे होंगे जो मात्रा, गति, यति आदि की दृष्टि से निर्दोष हों । 'सबदों' में प्रायः सार छन्द के दो-दो ही चरणों से सन्तोष किया गया है । पदों के ऊपर रामग्री, असावरी आदि रागों का उल्लेख हुआ है । 'मछीन्द्र गोरष बोध' में गोरखनाथ के प्रश्न 'स्वामी' से और मछीन्द्र के उत्तर 'अवधू' सम्बोधन से आरम्भ होते हैं । इन शब्दों को यदि पद्यों का अंश न माना जाय तो छन्दों की दशा कुछ सुधर जाती है । प्रतीत होता है, रचयिता का ध्यान विषय के तुक-युक्त प्रतिपादन-मात्र पर था, छन्दों की चारुता का धोर नहीं ।

शैली—उपयुक्त ग्रंथों में प्रायः निम्नलिखित शैलियों का प्रयोग दिखाई देता है—

१. तथ्यनिरूपक शैली

५. प्रश्नोत्तर शैली

२. उपदेशात्मक शैली

६. तिथिशैली

३. संख्यात्मक शैली

७. वार शैली

४. संवाद शैली

१. तथ्यनिरूपक शैली में नीति की बात सामान्य रूप से कही जाती है । इसका प्रयोग अन्य शैलियों से अधिक किया गया है । इस शैली के अनेक पद्य पीछे उद्धृत किये गये हैं ।^३

२. उपदेश शैली में कर्तव्य-विशेष करने का साक्षात् निर्देश किया जाता है ।

१. 'गोरखबानी', पृष्ठ ७७ पद्य २५०

२. " " " १३६, पद्य ४२

३. १३२ पृष्ठ पर पाँचवीं पादटिप्पणी द्वारा संकेतित पद्य देखिए ।

इस शैली के कई उदाहरण पीछे देखे जा सकते हैं ।^१

३. संख्याशैली में एक, दो, तीन आदि संख्याओं की सहायता से उपदेश्य बातों का उल्लेख किया जाता है ।^२

४. संवादशैली में दो व्यक्तियों के नामों ('गोरषोवाच', 'मछिन्द्र उवाच') का पद्यों के पूर्व उल्लेख रहता है । 'मछिन्द्र गोरष बोध' रचना इसी शैली की है ।

५. प्रश्नोत्तरशैली संवादशैली का ही रूपान्तर है । इसमें लेखक कल्पित प्रश्न-कर्ता का स्वयं उत्तर देता है । जैसे—

स्वामी बन बंढि जाउँ तो बुध्या क्यापे, नयी जाउँ त माया ।

भरि भरि चाउँ त बिन्हे बियापे, क्यों सीभति जल ब्यंढ की काया ॥

घाये न बाइबा भूषे न मरिबा, ग्रहनिस् लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं ।

हठ न करिबा पइया न रहिबा, यूं बोल्या गोरष देवं ॥^३

यहाँ पहले पद्य में वनवास, नगरवास तथा अमिताहार के दोष बताकर शरीर को समत्वावस्था में लाने के सम्बन्ध में प्रश्न किया है और दूसरे में मध्यम मार्ग का ग्रहण उत्तर-रूप में बताया गया है ।^४

६. 'पन्द्रह तिथि' शैली में अमावस्या, प्रतिपदा आदि सभी तिथियों का आधार लेकर उपदेश दिये गए हैं । इसी कारण कुल सत्रह पद्यों की पुस्तिका का नाम भी पंद्रह तिथि रख दिया गया है । इस शैली में प्रत्येक पद्य तिथि के नाम से आरम्भ होता है और प्रायः उसके आगे ऐसा शब्द रखा जाता है जो छेकानुप्रास का साधक हो । चतुर्थी को लेकर यों कहा है—

चौथे खंचल निहंचल करो । काल बिकाल दूर परहरो ।

जम-जोरा का भवो मान । सतगुर कथिया पद निरबान ॥^५

स्मरण रहे कि तिथियाँ शुक्ल-पक्ष के क्रम से बढ़ती हैं और पूर्णिमा तक पहुँचती हैं, इसके विपरीत नहीं ।

७. 'सप्तवार शैली' में सप्ताह के दिनों का आधार लेकर उपदेश दिये गए हैं । आठ पद्यों की पुस्तिका का नाम भी 'सप्तवार' रखा गया है । क्रम आदित्यवार से शनिश्चर तक चलता है; जैसे—

बुसपति वार विषम मन धरो । पाँचों इन्द्रो निग्रह करो ।

संवरणी लें बंध्या नब द्वार । ती गुर पावो बुसपतिवार ॥^६

१. पाँचवीं पादटिप्पणी द्वारा संकेतित पद्य देखिए

२. २७वीं " " " " "

३. 'गोरखबानी' पृष्ठ १२, पद्य ३०, ३१

४. " , श्यामतिलक, पृष्ठ २११, पद्य १६

५. " , पन्द्रह तिथि, " १८१, " ५

६. " , सप्तवार, " १८४, " ५

इस शैली में प्रायः बार और वर्ण विषय के प्रथम अक्षरों को समान रखा गया है ।

प्रायः उपयुक्त सभी शैलियों का प्रयोग प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है । विशेष ऋतुओं तथा तिथियों में कृत्य-विशेषों के अनुष्ठान का विधान प्राचीन धर्मग्रंथों में मिलता ही है । सम्भवतः उसी को विकसित कर प्रत्येक तिथि और बार को कुछ-न-कुछ शुभ कृत्य करने का आदेश सिद्धों ने दे दिया है । संवादशैली भी पहले से ही प्रचलित थी परन्तु दो साधकों के प्रश्नोत्तर रूप में सिद्धान्त-प्रतिपादन की जिस शैली की प्रधानता नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलती है, वह नई ही है ।

वाक्संयम, मधुर तथा सत्यभाषण, मन की शुद्धि तथा दृढ़ता, मांसभक्षण-निषेध आदि नैतिक विषय प्राचीन साहित्य में भी विद्यमान थे । विषयों की दृष्टि से नाथ-साहित्य में दो ही बातें विशेष दिखाई देती हैं—खण्ड-ब्रह्मचर्य और हिन्दू-मुसलमानों के बाह्याचारों का खण्डन । सम्भवतः तत्कालीन परिस्थितियों ने इन विषयों को नाथ-साहित्य में समाविष्ट कराया । वाम-मार्ग के प्रचार और हिन्दू-मुसलमानों के कृत्रिम आचार की प्रतिक्रिया ही इन उपदेशों में लक्षित होती है । साधना-मार्ग की शुष्कता ने इस मत के लिए 'गोरक्षधंघा' शब्द को प्रचलित किया और गार्हस्थ्य के नितान्त बहिष्कार ने इस पंथ को क्षयिष्णु बना दिया । फिर भी इस बात का प्रत्याख्यान असम्भव है कि नाथपंथी नीति ने परवर्ती सन्त-साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया । सन्त-साहित्य में चारित्र्य-शुद्धि तथा आडंबरहीनता पर जो बल दिया गया है, उसका उपक्रम नाथों की नीति में सहज लभ्य है ।

(ख) खुसरो के काव्य में नीतितत्त्व

अमीर खुसरो आदि-काल के कवियों में अपनी हास्य-विनोदमयी रचनाओं के कारण एक विशिष्ट स्थान रखते हैं । ये अरबी, फ़ारसी, तुर्की और हिन्दी भाषाओं के पंडित थे और संस्कृत भी जानते थे । ये फ़ारसी-कवियों के सिरमौर थे ।

हिन्दी में इनके नाम से जो रचनाएं उपलब्ध होती हैं, न तो वे अपने मूल-रूप में हैं और न सब-को-सब प्राचीन । जो हो, निम्नांकित कृतियाँ इनकी कही जाती हैं—बूझ पहेलियाँ, बिन-बूझ पहेलियाँ, कह मुकरियाँ, दो सखुना हिन्दी, निस्बतें अर्थात् संबंध, दो सखुना फ़ारसी और हिन्दी, मनमेलियाँ या ढकोसला, बसंत और फुटकर पद्य ।

उक्त पुस्तिकाओं में न नीति प्रधान है और न इनकी रचना उपदेश देने के लिए की गई थी । इनके प्रणयन का उद्देश्य था जन-साधारण का शब्दों की खिलवाड़ द्वारा मनोरंजन । फिर भी इनके कई पद्यों में से कुछ-न-कुछ शिक्षा अनायास निस्सृत होती हुई प्रतीत होती है और उसी की ओर संकेत हमारा अभिप्रेत है । नेत्रों का सुरक्षा की शिक्षा इस बिन-बूझ पहेली से मिलती है—

भावे तो अंधेरी लावे । जावे तो सब कुछ ले जावे ॥

क्या जानूँ वह कंसा है । जैसा देखो बंसा है ॥^१

पुस्तक का आनन्द चतुर लोग ही ले सकते हैं, मूर्ख नहीं, इस नीति को शृंगार-मयी सूक्ति द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है—

एक नार चातुर कहलावे, भूरक्ष को न पास बुलावे ।

चातुर मरव जो हाथ लगावे, खोल सतर वह आप दिखावे ॥^२

हुक्का पीने के दोष को इस बोभत्स-रसमयी कहमुकरी से प्रकट किया गया है—

न्याय धोय सेज मेरी आयो, लं चूमा मुंह मुहंह लगायो ।

इतनी बात पे धुकसयुक्का, ऐ सखी साजन न सखी हुक्का ॥^३

भाषेत में सफलता पाने तथा मस्तिष्क की शक्ति बढ़ाने का एक टोटका निम्नलिखित फ़ारसी-हिन्दी दो-सखुने में द्रष्टव्य है—

शिकार बेह से भी बायद कर्द,

कूवते मगज को क्या चाहिए ?^४ (बादाम)

प्रश्न किया, अच्छा शिकार और बुद्धि-बल कैसे मिले । उत्तर दिया, 'बादाम' । फ़ारसी में 'बादाम' का अर्थ 'जाल से' भी है । आशय यह कि जाल से शिकार की प्राप्ति और बादाम से बुद्धि की वृद्धि होती है ।

'घर की फूट बुरी' का संकेत कदाचित् खड़ी बोली में सबसे पूर्व खुसरो ने ही किया है—

खेत में उपजे सब कोई खाय । घर में होवे घर खा जाय ॥^५ (फूट)

न बुद्धि-हीन मंत्री रखना उचित है, न जामिन-रहित नौकर, इस नीति को यों ध्वनित किया गया है—

अनार क्यों न रक्खा, यजोर क्यों न रक्खा ?^६ (दाना न था)

बही क्यों न जमा, नौकर क्यों न रखा ?^७ (जामिन न था)

सुबर्ण की सर्वप्रियता इस कहमुकरी में द्रष्टव्य है—

१. खुसरो की हिन्दी कविता (प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, २०१० वि०) पृष्ठ २४
२. वही, पृष्ठ ३३
३. " " ३८
४. " " ४६
५. " " २८
६. " " ४२
७. " " ४२

प्रति सुन्दर जग चाहे जा को, मैं भी देख भुलानी वाको ।

देख रूप भाया जो टोना, ऐ सखी साजन ना सखी सोना ॥^१

इसी प्रकार खुसरो ने अपनी चमत्कारमयी सूक्तियों द्वारा जराजन्य-जीर्णता, यात्री को साथ की आवश्यकता, मेल-जोल के लिए प्रेम की अनिवार्यता, अग्नि से सावधानता आदि उपयोगी नीतियाँ व्यक्त की हैं ।

इन्होंने अपनी हिन्दी-कविता के लिए लोक-प्रचलित ढिगल वा पिगल का प्रयोग नहीं किया, बोल-चाल की खड़ी बोली को ही साहित्यिक रूप प्रदान किया । कहीं-कहीं इनके पद्यों में व्रज की शब्दावली भी लक्षित होती है । पाठकों के विनोद तथा हिन्दू-मुसलमानों को परस्पर समीप लाने के लिए इन्होंने कई दो सखुनों में एक पंक्ति फ़ारसी की लिखी तो दूसरी हिन्दी की ।

यहाँ कहा जा सकता है, इनकी पहेलियों, मुकरियों आदि को काव्य में परिगणित करना भ्रम है क्योंकि उनमें रागात्मक तत्त्व का अभाव है । किन्तु हमारे विचार में उनमें रति, घृणा, आश्चर्य आदि के भाव पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं, जैसा कि उपरिलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है । गार तथा अद्भुत का मिश्रण तो इनकी अपनी ही विशेषता है । फिर भी इतना तो स्वीकार्य ही है कि भावों की अपेक्षा बौद्धिक चमत्कार कहीं अधिक है और वह कवि की अप्रतिम सूक्त का साक्षी है । यदि प्राचीन साहित्य में प्रहेलिका, बिंदुमती आदि कृतियाँ काव्यान्तर्गत मानी जाती थीं, तो इन्हें भी काव्य मानने में संकोच न होना चाहिए । हाँ, यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इनकी गणना अवर कोटि के काव्य—चित्रकाव्य—में होगी ।

एक अन्य दृष्टि से भी खुसरो की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं । इनके पूर्व की हिन्दी-रचनाएँ या तो धर्म-सम्बन्धी थीं या कवियों के आश्रय-दाताओं की विरुदावलियाँ । परन्तु इन कृतियों के द्वारा साहित्य जन-जीवन के समीप आ गया और इनसे जनता को साहित्य-मुलभ आनन्द की प्राप्ति भी हुई । हो सकता है परवर्ती-काल की धर्म-निरपेक्ष साहित्यिक रचनाओं पर इन कृतियों का भी कुछ प्रभाव पड़ा हो ।

द्वितीय अध्याय वीर-काव्य में नीतितत्त्व

(प्रथमोत्थान सं० १०५०-१३७५, द्वितीयोत्थान सं० १३७५-१६००)

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वीर-काव्यों के दो उत्थान माने जाते हैं। प्रथमोत्थान के चंद बरदाई, जगनिक आदि कवियों ने अपनी रचनाएँ आदिकाल में कीं और द्वितीयोत्थान के केशव, पृथ्वीराज, भूषण, गोरेलाल, सूदन आदि कवियों ने अपने वीर-काव्य भक्ति-काल तथा रीति-काल में प्रणीत किए। किन्-किन विभिन्न परिस्थितियों ने दोनों उत्थानों के कवियों को अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करने की प्रेरणा की, इसका विवरण प्रस्तुत अध्याय में ही आगे दिया जायगा। यहाँ इतना स्मरणीय है कि ये कवि राजाश्रित थे और अपने आश्रयदाताओं के पराक्रम, विजय, विवाह, आखेट, दान-पुण्यादि के वर्णन द्वारा उनकी यश-कीर्ति को अमर बनाने के लिए ही अपने काव्यों का सज्जन करते थे, नीति के उपदेश देने के लिए नहीं। यही कारण है कि इन रचनाओं में नीति की मात्रा अल्प है। ऐसी स्थिति में भी इन काव्यों का महत्त्व अत्यधिक इस कारण से है कि इनमें वर्णित अधिकतर नीति ऐहिक है, धार्मिक और आमुष्मिक नहीं। अस्तु, किसी भी प्रकार की समीक्षा करने से पूर्व इनके षड्विध नीति-काव्य का परिचय प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा।

१. वैयक्तिक-नीति

(क) शारीरिक नीति—पूर्वोक्त जैन और बौद्ध साहित्यों के अनुसार शरीर को इन कवियों ने भी विशेष महत्त्व नहीं दिया परन्तु दोनों के कारण पृथक्-पृथक् हैं। जहाँ पूर्वोक्त कवि लोगों को परमार्थ की ओर प्रवर्तित करने के लिए काया को मल-मूत्र का आगार और घृणित कहते थे, वहाँ वीर-गाथाकारों ने इसे परिस्थितियों से प्रेरित होकर हेय माना है। यदि ये कवि शरीर को अधिक महत्त्व देते, तो लोग शरीर की रक्षा में संलग्न हो जाते और युद्धों के लिए प्राणों को हथेली पर रखने की जो भावना अनिवार्य होती है, उसका लोप हो जाता। ये तो दुर्लभ और क्षण-भंगुर मानुष-देह की सार्थकता इसी बात में समझते थे कि उसे युद्ध में उत्सृष्ट कर अक्षय-कीर्ति का उपाजन किया जाए। 'आल्हखंड' में जयचन्द अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं—

मानुष बेही बह दुर्लभ है, बीबी जन्म न बारंवार ।

सुन ना भजिबी समर भुम्भि ते कह फिरि बड़ें बीर चौहान ॥^१

एक तो शरीर और यौवन वैसे ही क्षण-भंगुर और अस्थायी हैं और दूसरे जब युद्ध-दुन्दुभि की तुमुल-ध्वनि चारों ओर से कर्णाकुहरों में प्रविष्ट होती रहती हो तब यौवन में दाम्पत्य-मुखों की उपेक्षा सु-नीति नहीं मानी जा सकती । इस बात का उल्लेख नरपति नाल्ह ने यों किया है—

जाई जोबन धन मसलै हाथ । जोबन नवि गिराइ बीह ते राति ।

जोबन राख्यो नु रहई । जोबन प्रिय बिरह होसीय धार ॥^२

यद्यपि वीर क्षत्रियों की वाणी में कुछ गर्व और प्रखरता का होना अस्वाभाविक नहीं, तथापि ये दोष तो हैं ही । यही कारण है कि इन काव्यों में भी कटु-भाषण तथा सदप-वचनों से वचने की ही प्रेरणा की गई है । राजमती के पाणिग्रहण के पश्चात् एक दिन जब बीसलदेव अपने अजमेर-राज्य की सम्पत्ति पर गर्वित होकर बोला—‘मो सरीखा नहीं ऊर भुवाल’ तब राजमती ने उसे गर्वीले रावण के पतन तथा उत्कल-नरेश की मङ्गली संदा का वृत्त सुनाकर नम्रता धारण करने का संकेत किया—

गरब न बोसो हो मो भरतार । बाजा बाजे राजा प्रसिय हजार ।

संकाति रावण धरणी । सात समंव बिच बस्ती फेर ।

संक बिधुंसी बानरां । ये काइ सराहो राजा गढ़ अजमेर ॥^३

वीर पति को पत्नी की उचित शिक्षा भी अनुचित प्रतीत हुई और वह उत्कल-लाधिपति को पराजित करने के लिए उद्यत हो गया । जब भावी वियोग की आशंका से राजमती ने व्याकुल होकर क्षमा-याचना की तब बीसल ने कहा—

कड़वा बोल न बोलीस नारि । तुं मो मेलहसी बित बिसारि ॥

जोभ न जोभ बिगोयनो । बव का दाधा कुपलो मेलही ।

जोभ का दाधा नु पांगूरई । नाल्ह कहइ सुणाजइ सब कोई ॥^४

परन्तु वाणी-विषयक इन सामान्य नीतियों पर वीर-काव्यों में उतना बल नहीं दिया गया जितना कि मुख से निस्सृत वचन को पूर्ण करने पर । पुरुष, सत्पुरुष और सरदार वही है जिसका वचन कभी नहीं टलता और जो तन-मन-धन अर्पित कर भी अपनी वाणी को सत्य सिद्ध कर दिखाता है—

सूर समन्त बड़ें रन ऊपर, ते पुनि कोटि करी बिचलें ना ।

बात यहै तिरबारन की, मुंह ते कहि के कबहूँ बदलें ना ॥^५ (जगनिक)

१. सं०—सी० ए० इलियट : प्रसली ब्राल्हखंड (ऊर्ध्वलाबाह, सं० २००६) पृष्ठ १८

२. बीसलदेव रासो (ना० प्र० सं० काशी, सं० १९८२), पृष्ठ ४३।३४

३. वही, पृष्ठ ३२-३३

४. वही, पृष्ठ ३७।१८

५. ब्राल्हखंड, पृष्ठ २३

या तन बचन सार लुति भाखें । तन मन धन बं बचन जु राखें ॥
तन धन भ्रात पुत्र घर नारी । हरि बिषु त्यागि बचन प्रतिपारी ॥^१

(जोधराज)

सिंह गमन सुपुरुष बचन, कदलि फलें इक बार ।
तिरिया तेल हमीर हठ, खढ़ं न हूजी बार ॥^२ (चंद्रशेखर वाजपेयी)
सतपुरुष बंन डुल्लं न सहि, ध्रुव सुराह उर धारि यहि ।
रस किये रसहि रस राखिये, अरज इती अवधारियहि ॥^३ (मान)

(ख) मानसिक नीति—क्षत्रियों के युद्ध, विवाहादि से सम्बन्धित इन काव्यों में यद्यपि विद्या, विज्ञानादि के महत्त्व और उनकी प्राप्ति के साधनों की विशेष चर्चा नहीं मिलती तो भी वेदों, वेदज्ञ विप्रों, ज्योतिषियों और ज्योतिष-ग्रंथों के प्रति आस्था अवश्य विद्यमान है । कारण यह कि मांगलिक अवसरों पर और युद्धादि के लिए प्रस्थान करते समय शुभ मुहूर्त का ध्यान रखना प्रायः आवश्यक माना जाता था । शिवाजी ने छत्रसाल को जो उपदेश दिया था, उसमें उक्त नीति की भूलक सहज ही देखी जा सकती है—

छत्रनि की यह वृत्त बनाई । सदा तेग की लाइ कमाई ॥

गाइ बेद विप्रन प्रतिपाले । घाउ एङ्घारिन पै घाले ॥^४ (गोरेलाल)

(ग) अस्मिक नीति—इन काव्यों में यश, कीर्ति, आत्मगम्मान, दृढ संकल्प (हठ, टेक), तेजस्विता, बोरता आदि क्षत्रियोचित गुणों की प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया है । मोहादि के परित्याग की प्रेरणा इनमें भी लक्षित होती है परन्तु लक्ष्य सन्तों और भक्तों से निम्न है । जहाँ सन्त-महात्मा लोग मोहमाया के त्याग के उपदेश प्रभु-प्रेम में प्रवर्तित करने के लिए दिया करते हैं, वहाँ इस प्रकार के उपदेश इन काव्यों में अक्षय यश की प्राप्ति आदि के लिए दिए जाते हैं ।^५ यश की प्राप्ति को ही इन काव्यों में अजर और अमर तथा असार संसार का सार कहा गया है । उसकी उपलब्धि के लिए सुख-दुःख की चिन्ता न करनी चाहिए क्योंकि वे तो स्वप्नवत् अस्थायी हैं—

अजरामर धन एह, जस रह जावे जगत में

हुस सुख दोनू देह, सुपन समान प्रताप सी ॥^६ (दुरसा जी)

१. हम्मीर रासो (प्र०-ना० प्रा० स०, सं० २००५), पृष्ठ ११८

२. हम्मीर हठ, पृष्ठ १२, उदयनारायण तिवारी, बीर-काव्य, पृष्ठ ४७८ पर उद्धृत

३. मान : राजबिलास, बीर-काव्य, पृष्ठ २५४

४. गोरेलाल : छत्रप्रकाश, बीर-काव्य, पृष्ठ ३१७ पर उद्धृत

५. असली आल्हंस, पृष्ठ ४५

६. दुरसा जी : विश्वछहसरी, मोतीलाल मेनारिया, डिगल में बीर रस, पृष्ठ ५५ पर उद्धृत ।

कुनठु तो कहुँ कबिस, सुबिर जीवन बन नाहीं ।

यह संसार असार, सार किसि कसु नाहीं ॥^१ (चंदबरदाई)

यश वीर कीर्ति की प्राप्ति के साधन तो अनेक होते हैं, परन्तु विशेषता उन्नेक वीरत्व-प्रदर्शन, शत्रु पर विजय, वीर-गति की प्राप्ति, स्वाधीनता की रक्षा, दान-पुण्य आदि का किया गया है। जैसे—

हम्मीर राख हँसि यों कहै, सदा कीन बन बिर रहै ।

छिन भंग भंग लालच कहा, सुजस एक जुग-जुग रहै ॥^२ (जोधराज)

जोबंतह कीरति सुलस, मरन अक्छर हूर ।

वो बान लब्धू मिलै, न्याय करै बर सूर ॥^३

पराधीन व्यक्ति यशस्वी नहीं हो सकता क्योंकि प्रायः उसके वीर-कार्यों से जनित यश का भागी उसका स्वामी बन जाता है। जब छत्रसाल ने शिवाजी के साथ रहकर मुगलों से लोहा लेने की कामना प्रकट की तब शिवाजी ने उसे उक्त नीति का इस प्रकार उपदेश दिया—

तुम ही महावीर मरवाने, करिहो भूमि भोग हम बाने ।

जो इतही तुम कौ हम राखें । तो सब सुजस हमारे भाखें ॥^४

आत्म-सम्मान की रक्षा इन काव्यों का अत्यन्त प्रिय विषय है। जो व्यक्ति तेज, साहस, प्रताप और पराक्रम से रहित है, उसका आत्म-सम्मान स्थिर नहीं रह सकता। दूसरे की अधीनता स्वीकृत कर लेने तथा टेक को त्याग देने से भी आत्म-सम्मान नष्ट होता है। इसलिए इन रचनाओं में तेजस्विता आदि गुणों तथा टेक की रक्षा करने की प्रेरणा अनेक स्थलों पर की गई है। जैसे—

भाजि न जंघी तुम मोहरा से बुझिहै सात सालिको नाम ।

जहु दिन कहिबे कौ रहि जंघी, पारो लाज तुम्हारे हाथ ॥^५ (जगनिक)

हठ तो राख हमीर को, श्री रावण की टेक ।

सत राजा हरिचंद को, अर्जुन बारण अनेक ॥^६

२. पारिवारिक नीति

वीर-काव्यों में पारिवारिक जीवन को सुखद तथा प्रशंसनीय कहा गया है,

१. प्रध्वीराज रासो, भाग १, (उदयपुर, सं० २०११), पृ० १६६

२. जोधराज : हम्मीर रासो (ना० प्र० सं० काशी, सं० २००५) पृष्ठ ११५

३. बिपिन बिहारी त्रिबेदी: रेवातट (लखनऊ, १९५३ ई०) पृष्ठ २१

४. गोरेलाल: छत्रप्रकाश, 'वीरकाव्य' पृष्ठ ३१७ पर उद्धृत

५. अक्षती आल्हलंड, पृष्ठ ७७

६. हमीर रासो, पृष्ठ १९५:३५०

अधिकतर जैन और बौद्ध काव्यों के समान हेय नहीं। वीरों को सदा इस बात की चिंता दिखाई देती है कि कोई काम ऐसा न किया जाए, जिससे परिवार का सुनाम बूझ जाए।^१ जहाँ परिवार के सदस्यों की रीति-नीति एक-दूसरे से भिन्न होती है वहाँ परिवार की लज्जा संकट में पड़ जाती है, इस नीति को सूदन ने सुजान और सलाबतख़ाँ के युद्ध-वर्णन में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

बाप बिष खाखँ भंया खटमुख राखँ देखि,
 आसन में राखँ बस बास जाकौ अचलं ।
 भूतनु के छंया आसपास के रखैया,
 और काली के नयैया हू के ध्यानहू ते न चलं ।
 बंस बाघ बाहुन बसन कौं गयंद खास,
 भाँग कौं धतूरे कौं पसार देतु अचलं ।
 घर को हवाल यहै संकर की बाल कहै,
 लाज रहै कैसे पूत मोदक को मचलं ॥^२

जब कभी परिवार का कोई प्रियजन घर से प्रस्थान करे तब अश्रुपात उचित नहीं होता, यह नीति बीसलदेव राजमती को इस प्रकार समझाते हैं—

गाहिलो है श्री तोहू लागी छई बाय ।
 अखीय ते कोई उलगि जाई ॥^३

कभी-कभी पारिवारिक प्रेम वीरों के कर्तव्य-मार्ग में विघ्न-रूप भी बन जाता है। युद्ध के लिए सन्नद्ध क्षत्रियों के पथ में तीन विकट बाधाएँ सहज ही उपस्थित हो जाती हैं—सन्तान-स्नेह, दाम्पत्य-सुख और मृत्यु की आशंका। चंद बरदाई ने मेवाती मुंगल द्वारा सोमेश्वर को लिखित पत्र में इनका इस प्रकार उल्लेख किया है—

सिसु तंसौ संमहौ फिरघौ, उभय काम बघ वीर ।

जौ मुक्कै त्रिय अघम कृत, तौ बल सद्धि सरीर ॥^४

भाव यह कि जब कर्तव्य का आह्वान कानों में आ पहुँचे तब पारिवारिक मोह का परित्याग कर संधाम के लिए प्रस्थान ही उचित है।

माता-पिता और पुत्र—माता या मुख्य कर्तव्य यह निदिष्ट किया गया है कि वह उस वीरवर प्रताप के समान मुत्तों को जन्म दे जिसके नाम के श्रवण-मात्र से अकबर-सा तेजस्वी सम्राट् भी सोने-सोने ऐसे उचक उठता था जैसे उपधान पर सर्प

१. असली आन्हखंड, पृष्ठ ८३

२. सुजान चरित, तुल्य जंग, धीर-काव्य, पृष्ठ ३६१ पर उद्धृत

३. बीसल देव रासो, पृष्ठ ४२।३१

४. पृथ्वीराज रासो, भाग १ (उदयपुर), पृष्ठ १७७

आ बैठा हो ।^१ वह माता धन्य मानी जाती थी जिसकी गर्भ-गृहीत शिक्षा से सद्योजात शिशु नाल काटने की छुरी को पकड़ने के लिए झपट उठता हो—

हूँ बलिहारी राखियाँ, भ्रूण सिसावण भाव ।

नालो बाढ़ण री छुरी, झपटें जणियो साव ॥^२

जिन बच्चों में वारता की कुछ कमी देख पड़ती थी, उन्हें अपने उत्तेजक वचनों से वीर बनाना भी माता का ही कर्तव्य था । वीर हम्मीर के रणोत्साह को द्विगुणित करने के लिए उसकी माता कहती है—

तीरां ऊपर तोर सहि, सेलां ऊपर सेल ।

खग्यां ऊपर खग सहि, रन सन्मुख सुत खेल ॥

भुज मुख छाती सामुहें, धारं ऊपर धाव ।

पलक न झपें पूत की, चढ़ें चौगुनी खाव ॥^३ (चन्द्रशेखर)

ऐसी वीर सन्तान अपने माता-पिता का सम्मान करना अपना कर्तव्य मानती थी । पुत्र युद्ध में विजय-लाभ के लिए माता का आशीर्वाद लेकर ही प्रस्थान करना उचित समझते थे । माड़ी की लड़ाई पर जाते समय ऊदल ने अपनी जननी से यह विनती की —

पंजा घरि देह मेरि पीठि पर, माड़ी लेयें बाप के दायें ।

इतनी सुनि के माता देबं, तब कनियां में लग्गी उठाय ॥^४ (जगनिक)

पिता के अपकार या हत्या का प्रतिशोध लेना पुत्र का प्रमुख कर्तव्य था । जीवन में प्रविष्ट होने से पूर्व ही वह बदला चुकाने के लिए लालायित हो उठता था—

रण खेती रजपूत री, वीर न भूलें बाल ।

बारह बरसां बापरी, लहै बर लंकाल ॥^५ (कविराज सूर्यमल्ल)

जब ऊदल को पहले-पहल विदित हुआ कि उसके पिता की हत्या माड़ी-नरेश जम्बे ने की थी तब वह क्रुद्ध होकर माता के पास पहुँचा और कमर से कटार खींच, उसे अपने वक्षस्थल से लगाकर माता से पूछने लगा—

कौ ने मारे बाप हमारे माता हमें देउ बतसाय ?

कौ है राजा माड़ीं बारो औ जम्बे है किनको नाम ?

१. डिगल में वीर रस, पृष्ठ ४१

२. सूर्यमल्ल : वीर सतसई, पृष्ठ ५३।२४

३. चन्द्रशेखर : हम्मीर हठ, पृष्ठ ४३, वीर-काव्य पृष्ठ ४८० पर उद्धृत

४. असली आल्हखंड, पृष्ठ ४०

५. सूर्यमल्ल : वीर सतसई (प्र० बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता, सं० २००५) पृष्ठ ६६।११८

टंगी कुपड़िया मेरे बाप की हज़रे जीबें को चिरकार ।

हाल बतावौं हम कौ सांचो नाहीं पेदु मारि मरि जाउं ॥^१

पुत्री—पुत्री के सम्बन्ध में प्रायः दो नीतियों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है । प्रथम, उसके कारण बड़े से बड़े अभिमानी का सिर झुक जाता है,^२ और द्वितीय, सयानी कन्या को अविवाहित रखना अनुचित है ।^३

पति-पत्नी—पति का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह कायरता का कोई कार्य न करे जिससे उसकी पत्नी को समाज में लज्जित होना पड़े । पत्नी संध्यामादि में अपने पति की वीरगति का समाचार सुन फूले नहीं समाती और सोल्लास उसके शव के साथ सती हो जाती है । परन्तु, जब वह युद्ध में पीठ दिखाकर घर आता है तब वह अपनी छूड़ियों को लज्जित नहीं देख सकती । वह सधवा होती हुई भी अपने को विधवा मानकर दर्जिन से कहती है कि मेरे लिए विधवाओं के पहनने की लम्बी आस्तीनवासी कुर्तियाँ सीकर लाया कर, सिसाई मैं तुम्हें सधवाओं के वस्त्रों के समान दुगुनी ही दे दिया करूँगी । इसी प्रकार वह मनिहारिन को अपने घर में आने का निषेध कर देती है क्योंकि विधवाओं को शृंगार की वस्तुओं की अपेक्षा नहीं होती—

दरजरण लंबी अंगियाँ, आलींजें अब मूक ।

तब टोटे मोनू दया, दूए सिवाई तूक ॥

मणिहारी जा रो सखी, अब न हवेली आव ।

पीब मुवा घर आबिया, विषवा किसा बलाब ॥^४ (सूर्यमल्ल)

यद्यपि राजाश्रित कवियों में इतना साहस तो न था कि बहुपत्नी-प्रथा का प्रत्यक्ष और प्रबल प्रतिषेध करें तथापि इस बात का उल्लेख उन्होंने कर ही दिया है कि स्त्री के लिए सापत्य का क्लेश असह्य होता है, अतएव समझदार पति को पत्नी की प्रसन्नता के लिए एक पत्नीव्रती बनना ही उचित है ।

पित्रघात सों मन मिले, और बंर मिट जाइ ।

सौति बंर अंतर चलन, दिन प्रति घोषम लाइ ॥

मुष मिटठी बिसा करे, मन में बैत सराप ।

बैठे प्रेम सु प्रीय कौ, अन्तर बझाव जाय ॥^५

उन दिनों पत्नी द्वारा पति के परित्याग का तो प्रश्न ही न उठता था, पति, अपनी उद्धतता या पत्नी की मूर्खता के कारण, उन्हें परित्यक्ता बनाकर दुखा कर देते थे । ऐसी दुःखप्रद स्थिति के परिहार के लिए पत्नी का गुणवती होना कितना

१. असली आल्हखंड, पृष्ठ ३८

२. ३. द्वारका प्रसाद : आल्हा (प्र० इण्डियन प्रेस, प्रयाग), पृष्ठ १०

४. सूर्यमल्ल : बीर सतसई, पृष्ठ ४८।८३, ८४

५. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (इलाहाबाद, १९५२ ई०) पृष्ठ १२५

आवश्यक है, इस बात की शिक्षा राजमती को उसकी सखियाँ इन सब्यों में देती हैं—

पंच सखी मीलीं बड़ठी छई आई ?

निगुली ! गुण होई तो प्रीव बयुं आई ?

कूल पगर जू गाहजई ।

बारड आँचल-बैप्यो नाह कुं जाई ॥^१ (नरपति नाल्ह)

इनके प्रतिरिक्त स्वयं सिंहासन पर आसीन होने के लिए पिताजीको कैद, माइयों की हत्या और सगोत्रों के संहार करने का निषेध भी इन काव्यों में किया गया है ।^२

३. सामाजिक नीति

वीरकाव्यों की सामाजिक नीति निम्नांकित वर्गों में विभाज्य है—(क) क्षत्रिय (ख) स्वामी (ग) सेवक (घ) रानी (ङ) पुरुष (च) हिन्दू, मुसलमान (छ) मित्र, शत्रु (ज) फुटकल ।

(क) क्षत्रिय—मनुस्मृति और भगवद्गीता में क्षत्रियों के निम्नलिखित ग्यारह कर्तव्य निदिष्ट हैं—

१. प्रचारका

६. शौर्य

२. दान

७. तेज

३. यज्ञ

८. धैर्य

४. अध्ययन

९. दक्षता

५. विषयों में प्रसक्ति

१०. युद्ध में पीठ न दिखाना

११. शासन ।^३

उक्त कर्तव्यों में से यज्ञ, अध्ययन और विषयों में प्रसक्ति का विशेष प्रतिपादन तो वीरकाव्यों में लक्षित नहीं होता, शेष कर्तव्यों का उल्लेख पर्याप्त मात्रा में किया गया है । प्रजा की रक्षा के लिए क्षत्रिय को भी परीक्षा देनी पड़ती है । खड्ग को कम कर बांधने और झकड़ कर चलने से ही क्षत्रिय को परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं माना जा सकता । उसकी परीक्षा तो तब होती है जब युद्ध की बुन्दुभियां भगन-भेदी नाद करती हैं । काबराब सूर्यमल्ल का कथन है—

बलु खाधे अण.जण बहै, कस बांधे करबालु ।

परक भडाँ अर कायरां, ब्रह्म ब्रह्मियां जंगालु ॥^४

क्षत्रिय के लिए सबसे अधिक अपमान-जनक कार्य था, युद्ध से पलायन । इसलिए

१. बीसलदेव रातो, पृष्ठ ३८

२. भूषण प्रधावली (हिन्दी भवन, लाहौर १९३८), शिवाबावनी, पृष्ठ १२, १३

३. मनुस्मृति १।८६, भगवद्गीता १।४३

४. सूर्यमल्ल : वीर सतसई, पृष्ठ ८७।१६६

उससे बचने की प्रेरणा इन काव्यों में स्थल-स्थल पर पाई जाती है। राजा अपने सैनिकों को और क्षत्राणियों अपने पतियों को इस जघन्य कार्य से बचने की अनेक बार प्रेरणा करती दिखाई देती हैं। क्षत्रिय वीर भी इस कर्तव्य को कभी विस्मृत नहीं करते। माडों की लड़ाई के पूर्व जब परमाल ने उदल को माडो के अत्याचारी शासक से सतक रहने को कहा, तब—

हाथ जोरि के ऊदनि बोलें दादा सुनो हमारी बात ।

हम ना भजिहैं अरि समुहें से चाहौ प्राण रहैं की जायं ॥^१ (जगनिक)

इस नीति को उदल करिया की लड़ाई के प्रसंग में अपने योद्धाओं के सम्मुख यों व्यक्त करते हैं—

सदा न माता उर में राखैं, यारो जनम न बारम्बार ।

पाँव पिछार तुम मत धरियो, बुझिहै सात साल को नाम ॥^२ (जगनिक)

क्षत्रियों को अपनी वीरता और बाहुबल पर विश्वास होता है। वे किसी कार्य को लुक-छिप कर करना अपमान-जनक मानते हैं। वे प्रत्येक कार्य को खुले मँदान करते हैं। जिसमें साहस हो, सामने आए और उन्हें रोके। जब उदल ने माडों के प्रसाद से अपने पुराने घोड़े को चुपके से उड़ा ले जाने का प्रस्ताव आल्हा के सम्मुख रखा तब मलिखे ने प्रतिपोष करते हुए कहा—

कुहनी भारी तब मलिखे ने ऊदनि अक्कल गई तुम्हार ।

चोरी चोरा जो लं जंहो कलि में चोर कहैहो भाय ।

वाग लागिहै रजपूती को औ क्षत्रोपन जाय नसाय ॥^३ (जगनिक)

इसी प्रकार जब बिजमां ने उदल से गुप्त-रूप से विवाह कर लेने का प्रस्ताव किया तब उदल बोले—

चोरी चोरा ब्याह न करिहैं, ना हम करैं चोर का काम ।

बाना राखे रजपूती को, औ तलवार गहे की लाज ॥^४ (जगनिक)

इन क्षत्रियों को प्राणों का तनिक भी मोह न था ज्यों ही बारह वर्ष के होते थे युद्ध-विग्रहों में भाग लेना प्रारम्भ कर देते थे और पीठ न दिखाने के कारण कुछ ही वर्षों में वीरगति के भागी बनते थे। यही कारण है कि इन काव्यों में दीर्घजीवी क्षत्रियों को घृणा की दृष्टि से देखा गया है—

बारह बारिस लं कूकर जीयें, औ तेरह लं जियें सियार ।

बरस अठारह छत्री जीयें, आगे जीघन को धिक्कार ॥^५ (जगनिक)

१. अदली आल्हखंड, पृष्ठ ४३ ।

२. द्वारका प्रसाद आल्हा, पृष्ठ ५४ ।

३. अदली आल्हखंड, पृष्ठ ४६ ।

४. " " , पृष्ठ ५८ ।

५. द्वारका प्रसाद, आल्हा, उपक्रम, पृष्ठ २ ।

ठीक है, जब युद्धों में मरने से स्वामी का ऋण उतरता हो, अमर यश-कीर्ति की प्राप्ति होती हो, स्वर्ग में सुन्दर अप्सराएँ मिलती हों, तब सच्चे वीर जीवन का मोह क्यों रखें, क्षात्र-धर्म से विचलित क्यों हों ?

इन क्षत्रियों में सच्चरित्र, उदारता, स्वामि-सेवा आदि के भाव भी लक्षित होते हैं। कौमार्य की अवस्था में किसी स्त्री की शय्या पर पाँव रखना राजपूती-धर्म के विरुद्ध माना जाता था। जब बिजमाँ हाथ जोड़ कर ऊदल से कहने लगी कि मैं सतखंडे महल पर सेज बिछा कर तुम्हें पंखा झलूंगी तब वीरवर ऊदल ने उत्तर दिया—

ऐसी बातें तुम मत बोलौ, रानी धीर धरौ मन माँहि।

खारें पाउं धरौं सिजिया पर, तौ रजपूती धर्म नसाय ॥^१ (जगनिक)

प्रायः सच्चे वीर शत्रु पर पहले शस्त्र-प्रहार नहीं करते अपितु उसे ही प्रथम आक्रमण करने की अनुज्ञा देते हैं। इस उदार नीति के लिए महोबे के वीर विशेष रूप से विख्यात हैं—

(क) उबनि बांकुड़ा तब उठि बोलो, अनुपौ ! सुनो हमारी बात।

बन्स हमारे में बलि आई, पहिले चोट करत हम नाहि ॥^२

(ख) तब फिर ऊबनि बोलन लागे, सूरज ! सुनो हमारी बात।

जो कोई उपजत नगर महोबे, पहिले चोट करत सो नाहि ॥^३

(ख) स्वामी—

इन काव्यों में स्वामी या राजा की इच्छा को सर्वोपरि माना गया है। प्रजा की रक्षा करने को तो वह अपना कर्त्तव्य समझता था, परन्तु शासन-कार्य में उसके विपरीत आचरण करना प्राणों को संकट में डालना था। ऐसे भी शासक विद्यमान थे जो किसी सुन्दर राजकुमारी से विवाह के लिए निमन्त्रण के बिना भी जा पहुँचते थे। उदाहरणार्थ, जब राजा परमाल बिना किसी निमन्त्रण के मालवंत की पुत्री मल्हन देवी को ब्याहने के लिए ससैन्य जा पहुँचा तब वृद्ध मालवंत के प्रश्न के उत्तर में उसने कहा—

“हम लोग बुलाने की बात नहीं जोहते। भला सिंह को भी कोई न्याता देकर बुलाता है ! वह तो जहाँ अच्छा शिकार देखता है, वहीं जा कर मारता और खाता है। इसी तरह हम लोग जिसकी अच्छी बेटी देखते हैं, उसे जबदंस्ती ब्याहते हैं।”^४ रासो की हुसैन-कथा से यह बात सम्यक् स्पष्ट हो जाती है। अभिजात पृथ्वीराज

१. असली आल्हखंड, पृष्ठ ५६।

२. वही, पृष्ठ ७२।

३. वही, पृष्ठ ७८।

४. द्वारका प्रसाद, आल्हा, पृष्ठ ८।

शरणागत की रक्षा तत्कालीन राजाओं का मुख्य कर्तव्य था। पृथ्वीराज हर्षर तो श्लेष्म का मुख-दर्शन अर्मागलिक मानता था और उधर शरणागत रक्षा अपना कर्तव्य। उसकी दशा सांप-छछूंदर की-सी हो गई। स्वामी की द्विविधा में डूबते देख कर चंदबरदाई ने शंकर और सागर के दृष्टांतों से उसे यों कर्तव्योपदेश दिया—

शंकर गर विष कंद जिम, बड़वा अगनि समंद ।

तैं रक्खौ बहुतान तिन, खा हुसैन कहि खंड ॥^१

‘हम्मीर रासो’ के अनुसार अलाउद्दीन के रणथम्भौर पर आक्रमण का कारण हम्मीर का महिमा शेर को शरण देना था। जब दीर्घकालीन घेरे से हम्मीर का हृदय भी एक बार व्याकुल हो गया तब उसकी क्षत्राणी राणी ने उसे यों उत्साहित किया—

सरण राखि सेख न तजो, तजो सीस गढ़ बेस ।

राणी राब हमीर को, यह बीन्हूँ उपदेस ॥^२ (जोधराज)

रानी ने वचनों से हम्मीर के हृदय को वैसे ही प्रभावित किया जैसे जनाईन के उपदेश ने पार्थ के मन को। वे क्षणिक क्लेश का परित्याग कर बोले—

राखि सेख सरणों तजों, कुल लाजं बहुतवाण ।

तुम साको गढ़ कीजियौ, निरखि साह नीसाण ॥^३ (जोधराज)

कविवर भूषण ने भी शिवाजी की शरणागत-वत्सलता की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

साहि तनै तव कोप कुसानु ते बंरि गरे सब पानिप वारे ।

एक अचम्भव होत बड़ो तिन ओठ गहे अरि जात न जारे ॥^४

(ग) सेवक—

सेवक का मुख्य कर्तव्य यह है कि स्वामी के प्रति सदा कृतज्ञ रहे और उसके कार्य की सिद्धि के लिए प्राणों तक को भी अर्पित करने में संकोच न करे। ‘नमक-हलाली’ या स्वामी के प्रति कृतज्ञता की भावना वीर-काव्यों में पग-पग पर दिखाई देती है। ‘नमक-हलाली’ की यह भावना सेवा-निवृत्ति के साथ ही समाप्त नहीं होती, बाद में भी बनी रहती है। जब महिमा शेर ने अपने बाण से अलाउद्दीन के प्राण तो न लिये परन्तु सिर का छत्र गिरा दिया तब बादशाह का वजीर बोला—

पिछले निमक की बोस्ती, करी जान बकसीस ।

जो बूजो सर छंडिहै, हुनिहै बिस्वाबोस ॥^५

१. पृथ्वीराज रासो, प्रथम भाग (उदयपुर), पृष्ठ २४७।

२. हम्मीर रासो, पृष्ठ ११८।

३. वही, पृष्ठ १२०।

४. भूषणग्रंथावली, पृष्ठ १३६।

५. हम्मीररासो, पृष्ठ ११३।

कभी-कभी युद्ध की भयंकरता या पुत्र-कलत्रादि के मोह के कारण योद्धा लोग साहस को बैठते थे। ऐसी विकट घड़ी में भी जब उन्हें स्वामी के नमक का ध्यान आ जाता था तो उन के डगमगाते पग पुनः स्थिर हो जाते थे। ब्राह्मखंड की निम्नलिखित पंक्तियों में एक ऐसा ही वृत्त्य प्रस्तुत किया गया है। उद्धृत बोला—

जिनहि पियारी हूँ घर तिरबां, यारी सलब लेउ घर जाउ ।

जिनहि पियारी परम भगौती ते सब चली हमारे साथ ।

इतनी सुनि के सत्री लौटे श्री ऊबनि को नाथी माथ ।

निमक चवेले को साथो है, हम ना घरें पिछार पाउं ॥^१

(जगनिक):

सच्चा सेवक वही है जो अपने अन्तिम स्वाम तक स्वामी के हित-साधन में तत्पर रहे। यदि युद्ध में मूर्छित स्वामी के नेत्रों को चीलें चाँच से नोचने लगें तो पास ही घायल पड़ा सच्चा सेवक अपना कलेजा काट कर चीलों के आगे फेंक देता है जिस से स्वामी के नेत्रों की रक्षा हो जाए। संजमराय की ऐसी प्रपूर्व स्वामिभक्ति का उल्लेख चंद बरदाई ने पृथ्वीराज रामो के महोवा खंड में इस प्रकार किया है—

सोह लागि चहुँबान परे मुरछा ह्वै धरतिय ।

उड़ गोघनि बंठि कं चुंच वाहेति बिरतिय ॥

देख्यो संजमराय नृपति बृग दाढ़ति पंछिन ।

अपने तन की मांस काटि भक्षु दियो ततच्छिन ॥

अपने सुनयन देख्यो नृपति अन्त समं भ्रम पल्लियब ।

आये बिधान बंकुठ के बेह सहत घरि चल्लियब ॥^२

सत्य है, यदि ऐसे कर्तव्य-निष्ठ सेवकों की भी सद्गति न होगी तो और किसकी होगी ! कदाचित् इसी घटना को स्मरण करते हुए कविराजा सूर्यमल्ल ने स्वामि-भक्त सेवकों की यों स्तुति की है—

भड़ सो ही पहलां पड़, चीलह बिलग्गा खंक ।

नेरा बचाव नाहरा, आप कलेजौ फंक ॥^३

गुरी सेवक का कर्तव्य है कि गुण-ग्राही और विवेकी स्वामी की ही सेवा करे। कारण, भूर्व तथा विवेक-हीन स्वामी गुण के महत्त्व को नहीं पहचानता और इसीलिए गुणवान् सेवक को कुछ काल बाद निराश होना पड़ता है। जब वीरखर छत्रसाल को, अनाधारण औरकृत्य करने पर भी, श्रीरंगदेव द्वारा उचित सम्मान प्राप्त न हुआ तब वे बोले—

१. असली ब्राह्मखंड, पृष्ठ ४२ ।

२. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ १२८ ।

३. सूर्यमल्ल, वीर सतसई, पृष्ठ ८६ ।

मूरख के भागे गुन गायी । भेंसा बीन बजाइ रिझायी ।
 खर के अंग सुगंध चढ़ायी । वायस कौ धनसार चुनायौ ॥
 बधिर कान में मंत्र सुनायौ । सूरदास को चित्र दिखायौ ।

अविवेकी को सेइ कै, को न हिये पछिताइ ।

बीजा बबै बबूर के, कहा दाख फल खाइ ॥^१ (गोरेलाल)

इन कवियों ने, विवेक तथा गुणज्ञता से शून्य स्वामियों के समान ही उन स्वार्थपरायण सेवकों को भी आड़े हाथों लिया है जो उदर-पूर्ति के समय तो स्वामी के संमुख रहते हैं और उसके संकट-ग्रस्त होने पर अपने प्राण-त्राण के लिए घर में जा घुसते हैं । चंदबरदाई ने इस नीति को नाहरराय के मुख से रहट और घड़ियों की उपयुक्त उपमा द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है—

यह न मत सेवक प्रमान, रहट घट्टी फेरहि हम ।

पेट भरण समुह चलंति, पुट्ठी लें भार चलहि क्रम ।

ते नहि गनियँ सूर, धमुँ तिन छत्रिन नाहीं ।

स्वामी संकरँ छाडि, जीवन रखन घर जाहीं ॥^२

(घ) स्त्री

स्त्री के सम्बन्ध में वीरकाव्यों में दो प्रकार के विचार प्रकट किये गए हैं—निदा-त्मक और प्रशंसात्मक । निंदा के प्रायः चार कारण प्रस्तुत किये गए हैं—छल-कपट, विनाशकारिणी वाणी, भीरुता और दुस्साहस । स्त्री के चरित्र की गहनता और उसके मुख से निस्सृत शब्दों की विध्वंसकता का संकेत नरपति नाट्ट ने इस प्रकार किया है—

अस्त्री-चरित-गति को लहइ ? एकई आखर रस सबइ बिरास ॥^३

नारी की भीरुता और पुरुष की आत्मश्लाघा का उल्लेख जोधराज ने उस प्रसंग में किया है जिस में अलाउद्दीन और उसकी बेगम के आमोद-प्रमोद का वर्णन है । रात्रि के समय दोनों रंगमहल में हास-विलास में मग्न थे कि देवयोग से वहाँ एक चूहा आ फूदा । यह देख जहाँ बेगम कांप उठी वहाँ बादशाह बाण से चूहे के प्राण हरकर अपनी वीरता का बखान करने लगा । दम्पती के संवाद रूप में जोधराज कहते हैं—

कायर जाति तिया हम जानी । तातें यह हम प्रथमाहि ठानी ।

यह करनी अबभुत तुम बेखी । निज कर करी सु तुम अवरेखी ।

१. गोरेलाल, छत्रप्रकाश, पृष्ठ ७७, वीर-काव्य, पृष्ठ ३१३ पर उद्धृत ।

२. पृथ्वीराज रासो, प्रथम भाग, (उदयपुर), पृष्ठ १६४ ।

३. बीसलदेव रासो, पृष्ठ २।३ ।

हंसी हरम सुनि हजरति बानी । पुरुषन की तो अकय कहानी ।

मारैं तिह तो न मुख भाखैं । जाचे नाहि प्राण वं राखैं ।^१

कायरता के साथ ही इन काव्यों में नारी की प्रबलता का भी उल्लेख किया गया है। परन्तु स्मरण रहे कि यह प्रबलता उसके शारीरिक या आत्मिक बल पर नहीं, उसके सौन्दर्य पर आश्रित है। जैसा कि किसी कोविद का कथन भी है कि पुरुष का सौन्दर्य उसके बल में और स्त्री का बल उसके सौन्दर्य में निहित है। स्त्री अपने लावण्य से प्रतापी नरेशों को अपने चरणों में झुका सकती है और तेजस्वी महर्षियों को पथ-भ्रष्ट कर सकती है। जब वह अपनी बात पर अड़ जाए तब अत्यन्त दुःसाहस-पूर्ण कार्य करने में भी नहीं भिन्न होती। उर्वशी द्वारा पद्म ऋषि के तपोभंग के प्रकरण में जोधराज ने लिखा है—

का नहि पाबक जरि सरे, का न समुद्र समाय ।

का न करे अबला प्रबल, किहि जग काल न लाय ।^२

हमारे विचार में स्त्रियों की उपर्युक्त प्रकार की निन्दा परम्परा का पालन मात्र है। पूर्ववर्ती साहित्य में इसी प्रकार की नारी-निन्दा अनेक कवि कर चुके थे और इन कवियों ने प्रसंगवश उन्हीं मतों की पुनरावृत्ति कर दी है।^३ वस्तुतः इन काव्यों का वातावरण नारी की प्रशंसा से पूर्ण है। इनमें उन राजा-महाराजाओं के चरित का वर्णन है जिन्हें मोक्षानन्द की अपेक्षा ऐहिक सुख अधिक प्रिय थे। ऐहिक सुख के प्रधान साधन दो हैं—कामिनी और कंचन। यही कारण है कि इन रचनाओं में कामिनी की स्तुति ही अधिक की गई है। स्त्री दाम्पत्य-सुखों की दायिका होने के कारण ही पुरुष की प्रशंसा-यात्र न थी, पुत्र दान और सहगामिनी होने के हेतु भी श्लाघनीय थी। इसी लिए चंद वरदाई ने स्त्री-स्नेह की स्तुति इस प्रकार की है—

पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र फल दान ।

अंत होइ सहगामिनी, नेह नारि को मान ।^४

वह वीरांगना युद्ध में हत वीर पति के साथ सहर्ष सती हो कर जहाँ अपने अद्वितीय प्रेम तथा वीरता का परिचय प्रस्तुत करती थी, वहाँ वीरपुत्रा और वीर-पत्नी होने में उचित गर्व का भी अनुभव करती थी। कवि लोग भी उन नारियों पर बलिहारी जाते थे जो अपनी गर्भस्थ बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देती थीं जिस से सद्योजाता कन्याएं प्रभूतिका-गृह की तापने की अंगीठी को देखकर इस लिए हर्षित

१. जोधराज, हम्मीर रासो, पृष्ठ ४४ ।

२. वही, पृष्ठ २८ ।

३. बालकव्य नीति, पृष्ठ ७।१, शतकत्रयम्, पृष्ठ ६६।१०; सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृष्ठ ३४८ आदि, रामचरितमानस, गुटका, पृष्ठ २६१ ।

४. कविता कौमुदी, भाग १ (१९४६ ई०) पृष्ठ १३५ ।

होती थीं कि बड़ी हो कर वे बीर पति के साथ इसी अग्नि की ज्वालाओं का आलिंगन करेंगी। कविराजा सूर्यमल्ल कहते हैं—

हूँ बलिहारी राखियाँ, सौँचा गरभ सिलाय ।

जाचा हंव तापणौ, हरखं धी बृग लाय ।^१

पुरुष तो युद्ध में बच भी सकता है, इसलिए युद्ध के लिए प्रस्थान करने में उतनी बीरता अपेक्षित नहीं होती जितनी जीते जी चिता पर चढ़ने के लिए। जो पुरुष होकर भी रणभूमि में जाने से भीत-त्रस्त होते हैं, उन पर व्यंग्य कसती हुई कोई वीरांगना कहती है कि तुम भूलकर भी अग्नि पर पाँव न रखना। ऐसा करने से तो राख हो बेश रहेगी। इसका आलिंगन करने में तो स्त्रियाँ ही समर्थ हैं।

भूल न दीजें ठाकुराँ, पावक भायें पाव ।

राख रहीजें बाभियाँ, तियाँ धरीजें चाव ।^२

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन काव्यों में, अनेक गुणों से सुभूषित होने के कारण, स्त्री की प्रशंसा ही अधिक है। इस पर भी यदि कोई उन्हें कायर कहने का साहस करता है तो कवि उसके लिए नारी को दोषी नहीं ठहराता, उस वंश को ही बूषित कहता है जिसके कुसंस्कारों के कारण वह बीरता से वंचित रह जाती है—

नरां न ठीएँ नारियाँ, ईसौ संगतुँ एह ।

सूरां घर सूरी महलु, कायर कायर गेह ।^३ (सूर्य मल्ल)

(इ) पुरुष

यदि स्त्री अपने पातिव्रत और बीरता का प्रमाण जीहूर द्वारा देती थी तो पुरुष ढाल-तलवार के जीहूर दिखाकर। जगनिक आल्ह-खण्ड के प्रारम्भ में दुर्गा देवी का स्तवन करते समय जहाँ गायक के लिए स्वर, नर्तक के लिए नयन, और वादक के लिए ताल की याचना करते हैं वहाँ पुरुष के लिए ढाल और करवाल की—

गाउन बारे कौ स्वर दीजो ओ बजवैयं दीजो ताल ।

नाचन बारे कौ नैना बेउ मर्ब की बेउ ढाल तलवारि ।^४

उन का सिद्धांत यह था कि जो व्यक्ति तेग बांधने में समर्थ है, उसका घर पर बैठे रहना अनुचित है।^५ पुरुष का कर्तव्य है कि युद्ध में लड़-मिड़ कर जीवन को पर्यवसित करे, न कि दीर्घ ज्वरादि में पीड़ित होकर खाँउ-खाँउ करता हुआ कष्ट पर

१. सूर्यमल्ल: बीरसतसई, पृष्ठ ५३।६५।

२. वही, पृष्ठ २१।३३।

३. वही, पृष्ठ ६६।१६१।

४. असली आल्हखण्ड, पृष्ठ ५-६।

५. सं० सत्यप्रिय, सूदन-रत्नावली, पृष्ठ ६३।

प्राण दे। खाट पर मरने वाला तो उस पुण्य से भी वंचित रह जाता है जो काक-पिण्डों को अपने पल्लव के प्रदान से प्राप्त होता है। युद्ध में ऊँदल अपने सैनिकों को उत्तेजित करते हुए पुरुष के कर्तव्यों का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

मवं बनाये मरि जंघे को, औ कटिघा पर मरं बलाब।

जो मरि जैहो रन खेतन में, तुम्हरो नाम अमर हुइ जाय।^१ (जननिक)

दाम्पत्य सुखों का उपभोग तथा रण-भूमि में युद्ध-विग्रह जीवन में ही किया जा सकता है। कभी-कभी पुरुष इस कारण असमंजस में पड़ जाते हैं कि उधर तो युद्ध की दुन्दुभि रणक्षेत्र में बूढ़ने को निमंत्रित करती है और इधर नवोद्वा का लावण्य आमोद-प्रमोद के लिए। ऐसी स्थिति में वीरकाव्यों के रचयिता यह शिक्षा देते हैं कि वर को नगाड़े की ध्वनि सुनते ही वधू का आंचल-बंध छुड़ाकर छोड़ें को रणभूमि की ओर बढ़ाना चाहिए—

बंध मुणायो बौंद नूं, पेसंतां घर आया।

अंचल साम्है धालियौ, अंचल बंध छुड़ाय।^२ (सूर्यमल्ल)

पुरुष पराई नारी को माता, बहिन और पुत्री के समान समभता था परन्तु जब कलुषित वागना का विचार पहले पर-नारी द्वारा ही व्यक्त किया जाता था तब रति-दान न करने वाला व्यक्ति पुरुषत्व-हीन भी समझा जाता था। अलाउद्दीन की पत्नी रूय-विचित्रा ने महिमा शेष को निर्जन वन में इसी दुविधा में डाल दिया था। उसके कृत्स्न प्रस्ताव पर शेष बोला—

मैं अब लों तिय जग में जानत। भगनी मात सुता सम मानत।

तातें कहा धर्म मैं हाखें। यह तो कयहूं जिय न बिचारैं।^३ (जोषराज)

महिमा शेष तो पतिता को पावन करने का इच्छुक था परन्तु रूपविचित्रा ने पावन को पतित करने के उद्देश्य से उत्तर दिया—

तिय तजि लाज कहत रति जाचन। को नहि धर्म जो पुरुष आचन।

पुरुष धर्म यह मूर न होई। तिय जाचत को नाहत कोई।^४

अबला का सयला रूप विजयी हुआ। शेष की शेली किरकिरी हो गई। वह मोह के कारण अधर्म को भी धर्म मान बैठा और मन में कहने लगा—

सांचो है यह नारि, धर्म उभे जग महें प्रगट।^५

परन्तु कवि की दृष्टि में परकीया-गमन यदि नैतिक कृत्य होता तो न शेष

१. असली आल्खंड, पृष्ठ ७७-७८।

२. सूर्यमल्ल:बीरसतसई, पृष्ठ ७२।१३३

३. हम्मीर रासो, पृष्ठ ३६-४०

४. वही ,, पृष्ठ ४०

५. वही ,, पृष्ठ ४०

को दिल्ली छोड़नी पड़ती, न हम्मीर की शरण में जाना पड़ता और न अलाउद्दीन का रणथंभौर पर आक्रमण होता। हमारे मत में भी परनारी की याचना पर रतिदान नीति-विरुद्ध है। पतित व्यक्ति तो दूसरे को, अपने सुख के लिए, अनैतिक कार्य करने की प्रेरणा ही नहीं करता, प्रलोभन भी देता है, परन्तु नीतिमान् व्यक्ति का कर्तव्य है कि नीतिभ्रष्ट को सत्पथ पर लाने का उद्योग करे। यदि वह अपने इस सदुद्योग में सफल न भी हो सके तो भी स्वयं पथभ्रष्ट होकर समाज को अनैतिकता के गर्त में गिराना तो किसी प्रकार भी नीति-संगत नहीं माना जा सकता।

(च) हिन्दू, मुसलमान

हिन्दू इस भूमि पर सुदीर्घ काल से निवास कर रहे थे। मुसलमानों ने आकर इन्हें राज्य-वैभव से ही वंचित नहीं किया, इनके धर्म पर भी प्रहार किया। दोनों की संस्कृतियों में भी अन्तर स्पष्ट है। मुसलमान पश्चिमाभिमुख नमाज अदा करते हैं और हिन्दू पूर्वाभिमुख संध्या-वन्दन। ये मूर्तिभंजक हैं तो ये मूर्तिपूजक। वे गौ को एक भक्ष्य और बलि के योग्य पशु-मात्र मानते हैं तो ये उसे माता के समान मान्य। वे सूअर को देखना तक हराम समझते हैं तो ये उसे एक भक्ष्य प्राणी। वे गैर-मुस्लिमों को काफ़िर कहते हैं तो ये गौभक्षकों को म्लेच्छ। ऐसी स्थिति में यदि हिन्दू और मुसलमान शासकों में प्रायः सामंजस्य न रहा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वीर-काव्यों के रचयिता हिन्दू और हिन्दू राजाओं के अभिमत थे। इसलिए यदि इन्होंने मुसलमानों को अविवेक, अविवेकी, अत्याचारी आदि कह डाला है तो क्षम्य ही है। यहाँ यह भी विस्मरण न करना चाहिए कि उनके प्रति कटूवक्तियों का प्रयोग भी विवेक-पूर्वक ही किया गया है। जैसे, कवि भूषण ने जहाँ औरंगजेब की निन्दा, उसकी मतान्धता के कारण, की है, वहाँ उसके पूर्वजों की प्रशंसा भी उनके न्याय्याचरण के कारण की ही है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भूषण ने अन्याय के पक्षपाती जसवन्त-सिंह, उदयमान आदि हिन्दू नरेशों को भी आड़े हाथों लिया है। उद्युक्त नीतियों से सम्बन्धित कुछ पद्य दिये जाते हैं।

पठानों की युद्ध-प्रियता

यों सुनि ग्रहमद लौं का कहना, तब पठान उठि जाए।

जो पठान तिस कौं तो सरना, ऐसे बचन सुनाए।^१ (सूदन)

१. भूषण ग्रंथावली (साहौर. १९३८ ई०) पृष्ठ २०८।२८६

२. सुदानरत्नावली, पृष्ठ ६३

तुकों की अविश्वसनीयता

सुनि जज्जेस अज्ञा दई करनौ या कौ संग ।
पे इन तुरकन सों कछू बुझनु नहीं प्रसंग ।
जौ यह भेज्यौ साह कौ, चलयौ पठानन पास ।
तौ तोह्र कौ पहुचनौ पे न करौ बिसवास ।^१ (सूदन)

न्यायप्रिय मुसलमान शासकों की प्रशंसा

आदि की न जानो देवी-देवता न मानो सांच,
कहूं जो पिछानो बात कहत हों अब की ।
बम्बर अकम्बर हिमायूं हृद् बांधि गए,
हिन्दू औ तुदक की कुरान वेद ढब की ।
इन पातसाहन में हिन्दुन की चाह हुती,
जहाँगीर साहजहाँ साख पूरें तब की ।
कासीह्र की कला गई मयुरा मसीत भई,
सिवाजी न होतो तो सुनति होतो सब की ।^२ (भूषण)

परन्तु जो यवन शासक वेद, स्मृति और पुराणों के प्रचार के विरोधी थे, यज्ञो-पवीत, माला, तिलक और चोटी को मिटाना चाहते थे, हिन्दुत्व की रक्षा के लिए उन से लोहा लेने की प्रेरणा ही इन काव्यों की नीति है ।^३

(छ) मित्र, शत्रु

युद्ध-प्रधान इन काव्यों में मित्र-विषयक नीति की अपेक्षा शत्रु-सम्बन्धी नीति की प्रधानता दिखाई देती है । दुःख में सहायक मित्र दुर्लभ ही होते हैं, सन्मित्रों के प्रति हमारा व्यवहार सुखा के समान होना चाहिए और शत्रुओं के प्रति पावक के तुल्य, बैरी के वचन विश्वसनीय नहीं होते, शत्रु बाहर से प्रेम भी करे तो भी हृदय में द्वेष रखता है, शत्रु के संहार से ही वीरों की कीर्ति का प्रसार होता, आदि अनेक उपयोगी नीतियों का इन काव्यों में उल्लेख किया गया है । जैसे—

रिपु जन के रस कहाँ, कहाँ तिन वचन बिसासह ।
कहा पिशुन सुप्रतीत, कहा अरि कोई कसासह ।
महुरे का कहा मीठ कहा हिमसैल शीत जग ।
कहा सब प्रगटित अगनि, कहा पय पोषित पन्नग ॥^४ (मान)

१. बही, पृष्ठ ५६ ।

२. भूषण शंखावली, शिवाबावनी, पृष्ठ २४।१६

३. " " " पद्य ५०, ५१

४. मानःराज बिलास, बीरकाव्य, पृष्ठ २५४ पर उद्धृत ।

(ज) फुटकल

उपर्युक्त मुख्य सामाजिक नीतियों के प्रतिरिक्त छिटपुट रूप से अन्य अनेक उपयोगी सामाजिक बातों का बर्णन भी इन काव्यों में जहाँ-तहाँ दिखाई देता है; जैसे योगियों को शासकों की वन्दना वाम हस्त से करनी चाहिए, दक्षिण से नहीं क्योंकि दाएं हाथ से तो वे सुमरनी के द्वारा सर्वेश का स्मरण करते हैं, बहता पानी और रमते योगी कहीं रुका नहीं करते, सबल लोग निर्बल को खा जाते हैं, राजा को, चाहे वह शतरंज का भी हो, न मारना चाहिए ।^१

४. आर्थिक नीति

शासक लोग तो वैभव और भूमि के लोभी होते ही हैं, इसलिए इन काव्यों में कंचन की कुत्सा का अभाव-सा ही। प्रायः धनाढ्य लोग सम्पत्ति को स्थिर मान कर, धनमद से मत हो कर, मनमाने कार्य करने लगते हैं जिनका दुःखद परिणाम उन्हें बाद में भोगना पड़ता है। उस कटु स्थिति से बचाने के लिए इन कवियों ने कई स्थलों पर लक्ष्मी की चंचलता और मादकता का उल्लेख किया है। चंद बरदाई का कथन है—

को गड़ुंडं खोवेति को, को बिलसे करि भेव ।

माया छाया मध्य दिन, उर्यो विषया बलदेव ।^२

जहाँ सन्त और भक्त कवियों ने द्रव्य से दूर रहने की शिक्षा दी है, वहीं इन कवियों ने उसे दान करने और भोगने की। इन काव्यों में समृद्ध व्यक्तियों के द्वारों पर 'दान की हुन्दुभि' और 'मिक्षुक-भीर' का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है।

यद्यपि क्षत्रिय नरेश खूब ठाट-बाट से रहते थे तथापि क्षात्र धर्म की तुलना में वे सम्पत्ति को तुच्छ मानते थे। धन का प्रलोभन उन्हें कर्तव्यपथ से विचलित करने में प्रायः असमर्थ रहता था। जब औरंगजेब ने महाराज जसवन्तसिंह को धन का प्रलोभन देना चाहा तो जोषपुराधीश ने उत्तर दिया कि हमारी खेती (जीविका-साधन) और अक्षय कोष तो खड्ग ही—

खेती हम कुल वग, वगहम अक्षय वजानह ।

वज्र करै बस बलक, नाम हम वग्न निबानह ।

बल बल बंडन वग, बेट इच्छत हम वग्नह ।

क्षिति रक्षण कुनि वग्न, अहित अगो इन अग्नह ।

१. आल्हखंड पृष्ठ ४६, ५४, 'वीरकाव्य' में 'छत्रप्रकाश' पृष्ठ २६६, 'वीरकाव्य' में 'हम्मीर हठ,' पृष्ठ ४८५

२. पृथ्वीराज रासो, भाग १, (उदयपुर), पृष्ठ २०६

बग बार तित्थ क्षत्री बरम, आवागवनहि अपहरन ।

सो बगबंघ हम सूर सब, धरय न साहि बजान बन ।^१ (मान)

शास्त्रों और नीतिकाव्यों में तो प्रायः द्यूत-श्रीड़ा को निन्द्य कम ही कहा गया है परन्तु वीरकाव्यकार इसे निषिद्ध नहीं कहते । इनके मत में तो क्षत्रिय को युद्ध और द्यूत का निमंत्रण कभी अस्वीकृत न करना चाहिए । राजपूतों के कर्तव्य का उल्लेख करते हुए पद्याकर कहते हैं—

यह बर्म क्षत्रिन को प्रमान, पुरान वेद सदा कहैं ।

द्विज गऊ पालहि, रिपु उजालहि, अस्त्र धारहि तन सहैं ।

बग बुधा बुद्ध हु को कबहुं, सपने हु नहि नार्हीं करैं ।

ऐसे परम रत्नपूत कों, रन मिरत बारंगन बरैं ।^२

५. इतर-प्रणिवाचिक नीति

उपयुक्त पद्य से ही स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोग, परंपरा के अनुसार, द्विज और वेद की रक्षा के समान गो-रक्षा के लिए भी सर्वदा सन्नद्ध रहते थे । गजों और अश्वों के प्रति भी आदर-भाव दिखाई देता है क्योंकि वे युद्ध में विशेष रूप से उपयोगी थे । घोड़ियों को गो का दूध भी पिलाया जाता था ।^३ यह आदर-भाव अपने ही पक्ष के गजाश्वों तक सीमित था, क्योंकि विजय-प्राप्ति के लिए शत्रुपक्षीय हाथी-घोड़ों के वध में इन्हें कोई संकोच न होता था । वीरकाव्यों के क्षत्रिय शासकों का अन्य हिंस्र और निरीह प्राणियों के प्रति कोई स्नेह नहीं दिखाई देता । वे अपनी वीरता की परीक्षा के लिए, लक्ष्यबोध के अभ्यास के लिए तथा मनोविनोद और भोजन के लिए विविध वन्य जन्तुओं का निःसंकोच वध करते थे । माताएँ अपने बच्चों को आखेट के लिए उत्साह-पूर्वक भेजती थीं । इससे उनके हृदय में कुछ कठोरता भी उत्पन्न होती थी जो सद्गुणजीवियों के लिए अनिवाय-सी है । जहाँ ये योद्धा लोग शरीर की पुष्टि और रसना की लोलुपता की शान्ति के लिए वन्य पशुक्षियों का मांस खाने में संकोच न करते थे वहाँ रणभूमि में अपना मांस उन्हें अर्पित करने में भी हर्षोल्लास का अनुभव करते थे । वे तो उस शरीर को निरर्थक-सा ही समझते थे जिसका हाड-मांस अंत में जीव-जन्तुओं का भक्ष्य न बनता था । युद्ध में प्राण देने और लेने के लिए सज्जित वीरों को जिस निर्भयता, साहस और पराक्रम की आवश्यकता होती है, मद्यपान कदापि उसमें सहायक होता था । यही कारण है कि इन काव्यों में योद्धा सुरा-सेवन

१. मान: राजबिलास, पृष्ठ १।१६०

२. सं० विश्वनाथ प्रसाद: 'पद्माकर पंचामृत' में हिम्मत बहादुरविद्यावली, पृष्ठ १७। १०१

३. अतली आल्हाद पृष्ठ ४३६

करते दिखाई देते हैं । उक्त कथन के समर्थक कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

अश्व का संमान

कर पुष्पकारे धरा कहै, जाण धरौ री जंत ।
नोराजण बाधाबिघो, हूं बलिहार कुमंत ।^१ (सूर्यमल्ल)

आखेट की प्रेरणा

भोर से बेटा जाउ भाबर में घरी डाढ़ेन में करी शिकार ।
सैं शिकार घावौ भाबर से महतारी के धरौ धगार ।
जो शिकार सैं है भाबर से सो तलबरिहा पूत हमारा ।^२ (जगनिक)

कटक में मांस-मक्षण

बारह कोसी के गिरदा में भंडा गढ़ी बनाकर ब्यार ।
बढ़ी रसुइयां उमरायन की बटुघन बढ़े हिरन के मांस ।^३ (जगनिक)

युयुत्स का मद्यपान

काय उतावली कंकणी, जे मद पीबण जेज ।
कंत समर्प हेकली, कटकां ठाहि कलेज ।^४ (सूर्यमल्ल)

६. मिश्रित नीति

वीरकाव्यों की मिश्रित नीति का वर्गीकरण निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है—

(क) मृत्यु	(च) भवितव्यता
(छ) समय	(ख) शकुन, ज्योतिष
(ग) कलिकाल	(ज) राजनीति
(घ) स्थान, सरिता	(झ) धर्म ।

(ङ) पुरुषार्थ

१. सूर्यमल्ल : वीरसतसई, पृष्ठ १७।२६ । अर्थ—पति की विजय का वृत्त सुनकर स्त्री ने पति के अश्व की भारती उतारी और हाथ से थपथपा कर कहा—हे अश्व, मैं तुझ पर बलिहारी जाती हूँ ।
२. असली आल्हखंड, पृष्ठ ३०
३. वही, पृष्ठ ४४
४. सूर्यमल्ल : वीरसतसई, पृष्ठ ११६।२३८ । अर्थ—घरी खील, इतनी आतुरता क्यों ? केवल सुरा-पान मात्र की बेर है, फिर तो अकेले ही मेरे पति प्राण-कटक काट कर उनके कलेजे तुझे अर्पित करेंगे ।

(क) मृत्यु—मृत्यु की चर्चा पूर्ववर्ती धर्म-ग्रंथों और नीतिकाव्यों के समान इन वीरकाव्यों में भी बहुत की गई है परन्तु तीनों के दृष्टिकोण में भारी भिन्नता है । धर्मग्रंथ मनुष्यों को ब्रह्म-प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रायः मृत्यु का भय दिखाते आये हैं और नीतिकाव्यकार उन्हें उत्तम आचार और व्यवहार में प्रवर्तित करने के लिए । परन्तु वीरकाव्यों ने मृत्यु का भय नहीं दिखाया, उससे निर्भय बनाने का यत्न किया है । युद्ध में भाग लेने वालों के दोनों हाथों में लड्डू हैं । विजयी हुए तो सांसारिक सुखों के भोग और वीरगति पाई तो स्वर्गीय सुखों के । सूर्यलोक आदि में स्थान पाने की चर्चा भी की गई है परन्तु अधिकतर ध्यान अप्सरा आदि से प्राप्य सुखों की ओर है । इन वीरों की धारणा है कि यदि आयु शेष है तो न कोई प्राणा-पहरण कर सकता है और न मनुष्य भूखा मरता है, और यदि जीवन के दिन पूरे हो चुके हैं तो लाख उपाय करने पर भी कुछ नहीं बन सकता । मृत्यु के समय के समान, ये उसके स्थान को भी निश्चित मानते हैं । युद्ध में पमार अर्जुनसिंह अपने सैनिकों को उत्तेजित करते हुए कहते हैं—

(क) जिन की बढी है मोच सब, तिनकी न इत-उत बचहिणी ।

जिनकी नहीं है बिधि रखी, तिन के न तन कों तबहिणी ।^१

(ख) भेटे धनंतर-से बु बंद, सु यों अनेक विधें करे ।

पर काल है जिहि को जही, तिहि को तहाँ ते नहि टरे ।^२ (पद्माकर)

जब मृत्यु का स्थान और समय निश्चित है तो भवसर आने पर कायरता क्यों दिखाई जाय ? जो लोग भवसर पर वीरतापूर्वक प्राणोत्सर्ग करते हैं, उन्हें तो लोक में सुयश और परलोक में प्रभुत्व प्राप्त होता है परन्तु जो घर में ही रोग से धुल-धुल-कर प्राण देते हैं, उन्हें तो यम-दूत नरक में ही ले जाते हैं—

अठे सुबस प्रभुता उठे, भवसर मरियाँ आय ।

मरली घर रे माभियाँ, जम नरकाँ लं जाय ।^३ (सूर्यमल्ल)

(ख) समय—दिनों के अन्धे और बुरे होने में इन कवियों का विश्वास है । जब दिन अन्धे आते हैं तो सब कार्य स्वयमेव सुधरते जाते हैं और जब बुरे, तब सब पुरुषार्थ विफल हो जाते हैं ।^४ सब का समय भी सदा समान नहीं रहता । जो मनुष्य आज धनी, युवक और सुखी है, वही कल निर्धन, जीरा और दुखी दिखाई देता है—

धन जोबन नर की दसा, सब न एक बिहाय ।

पाल पांच ससि की कला, घटत-घटत बड़ि जाय ।^५ (जोधराज)

१. पद्माकर पंचामृत, हिम्मतबहादुर बिबदावली, पृष्ठ १६

२. वही, पृष्ठ १७

३. सूर्यमल्ल : वीरसतसई, पृष्ठ ७१।१३०

४. पृथ्वीराज रासो, (उदयपुर), प्रथम भाग, पृष्ठ १२८।६२

५. जोधराज : हुम्मीर रासो, पृष्ठ ११६।६७४

(ग) कलिकाल—ब्राह्मण-ग्रंथों के समय से ही कलियुग में अधर्म, अनाचार आदि की अधिकता का उल्लेख हमारे साहित्य में किया जाता रहा है। आशा की जा सकती थी कि वीरगाथाओं के वीर पात्र उस विचार में परिवर्तन लाने का उद्योग करेंगे परन्तु ऐसा हो नहीं पाया। वे भी बुद्धिविनाशादि दोष कलि के माथे मड़ते ही दिखाई देते हैं—

ज्यों-ज्यों कलि उदित भयो, त्यों-त्यों घटि गई बुद्धि ।

अब के कवि भाषा कहत, तऊ न समझत सुद्ध ।^१ (सूदन)

कविवर भूषण ने अपने समय के पापमय वातावरण के लिए कलियुग को दोषी तो ठहराया है परन्तु कुशल इतनी है कि उन्होंने इसके प्रभाव को क्षीण करने के लिए शिवा जी के हाथ में खड्ग दे दिया है ।^२

(घ) स्थान, सरिता—भूपतियों के काव्य होने के कारण वीरकाव्यों में भूमि की वह उपेक्षा नहीं पाई जाती जो सन्तों और भक्तों की वाणियों में प्रायः दिखाई देती है। सन्त-भक्त तो शरीर के लिए दो गज भूमि ही पर्याप्त समझते हैं परन्तु वीरकाव्यों में माता पुत्र को पलने में ही यह शिक्षा देती हुई दिखाई पड़ती है कि प्राण भले ही अर्पित कर दो, भूमि किसी को माँ छीनने दो—

इला न देखी आपसी, हालरियाँ हुलराय ।

पूत सिखावै पालणै, मरण बढ़ाई माय ।^३ (सूर्यमल्ल)

भूमि को माता मानने की जो भावना वैदिक युग में विद्यमान थी,^४ और मध्यवर्ती काल में सुप्त-सी दिखाई देती थी, इन काव्यों में आकर पुनर्जागरित हो गई लोभ के कारण इस भावना को अनेक भारतीय नृप विस्मृत कर चुके थे परन्तु राणा प्रताप के हृदय में यह सदा स्फुरित रही—

धिर नृप हिन्दुस्थान, लातर गा भग लोभ लग ।

माता भूमि समान, पूजै राण प्रताप सी ।^५ (दुरसा जी)

वीरकाव्यों में गंगा जी के प्रति विशेष श्रद्धा लक्षित होती है। किसी बात का विश्वास कराने के लिए गंगाजी की शपथ ली जाती है। उसके दर्शन, स्नान और पान से पुण्य प्राप्त होता है। उस में स्नान करने से जो रोक उसे डूबकी का अभिशाप लगता है, और स्नान करके जो दान दिया जाता है, वह विशेष रूप से पाप शान्त करता है। युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व योद्धा लोग गंगाजल का अत्यन्त श्रद्धा से पान-

१. सूदन रत्नावली, पृष्ठ ३१२

२. राजनारायण शर्मा : भूषण ग्रंथावली, पृष्ठ ४०१६१

३. सूर्यमल्ल : वीरसतसई, पृष्ठ ११४।२३४

४. माता भूमि : पुत्रो अहं पृथिव्या; अथर्ववेद १२।१।१२

५. मोती लाल मेनारिया, डिगल में वीर रस, पृष्ठ ५५

करते हैं।^१ जब ऊदल जम्ब के प्रासाद से कुछ विलम्ब से लौटा तो आल्हा के काँख पहुँचने पर बोला—

बेटी बिजेंसिनि रख जम्बे की, हमको तुरत गई पहिचानि ।

गंगा हम सौं यों करवाई, तुम मेरे संग करो बियाहु ॥^२ (जगनिक)

गंग हनैबे की को बरजे, जो बुढ़की को लेय असराय ॥^३ (जगनिक)

(६) पुरुषार्थ—इन काव्यों का वातावरण पुरुषार्थ की भावना से परिपूर्ण है।

कहीं राजा शत्रु को पराजित करने का उद्योग कर रहा है, कहीं पुत्र पिता के वैर का प्रतिशोध लेने के लिए कटिबद्ध हो रहा है, कहीं माता पुत्र को परहस्तगत भूमि को लौटाने के लिए उत्तेजित कर रही है और कहीं स्त्रियाँ अपने पतियों को युद्ध से विजयी होकर लौटने को प्रोत्साहित कर रही हैं। आलस्य, अकर्मण्यता, संतोषादि की वचाँ इन काव्यों में दिखाई नहीं देती। ऐसे लगता है कि जैसे प्रत्येक वीर अपने और अपने स्वामी के ऐहिक तथा आधुनिक जीवन को सुखपूर्ण बनाने की शपथ ग्रहण किये हुए हो। उपरिलिखित अनेक उदाहरणों में पुरुषार्थ की भावना छलकती हुई देखी जा सकती है।

(७) भवितव्यता—प्रायः यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति पुरुषार्थ में अधिक आस्था रखते हैं, वे भाग्य में कम और जो भाग्य में अधिक श्रद्धा रखते हैं वे पुरुषार्थ में कम। परन्तु इन काव्यों में आश्चर्यजनक बात यह दिखाई देती है कि इन के पात्र भवितव्यता में घटल विश्वास रखते हुए भी पुरुषार्थ में कमी नहीं माने देते। वे श्री, कीर्ति, स्त्री आदि की प्राप्ति के लिए हर समय हथेली पर सिर रखे दिखाई देते हैं, परन्तु उनकी जिह्वा से भाग्यरेखा की अभाजनीयता, पूर्वकृतकर्मों के फल की अनिवार्यता, होनहार की प्रबलता आदि शब्द भी निकलते ही रहते हैं। वाणी और कर्म के इस बाहरी वैषम्य का कारण दुरुह नहीं है। वस्तुतः पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाला मनुष्य न भाग्य का विरोध कर सकता है, न पुरुषार्थ का परित्याग। उसे विश्वास होता है कि पूर्वजन्म के अवशिष्ट कर्मों का फल भी वैसे ही मिलेगा जैसे कि इस जन्म के। इसलिए वह भाग्य और पुरुषार्थ दोनों में आस्था रखता हुआ जीवन-पथ पर निर्भरता-पूर्वक अग्रसर होता है। भाग्य की प्रबलता का अनेक स्थानों पर उल्लेख वीरों में निर्भरता के संचार के लिए भी आवश्यक था। यदि कहीं वीरों में इस भावना का संचार हो जाए कि युद्ध में भाग न लेने से मनुष्य चिरकाल तक जीवित रह सकेंगे और विविध सांसारिक सुखों का निर्विघ्न भोग कर सकेंगे तो अधिकतर लोग एक या दूसरे प्रकार से युद्ध से दूर ही रहने के उपाय सोचेंगे। परन्तु

१. पद्याकरपंचामृत, हिम्मतबहादुर बिचवावली, पृष्ठ १६।१११

२. अलसी आल्हाशब्द, पृष्ठ ५६

३. वही, पृष्ठ २४

इसके विपरीत यदि यह भावना बनी रहे कि होनी हो कर ही रहेगी तो उन में निस्संदेह अदम्य साहस, पराक्रम और वीरता का संचार होगा और वे संकटमय समय में भी पग पीछे हटाने का विचार तक मन में न लायेंगे। यही कारण है कि इन उद्योगप्रधान काव्यों में भी भाग्य-प्रबलता की प्रतिपादक उक्तियाँ भी जहाँ-तहाँ मिलती ही हैं। जैसे—

भवसि बस जो होय, सो न मिटनह ब्रह्म सहि ।

भवतव्य बात मिट्टे न को, होइ जु ब्रह्म सिरज्जयो ।^१ (चंद बरदाई)

जग में जु जन्म बिबाह जीवन, मरन रिन बन धाम ये ।

जिहिको जहाँ लिखि बियो प्रभु, तिहि को तुरत तिहि ठाम ये ।^२ (पद्माकर)

अनहोनी नहि होय, होय होनी है सोइय ।

रिजक मोति हरि हृष्य, डर मु मानब क्यों कोइय ।^३ (जोधराजे)

(छ) शकुन, ज्योतिष—यद्यपि संस्कृत के नीतिकाव्यों में शकुनों तथा ग्रहों की विभिन्न गतियों के प्रभाव की चर्चा न होने के तुल्य ही है तथापि भारतविवासियों का इन बातों पर चिरकाल से निश्वास चला आता है। अष्टांग के काव्यों में शकुनों के शुभाशुभ प्रभाव का उल्लेख किया गया है। हिन्दी के वीरकाव्यों के अध्ययन से विदित होता है कि क्षत्रियेतर जातियाँ तो इन पर अधिक आस्था रखती थीं परन्तु क्षत्रिय लोग कम। यह सत्य है कि युद्धादि के लिए प्रस्थित होते समय क्षत्रिय लोग भी 'समरसार की पोथी' से लगन-मुहूर्त निकलवाया करते थे तथापि जब स्थिति संकटमयी होती थी तब न ग्रह-नक्षत्रों की चिन्ता करते थे और न शुभाशुभ शकुनों की। शिशु-क्रोड़ा युवती, श्याम। पक्षी आदि के शकुन शुभ समझे जाते थे और छोक, सर्प-दर्शनादि अशुभ।

'आल्हखंड' में जब ऊदल ने पिता का प्रतिशोध लेने के लिए माड़ी पर आक्रमण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया तब प्रस्थान के लिए शुभ मुहूर्त सोचा जाने लगा—

लं के पोथी समरसार की डेबा सगुन बिचारन लाग ।

सामवेद रिगु वेद अथर्वन बाचें जलुर्वेद महाराज ।

सगुन हमारो यों बोलत है माड़ी काम सिद्धि हुइ जाय ।^४

इसी प्रकार 'सुजानचरित्र' में सूदन ने सुजानसिंह की युद्ध-यात्रा के समय में भी लगन-मुहूर्त देखे जाने का उल्लेख किया है ।^५

१. धृष्टीराज रासो, प्रथम खंड, पृष्ठ ८८, ६०

२. पद्माकर पंचामृत, हिम्मतबहादुर बिस्वावली, पृष्ठ १७

३. हम्मीर रासो, पृष्ठ ५७

४. असली आल्हखंड, पृष्ठ ३६

५. सुदन रत्नावली, पृष्ठ ४२।७

ध्यान देने की बात है कि वीरकाव्यों के निर्भय योद्धा जब रणक्षेत्र में जा पहुँचते थे तब तो न उन्हें प्राणों का मोह रहता था न यम का भय, परन्तु संग्राम के प्रारंभ में यदि कोई अपशकुन हो जाता तो इन के हृदय भी एक बार तो व्याकुल हो ही जाते थे। यह बात दूसरी है कि वे क्षण भर बाद अपने क्षत्रियत्व को स्मरण कर उन अपशकुनों की उपेक्षा कर देते थे। जब महोबे के वीर माहो जा पहुँचे तब करिया उनके सामुख्य के लिए अपने गज पर आरुढ़ होने को ही था कि अकस्मात् अपशकुन हो गया—

सिंही लगाबं तब होवा मैं बहिने पहुँचि गघो हरगाय ।

पहिले डंडा पर पग चरतें तुरतें भई तड़ाका छोक ॥^१ (जगनिक)

करिया ने काँपते हुए कलेजे से तत्काल पंडित को बुलाया। पंडित ने 'समर-सार' की पोथी और चारों वेद देखकर कहा—

राहु बारहों अठई बेहकें उतरो दृष्टि सनीचर आय ।

घात चन्द्रमा दसघों परिगी तुम न चरों अगाध पाँऊँ ॥

सायति नोकी ना जंबे की अब तुम लौटि जाउ महाराज ॥^२ (जगनिक)

इसी बीच में करिया कुछ सँभल गया। भूमि के अपशकुनों से भी जो हृदय काँप उठा था वह आकाशीय ग्रहों की विषम गति से भी विचलित न हुआ। करिया कहने लगा—

सगुन बिचारें बनियें के लड़िका, जो नित करें बनिज बंपार ।

सगुन बिचारें रंयतिरेजा, जो घरि मोर बियाहन आयें ।

सगुन बिचारें हम क्षत्री हुइ, जो रन चढ़िके लोह चबायें ?

कूँच कराय दघो करिया ने, माक डंका दघो बजाय ॥^३ (जगनिक)

यहाँ यह निर्देश करना भी असंगत न होगा कि शुभ शकुन ले कर चलने वाले महोबा के वीरों की तो विजय हुई और अपशकुन की उपेक्षा करने वाले करिया की पराजय। परन्तु ये शकुन सदा सत्य ही सिद्ध होते हों, ऐसी बात नहीं। हिन्दी-काव्यों में इन से भी बलवती कमंगति मानी गई है। यद्यपि वरिष्ठ ने शुभ लगन-मुहूर्त में ही श्रीराम का राज्याभिषेक किया था तथापि कमंगति के अधीन उन्हें वनवास के दुःख सहने पड़े।^४

१. असली आल्हांड, पृष्ठ ८१

२. असली आल्हांड, पृष्ठ ८१

३. वही, पृष्ठ ८१

४. कबीर, सूरदास, मीरां आदि अनेक कवियों ने लगन-मुहूर्त की अपेक्षा कमंगति को बलवती माना है। देखें, कविताकोशुदी, पृष्ठ १७५, २३२; सूरसागर, पृष्ठ ८५, १२५

बाहुबल, साहस, पराक्रम आदि से युक्त होते हुए भी वीरकाव्य के वीर यंत्र, तंत्र, मंत्र, गुटिका, कवचादि के टोनों-टोटकों में विश्वास रखते थे। उनके विश्वास के अनुसार ये वस्तुएँ संकटमय समयों में मनुष्य की कुछ-न-कुछ सहायता करती ही थीं। पचाकर वीरवेष का वर्णन करते हुए कहते हैं—

तहँ जंत्र-मंत्र अनेक दुर्गा जागवत गीतान के ।

गुटिका गये बिच सोभहीं, जे करत जय धनसान के ॥^१

(ज) राजनीति—न वीरकाव्य राजनीति के काव्य हैं और न राजनीति प्रस्तुत प्रबन्ध के विषयक्षेत्र के अन्तर्गत है, तो भी इतना संकेत करना असंगत न होगा कि इन काव्यों में प्रसंगवत्त राजा, मंत्री, दूत, सेना, साम, दाम, दंड, भेद आदि कई राजनीतिक विषयों की चर्चा की गई है। जैसे, पाएँ हाथ से प्रणाम करने पर राजा क्रुद्ध होते हैं, युद्ध में सैनिकों को सेवक नहीं, भाई-बन्धु समझना चाहिए, प्रथा-रंजन ही राजा का मुख्य कर्तव्य है, स्वामि-रहित सेना से युद्ध करना निःशस्त्र सैनिक पर प्रहार के समान नीतिविरुद्ध है इत्यादि।^२

(झ) धर्म—राजनीति के समान धर्म भी हमारे विवेक्ष्य क्षेत्र से बहिर्गत है तथापि संक्षेप में कह देना अनुचित न होगा कि इन काव्यों में ईश्वर, धर्म और परलोक में श्रद्धा पाई जाती है। इनका विश्वास है कि राम के साहाय्य से बिगड़ते काम भी बन जाते हैं। थोड़ा लोग राम और गणेश का पूजन करके युद्ध में सम्मिलित होते हैं जिससे वीरशिरोमणि श्रीराम की कृपा से विजय-लाल हो और विनायक के अनुग्रह से विघ्न-विनाश। धर्म के निमित्त देहत्याग के लिए इनमें पर्याप्त उद्योग है। ईश्वर में विश्वास और हाथ में खड्ग इन वीरों का कर्तव्य है। मोक्ष, सूर्यलोक, स्वर्ग आदि में भी इनकी श्रद्धा है, परन्तु मोक्षादि की अपेक्षा स्वर्ग प्रियतर है क्योंकि वहाँ के सुख सांसारिक सुखों से मिलते-जुलते हैं जिनके इच्छुक वे लोग तो हैं ही परन्तु युद्ध-विग्रहों के कारण अधिक उपभोग नहीं कर पाते। इन विषयों के कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

(क) राखि हियँ बजनाथ जी, हाथ लेख करबार ।

ये रक्षा करिहूँ सदा, यह जानौ निरचार ॥^३ (गोरेलाल)

(ख) राम बनेहूँ तो बनि जंहूँ बिगरी बनत बनत बनि जाय ॥^४ (जयनिधि)

१. पाछकर पंचामृत, हिम्मतबहादुर विश्वासवाली, पृष्ठ २०

२. देखें असली आल्हाखंड, पृष्ठ ६१, ४२; हम्मीर रासो, पृष्ठ १२१।६२०, पुष्पीरास रासो (जयपुर), प्रथम भाग, पृष्ठ ४११। ३६

३. 'जयप्रकाश' में जयलाल को शिवाजी का उपदेश, 'वीरकाव्य' पृष्ठ ३१७

४. असली आल्हाखंड, पृष्ठ ४३

वीरकाव्यों के नीतिकाव्य पर एक दृष्टि

नवीन विषय—पूर्वलिखित विवरण से विदित होता है कि वीरकाव्यों का नीतिकाव्य चर्चित-चर्चण मात्र नहीं है। उसमें ऐसे अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है जो प्रायः पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती नीतिकाव्यों में दृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरणार्थ, मानव-जन्म की सार्थकता युद्धों द्वारा अक्षय कीर्ति की प्राप्ति में, न कि मोक्ष व आत्म-साक्षात्कार में, युद्धक्षेत्र में अपना मांस पशु-पक्षियों को खिलाने से पुण्य-लाभ, वेद, शास्त्र, पुराण, ज्योतिषादि में श्रद्धा, स्वाधीनता की रक्षा, पराधीन व्यक्ति यशस्वी नहीं होता, पारिवारिक जीवन की प्रशस्यता, कायरता के कसक से कुटुम्ब की रक्षा, प्रियजन के प्रस्थान पर अभ्युपात का अनौचित्य, पिता के अपकार का प्रतिशोध लेना पुत्र का प्रथम कर्तव्य, माता द्वारा गर्भस्थ शिशुओं को वीरता की शिक्षा, वीरप्रसविनी जननी की धन्यता, स्त्री के लिए सापत्न्य सबसे बड़ा दुःख, दीर्घायु को शिक्कार, संकटमय कार्य प्रकट रूप से करणीय, गुप्त रूप से नहीं, प्राणपण से चरणागत की रक्षा, पुरुषों का जन्म ही वीरगति पाने को हुआ है, स्वामि-धर्म के पालन में प्राणों की सहृदय बलि, पठानों का व्यवसाय ही युद्ध है, तुकों की परिवर्तनीयता, अन्यायी यवनशासकों की निन्दा, क्षत्रिय शूताङ्गान का प्रत्याख्यान नहीं करते, गृह में निधन सेनरक-प्राप्ति, प्राज्ञेष्टादि की प्रेरणा, मातृभूमि के रक्षणार्थ प्राणोत्सर्ग की कामना, ईश्वर-विश्वास तथा हाथ में खड्ग, शकुन-विचार क्षत्रिय नहीं किया करते इत्यादि।

उपेक्षित विषय—जहाँ वीरकाव्यों में उपयुक्त नवीन विषयों का उल्लेख दिखाई देता है वहाँ कई प्राचीन विषयों की, विशेषतः वीरोपयोगी न होने के कारण, उपेक्षा-सी कर दी गई है। जैसे उदर-पूर्ति के दूषण, वेद्या-निन्दा, मांस, मद्य, मधु और मृग के सेवन की निन्दा, जप, तप, शम, दम, दया, क्षमा, आदि; काम, क्रोध, और विषयों की गहरी, विद्या का महत्त्व, विद्या-प्राप्ति के साधन और विघ्न, तारुण्य-निन्दा, मोनगुण, पुरोहित, पौराणिकादि की निन्दा। तात्पर्य यह है कि इन काव्यों में क्षत्रियों के व्यवहारों का ही अधिक वर्णन किया गया है और इतर वर्णों तथा जैन, बौद्धादि की नीति को उपेक्षित-सा कर दिया गया है।

पूर्ववर्ती प्रभाव—इन काव्यों पर पालि और प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत और अपभ्रंश का तथा बौद्ध और जैन नीति की अपेक्षा हिन्दू-नीति का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। चूँकि इन रचनाओं का सम्बन्ध युद्ध-विग्रहादि से अधिक है अतः इन पर महा-भारत का और अपभ्रंश के वीरतापूर्ण स्फुट पद्यों का अधिक प्रभाव पड़ा है। जैसे—

(क) संस्कृत-काव्यों का प्रभाव

कुचक्र में हतोत्साह धनुर्न को कुण्डल इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जिह्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कोन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥^१ (महर्षि व्यास)

‘हे अर्जुन, युद्ध में वीरगति पाने पर तू स्वर्ग प्राप्त करेगा और विजयी होने पर राज्य-सुख । इसलिए युद्ध का निश्चय करके लड़ा हो जा ।’

तेगधार में जो तन छूटे, तं रविभेद मुकत सुख छूटे ।

जंतपत्र जो रन में पावे, तो पुहमी के नाथ कहावे ॥^२ (गोरेलाल)

जोई सो घर भुगिबे, जुम्हे सुरपुर बास ।

ढोऊ जस किसी घरर, तजो मोह जग घास ॥^३ (जोधराज)

रनधीर छत्रिय कौ जरन में, बुहूँ भातिन है भली ।

जोती जु घरि-गन जाइ तो, भोग घरनि फली-फली ॥

जुम्हे जु सुख त्रिसुख ती, स्वर्गापवर्गाहि पावही ।

तहूँ करे मनमाने बिहार, न कबहुँ इह जग घ्रावहि ॥^४ (पद्माकर)

धृतराष्ट्र की आज्ञा से जब बिधुर पांडवों को दून-फोड़ा के लिए निर्मात्रत करने को गये तब युधिष्ठिर ने कहा कि मैं अपनी इच्छा से तो शकुनि के साथ जूझा न खेलूँगा, परन्तु यदि मुझे सभा में ललकारा गया तो, अपने व्रत के अनुसार पीछे भी न हटूँगा—

न चाकामः शकुनिना बेविताऽहं,

न चेन्मां बृष्ट आह्वयिता सभायाम् ।

आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्,

तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥^५

इसी नीति को परमाल अर्जुन अपने सैनिकों के सम्मुख यों व्यक्त करते हैं

जग जुवा जुद्ध हु को कबहुँ, सपने हुं नाहि नाहीं करे ।

ऐसे परम रजपूत कौ, रन गिरत बारगिन बरे ॥^६ (पद्माकर)

(ख) अपभ्रंश का प्रभाव—

(१) भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिरिण महारा कंतु ।

लज्जेजंतु बयसिअहु, जइ भग्ना घर एंतु ॥^७ (अज्ञात कवि)

१. भगवद्गीता, अध्याय २।३७

२. गोरेलाल: छद्मप्रकाश, वीरकाव्य, पृष्ठ ३१७ पर उद्धृत

३. जोधराज: हम्मीर रासो, पृष्ठ १२१ ॥

४. पद्माकर पंचामृत, हिम्मत बहादुर बिस्वावली, पृष्ठ १८

५. सी० बी० वंश: संक्षिप्तमहाभारतम् (बम्बई, १९१२ ई०), पृष्ठ ७३

६. पद्माकर पंचामृत. हिम्मत बहादुर बिस्वावली, पृष्ठ १७

७. नामवर्त्तसिंह: हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ३३६

- भोला की डर भागियो, अंत न पहुँचें ऐस ।
 बीबी बीठा कुल बहू, नीचा करसी नैस ॥^१ (सूर्यमल्ल)
 (२) बड़ भग्ना पारकड तो सहि मज्जु पिएस ।
 बड़ भग्ना भन्नुहूँ तया तो तें मारिअ डेर ॥^२ (अज्ञात कवि)
 बें कलु भग्ना तो सखी, मोताहुल सज थाल ।
 निज भग्ना तो माहरी, साब न सुनो टाल ॥^३ (सूर्यमल्ल)

उपर्युक्त पद्यों की तुलना से विदित होता है कि बीर काव्यकारों ने संस्कृत के पद्यों का तो अनुवाद-सा ही कर दिया है परन्तु अपभ्रंश के भावों को कुछ पल्लवित भी किया है ।

परिस्थितियों का प्रभाव—बीरकाव्यों की नीति तत्कालीन परिस्थितियों से भी पर्याप्त प्रभावित है । वह प्रभाव तीन वर्गों में विभाज्य है—

- (क) राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव
- (ख) सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव
- (ग) धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव

(क) राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव—विक्रमी सं० ७०४ में सम्राट् हर्ष वर्यन के संसार से उठते ही उत्तरापथ से सुख-शांति का साम्राज्य भी उठ गया । केन्द्रीय शासन के प्रभाव में देश छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित हो गया । दिल्ली में तोमर, कन्नौज में राठौर, अजमेर में चौहान, धार में चालुक्य और कालिंजर में चंदेल राजपूत शासन करने लगे । प्रत्येक राज्य का शासक अपनी सीमा का विस्तार करने तथा अपने को सर्वाधिक शक्तिशाली बनाने को बद्धपरिकर हो गया । परिणाम यह हुआ कि आधे दिन के पारस्परिक युद्धों के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो गई । गजनी के महमूद ने भारत के इन आन्तरिक विग्रहों से लाभ उठाने का संकल्प किया । उसने अपने सत्रह आक्रमणों में देश की कलात्मक कृतियों को ध्वस्त किया, मन्दिरों को धरा-सायी बनाया, अपार धन-सम्पत्ति को लूटा और सहस्रों स्त्री-पुरुषों को दास बनाकर गजनी ले गया । जब इतना कुछ हो जाने पर भी यहाँ के शासकों की आँखें न खुलीं तो मुहम्मद गोरी ने इस देश पर आधिपत्य जमाने के लिए अनेक आक्रमण किये । पृथ्वी-राज ने कुछ अन्य नरेशों की सहायता से गोरी को कई बार नाकों बने चबवाए परन्तु अपनी उदारता के कारण उसका प्राणोपहरण न किया । अन्तिम बार जब पिथौरा परास्त हुआ तो गोरी ने उसे जीवित न छोड़ा । इसके पश्चात् यवन आक्रमणकारियों ने भारत में अपने पाँव फँसाने आरम्भ किए । हिन्दू राजाओं ने उनका भरसक प्र-

१. सूर्यमल्ल : बीर सतसई, पृष्ठ ६५।११६

२. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ३४३

३. सूर्यमल्ल : बीर सतसई, पृष्ठ १०।१५

रोध किया परन्तु राष्ट्रीयता की भावना के अभाव तथा चिरकालीन धार्मिक कलहों से क्षीण भारतवासी, आक्रांताओं को पराजित करने में विफल रहे और राव हम्मीर के समय तक प्रायः समस्त उत्तर भारत पादाक्रांत हो गया।

उक्त राजनीतिक उथल-पुथल ने तो वीरगाथाओं के प्रथम उत्थान को जन्म दिया और द्वितीय उत्थान की जन्मदात्री थी बड़मल यवन नरेशों की हिन्दू-विरोधी नीति। राव हम्मीर के बाद अधिकतर हिन्दू यवन-शासन को एक दैवी विधान मानकर भगवान् के ध्यान में लीन हो गये और प्रकबरादि मुगल शासकों के काल में सुषुप्ति की-सी दशा में मग्न रहे। परन्तु जब औरंगजेब ने अपने कट्टरपन के कारण हिन्दुओं पर जजिया लगा दिया, तीर्थों का अपमान किया, मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें निर्माण करवाना आरम्भ कर दिया तब दबी हुई हिन्दू-शक्ति की चिंगारी पुनः भड़क उठी। दक्षिण में मराठों ने, मध्यभारत में छत्रसाल ने और पंजाब में सिखों ने ऐसा प्रबल विद्रोह आरम्भ कर दिया कि मुगल साम्राज्य का प्रासाद कुछ ही काल में घड़ाम से धरती पर आ गिरा। सार यह कि आदिकाल के युद्ध-विग्रहों का एक कारण तो हिन्दू राजाओं का पारस्परिक द्वेष था और दूसरा यवन आक्रमण-कारियों का प्रतिरोध, परन्तु परवर्ती काल के युद्धों का कारण था बड़मूल यवन-शक्ति का समूलोन्मूलन। पृथ्वीराज रासो, आल्हखंड, हम्मीर रासो आदि ग्रंथों में प्रथम प्रकार के युद्ध-विग्रहों की चर्चा है तो भूषण-ग्रंथावली, छत्रप्रकाश, सुजानचरित्र आदि में दूसरे प्रकार की।

वीरकाव्यों में वर्णित युद्ध राज्य-विस्तार के लिए किये गए हों या राजकुमारियों से विवाह के लिए, स्वाधीनता की रक्षा के लिए लड़े गये हों या अन्यायपरायण शासकों के उन्मूलन के लिए, एक बात स्पष्ट है और वह यह कि इन काव्यों में क्षत्रियत्व की नीति ही प्रधान है। उस नीति का सार यही है कि प्राण देकर भी भूमि की रक्षा करनी चाहिए,^१ जीवन तो पुनरपि प्राप्य है परन्तु प्रतिष्ठा नहीं, कायरों के मांस का तो काक-गृध्र भी भक्षण नहीं करते,^२ पुरुष युद्ध में मरने को ही उत्पन्न हुए हैं, बीर्ब-जीवन धिक्कार्य है, रणभूमि में पीठ दिखाने वाला तो प्रमदाओं से भी गया-बीता है,^३ यश ही इस संसार का सार है, पराधीन जन वशास्वी नहीं हो सकते, सभी कार्य कुले

१. सं० जगवान बीम : केसव पंचरत्न (प्र० रामनारायण लाल, प्रयाग सं० १९८६), रत्नबावनी, पृ० ६।२३

२. कायर केरे मांस को, गिरभरण कबहुं न जाइ।

कहा कुपायल ! मुक्त कहै, हमहीं कुरगल बाइत।

गोरा-बादल की कषा, प्रयाग सं० १९६१, पृ० २८।११४

३. बही, पृ० २८।११४

ग्राम करने चाहिएँ, प्रच्छन्न रूप से नहीं, इत्यादि। कहना न होगा कि उपयुक्त सभी नीतियाँ उपरिलिखित परिस्थितियों का ही स्वाभाविक परिणाम हैं।

(क) सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव—प्रादि-काल क्षत्रिय राजपूतों का काल था। उसमें बाह्य पूज्य तो थे परन्तु उनकी वह मान-प्रतिष्ठा अब न रही थी जो प्राचीन साहित्य में दिखाई देती है। वैश्यों का भी विशेष महत्त्व न रह गया था और शूद्र तो कभी सम्मान्य रहे ही नहीं। राजपूत निश्चल तथा उदार वीर थे और अपनी पत्नियों का सम्मान करते थे। राजपूत नारियाँ भी पति के साथ जीना ही नहीं, मरना भी जानती थीं। वे सती होते समय बारह भूषण पहन, सोलह सिंगार कर, हाथ में नारियल ले और मुख में बीड़ा डालकर उल्लासपूर्ण हृदय से पति की चिता में जा बैठती थीं। पुरुष तो बहु-विवाह कर लेते थे परन्तु विधवाओं के पाणिग्रहण न होते थे। मृगया, मांस और वारणी-सेवन भी किया जाता था। दूत मनोबिनोद का साधन समझा जाता था। सेवक लोग स्वामी के हितार्थ प्राणबिसर्जन में जीवन की साधकता समझते थे और स्वामी भी शरणागत की रक्षा के लिए राज-पाट की ही नहीं, प्राणों की भी बाजी लगा देते थे। मांस, मदिरा, कंचनी आदि का उल्लेख प्रथम उत्थान के वीरकाव्यों में तो बहुत दिखाई देता है परन्तु द्वितीय उत्थान के वीरकाव्यों में कम। इसका कारण मध्यवर्ती भक्तिकाल है। ऐसे लगता है कि भक्ति की प्रबल धारा तथा उस काल की रचनाओं ने परवर्ती क्षत्रिय-नरेशों तथा कवियों को इतना प्रभावित किया कि वह उन अनैतिक प्रथाओं और उनके प्रतिपादन से दूर रहे जिनकी चर्चा प्रादि काल की कृतियों में प्रचुरता से दिखाई देती है। उपरिलिखित उद्धरणों से उक्त बातें सहज ही समर्थित हो जाती हैं।

(ग) धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव—उप और महिषा-प्रधान जैन तथा बौद्ध धर्म सभी तक फैल-फूल सकते हैं जब तक कोई देश आन्तरिक तथा बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहता है। जब किन्हीं भी कारणों से देश की शान्ति और व्यवस्था भग्न होने लगती है तब सभी जीवन-कांक्षियों को आत्मरक्षा तथा शत्रुविनाश के लिए शस्त्रास्त्र उठाने ही पड़ते हैं। सम्राट् हर्ष के पश्चात् राजनीतिक एकता के भंग होने के कारण, तथा प्रान्तीय शासकों में युद्ध-विग्रह आरम्भ हो जाने के कारण महात्मा बुद्ध के उपदेशों की उपयोगिता जाती रही। संघों के अनाचार, स्वविरों की विलासिता और लोलुपता तथा स्वामी शंकराचार्य के पांडित्य ने भी बौद्ध धर्म को उन्मूलित करने में पूर्ण सहयोग दिया। जैनधर्म अपनी उग्र तपस्याओं के कारण कभी व्यापक हुआ ही नहीं था। इसलिए हिन्दू धर्म पुनर्जीवित हो उठा और इसके शाक्त तथा शैव सम्प्रदायों को राजपूतों का प्रश्रय भी प्राप्त हुआ। यही कारण है कि आत्मा में भगवती के भक्तों को दो-दो खड्ग धारण करने की प्रेरणा की गई है और भूषण ने शत्रुओं के कपाल, रक्त, मांसादि से शंकर और उसके गणों, पिशाचिनी, प्रेतिनी

आदि की तृप्ति का उल्लेख किया है।^१ यंत्र, मंत्र, गुटिका, कवच आदि द्वारा आत्म-रक्षा तथा अनिष्टनिवारण की भावना बौद्धों के प्रभाव से प्राप्त प्रतीत होती है। युद्धों में मरने से मनुष्य स्वर्गलोक में निवास पाता है और स्वर्गलोक समग्र सुखों का सदन है, यह भावनाएँ भगवद्गीता, पुराण आदि में उल्लिखित हैं। हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के प्रभाव से वीरकाव्यों में इनकी चर्चा बहुत अधिक की गई है। अक्सराएँ विमानों में रणक्षेत्र के ऊपर इसी विचार से उड़ती रहती हैं कि जो थोड़ा पीठ दिखाए बिना प्राण देगा उसे इन्द्रपुरी ले जाएंगी।^२

यदि वीरकाव्यों में हिन्दू और मुसलमान शासकों में प्रायः वैमनस्य ही चित्रित किया गया है तो उसका मुख्य कारण राजनीति ही नहीं धर्म भी है। अकबर आदि कुछ उदार शासकों को छोड़ प्रायः मुसलमान शासक हिन्दू-धर्म और संस्कृति की अवहेलना ही करते रहे। यही कारण है कि हिन्दुत्व-प्रेमी राजाओं तथा हिन्दुत्व-विरोधी यवन शासकों में वैमनस्य बना रहा। गोरे लाल को औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति के विरोध में लिखना ही पड़ा—

हिन्दू तुमक बीन हूँ गाये, तिन सों बेर सबा जलि भाये।

जब से साहू तख्त पर बैठे, तबतें हिन्दुन सौ उर ऐठे।

महगे कर तोरणन लगाये, बेद देवासे निबदि छहाये।

घर घर बाँधे जजिया लीनें, अपने मन भाये सब कीनें ॥^३

यदि कवि भूपण ने औरंगजेब की उपरिलिखित नीति से खिन्न होकर शिवाजी की प्रशंसा करते हुए यह लिखा—

काल करत कलि काल में, नहीं तुरकन को काल।

काल करत तुरकान को, सिव सरजा करवाल ॥^४

तो इसे भी धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव ही मानना होगा, यवन-मात्र के प्रति सहज द्वेष का परिणाम नहीं। यहाँ इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि यह द्वेष हिन्दुत्वविरोधी शासकों और सैनिकों के प्रति ही है, यवन-मात्र के प्रति नहीं। क्योंकि इन्हीं काव्यों में हिन्दू नरेशों द्वारा मीर हुसैन, महिमा शेख आदि विपन्न यवनों की रक्षा का वर्णन भी किया गया है।

अस्तु, उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वीर काव्यों की नीति पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है।

रस और भाव—वैसे तो वीरकाव्यों में हास्य और शान्त रसों को छोड़ सभी

१. असली आल्हखंड, पृ० ४४७; भूषण ग्रंथावली, पृ० २६०

२. आल्हखंड, पृ० ४३१

३. छत्रप्रकाश पृ० ७८; वीरकाव्य पृ० ३१२

४. भूषण ग्रंथावली, शिवराज भूषण, पृ० ६३।८६

रसों की यथास्थान और यथाप्रसंग न्यूनाधिक अभिव्यक्ति हुई है, तथापि उनके नीति सम्बन्धी ग्रंथों में वीर रस, और उसके भी भेदों में युद्धवीर, मुख्य है। जिन स्थलों पर पर सैनिकों को सेनापति, पुत्रों को माताएँ और पतियों को पत्नियाँ संग्राम करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं, जिनमें खात्र धर्म का प्रतिपादन किया गया है, जिनमें योद्धागण पग पीछे न हटाने की, पीठ न दिखाने की, पंतुक भूमि को हाथ से न जाने देने की, खाट पर प्राण-त्याग न करने की और इसी प्रकार की अन्य वीरत्वपूर्ण प्रतिज्ञाएँ करते हैं, उनमें वीर रस की इतनी हृदय-स्पर्शी अभिव्यक्ति की गई है कि पढ़कर मृतप्राय मनुष्य की भी धमनियों में रक्त खोलने लगता है। विषयस्त शरणागतों की रक्षा के प्रसंग में दयावीर की, वीरों के विवाहों के वर्णन में शृंगार की, भीत सैनिकों के चित्रण में भयानक की, क्रोध से विफरते भटों के कार्य-कलाप में रौद्र की, विधवाओं आदि के शोक की अभिव्यक्ति में कष्ट की, सैनिकों के लोकोत्तर वीरता-प्रदर्शन में अद्भुत की तथा रक्त-मांसादि से आच्छादित रणभूमि के चित्रण में बोभत्स रस की व्यंजना भी अच्छी हुई है। इन रसों के अतिरिक्त ईर्ष्या, द्वेष, हठ, गर्व, उग्रता, चिन्ता, विपाद, वितर्क, उदारता, मानरक्षा, स्वामिभक्ति, पातिव्रत आदि भावों का प्रकाशन भी बहुत सुन्दर रीति से किया गया है।

भाषा—अधिकतर वीरकाव्यों की रचना व्रजभाषा में की गई है। प्रथम उत्थान के वीरकाव्यों में अपभ्रंशाभास और ङिगल की शब्दावली का प्रचुर प्रयोग दिखाई देता है। पंजाबी, मारवाड़ी, पूर्वी, बुन्देलखण्डी, बैसवाड़ी, खड़ी बोली आदि के रूप भी कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। फ़ारसी, पारसी, तुर्की आदि के शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त है, जैसे—लिफाफा, तकमीर, दुमा-सलाम, खिदमतगार आदि। अनुस्वार, रेफविपर्यय तथा व्यंजन-द्वित्व का व्यवहार भी प्राचीन वीरकाव्यों में अत्यधिक है, जैसे गणपति को गनपति, निभय को निम्भय, राजवर को राजं वर, सम्मुख चंद को सम्मुख चंद, मर्यादा को म्रज्जादा, धर्म को धम्म आदि। यह हेर-फेर कुछ तो प्राकृत के प्रभाव से, कुछ छन्दों को अनुसरण रखने के विचार से और कुछ भाषा की अधिक ओजस्वी बनाने के लक्ष्य से किया है। नादात्मक शब्दावली भी प्रायः सभी काव्यों में न्यूनाधिक मात्रा में व्यवहृत हुई ही है। अभिव्यक्ति को अधिक सबल और स्पष्ट करने के लिए कई कवियों ने रुढ़ियों तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। जैसे—

(क) परो सनाका है सिरसा में, नाहीं मसा तलक भन्नाय ।^१ (जगनिक)

(ख) बब का बाबा कुपली भेल्लो, जीभ का बाबा नु पांगुरई ।^२

(नरपति बालू)

१. अतली आलहखंड, पृष्ठ ४४१

२. बीसलदेव रासो, पृष्ठ ३७

(ग) सौ-सौ चूहे लाइके बिसारी बंठी तप के ।^१ (भूषण)

(घ) कोटिहू किये कलाप, भूष फट्टो न होय बधि ।^२ (मान कवि)

काव्य विधान—काव्यविधान की दृष्टि से वीर-काव्य चार प्रकार के दिखाई देते हैं—१. महा-काव्य या चरित-काव्य, २. खंडकाव्य, ३. गेय काव्य या वीरगीत ४. मुक्तक । पृथ्वी-राज रासो, हम्मीर रासो, छत्रप्रकाश, सुजान-चरित्र आदि प्रबन्ध-काव्य हैं, गोराबादल की कथा, जंग-नामा, हिम्मत बहादुर बिरुदावली आदि खण्डकाव्य हैं, बीसलदेव रासो तथा आल्हखंड वीरगीत या गेय काव्य हैं और शिवराज भूषण, शिवाबावनी, वीर सतसई आदि मुक्तक काव्य हैं । नीति के छन्द और पंक्तियाँ तो स्फुट रूप से उपर्युक्त सभी ग्रंथों में दृष्टिगत होती हैं परन्तु पृथ्वीराज रासो, आल्हखंड तथा वीरसतसतई में वे अपेक्षाकृत अधिक हैं ।

शैली—इन काव्यों में नीति के विषयों के निरूपण के लिए तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, संवादात्मक, अन्यापदेशात्मक तथा शब्दावतंक शैलियों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है । इनमें कूट, रूपक, कवका, बारहमासा, संख्यात्मक तथा व्याख्यात्मक शैलियों का प्रयोग हमारे देखने में नहीं आया । तथ्यनिरूपक, शब्दावतंक तथा उप-देशात्मक शैलियों के निदर्शन तो ऊपर आ ही चुके हैं । कुछ अन्य शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत किये किये जाते हैं ।

संवादात्मक शैली—केशवदास ने 'वीरसिंह देव चरित' तथा 'रतन बावनी' में इस शैली का प्रश्रय अत्यधिक लिया है । 'रतन बावनी' में गोपाल विप्र-वेश धारण कर रत्नसेना के समीप आते हैं तथा आत्मरक्षा के लिए नीति की अनेक बातें बताते हैं, परन्तु कुमार रत्नसेन यश की रक्षा को ही सर्वोत्तम नीति मानते हुए युद्ध से विचलित नहीं होते । 'वीरसिंह देव चरित' में दान और लोभ के तर्क-वितर्क भी इसी शैली में निबद्ध हैं । उदाहरणार्थ—

विप्र उवाच—द्विज मांगे सो दीय, विप्र को वचन न भंगिय ।

द्विज बोलें सो करिय, विप्र को मान न भंगिय ॥

परमेस्वर घर विप्र, एक सम जानि सु लिज्जिय ।

विप्र-चैर नहिं करिय, विप्र कहें सर्वसु विज्जिय ॥

सुनि रतन सेन मधुशाह सुव, विप्र बोल किन लिज्जियहु ।

कहि 'केशव' तन मन वचन करि, विप्र कह्य सोइ किज्जियहु ॥^३

१. भूषण ग्रंथावली, शिवाबावनी, पृष्ठ १६।१३

२. राजबिलास, पृष्ठ १५७

३. केशवपंचरत्न, रतनबावनी, पृष्ठ ७

कुमार उवाच—

पतिहि गएँ मति जाय, गएँ मति मान गरेँ जिय ।
मान गरेँ गुन गरेँ, गरेँ गुन लाज अरें मिय ॥
लाज जरेँ जस भजेँ, भजेँ जस धरम जाइ सब ।
धरम गएँ सब करम, करम गएँ पाप बसेँ तब ॥
पाप बसेँ नरकन परें, नरकन 'केशव' को सहेँ ।
यह जानि बेहुँ सरबसु तुम्है, सुपोठ बएँ पति ना रहेँ ॥^१

अन्यापदेशात्मक शैली—

जिस धीर की उपस्थिति में बड़े-बड़े योद्धा भी चूँ तक न कर सकते थे उसके स्वर्ग सिंघार जाने पर सामान्य सरदार भी ऊधम मचा रहे हैं, इस आशय की अभिव्यक्ति सूर्यमल्ल ने सिंह की अन्योक्ति से इस प्रकार की है—

जिएँ बन भूल न जावता, गेँव गवय गिराज ।
तिरण बन जंबुक ताखड़ा, ऊधममंडें आज ॥^२

छंद—

पृथ्वीराज रासो में दूहा (दोहा), कवित्त (छप्पय), पढ़री, भुजंगप्रयात, भुजंगी, त्रोटक, मोतीदाम, कुंडलिया, चौपाई, अरिल्ल, आर्या, गाहा (गाथा), श्लोक आदि छन्दों का प्रयोग अधिक किया गया है। इनमें से नीति-विषयों के लिए दूहा, कवित्त (छप्पय), श्लोक और गाहा का व्यवहार अधिक किया गया है। नीति-सम्बन्धी विषयों के लिए संस्कृत में श्लोक (अनुष्टुप्) का, प्राकृत में गाथा का और अपभ्रंश में दोहे का प्रयोग पूर्व कालों में होता ही था। अतः इन कवियों ने उन छन्दों का नीति-विषयों के लिये प्रयोग परम्परा से ही ग्रहण किया। जगनिक ने तो वीर या आल्हा छंद में ही आल्हाखंड की रचना की थी परन्तु उनकी कृति में कुछ कुंडलिया भी दिखाई देती हैं जिन पर 'कह गिरधर कविराय' की छाप ही उन पद्यों का प्रक्षिप्त होना प्रमाणित कर रही है।^३ द्वितीय उत्थान के केशव, जटमल, भूषण, मान, गोरे लाल, सूदन, पद्माकर, जोधराज, सूर्यमल्ल आदि कवियों ने अपने वीर-काव्यों में चौपही (चौपाई) दोहा, छप्पय, सर्वया, मोतीदाम, उद्धोर, गीतामालती, गुणवेलि, दंडमाली, निसानी, पढ़री, तामर, हुलास, कड़खा, अरिल्ल, त्रिभंगी, डिल्ला, भुजंगप्रयात, हनुफाल, लघु-

१. वही, पृष्ठ ७

२. सूर्यमल्ल: वीरसतसई, पृष्ठ १३३।२८५

३. असली आल्हाखंड, पृष्ठ ३१२ और गिरधर राय कृत कुंडलिया, पृष्ठ ३०।७३

नाराच, नाराच, कुंडलिया आदि अनेक छन्दों का आश्रय लिया है। इनमें से नीति-विषयों का निबंधन अधिकतर दोहा, छप्पय, सवैया, कवित्त, चौपाई, सोरठा और हरिगीतिका में किया गया है। सार यह कि वीरगाथाकारों ने नीति-सम्बन्धी विषयों के लिए सबसे अधिक प्रयोग दोहा और सोरठा छन्दों का किया है। उसके बाद पर्याय छप्पय, सवैया, कवित्त, कुंडलिया, हरिगीतिका आदि का आता है।

अलंकार—

यों तो वीरकाव्यों के विविध प्रसंगों में प्रयुक्त अलंकारों की संख्या बहुत अधिक है परन्तु इनके नीति-सम्बन्धी अंशों में प्रायः जिन अलंकारों का प्रयोग किया गया है, उनकी संख्या अल्प ही है। शब्दालंकारों में से छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास तथा वीप्सा का व्यवहार अधिक किया गया है। छेक और वृत्त्यनुप्रास तो निरक्षर साहित्यकारों के कंठ से भी अनायास निःसृत हुआ करते हैं इसलिए उनकी प्रचुरता विस्मयजनक नहीं। लाटानुप्रास तथा वीप्सा का प्रयोग वीरताप्रतिपादक काव्यों में होना स्वाभाविक है क्योंकि उनसे रचनाओं में भोज का आधान सहज ही हो जाता है। अर्थालंकारों में से अधिक व्यवहार उपमा, मालोपमा, आवृत्ति-दीपक, लोकोक्ति, तुल्ययोगिता, अर्थान्तरन्यास, अन्योक्ति तथा दृष्टान्त का दृष्टिगत होता है। कहना न होगा कि ये अलंकार अपनी सरलता, भोजस्वता, लोकप्रियता, नैतिक तथ्यों की समर्थन-क्षमता तथा प्रभविष्णुता के कारण नीतिकाव्यों के लिए विशेष उपयोगी हैं। एक ही पद्य या संदर्भ में एकाधिक अलंकारों के कहीं-कहीं समाविष्ट होने के कारण उभयालंकार के निदर्शन भी दुर्लभ नहीं है। क्रमशः विविध अलंकारों के कतिपय उदाहरण लीजिए—

(क) शब्दालंकार

जीरणा जुग महि अजर इह, कसू एक किस्ती रहिय ।^१

(वृत्तानुप्रास)

हंसो हरम सुनि हजरति बानी । पुरुषन की तो अकथ कहानी ॥^२

(वृत्त्यनुप्रास)

सूरी घर सूरी महनु, कायर कायर गेह ॥^३

(लाटानुप्रास)

छोटी छोटी तलबारें लैं सोऊ इन्हें बंई पकराय ॥^४

(वीप्सा)

१. पृथ्वी राजरासो, प्रथम भाग (उदयपुर), पृष्ठ ३०८

२. हम्मीर रासो, पृष्ठ ४४।२४६

३. सूर्यमल्लः वीरसतसई, पृष्ठ ६६।१६१

४. असली आल्हखंड, पृष्ठ २६

अर्थालंकार

ज्यों भय्य मुक्क उंवक परे, त्यों य देह नाहक कहै ॥^१ (उपमा)
 ज्ञान घटं ठग खोर कि संगति, रोष घटं मन के समुझाये ।
 पाप घटं कछु पुन्य करे, अह रोग घटं कछु औषधि लाये ॥^२
 (पदार्थावृत्ति दीपक)

हठ ती राव हमीर को, श्री रावण की टेक ।
 सत राजा हरिचंद को, अछुन बाण अनेक ॥^३ (तुल्ययोगिता) ।
 पं सबकरि सुभसी एकतो कणय राइ भोइ सी ।
 कर कस्सी गुज्जरियं, रबजरियं नैव ओबंती ॥^४ (अन्योक्ति) ।

उभयालंकार

धन जोवन नर की बसा, सदा न एक बिहाय ।
 पाल पांच ससि की कला, घटत-घटत बढ़ि जाय ॥^५
 (तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, वीप्सा की संसृष्टि) ।

गुण, दोष

स्वभावतः ही इन काव्यों में भोज गुण की प्रधानता है तथा माधुर्य और प्रसाद की न्यूनता । भोज गुण के आविर्भाव के लिए संयुक्ताक्षर, टवर्ग, रेफ के संयोग से निर्मित शब्द और दीर्घ समास अपेक्षित होते हैं । लंबे-लंबे समासों को छोड़ उक्त सभी उपकरण इन काव्यों में पर्याप्त मात्रा में लक्षित होते हैं । प्राकृताभास शब्दों, विकृत शब्दरूपों, फारसी, अरबी आदि के अत्यधिक शब्दों तथा अष्ट संस्कृत-मय पद्यों से प्रसाद में भी कमी आ गई है । पुनरुक्ति भी अनेक स्थलों पर रस-चर्वणा में बाधक बन गई है । जैसे—

१. पृथ्वीराज रासो, प्रथम भाग (उदयपुर), पृष्ठ १६६

२. असली आल्हखंड, पृष्ठ ५८४

३. हमीर रासो, पृष्ठ ११६

४. पृथ्वीराज रासो, प्रथम भाग (उदयपुर), पृष्ठ २४, अर्थ—दूध, शक्कर और भात को एकत्र कर राजकन्याओं द्वारा बनाया हुआ भोजन (खीर) भक्ष्य होता है किन्तु कर्कशा गुजरी द्वारा तैयार की हुई (मक्की की) रबड़ी (सिचड़ी) कोई नहीं खाता ।

५. हमीर रासो, पृष्ठ ११६

लैकें पोथी समर सार की, डेवा सगुन विचारन लाग ।
 साम वेद रिगु वेद अथर्वन बाँचे जजुर्वेद महाराज ॥^१
 समर-सार की पोथी लैके, पंडित सगुन विचारन लाग ।
 जजुर वेद ऋगवेद अथर्वन भावें सामवेद महाराज ॥^२

निष्कर्ष

यद्यपि वीरगाथाओं के अनावर्ती नीतिकाव्य की मात्रा अधिक नहीं है तथापि नीति-तत्त्व और नीतिकाव्यत्व की दृष्टि से वह विशेष महत्वपूर्ण है। पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के नीतिरत्नाव्यों में वह ऐहिकता प्रायः नहीं दिखाई देती जो नीति का प्राण है। उनका लक्ष्य ऐहिक जीवन की सफलता न होकर आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता है। इसका लक्ष्य, संस्कृत के अधिकतर नीतिकाव्यों के समान, इस जीवन को सुखी, समृद्ध, यशस्वी तथा सफल बनाना है। जीवन को सफल बनाने के लिए जिस वीरता, साहस और पराक्रम की आवश्यकता होती है, उसकी प्राप्ति की इसमें प्रबल प्रेरणा की गई है। भूमि ही वस्तुतः वसुधा है इस तत्त्व को इन कवियों ने सम्यक् पहिचाना था। इसीलिए इन्होंने पंतुक भूमि की रक्षा और 'वीरभोग्या वसुंधरा' की भावनाओं का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। पारिवारिक जीवन की प्रशस्यता, स्त्री का संमान, स्वामि-धर्म, शरणागत-रक्षा, शत्रु-संहार आदि इन काव्यों की अन्य उल्लेख्य विशेषताएँ हैं।

इन काव्यों के अध्ययन-काल में पाठक की दृष्टि कुछ अभावों और त्रुटियों पर भी अनायास हो जा पड़ती है। उदाहरणार्थ इनमें क्षत्रियों के कर्तव्यों का तो पर्याप्त उल्लेख किया गया परन्तु अन्य वर्गों के कर्तव्यादि उपेक्षित-से रह गये हैं। वेश्यागमन, सुरापान, छूतझीड़ा, कन्यापहरण, बहुपत्नी विवाह आदि अनैतिक कृत्यों का निषेध दिखाई नहीं देता। विद्या के महत्त्व और प्राप्ति का अनाग्रह, शकुन, ज्योतिष, यंत्र, मंत्र, कवचादि पर विश्वास, कलियुग का प्रभाव और भविष्यता पर हृढ़ आस्था आदि बातें भी इन क्षत्रियोचित ग्रंथों में कुछ अस्वरगी ही हैं। जो हो, इन अपूर्णताओं की स्थिति में भी वीरगाथाओं का नीतिकाव्य जहाँ हम वीरों के समान प्रतिष्ठापूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा करता है, वहाँ अपनी भूमि, मान-पतिष्ठा आदि की रक्षा के लिए हंसते-हँसते प्राणोत्सर्ग के लिए भी प्रोत्साहित करता है। जहाँ अधिकतर भारतीय नीतिकाव्य पाठकों को जीवन-विमुख तथा मोक्षोन्मुख करते हैं, वहाँ ये काव्य उन्हें जीवन की दौड़-धूप के लिए समर्थ बनाते हैं और यह इन की महती विशेषता है।

१. असली आरुहखंड, पृष्ठ ३६

२. वही, पृष्ठ ८१

तृतीय अध्याय भक्तिकाल का नीति काव्य (सं० १३७५-१७०० वि०)

नीतिकाव्यकी दृष्टिमें हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल आदिकालकी अपेक्षा कहीं महत्त्वपूर्ण हैं। आदिकाल में एक भी ऐसी स्वतन्त्र कृति दिखाई नहीं देती जो पूर्णतः नीति पर केन्द्रित हो। नायों ने योगपंथियों के उपयुक्त कुछ नैतिक तत्त्वों का उल्लेख भर किया, सुमरो ने मनोविनोदार्थ कुछ काव्यरचना की और वीर-कवियों ने अपने आश्रयदाताओं का यशोगान किया। इनकी कृतियों में स्फुट रूप से जो कुछ नीति-विषयक पक्ष प्रसंगवश आ गये हैं, उन्हीं से तत्कालीन नीति-काव्य का कुछ आभास उपलब्ध होता है। परन्तु भक्ति-काल का महत्त्व अपना ही है। यह तो इस काल के नाम से ही स्पष्ट है कि इसका प्रमुख विषय भक्ति है, नीति नहीं। तथापि, संतों सूफियों, रामभक्तों, और कृष्णभक्तों ने जिन भक्ति-काव्यों की रचना की, वे भक्ति की दृष्टि से ही नहीं, नीति के विचार से भी अपना महत्त्व रखते हैं। परन्तु उनकी चर्चा अगले अध्याय का विषय है, प्रस्तुत अध्याय का नहीं। इस अध्याय में तो हमें उन कृतियों का विवरण प्रस्तुत करना है जिनकी रचना का लक्ष्य ही नीति का प्रतिपादन था। उक्त प्रकार की रचनाओं के प्रणेतारों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

- (१) भक्तिकाल के प्रमुख नीति-कवि
- (२) अकबरी दरबार के कवि
- (३) अनुवादक कवि
- (४) फुटकर नीतिकवि

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उन कवियों की चर्चा की गई है जिन्होंने आत्मनुष्टि तथा लोकोपकार की दृष्टि से सुन्दर और संपूर्ण मौलिक नीति-काव्यों का प्रणयन निष्कृतापूर्वक किया। द्वितीय वर्ग में उन कवियों के नीतिकाव्य का विवरण दिया गया है जो अकबरी दरबार के शोभावद्वंक थे तथा अपनी रचनाओं को सम्राट् तथा उसकी सभा की ज्ञानवृद्धि के लिए प्रस्तुत करते थे। इन्हें अपनी रचनाओं में राजकीय मर्यादाओं का भी ध्यान रखना पड़ता था। तृतीय वर्ग अनुवादकों का है और चतुर्थ उन फुटकर नीति-कवियों का, जिनकी कृतियां या स्फुट नीति-पद्य संख्या और काव्यत्व की दृष्टि से सामान्य हैं।

१—भक्ति काल के प्रमुख नीतिकवि

प्रमुख कवियों की सूची पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि नीतिकाव्य के प्रणयन में यद्यपि जैन, हिन्दू, मुसलमान, सन्त, भक्त, राजा, मंत्री सभी ने सहयोग दिया है तथापि जैन कवियों की संख्या सर्वाधिक है। कारण, जैन तथा बौद्धधर्म आचार-प्रधान धर्म हैं। जो लोग सर्वव्यापक, सृष्टिकर्ता, तथा कर्म-फलदायक ईश्वर में विश्वास नहीं रखते, उनका पथभ्रष्ट हो जाना अस्तिकों की अपेक्षा सहज है। इसी लिए उनको हितकर मर्यादाओं में स्थिर रखने के लिए आचार-व्यवहार, संयमादि का उपदेश देना अत्यन्त आवश्यक होता है। पद्मनाभ, ठकरसी, उदरराज, बनारसीदास आदि जैन कवियों ने अपनी रचनाओं में जूझा, मांस, मुरा, वेश्यागमन, आखेट, स्तेय, व्यभिचारादि का उग्र खंडन तो किया ही है, कृपणनिन्दा, इन्द्रियसंयम, गुणोपजन, कर्म-फल, उद्यम-कर्म आदि विषयों पर भी सुन्दर रचनाएं प्रस्तुत की हैं। अधिकतर रचनाएं बत्तीसी, बावनी आदि मुक्त-संग्रहों के रूप में हैं और कुछ प्रबन्धात्मक कथाओं के रूप में। अधिकतर जैन कृतियां मुनियों और यतियों द्वारा प्रणीत हैं, इसलिए उनमें ऐहिकता का स्वर यथेष्ट मुखर नहीं हो पाया। परन्तु राज-सम्पर्क के कारण उदरराज के काव्य अपवाद माने जा सकते हैं। रामभक्तों के नीतिकाव्यों में तुलसीदास जी की दोहावली अप्रतिम है और रत्नावली का “लघुदोहा संग्रह” तो स्त्रियों की गीता है। सन्त कवियों में से सुन्दरदास अपने सुन्दर-विलास, पंचन्द्रियचरित, सद्गुरु-महिमा आदि सुन्दर नीतिकाव्यों के कारण तथा वाजिद अपने सुन्दर अरित्तों के कारण प्रमुख नीतिकाव्यों में परिगणित किये गये हैं। देवीदास के कवित्तों तथा जान कवि के ग्रंथों में ऐहिकता तथा राजनीति की अधिकता स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक राजमन्त्री थे तो दूसरे नवाब। बांन ने कलिचरित्र को अपने काव्य का विषय बनाया है और लाल (?) ने रूप तथा गुण की होड़ को। यहां यह स्मरणीय है कि उक्त सभी कवि किसी न किसी धर्म में आस्था रखते ही थे। इसलिए यह कहना अनुचित होगा कि इन की कृतियों आमूलचूड़ नीतिविषयक हैं। उन में आध्यात्मिक तथा धार्मिक पुट विद्यमान है, परन्तु अधिकता नीति की ही है। अब उपयुक्त कवियों का काल-क्रमानुसार परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

१. पदमनाभ

कवि पदमनाभ की एक ही अप्रकाशित मुक्तक कृति प्राप्त हुई है, “दूंगर-बावनी”^१ इसकी रचना कवि ने अपने आश्रयादता दूंगर सेठ के नाम पर की थी। दूंगर

१. हस्तलिखित प्रति श्री अमरचन्द नाहटा के भ्रम्य जैन ग्रन्थालय बीकानेर में विद्यमान है।

सेठ, श्रीमाल कुल के फोफल्या गोत्र में उत्पन्न हुए थे। उनकी माता का नाम बाखदेवी था और पिता का नाम शंभ। उनके अनुज का नाम सीपागर था और गुरु का कमल प्रभ सूरि। 'डूंगरबावनी' की रचना सं० १५४३ विक्रमी में हुई थी।^१ बावनी में केवल ५३ छप्पय हैं जो दया, कोप, यश की रक्षा, अति, गर्व, नम्रता, धन, दान, कर्म-फल, जीवन-साफल्य, सप्तव्यसन (जुआ, मांसभोजन, सुरा-पान, वेश्यागमन, आखेट, चोरी, परदाराभिगमन) आदि विषयों पर लिखे गये हैं। कवि जैन है परन्तु ब्राह्मणों के इतिहास-पुराणों से भी सुपरिचित है। वह प्रतिपाद्य की पुष्टि में जैनों तथा ब्राह्मणों की अनेक कथाओं की ओर संकेत करता है। कवि की कल्पना अच्छी है और वह विषय को प्रभावक बनाने के लिए प्रकृति से अनेक उपमानों को प्रस्तुत करता है। काव्य की भाषा राजस्थानी है और अपभ्रंश के यत्किञ्चित् प्रभाव से युक्त है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की मात्रा भी नगण्य नहीं है। भोज की सृष्टि के लिए कवि एक वा अनेक शब्दों की आवृत्ति करता है। प्रसाद, भोज और माधुर्य तीनों ही गुण यथास्थान उपलब्ध होते हैं। काव्य के अध्ययन से क्षमा, दया, उदारता, नम्रता, वदान्यता आदि की पुनीत भावनाएं मन में जागरित होती हैं।

जस कारणि बलिराज विन्न बावन्न महापर ।
जस कारणि कबिदण्ह करि अप्पय करणभर ।
जस कारणि करि समर कवि अप्पियउ कलेवर ।
जस कारणि जगदेव कलहि कंकाल दिण्ड सिर ।
जस कज्जि अज्जि भूपत भरण भिड़इ मुंड रिरण रंग रसु ।
सो बुक्खि सुक्खि डूंगर कहइ तिम किज्जइ जिम होइ असु ॥^२

२. ठकरसी या ठक्कुरसी

गेल्ह या चेल्ह के पुत्र कवि ठकरसी के दो नीतिकाव्य—“कृपणचरित्र” तथा “पंचेन्द्रोबेलि”—प्राप्त हुए हैं और दोनों ही अप्रकाशित हैं। “कृपण-चरित्र” की हस्त-लिखित प्रति दिगम्बर मन्दिर, बम्बई, के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है और “पंचेन्द्रोबेलि”^३ को देखने का अवसर हमें जयपुर के बघीचन्द के मन्दिर में मिला। “कृपणचरित्र” की रचना की प्रेरणा कवि को एक आंखों-देखी घटना से हुई—

“जिसी कृपण इक डोठ डोठ तिसी गुण तामु बलाप्यो ।”

कृपण-चरित्र (रचना १५८० वि०) एक लघुकाव्य निबन्ध-काव्य है जिसमें केवल ३५ छप्पय हैं। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—एक कृपण सेठ की उदार

१. संवत् पनरह तोनि चाल अगल (डूंगर बावनी, ५०वां छप्पय)

२. डूंगर बावनी, छप्पय, २६

३. गुटका, सं० ११७, पृ० १२६-१२६ तक

पत्नी ने पति के सम्मुख गिरिनार की यात्रा का प्रस्ताव रखा। सेठ के विरोध करने पर विवाद हुआ। पत्नी ने दान और भोग को ही सम्पदा का सदुपयोग बताया, परन्तु सेठ ने उसका खंडन किया। खिन्न सेठ कुछ काल के लिए घर से बाहर चला गया। लौटकर उसने पत्नी को मायके भेज दिया। व्यापारियों का यात्रा-समूह बेलगाड़ियों पर गया और मार्ग में कुछ व्यापार भी करता गया। अनेक यात्री पहले से अधिक सम्पन्न होकर लौटे। सेठ अपनी भूल पर हाथ मलने लगा और बहुत बीमार हो गया। लोगों ने दान-पुण्य करने की प्रेरणा की तो बोला—मैं समग्र सम्पत्ति साथ ले जाऊंगा। उसने लक्ष्मी से साथ चलने को कहा तो वह बोली—मैं दान पुण्य करने वाली के साथ ही जाती हूँ। हतश सेठ मर कर नरकगामी हुआ। उनकी मृत्यु पर लोग प्रसन्न होउठे और सम्बन्धियों ने उसके धन से गुलछरें उड़ाये। अन्न में कवि कहता है—

“खरचियो स्याहं जीतो जनपु
जिह संचयो तिह हारियो जनम।”^१

काव्य में कथा का निर्वाह गुचाय रूप से हुआ है और हास्यरस की सफल व्यंजना हुई है। जैसे—

गुरु सौ गोठि न करं, देव देहुरी न देखं ।

मांगणि भूलि न देख, गालि सुनि रहै छलेखं ॥

सगो भतीजी भुवा बहिरिण, भाणिजी न ज्यावं ।

रहै रुसड़ो माड़ि घ्राप भ्योतो जब घ्रावं ॥

पाहुणो सगो घ्रायी सुखं, रहइ छिपिउ मुहु राखि करि ।

जिव जाय तबहि पनि नोसरइ हम धनु संच्यो कृपण करि ॥^२

कथा-विषय कोई नवीन नहीं है। भारतीय साहित्य में काल्पनिक कृपण सदा ही उपहासास्पद बनाये गये हैं। फिर यहाँ तो एक सत्य घटना ही कवि के समक्ष उपस्थिति हो गई थी जिसे कवि रोचक ढंग से प्रस्तुत करने में सफल हुआ है।

‘पंचेन्द्रि बेलि’ की रचना सं० १५८५^३ वि० में की गई। इन्द्रियनिग्रह ब्राह्मण, जैन, बौद्ध सभी सम्प्रदायों के साहित्यकारों का अत्यंत प्रिय विषय रहा है। प्राचीनतर काव्यों में प्रायः मुक्तक पद्यों में गज, मृग, शालभ आदि के उदाहरणों द्वारा इन्द्रिय-विकार-जन्य दोषों का उल्लेख मिलता ही है। ठाकरसी ने वही से बीज लेकर उसे कथारूप में पल्लवित किया है। कवि पहले एक दोहे में किसी एक इन्द्रिय के वशीभूत

१. कामता प्रसाद जैन: हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (काशा, १९४७ ई०) पृष्ठ ६८

२. ” ” ” ” ” ” पृष्ठ ६९

३. “संवत् पंद्रह सं रे पिण्यासे। तेरसि सुदि कातिग मासे।” (उपयुक्त हस्तलिखित प्रति के अन्त में,

प्राणी का संकेत करता है और तत्पश्चात् चतुर्दशमात्रिक प्रायः पाँच सस्त्री-छंदों में उसका कुछ विस्तृत वर्णन करता है। समस्त काव्य इसी शैली में रचा गया है। जैसे—

दोहा—बन तख्तर फल लातु फिरि, पय पीबती सुछंद ।

फरसण इंद्री प्रेरियो, बहु दुख सहै गयंद ॥

छंद—बहु दुख सहै गयंदो । तसु होइ गई मति मंदो ॥

कागत कं कुंजर काजं । पड़ि खाईं सकयो न भाजं ॥

तिहि सही घणो तिस भूखो । कवि कौन कह तस दूखो ॥

रखवाला बलगयो जाण्यो । बेसा सिराय घरि घाण्यो ॥

बंद्यो पग सकुल घाले । सो कियो मसकं चाले ॥

परसण प्रेरं दुख पायो । निति अंकुस घावां घायो ॥

परसण रस कीचक पूर्यो । गहि भीम सिलातल धूर्यो ।

परसण रस रावण नामे । मायों लंकेइबर रामे ॥^१

जैसे उपयुक्त अवतरण में स्पर्शोद्भिद्य-विकार से गज की दृष्टि वर्णित है, वैसे ही रसना, घ्राण नेत्र और श्रवण के विकारों से मीन, भ्रमर, पतंग और मृग पर आने वाली आपत्तियों का उल्लेख है। कवि ने इन पशु-पक्षियों के उदाहरणों तक ही काव्य को सीमित नहीं रखा। इतिहास-पुराणों के आख्यानों से भी वर्ण्य विषय का समर्थन किया है। रचना में प्रवाह और प्रसाद की कमी नहीं परन्तु रागात्मक तत्त्व का अभाव-सा ही है। काव्यत्व की दृष्टि से “कृपण चरित्र” का स्थान इससे ऊंचा है।

३. छीहल

अभी तक कविकंकण छीहल का विशेष परिचय अन्धकार में ही है। “बावनी” से विदित होता है कि इनका जन्म नालिहग बंश के अगरेवाल कुल में नाथू के घर में हुआ था।^२ यह अप्रकाशित बावनी जयपुर में छुएकरण पांडे के मंदिर के शास्त्रभंडार के एक गुटके^३ में हमें लिपिबद्ध मिली थी। कृति का रचना-काल कातिक शुक्ला अष्टमी, सं० १५=४ है और लिपिकाल सं० १७१६ वैशाख सुदि ५

१. पंचेन्द्रो बेलि, प्रथम दोहा तथा उसके अष्टोत्तरी छंद ।

२. चउरासी आगलइ सइ जु पद्वह संवहर ।

मुकुल पव्य अष्टमी मास कातिग गुरु वासर ।

हृदय अपनी बुद्धि नाम थी गुरु का लोन्हउ ।

सारबातराइ पसाइ कविस संपूर्ण कीकउ ।

नालिहग बंसि नाथू सुतनु अगरेवाल कुल प्रगट रडि ।

बावनी बसुधा बिस्तरी करिकंकण छीहल कवि ॥ (छीहल बावनी, छप्पम ५३)

३. वेष्टन सं० ३५०. गुटका सं० १४०, क्रमांक ६४८, गुटके में ६' × ४½" आकार के ५७ पत्र हैं ।

शनिवार है।^१ श्री मोतीलाल मेनारिया ने इनके “पंच सहेली रा दूहा” का उल्लेख किया ही है,^२ इधर इनके चार अन्य ग्रंथों का भी पता चला है—पंथीगीत, बावनी, उदरगीत, फुटकर गीत।

छोहल बावनी उपयुक्त गुट के के आरम्भ में ही है परन्तु उसके पहले पांच पत्र सुप्त हैं। छठे से तेरहवें पत्र तक ही कृति उपलब्ध है और उसमें २२ से ५३ तक पद्य विद्यमान हैं। समग्र कृति में केवल छप्पय छंद ही व्यवहृत हुआ है और उसे कवि ने कवित्त कहा है।

बावनी में अनेक व्यावहारिक विषयों का सुन्दर निरूपण किया गया है; जैसे—संसार की स्वार्थपरायणता, दान अवसर पर ही दिया हुआ अच्छा है, नृप, स्त्री, सपं, सुनार तथा वारांगनाओं की अविश्वसनीयता, कृपणनिंदा आदि। कृपणता के विरोध में लिखा हुआ निम्नलिखित छप्पय इनकी सुन्दर कल्पना का परिचायक है—

बरबु गाड़ि मम घरहु धरो किछु काजि न आवइ ॥
बिलसउ जस कहि काजि न तरि पीछे पछितावइ ॥
नर नरिब नर भुयणि संचि संपइ ते भूषा ॥
ते वस्तु धामहि बहुरि जनम सूकर कं हूषा ॥
धन काजि अघोमुष दसन सिउं धरणि विदारहि रयण दिन ॥
छोहल कहै सोधत फिरइ किहो न पावै पुनि विण ॥^३

अनेक उपयुक्त दृष्टान्तों द्वारा वर्ण्य नीति का समर्थन छोहल की प्रशस्त्य विशिष्टता है। निम्नांकित पद्य से विदित होता है कि दृष्टान्त-चयन के समय उनकी दृष्टि विशाल क्षेत्र में संचरण करती थी—

समय जु सीत बितीत वृथा बस्तर बहु पाये ।
धीन घुष्या घटि गई वृथा पंचामृत बाये ॥
वृथा सुरत संभोग रजनि कहि अति मुकिउजय ।
वृथा सलिल सीतल सुबास बिन तृषा जु पोइइ ॥
घातक कपोत जलचर मुए वृथा मेघ जल बहु दए ।
सौ दानु वृथा छोहलु कहइ जो दीजइ अक्षर गए ॥^४

१. इति छोहल कृत बावनी संपूर्ण समाप्त। संवत् १७१६ लिखित पाँचे बीस लिखा-
पित व्यास हरिराम महला मध्ये राज श्री सोवसिध जी राजये। संवत् १७१६ का
वर्षे निती बैसाख सुबि ५, शनीपुरवार। शुभ भवतु: श्री ॥ श्री ॥

२. मेनारिया: राजस्थानी भाषा और साहित्य: प्रयाग, २००८ बि०, पृष्ठ १४६-५०

३. छोहल बावनी, छप्पय ३७

४. छोहल बावनी, छप्पय ५१३१

सामान्य मूलों से तो सब परिचित हैं, प्रतिमूलों का परिचय छोहल ने इस प्रकार दिया है।

ठाकुर मित जु जाणि मूढ हरषइ जे विसह ।
निज तिय तणउ विसास करहि जियमंहि जे मिसह ॥
सरप सुनार जु पारस-रस जे प्रीति लगावहि ।
बेध्या भ्रपणी जाणि छयल जे छंद उछावहि ॥
विरचंत बार इनकहु नही मूरख नर जे रचिया ।
छोहलु कहै संसार महि ते नर प्रति बिगुचिया ॥^१

बावनी में विषय तो पुरातन ही हैं परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न और वर्णन कुशल होने के कारण कवि उन्हें सजीव बनाने में सफल हुआ है। कई पद्यों पर संस्कृत-काव्य का प्रभाव इतना अधिक है कि वे छायायुवाद से ही लगते हैं।^२ भाषा बोल-चाल की राजस्थानी है; अलंकारों का प्रयोग सुरुचिपूर्वक हुआ है; प्रसाद और माधुर्य पर्याप्त हैं। सार यह कि विभिन्न भावों तथा कल्पनाओं से भूषित होने के कारण कृति सामान्य काव्य कोटि में परिगणनीय है।

४-गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवनचरित और कृतियों से समग्र हिन्दी-संसार इतना मुपरिचित है कि इन विषयों का सविस्तर उल्लेख पिष्ट-पेषण मात्र प्रतीत होता है। यद्यपि उनकी रचनाओं में से रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली और बेराग्य-संदीपनी में नीति-काव्य पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है तथापि ऐसे लगता है मानो 'दोहावली' का संग्रह तो किया ही नीति के उपदेश के लिए गया हो।

'दोहावली' कोई निबद्ध ग्रन्थ नहीं है, और न यह कवितावली आदि के समान काण्डों में विभाजित है। इसमें ५५१ दोहों तथा २२ सोंरटों का संग्रह है^३ और वे भी सब नवीन नहीं हैं। उन में ७५ दोहे 'मानस' से, ३५ 'रामाज्ञा प्रश्न' (दोहावली रामायण) से, १३२ 'तुलसी सतसई' से और ७ 'बेराग्यसंदीपनी' से उद्धृत किये गये हैं।^४

१. छोहल बावनी, छप्पय, ३१

२. उदाहरणार्थ बावनी का २६वां छप्पय संस्कृत के इस श्लोक का अनुवाद-सा ही है—

बुजंनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।

उष्यो बहति चाङ्गारः शीतः कृत्वापते करम् ॥

(मु० २० भा० पृ० ५५)

३. तुलसीदास : दोहावली, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०००

४. रामनरेश त्रिपाठी : तुलसी और उनका काव्य (दिल्ली, १९५३ ई०), पृष्ठ २१६

दोहावली किस ने कब संगृहीत की, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। कुछ विद्वान् इसे सं० १६८० का संग्रह मानते हैं और कुछ, कुछ पीछे का। अस्तु, संग्रह जिस ने भी और जब भी किया हो, इस में सन्देह नहीं कि नीतिकाव्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इस के विषय में कुछ विस्तृत चर्चा-करने से पूर्व ही यह स्पष्ट कह देना उचित होगा कि नीति की हमारी परिभाषा के अनुसार यह विशुद्ध नीतिकाव्य नहीं है। जिस संग्रह के ५७३ पद्यों में से पहले २४२ पद्यों का सम्बन्ध राम, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या, शंकर, हनुमान्, ध्यान, प्रार्थना आदि विषयों से हो और परवर्ती भाग में भी ऐसे ही विषय छिटपुट रूप से समाविष्ट हों, उसे पूर्णतया नीतिकाव्य कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता। परन्तु तुलसीदास की दृष्टि में तो राम भक्ति, राम नाम-स्मरण आदि विषय सर्वोत्कृष्ट नीति थे, इसीलिए उन्होंने इन का असकृत् उपदेश किया है। अस्तु, हम अपने विवेचन को लगभग उन्हीं तीन सौ बोहों तक सीमित रखेंगे जिनमें तुलसीदास जी ने धर्म और अध्यात्म की अपेक्षा लोक-व्यवहार की ही चर्चा मुख्य रूप से की है।

वैयक्तिक नीति—वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में गोस्वामी जी ने काया को पुष्ट, निरामय तथा चिरस्थायी बनाने पर कही बल नहीं दिया। इस विषय में उनकी नीति संतकवियों की सी ही थी। वस्तुतः जिन संतों और भक्तों का ध्यान समग्रतः भगवान् की ओर ही लगा हो, उनकी कृतियों में शारीरिक रक्षा पर बल दिये जाने की आशा नहीं की जा सकती। यही बात ऐन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में भी सत्य समझिए, जिन की आशा की भी दुःखों का मूल कहा गया है—

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम ।

सेयें सोक समपई बिमुख भएँ अभिराम ॥^१

तुलसीदास जी ने शारीरिक सुखों की जितनी उपेक्षा करने की प्रेरणा की है, उतना ही अधिक बल वाणी के सुप्रयोग पर दिया है। कारण यह है कि सामाजिक व्यवहारार्थ जितना प्रयोग वाणी का होता है, उतना किसी अन्य इन्द्रिय का नहीं। इसलिए उन्होंने विवेक-पूर्ण, अभिमानरहित और निदा-विहीन वचनों के प्रयोग पर बहुत बल दिया है—

पेट न फलत बिनु कहें कहत न लागइ डेर ।

सुमति बिचारें बोलिए, लमुभिइ कुफेर सुफेर ॥^२

वचन कहे आभमान के, पारथ पेखत सेतु ।

प्रभु तिय लूटत नीच भर जय न मीचु तेहि हेतु ॥^३

१. दोहावली, पृष्ठ ८६।२५८

२. दोहावली, पृष्ठ १४६।४३७।

३. रामेश्वर के सेतुबंध को देख अर्जुन ने सदपं कहा था, यदि उन दिनों में होता तो

तुलसी बे कीरति चहहि पर की कीरति खोइ ।

तिन के मुँह मसि लागिहै, मिटिसि न भरिहैं धोइ ॥^१

तुलसीदास मानव-जीवन की सार्थकता इन दो बातों में मानते थे—नीति-मार्ग का अनुसरण और राम चरण में स्नेह—

खसय नीति मग राम पग नेह निबाहय नीक ।

तुलसी पहिरिअ सो बसन जो न पसारैं फोक ॥^२

नय-पथ पर चलने के लिए-जिन गुणों की आवश्यकता सबसे अधिक होती है, वे हैं बुद्धि और विवेक। यही कारण है कि तुलसी ने इनका प्रश्रय लेने की प्रेरणा अनेक दोहों में की है—

कर बिचार खलु सुपथ भल आवि मध्य परिनाम ।

उलटि जपे 'जाग मरा' सूखे 'राजा राम' ॥^३

देस काल करता करम दचन बिचार बिहीन ।

ते सुरतर तर दारिदी सुगसरि तीर मलीन ॥^४

विवेक और बुद्धि को विध्वस्त करनेवाला मुख्य दोष है जोश जिसका परिणाम प्रायः दुःख और पश्चात्ताप होता है। गोस्वामी जी ने स्वयं ही कहा है कि यदि भाटों द्वारा उत्तेजित नट युद्ध-भूमि को चल पड़ेगे तो या पीठ दिखा आएंगे या बन्दी बन जाएंगे—

भरहाए नठ भांट के चपरि चड़े संग्राम ।

कैं बं भाजे आइहैं कैं बांधे परिनाम ॥^५

जहाँ उपयुक्त बातों में तुलसीदास जी संतों से सहमत हैं वहाँ वेद-शास्त्रों के सम्बन्ध में विमत। वे वेद-कुरान और पोपों-पत्रों की उपेक्षा या निन्दा नहीं करते, उन्हें महानहिम मानते हुए तदनुसार आचरण का परामर्श देते हैं—

तीरों से ही पुल बांध देता। उसे इस वर्षावर्ष का कुफल यह भुगतना पड़ा कि नीच भरों ने श्री कृष्ण के परिवार की स्त्रियों को अर्जुन के सामने ही सुट लिया। उन्हें जीतने में असमर्थ अर्जुन की इस अपमान के कारण ही मृत्यु हो गई थी (बोहावली, पृष्ठ १५०।४४०) ॥

१. वही, पृ० १३३।३८६

२. ,, पृ० १६१।४१६

३. वही, पृ० १२६।३६७, और भी देखें बोहा-संख्या ३६६-३७४, ४१५-४२१, ४६६

४. वही, पृ० १४२।४१४

५. वही, पृ० १४५।४२२

अतुलित महिमा वेद की तुलसी किए विचार ।

जो निदत निबित भयो विवित बुद्ध अवतार ॥^१

उनके मत में तो विद्वान् किसान हैं, वेद सरोवर हैं और विभिन्न मतमतान्तर खेत हैं। उन खेतों के उत्कर्षार्थकर्म का अनुमान उनमें उत्पन्न सस्य से सहज ही हो जाता है।^२ 'दोहावली' में शारीरिक और बौद्धिक नीति की अपेक्षा कहीं अधिक बल आत्मिक नीति पर दिया गया है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों के परित्याग और क्षमा, प्रेम, परोपकार, नम्रता, विश्वास, शान्ति आदि गुणों के उपजंन की प्रेरणा पाई जाती है। निम्नांकित दोहे में कामादि के सहायक पदार्थों का उल्लेख द्रष्टव्य है—

लोभ के इच्छा बंध बल, काम के केवल नारि ।

क्रोध के पशु बचन बल, मुनिवर कहहि विचारि ॥^३

अभिमान के कारण मानव उसी प्रकार परवश होकर दुःखभागी बनता है, जिस प्रकार तोता, रेशम का कीड़ा और बन्दर—

हम हमार आचार बड़, भूरि भार धरि सीस ।

हठि सठ परबस परत, जिमि, कीर कोस कृमि कीस ॥^४

काम, क्रोध आदि में से एक भी दोष मनुष्य का अनर्थ करने में समर्थ है परन्तु जहाँ वे इकट्ठे हो जाएँ वहाँ तो वचाव की कोई मूर्त ही नहीं रहती—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बोछी मार ।

तेहि पिआइअ बारनी कहहु काह उपचार ॥^५

ऊँची पदवी पर रहकर आज्ञा देना और सेवा कराना तो सभी चाहते हैं, परन्तु अज्जन वही है जो सहर्ष आज्ञा-पालन और सेवा करता है—

सासु समुर गुरु मातु पितु प्रभु भयो यहै सब कोइ ।

होनों दूजी और को मुजन सराहिम सोइ ॥^६

'दोहावली' में आत्मिक गुणों में सर्वोच्च स्थान अनन्य प्रेम को दिया गया है। सच्चा प्रेमी वही है जो प्रलोभनों से विचलित नहीं होता तथा प्रेम-पात्र या अन्य कहीं से आ पड़ने वाले कष्टों या मृत्यु को भी सहर्ष स्वीकार कर लेता है, परन्तु अपने स्नेह में कोई कमी नहीं आने देता। सत्य स्नेही के स्वरूप को दोहावली में मीन, मृग, सर्प, कमल आदि अनेक पदार्थों के प्रेम से स्पष्ट किया गया है, परन्तु चातक के प्रेम द्वारा जो अनन्य प्रेम की शिक्षा दी गई है, वह हिन्दी-काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है—

१-५. दोहावली, दोहा ४६४, ४६५, २६५, २४३, २७१

६. वही, दोहा ३६१

बरखि परख पाहन पयद, पंख करी टुक टुक ।

तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहि झूक ॥^१

बधो बधिक पर्यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच ।

तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहुँ लगी न छोंच ॥^२

पारिवारिक नीति—जो सन्त-भक्त संसार को ही झूठा समझते हैं वे परिवार को कैसे सत्य मान सकते हैं ? यही कारण है कि जो सन्त गार्हस्थ्य की स्पष्ट निन्दा नहीं भी करते, वे भी उसमें आसक्ति को सर्वथा त्याग्य कहते हैं । तुलसीदास जी की भी नीति ऐसी ही है । वे विव्यासकन साधु की अपेक्षा विरक्त गृहस्थ को श्रेष्ठ बताते हैं—

सीस उधारन किन कहेउ बरजि रहे प्रिय लोग ।

घर ही सती कहावती जरती नाह वियोग ॥^३

उनके विचार में गार्हस्थ्य प्रभु-प्रेम में बाधक नहीं है, उसमें आसक्ति अवश्य अनिष्टकर है, अतः उस ग्रामवित से दूर ही रहना चाहिए—

घर कीन्हें घर जात है, घर छोड़ें घर जाइ ।

तुलसी घर बन बीच ही, राम प्रेम पुर छाइ ॥^४

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि गार्हस्थ्य-जीवन में रहते हुए पूज्य गुरु-जनों की सेवा-शुभ्रवा में प्रमाद किया जाय । ऐसा करना तो जीवन ही व्यर्थ खोना होगा—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहि सुभाय ।

सहेउ साधु तिन्ह जनम कर, न तर जनमु जग जाय ॥^५

तुलसीदास की दृष्टि केवल आदर्श पर केन्द्रित नहीं रहती । सांसारिक तथ्यों से वे पलायन नहीं करते । जो बात साक्षात् देखने-सुनने में आती है, उसे स्पष्टतया स्वीकृत करने में उन्हें सकोच नहीं होता । सज्जनों के घरों में कुसंतान का होना वे असंभव नहीं मानते—

होइ भले कैं अनभलो, होइ दानि के सूम ।

होइ कपूत सपूत कैं, ज्यों पावक में धूम ॥^६

गृहस्थ और विरक्त के विषय में तुलसीदास की नीति का सार यह है कि मोह के बश में हो कर शास्त्रोक्त कृत्यों का अनुष्ठान न करने वाला गृही और वैराग्य-विवेक-हीन तथा प्रपंचलीन संन्यासी दोनों ही निन्द्य हैं ।^७

१-२-३. बोहाबली, २८२, ३०२, २५४

४. वही , बोहा २५६

५. वही , बोहा ५४०

६. वही, बोहा ३६८

७. वही ,, ४८०

सामाजिक नीति—‘दोहावली’ में सर्वाधिक बल मित्र और मित्रता, कपट और कपटी, सज्जन और दुर्जन, उत्संग और कुसंग, परोपकारी जनों की दुर्लभता, त्याग्य बातें, निरादरयोग्य व्यक्ति, संगठन आदि सामाजिक विषयों पर दिया गया है। वैदिक युग के पश्चात् स्त्रियों का संमान उत्तरोत्तर क्षीण होता गया। तुलसीदास जैसे वेद-भक्त भी उन्हें प्राचीन आसन पर न बैठा सके। इस विषय में उन की नीति सन्तों जैसी ही रही। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। स्त्री अपने मधुर रूप में परमार्थ में प्रत्यवाय रूप सिद्ध होती है और न्यक्कृत होने की दशा में उग्र रूप धारण कर क्रूरतम और विनष्टतम कार्य करने में भी संकोच नहीं करती—

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ ।

का न करै प्रबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ॥^१

सज्जनता और सरलता निस्सन्देह स्तुत्य गुण हैं, परन्तु इन की भी कोई सीमा होनी चाहिए। जो इस नीति की उपेक्षा करता है, वह सूर्य-चन्द्र के समान विडंबना का पात्र बनता है क्योंकि वे सदा सरल चाल चलते हैं, शेष ग्रहों के समान उभयविध गति का आश्रय नहीं लेते—

सरल बल गति पंच ग्रह, चपरि न बितवत काहु ।

तुलसी सूखे सूर सति, समय विडंबित राहु ॥^२

इन संसार में सदा भले का फल भला ही नहीं मिलता। भलाई का फल बुराई मिलने पर सज्जनों को हताश न हो जाना चाहिए—

लोक बेबहू लौं बगो, नाम भले को पोच ।

धर्मराज जम, गाज पवि, कहत संकोच न होत ॥^३

‘कवितावली’ आदि में श्रीराम तथा हनुमान की ‘लरनि’ का प्रोजस्वी दर्शन करने वाले तुलसीदास ‘दोहावली’ में संहारक शस्त्रास्त्रों से युद्ध करना तो दूर रहा, पत्र-पुष्पों द्वारा युद्ध को भी निषिद्ध कहते हैं—

सुमति विचारहि परिहरहि बल सुमनहुं संग्राम ।

सकुल गए तनु बिनु भए, साखी जादी काम ॥^४

उन्होंने सामान्य रूप में कलह की कृत्सा के पश्चात् समर्थ वीरों से वीर को तो मृत्यु भोग लेना कहा है।^५

तुलसीदास के भगवान् शरणागतवत्सल हैं; संस्कृत के धर्मशास्त्रों में भी शरणागत-रक्षा को पुण्य कहा है; अदितान के राजपूत-नरेश भी शरणागत के रक्षार्थ

१-३. दोहावली, २६७, ३६७, ३७३

४. कवितावली, लंकाकाण्ड, पद्य ४,

५. दोहावली, पृष्ठ १४६।४२५

६. वही, दोहा ४७६,

स्वप्राणों को संकट में डालते आए थे, अतएव तुलसीदास भी इस नीति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे—

तुलसी पुन जल कुल को निरबल निपट निकाल ।

कं राखे कं संग जल बाह गहै को लाज ॥^१

तुलसीदास जो नीति-पालन का महत्त्व मुक्तकंठ से स्वीकृत करते हैं क्योंकि उसी के कारण श्रीराम ने सग, मृग तक को पवित्र मित्र बना लिया था और उसी के अज्ञान के कारण रावण ने स्व सहोदर को निज काल ।^२ परन्तु कोई यह कहे कि संसार को नीति के उपदेश से सुधारा जा सकता है, तब गोस्वामी जी उससे सहमत नहीं हैं ।^३

धार्मिक नीति—‘दोहावली’ में धन के महत्त्व का उल्लेख नहीं है । कारण, तुलसीदास का लक्ष्य सांसारिक सुख न होकर अन्तःशान्ति की प्राप्ति है । यही कारण है कि उन्होंने संतोष के बिना शान्ति-प्राप्ति को वंसा ही असम्भव कहा है जैसा भूमि पर नाव का चलना ।^४ उन्होंने धन की गहरी ही अनेकत्र की है, क्योंकि वह प्रायः अविमान, निर्लज्जता आदि दुर्गुणों का उत्पादक है—

तुलसी निरभय होत नर सुनिघत सुरपुर जाइ ।

सो गति ललिघत अछत तनु, सुख संपति गति बाइ ॥^५

दान देना तो स्तुत्य है परन्तु कपट-पूर्वक दिया हुआ दान किसी का भी हित नहीं करता । न दाता का न प्रतिग्रहीता का । तुलसीदास भक्त्यग्राही के दृष्टांत से उक्त नीति का उपदेश यों देते हैं—

तुलसी दान जो देत हैं, जल में हाथ उठाइ ।

प्रतिग्राही जोबै नहीं, दाता नरक जाइ ॥^६

इतर-प्राणि-विषयक नीति—तुलसीदास ने अभक्ष्य पदार्थों के निषेध^७ द्वारा जीवदया की व्यंजना अनेक दोहों में की है । सिंह, गर्दभ आदि पशु-पक्षियों के चरित्र से शिक्षा लेने की जिस प्रवृत्ति को हम ‘चाणक्य-नीति’ में देख चुके हैं, वह दोहावली में भी दुर्लभ नहीं है ।^८ दोहावली में तुलसीदास जी ने खातक, शलभ, मृग आदि की प्रशंसा के द्वारा उनसे अनन्य प्रेम का पाठ पढ़ने की प्रेरणा की है । इस प्रकार दोहावली की प्राणि-सम्बन्धी नीति उनके प्रति दयालुता तथा उनसे कुछ सीखने की है ।

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति के अन्तर्गत तुलसी ने जिन अनेक विषयों का प्रतिपादन किया है उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—संसार की स्वप्न-सदृशता, कलि-युग-जनित सामाजिक विषय, अवसर की महत्ता, तिथि-नक्षत्रों तथा शकुनों का प्रभाव, आचार की अपेक्षा वस्तु की प्रधानता, ‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’, भाग्य के साथ-साथ पुरुषार्थ का महत्त्व, स्व कृत्यों तथा बड़ों के आश्रय से महत्त्वप्राप्ति, जीवन का साफल्य आदि । जैसे—

१-५. दोहावली, ५४४. ४४२, २७४, २७५, ४६७

६-८. वही, दोहा ५३३, ५४६-५०, ५३८

रामायन अनुहरत सित, जग भयो भारत रीति ।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचालि पर प्रीति ॥^१
मनि-भाजन मधु पारई, पूरन अभी निहारि ।
का छाँड़िष का संग्रहिष, कहहु विवेक विचारि ॥^२

दोहावली के नीतिकाव्य पर एक दृष्टि

विवचन—दोहावली में तुलसीदास जी ने परम्परा-प्राप्त विषयों का ही नव-निरूपण नहीं किया है, अनेक ऐसे विषयों को भी समाविष्ट किया है जिनका उत्प्रेक्ष्य प्राचीन ग्रंथों में दुर्लभ है। उदाहरणार्थ, वाङ्माधुर्य की प्रशंसा और गाली की निन्दा प्रायः सभी नीतिकाव्यों में पाई जाती है। परन्तु, लोक में गाली बर को ही व्यक्त नहीं करती, प्रेम की भी प्रकाशिका मानी जाती है। इसी बात को देखकर गोस्वामी जी ने एक सुन्दर कल्पना से युक्त निम्नांकित दोहा रचा—

अभिघ गारि गारैड गरल, गारि कीन्ह करतार ।

प्रेम बर की जननि जुग, जानहि बृष न गँवार ॥^३

प्रायः नीति-कारों ने कुसंगति को दुःखदायिनी ही कहा है, परन्तु तुलसीदास का एक मत यह भी है कि सज्जन के लिए दुष्ट-संग भी मंगलकारक होता है—

तुलसी संगति पोष की, सुबनहि होति म-दानि ।

व्यों हरिरूप सुता हि तें, कोनि गोहारी दानि ॥^४

इस का आशय यह न समझना चाहिए कि सज्जन निस्संकोच कुसंगति का सेवन करें। तात्पर्य इतना ही है कि यदि देवयोग से कभी सज्जनों को बुरी संगति में रहना पड़ भी जाय तो भी वे अपने चरित्र को प्रसूषण रखने में समर्थ होते हैं। मित्रता के विषय में भी 'दोहावली' में एक नवीन नीति निर्दिष्ट की गई है। प्रायः प्राचीन पुस्तकों में तुल्य स्वभाव, वय, व्यसन आदि वाले व्यक्तियों में ही मित्रता का स्थायित्व बताया गया है; जैसे—

१-२. बही, दोहा ५४५, ५५१

३. दोहावली, पृष्ठ ११३।३२८

४. इस दोहे से सम्बन्धित कथा इस प्रकार है—

किसी राजकुमारी ने विष्णु जी से ही विवाह करने का संकल्प किया। एक चतुर बढ़ई लकड़ी के दो बाहु जोड़कर चतुर्भुज बन बैठा और राजकुमारी को ब्याह लाया। एक बार जब राजकुमारी का पिता विपद्ग्रस्त हो गया तब राजकुमारी ने विष्णु जी से वितति की, 'मैं तो आपकी ही प्रजांगिनी होना चाहती थी परन्तु एक कपटी के धोखे में प्रा गई। सो आप ही मेरे पिता को बचाइए।' विष्णु जी ने सरला साध्वी की प्रार्थना स्वीकार कर उसके पिता को विपद्-मुक्त कर दिया। (दोहावली, पृष्ठ १८४।५३६)

मृगा मृगैः संगमनुजजग्मि गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरंगैः ।

मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥^१

‘मृग, गी, घोड़ा, मूर्ख और विद्वान् सभी अपने-अपने वर्ग के व्यक्तियों से प्रेम करते हैं। सत्य है, मंत्री उन्हीं में होती है जिनके शील, व्यसन आदि सदृश होते हैं।’ परन्तु तुलसीदास ने दोहावली में इससे विपरीत मत व्यक्त किया है—

कं लघु कं बड़ भीत भल, सब सनेह दुख सोइ ।

तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस, मिलें महाविष होइ ॥^२

प्रश्न होता है तुलसीदास ने बराबर वालों में मंत्री का विरोध तथा छोटों और बड़ों की एक दूसरे से मित्रता को काम्य क्यों कहा है। हमारी समझ में कारण कदाचित् यह है कि दोनों में समानता होने पर कोई किसी की बात न मानेगा और आए दिन के विवादों से मित्रता में स्थायित्व न आएगा। दोहावली में तत्कालीन रीति-रिवाजों, तिथि-नक्षत्रों, शकुनों आदि के प्रभाव का भी अनेकत्र उल्लेख मिलता है। उन दिनों ग्रन्थे लोग नेत्रलाभ की आशा से, बंध्याएं सन्तान की कामना से और कुष्ठी स्वास्थ्य की लालसा ले कर बहराइच में गाजी मियाँ^३ की कब्र पर जाया करते थे। तुलसीदास उसी मिथ्याविश्वास के आधार पर भेड़ियाघसान या गतानुगतिकता का निषेध यों करते हैं—

सही भाँसि कब आँधरें, बीभूत पूत कब ल्याइ ।

कब कोड़ी काया लही, जग बहिराइच जाइ ॥^४

तुलसीदास जी ज्योतिःशास्त्र तथा शकुन-शास्त्र के भी ज्ञाता थे और उनमें विश्वास रखते थे। यही कारण है कि दोहावली के अनेक दोहों^५ में व्यापार, यात्रा आदि पर तिथियों, नक्षत्रों और शकुनों के भले-बुरे प्रभाव का उल्लेख किया गया है। प्रायः नीति के काव्यों में इन विषयों की उपेक्षा ही रहती है परन्तु गोस्वामी जी ने विविध कार्य करते समय इनका ध्यान रख लेने को भी उचित कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने दोहावली में अनेक नये विषयों को भी समाविष्ट कर दिया है।

१. सुभाषितरत्नाकर, पृष्ठ २७१।८६

२. दोहावली, पृष्ठ ११०।३२३

३. बहराइच में प्रतिवर्ष जठ मास में महमूद गजनवी के भानजे (?) सग्यद सालार जंग मसऊब गाजी की कब्र पर मेला लगता है जहाँ ग्रन्थविद्वासी लोग बिबिध कामनाओं की पूर्ति के लिए मग्नते मानते हैं। सालारजंग श्रावस्ती-नरेश सुहृददेव के हाथों मारा गया था। (वही, पृष्ठ १७०)

४. वही, पृष्ठ १७०।४६६

५. वही, दोहा ४५६-६३

प्रत्येक कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों का कुछ-न-कुछ ऋणी होता है। कुशल कवि तो प्राचीन कृतियों से तनिक-सा भाव-संकेत लेकर उसको ऐसा नवीन रूप देते हैं कि उन की कृति मौलिक-सी बन जाती है, परन्तु सामान्य कवियों में इस कौशल का अभाव रहता है। वे समग्र प्राचीन भाव का अपनी भाषा में अनुवाद-सा प्रस्तुत कर देते हैं। 'बोहावली' में तुलसीदास ने कहीं-कहीं भाव संकेत-मात्र ले कर उन्हें ऐसा नया परिधान पहनाया है कि दोहे मौलिक-से लगते हैं। जैसे, स्थान का माहात्म्य बताते हुए संस्कृत के किसी कवि ने यों कहा है—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केषा नञ्जा नराः ।

इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत् ॥^१

'दांत, बाल, नख और मनुष्य स्व-स्व स्थान से पृथक् हो जाने पर अच्छे नहीं लगते। इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि अपने स्थान का त्याग न करे।' तुलसीदास जी ने 'दांत' की बात तो यहां से ली परन्तु उसे प्रस्तुत किया ऐसे रूप में कि विषय भी दूसरा हो गया और अभिव्यक्ति भी नई—

हित पुनीत सब स्वारस्यहि हरि असुख बिनु बाढ़ ।

निज मुख मानिक सम बसन भूमि परे ते हाड़ ॥^२

जब तक स्वार्थ रहता है तब तक पदार्थ हितकर और पवित्र प्रतीत होते हैं और स्वार्थ पूर्ण हो जाने पर शत्रु और अपवित्र। मुख में स्थित दांत रस-नुस्य लगते हैं और गिर पड़ने पर हड्डियाँ। स्थान-माहात्म्य में कही गई बात को किस कौशल से स्वार्थ-प्रसंग में उचित कर दिया गया है! अन्यत्र भी दोहावली में प्राचीनों का प्रभाव इसी प्रकार का है।

रस और भाव—इसमें सन्देह नहीं कि दोहावली में अनेक दोहे ऐसे भी हैं जिनमें बुद्धितत्त्व का ही प्राधान्य है और अत एव उनको काव्य की अवस्था पर ही कहना समीचीन है, तो भी अधिकतर दोहे तो ऐसे ही हैं जिनके अध्ययन से हृदय में उषल-पुषल मचाने वाले ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, क्रूरता, कपट आदि जघन्य भावों का नाश होता है और वीरता, सज्जतता, वदान्यता, निरभिमानता, मैत्री, समता, निष्कपट प्रेम, अनन्य प्रेम, संनोष, क्षमा, गुणों के प्रति आदर, सहिष्णुता, निःस्वार्थता, परोपकार, संगठन, आज्ञाकारिता, विवेक आदि उदात्त भावों का उन्मेष होता है। निदर्शन रूप में कुछ दोहे देखिए—

सूर समर करनी करहि कहि न जनावहि आप ।

विद्यमान रन पाइ रिपु कायर कर्षहि प्रताप ॥^३ (शूरता)

१. सू० २० भा० पृष्ठ ८६, स्थान-माहात्म्यम्, श्लोक ६

२. बोहावली, पृष्ठ ११३, ३३०

३. बही, बोहा ४३६

चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर ।
तुलसी पर बस हाइ पर परिहँ पुहुनी नीर ॥^१ (अनन्य प्रेम)
कुससन सखहि न देख दुख, मुएहुँ न मागब नीच ।
तुलसी सज्जन की रहनि, पावक पानी बोध ॥^२
(परदुःखकातरता व आत्मसंमान)

सास समुर गुरु मातु पितु प्रभु भयो चहै सब कोइ ।
होनी दूनी और को, सुजन सराहिअ सोइ ॥^३

(निरभिमानता)

कल्पना—काव्य में सरसता लाने के लिए कल्पना का विशिष्ट स्थान है ।
दोहावली के अनेक दोहों में कवि-कल्पना ने इतनी ऊँची उड़ान भरी है कि पाठक मुग्ध
हो जाता । जैसे—

बस कुसंग चहै सुजनता ताकी आस निरास ।
तीरथहँ को नाम भी गया मगह के पास ॥^४

कुसंगति के विविध दुष्परिणामों का उल्लेख तो अनेक कवियों ने किया है
परन्तु विष्णु-पद तीर्थ का नाम गया (गया-बीता) इस कारण पड़ा है कि उसने
मगध की संगति की, यह बात अन्य किसको सूझी ? चातक के मेघ-जल के प्रति
अप्रतिम प्रेम का वर्णन तो अनेक कवियों ने किया है परन्तु अपने शवक के अण्डे के
छिलके तक को भी नदी-नीर का स्पर्श न होने देना, तुलसी दास की ही अनूठी
कल्पना है :—

अंड फोरि किया बेदुबा, तुष पर्यो नीर निहारि ।
गहि चंगुल चातक चतुर, डायो बाहिर बारि ॥^५

भाषा—‘दोहावली’ में प्रायः सरल व्रजभाषा का प्रयोग किया गया है । कई
दोहों में अवधी का भी व्यवहार मिलता है । संस्कृत के तत्सम शब्दों की मात्रा पर्याप्त
है । लक्षणा और व्यंजना के प्रभूत प्रयोग से काव्य में सरसता आ गई है । मुहावरों
का प्रयोग भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होता है । जैसे—

तुलसी बँर सनेह दोड, रहित बिलोचन बारि ।
सुरा सवेरा आबरहि, निबहि सुरसरि बारि ॥^६

इस दोहे में बँर और सनेह को शारीरिक तथा मानसिक नेत्रों से रहित होना
कहा गया है, अतः लक्षणा है ।

पाट कीट तँ होइ, तेहि तँ पाटंबर बरि ।
कुमि पालइ सब कोइ, परम अबावन प्रान सख ॥^७

उक्त सोरठे में मनुष्य की स्वायंपरायणता की व्यंजना है जिसके कारण वे अन्यन्त अपवित्र कीड़ों को प्राण-समान पालते हैं।

लोगन भलो मनाव जो, भलो होन की आस।

करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास ॥^१

उक्त दोहे में 'गगन का गेंडुआ (तकिया) करना' इस मुहावरे का प्रयोग किया गया है। दोहावली में तथ्यनिरूपक शैली का प्रयोग बहुत है। उपदेशात्मक^२ तथा अन्योक्ति^३ शैलियाँ कहीं-कहीं प्रयुक्त हुई हैं। संख्यात्मक शैली^४ भी एकाध स्थल पर दिखाई दे जाती है।

'दोहावली' का प्रत्येक दोहा किसी-न-किसी अलंकार से सुशोभित दिखाई देता है। शब्दालंकारों में से छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास तथा यमक का प्रयोग अधिक दिखाई देता है और अर्थालंकारों में से उपमा, रूपक, दृष्टान्त, यथासंख्य, विशेषोक्त तथा निदर्शना का। कुछ उदाहरण लीजिए—

(क) प्रीति पपीहा पयस की प्रगट नई पहिचानि।

आसक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि ॥^५

(वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास)

(ख) माखी काक उलूक बक दाबुर से भए लोग।

भले तो सुक पिक मोर मे कोउ न प्रेम पष जोम ॥^६ (मालोपमा)

(ग) बेस काल करता करम बचन बिचार बिहीन।

ते सुर तर तर बारिबी सुरसरि तीर मलीन ॥^७

(निदर्शना तथा विशेषोक्ति)

(घ) उत्तम मध्यम लोच गति पाहन सिकता पानि।

प्रीति परिछा तिहुन की बर बितिक्रम जानि ॥^८ (यथासंख्य)

'दोहावली' में प्रसाद तथा माधुर्य का प्राचुर्य है। चातक-सम्बन्धी अन्योक्तियों में ओज की मात्रा भी पर्याप्त है। सटकते हैं, तो वे उद्योतिष-सम्बन्धी नीरस पद्य जिनमें तिथियों और नक्षत्रों के शुभाशुभ फल बताये गए हैं और जो अप्रतीतत्व दोष से युक्त हैं।^९

मिलाकर कह सकते हैं कि दोहावली के नीति-विषयक भाग का पर्याप्त : में परिगणनीय है।

१. दोहावली, दोहा ४६१

२-४. वही, दोहा ४५२, ३०५, ४७४, ४७६, ४७८

५-८. वही, दोहा २८६, ३३१, ४१४, ३५२

९. वही, दोहा ४५६-४५६

५. रत्नावली

गोस्वामी तुलसीदास जी की पत्नी रत्नावली के सम्बन्ध में इतना तो प्रख्यात ही है कि वे दीनबन्धु पाठक की पुत्री थीं तथा उनके दो दोहों से प्रभावित होकर गोस्वामी जी विरक्त हो गये थे, परन्तु उनका संक्षिप्त जीवन-वृत्त उस पद्य-बद्ध जीवन-चरित्र 'रत्नावली' में मिलता है जो सौरों (एटा) के मुरलीधर नाम के कवि ने लिखा था। मुरलीधर के भक्तवासी रामवल्लभ मिश्र ने उसकी प्रतिलिपि संवत् १८६४ वि० में की थी, अतः रचना-काल उससे कुछ पहले ही माना जा सकता है। इस ग्रंथ के अनुसार रत्नावली का संक्षिप्त जीवन-वृत्त इस प्रकार है—

रत्नावली ने दयावती के गर्भ से जन्म लेकर पिता तथा भाइयों से वाल्मीकि-रामायण तथा छंदशास्त्र पढ़ा। वे पार्वती-परमेश्वर की उपासिका थीं तथा काव्यरचना किया करती थीं। तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम था और माता का नाम हुलासी।

तुलसी आत्म राम पूत। उबर हुलासी के प्रसूत।

गये बोट ते अमर लोक। बादी पोतहि करि सलोक ॥^१

जब अनाथ तुलसी बड़े होकर विद्वान् भी बने और प्रतिष्ठित भी तब रत्नावली से उनका विवाह हुआ। रत्नावली के तारावति नामक पुत्र भी हुआ परन्तु शीघ्र ही परलोक गामी हो गया। विवाह के पन्द्रह वर्ष पश्चात् रत्नावली पति की अनुमति से आवरण मास में भाई के साथ रक्षाबन्धनोत्सव के सम्बन्ध में मायके बदरिया^३ (बद्रिका) गाँव में चली गई। ग्यारह दिन बाद जब गोस्वामी जी कथा बाँचकर घर लौटे तो सूने भवन में मन न लगा और रात में ही खड़ी हुई गंगा को पार कर ससुराल जा पहुँचे। वहाँ रत्नावली थे, उन्हें फटकारा नहीं अपितु उनके प्रेम के साथ-साथ प्रभु-प्रेम की प्रशंसा इन शब्दों में की—

मो सम को बड़ भाग नारि। मो सम को तियपतिहि प्यारि ॥

सोम प्रेम तुम करो पार। नाथ प्रेम के तुम आधार ॥

मम सु प्रेम निज हिये धार। उतरे प्रिय मुर सरित पार ॥

जग आधार पद प्रेम धार। जात मनुज भव उदधि पार ॥^४

१. 'रत्नावली' तथा 'रत्नावलि-लघुबोहा-संग्रह' की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ पं० गोविंद बल्लभ भट्ट शास्त्री, सौरों निवासो के यहाँ सुरक्षित हैं। 'रत्नावली', सं० माहरसिंह सोलंकी, सं० १९६५, पृ० १५

२. वही, पृष्ठ १८

३. सौरों के पश्चिम में गंगा-तट पर बदरिया गाँव स्थित है और बाराह पुराण में उसे सूकरक्षेत्र कहा गया है। (वही पृष्ठ ८)

४. वही, पृष्ठ २१

रत्नावली के शब्द प्रभावशाली थे—‘मेरे प्रेम के कारण आप गंगा पार कर आये, प्रभु-पद-प्रेम से मनुष्य भवसागर तर जाता है।’ भवितव्यता घटल थी। गोस्वामी जी का मन विषयों से विरक्त हो विश्वेश पर अनुरक्त हो गया। वे उसी रात खिसक गये और बहुत दूँढने पर भी न मिले। विरहिणी रत्नावली तपस्विनी की भाँति रहने लगीं और संवत् १६५१ की चैत्र कृष्णा अमावस्या को स्वर्ग सिधारीं। ‘रत्नावली दोहा संग्रह’ में कुल १११ दोहे हैं। कुछ दोहों में रत्नावली के पश्चात्ताप की तीव्र वेदना है तो कुछ में अपने को उग्र फटकार। जैसे—

हाइ बदरिका बन भई, हों वामा विष बेलि ।

रत्नावलि हों नाम की, रसहिं बियो विष बेलि ॥

दीन बंधु कर घर पली, दीन बंधु कर छाह ।

तोउ भई हों दीन प्रति, पति त्यागी मो बाह ॥^१

अधिकतर दोहों में परम्परागत पातिव्रत-धर्म की महिमा तथा उपदेस है। सीता, दमयन्ती, सावित्री आदि को भी उदाहरण रूप में स्मरण किया गया है। इन्द्रिय-ग्राम की प्रबलता को ध्यान में रखते हुए सभीषी सम्बन्धियों तक से एकान्त में न मिलने की नीति कही गई है—

जुवक जनक जामात सुत, समुर दिवर घर भात ।

इनहों की एकांत बहु, कामिनि सुनि अनि बात ॥^२

आज-कल प्रायः स्त्री को अग्नि और पुरुष को मोम बताया जाता है परन्तु रत्नावली ने स्त्री होने के कारण, रूपक को विपरीत रूप में रखा है—

घी को घट है कामिनी, पुरुष तपत अंगार ।

रत्नावलि घी अग्नि को, उजित न संग बिचार ॥^३

पुस्तक में पातिव्रत के महत्त्व के प्रतिरित अनेक ऐसी बातों का भी वर्णन है जो नारी-जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। जैसे—

तन मन धन भानन वसन, भोजन भवन पुनीत ।

जो राखति रत्नावला, तेहि नावल सुर गीत ॥^४

भोजी-भाली स्त्रियां सहज ही ठगी जाती थीं, अतः रत्नावली उन्हें सावधान करती है—

बनिक फेरघा भिच्छुकर, अनि कहहें पतिघाह ।

रत्नावलि जेइ रूप घरि, ठग अन ठगत भ्रमाह ॥^५

इसी प्रकार पड़ोसियों तथा सम्बन्धियों से व्यवहार, जीवन की सफलता,

१. वही, पृष्ठ २४, दोहा ३, १

२-३. वही, पृष्ठ २७, दोहा ४३, ४४

४. ५. वही, दोहा ७०, ७५

सुमित्र-कुमित्र, धन की त्रिविध गति, धन-योवन आदि से जनित मद, दीर्घ-सूत्रता की निन्दा, दुःख को पाप का फल समझ कर दुःखी न होना और उसे निर्मलता का साधन मानना आदि अनेक सामान्य नीतियाँ भी उपदिष्ट हैं ।

विषय की दृष्टि से प्रशस्त होता हुआ भी यह संग्रह साहित्यिकता की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता । अधिकतर दोहे तो पद्य-मात्र हैं परन्तु कुछ एक में साहित्यिक छठा सराहनीय है । जैसे—

रत्नावलि भवसिन्धु मयि, तिय जीवन की नाब ।

पिय केवट बिन कोन जग, वेइ किनारे लाव ॥^१

क्रमिक बिन्दुपात से घट-पूर्ण का दृष्टान्त तो प्रायः कलांगोचर होता ही है परन्तु रत्नावली ने एक नवीन दृष्टान्त द्वारा शर्नः शर्नः धर्मसंचय का उपदेश दिया है ।

एक-एक आशिर लिखे, पोथी पूरति होइ ।

नैक धरम तिमि नित करें, रत्नावलि गति होइ ॥^२

दोहे सुबोध व्रज-भाषा में हैं जिस में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है । सब कुछ देखते हुए इस लघुकाव्य काव्य को 'स्त्री-कर्तव्य-गीता' कह सकते हैं, जिसका प्रात्यहिक पारायण गृहस्थी को सुखमयी बनाने के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

१. देवीदास—मारवाड़ के निवासी तथा तुलसीदास के समकालीन कवि देवी-दास के वंश, जन्म-स्थान, जन्म-निधन-काल आदि के विषय में अभी तक कुछ जानकारी उपलब्ध नहीं हुई है । सीकर के इतिहास से इतना विदित हुआ है कि वे शेखा-बटी के राव सुगकरण के मंत्री तथा जाति के बंध्य थे । धन से बुद्धि को उच्च मानते थे तथा धार्मिकमान का पूरा ध्यान रखते थे । उनके कवित्व नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तथा राजस्थान के अनेक पुस्तक-भंडारों में विद्यमान हैं । श्री रामनरेश त्रिपाठी ने उनके कवित्वों का जो संग्रह जोधपुर में देखा था, उसका नाम था, "देवी दास जी रा कवित" ।^३ नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में सुरक्षित प्रति का नाम है "राजबीति के कवित्व" ।^४ इस प्रति का प्रथम तथा अन्तिम भाग सुप्त है । इसलिए

निश्चय पूर्वक कहना कठिन है कि रचयिता ने इसे क्या नाम दिया
 श्री० था । प्रत्येक पत्र के हाशिये पर० आदि लिखा है । यदि 'श्री' मांग-
 नी लिक हो और 'नी' नीति के कवित्व का संक्षिप्त रूप तो सम्भवतः
 १६ संग्रह का नाम "नीति के कवित्व" होगा । अस्तु, संग्रह का नाम
 कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि नीति-काव्यों में यह संग्रह रत्न-
 मुल्य है ।

१-२. वही बोधा, ३३, ६५

३. सं० रामनरेश त्रिपाठी: कविताकीमुदी, पहला भाग. आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ३५६

४. नागरी प्रचारिणी सभा, याज्ञिक-संग्रह, काशी, प्रति-संख्या ५५२।१२

नागरी प्रचारिणी सभा में जो ग्रपूर्ण संग्रह हमें देखने का अवसर मिला, उस में २ से ४७ तक ही पत्र हैं। जोधपुर के उपर्युक्त संग्रह में कवित्त-सर्वयों की संख्या १०० है और नागरी प्रचारिणी वाले संग्रह की ११२। सम्भव है, देवीदास ने कुछ और भी पद्य रचे हों और अनुसन्धान करने पर मिल जाएं। जो उपलब्ध हैं, वे भी देवीदास को एक कुशल कवि प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

संग्रह में राजनीति और सामान्य नीति दोनों ही, संस्कृत के प्राचीन नीति-ग्रन्थों के समान, घुली-मिली हुई हैं। प्रथम कवित्त में कवि, नीति का महत्त्व और उसकी सर्व साधारण के लिए उपयोगिता का यों वर्णन करता है—

नीति ही ते धरम (और) धरम ते सकल सिद्धि,

नीति ही ते आदर समान विष पाइये।

नीति ने अनोति छूटे नीति ही ते सुख सुटे,

नीति लिये बोले बड़ी बकता कहाइये।

नीति ही ते राज राजनीति ही ते पातसाही,

नीति ही को नौऊ षंड बड़ी बस गाइये।

छोटें कूं बड़ी करे बड़ी महा बड़ी करे,

साते सब ही कूं राजनीति ही सुनाइये ॥^१

जहाँ कई कवित्तों में कवि ने राजा के गुण, प्रजा के प्रति उसका व्यवहार, सेवकों के कर्तव्य आदि का सुन्दर वर्णन किया है वहाँ सर्व-सामान्य के लाभार्थ मित्रता की रक्षा के उपाय, कौन किस का मूल, पुरुष का वास्तविक भ्रृंगार, भले और बुरे लोग, उपहासास्पद जन, किस से किस वस्तु का नाश, दानी-कृपण-संवाद, सेमर की आपात-रमणीयता आदि विषयों को बहुत ही मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया है। नीति, धर्म, अभ्युदय, ज्ञान, स्वास्थ्य, शान्ति, धन, विजय, चानुर्य आदि अनेक पदार्थों की प्राप्ति के उपाय कवि ने एक ही पद्य में इस प्रकार समाहित किये हैं—

कीरति को मूल एक रैन दिन बाँन देवो,

धर्म को मूल एक साँच पहिचानिबो।

बड़िबे को मूल एक ऊँचो मन राखिबो है,

जानिबे को मूल एक भला बात मानिबो।

व्याधि बहुत भोजन उपाधि मूल हाँसी,

‘देवो’ बारिब को मूल एक आरास बसानिबो।

हारिबे को मूल एक घातुरी है रन माँभ,

चानुरी को मूल एक बान कहि जानिबो ॥^२

आजकल जब कि प्रायः प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति अपना लक्ष्य राजकीय सेवा ही मान बैठा है, देवीदास का अधोलिखित कवित्त उस व्यवसाय में साफल्य-प्राप्ति के लिए मार्ग-दर्शक का काम करता है—

बिनु कहे सब जानें सासन सिर पे मानें,
साहब की मीर मानें मन भाइयतु हैं ।
हुल सुल ओ न आनं धोर ही रहे अघाने,
धनी काजें प्रान देइ तेई गाइयतु हैं ।
निडर में डर राखें डर में निडर होय,
साज सों लपेटो रहे छवि छाइयतु हैं ।
घरी घरी अरजी न काः बरजी न होय,
ऐसे आकर तो पूरे पुण्य पाइयतु हैं ॥^१

अभ्युदय-प्राप्ति के लिए ग्राम आदि के मोह का त्याग तथा साहस आदि से सम्पन्न होना आवश्यक है । जिन कायर पुरुषों में उक्त गुण नहीं होते वे घर में ही बैठ कर सड़ा करते हैं—

जिनके उदार चित्त गांव बीच मिल पूरे,
गुनवंत सब हो के 'देवी' सुलबात हैं ।
रूप के उजारे नैन तारन में राखि लीजें,
बोलन में बोल लेत ऐसे मुख बात हैं ।
साथ लागे सुल फिरें निराधार हुल फिरें,
भाग कुलें जहां को तहां ई चलि जात हैं ।
कापुरुष गुनहीन होन मन मोख नर,
बाप की तलाई बीच बंटे कीच खात हैं ॥^२

किन-किन बातों से अनुप्य की जग-हंसाई होनी है, इसका उल्लेख देवीदास ने विलक्षण ही रीति से किया है—

आरत गुमान करे, बारिदी हूँ सोबं घरें,
सुकी धोरें अनुसरें, ऐसे मूढ़ धोर हैं ।
जानी हूँ प्रपच राखें, रयागी हूँ गृही को आखें,
राजा हूँ कृपिनता के सुम सिर मारें हैं ।
गनिका कुक्ष्य धनवान हूँ फकीरी घरें,
बीबि के सिबिल भयो रात दिन ओर हैं ।
जग में जो बसिये तो हंसिये न काहूँ "देवी",
हंस्योई जो चाहै तो ये हंसिये को ठोर हैं ॥^३

१. कविता कोमुदी, भाग १, पृष्ठ ३६६।८

२-३. कविता कोमुदी, भाग १, पृष्ठ ३६६।१०; ३६१।७

देवी दास न संत थे, न मुनि; वे एक राव के मन्त्री थे। यही कारण है कि इन का नीति-काव्य ऐहिकता से प्रपूर्ण है। वह निवृत्ति-मार्ग का उपदेशक नहीं, प्रवृत्ति-मार्ग पर अग्रसर करने वाला है। इनके पद्यों के अध्ययन-काल में पाठक का मन सहसा ही वैदिक संहिताओं के नीति-काव्य की ओर चला जाता है जिनमें जीवन के संघर्ष में बोरवत् आचरण की शिक्षा है।

यद्यपि कवि की कृति पर्याप्त ग्रंथों में मौलिक है तथापि निम्नस्थ अवतरणों से अनुमित होता है कि भर्तृहरि के नीतिशतक तथा अन्य संस्कृत ग्रंथों का ऋण उसे कुछ ग्रंथ तक स्वीकार करना ही होगा। जैसे—

लोभश्चेदगुरोर्न किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकं ।

सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तोषेन किम् ॥

सौजन्यं यदि किं निजः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनं ।

सद्विवक्षा यदि किं धर्मेरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥^१ (भर्तृहरि)

लोभ सो न ओर गुन पिमुनता सो पातुकु न,

सांच सो न तप नाहि ईरषा सो बहनों ।

सुचि सो न तीरथ मुजनता सो सेवक न,

चाह सो न रोग तोनि लोक माहं कहनों ।

परम सो भीत न डुरित जीवघातक सो,

काम सो प्रबल नाहि बत्त (?) सो सहनो ।

चिन्ता सो न साल “देवीदास” तोन्यों लोक कहं,

सन्तोष सो सुख नाहि कीरति सो गहनो ॥^२

देवी दास ने भर्तृहरि के श्लोक की आठ बातों में से लोभ, पिशुनता, सत्य, शुचिमान, सौजन्य, और यश—इन छह बातों को ही ग्रहण नहीं किया, कवित्त में इर्ष्या, चाह, धर्म, जीवघात, काम, चिन्ता और सन्तोष को अपनी ओर से भी जोड़ दिया है। इस परिवर्द्धन के कारण उनकी मौलिकता बहुत-कुछ अधुण्य रही है।

देवी दास मारवाड़ी थे परन्तु उन्होंने अपने काव्य के लिए स्वप्रान्तीय भाषा को न अपना कर ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। सम्भव है, इसका कारण परिष्कृत पिंगल, साहित्य का अध्ययन हो। उनकी रचना में मारवाड़ी के शब्दों की संख्या नगण्य ही है। विदेशी शब्द भी ढूंढने पर ही कहीं मिल सकते हैं। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है और वह शब्दचयन में पर्याप्त सतर्क है। यद्यपि लक्षणा और व्यंजना की अपेक्षा अभिधा वृत्ति का प्रयोग अधिक है तथापि प्रसाद-पूर्ण भाषा का प्रवाह और अलंकारों का सुप्रयोग उस ओर ध्यान जाने ही नहीं देता। विषय और भाषा के

१. शतकत्रयम्, पृष्ठ २५।४४

२. याज्ञिकसंग्रह, प्रति सं० ३५२। १२, पद्य ४८

विचार से ही नहीं, भावों की दृष्टि से भी देवी दास की रचना उत्कृष्ट है। उसके अध्ययन से सम्मार्ग का ज्ञान हो नहीं होता, हृदय में साहस, गाम्भीर्य, धृति, प्रीति, वदाम्यता आदि के भावों का भी उद्रेक होता है।

इन्होंने अपने कवित्तों में प्रायः तथ्यनिरूपक शैली का प्रयोग किया है। उप-देशात्मक, संवादात्मक, तथा अभ्यापदेशात्मक शैलियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं परन्तु कदाचित्-कवचित्।

संक्षेप में कह सकते हैं कि देवी दास विषयों की उपयोगिता, भावों की तीव्रता, अनुभव की व्यापकता, भाषा की स्वच्छता आदि के कारण नीति-कवियों की अग्रपंक्ति में स्थान पाने के अधिकारी हैं।

७. उदराज—सरतर गच्छ ये भद्रसार जी के शिष्य यति उदराज बीकानेर-नरेश महाराज रायसिंह (शासन काल १६३०-६८ वि०) के यहां निवास करते थे।^१ ये कविता में अपना नाम उदराज, उदं, उदय, ऊदल और ऊदो भी लिखते थे। इन्होंने सं० १६६० में नीति के दोहों की रचना की^२ और सं० १६७६ में “गुणबावनी” की इनके प्रतिरिक्त इनका एक नाम-रहित “स्फुट पद्य संग्रह” भी विद्यमान है, जिसमें नीति की अपेक्षा धर्म-विषयक सामग्री प्रचुर है।

इनके नीति के दोहे “उदराज रो दूहा” में उपलब्ध होते हैं। ये दूहे “जरा रा दूहा”, जवानी रा दूहा “आदि अनेक शीर्षकों में विभक्त हैं। इस अग्रकाशित ग्रन्थ की। प्रतिलिपि हमें बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में देखने का अवसर मिला। यह प्रतिलिपि स्वामी नरोत्तमदास ने फुलस्केप आकार के पत्रों पर की है और इसमें साढ़े तीन सौ के लगभग दोहे हैं। इस पुस्तक में नीति का प्राधिक्य तो है ही, शृंगार की मात्रा भी पर्याप्त है। नीति-काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है, इस लिए कुछ विस्तृत परिचय देना उचित जँचता है।

प्रायः जैन मुनियों की कृतियों में काया उपेक्षित-सी हो रहती है, परन्तु उदराज, सम्भवतः राज-ससर्ग के कारण, अच्छे खान-पान और रहन-सहन को अच्छा समझते हैं—

आछा कार्य सुख सुख, आछा पहिरं सोइ ।

अति आछी रहणी रहै, मरं न बूढ़ा होइ ॥^३

उक्त दोहे के “मरं न बूढ़ा होइ” का आशय यही समझना चाहिए कि सम्यक्-जीवन-यापन से जरा और मृत्यु का प्रभाव विलम्ब से पड़ता है; क्योंकि आने यति जी ने स्वयं कदाचित् अपना ही अनुभव कहा है—

१. २. कामता प्रताप जैन: हि० बी० सा० सं० ६० (काशी, १९४७ ई०) पृष्ठ १३२

३. उदराज रा दूहा, पृष्ठ १, बोहा १३

बन जूँ धीवन गयी हाथ पाँव यहरात ।

मायों जरा प्रहार की तब ते उठ्यो न जात ॥^१

जरा और मृत्यु धर्म-शास्त्रों तथा धर्म-प्रचारकों के प्रमोष ग्रस्त हैं । इन्हीं की सहायता से वे मोह-ग्रस्त जीवों को सत्य पर भ्रमसर किया करते हैं । उदाराज जी ने भी “जरा रा बूहा” प्रसंग में जरा और केशों पर प्रति सुन्दर दोहे रचे हैं—

स्याम हुते रयाँ स्याम थे, मन भ्रष्ट मेरे प्राण ।

हे उज्जल उज्जल कियइ, उदाराज रहिमाण ॥^२

निम्नलिखित दोहे में कवि ने “ज्वानी” और ‘जरा’ का क्रमशः प्रसाधनी और पतिव्रता नारियों से साम्य दिखाने में प्रति कमनीय कल्पना से काम लिया है—

गो ज्वानी प्री भाणि कइ, रस लेवा कस छुड़ि ।

रही जरा हुइ पतिव्रता, प्री सँ माया मंड़ि ॥^३

योग अपने वैयक्तिक लाभ के लिए कितना भ्रुक जाते हैं, इस नीति का निदर्शन प्रामाण-जीवन के एक अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण द्वारा किया गया है—

स्वारथ प्यारो कबि उदं, कहै बडे सो साँच ।

जल लेवा के कारणी, नमत कूप कूँ चाँच ॥^४

गुणी मनुष्य को भविष्य की चिन्ता न करनी चाहिए । देखिए, समुद्र-रूपी आश्रय से वंचित हो जाने पर भी चन्द्रमा को शिव जी महाराज अपने शीर्ष पर धारण कर लेते हैं—

हर सिर पर सिसहर कियो, फिरत लिये उदाराज ।

समुद्र तथ्यो त कहा भयो, गुण करि सहियहु लाज ॥^५

इस ग्रंथ में पारिवारिक नीति पर मुनि जी का विशेष बल लक्षित नहीं होता । प्रसंगवश बचला और पतिव्रता नारियों के लक्षण ऊपर आ ही चुके हैं । सामाजिक नीति के क्षेत्र में इन्होंने अत्यन्त उपयोगी बातें बहुत सुन्दर ढंग से कही हैं । जैसे, मलि-बता दुर्जन का लक्षण है तो स्वच्छता सज्जन का—

जो मैलो सो दुयण जण, जो उज्जल तो सण ।

बास अध्रायो नासिका, रूप अध्राये नैण ॥^६

संसार में सज्जन-संयोग कितना सुख-प्रद होता है और उनका वियोग कितना दुःखप्रद, इस बात का प्रतिपादन अत्यन्त उपयुक्त श्रुतान्तों द्वारा किया गया है—

सज्जन मिलण समान कछु, उदं न बूझी बात ।

सेत पीत धूनौ हरद, मिसल लाल ह्वँ जात ॥^७

अज्ञो परस्पर वियोग से ही चूना और हल्दी रक्तहीन हो रहे थे; ज्यों ही मिले,

१-४. “ ” ” ” ” ” ” २५।१, ३२।१०, ३३।२, ७ हासिये में, २१।३

५-७. उदाराज रा बूहा, पृष्ठ १५; २३।१३

चेहरों पर लाली चमक उठी । कितनी सुन्दर कल्पना है !

सज्जनों का अन्यतम गुण होता है—भ्रंगीकृत की लाज या “बांह गहे की टेक ।” इस नीति का उपदेश तत्कालीन सम्राट् के जीवन से प्रस्तुत कर कवि ने निज सुन्दर सूक्त का भी परिचय दिया है—

जड़ गोभ्रु जारण कहा, क्रम भ्रंगीकृत माहि ।

जानी हय ज्हांगीर से, बंटे हाथ बिकाइ ॥^१

जब सामुख्य शत्रु से हो जाए तब केवल बल काम नहीं देता । उस समय तो छल और बल दोनों का ही प्रयोग समीचीन होता है—

उबं अघोरां बयूं, नहीं धीरां रहसो लाज ।

छल देखी बल कीजिये, छल बिरा बल बेकाज ॥^२

इसी प्रकार कपटी के स्नेह की कणोरवत् कृत्रिमता,^३ लोक-संग्रह की दुष्करता,^४ सरल व्यक्ति का सब को सरल^५ और कुटिल का सब को कुटिल समझना^६ आदि नीतियों का मार्मिक रूप से प्रतिपादन किया गया है ।

सामान्य गृहस्थों की अपेक्षा सन्त-मुनि लोग भक्तिव्यता और ईश्वर में अधिक विश्वास रखते हैं । मुनि उदरराज का निम्नांकित दोहा जहाँ होनहार की अनिवार्यता का उल्लेख करता है, वहाँ भाषा की दृष्टि से भी चमत्कारक है—

हुई हुए वे जइ हुसो, जं जं जं गुणहार ।

तं तं तं न मिटे उबं, नं नं नं न बिचार ॥^७

आहारण, बौद्ध, जैन प्रायः सभी धर्मों में संसार को दुःखमय कह कर उससे मुक्त होने की प्रेरणाएँ की गई हैं । परन्तु उदरराज जो उन धर्माचार्यों से विमत हैं । वे जगत् में दुःख और सुख की मात्रा को बराबर-बराबर मानते हैं । राजाश्रय की प्राप्ति इस मतभेद का कारण हो तो भावचयन नहीं—

सूर सुख अरु दुख को, बोट सम गिणो बिचार ।

जेतो कुग मंड जाबलौं, तेतो पल अंधार ॥^८

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा और सामन्तों के संसर्ग में रहने के कारण उदरराज की कृति में अन्य मुनि-कृतियों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता आ गई है । वे अपनी रचना सामान्य जनो के लिये ही नहीं, राजकीय योद्धाओं के लिए भी करते थे । निम्नलिखित पंजाबी-मिश्रित दोहों में वीरगाथात्मक काव्यों की-सी विजय के बाद अपने कानों से स्व-यश सुनने की या मर कर स्वर्ग-मुख लूटने की इच्छा व्यक्त होती है—

सड़ाये तो मरांगे भाजांगे तो लज्ज ।

हियड़ी पड़ियो चीतड़ी, बेऊं भारी कज्ज ॥^९

लड़िकें जीवांगे उदै तो सुएांगे जस कान ।

मरांगे तो सुगता है कछु सोबराणी म आए ॥^१

पासण्डी लोग विभिन्न वेप बना कर भोले-भासे लोगों को सदा से ठगते आए हैं । ब्रह्मणों, सिद्धों, नाथों, सन्तों और जनों सभी मुधारकों ने जनता को उनसे सावधान करने का यत्न किया है । यति उदैराज ने भी इसी उद्देश्य से सच्चे वैष्णव, पंडित, दरवेश, बौद्ध, धर्मपूत, बौद्ध, ज्योतिषी आदि के लक्षणों को लिपिबद्ध किया है । कहीं-कहीं तो वे लक्षण-मात्र हैं परन्तु किन्हीं में कुछ चमत्कार भी हैं । जैसे—

सब कीन्हा सिख्या सबहु, है कछु भीतर भेस ।

सेस न कछु हो रहि सक्या, ता तें कहिये सेस ॥^२

उदैराज गृहस्थ न होते हुए भी साधारण जनों की मनोवृत्ति खूब पहचानते थे । नीति-काव्य की रचना में तो वे दोष न देखते थे परन्तु व्यक्तिगत रूप से दिये गये उपदेशों की प्रायिक व्ययंता से वे अनभिज्ञ न थे—

उदै सोख कहि क्यूं दिये, सोख दिया बुझ होइ ।

अपणी करणी चालणी, बुरी न देखे कोइ ॥

मनुष्य-जीवन का सार उदैराज के मत में यह है—

उदयरज खेखी हसी मनिका बेही सार ।

इह सगपण जिवतन मिलण बहुरि न दूजो बार ॥^३

उदैराज वर्ण्य विषयों की दृष्टि से बहुत कुछ मौलिक हैं । वे प्राचीन काव्यों का शब्दनुवाद या छायानुवाद नहीं करते, अपनी पनी दृष्टि से समाज के भ्रन्तस्तल तक जा पहुँचते हैं और सुन्दर भाव-मुक्ता निकाल लाते हैं । जहाँ कहीं उन्होंने कहीं से कुछ प्राचीन विचार लिया भी है, वहाँ उसे ऐसे ढंग से संजोया है कि भावापहार का विचार भी मनमें उदित नहीं होता । जैसे, संस्कृत के निम्नांकित पद्य में भ्रन्त को परम-दाग कहा गया है और विद्यादान को उससे भी श्रेष्ठ—

भ्रन्तदानं परं दानं विद्यादानमतः परम् ।

भ्रन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं च विद्यया ॥^४

इसमें से विद्यादान की बात को छोड़ कर, मुनि जी ने भ्रन्त-दान की महिमा को ले लिया है परन्तु उसका वर्णन इस प्रकार से किया है कि दोहा नितान्त मौलिक वेस पड़ता है—

१-२. वही, पृष्ठ, ६।६, २।१०

३-४. वही, पृष्ठ ४।२, ३।३

५. सु० १० भा० पृष्ठ १५८।२१७

सहस्र कोटि कंजर दिये, एक घरब गोदान ।

कन्या कोटि विवाह दै, तबपि न अन्न समान ॥^१

उदैराज के अधिकतर दोहे तो हितकारी विचारों के कारण ही ग्राह्य हैं परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो रस और भावों के उद्रेक में पूर्णतया समर्थ हैं । वीर-रस के दो दोहे पाछे उद्धृत कर ही चुके हैं, एक हास्यरसात्मक दोहा भी द्रष्टव्य है—

हृत्ति के नर ताली बियै, या जुग के उदराज ।

घोर कहा सिर फोड़िहैं, पलक रोम के काज ॥^२

गुणी जनों का गुण देख-सुन कर केवल तालियाँ बजा देने वालों पर कितना तीव्र व्यंग्य किया है !

दूहों की भाषा राजस्थानी है । कई दूहों में पंजाबी का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है । महिरवान, मादर, रहिमाण, रिजक, ग्रासन्न (ग्रासान) आदि विदेशी शब्द भी पर्याप्त हैं । छन्दों की गति ठीक रखने के लिए कहीं-कहीं कुछ शब्द विकृत भी कर दिये गये हैं, जैसे “मन” को “मन्न”, “ग्रासान” को “ग्रासन्न”, दुर्जन को “दुरज्जन” अपभ्रंश भाषा की द्वित्व व्यंजनों की प्रवृत्ति भी पर्याप्त पाई जाती है जो संभवतः वीरगाथात्मक रचनाओं के अध्ययन का फल हो । एकाग्र स्थल पर बागधारा का भी प्रयोग दिखाई देता है, जैसे ऊपर जहाँगीर के सम्बन्ध में “हाथ बिक जाना” का प्रयोग किया गया है ।^३

दोहे कई शैलियों में लिखे गये हैं । प्रधानता तथ्य-निरूपक शैली की है । कहीं-कहीं ग्रन्थापदेशात्मक^४, प्रार्थनाभिव्यंजक^५ और करपल्लवी^६ शैली का प्रयोग दिखाई देता है । उँगलियों के संकेतों से शब्द या भाव प्रकट करने को करपल्लवी कहा जाता है । सम्भवतः करपल्लवी में रचे दोहों के साथ उँगलियों से संकेत भी किये जाते थे ।

उदैराज जी के थोड़े ही दोहे ऐसे होंगे जिनकी गणना नीरस पद्यों में की जा सकती है । शेष सब में अलंकारों का चमत्कार विद्यमान है । शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और साटानुप्रास तथा अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, निरुक्ति, हृष्टान्त और उत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिक दिखाई देता है ।

सार यह है कि “उदैराज रा दूहा” सुन्दर विचारों, गम्भीर अनुभवों, मनोरम भावों, कोमल कल्पनाओं तथा सरल भाषा से युक्त ऐसी रचना है जिससे हिन्दी नीतिकाव्य की श्रीवृद्धि हुई है ।

लुट-बच-संग्रह—अभय जैन ग्रन्थालय में हमें उदैराज जी का एक अन्य अनामक

१. उदैराज रा दूहा, पृष्ठ ३६।४

२. ५. वही, पृष्ठ ८।६, ९।२, २४।१, ३५।१८

३. पीछे २०७ पृष्ठ पर सातवीं पद-टिप्पणी द्वारा संकेतित दोहा देखिए ।

हस्त-लिखित काव्य^१ मिला जो कवित्त, सर्वैया, भूलणा, छप्पय, कुंडलिया आदि छन्दों में रचा गया है। काव्य में अणभार धर्म, मूर्ति-सेवा, तीर्थंकर-स्तुति, आदि धार्मिक विषयों का बाहुल्य है परन्तु परदाराभिगमन-निन्दा, दान, जीवदया, मन की गति, वित्त का महत्त्व, रूप-गुण-संवाद आदि प्रचलित नैतिक विषय भी न्यून नहीं हैं। इस कृति की एक विशेषता यह है कि पद्यों के ऊपर शीर्षक पद्यांश रूप में दिये गये हैं। ऐसे लगता है मानों उस शीर्षक को समस्या मान कर उसकी पूर्ति की गई हो। जैसे—

“पार की ही नारि सेती प्यार हो न करिये” ।

“एक एक घड़ी जाय लाल लाल टक्का की” ॥

अधिकतर रचना तो तथ्य-निरूपक शैली में है परन्तु कुछ पद्यों में हंसी-हंस को, विणजारी विणजारे को और नारी नाह को सम्बोधित कर कुछ शिक्षा देती है। “रूप गुण-संवाद” के छह पद्यों में रूप और गुण दोनों के महत्त्व का पृथक्-पृथक् वर्णन करने के पश्चात् लाल कवि के ‘रूप-गुण-संवाद’ के समान ही, यह निष्कर्ष दिया गया है कि दोनों के एक स्थान पर होने से ही शोभा-वृद्धि होती है—

एक स्थानवान फेर किया होइ उदै कवि ।

त्यों ही रूप गुण दोनों एक समो है मही ॥^२

भाषा राजस्थानी है परन्तु उसमें खड़ी बोली और पंजाबी का पुट भी कहीं-कहीं दिखाई देता है। जैसे—“मन की गति मारत सें जु बड़ी,

मन की गति हाथ न आवदी है ।^३...

उक्त और इसी प्रकार के अन्य दुर्गम सर्वैया (८ सगण) छन्द वाले पद्यों की कृति में ‘भूलणा’ कहा गया है। काव्य में अनुप्रास, उपमा, हेतु, प्रतिशयोक्ति आदि अलंकारों का चमत्कार तो विद्यमान है परन्तु रागतत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व की न्यूनता और बुद्धितत्त्व की प्रधानता के कारण कृति सामान्य कोटि के काव्य में ही गणनीय है। कविता इस प्रकार की है—

(क) पार की ही नारि सेती प्यार कियो राखल ने,

ताही को हवाल बेजि मन माहि करिये ।

फेर किए कियो प्यार सोइ तो सुवार हुबो,

मिले नहीं जोग तो जंजाल माहि पड़ीये ।

तन बन नेकी नाम ताही को तो हाणी होत,

फेर साईं सँ बिपुल एह ठीक बरीये ।

१. यह काव्य स्कूलों कापी के ४६ पृष्ठों पर नकल किया हुआ है और इसमें बस संख्या क्रमशः नहीं चलती, छन्द-परिवर्तित के साथ परिवर्तित होती जाती है।

२. ३. “स्फुट पद्य”, पृष्ठ ३२।८, २१।१

‘उदय’ कहत भीत बार बार कहौ तोहि,

पार की ही नारि सेती प्यार ही न करीय ॥^१

(क) कौड़ी से किकर आगे ही बोलत, कौड़ी से काम करे सम बौड़ी ।

कौड़ी से कायर सूर सों होबत, जालिमी आगे रई हथ बौड़ी ॥

कौड़ी से नृत्य बाजिज बजे घर, कौड़ी से राम करे मान गौड़ी ।

“ऊबल” एम कहूँ सभ की, आब सोई बड़ी जाकी गांठि है कौड़ी ॥^२

८. जानकवि^३

पर्याप्त काल तक फतहपुर (शेखावटी) के नवाब अलफखान तथा जान कवि को एक ही व्यक्ति समझा जाता रहा, परन्तु जब श्री अमरचन्द नाहटा को ‘अलफखान की पेंड़ी’ और “कायम रासों” नामक प्राचीन ग्रन्थ अपनी एक साहित्यिक यात्रा में प्राप्त हुए तब यह बात सिद्ध हो गई कि जान कवि का वास्तविक नाम न्यामत खाँ या और वे अलफखान के पुत्र थे । “कायम रासों” में जानने दो-तीन स्थानों पर अपना नाम लिखा है और ग्रन्थ के प्रारम्भ में पिता का नाम अलफखान—

कहत जान अब बरनिहौ, अलफखान की जात ।

पिता जान बड़ि न कहौ, भाखौ साखी बात ॥

दूसरे “अलफखान की पेंड़ी” में अलफखान के युद्धों का वर्णन इतना अतिरंजितपूर्ण है कि कोई व्यक्ति अपने शौर्य का ऐसा वर्णन नहीं कर सकता ।

“कायम रासों” में पहले कायमखान की नवाबों का इतिहास तो संक्षेप में दिया गया है परन्तु अलफखान का विस्तार । अलफखान के पाँच पुत्रों में से न्यामत द्वितीय थे । न्यामत खाँ सं० १६७१ से सं० १७२१ तक साहित्य-सर्जन करते रहे और आज हमें उनके ७५ ग्रन्थों के नाम प्राप्त हैं । जान कवि ने इतने अधिक प्रेमार्थानक काव्य लिखे हैं कि कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी समता नहीं कर सकता है ।

जान आधु-कवि थे । कुछ ग्रन्थ इन्होंने केवल दो-दो पहर में और कुछ दो-तीन दिन में ही लिख डाले । ये अरबी, फारसी और संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् थे और इन्हें, मुसलमान होने पर भी, अपने चौहान पूर्वजों पर बड़ा अभिमान था ।

१. २. बही, पृष्ठ, १०७, २३:२

३. जान कवि का प्रस्तुत वृत्त राजस्थान भारती (भाग १, अंक १, अप्रैल १९४६) में प्रकाशित श्री अमरचन्द नाहटा के “कविचर जान और उसके ग्रन्थ” शीर्षक निबन्ध के आधार पर दिया गया है ।

४. कायम खानी बंश के मूल पुत्र करमसी चौहान को कीरोजसाह तुगलक के बहादुरी सेवक नासिर ने सं० १४४० में मुसलमान बनाया और उसका नाम कायम खाँ रखा । जान इसी बंश के आठवें नवाब थे । (मोतीलाल नेहरू की राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० २०१)

इनका वंश धार्मिक कट्टरता से रहित था और सुप्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवयित्री ताज इसी वंश की भूषण थीं। हमें अपनी साहित्यिक यात्रा में इनके दो मौलिक अप्रकाशित शीति-काव्यों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ—सतवंती सत और सिध्यासागर। “सत-वंती सत” की प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय,^१ बीकानेर, में सुरक्षित है। इस काव्य का रचना-काल सं० १६७८ है—

सोरह सैं अठहसरें सनि सहस इकबीस ।

सतवंती सत जान कवि बाँध्यो बिसबा बोल ॥^२

उक्त प्रति की प्रतिलिपि सं० १७२६ में महाराजा अनूपसिंह के शासन-काल में, बीकानेर में श्वेताम्बर जैन मोहन ने की थी।^३

“सतवंती सत” एक कथात्मक नीतिकाव्य है जिस की रचना में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया गया। ढाई चौपाइयों के बाद एक दोहा या सोरठा छन्द प्रयुक्त हुआ है। समग्र पुस्तक तेरह पत्रों पर लिखी हुई है। परन्तु पद्यों के साथ पद्य-संख्या नहीं है। कथा-सार इस प्रकार है—हिंदवाने में मंसूर नाम का एक सौदागर रहता था जिस की पत्नी का नाम सतवंती था। एक बार जब सेठ मनसूर व्यापारार्थ बिदेश गया तब सतवंती उसके वियोग में अत्यन्त व्याकुल रहने लगी। यह देख एक पापी उसे शी-च्युत करने का प्रयास करने लगा। उसने सतवंती को बहकाने के लिए पनवारन, जोगिन, मालिन आदि अनेक कुशल दूतियां भर्जी परन्तु सतवंती चट्टान के समान अडिग रही। तब वह कामुक मंसूर का रंग-रूप बनाकर सतवंती के पास आ पहुँचा परन्तु सतवंती को कुछ सन्देह हो गया। इसलिए वह उसके साथ वार्तालाप आदि तो करती रही परन्तु रति-दान देने को उद्यत न हुई। इतने में मनसूर भी लौट आया। दोनों समरूप पुरुष भगड़ पड़े। उसी समय एक राजा वहीं आ निकला। राजा ने तीनों को इस प्रश्न का उत्तर लिखने को कहा कि उनका विवाह किस मास में और गौना किस वार को हुआ था। मंसूर और सतवंती के उत्तर तो समान थे परन्तु उस दुष्ट का भिन्न। राजा ने सतवंती मंसूर को सौंप दी और दुष्ट को चौक में फाँसी लगवा दी।

आधुनिक दृष्टि से देखने पर कथा-वस्तु की अनेक घटनाएं अस्वाभाविक लगती

१. प्रतिसंख्या, १३८।१३८

२. “ पत्र १३

३. इति श्री सतवंती सत सम्पूर्ण समाप्तः। संवत् १७२६ वर्षे फाल्गुन मासे शुक्ल पक्षे सप्तमी ७ तिथी बुध दिने लिखत मोहन श्वेताम्बर। श्री श्री महाराजा-बिराज महाराजा श्री अनूपसिंह जी बिजय राज्ये श्री बीकानेर नगरे। वही पत्र, १३,

हैं, फिर भी नीति की अनेक बातें सुन्दर ढंग से कही गई हैं। कवि रूप और शील के संयोग की प्रशंसा यों करता है—

रूपवन्त जो सत में लहिये, सोना और सुगन्ध सु कहिये ।

सत बिन रूपवन्त जो आहि, इबरायन कल सो ताताहि ॥^१

जब पनवारन दूती सतवन्ती को कुपय पर प्रवृत्त करना चाहती है, तब सत-वन्ती यों कहती है—

जो मेरे पीय नाहि संग । तौ काहे करिहौं अघर सुरंग ॥^२

विरहिणी के लिए अघर-रंजन के समान नेत्रांजन भी उचित नहीं है—

जैसे सति में देखिये परगट लखिन अंक ।

वैसे पीय बिन, जान कहि, काजर नैन कलंक ॥^३

दूती यौवन की अस्थिरता दिखाती हुई सतवन्ती को पातिव्रत से विचलित करने के लिए कहती है—

जोवन रतन अमोल बनि जानहु फिर पाइ है ।

करि सो कोटि कलोल हिलन मिलन खेलन हसन ॥^४

परन्तु सतवन्ती को सम्मार्ग से भ्रष्ट करना असम्भव था। वह बोली—

जो पर पुरुषन को भुष जोबं ।

वह तिय अपनी जोवन जोबं ॥^५

कथा रोचक है और साहित्यिक भाषा में लिखी हुई है। जान कवि ने “शीलवन्ती” की कथा, और “कुलवन्ती” की कथा भी लिखी हैं। शीर्षकों से अनुमान होता है कि ये भी लगभग इसी प्रकार की रचनाएँ होंगी, परन्तु ये हमारे देखने में नहीं आईं, इस लिए निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

सिध्यासागर—

यह जान कवि-कृत नीति का उत्तम मुक्तक अप्रकाशित काव्य है। इसकी हस्त-लिखित प्रुति हमें बीकानेर में अभय जैन ग्रन्थालय में प्राप्त हुई थी।^६ ग्रन्थ का रचना-काल कवि ने सं० १६६५ लिखा है—

सोलैं स पंच्यानबं ग्रन्थ कयौ यहु जान ।

सिध्यासागर नाम बरि बहु बिष कयौ बचान ॥^७

१. २. वही, पत्र, १, ३

३. ४. वही, पत्र, ३, ४

५. वही, पत्र, ४

६. प्रति संख्या ७३४०, पत्र १—५, पूर्ण।

७. वही, पत्र, ५, पृष्ठ, २, बोहा २४३ = (५।२।२४३)

उक्त प्रति की पं० भुवानीदास ने मारवाड़ के रिरणीपुर गाँव में सं० १७८६ की फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को लिपिबद्ध किया था ।^१

पाँच पत्रों की इस प्रति में कुल २४३ दोहे हैं जो शरीर की अपवित्रता, पंचेन्द्रियों की वास्तविक सेवा, हराम और हलाल का भक्षण, सुवचन, क्रोध, यौवन, वायंक्षय, गुरुसेवा, जाति-स्वभाव, दुष्ट, मूर्ख, मन का भेद भ्रदेय, राजकर्तव्य, कर्म और फल आदि विषयों पर लिखे गये हैं । ग्रन्थ में व्यावहारिक नीति की प्रचुरता है क्योंकि लेखक कोई सन्त, कहावता वा मुनि नहीं है, एक प्रदेश का शासक है । उसे भले-बुरे सभी प्रकार के लोगों से वास्ता पड़ता है, इसीलिए जीवन के साफल्यार्थ वह जिन बातों को आवश्यक तथा उपयोगी समझता है, उन्हें निरंतर कोच लिखता है ।

प्रायः मनुष्य यौवन में प्रमाद-निद्रा में सुप्त रहता है और वायंक्षय में उससे उद्बुद्ध होता है, इस अनुभव को कवि अपनी कमनीय कल्पना द्वारा यों लिखता है—

जीवन निसि सोवत रहयो स्याम बाल भ्रंषियार ।

जागि छोस बृषपन भयो सेत केस उजियार ॥^२

सत्कर्मों के अनुष्ठान तथा दुष्कर्मों के वर्जन की प्रेरणा सभी नीति-कवियों के की है परन्तु जिस कोशल से जान ने काम लिया है, वह ग्रन्थत्र दुर्लभ है—

वरपन में मुष बेबिये, जो नोकी छवि होइ ।

कहि सौं आछे बदन सौ, काबु करं लघु कोइ ॥

तो लखिन नोके करहु मुष कुरुप जो होइ ।

एक ठौर कित कोबिये, कहो बराई बोइ ॥^३

क्रोध को सभी ने चण्डाल आदि कहकर उससे दूर रहने का उपदेश दिया है परन्तु क्रोध शान्त करने का निम्नलिखित व्यावहारिक उपाय जानने ही बताया है—

ठाढ़ी ह्वं तो बंठ है, बंठो जे है लेटि ।

लेट्यो ह्वं तो करोट जं, ज्यों-र्यों रिस कोमेटि ॥^४

गुरु-सेवा भारतीय नीति-कवियों के प्रिय विषयों में से है, परन्तु बहुगुरु-सेवा और बहुलघु-सेवा की तुलना इन्हीं की कृति में दिखाई देती है—

बहु गुरु सेवा आहि लघु, निबहत माहि निधान ।

बहु लघु सेवा आहि गुरु, नित निबहत कहि जान ॥^५

१. इति श्री कवि जान कृत सिध्यासागर संपूर्ण संवत् १७८६ वर्षे फाल्गुन मासे कृष्णपक्षे १२ कर्म्मवाद्यां लिखितं पं० भुवानीदासेन श्री रिरणीपुरे । (उक्त प्रति की पुष्पिका देखें)

२. ३. वही १।२।४८, १।२।३४--३५

४. ५. वही, २।१।६३, १।२।३७

सहज स्वभाव में परिवर्तन सुकर नहीं होता, इस नीति का उल्लेख परम्परागत उपमान की सहायता से किया गया है—

सुकता चारो बीजिये, नित रविये मबि ताल ।

काग तऊ कबि जान कहि, नाहिन होत रसाल ॥^१

जो मनुष्य साक्षात्कार होने पर प्रशंसा करता है और पीठ पीछे निन्दा, उसके मुख पर झूल ही पड़ती है—

सममुख उज्जल मुख मिले, पीठि दिये अचियार ।

बुबिचा तजत न शारसी, तऊ परत मुख छार ॥^२

अपना रहस्य दूसरों पर प्रकट करना अनुचित है, इस बात का उल्लेख कितनी स्वाभाविकता और मर्मस्पर्शिता से करते हैं—

अपने मन को भेड़ तू जिन काहूँ सुं भाव ।

वह कैसे राखत दुपों, जो तू सक्यों न राख ॥^३

अपने को बलवान् जानकर निर्बल को भी शत्रु बनाना उचित नहीं, इस नीति का समर्थन एक प्रति सुन्दर दृष्टान्त द्वारा किया गया है—

अपने बल पर भिबल की, दुर्जन करे न भूल ।

जो अमृत हुइ गीठ में, तो बिषु बाध न भूल ॥^४

जैसे कम बैसे फल की नीति का जानने मूर्ख व्यक्ति के आचरण द्वारा यों उल्लेख किया है—

मूरिष औरहि बेत बुल, राखत सुख अभिलाष ।

बे इन्नायन बेलि की, बायो चाहत दाष ॥^५

उन विषयों के प्रतिरिक्त कवि ने प्रास्तिक होने के कारण हराम-हलाल भक्षण को और शासक होने के कारण राजकर्तव्यों को भी अपने काव्य का विषय बनाया है। यद्यपि इन से पूर्व तथा इनके समय में पर्याप्त संत-काव्य की रचना हो चुकी थी और उसमें जाति-मूलक महत्त्व का पर्याप्त खण्डन किया जा चुका था और भी इनकी कृति में उसका समर्थन कुछ विचित्र-सा लगता है। परन्तु प्राश्नार्थ की कोई बात नहीं। जिसका जन्म देवयोग से उच्च कुल में हो जाना है, वह प्रायः अपनी कुलीनता का मान करता ही है और, अधिकतर सन्तों के समान, जिनका सम्बन्ध अपेक्षाकृत हीन कुलों में होता है, वे जन्ममूलक अभिमान का प्रत्याख्यान करें तो बड़ा विस्मय !

उपरिलिखित दोहों से स्पष्ट है कि प्रायः प्रचलित नैतिक विषयों के उल्लेख में

१. २. वही, २।१।८३, २।१।१०४

३. ४. ५. वही ३।१।१२०, ३।१।१२८, ३।१।११४ ॥

भी जान मक्खी पर मक्खी नहीं मारते । वे अपनी कल्पना तथा चिन्तन की शक्तियों द्वारा उनमें कुछ-न-कुछ नवीनता लाने का प्रशस्त उद्योग करते हैं ।^१

राजस्थानी होते हुए भी जान कवि ने स्वच्छ, सरल पिगल का ही प्रयोग किया है । इनकी भाषा में तद्भव शब्दों का ही प्राधान्य है, तत्सम शब्द बहुत ही कम प्रयुक्त किये गए हैं ।

एक बात लक्ष्य करने की यह भी है कि कवि मुसलमान धीर कारसी का विद्वान होते हुए भी विदेशी शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं करता । प्रायः शब्द अपने प्रचलित रूप में प्रयुक्त किये गए हैं परन्तु एकाध स्थल पर छन्द को समुष्ण रखने के लिए उन्हें विकृत भी कर दिया गया है । जैसे, “भेद” को “भेद्”, निबंल” को “निबल”^२ कहीं-कहीं कवि ने लोकोक्तियों का भी सुष्ठु प्रयोग किया है । जैसे—

खेरो भेद् छिपात न, कहो न जीय की बात ।

मांस मंजारी सोंपिये, रपत नाहि भय जाता ॥^३

अलंकारों के सुप्रयोग में जान विशेष पटु हैं । कई कवियों की कृतियों में अलंकार अनावश्यक रूप से थोपे हुए प्रतीत होते हैं, इनके दोहों में वे ऐसे जड़े हुए दिखाई देते हैं जैसे अलंकारों में रत्न । शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का प्रयोग अधिक किया गया है । शब्दालंकारों में छेद, वृत्ति और साठ-अनुप्रास^४ का प्रयोग बहुत है तो अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, और दृष्टान्त का । इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति,^५ सम^६ आदि अलंकार भी दिखाई देते हैं । एक ही दोहे में उपमा और रूपक की संसृष्टि देखने योग्य है—

सौध बचन ओषध कटुक हरननि बुधि गढ़ गात ।

मोठे ज्यों ओगुन करइ, झूठी-पूठी बात ॥^७

“सिध्यासागर” में प्रायः तीन शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं—तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक तथा अन्यापदेशिक । तथ्यनिरूपक शैली का प्रयोग सर्वाधिक है ।

सार यह कि जान कवि का “सिध्यासागर” भाव, भाषा, शैली, अलंकार सभी दृष्टियों से नीति का उत्कृष्ट काव्य है ।

१. पृष्ठ २१४ पर ३४, ३५, ४८ वां दोहा देखिये ॥

२. पृष्ठ २१५ पर १२८ वां दोहा देखिये

३. सिध्यासागर ४।१।६५

४. पृष्ठ २१४ ,, ३७ वां दोहा देखिए

५. ,, २१५ ,, १२० वां ,,

६. ,, २१४ ,, ३४ वां ,,

७. सिध्यासागर, १।१।१

जान कवि के “सिख-ग्रन्थ”, “बुधिदायक” और “बुधिदीप”—ग्रन्थ भी नाम से नीति-काव्य ही अनुमित होते हैं परन्तु हमें इनके अवलोकन का अवसर नहीं मिला ।

६—बनारसीदास

प्राचीन जैन हिन्दी-कवियों में भागरा-निवासी बनारसीदास का वही स्थान है जो प्राचीन वैष्णव कवियों में तुलसीदास का । इनका जन्म श्रीमाल जाति के बीहोलिया गोत्र के खरगसेन के घर जीनपुर में संवत् १६४३ में हुआ था । इन्होंने कविवर रूपचंद तथा पं० देवीदास से साहित्य, ज्योतिष आदि विषयों का गम्भीर अध्ययन किया था । पहले इनका नाम विक्रमाजीत था परन्तु बाद में एक बनारसी पुरोहित की प्रेरणा से बनारसीदास रखा गया । इन्होंने क्रमशः तीन विवाह किये और नौ बालकों के पिता हुए परन्तु कोई भी बालक चिरजीवी न हुआ । जब इनका अन्तिम बालक नौ वर्ष की अवस्था में चल बसा तब इन्हें संसार ग्रन्थकारमय और जीवन निष्फल प्रतीत होने लगा, उस समय इनके निराश हृदय से यह दोहा निकला—

नौ बालक हुए भुए, रहे नारि-नर बोय ।

ज्यों तख्तर पतझार हबै, रहैं ठूठ से बोय ॥^१

बनारसीदास का प्रथम विवाह दस वर्ष के वय में हो गया था और जीवन में पदापेक्षा करते ही ये विलास-मग्न होकर शृङ्गार-काव्य लिखने लगे थे । उन दिनों में इन्होंने एक शृङ्गार-प्रधान नवरसपद्यावलि (हजारा) लिखी । सं० १६६२ में सम्राट् अकबर की मृत्यु ने इनका कायापलट कर दिया । उस दुःखद समाचार को सुनते ही यह बैठे-बैठे गिर पड़े और तत्पश्चात् शृङ्गार का स्थान अध्यात्म ने ग्रहण कर लिया । इन्होंने अपने शृङ्गारिक हजारे को गीमती में प्रवाहित कर दिया और भोगी से भक्त बन गये—

तिस दिन सो बनारसी, करी धर्म की चाह ।

तबो आसिखी कासिखी, पकरी कुल की राह ॥^२

२४ वर्ष तक तो यह निश्चित रहे परन्तु पश्चात् व्यापाराय जीनपुर से भागरे में आ गए । अनेक विफलताओं के बाद ये लक्ष्मी के कृपापात्र बनकर भागरे में ही बस गये । वहाँ समय-सार, गोमट्टसार आदि जैन सिद्धान्त-ग्रन्थों के अध्ययन से ये पूरे अध्यात्मी बन गये । सच्चरित्र तथा सुकवित्व के कारण बनारसीदासजी भागरे के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में माने जाते थे । कहते हैं, सन्त मुन्दरदास तथा गोस्वामी तुलसीदास से इनकी अनेक बार भेंट हुई थी और सभी एक-दूसरे के व्यक्तित्व तथा कवित्व

१. सं० भंडरलाल, कस्तूरचंद: बनारसी बालस (जयपुर, २०११ बि०) पृष्ठ २४

२. " " " " " " " २५

पर मुग्ध थे। सम्राट् अकबर के ये प्रशंसक थे, जहाँगीर के दरबार में भी एक बार उपस्थित हुए थे।

“शानी बाबशाह ताको मेरी तसलीम है”

और शाहजहाँ के साथ तो इन्हें प्रतिदिन ही घतरंज खेलनी पड़ती थी, जिससे इन्हें कठिनाई से ही मुक्ति मिली।

बनारसीदास का उपरिलिखित संक्षिप्त जीवन-वृत्त उनके “अर्धकथानक” नामक आत्मचरित के आधार पर लिखा गया है। शेष जीवन-वृत्त अभी तिमिराच्छन्न है।

बनारसीदास ने पांच पुस्तकों की रचना की थी—नवरसपद्यावलि, नाटक समयसार, बनारसी विलास, नाममाला और अर्धकथानक। नाटक समयसार आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत-ग्रन्थ “समयसार” का हिन्दी-पद्यों में उत्तम अनुवाद है और जैन साहित्य में अध्यात्मविषय का बेजोड़ काव्य है। नाम-माला “धनंजय के इसी नाम के संस्कृत-कोश का पद्यबद्ध अनुवाद है।” “बनारसी-विलास” में कवि की छोटी-मोटी ५७ स्फुट कृतियों का संग्रह है, जिन्हें कवि के निधन के पश्चात् पं० जगजीवन राम ने १७७१ वि० में संगृहीत किया था।^१ इस संग्रह के अधिकतर ग्रन्थ तो जैन सिद्धान्तों और आध्यात्मिक विषयों पर ही रचे गये हैं परन्तु निम्नलिखित की गणना नीतिकाव्य में करना उचित है—

(१) तेरह काठिया, (२) नवरत्न कविता, (३) वैद्यादि के भेद, (४) प्रास्ताविक फुटकर कविता। इनके अतिरिक्त इन की एक अनुवादात्मक सुन्दर नीतिकृति “भाषा सूक्तिमुक्तावली” भी है। जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

१. तेरह काठिया^२

गुजरात में बटमारों को “काठिया” या “काठिया खोर” कहते हैं। इस पुस्तिका में मानव-जीवन को सूट लेने वाले तेरह नैतिक दुर्गुणों को काठिया कहा गया है और उनसे सावधान रहने की प्रेरणा की गई है। कुल पद्य-संख्या सत्रह है। आरम्भ में तीन तथा अन्त में एक दोहा है और मध्य में १३ चौपई छन्द हैं। कृति की रचना व्याख्यात्मक शैली में की गई है। पहले एक दोहे में तेरह काठियों के नाम गिना दिये गए हैं और अनन्तर एक-एक चौपई में उनके स्वरूप तथा तज्जनित हानियों का उल्लेख है—

१. सत्रहसे एकोत्तर, समय चञ्चल सित पाव।

द्वितीया में घुरन भई, यह बनारसी भाष। वही, पृ० २४।

२. बनारसी विलास : पृष्ठ १५७—५९

जुझा झालस शोक भय, कुकषा कौतुक कोह ।
 कृपणबुद्धि अज्ञानता, भ्रम निद्रा भय मोह ॥
 प्रथम काठिया जूझा जान, जामें पंच वस्तु की हान ।
 प्रभुता हटै घटै शुभ कर्म, मिटै सुजस बिनसै धन धर्म ॥
 द्वितीय काठिया झालसभाव, जासु उबै नाशै बिबसाव ।
 बाहिर शिथिल होहि सब भंग, अंतर धर्मबासना भंग ॥
 कृपण बुद्धि अष्टम घटमार, जामें प्रगट लोभ अधिकार ।
 लोभ मांहि ममता परकाश, ममता करै धर्म को नाश ॥^१

पुस्तक धार्मिक लोगों के प्रात्यहिक पाठ के लिए तो उपयोगी है परन्तु काव्यत्व की दृष्टि से रस-शून्य ।

२. नवरत्न कवित्त

पुण्यश्लोक महाराज विक्रमादित्य से सम्बन्धित अनेक कथाएँ भारत भर में सोत्कण्ठ कही-सुनी जाती हैं । कहते हैं, उनकी सभा, धन्वंतरि आदि नौ पंडित-रत्नों से सुशोभित थी । इसी प्रकार इस पुस्तिका में नौ कवित्त-रत्न हैं । पुराने दिनों में छप्पय छन्द को कवित्त कहा जाता था, इसी कारण कुछ हस्तलिखित प्रतियों में इसी कृति का नाम "नवरत्नवट्पदानि" मिलता है । पुस्तिका के प्रारम्भ में दो दोहे हैं और तदनन्तर नौ छप्पय छंद । पुस्तिका व्याख्यात्मक शैली में उपनिबद्ध है । प्रथम दोहे में विक्रम के नव रत्नों का नामोल्लेख है और दूसरे में प्रत्येक छप्पय के प्रारम्भिक पद का । इस शैली से मूलग्रन्थ की स्वरूप रक्षा में सहायता मिलती है, किसी परवर्ती कवि को उसमें कमी-वेशी करने का साहस नहीं हो सकता । विषय और कवित्व दोनों दृष्टियों से पुस्तक इतनी बढ़िया है कि कृति को प्राच्यन्त उद्धृत करने को चित्त चाहता है परन्तु प्रबन्ध के कलेवर का ध्यान रखते हुए दो-चार पदों से ही संतुष्ट होना पड़ता है—

धन्वंतरि छपणक अमर घट सपर बैताल ।

बर कवि शंकु बराहमिहि (१), कालिदास नव साल ॥^२

विमलवित्त जाचक शिथिल जूझ तपस्वी प्रात ।

कृपणबुद्धि तिथनरपति ज्ञानवंत नव बात ॥^३

संसार मे किस कैसे बशीभूत करना चाहिए, इस नीति का उल्लेख यों किया गया है—

१. बनारसी बिलास, पृष्ठ १५८, पद्य १, ४, ५, ११

२. बनारसी बिलास, पृष्ठ १७३—१७६

३, ४. बनारसी बिलास, नवरत्नकवित्त पद्य, १, २

विमल चित्त कर मिस, शत्रु छलबल बश किञ्जय ।
 प्रभु सेवा बश करिय, लोभबन्तहि धन दिञ्जय ॥
 यवति प्रेम बश करिय, साधु आवर बश आनिय ।
 महाराज गुणकथन, बंधु समरस सनमानिय ॥
 गुह नमन शीस रस सौं रसिक, बिद्या बल बुधि मन हरिय ।
 मूरख बिनोद बिकथा बचन, शुभ स्वभाव जगबश करिय ॥^१

निम्नलिखित व्यक्ति संसार में बिककार ही प्राप्त करते हैं, अतः उनके दुर्गुणों से दूर रहना ही श्रेयस्कर है—

भूढ़ भसकती तपो बुष्ट मानी गृहस्थ नर ।
 नरनायक आलसी बिपुल धनबंत कुपण नर ॥
 बरमी कुसह स्वभाव वेदपाठी अधरम रत ।
 पराधीन शुचिवन्त भूमिपालक निबेसहत ॥
 रोगी बरिह पीड़ित पुरुष, बुद्ध नारि-रस गुहचित्त ।
 ऐसे विहम्ब संसार में, इन सब कहैं बिककार नित ॥^२

शेष सात पद्यों के विषय हैं—विभिन्न मूलों, विविध मंडन, किस-किस से क्या-क्या प्राप्त होता है, कौन-सी बातों से किन का विनाश होता है, किसका बल क्या है, नृप को माली के समान होना चाहिए और कौन-सा नरेश शत्रुविजय में समर्थ होता है । सक्ष्य करने की बात है कि केवल नौ पद्यों की कृति में भी राजनीति का बहिष्कार नहीं किया गया जा सका । इससे अनुमित होता है कि प्रायः राजनीति और सामान्य नीति मिश्रित ही रही हैं । जैसा कि उद्धृत पद्यों से स्पष्ट है कवि ने एक-एक पद्य में अनेक सुन्दर नैतिक शिक्षाओं को गुम्फित किया है । प्रायः जैन विद्वानों के काव्यों में धर्म तथा आध्यात्मिकता का बाहुल्य रहता है परन्तु यह पुस्तिका तो स्पष्ट ही अपवाद-रूप है और जन-साधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी है । प्रत्येक पद्य पढ़ते समय हृदय में विभिन्न भावों का उन्मेष होता है । सद्-गुण ग्रहण के लिए हृदय उत्साहित हो उठता है और दुर्गुणों के प्रति तीव्र घृणा जागरित हो जाती है । भाषा स्वच्छ और प्रवाहपूर्ण है । संस्कृत के तत्सम शब्द पर्याप्त हैं और विदेशी शब्दों का अभाव है । छन्द रचना निर्दोष है और पद्यों में भरती के शब्दों का अभाव है । कवि का ध्यान कृति को अलंकारों से सुसज्जित करने की ओर तनिक भी नहीं है फिर भी छेकानुप्रास, साटानुप्रास, आवृत्ति दीपक, तुल्ययोगिता उपमा आदि कुछ अलंकार कहीं-कहीं स्वतः एव आकर शोभावृद्धि में योग दे रहे हैं । काव्य के प्रथम छप्पय में उपदेशात्मक शैली व्यवहृत हुई है, शेष सब में तथ्यनिरूपक । बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता और कल्पनातत्त्व तथा राग-तत्त्व की गौणता के कारण कृति काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में भले ही उत्तम वा मध्यम

काव्य के अन्तर्गत न मानी जाए परन्तु एकाधिक रमणीय ग्रंथों को एक-एक पद्य में सुचारु रूप से गुम्फित करने में कवि बहुत कुशल है और यही कौशल हठात् चित्त को चमत्कृत कर देता है। हमारे विचार में तो कृति का नाम “नवरत्नकवित” गुणानुसारी ही है। प्रत्येक कवित (छप्पय) सच्चा रत्न है।

३. वैद्य आदि के भेद^१

इस पुस्तक में कुल ४१ पद्य हैं—प्रारम्भ में दो चौपाइयाँ और शेष सब दोहे। प्रारंभिक छह पद्यों में वैद्य, ज्योतिषी, वैष्णव, मुसलमान आदि के लक्षण दिये गये हैं और सत्पद्मात् नीति, धर्म आदि के दोहे हैं। वर्तमान के समान उन दिनों भी सामान्य जन सांप्रदायिक चिन्हों तथा धर्म के बाहरी क्रिया-कलाप पर अधिक बल देते थे, आन्तरिक पवित्रता पर कम। इस दम्भ ने बनारसी दास को उक्त लोगों के आन्तरिक लक्षण लिखने की प्रेरणा की—

तिलक तोष माला बिरति, मति मुद्रा धुति छाप ।
इन लक्षण सों वैष्णव, समुझं हरि प्रताप ॥
जो मन मसं आपनो, साहिब के बल होय ।
ज्ञान मुसल्ला गह टिके, मुसलमान है सोय ॥
जो महन्त हूँ ज्ञान बिन, फिरं फुलाये गाल ।
आप मस औरन करे, सो कलि माहि कलाल ॥^२

इस पुस्तक में सामाजिक नीति पर विशेष बल दिया गया है। जिस प्रकार कबीर आदि सन्तों ने अपनी वाणी-द्वारा हिन्दू-मुसलमानों के दिलों से पारस्परिक द्वेष दूर करने तथा उन्हें एक-दूसरे के समीप लाने का सदुद्योग किया था, उसी प्रकार बनारसीदास ने भी किया। कबीर आदि की वाणियों का उन दिनों देशव्यापी प्रचार हो गया था। दोनों की वाणियों की तुलना करने पर अनुमान होता है कि बनारसीदास पर कबीर का कुछ प्रभाव पड़ा था, परन्तु वह प्रभाव प्रेरणामात्र था। बनारसीदास स्वयं इतने विद्वान् तथा कुशल कवि थे कि उन्हें भाव अथवा भाषा के लिए किसी का ऋणो होने की आवश्यकता न थी—

(क) हिन्दू तुलक को एक राह है, सत गुह इहै बताई ।
कई कबीर सुनो हो सन्तो, राम न कहैउ सोबाई ॥^३ (कबीर) ।
एक कप हिन्दू तुलक डूबी बसा न कोष ।
मन की द्विविधा मान कर, भये एकसों बोध ॥^४ (बनारसादास)

१. “बनारसी बिलास” में पृष्ठ २०३-२०७ पर मुद्रित

२. “बनारसी बिलास” में “वैद्यादि के भेद”, पद्य ३, ५, २२

३. कविता कीमुची, भाग १, पृष्ठ १७६

४. बनारसी बिलास, पृष्ठ २०४।७

(ख) बेब-किताब पढ़ें बे कुतुबा, बे मोलनां बे पांडे ।

बेगरि-बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांडे ॥^{१०}

इनके पुस्तक बाँचिये, बेहू पढ़ें कितेब ।

एक वस्तु के नाम द्वय, जैसे “शोभा, जेब” ॥^{११} (बनारसीदास).

ऐसे प्रतीत होता है कि बनारसीदास जी ने समय-समय पर नीति तथा धर्म के विषय पर जो फुटकल दोहे रचे थे, उन्हें इस पुस्तिका में संग्रहीत कर दिया गया है । ‘नवरत्न-कवित्त’ में तो कवि ने लिखा है—

“गृहपति मंडन विपुल धन ॥”^{१२}

परन्तु इसमें लिखते हैं—

माया छाये एक है, घटे बड़े छिन नाहि ।

इनकी संगत जे लगें, तिनहि कहीं सुख नाहि ॥^{१३}

पुस्तक के अधिकतर दोहे सन्तों की साखियों की शैली में लिखे गये हैं । प्रायः एक दोहे में एक ही नैतिक तथ्य का प्रतिपादन है और उसका समुचित दृष्टान्त द्वारा समर्थन । जैसे—

ज्ञानहीन करणी करे, यों निज भव आमोद ।

ज्यों छेरी निज झुरहि ते, छुरी निकासे खोब ॥^{१४}

एकाध दोहे से तो इनके सामान्य बंदक ज्ञान का भी परिचय मिलता है—

राज ऋद्धि सुख भोगबें, ऐसे मूढ़ अज्ञान ।

महा सन्निपाती करहि, जैसे शरबत पान ॥^{१५}

अनेक दोहे विशुद्ध नीति के हैं । जैसे—

कामो तन मंडन करे, दुष्ट गहै अधिकार ।

आरजात मारहि पिता, असति हनै भरतार ॥^{१६}

उचित बसन सुश्रित असन, सलिल पान सुख सैन ।

बड़ी नीति लघु नीति सों, होय सबन को चैन ॥^{१७}

पुस्तक में नीति और उपदेश की बातें पर्याप्त हैं, भाषा में भी कहीं-कहीं यमक, अनुप्रास आदि का सुन्दर चमत्कार है, परन्तु बुद्धितत्त्व की बहुलता और कल्पना तथा रागतत्त्व की न्यूनता के कारण इसे सत्काव्य कहने में संकोच ही होता है ।

४. प्रास्ताविक फुटकर कविता^१

केवल २२ पद्यों की इस पुस्तिका में नीति, धर्म, अध्यात्म, जैन-सिद्धान्त सब

१. सप्तसुधासार, पृष्ठ ११०

२-६. बनारसी बिलास, पृष्ठ २०४।६, १७६।१०, २०५।१६, २०६।३२, २०६।३३

७. द. बनारसी बिलास, पृष्ठ २०६। ३१, २८

८. बनारसी बिलास में पृष्ठ १६६-२०२ पर मुद्रित

मिश्रित हैं परन्तु नीति के पद्यों की प्रचुरता है, अतः हमने इसका परिचय यहीं देना समीचीन समझा है। कामिनी और कांचन का त्याग जीवहत्या और भ्राते का निषेध, जूझा, परधनहरण, मांस-भक्षण और सुरापान का विरोध, पाप-दृष्टि से परनारी को देखना, परनिन्दा, दिखावे के जेनी और ढोंगी मुनि, कर्मपाश के भंग होने पर जगत-वास से मोक्ष, त्याग्य व्यवसाय, विभिन्न अवस्थाओं में शरीर की दशा, चौदह विचारों तथा छत्तीस छोटी जातियों का वर्णन है। पुस्तिका में १० मनहरण, ३ मत्तगयंद, ३ छप्पय, ५ दोहे और १ वस्तु छन्द प्रयुक्त हुआ। दोहे धर्म और अध्यात्मिक विषयक हैं। नीति के लिए मनहर, मत्तगयंद और छप्पय छन्द प्रयुक्त हुए हैं। अधिकतर कवित्त-संबंध तो अच्छे सरस हैं परन्तु कुछ एक में वस्तुओं के नाम भर गिना दिये गये हैं दोनों का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

जीव के बर्बाद, बामबिद्या के संध्या दाबा-
नल के बर्बाद बन भ्रातेक करमी।
जुझारी लवार परधन के हरनहार,
खोरी के करनहार बारी के अशरमी।
मांस के भक्षण सुरापान के बर्बाद,
परबन्ध के लक्ष्मी जिनके हिये न नरमी।
रोष के गहैया पर-दोष के कहैया येते,
पापी नर नीच निरबं, महा अशरमी ॥^१

छत्तीस पुनियौ (नेगी)

शोसगर बरजी लंबोली गवाल गवाल,
बढ़ई संगतरास तेसी खोबी पुनियौ।
कंदोई कहार काछी कुलाल कलाल माली,
कंदोईगद कागबी किसान पट पुनियौ।
बितेरा बिघेरा बारी लखेरा ठंडेरा राज,
पहुषा खपरबं नई भार-पुनियौ।
मुनार लोहार सिकलीगर हवाईगर,
खोबर चमौर एही छत्तीस पुनियौ ॥^२

रस भाव-रहित होने पर भी पद्य कवि के भाषाधिकार और शब्द विन्यास के पाठ्य का अच्छा प्रमाण है। संभवतः ऐसे पद्यों की रचना कवि ने इस कारण की है कि मांगलिक अवसरों पर लोग पोष्यवर्ग का भरण-पोषण भूल न जाएँ। संस्कृत के

१. बनारसी बिलास में प्रास्ताविक कुटकर कविता, पृष्ठ १२७।५

२. बनारसी बिलास में प्रास्ताविक कुटकर कविता, पृष्ठ, २०१।१५

ग्रन्थों में मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष और पूर्णायु एकसौ बीस वर्ष अभिहित है परन्तु बनारसीदास जी ने एकसौ दस वर्ष मान कर प्रत्येक दशक की एक-एक विशेषता की और मनुष्य का ध्यान, सम्भवतः उसे सावधान रखने के लिए, इस प्रकार खींचा है—

बालक दशा की मरजाव दश बरस लों,
 बीस लों बढ़ति तीस लों सुधवि रहा है ।
 चालिस लों चतुराई पचास लों धूलताई,
 साठ लग लोचन की दृष्टि सहलही है ।
 सत्तर लों श्रवण असी लों पुरुषरथ निग्या,
 नवे लग इन्द्रिय की शक्ति उमही है ।
 सौ लों चित्त चेत एकसौ दशोत्तर लों आयु,
 मानुष जनम ताकी पूरी पति कही है ॥^१

समीक्षा—

बनारसीदास के ग्रन्थों के उपरिलिखित दिग्दर्शन से विदित होता है कि वैय-क्तिक नीति के क्षेत्र में उन्होंने शरीरिक पुष्टि, स्वास्थ्य, दीर्घायुष्ट्र आदि पर कोई बल नहीं दिया । कारण स्पष्ट है कि अध्यात्मो मनुष्यों की दृष्टि में शरीर विशेष महत्त्व नहीं रखता । वे स्वयं विद्वान् थे अतः उनके नीति-काव्य में विद्या की विशेष प्रशंसा तथा अनेक विद्याओं की परिगणना उपलब्ध होती है । उनका सर्वाधिक बल तो निलोमता, अहिंसा, शील, अपरिग्रह, सत्य, अक्रोध, नम्रता आदि गुणों पर ही है ।

पारिवारिक नीति के क्षेत्र में उन्होंने ने युवती को प्रेम से अधीन करने^२ का तथा कुलीन ललना के लिए लज्जाशील^३ होने को प्रशस्य कहा है, परन्तु गार्हस्थ्य जीवन का विशेष महत्त्व प्रतिपादित नहीं दिया । कारण यह कि परिवार मोक्षमार्ग में प्रायः विघ्न-रूप-सा सिद्ध होता और दूसरे बालविवाह^४ तथा विलास-मय जीवन के कटुफलों के वे स्वयं भी मुक्तभोगी थे । कंचन-कामिनी के संग त्याग का उपदेश उन्होंने इस प्रकार दिया है—

१. बनारसी विलास में प्रास्ताविक फुटकर कविता, पृ० २००।१३

२. ३. बनारसी विलास, पृष्ठ १७४।३, १७५।१०

४. ऊनवाडश्रवर्षादामप्राप्तः पंचविंशतिश्च ।

यद्यावत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥

जातो वा न चिरं जीवेद् जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः ।

तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

(बन्धनार्तिः सुश्रुत, शरीर स्वान, अ० १०।४७, ४८)

कंचन भंडार पाय रंघ न भगन हूँ,
पाय नवयोबना न हूँ जोबनारसी ।
काल असिबारा जिन जगत बनाए सोई,
कामिनी कनक मुद्र दुहूँ को बनारसी ।
बोऊ बिनाशो सदीव तू है अविनाशो जीव,
या जगत-कूप बीच ये ही जोबनारसी ।
इनको तू संग त्याग कूप सों निकसि भाग,
प्राणी मेरे कहे लाग कहत 'बनारसी' ।^१

तत्कालीन समाज में हिन्दू, मुसलमान, वैष्णव, जैन, ब्राह्मण, शूद्र आदि अनेक जातियों में परस्पर अपेक्षित प्रीति न थी। बनारसी दास-से अध्यात्मी कवि की दृष्टि में इस वैषम्य का खटकना स्वामाविक था। अतएव उन्होंने सन्त कवियों के समान, सब में एक ही 'राम' का निवास प्रतिपादित कर, सबको परस्पर स्नेही बनाने का सदुद्योग किया—

तिनको द्विविधा लखें, जो रंग विरंगी नाम ।

मेरे नैनन देखिए, घट-घट अन्तर राम ॥^२

इन्होंने "गृहपति मंडल विपुल धन"^३ लिखकर सफल गार्हस्थ्य के लिए धन का महत्त्व तो स्वीकृत किया है परन्तु—

कंचन भंडार पाये रंघ न भगन हूँ ।^४

कह कर उसमें आसक्ति का निषेध भी किया है। इस विषय में उनकी नीति वैदिक संहिताओं-सी ही प्रतीत होती है जिनमें "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्"^५ का सुवर्णमय उपदेश देखने में आता है। इनके काव्य में कृपणता से यश का नाश, कुव्यसनों में धन-व्यय की निन्दा तथा दारिद्र्यजन्य संमान-भय का भी उल्लेख किया गया है^६। चूँकि बनारसीदास एक व्यापारी धार्मिक गृहस्थ थे, अतः इनके नीतिकाव्य में संपत्ति के महत्त्व, उपयोगिता तथा वास्तविक स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन स्वाभाविक ही है।

जीव-दया जैन धर्म तथा नीति का अत्यन्त प्रिय विषय है। वस्तुतः सम्भ्र-संस्कृत मानव पर-प्राणों को भी स्व-प्राणों के समान ही मूल्यवान् समझते हैं परन्तु जैन नीतिकारों में तो यह दया चरम सीमा तक पहुँच जाती है। बनारसीदास उन व्यवसायों से ही दूर रहने का उपदेश नहीं देते जिनमें प्राणि-हत्या की सम्भावना

१. बनारसी बिलास, पृष्ठ १६७।४

२-४. बनारसी बिलास, पृष्ठ २०४।१०, १७६।१०, १६७।४ ॥

५. यजुर्वेद, अध्याय ४०।१ ॥

६. बनारसी बिलास, पृष्ठ १७५।८

हो वरन् हिंसक जीवों की हत्या का भी निषेध करते हैं। हाँ इतना अवश्य कहा है कि उनका पोषण न करना चाहिए—

धान यान मिष्टान मोम मादक नवनिज्जं ।

लवण हिंगु घृत तैल वनिज कारण नहिं लिज्जं ॥

पशुभाड़ा पशु वणिज शस्त्र विक्रय न करिज्जं ।

जहाँ निरन्तर अग्नि करम, सो वणिज न किज्जं ॥

मधु नील लाख बिष वणिज तज, कूप तलाव न सोल्लिए ।

लहिए न धरम गृह बास बस, हिंसक जीव न पोसिए ॥^१

बनारसी दास की दृष्टि में सांसारिक जीवन दुःखमय है, इसके सुख स्वप्नवत् भूठे हैं, इसमें भी मानव-जीवन तो चपला-विलास के समान क्षणिक है, अतः इसमें मग्न न होना ही सच्ची नीति है।

जा में सदा उतपात रोगन सों छीजै गात,

कछु न उपाय छिन-छिन आयु सपनो ।

कीजे बहु बाप ओ नरक बुल चिन्ता व्याप,

आपदा-कलाप में विलाप ताप तपनो ॥

जा में परिगह को विषाद मिथ्या बकवाद,

बिषेभोग सुख को सवाद जैसो सपनो ।

ऐसो है जगत वास जैसो चपला विलास,

ता में तू मगन भयो त्याग धर्म अपनो ॥^२

इस प्रकार हम देखते हैं कि बनारसीदास मानवीय व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित नीति पर पर्याप्त बल देते हैं परन्तु पारिवारिक, आर्थिक तथा सामाजिक नीति के क्षेत्र में उस उत्साह का अभाव है जो वैदिक तथा संस्कृत नीति-काव्य में दिखाई देता है।

यद्यपि बनारसीदास के नीतिकाव्य में पर्याप्त मौलिकता है तथापि एकाग्र स्थल पर तो उन्होंने भर्तृहरि के नीति-शतक का अनुवाद भी कर दिया है। जैसे, भर्तृहरि के निम्नवर्ती पद्य—

सोभश्चेदगुणेन किं विभुनता यद्यस्ति किं पातकं;

सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तोषणं किम् ।

सौजन्यं यदि किं निजं स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनं;

सद्विद्या यदि किं अनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥^३

१. बनारसी बिलास, पृष्ठ १९९।११

२. बनारसी बिलास, पृष्ठ १९९।६

३. क्षतकत्रयसू, पृष्ठ २५।४४

का सकल अनुवार बनारसीदास के अधोवर्ती कवित्त में देखा जा सकता है—
लोभबन्त मानुष जो श्रीगुरु अनन्त ता में,

जाके हिये दुष्टता तो पापी-वरधान है ।

जा के मुख्य सत्य बानी सोई तप को निधानी,

जा की मनसा पवित्र तो तीरथ धान है ।

जा में सज्जन की रीति ताकी सब ही सों प्रीति,

जा की भली महिमा सो आभरणवान है ।

जा में है सुविद्या सिद्धि ताही के भट्ट रडि,

जाको अपजस, सो तो मृतक समान है ।^१

बनारसीदास के काव्य में रसों का विशेष परिचाय तो दिखाई नहीं देता, परन्तु निबेद, विबोध, दया, शोदायं, भक्ति, श्रद्धा, नम्रता आदि भावों की अच्छी व्यञ्जना हुई है ।

कवि का प्रत्येक पद्य उनके भाषाधिकार तथा सुन्दर शब्दचयन का समर्थक है । उन्होंने सबंध ही परिष्कृत और समय भाषा का व्यवहार किया है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द पर्याप्त प्रयुक्त हुए हैं । लोकोवित्तियों तथा मुहावरों का प्रायः प्रभाव है । फारसी आदि के भी इलाज, फरमावें, मुसल्ला, साहिब, तहकीक, जालिम आदि कुछ शब्दों का प्रयोग किया गया है । एकाध स्थल पर तो संस्कृत और फारसी के मिश्रण से नवशब्द-निर्माण कर लिया गया है, जैसे—

जुझारी लबार पर-घन के हरनहार ।

जोरी के करमहार बारी के अशरमी ॥^२

ये “अशरमी” शब्द संस्कृत के (नञ्) तथा फारसी “शर्म” के संयोग से निर्मित है ।

बनारसीदास का नीतिकाव्य केवल मुक्तक रूप में प्राप्त होता है । उसमें अधिकतर प्रयोग तो तथ्यनिरूपक शैली का किया गया है परन्तु उपदेशात्मक^३, व्याख्यात्मक^४ और संख्यात्मक^५ शैली भी कहीं-कहीं दिखाई देती है । पद्यों में यद्यपि दोहा, चौपाई, चौपई, वस्तु, छप्पय, मनहर, मतगयंद आदि कई छन्द प्रयुक्त हुए हैं परन्तु कवित्व अधिकतर चमका छप्पय, मनहर और मतगयंद में है । इन्होंने नीति के दो-चार पद भी लिखे हैं, जिनमें इनका स्वर अपनी प्रायिक मधुरता छोड़ कर कुछ कर्कश हो गया है, परन्तु वह कर्कशता भी उस स्नेही पिता की सी है जो पथभ्रष्ट होते हुए सुत को देख कुछ क्षुब्ध हो उठता है—

१. बनारसी बिलास, पृष्ठ, १६७।३

२.-५. „ „ „ १६८।५, १५८।४, १५८।४-१२, २००।१३,

भौंझ भाई ! समुझ शब्द यह मेरा ।
 जो तू देखे इन आंखिन सौं तामें कछु न तेरा, भौंझ० ।
 ए आंखें भ्रम ही सौं उपजौं; भ्रम ही के रस पागीं ।
 जहँ-जहँ भ्रम तहँ-तहँ इनको भ्रम, तू इन ही को रागी, भौंझ०॥^१

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसीदास जी के सम्बन्ध में जिन पाँच शैलियों^२—छप्पय-पद्धति, गीतपद्धति, कवित्त-सवैया-पद्धति, दोहा-पद्धति—का उल्लेख किया था वे सभी बनारसीदास ने भी प्रयुक्त की हैं ।

कवि ने अपनी कृतियों में अलंकारों का प्रयोग सुरुचिपूर्वक किया है । शब्दालंकारों में वीप्सा,^३ अनुप्रास, यमक, पादान्तयमक^४ तथा अर्थालंकारों में उपमा, हृष्टान्त, रूपक, अर्थान्तरन्यास, दीपक, समुच्चय और निरुक्ति अलंकार विशेष उल्लेख्य हैं । जैसे—

(क) जो हरि घट में हरि लखें, हरि बाना हरि बोइ ।

हरि छिन हरि सुमरन करे, बिमल बँवण्य सोइ ॥^५

(अनुप्रास, यमक)

(ख) ऐसो है जगसबास जँसो चपला-बिलास ॥^६ (उपमा)

(ग) जो मन मूसँ आपनो साहिब के रख होय ।

ज्ञान मुसल्ला गह ठिकें मुसलमान है सोय ॥^७ (निरुक्ति)

(घ) धीरज तात क्षमा जननी परमारथ भीत महारथि मासी ।

ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा, मति पुत्रवधू समता प्रतिभासी ॥

उद्यम दास बिबेक सहोदर बुद्धि कल्पत्र शुभोदय दासी ।

भाव कुटुम्ब सदा जिनके दिग यों मुनि को कहिये गृहवासी ॥^८

(सांग रूपक)

बनारसीदास के नीतिकाव्य में प्रसाद और माधुर्य तो प्रचुर है परन्तु ओज की कमी है ।

सब मिला कर कह सकते हैं कि इस कवि का अधिकांश नीतिकाव्य सन्तों के नीतिकाव्य के समान है । वह व्यक्तियों को शुद्ध, पवित्र, धर्मिमा बनाना चाहता है, समाज में सुख-शान्ति की स्थापना का इच्छुक है, प्राणिमात्र के प्रति दया-भावना के प्रचार का आकांक्षी है । परन्तु जीवन और परिवार को झूठा तथा संसार को

१. २३४।१८

२. राममन्त्र शुक्ल: हि० सा० इ० २००६ वि०, पृष्ठ १३३-१३४

३. बनारसी बिलास, पृष्ठ २०४।१०

४. प्रस्तुत प्रबन्ध के पृ० २२५ पर “कंचन भण्डार” आदि पद्य देखिए ।

५. क. बनारसी बिलास, पृष्ठ २०४।४, १६६।६, २०४।५, १६८।७

निस्सार बताने के कारण मानव में भाषा, उल्साह, वीरता, पराक्रम, संघर्ष-शक्ति—आदि उत्पन्न करने का यत्न नहीं करता। फिर भी सामान्य संतों के काव्यों से, वह भाषा, छन्द, अलंकार, गुण आदि की दृष्टि से कहीं ऊँचा है। हिन्दी नीतिकाव्य बनारसीदास का विशेष आभारी रहेगा।

१०. सुन्दरदास

दादू जी के शिष्य सुन्दरदास जी (अन्म संवत् १६५३) केवल सन्त नहीं थे, सत्कवि भी थे। बचपन में ही दादू जी का शिष्यत्व ग्रंथीकृत कर ये वाराणसी चले गये थे और वहाँ लगभग बीस वर्ष तक वेदान्त, साहित्य आदि विषयों का गम्भीर अध्ययन करते रहे। यही कारण है कि इनकी कविता अधिकतर सन्तों के समान तुक-बन्दी मात्र नहीं है, सरस और साहित्यिक है। इन के ग्रन्थों की संख्या ४० के लगभग है जिनमें समस्त पद्य-संख्या ३७८७ है।^१

यों तो इनके ग्रन्थों में योग-साधना, वेदान्त और नीति का संमिश्रण है परन्तु पंचेन्द्रिय-चरित्र, अद्भुतोपदेश, सतगुरु महिमा नोसानी, भ्रमविध्वंस अष्टक, गृह बेराग-बोध, तर्क चिन्तावनी, सर्वैया (सुन्दर विलास) और साक्षी में नीति-काव्य बहुत अधिक है।

“पंचेन्द्रिय चरित” में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की उच्छृंखलता से जन्य कष्टों का पाँच कथाओं में उल्लेख है। प्रत्येक इन्द्रिय का प्रतिनिधित्व वह पशु या पक्षी करता है जिसमें उस इन्द्रिय का प्राबल्य बेका नाता है। इस प्रकार गज, भ्रमर, मीन, पतंग और मृग, त्वचा, घ्राण, रसना, नेत्र और श्रवणेन्द्रिय की प्रबलता के कारण कष्ट पाते और नष्ट हो जाते हैं। प्रायः कथाएँ चंपक^२ छन्द में हैं, बीच-बीच में दोहा भी व्यवहृत हुआ है। निदर्शनार्थ एक कथा का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

गज चरित । अम्पक छन्द

गज कीडत अपने रंगा, बन में मदमल अनंगा ।
इक मनुष तहाँ कोड आवा, तिहि कुँजर बेका न पावा ॥
तब कह्यो नृपति सौं जाई, इक गज बन माँझ रहाई ।
जो सँ आबै गज भाई, वहाँ तब बहुत बचाई ॥
तब बुझि विधाता बीगही, कागद को हबनी कीनी ।
तहाँ खंबक कीना जाई, पतरे तूण दीन छवाई ॥
हबनी को बेसि स्वकपा, सठ घाय परयो अंध कूपा ।

१. सं० श्यामसुन्दर दास, “सुन्दरसार” (ना प्र० स० काशी, १९१८ ई) भूमिका पृ० ३

२. १४ मात्राओं का सक्ती “छन्द” ।

दोहा

काम दिया हुआ बहुत ही, बन तजि बंध्या ग्राम ।

गज वपुरे की को कहै, विधव नचाया काम^१ ॥

इसी प्रकार भ्रमर, मीन, मृग आदि के चरित्रों के उल्लेख के पश्चात् समाहार में इन्द्रियों के वशीकरण का उपदेश दिया है—

गज अलि मीन पतंग मृग, इक-इक दोष बिनाश ।

जाके तन पंखों बसै, ताकी कैसी आश ॥^२

पंखों किन्हु न फेरिया, बहुते करहि उपाइ ।

सबै सिंह गज बसि करै, इन्द्रिय गही न जाइ ॥^३

“भद्रभुत उपदेश” ५७ दोहों का एक छोटा-सा कथा-काव्य है जिसका विषय मन और इन्द्रियों का विग्रह है । परमात्मा का पुत्र आत्मा है, आत्मा का पुत्र मन । मन के पाँच कुपुत्र पाँच इन्द्रिय हैं जो स्व-स्व विषयों में पड़ कर सुध-बुध खो बैठे हैं । मन्त में वे सद्गुरु के दर्शन से विषय-रूपी ठगों के जाल से बच जाते हैं ।

‘सद्गुरु महिमा नासानी’ का विषय नाम से ही स्पष्ट है । इसमें २० नीसानी छन्दों^४ में गुरु के उपकारों का वर्णन अत्यन्त श्रद्धापूर्वक तथा अलंकृत शब्दों में किया गया है । जैसे—

रजि ज्यों प्रगट प्रकाश में, जिन'तिमिर मिटाया ।

शशि ज्यों शीतल है सदा, रस अमृत पिबाया ॥

अति गम्भीर समुद्र ज्यों, तरवार ज्यों छाया ।

बानी बरिषै मेघ ज्यों, आनन्द बढ़ाया ॥^५

“भ्रमविध्वंस अष्टक” में आठ त्रिमंगी छन्द हैं । पुस्तक का आरम्भ दो दोहों से तथा अवसान दो छप्पयों से होता है । इसमें मत-मतान्तरों में प्रचलित बाह्या-दम्बरों का खंडन है । आठों त्रिमंगी छन्दों का चतुर्थ चरण समान ही है और उसमें दादू-प्रदत्त ज्ञान-दान द्वारा भ्रमनाश का उल्लेख है । जैसे—

तो भक्त न भावें दूरि बतावें तीरथ जावें फिर भावें ।

जो कृतम गावें पूजा लावें, रुठ बिठावें बहिकावें ॥

अरु माला नावें तिलक बनावें क्या पावें गुण बिन गैला ।

बाहु का खेला भरम पछेला सुम्बर न्यारा ह्वै खेला ॥^६

१. सुन्दर सार, पृष्ठ, ६५-६६

२. ३. सुम्बरसार, पृष्ठ १७।१, ७२।११

४. मात्रा २३; १३, १० पर यति, अन्त में गुण, नामान्तर दृढ़पट ।

५. ६. सुन्दरसार, पृष्ठ ८५।६-१०, पृष्ठ ६२-६३

“वैराग बोध” में गृही और वैरागी का रोचक संवाद है। गृही गार्हस्थ्य-जीवन के गुणों तथा विरक्त जीवन के दोषों का वर्णन करता है और वैरागी इसके विपरीत। गृहस्थ अपने पक्ष की पुष्टि में जनक, वसिष्ठ आदि के उदाहरण प्रस्तुत करता है और विरक्त ऋषभ देव, भरत आदि के। अन्त में दोनों में समझौता हो जाता है कि कोई बड़ा-छोटा नहीं, दोनों जोड़े के कानों की भांति समान हैं। गृहस्थ की सहायता से ही विरक्त का निर्वाह होता है और विरक्त के उपदेश से ही गृहस्थ का उद्धार। पुस्तक में कुल २४ रुचिरा^१ छन्द हैं। बानगी द्रष्टव्य है—

गृही कहै जू श्रिया मृगनेनी, कटि केहरि गज बाला जू ।
 अघर बान जिन कीयो नाहीं, तिनकें भाग न भाला जू ॥
 वैरागी कहै हाइ बाम सब नैनन भरकत पानी जू ।
 मज्जा भेद उबर में बिछा तहाँ न भूलें ज्ञानी जू ॥
 विरक्त धर्म रहै सु गृही तें. गृही की विरक्त रेंता जू ।
 ज्यों बन कर सिध की रक्षा, सिध सुबनहि उबारै जू ॥^२

“तकं चितावनी” ५६ चौपाइयों का छोटा-सा काव्य है जिसमें मनुष्य के जन्म, बचपन, कोमार, यौवन, प्रौढ़ता, वृद्धत्व और मृत्यु का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन है। ग्रन्थ के अध्ययन से पवित्र जीवन, सत्कर्म, सत्संग, प्रभुभक्ति, वैराग्य आदि की प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। प्रत्येक चौपाई के चतुर्थ चरण में पाठक को चेतावनी दी गई है। जैसे—

बहुरि कुमार अवस्था आई, ताहू माहि नहीं सुधि काई ।
 बाइ बेलि हेंसि रोइ गुदारी, अइया मनुषहुँ बूझि तुम्हारी ॥
 भयो किशोर काम जब जाग्यो, परदारा को निरखन लाग्यो ।
 व्याह करन की मन मंहि धारी, अइया मनुषहुँ बूझि तुम्हारी ॥
 कबहु न कियो साधु को संग, जिन कें मिलै लगै हरिरंगा ।
 कलाकन्द तजि बनजी धारी, अइया मनुषहुँ बूझि तुम्हारी ॥^३

“विवेक चितावनी” नामक ४० चौपाइयों के लघुकाव्य में निघन की निश्चितता, निघन-काल की अनिश्चितता आदि का उल्लेख करते हुए विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश है। प्रत्येक चौपाई का अन्तिम चरण “समुझि देखि निश्चै करि मरना” है। जैसे—

१. रुचिरा के द्वितीय प्रकार में विघन चरणों में १६, सममें १४ मात्राएँ होती हैं।

(बही, पृष्ठ ११४, पादटप्पणी)

२. सन्त सुधासार, खण्ड २, पृष्ठ ५६८-६९

३. सुम्बरसार, पृष्ठ ११७।४-५, पृष्ठ १२०।४९

वेब पुरान कहै समुझावै, जैसा करै सु तैसा पावै ।

सातें देखि-देखि पग धरना, समझि देखि निश्चै कर मरना ॥^१

उपर्युक्त ग्रन्थों में नीति की प्रचुरता होते हुए भी काव्यत्व अधिक नहीं है । वस्तुतः काव्यत्व की दृष्टि से “सर्वैया” ही सुन्दरदास का, सुन्दरतम ग्रन्थ है । इसमें आध्यात्मिक विषयों के साथ-साथ व्यावहारिक विषयों का भी सरस प्रतिपादन हुआ है । विवेकपूर्ण मधुर वारणी का प्रयोग ही प्रशस्त है, झण्ड-झण्ड बोलने से तो मौन ही भला—

काक अथ रासभ उलूक जब बोलत हैं,

तिनके तो बचन सुहात कहि कोन कौ ।

कोकिला असारो पुनि सूबा जब बोलत हैं,

सब कोऊ कान बं सुनत रब रोन कौ ।

ताही तें सुबचन विवेक करि बोलियत,

यौ ही झांक बांक बकि तोरिय न पोन कौ ।

सुन्दर समुझि के बचन कौ उच्चार करि,

नाहीतर चुप ह्वै पकरि बंठि मौन कौ ॥^२

प्रायः पेट के कारण ही मनुष्य दीनता दिखाता, पाप कमाता और बन्दर के समान नाना नाच नाचता है । उसे बनाने वाले प्रभु को सुन्दरदास यों उपालम्भ देते हैं—

पेट ही कारन जीव हतं बहु ।

पेट ही भांस भवं च सुरापी ॥

पेट हि लं कर चोरि करावत ।

पेट हि कौ गठरो गहि काबो ॥

पेट हि पांसि गरे मंहि डारत ।

पेट हि डारत कूपहु बापी ॥

सुन्दर काहि को पेट बियो प्रभु ।

पेट सो और नहीं कोउ पापी ॥^३

जिन प्रख्यात उपमानों से समता दिखाते हुए शृंगारी कवि नारी को मनोहारी बताते हैं, उन्हीं की सहायता से सुन्दरदास ने नारी के तन को भयंकर बन बताकर उससे दूर रहने की प्रेरणा की है—

कामिनि को तन मानों कहिये सखन बन,
 उहाँ कोऊ जाइ सु तो भूलिकें परतु है ।
 कुंजर है गति कटि केहरी को भय जा मैं,
 बेनी काली नागनीडें फन कौं बरतु है ।
 कुच है पहार जहाँ काम चोर रहे तहाँ,
 साधि कें कटाक्ष बान प्रान को हरतु है ।
 सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं,
 राक्षस बदन पाँडें पाँडें ही करतु है ॥^१

सिंह, सर्प, बिच्छू आदि प्राणी उतने भयंकर नहीं होते हैं जितना दुष्ट-
 मानव—

सर्प डसें सु नही कछु तालक, बीछु लगें सु भली करि मानों ।
 सिंह हूँ बाइ तो नाहि कसू डर, जो गज मारत तो नहि हानों ॥
 आगि जरी जल बुझि मरी गिरि, जाय गिरी कछु भें मति प्रानों ।
 सुन्दर और भले सब ही दुख, दुर्जन संग भली अनि जानों ॥^२

अनेतिक उपायों से धन-संचय करना और दरिद्रता-पूर्वक जीवन-व्यतीत करना अच्छी नीति नहीं है। ऐसे धन का भोग तो प्रायः अग्नि, चोर और शासक ही करते हैं—

तू ठगि कें बन और को ल्यावत तेरेड तो घर औरइ कोरें ।
 आगि लगें सब ही जरि जाय सु तू बमरी-बमरी करि जोरें ॥
 हाकिम को डर नाहिन सुभक्त सुन्दर एक हो बार निचोरें ।
 तू खरचं नहि आपुन बाइसु तेरहि चातुरि तोहि से मोरें ॥^३

समीक्षा—

सुन्दरदास का नीतिकाव्य वर्ण्य विषयों की दृष्टि को से प्रायः अन्य सन्तों के काव्य-सा ही है। हाँ, इस विलक्षणता पर दृष्टि अनायास जा पड़ती है कि जहाँ अन्य सन्तों ने वेद, पुराण, कुरान तथा पुस्तकी ज्ञान की उपेक्षा की है वहाँ सुन्दरदास इनका महत्त्व स्वीकार करते हैं। कारण, अन्य सन्त प्रायः निरक्षर थे और वे बाराणसी में वर्षों के विद्या-भ्यास के कारण उक्त ग्रन्थों के महत्त्व से परिचित हो चुके थे। इन्होंने अपने “वेद विचार” ग्रन्थ में, “वेद प्रगट ईश्वर बचन” कहा है और उसका सुन्दर रूपकमय वर्णन किया है—

कर्म पत्र करि जानिये, मंत्र पुष्प पहिचानि ।
 अन्त ज्ञान कल रूप है, कांड तीन यों जानि ॥^४

सन्मार्ग-प्रदर्शक ग्रन्थों के अध्ययन के तो ये पक्षपाती थे परन्तु “रसिकप्रिया” “रस मंजरी” आदि शृंगारमयी रचनाओं के विरुद्ध थे । कारण इन्होंने निम्नलिखित कुंडलिया में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—

रसिकप्रिया रसमंजरी और सिंगार हि आनि ।

खतुराई करि बहुत बिधि बिध बनाई आनि ॥

बिध बनाई आनि लगत विषयिन कौ प्यारो ।

जागं मबन प्रचड सराहैं नखसिख नागो ॥

ज्यौ रोगी मिष्टान्न खाइ रोगहि विस्तारै ।

सुन्दर यह गति होइ नु तो रसिक प्रिया भारै ॥^१

उपर्युक्त पद्यों से स्पष्ट है कि सुन्दरदास जी स्वच्छ व्रजभाषा लिखने में पूर्ण समर्थ थे । उनकी रचनाओं में खड़ी बोली, राजस्थानी, पूर्वी, पंजाबी, फारसी आदि का पुट भी कहीं-कहीं लक्षित होता है । सम्भवतः इसका कारण उनका विस्तृत देशाटन है । स्वामिन्, भ्रंघ्रि आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग भी पर्याप्त हैं । कहीं-कहीं शास्त्रीय क्रियापदों का अशुद्ध प्रयोग भी दिखाई देता है । जैसे, गुह-महिमा के प्रतिपादक एक छप्पय के अन्त में “मिछन्ते” तथा “छिछन्ते” का प्रयोग कर्तुं वाच्य में किया गया है—

पुनि मिछन्ते हृदि ग्रन्थि कौ, छिछन्ते सब संशयं ।

कहि सुन्दर सो सबगुन सही, चिदानन्द धन चिन्मयं ॥^२

सम्भवतः, ऐसी खिचड़ी भाषा का व्यवहार साधु-सन्त किया करते थे और उसी का अनुकरण सुन्दरदास ने किया है । इन्होंने “पंजाबी भाषा अष्टक” और पूर्वी भाषा वरबे” नामक लघु ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें क्रमशः पंजाबी तथा पूर्वी भाषाएँ व्यवहृत हुई हैं ।

इन्होंने दोहा, चौपाई, छप्पय, कुंडलिया, मनहर, चम्पक, इन्दव आदि ५२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है तथा २७ रागों में पदों की रचना की है । इनकी रचना प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक शैली में अधिक है । बारह मासा, सप्तवार, बारह राशि, चित्रकाव्य, विपर्यय (उलटबांसी) आदि के रूप में भी इनकी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं । निम्नलिखित छप्पय में बारह राशियों के द्वारा दिया गया सुन्दर नैतिक उपदेश देखते ही बनता है—

मीन स्वाव सौ बंध्यो मेष मारन कौ आयो ।

वृष सूकौ तत्काल मिथुन करि काम बहायो ॥

कर्क रही उर माहि सिंघ आबती न जायो ।

कन्या खंचल भई तुलत अकतूल उठायो ॥

बृश्चिक बिकार बिच डंक लगि, सुन्दर घन मित न भयो ।

परि मकर न छाख्यो मूढ़ मति, कुम्भ फूट नर तन गयो ॥^१

चित्रकाव्य, विषय्य आदि के सिवा सुन्दरदास की रचना प्रसाद-पूर्ण है । उस में माधुर्य गुण भी पर्याप्त है और भोज का भी अभाव नहीं ।

सुन्दरदास ने अलंकारों के प्रयोग में परिष्कृत रुचि का परिचय दिया है । वे पद्यों में बसात् ठूस नहीं गये, भाव को तीव्रतर करने के लिए ही आए हैं । अनुप्रास के प्रतिरिक्त उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और निदर्शना इनके विशेष प्रिय अलंकार हैं ।

इनके काव्य में शान्त रस प्रधान है । वीर, वीमत्स और भयानक रस की झलक भी कहीं-कहीं दिखाई देती है परन्तु उनका वास्तविक लक्ष्य पाठक को शान्त रस की ओर ही अग्रसर करना होता है ।

सार यह कि सुन्दरदास का नीतिकाव्य पर्याप्त व्यापक और सरस है । उसका अध्ययन विभिन्न क्षेत्रों में कर्तव्य-शिक्षा ही नहीं देता, पाठक को रस वा भाव में मग्न भी कर देता है ।

११. वाजिन्द (वाजिद)

दादू जी के अन्तेवासी वाजिद जी पठान मुसलमान थे । बन्दा बैरागी के समान इनके हृदय में भी हरिणी के आखेट के समय विराग जाग उठा । ये धनुष-बाण तोड़, घर लौटे बिना ही, दादू जी के शिष्य बन गये । सुनते हैं इन्होंने पूरी “वाणी” रची थी परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है । ग्रन्थ गुण उत्पत्तिनामा, ग्रन्थ प्रेमनामा, ग्रन्थ गरजनामा आदि इनके छोटे-छोटे चौदह ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो प्रायः दोहा-चौपाई छन्दों में हैं । नीति-काव्य की दृष्टि से इन का “अरिल” बहुत मार्मिक रचना है । उसमें दान, दया, दातव्य, कृपणता, साधु-संगति, दुष्ट-स्वभाव, मनोनिग्रह, भेष आदि विषयों पर भावपूर्ण छन्द हैं ।

न्यायकारी प्रभु के दरबार में दीन बकरे की पुकार हमारे भी सुनने योग्य है—

साहिब के दरबार पुकार्या बाकरा,

काबो लीयां जाय कमर सों पाकरा ।

मेरा लीया लीस उसी का लीजिए,

हरिहां वाजिद, राव रंक का न्याय बराबर कीजिये ॥^२

वाणी के सुप्रयोग के विषय में वाजिद कहते हैं—

कहि-कहि बचन कठोर सरूठ नहि छोलिये,

१. सुन्दरसार, पृष्ठ १४१।३१ (बृष=वृक्ष; कर्क=कमी) ।

सं० स्वा० मंगलदासः पंचामृत (प्र० स्वामी लक्ष्मीराम द्रष्टः, जयपुर, १९४८)

शीतल शान्त स्वभाव सबन लूँ बोलिये ।
 आपन शीतल होय और भी कीजिये,
 हरिहाँ, बलती में सुरा भीत न पूजा कीजिये ।^१
 :ओं से कितना ही स्नेह करो वे आस्तीन के सांप ही सिद्ध होते हैं—
 पाहण कोरो रह्यो बरसता मेह में ।
 घात घणी बाजिब दुष्टता देह में ॥
 उसे अचानक आय भूँड गहि रोइये ।
 हरिहाँ, सपं हो दूष पिलाय का व्यर्थ सोइये ॥^२

मनुष्य का महत्त्व आयु, विद्या और वेष-भूषा से नहीं, आठ पंसेरी वाले (मन) के निग्रह से होता है, इस नीति का प्रतिपादन एक विचित्र कल्पना द्वारा किया गया है—

बड़ा भया तो कहा बरस तो आठ का ।
 घणा पख्या तो कहा चतुर्विध पाठ का ॥
 छापा तिलक बनाय कमंडल काठ का ।
 हरिहाँ बाजिन्द, एक न आया हाथ पंसेरी आठ का ॥^३

इनकी हस्तलिखित “साखी” के केवल छः पत्र हमने अनूप संस्कृत पुस्तकालय-बीकानेर में देखे थे। प्रथम पत्र के बाद के अनेक पत्र लुप्त हैं। सूची-पत्र में दोहों की संख्या ६३३ दी गई है जिन में से ४६० अप्राप्य हैं। दूसरे पत्र से ४६२ वीं साखी का आरम्भ होता है। प्रथम पत्र पर दिये गये फारसी के कुछ “बंतों” (पक्षों) से प्रतीत होता है कि बाजिन्द फारसी में भी कविता किया करते थे। उपलब्ध दोहे अंगों में विभाजित हैं। “साघी क्रिया रै अंग री” के कुछ दोहे द्रष्टव्य हैं—

(क) जंसे मधुमाषी संछयो, सरस न जान्यो भूरि ।

लोग बटाऊ लं गए मुख में मेली भूरि ॥

(ख) जाचग आबं आस करि, सनमुख सकं न हेर ।

मानहु ससुरहि देखि कं बहू रही मुख फेर ॥^४

इन की भाषा बहुत शुद्ध, सरल, सरस तथा प्रवाहपूर्ण है। उसमें विदेशी शब्दों की मात्रा प्रति न्यून है। इन के “अरिल” में सोलह मात्राओं के अरिल्स छन्द का नहीं, इक्कीस मात्राओं के चान्द्रायण छन्द का प्रयोग हुआ, जिसे सम्भवतः राजस्थान में “अरिल” कहते थे। चतुर्थ में “हरि हाँ बाजिन्द” आदि शब्द गाने में सहायक मात्र हैं, वस्तुतः छन्द के अंग नहीं।

१.-३. सं० स्वा० मंगलदासः पंचामृत, (प्र०-स्वा० लक्ष्मीराम इस्ट जयपुर, १८४८)

पृष्ठ ६८, ६७, ६९

४. साखी बाजिन्द, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, (प्रति संख्या १२७।१२७),
 बीदा, ४७४, ४६३

१२. बांन

“कलिचरित्र”^१ के रचयिता बांन ने जो संक्षिप्त परिचय अपनी कृति में प्रस्तुत किया है, उससे विदित होता है कि वे माथुर पाठक ब्राह्मण थे.^२ रमई पाठक के पुत्र^३ थे और महाराज महसिंह के आदर-पात्र थे । उन दिनों दिल्ली के सिंहासन पर छत्र-पति नूरुद्दीन जहांगीर विराजमान थे । कवि ने अपने चारों ओर जैसी दशा देखी, उसका वंसा ही वर्णन कर दिया—

कलि चरित्र तहँ प्रापिन देख्यो, कलिचरित्र तब कीनों ।

कहे सुने तें पाप न परसे, धर्म दानु कलि बीनों ॥^४

काव्य के मध्य में तो सामाजिक विषमताओं का ही वर्णन है परन्तु ४३ व पद्य में कवि ने कलि-काल के कहीं-कहीं ही दिखाई देने का उल्लेख किया है, सर्वत्र नहीं—

जहांगीर मुरखी छत्रपति दिल्ली मंडल सो है ।

बलि पाताल सुमेर सुरपति भू में पटतर को है ॥

ता को तेज तर्प रवि मंडल निसिदिन साँभ सकारो ।

कहूँ-कहूँ कल काल देखिये ज्यों भेरं झंझियारो ॥^५

इन परस्पर-विरोधी कथनों का कारण यह प्रतीत होता है कि पहले तो कवि ने सामाजिक अवस्था का यथावत् वर्णन किया । जब पुस्तक समाप्त होने पर आई तब तत्कालीन सम्राट् का भी उल्लेख उचित समझा । जब उसने जहांगीर (शासन-काल १६६२-१७१५ वि०) को बलि और इन्द्र से भी बड़ा तथा अपने समय का अद्वितीय छत्रपति घोषित किया तब सर्वत्र कलि का साम्राज्य दिखाना जहांगीर का अपमान करना था । इसलिए एविवश होकर बांन को लिखना पड़ा कि कलि का प्रभाव कहीं-कहीं ही है, सर्वत्र नहीं ।

अप्रकाशित “कलिचरित्र” का विषय एकदम नवीन नहीं है । भारतीय काल-गणना के अनुसार ब्रह्मदिन में १४ मन्वंतर होते हैं और प्रत्येक मन्वंतर में ७२ चतुर्विं-

१. अनप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, हस्तलिखित प्रति-संख्या ७०।७० अ, कुल पत्र ४, पूर्ण ।

२. ३. बांनन जाति मथुरिया पाठगु, नाब बांन जग जानें ।

राव कियो राजाधिराज मनि महसिंघ जिहि मानें ॥

रमई पाठन पिता पुनोत । अहिमन (?) बंस जगजीत ।

ता सुत बान कियो यह ध्यास । रीझें तरुन बिरधु भर बाल ॥ (बही, पृष्ठ १)

४. बही, पद्य ३

५. बही, पद्य, ४३

गिया। प्रत्येक चतुर्युगी या महायुग में कलियुग के ४३२००० वर्ष, द्वापर युग के ८६-४००० वर्ष, त्रेता युग के १२,९६,००० वर्ष और सत्ययुग या कृतयुग के १७,२८,००० वर्ष अर्थात् कुल मिलाकर ४३,२०,००० वर्ष होते हैं।^१ यह विश्वास भी पाया जाता है कि सत्ययुग में धर्म अपने चारों चरणों पर, त्रेता में तीन, द्वापर में दो और कलियुग में एक चरण पर टिका हुआ होता है।^२ आशय यह है कि सत्ययुग से कलियुग की ओर आते-आते धर्म क्रमशः क्षीण होता जाता है और कलियुग में केवल २५ प्रतिशत रह जाता है। इस विश्वास का मूल उस श्लोक में देखा जा सकता है, जिसे हम ब्राह्मण-ग्रन्थों की नीति के प्रसंग में उद्धृत कर चुके हैं।^३

इस विश्वास की सत्यता या असत्यता का विवेचन तो विषयान्तर हो जायगा। परन्तु इस विश्वास का एक कड़वा फल यह हुआ है कि हम पहले से भी अधिक भ्राश्य-वादी बन बैठे हैं। दैवयोग से हम कलियुग में (जिसका आरम्भ ३१०२ ई० पू० में हुआ) उत्पन्न हुए हैं और कलियुग में ही समाप्त हो जाएँगे। आज जन-साधारण की मानसिक अवस्था ऐसी हो गई है कि जब कोई पाप या अनाचार की विचित्र बात सुनी जाती है तभी लोग कह उठते हैं—भाई, कलियुग चल रहा है, इस में जो हो जाए, थोड़ा, अभी आगे देखिये क्या-क्या होता है। इस विश्वास के कारण हम सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए बद्धपरिकर नहीं होते, कलियुग को प्रबल और अपराजेय मानकर हार मान बैठते हैं। “कलिचरित्र” सरीखे ग्रन्थों की रचना इसी मनोवृत्ति का परिणाम है।

“कलिचरित्र” अपने ढंग की प्रथम कृति नहीं है। इससे पूर्व पुराणों में कलि-राज के महत्त्व का वर्णन हो चुका था। नीलकण्ठ का “कलिविडम्बन” भी “कलिचरित्र” का लगभग समकालीन ही दिखाई देता है। पर्वर्ती काल में तो इसी विषय के कई काव्य-नाटक लिखे गये,^४ जिन में कलि के अनेक कुत्सित कर्मों का व्यंग्यात्मक उल्लेख है।

१. बयानन्द ग्रन्थमाला (शताब्दी संस्करण, १९२५ ई०) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ २८५-२८७

२. श्रीमद्भागवत पुराण, द्वादश स्कंध, अध्याय २-३

३. प्रस्तुत प्रबन्ध का ४२ पृ० देखिए।

४. यथा, रसिकगोविन्द का कलियुग रातो (हिन्दी), नारायण शास्त्री का कलि-विघ्नन (संस्कृत नाटक), कल्याणराम शास्त्री का कलिबिलासमणिरूपरूप (संस्कृत) आदि।

“कलिचरित्र” की प्रस्तुत प्रतिलिपि^१ में कुल ४५ पद्य हैं। आरम्भ में मंगल-दोहा है और उसके बाद के तीन पद्यों में कवि का परिचय। दूसरा पद्य चौपई छन्द में और शेष सब पद्यों के छन्द को कवि ने चौबोला कहा है—

“अथार अधिक चालीस चौबोला मैं इतने ई कीने”^२

परन्तु आज के चौबोला^३ या हंसी छन्द के लक्षण इन पद्यों पर ठीक नहीं बैठते। आजकल तो इस काव्य के पद्यों में ‘सार’ छन्द माना जायगा, जिसके प्रत्येक चरण में १६, १२ की यति से २८ मात्राएँ होती हैं।^४

कवि ने इस लघ्वाकार मुक्तक-काव्य में अनेक अनुचित बातों पर छोटे कसे हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—सत्योक्ति की कटुता और मृषोक्ति की मधुरता, वाचाल का सम्मान और मितभाषी का अपमान, कुलीना का परित्याग तथा दासी से अनुराग, दम्पती में सच्चे प्रेम का अभाव आवारा पुत्र प्यारा और सज्जन पुत्र मूर्ख, -सेवक की अपेक्षा चाटुकार सेवक को अच्छा समझना, अन्त्यजों द्वारा भगवन्मूर्ति की पूजा, राजाओं की निर्धनता और संन्यासियों का धन-संचय, धार्मिक जनों की अविश्वसनीयता और चोरों पर विश्वास, राजा की अपेक्षा दीवान का बह्पन, सज्जनों की दुर्वलता और दुष्टों का मुस्टण्डापन, दानी पगले और कृपण बुद्धिमान्, धन की प्रशानता और कुलमर्यादा आदि की उपेक्षा, भूकड़ों का संमान और पंडितों की अवज्ञा, वणव्यवस्था में विपर्यय, पर नारी से प्रेम, वैद्य, ज्योतिषी, सिद्ध, वैरागी आदि। उक्त विषयों में से कुकवि, कुवैद्य, कु-ज्योतिषी आदि तो संस्कृत-काव्यों में भी उपहासास्पद बनाये गये हैं परन्तु कुछ कवि-कालीन सामाजिक परिस्थिति के परिचायक प्रतीत होते हैं, जैसे—संन्यासियों का धन—संग्रह, अन्त्यजों का मूर्ति-पूजन आदि। यह रचना सामान्य नीतिकाव्यों की अपेक्षा अधिक सरस है। कारण यह कि इसमें अभिधा और लक्षण की अपेक्षा व्यंजना का प्राधान्य है। अनुचित व्यवहार करनेवाले को दोषी नहीं कहा गया, सारा दोष कलि-

१. “संवत् १७५२ भाद्रकृष्णष्टम्यां (८) बुधवारि संपूर्ण।

लि० भईया अजोध्यायाम, सगर गढ़ मध्ये।” ये शब्द उस गुटके के अन्त में हैं, “कलिचरित्र” के अन्त में नहीं। अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, गुटका सं० ७० ॥

२. वही, पुस्तक के अन्त में।

३. तिथि कलपुत हंसी अति सज,

अन्त लघू गुव सुवमा भजे ॥ (परमेश्वरानन्द : छन्दशिक्षा, लाहौर १९४६, पृष्ठ ११६)

४. वही पृष्ठ १३८

युग के माये मढ़ दिया गया है। काव्य के अधिकतर पद्यों का चतुर्थ चरण यह है—

“ए कल काल तमासे तेरे, बुध भावें भर हांसी।

काव्य में प्रवाह-पूर्ण प्राञ्जल व्रजभाषा प्रयुक्त की गई है जिस में अनुप्रास की छटा विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। अर्थालंकारों की प्रायः उपेक्षा की गई है। परन्तु अलंकार-जनित चमत्कार के अभाव की पूर्ति हास्य-रस-पूर्ण व्यंग्यात्मक शैली से स्वतः ही हो जाती है। जैसे—

जो सेवक साहिब कौं डहकें सो सेवक धनु पावें ।
जो सब भाँति माहिबहिं सेवैं सो न साहबहि भावें ।
कुल की मिहरी मनहि न भावें चित छोरावें दासो ।
ए कल काल तमासे तेरे बुध भावें भर हांसी ।^१
छानतदार बुषी दिन बीसैं ताहि न धनी पसो जैं ।
छोरहि सरवस सोंपि आपनों तापरि सुख्यो न सो जैं ।
सुखिया जें दिवान के सेवक दुषिया राजन जो के ।
देब बूबरे भोपा मोटे कलि करतूत हंसी के ॥^२
आवर ओरें सुकवि कहावें पंडित कहै कहाँनी ।
करें संवारि माँगि की गोली सोई बंद बखानो ॥
पत्रा बाँचि होइ ज्योतिषी छटक प्रसन मिलावें ।
विद्या-हीन राखि नय-डाढ़ी कलि में सिद्ध कहावें ॥^३

२३—राजसमुद्र

विक्रम की सत्रहवीं शती में बीकानेर में कोथरा कुल के धर्मसी शाह अपनी पत्नी चारल देवी सहित निवास करते थे। उन्हीं के घर में सं० १६४७ की वंशावलि शुकसा सप्तमी, बुधवार को जिस शिशु ने जन्म लिया, उसका नाम खेतसी रखा गया। बालक खेतसी परिश्रमपूर्वक विद्याध्ययन करता और पिता के साथ जैन-सत्संगों में जाया करता था। जब सम्राट् अकबर द्वारा प्रशंसित मुनि जिनसिंह सूरि बीकानेर पधारे तब बालक खेतसी उनके प्रवचनों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने विरक्त होकर सं० १६५६ में उनसे दीक्षा ले ली। अब उन बालक का नाम राजसिंह रखा गया परन्तु कुछ काल पीछे उन्हें जिनचन्द सूरि ने बड़ी दीक्षा दी और नाम राजसमुद्र कर दिया। जिनसिंह जी के दिवंगत होने पर ये गच्छनायक बनावे गये और राजस्थान, सिन्ध आदि प्रान्तों में धर्मप्रचार करने लगे। आगरे में शाहजहाँ से आपकी भेंट हुई थी और वहाँ ब्राह्मणों से धर्मविषयक शास्त्रार्थ भी हुआ था। इनकी रचनाएँ निम्न लिखित हैं—

शालिभद्र चौपाई, गज सुकमाल चौपाई, चौबीसी, बीसी, प्रश्नोत्तर रत्नमाला, कर्म-वत्तीसी, शीलवत्तीसी, बालावबोध, स्फुट आदि पद्य ।^१

हमें उक्त ग्रन्थों में से केवल “कर्मवत्तीसी” की हस्तलिखित प्रति^२ बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में देखने का अवसर प्राप्त हुआ है । विषय तथा ग्रन्थ के परिणाम का संकेत नाम से ही मिल जाता है । ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी सम्प्रदायों में पूर्वकृत कर्मों का भारी प्रभाव एक स्वर से स्वीकृत किया जाता है । इस विषय पर सब सम्प्रदायों के कवियों ने काव्य-रचना की है । “कर्मवत्तीसी” की रचना मुनि राजसमुद्र जी ने सं० १६६६ में राजस्थानी भाषा में की थी । लावनी छन्द में बद्ध वत्तीस पद्यों की इस कृति में पूर्व कर्मों को ही उन सामाजिक तथा आर्थिक भेदों का कारण बताया गया है जो जगत् में दिखाई देते हैं । काव्यत्व की दृष्टि से रचना में कोई सौष्ठव लक्षित नहीं होना, हाँ, सम्बर गाने से मन को सन्तोष तथा शान्ति अवश्य मिलती है । कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

करम तरी गति अलख अगोचर । कहिउए जांएँ सार जी ।
मोएँ बसं जोणीसर जांएँ । कं जांएँ करतार जी ॥
पूँब करम लिखित जो मुख बुध, जीव लहै निरधार जी ।
उद्यम कोपि करोजं तो गिएँ न फलं अधिक लिवार जी ॥
एक जनम लपि फिरं कुबारा, एकां रं दोढ़ नारि जी ।
एक उदरभर जग तं कहीये, एक सहस आघार जी ॥
क'म लिखित मुख संपति लहीये, अधिक न कीजं सोस जी ।
आय कमाया फल पामीजं, और न दोजं सो (दो ?) स जी ॥^३

१४—कुशलधीर

जैन कवि कुशल-धीर सोजत नगर के निवासी थे और अरतरगच्छ के जिन माणिक्य सूरि शाखा के श्री कल्याणलाल के शिष्य थे । इन्होंने जोषपुर, सोजत, किशनगढ़, साचौर आदि में भ्रमण किया था । श्री मोतीलाल मेनारिया ने इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया—१. “वेलि क्रिस्न रश्मिणीगी” की टीका, २. केशवदास कृत “रसिक प्रिया” की टीका, ३. “लीलावती रासो” । इनमें से टीका ग्रन्थ तो गद्य में है

१. ऐतिहासिक काव्य संग्रह (प्र० संकरबाबु शुभेराज नाहटा, सं० १९६४ वि०) पृष्ठ २२-२६
२. प्रति-संख्या ८१०७, कुल पत्र २, पृष्ठ
३. बही, पद्य-संख्या १, २, ३, २८ ॥
४. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २१५

और “लीलावती रासौ” पद्य में । इधर इनके पांच ग्रन्थों का भी पता लगा है—
१ भोज-चौपाई, २. लीलवती रास, ३. कर्म चौपाई, ४. वर्णनसंग्रह, ५. उद्दिम
कर्म संवाद । इनमें से अन्तिम ग्रन्थ नीतिविषयक है ।

उद्दिम कर्म संवाद—कुशलधीर जी का साहित्य-सर्जनकाल सं० १६६६
से १७२९ तक है । “उद्दिम-कर्मसंवाद” की रचना किशनगढ़ में सं० १६९९ में का
गई थी—

संवत सोल निनाएवह, किसनगढ़ सुखकार ।

उद्दिम कर्म संवाद इम, कहइ धीर अणगार ॥^१

काव्य के अन्तिम दोहे से विदित होता है कि मुनि जी ने इसकी रचना श्रावक
सचीदास के आग्रह पर की थी । केवल ३८ पद्यों के इस लघुकाव्य काव्य में दोहा,
कवित्त (छप्पय), पढ़ड़ी आदि छन्द प्रयुक्त किये गए हैं । भाग्य और उद्यम नीति-
काव्यकारों के प्रिय विषय रहे हैं । इनमें से कौन श्रेष्ठ है, इस विषय की भी चर्चा
अनेक कवियों ने की है । इसी विषय का संवादात्मक शैली में वर्णन मुनि जी ने इस
रचना में किया है । मंगलाचरण के पश्चात् उद्यम और कर्म (भाग्य) आकर त्रिलोकी
में अपने-अपने को सबसे बड़ा कहते हैं । वे अपने-अपने महत्त्व को सिद्ध करने के लिए
प्राचीन इतिहास-पुराणों के उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं और एक-दूसरे की युक्तियों
का ओजस्वी भाषा में खंडन भी । अन्त में “उद्यम” के प्रस्ताव पर “कर्म” विवाद
का निराण्य किसी पंच से करवाने पर सहमत हो जाता है । तब वे दोनों श्री जिन-
महाराज की सेवा में पहुँचते हैं । वे दोनों को ही परस्पर पूरक कहकर उन्हें हिलमिल
कर रहने का उपदेश देते हैं और ग्रन्थ समाप्त हो जाता है । रचना राजस्थानी भाषा
में है और संवाद ओजपूर्ण है । यथा—

उद्दिम उवाच— गम सूं बोलि गमार, मरम तूं मुञ्ज न जाएइ ।

मुञ्ज बलहि श्रीराम उदधि लंघि सीता घाएइ ॥

मुञ्ज बलहि महपती बेखि पुहवी बावटइ ।

मुञ्ज बलहि मतिमंत खरा किहू सूर्रा खटइ ॥

सुर असुर विद्या साधक सकल आदर वे मो आदरइ ।

काइर करम ! सुणि रे कथन, बयूं मुञ्ज समबड़ि तूं करइ ॥^२

कवम उवाच—

नीच-कुली नव नंद मही मंह कीष महीपति ।

पंडव पंच प्रसिद्ध मल्या मइ तासु हरें मति ॥

रंक कऊं हूं राव राउन हूं रंक कऊं सिए ।

सिध साधक सुर असुर करम सुं न बलइ किहि किए ।

१. उद्दिमकर्मसंवाद, पद्य ३७

२. वही, पद्य ५

करतार करम शुभ अशुभ का साखद सी त्रिहुआ भुवर ।
उद्दिम मकूर, कहइ करम इम, कहइ मुजब समवड़ि कबरण ॥^१

१५—लाल (?)

“रूप गुण संवाद” नाम के अप्रकाशित नीतिकाव्य की हस्तलिखित प्रति^२ बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह प्रति एक गुटके के चार पत्रों (७५-७८) पर लिपिबद्ध थी परन्तु ७७वां पत्र, जिस पर ३३-४६ दोहे थे, लुप्त है। समग्र कृति की दोहा-संख्या ६४ थी परन्तु उपलब्ध पत्रों में ४७ दोहे ही प्राप्य हैं। यह काव्य दो अधिकारों में विभाजित है—रूपाधिकार और गुणाधिकार। प्रथम ४६ दोहे रूपाधिकार में हैं और अन्तिम १५ गुणाधिकार में। ग्रन्थ का नाम भी भ्रामक है। वस्तुतः यह संवादात्मक कृति नहीं है, कवि ने ही दोनों के स्वरूप का विवेचन करने के अनन्तर गुण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। कवि का नाम संदिग्ध है और परिचय तिरिआच्छन्न अन्निम दोहे में लाल नाम आया है जो सम्भवतः कवि का नाम है—

कोन काज धन, धर्म बिनु । भक्ति बिना गुह रूप ॥

कहो लाल कोजइ कहा । गुन बिनु सुन्दर रूप ॥^३

पुस्तक का रचना-संवत् अज्ञात है। जिस गुटके में यह संगृहीत है, उसमें बिहारी-सतसई (रचना काल सं० १७०४ के लगभग)^४ भी लिपिबद्ध है और उसकी समाप्ति पर यह पंक्ति लिखी हुई मिलती है—“श्रीमान् महाराज कुमार श्रीमदनूपसिंहः पठ्यमानमिदं पुस्तकं चिरं नन्दतात्” अर्थात् श्रीमान् महाराज कुमार अनूपसिंह द्वारा पढ़ी जाती हुई यह पुस्तक चिरस्थायी रहे। महाराज अनूपसिंह का जन्म सं० १६६५ में हुआ था और शासनकाल वि० १७२६-५५ था। इससे अनुमान है कि यह रचना अठारहवीं शती के आरम्भ या उस से पूर्व की है।

मनुष्य की दृष्टि पहले किसी वस्तु या व्यक्ति के रूप पर पड़ती है, पीछे गुणों पर। सामान्य जन रूप से इतने आकर्षित होते हैं कि जैसे-तैसे रूपवान् पदार्थ को प्राप्त करने के लिए हठ करने लगते हैं। परन्तु प्रायः देखा यह जाता है कि रूपवती वस्तु विशेष गुणवती नहीं होती। उसे प्राप्त करने के पश्चात् अपनी भूल पर पश्चात्ताप करता है। इसी अनुभव के आधार पर अनेक नीति-कवियों ने निज कृतियों में रूप धन, वंश आदि पर गुण को अधिमान दिया है। जैसे—

१. वही पद्य ६

२. प्रति संख्या ७७।७७ ग ॥

३. वही, पत्र ७८, पृष्ठ २, दोहा ६४

४. मोतीलाल मेनारिया: राजस्थान का पिगल साहित्य, पृष्ठ ८६

गुणेषु यत्नः क्लियतां किमादोपैः प्रयोजनम् ।

विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्नाभिः क्षीरविबज्जिताः ॥^१ (क्षेमेन्द्र)

“गुण-प्राप्ति के लिए उद्योग करना चाहिए, घाड़म्बरों से कोई भी लाभ नहीं । दूध-रहित गौएं गले की घंटियों के कारण नहीं बेची जा सकतीं ।”

पङ्काम्बयमपि सरसिजमारोहित नीलकण्ठमूर्धानम् ।

पश्यत गुणमहिमानं चरणादपि मृज्यते पङ्कः ॥^२ (वल्लभदेव)

“गुणों की महिमा देखिये, कमल कीचड़ से कलुषित हो तो भी शिव जी उसे शीर्ष पर धारण करते हैं । केवल कदम पांव पर भी लगा हो तो भी हटा दिया जाता है ।”

प्रस्तुत “रूप गुण संवाद” इसी प्रवृत्ति का विकसित रूप है । आरम्भ में कवि ग्रन्थ-रचना का कारण निर्दिष्ट करता है—

रूप रचित गुण करि षचित । ए रस एक समान ।

यह मन मझं साँसौ भयो । का कहि करौ प्रमान ॥^३

रूपाधिकार में कवि रूप को विधाता-रचित, वश-कारक और निलोभ प्राधि बताकर उत्कृष्ट कहता है—

रूप कीयो करतार को । गुण मानुष प्राधीन ।

रूप नराइन रूप सौ । गुण का करंज दीन ॥

बसो करन संसार को । रूप विधाता कीन ।

गुण बपुरा जो देखीयं । तऊ रूप प्राधीन ॥

गुण तो लोभी लालची । और सुनो कोठ कान ।

रूप न इतनी जानइ । देखे चतुर सुजान ॥^४

गुणाधिकार में गुणों के उत्कर्ष को अनेक प्राकृतिक उपमानों तथा ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया गया है ।

कहा रूप कहि कोकिलहि । गुण करि सब सुषवाइ ।

अति उज्जल बक गुन बिना । काहं कूं न सुहाइ ॥

गुन बिन रूप निकाज गनि । ज्यों जलनिधि को तोइ ।

बेषक को अतही भली । प्यासी पियं न कोइ ॥

कहा रूप कुबुजा कहउ । गुनन कृष्ण बस कीन ।

गुन प्राहक प्रिय देश कं । रूप रह्यो दिन दीन ॥^५

१, २. जल्हणः सूक्तिमुक्तावली पृष्ठ ४२६

३. रूपगुण संवाद, पत्र ७५, पृष्ठ १, पद्य १

४. “ “ “ ७५। १। ३, ७, १८

५. “ “ “ ७८। १। १२, ५१; ७८। २। ५८

अन्त में कवि इस परिणाम पर पहुँचता है कि गुणों के बिना सुन्दर रूप वैसे ही व्यर्थ है जैसे धर्म के बिना धन और भक्ति के बिना गृहस्थी ।

काव्य की भाषा और शैली में कोई चमत्कार दिखाई नहीं देता । काक, वक, सागर आदि के जो दृष्टान्त इसी प्रसंग की सूक्तियों में संस्कृत-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, प्रायः उन्हीं को इसमें दोहराया गया है । फिर भी इस बात के कारण कृति महत्त्वपूर्ण है कि रूप और गुणों की तुलना करने वाली यह प्रथम संपूर्ण कृति है जो हमारे देखने में आई है । कदाचित् यही कारण है कि इसे सरस्वती के उपासक महाराज के पुस्तकालय में स्थान मिला ।

समीक्षा

वर्ण्य विषय

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि इस काल में नीति-विषयक स्वतन्त्र काव्यों की रचना अधिक नहीं हुई तथापि इतरप्राणि-विषयक नीति को छोड़कर सभी प्रकार की नीतियों पर थोड़े-बहुत स्वतन्त्र काव्यग्रन्थ रचे ही गये । इतर प्राणी सर्वथा उपेक्षित रहे हों, ऐसी बात नहीं है । जैन, वैष्णव, और सन्त नीतिकवियों ने निरीह प्राणियों के बध का निषेध बावनी आदि में बड़े मार्मिक शब्दों में अनेक स्थलों पर किया है । वैयवितक नीति के अन्तर्गत ठकरसी ने पंचन्द्नी बलि, सुन्दरदास ने पंचन्द्रिय चरित, भट्ट तोपदेश, तर्कचिन्तावनी और लाल (?) ने रूपगुण-संवाद की रचना की । ध्यान देने की बात है कि इन काव्यों में शारीरिक स्वास्थ्य-सौन्दर्य की अपेक्षा गुणोपाजन और इन्द्रियों तथा मन के दमन पर ही विशेष बल लक्षित होता है । विद्या, बुद्धि आदि विषयों पर किसी विशेष काव्य का पता नहीं चलता । पारिवारिक नीति के क्षेत्र में जानकवि का “सतवन्ती सत” और सुन्दरदास का गृहवैराग्यबोध दो काव्य प्राप्त होते हैं । प्रथम में पातिव्रत की प्रशंसा है तो द्वितीय में गार्हस्थ्य और वैराग्यमय जीवन को समान माना गया है । सच पूछिए तो भक्तिकाल में गार्हस्थ्य को वैराग्य के तुल्य बताना भी बड़े साहस का काम था क्योंकि अधिकतर संतभक्त तो पारिवारिक जीवन की निन्दा ही करते रहे । सामाजिक नीति के विषय में दो कृतियाँ प्राप्त होती हैं—बनारसीदास-कृत “वैद्यादि के भेद” तथा सुन्दरदास-कृत “सद्गुणमहिमा नीसानी” । प्रथम रचना में धार्मिक द्वेष को दूर कर शुद्धाचारी बनने का उपदेश है और दूसरी में गुह के प्रति आदर-भाव का । वेश्या, स्त्री, जाति-पाति, मित्र, प्रतिपि आदि विषयों पर कोई सम्पूर्ण ग्रन्थ देखने में नहीं आया । धार्मिक नीति में धन के गुण-दोष, उसकी प्राप्ति के साधन, जूमा आदि पर तो कोई काव्य दृष्टिगत नहीं होता परन्तु ठकरसी ने कृपण-चरित्र में कँजूस व्यापारी की अच्छी मिट्टी पलीद की है । सबसे अधिक रचनाएँ मिश्रित नीति के क्षेत्र में की गईं । राजसमुद्र ने “कर्म बतीसी” में पूर्वजन्म-कृत कर्मों का विशेष महत्त्व

प्रदर्शित किया है। कुशलधीर कृत “उद्दि मकर्म संवाद” में उद्यम और भाग्य दोनों अपने को दूसरे से बड़ा मानकर गर्व करते हैं। परन्तु अन्त में दोनों को एक दूसरे का पूरक कहा गया है। इस प्रकार उद्यम को भी देव के समान स्वीकृत करना एक उल्लेख्य विशेषता है क्योंकि अधिकतर सन्त और भक्तजन उद्यम की अपेक्षा देव को ही अधिक महत्त्व दिया करते हैं। सुन्दरदास कृत “भ्रमविध्वंस अष्टक” में सांप्रदायिक ग्राहम्बरों का खण्डन है और “विवेक चितावनी” में मृत्यु की अनिवार्यता का वर्णन। बाण कवि ने “कलिचरित्र” में सभी सामाजिक विषमताओं के लिए कलियुग को उत्तरदायी ठहराया है। यह बात लक्ष्य करने की है जिन नैतिक विषयों पर स्वतन्त्र काव्यों का अभाव है, प्रायः उनका उल्लेख भी इन कवियों ने अपनी बावनी, व्रत्तीसी आदि में किया ही है।

रस-भाव—रसपरिपाक की दृष्टि से उपर्युक्त कृतियाँ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। मुनियों तथा सन्तों द्वारा रचित होने के कारण अधिकतर कृतियों में शान्तरस का प्राधान्य है। ठकरसी का “कृष्णचरित्र” तथा बाँन के “कलिचरित्र” में हास्य की व्यंजना अच्छी हुई है। सुन्दरदास के ग्रन्थों में शरीर के वर्णन में भयानक और बीभत्स लक्षित होता है। कुशलधीर के “उद्दिमकर्म संवाद” में वीर रस की भी झलक दिखाई दे जाती है। भावों में से दैन्य, मति, दया, नम्रता, श्रोदाय, क्षमा, आत्मसंमान, निष्कपटता, धृति आदि की व्यंजना अच्छी दिखाई देती है।

गुण-दोष—वैसे तो नीतियों ही गुण उपर्युक्त कवियों की रचनाओं में लक्षित होते हैं परन्तु प्राधान्य प्रसाद का है। माधुर्य प्रसाद से कम है और भोज माधुर्य से भी कम। भोज की इस न्यूनता का कारण इन काव्यों में क्षात्र-नीति की कमी है। उपर्युक्त कवियों में से अधिक संख्या सुपठित विद्वानों की थी, अतः उन्होंने अपनी रचनाओं को काव्य दोषों से मुक्त रखने का भरसक उद्योग किया। फिर भी कहीं-कहीं अक्षर-मात्रा की न्यूनाधिकता, शब्द-विकृति आदि दोष दिखाई दे ही जाते हैं।

भाषा—पदमनाभ, ठकरसी, छाहल, उदयराम और राजसमुद्र ने अपनी रचनाएँ राजस्थानी में की हैं। सुन्दरदास देवीदास और जानकवि तो राजस्थान के थे परन्तु उनकी कृतियाँ सुन्दर वृजभाषा में उपलब्ध होती हैं। वाजिद की भाषा में खड़ी बोली का पुट है तो उदयराम की भाषा में पंजाबी का। व्यापक पर्यटन तथा विस्तृत अध्ययन के कारण सुन्दरदास की रचनाओं में खड़ी बोली, पंजाबी, पूर्वी आदि का भी प्रभाव लक्षित होता है। तुलसीदास, रत्नावली, बाँन तथा लाल ने अपनी रचनाओं में वृजभाषा का प्रयोग किया है। उनमें कहीं-कहीं अवधी का भी प्रभाव लक्षित होता है। राजस्थानी की रचनाओं में द्वित्व व्यंजनों तथा विदेशी शब्दावली की अधिकता अपभ्रंश तथा मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव की सूचक है।

काव्य-विधान—काव्यविधान के विचार से उक्त कृतियाँ दो वर्गों के अन्तर्गत आती

हैं—मुक्तक और निबन्ध । पदमनाभ तथा छीहल की बावनियाँ, तुलसीदास की दोहा-बली देवीदास के कवित, उदयरज के दूहे आदि मुक्तक काव्यों के अन्तर्गत आते हैं और ठकरसी का कृष्णचरित्र तथा पंचेन्द्रीवेलि, सुन्दरदास का पंचन्द्रिय चरित्र, बान का कलिचरित्र और लाल (?) का रूपगुणसंवाद आदि निबन्धकाव्यों में ।

शैली—उपर्युक्त कृतियों में सर्वाधिक प्रयोग तथ्यनिरूपक शैली का किया गया है । इसके अतिरिक्त उपदेशात्मक, व्याख्यात्मक, संख्यात्मक, अन्यापदेशात्मक, समस्या-पूर्ति, आत्माभिषयंजक, शब्दावर्तक, ऐतिहासिकादि शैलियों का भी यत्र-तत्र व्यवहार हुआ है । सुन्दरदास ने अद्भुतोपदेश में रूपककाव्यशैली का तथा गृहवैराग्यबोध में संवादात्मक शैली का प्रयोग किया है ।

छन्द—दोहा तथा छप्पय इन कवियों की अन्य छन्दों से अधिक प्रिय रहे हैं । कथात्मक कृतियों में कुछ चौपाइयों, चम्पक या सखी छन्दों के पश्चात् दोहे का प्रयोग दिखाई देता है । इनके अतिरिक्त मनहरण, मत्तगयद, नीमानी, त्रिशंगी, रुचिरा, अरिल्ल आदि छन्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है ।

अन्त में इन कवियों का महत्त्व इस बात में है कि इन्होंने ही सर्वप्रथम ऐसे स्वतन्त्र नीतियाव्यों का निर्माण किया जो विषयों की व्यापकता तथा उपयोगता की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, कला की दृष्टि से भी उपेक्ष्य नहीं हैं ।

२. अकबर की दरबार के कवि

मुगल सम्राट् अकबर का शासन-काल (१५५६-१६०५ ई०) पठान-शासन से खिन्न भारतवासियों के लिए वरदान-रूप था । जो कट्टरता, मतान्धता, भारतीयता-विद्वेष आदि पठान-शासन की तीन शताब्दियों (१३-१५ वीं ई०) में पाये जाते थे, उनका अकबरने समूल उन्मूलन कर दिया । पठान-शासन में हिन्दुओं पर जो ज़िज्या-कर, तीर्थकर, धार्मिक प्रतिबन्ध आदि लगाये गये थे, उनको नीति-निपुण अकबर ने हटा दिया और सभी धर्मों के लोगों को समानाधिकार तथा योग्यतानुसार निज दरबार में पद प्रदान किये । उसकी उदारता, गुणग्राहकता, सर्वधर्म-समभाव, कला-प्रेम आदि के कारण देश-विदेश के अनेक सुकुशल साहित्यकार, चित्रकार, वास्तुकार, संगीतमर्मज्ञ आदि उसकी सभा में एकत्रित हो गये । अकबर उन्हें वृत्तियों, पुरस्कारों, उपाधियों आदि से संमानित करता था तथा अपने व्यक्तित्व और शासन को उनकी योग्यता से समृद्ध बनाता था । उपर्युक्त गुणों के कारण जो हिन्दी-कवि उसकी सभा के प्रति आकर्षित हुए, वे वर्ग-द्वय में विभाज्य हैं—स्थायी और अस्थायी । स्थायी कवि तो वे थे जो सभा-कवि या किसी अन्य पद पर आसीन होने के कारण दरबार से स्थायी वृत्ति पाते थे, जैसे—रहीम, गंग, नरहरि, राजा वीरबल (ब्रह्म), तानसेन, चतुर्भुजदास ब्रह्मण, राजा टोडरमल, राजा पृथ्वीराज, सूरदास मदन मोहन, और मनोहर कवि । अस्थायी कवियों का सम्राट् से सम्पर्क तो था परन्तु वे दरबार में यदा-वदा ही आया करते थे ।

चन्द्रभान, व्यास, करनेस, कुम्भनदास, महात्मा सूरदास, दुरसा जी और होलराय ऐसे ही अस्थायी कवि थे। उक्त कवियों में से नरहरि, टोडरमल, ब्रह्म, गंग और रहीम, नीतिकाव्य की दृष्टि से अधिक महत्त्व रखते हैं, अतः वे ही हमारे आलोच्य विषय के अन्तर्गत आते हैं।

१. महापात्र नरहरि

अकबरी दरबार के वयोवृद्ध कवि नरहरि का जन्म पखरोली (जिला राय बरेली) में हुआ। बाल्यकाल वहीं व्यतीत करने के पश्चात् ये असनी में आकर बस गये। ये कश्यपगोत्री ब्रह्मभट्ट कुलमणि (शालकवि) के पुत्र थे और “साहित्य दर्पण” के रचयिता विद्वानाथ की चतुर्थ पीढ़ी में सं० १५६२ में उत्पन्न हुए थे। इन की रचनाओं से प्रमाणित होता है कि इन्होंने संस्कृत, फ़ारसी और हिन्दी भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया था। हुमायूँ और अकबर के दरबारों में इनका सम्मानित होना तो निर्विवाद है ही, कुछ लोग इनका बाबर की राजसभा में प्रतिष्ठित होना भी स्वीकृत करते हैं। वयोवृद्ध नरहरि अकबर के अत्यन्त विश्वसनीय तथा श्रद्धेय सभाकवि थे। ये भी सच्चे हृदय से सम्राट् की हितकामना और पथ प्रदर्शन करते थे। अकबर इनके चरित्र और गुणवत्ता पर इतना मुग्ध था कि उसने केवल इन्हें ही महापात्र की उपाधि दी थी और अनेक गांव आदि भी प्रदान किये थे। परवर्ती कवि गणेश के कथनानुसार तो अकबर ने इनकी पालकी की कंधा भी दिया था—

“भनत गणेश महापात्र की खिताब बं कं
पालकी जगाय लं अकबर कंधाते हैं।”

नरहरि के तीन (कुछ विद्वानों के अनुसार चार) पुत्र थे और एक पुत्री। इनके ज्येष्ठ पुत्र हरिनाथ के वंशजों में आजकल वृजेश जी और लाल जी प्रसिद्ध और सम्मानित कवि हैं। नरहरि का स्वर्गवास सं० १६६७ में असनी में हुआ।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों ने नरहरि की तीन कृतियों—रुक्मिणी-मंगल, छप्पय नीति, कवित्त संग्रह का उल्लेख किया है।^१ इनमें से रुक्मिणी मंगल ही १५ पृष्ठ की, दोहा-चौपाई में लिखी, व्यवस्थित रचना है; शेष दोनों ग्रन्थ-रूप में उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतः इनके फुटकल छप्पयों और कवित्त-सवैयाओं के सग्रहों के उपर्युक्त नाम रख दिए गये हैं। नरहरि की फुटकल रचनाएं नागरी प्रचारिणी सभा काशी के एक हस्तलिखित संग्रह-ग्रन्थ^२ में संगृहीत हैं। इस संग्रह में नरहरि की कविता

१. डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल : अकबरी दरबार के हिन्दी कवि (लखनऊ, सं० २००७)

पृष्ठ ७५

२. मिश्रबंधुविनोद, भाग १, पृष्ठ २५७

३. संख्या १२६।६२, संग्रहीता लाल; लिपिकाल सं० १७२१

“बादु” (मुकदमा) से आरम्भ होती है। वादों के अतिरिक्त नरहरि के १२३ छन्दों में ६० छप्पय, ४० सवैये, १२ दोहे, ५ कुंडलियां, ४ कवित्त और दो सोरठे हैं। रुक्मिणी मंगल का विषय रुक्मिणी-कृष्ण का विवाह है; वादों का विषय केवल नीति है; शेष स्फुट छन्दों में आधे के लगभग राजप्रशस्तियाँ, भवित, बारहमासा, शकुन, शृंगारादि हैं और आधे के लगभग पद्य नीति के हैं। इस प्रकार नरहरि के लगभग एक सौ नीति-पद्य ही हमारे आलोच्य हैं।

“बादु”

नरहरि के पाँच ‘बादु’ प्राप्त हुए हैं—बादु लोहे सोने का, बादु तेल तंबोल का, बादु मंगन दानि का, बादु नेन कान का, लज्जा और भूख। इन वादों में से केवल एक वाद—“बादु मंगनदानि का”—का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्यों से है। शेष का अचेतन पदार्थों से। नरहरि दरबारी कवि थे और वादी ‘तिवादी’ या मुकदमेबाज लोग अपने-अपने भगड़े लेकर राज-दरबारों में जाया करते थे। वहीं से नरहरि जी को भी वाद-रूप में रचना करने की सूझी और उन्होंने लोकहितार्थ विवध वादों को अपने काव्य का विषय बना डाला। लक्ष्य करने की बात यह है कि वादों के अन्त में कवि वादी-प्रतिवादीको नृप-विशेष की सभा में जा निपटारा करने का परामर्श देता है। इस प्रकार कवि अपने आश्रयदाताओं की न्यायप्रियता की घोषणा कर, उनके नाम अमर कर देता है। “बादु लोहे सोने का” की रचना ‘छत्रपति साहि सलेम’ को लक्ष्य कर की गई थी।

यह सलीमशाह (इस्लामशाह) शेरशाह सूरी का उत्तराधिकारी तथा नरहरि का संमानकर्ता था। इस वाद में कुल १३ छन्द हैं—आरम्भ में एक दोहा और शेष सब छप्पय। राजाओं का काम सुवर्ण और लोह दोनों से पड़ता है। सुवर्ण से उनका क्रोध प्रपूर्ण होता है और आयस शस्त्रास्त्रों से विजय-प्राप्ति के द्वारा क्रोध और यश की वृद्धि होती है। इसलिए दोनों अपना महत्त्व दूसरे से बड़ा बताते हैं। सुवर्ण अपनी तेजस्विता, सुरूपाता, श्रीवर्द्धकता और कर्म-धर्मसाधकता का बखान करता है तो लोहा अपनी दुर्गभंजन-शक्ति, बलवत्ता, कीर्तिवर्द्धन-क्षमता आदि का। दोनों ही एक-दूसरे की युक्तियों का रोचक ढंग से खण्डन और अपने श्रेष्ठत्व का ऐतिहासिक तथ्यों से गण्डन करते हैं। संवाद बहुत आजस्वी हैं; जैसे—

(क) हौं अपुबल तोहि गहउं सरन रखौत रयनि दिन।

भंजन गहन समरथ न कोई सरहि औ सार दिन ॥

तुं होहि जाहि दिन पंच करहिनुषु सुनि सुदमति।

जेहि छंडो सब स्यार, जेहि घाउ सो छत्रपति ॥

इमि कहइ लोह कंचन सुनिहि, कनो अघनि उदिम भवन।

रहु भरम भंजि नरहरि निरधि सो मोहि सनमुख बोले कवन ॥^१

१. “अकबरी दरबार के हिन्दी कवि”, पृष्ठ ३१०।२ । पद्य में “पंचकरहिनुषु” के स्थान पर “पंच करहिनुषु” पाठ उचित प्रतीत होता है।

(ख) हौ सब विधि सुभ करन हरन मनु मोहि ते सब रस ।
 जाति जिवन धन धर्म कनौ जग कुगुति अप्पुबस ।
 मोहि बिछुरत बन वसेउ सूर पंडित जे पण्डु सुत ।
 कहु उद्दिम किन्ह किएउ तब जो तुम्ह तिन के हरय हुत ।
 सो मन सुवनं निज नाउं, मोहि लोह न सरवरि किज्जघं ।
 सरहि न अपुन “नरहरि” निरधि मोहि कारन सब दिज्जघं ॥^१

“बाद तेल तंबोल का” की रचना कवि-कौतुक तथा लोक-रंजन के लिए की गई है—

अपु सरूप सजि भगगरहि एक तंबोल घर तेल्लु ।

अपति अकबर साहि सुनि सो कवि कौतुक छिति बेल ॥^२

उक्त प्रारम्भिक दोहे के अनन्तर इस में कुल ७ छन्दय हैं। तेल अपना उत्तम नाम “स्नेह” बताता है और अपनी रोगनाशकता, खाद्यों में उपयोगिता, नर, देव और असुरों के गृहों के प्रकाशन की क्षमता आदि अनेक गुणों का सदपं बखान करता है तथा पान को निरर्थक कहता है। इसके विरुद्ध पान देव, नर, पितरों के कार्यार्थ अपनी उपयोगिता, शृंगार-साधनता, उपाधि-रूपता तथा सुन्दर रंगत का उल्लेख करता हुआ तेल को पितरों को कोल्हू में पेलवाने वाला नुशंस कहता है। दीर्घकालीन विवाद के बाद नरहरि उन्हें अकबर से न्याय करवाने तथा उसके निर्णय को शिरोधार्य करने का उपदेश देता है।

“बादु मंगन दानि का” की रचना रीवा-नरेश बघेल राजा रामचन्द्र की न्याय-शीलता की ख्याति के लिए की गई है। याचकता की निन्दा तथा वदान्यता की प्रशंसा संस्कृत-कवियों का प्रिय वर्णविषय रहा है। १० पद्यों की इस लघु-काव्य कृति में याचक और दानी का विवाद है। दानी याचक की तुच्छता का बड़ा सजीव और मार्मिक चित्रण करता है। परन्तु याचक भी याचना का समर्थन करता है। वह कहता है कि जगत् में सभी किसी-न-किसी रूप में याचक हैं यहाँ तक कि देव-पितर भी याचक हैं। दानियों को अमर और यशस्वी बनाने में भी याचक ही साधन हैं। दोनों पक्षों की युक्ति-प्रतियुक्तियों को पढ़कर दानी का पलड़ा हो भारी प्रतीत होता है। याचक की प्रशंसा निम्नलिखित पद्य में द्रष्टव्य है—

(क) जइ जे भोष लघु कहहि भोष देह जाति पाति बर ।

जब सानेउ दिज्जिये भोष मांगहि नृपति नर ।

स्वस्ति बोलि तुव पिता ब्याहि बुलहिन घरि दानिय ।

भोषहुं ते सुते भएउ भोष केहि भाति ब्यानिय ।

बित्त बहहि भीष देव पितर न कोउ भीष तेहि उदरे ।

पुजिअं विप्र सोइ भीष रत जो तीन भुवन तोरे तरे ॥^१

इस वाद में संस्कृत के नीतिकाव्य का प्रभाव सर्वाधिक लक्षित होता है और मर्मस्पृक् भी सर्वाधिक यही है। संस्कृत नीति के समान विष्णु, बलि, शिवि, कर्ण आदि के उपाख्यानों के निर्देश इसमें विद्यमान हैं और भिखारी को तृण और तूल से भी हलका कहकर याचना के भय से ही वायु का उसे न उड़ाना भी उल्लिखित है।^२

“वाद नैन कान का” भी उपयुक्त छत्रपति रामचन्द्र को ही सम्बोधित करके रचा गया है। नयन अपने पक्ष के समर्थन में कहते हैं—‘हमारे ही कारण हरि का नाम कमलनयन है। हम ही मनुष्य के सौन्दर्य वर्द्धक तथा सम-विषम मार्ग के प्रदर्शक हैं। हमारे बिना तो मनुष्य चल-फिर और खा-पी भी नहीं सकता। संसार मनुष्य के लिए अन्धकारमय हो जाता है और उसकी दशा घृतराष्ट्र के तुल्य हो जाती है। परन्तु श्रोत्र भी नेत्रों से दबने वाले नहीं हैं। वे निज गौरव-स्थापनार्थ निम्नांकित युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं—

स्त्रवन सुनिय हरि भगति सुनत समुझि यस धर्म प्रति ।

सुनत मुकुति पद लहिय सुनत ह्वं सुद्रिड सुदमति ।

सुनत परिछित तरेउ सुनत उपजत अनंत सुष ।

सुनि-सुनि वेद पुरान केहु न परिहरेउ विष बुष ।

एहि अत्य स्त्रवन पहिरिय कब अजहु स्याम किजिय नयन ।

विषि देवित पहि परषनु धनिय निजु नरहरि बोल्लहि बयन ॥^३

पर-दार और परद्रव्य पर कुदृष्टि डालने के कारण ही नयन अंजन-कलुषित किए जाते हैं और पुण्य-जनक धर्म-कथाएँ आदि सुनने के कारण कर्ण सुवर्णाभरण धारण करते हैं—कितनी कमनीय कल्पना है ! आरम्भिक दोहे के अनन्तर दोनों ने बारी-बारी से कुल ४ छप्पय कहे और अन्तिम छप्पय में नृप रामचन्द्र ने दोनों को समान बोधित कर विवाद शान्त कर दिया।

“लज्जा और भूष” वस्तुतः “वादु” नहीं है। कवि ही अपनी और से केवल एक ही कुंडलिया में दोनों का विवाद यों वर्णित कर देता है—

लज्जा कहे न मंगिऐ, भूष कहे तू मंगु ।

इह भगरो अति कठिन हे, नरहरि बने न संगु ॥

नरहरि बने न संगु, मंगु नाहीं ऐहि भीतन

साज रहे खुप क्याइ भूष आतुर अतिइ तन ।

१, अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ३१४।७१

२, “ ३१३।७२; ३१४।७४

३, “ ३१६।३

जहाँ गयो इह न्याउ सुनत सो भूपति भज्या ।

कवलनेन जगदीस, करो, जैसे रहे सज्या ॥^१

वस्तुतः कोई मनुष्य किसी से कुछ माँगना नहीं चाहता परन्तु दुष्पूरा उदर-दरी उसे याचना करने पर विवश कर देती है। ऐसी दशा में माँगना न्याय्य है या नहीं, यह निर्णय करना किसी नरपति के लिए असम्भव है। अतः कवि प्रभु से ही इसका निपटारा ऐसे ढंग से करने की प्रार्थना करता है जिससे कि लाज बच जाए।

वैयक्तिक नीति

वादों के अतिरिक्त जो नीति-विषयक कविता नरहरि ने की है, उसका सम्बन्ध जीवन के सभी क्षेत्रों से है। अधिकतर व्यक्ति, विशेषतः नरेश, यौवन-मद में अनीति-पथ पर अग्रसर होते रहते हैं और वार्धक्य में अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप करते हैं। नरहरि उन्हें समय पर सचेत करने को कहते हैं—

पर प्रपंच पर दवं पर स्त्री निमु विन फिरत रहत निजु नत्ते ।

अप्पट बाग लप्पटि बात निप्पटि अरसि करत निज नत्ते ॥

नरहरि हसत भ्रुकुत बर बोल्लत गावत जौवन अषर धरि दत्ते ।

तव ते सनुभि सकुचि बिरधप्पन किए ते काज जौवन मद मत्ते ॥^२

वैयक्तिक गुणों में से नरहरि ने हरिभक्ति, सत्य और साहस पर विशेष बल दिया है। भक्तिकालान्तर्वर्ती होने से उग्र रंग से अस्पृष्ट रहना तो असम्भव-सा ही था। प्रतिज्ञापालन और पराक्रम की जितनी आवश्यकता शासकों को होती है, वह स्वयं सिद्ध ही है। सम्भवतः राजदरवारी होने के कारण ही इन गुणों के लिए अधिक आग्रह किया गया है—

बित के घटे घटनु नाहि नर, साहस सत्य घटे घटि जंऐ ॥^३

पारिवारिक नीति

पारिवारिक नीति के क्षेत्र में नरहरि ने कोई नई बात नहीं कही, भक्त-कवियों का ही अनुसरण किया है। पुत्र, कलत्र, भाई और सज्जन, जिनके कारण मनुष्य मारा-मारा फिरता है, अपने नहीं हैं। महाप्रयाण के समय मनुष्य हाथ मलता चलता है, कोई पांच पग भी तो साथ नहीं देता—

नरहरि पान प्रयान करतंहु गोनत कोन पंच पथ सथ्य ॥^४

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ३१७।७

२. " ३२६।४५

३. " ३२४।३३

४. " पृष्ठ, ३२६।६१

सामाजिक नीति

नरहरि का जीवन राजाओं तथा सम्राटों के संसर्ग में व्यतीत हुआ था । इस-
लिए उन्होंने कुलीनों की सहज श्रेष्ठता का उल्लेख इस प्रकार किया है—

को सिखवत कुल बधून साज गृह कज रंग रति ।

को हंसनि सिखवत करत पय पानि भिन्न गति ॥

कं सिंहन को सिखवत हनत गज वाजि ततच्छन ।

कं सज्जन सेवकएउ बस गुरु बस सुलच्छन ॥

बिधि रचेउ जानि नरहरि निरखि कुल सुभाउ नहि मिट्टेव ।

गुन धर्म धकबबर साहि कह कहहु सो को नर सिखवे ॥^१

वीर-काव्यों के कवियों के समान, संकट में स्वामी का साथ छोड़ जाने वाले
सेवकों को नरहरि ने भाड़े हाथों लिया है^२ । इन्होंने अपने पक्षों में निन्दाजनक कार्यों से
बचने का इस प्रकार उल्लेख किया है—

नारि सो धिक्कु जौहि पुरुष न रिम्मे, पुरुष सो धिक्कु जीवन अपकारी ।

बचन सो धिक्कु जो बोलि पलटिय, दानि सो धिक्कु जो करकस भारी ॥

प्रभु सो धिक्कु जो कृत गुन मेढत, जथा सकति बोललत कहि गारी ।

नर सो धिक्कु जीवन धिक्कु नरहरि, जिन केवल हरि भक्ति विसारी ॥^३

इन्होंने सामाजिक नीति में यश-प्राप्ति को परमावश्यक कहा है और प्रत्येक
सम्भव उपाय से उसकी रक्षा करने की प्रेरणा की है ।^४ “मित्र की कसीटी विपत्”
का भाव भी इन के काव्य में दृष्टिगत होता है ।^५

आर्थिक नीति के क्षेत्र में नरहरि ने धन की चपलता का उल्लेख किया है
और परद्रव्य पर दृष्टि रखने को गहन कहा है । इन्होंने धन की अपेक्षा सत्य, साहस
आदि गुणों को अधिक महत्व दिया है । वैसे तो याचकता की इन्होंने निन्दा ही की
है परन्तु मांगना ही पड़े तो सुदाता और कुदाता में विवेक करने की प्रेरणा इन
शब्दों में की है—

नरहरि दानि दरिद्र बस, तऊ सो मंगन जोग ।

जो सलिता जस सूचिगो, कुधा बने सब तोष ।

नरहरि कूप न मांगिऐ, जेपे दुखित तन होन ।

बैहै दानु कुबोल कहि, जर उपर जस लोन ॥^६

१. धकबरी बरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ७१

२. " " " ३२२। २१

३. " " " ३२२। २२

४. " " " ३३२। १२६

५. " " " ३२८। ५७

६. " " " ३२३। २६; ३२४। ३०

इतरप्राणविषयक नीति

प्राणि-विषयक नीति के सम्बन्ध में नरहरि ने अधिक नहीं लिखा, परन्तु गो-हत्या को वे सहन न कर सकते थे। कहते हैं, एक बार एक गो कसाई से रस्सी छुड़ा इनके घर में आ घुसी। शरणागतरक्षा स्व-कर्तव्य जान कर इन्होंने उसे कसाई को न देकर उसके गले में निम्नलिखित पद्य बांध कर फरियादियों की पंक्ति में खड़ा कर दिया—

अरिहृ बंत तिनु बरै ताहि नहि मारि सकत कोइ ।
हम संतत तिनु बरहि वचन उचरहि महि दीन होइ ॥
अमरित पय नित खरहि वच्छ मणि धंमन जावहि ।
हिबुहि मधुर न बेहि कटुक तुरकिहि न पियावहि ॥
कह कबि नरहरि अकबर सुनो, बिनबति गड जोरे करन ।
अपराध कोन मोहि मारियत मुएहु चाम सेवइ चरन ॥^१

अकबर पर नरहरि के इस छप्पय का इतना प्रभाव पड़ा कि उसने साम्राज्य में गोहत्याओं के लिए प्राणदण्ड का आदेश दे दिया।^२

मिश्रित नीति

नरहरि का शकुनों में पूर्ण विश्वास था। इसलिए विभिन्न कार्य करने समय इन्होंने कुत्ता, चील, गीदड़, उल्लू, श्यामा, तीतर, मोर आदि पशु-पक्षियों के दिशा-विशेष में दर्शन का फल शुभ या अशुभ माना है।^३

इन्होंने राजसभासद् होने के कारण, राज-कर्तव्य सम्बन्धी अनेक पद्यों की रचना की। इनके मत में राजा को माली के तुल्य, प्रजा का प्रेम-पूर्वक पालन-पोषण के अनन्तर ही, फल की प्राप्ति करनी चाहिए।^४ संसार की सब वस्तुओं की मङ्गल-रता^५ तथा भाग्य की अमिट देखा पर इन्हें पूर्ण विश्वास है। समाज में पाई जाने वाली कुरीतियों, विषमताओं तथा अनाचरण के लिए ये व्यक्ति को दोषी न ठहरा कर, परम्परा के अनुसार, कलियुग को ही उत्तरदायी ठहराते हैं जो अपने मनोविनो-दायक लोक से उच्छृङ्खल आचरण करवाता है।^६

१. अकबरी बरबारी के हिन्दी कवि, पृष्ठ ३३३। १२७

२. " ३३३। १३०

३. " ३२८। ८८-८९; ३२९। ९०

४. " २३७। २

५. वही पृष्ठ ३२३। २७

६. वही पृष्ठ ३२२। १९

समीक्षा

नरहरि के नीति-छप्पयों के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि वे भक्तर को लक्ष्य कर के रचे गये थे। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इनके कुछ वाद भक्तर को लक्ष्य कर लिखे गये हैं और इनके कई फुटकल छप्पयों में भी 'छितपति भक्तर साह सुनों'^१ 'गुण धर्म भक्तर साह सुन,^२ आदि पद्यांश भी लक्षित होते हैं। इनसे स्पष्ट है कि नरहरि भक्तर के लिए अवश्य लिखा करते थे और दरबारी कवि के लिए ऐसा अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। फिर भी उक्त प्रवाद को पूर्णतः सत्य मानने में आपत्ति यह है कि अनेक छप्पयों में स्पष्टता जनता को सम्बोधित किया गया है। उनमें 'जन सुनो सकल नरहरि कहत,'^३ 'नर सुनो सकल नरहरि कहत'^४ आदि पद्यांश उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त जिन छप्पयों में भक्तर को प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित किया गया है, प्रायः उनके भी नैतिक सत्य राजा और प्रजा दोनों के लिए समान रूप से पथप्रदर्शक हैं। जैसे—

शठ सनेह जे करहि मान बेचहि जे सुम्भ कहं ।
पिय बियोग मुख चंहहि सांकरे तजहि स्वामि कहं ।
नृपति मित्र कर गर्नहि खेल गुजन संग खेलहि ।
मनु बंधहि पर रमनि सर्प मुख अंगुल मेलहि ॥
बुझहि ते समय नरहरि निरखि जइ प्रागे विस्तरहि गुनु ।
पछिताहि ते नरहरि भक्ति विन सु छितपति भक्तरशाह सुनु ॥^५

यद्यपि नरहरि ने परदार, परधन, तन-धन-यौवन की चंचलता, विविध भूखं, सहज बैरी, भक्ति, मित्रता, कलियुग आदि ऐसे नीति-विषयों पर भी काव्यरचना की है जो प्रायः नीतिकाव्य में वर्णित होते हैं, तथापि इनकी विशेषता उपर्युक्त विनोदमय तथा तर्कपूर्ण वाद-रचना और साहस, यश, स्वामि-भक्ति, रोजोचित व्यवहार आदि के वर्णन में हैं। प्रायः नीतिकवि धन के महत्त्व पर पर्याप्त लिखते हैं परन्तु न इन्हें और न इनके आश्रयदाताओं को कभी धन की कमी रही, इसलिए इस विषय में ये वाच्य-यम से ही प्रतीत होते हैं। ऊँचे कुलों के व्यक्तियों से प्रायः सम्पर्क में आने के कारण उनके जन्मजात उत्कृष्ट गुणों का उल्लेख भी इन्होंने विशेष रूप से किया है।^६

नरहरि ने हमार्यु, शेरशाह आदि शासकों के भाग्य के उतार-चढ़ाव अपनी प्राज्ञों से देखे थे और संसार के ऊँच नीच का भी इन्हें पर्याप्त अनुभव था, अतः इनकी नीति-कृति में पढ़ी-पढ़ाई तथा सुनी-सुनाई बातों की अपेक्षा निजी अनुभवों की मात्रा बहुत अधिक है। फिर भी ग्रन्थोक्तियों तथा अन्य कई पद्यों में संस्कृत के नीतिकाव्य

१. कविताकौमुदी, प्रथम भाग, पाठवां संस्करण, पृष्ठ २३६। १

२-५. वही पृष्ठ २४०।४, २४१।६, २४१।८, २४७।३

६. कविता कौमुदी, प्रथम भाग, पृ० २४०।३, २४१।७

का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। जैसे—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।

अक्षीणः वित्ततः क्षीणः, वृत्ततस्तु हतो हतः ॥^१

वित्त के घटे घटत नहीं नर, साहस सत्य घटे घटि जाएँ ।^२

कहना अनावश्यक होगा कि नरहरि ने महाभारत के 'वृत्त' के स्थान पर 'साहस' और 'सत्य' कर दिया है (और वे भी वृत्त के अंग ही हैं), शेष भाव ज्यों-का-त्यों है।

रस-परिपाक की दृष्टि से नरहरि का नितिकाव्य विशेष महत्त्वशाली नहीं है। इसके अध्ययन-काल में पाठक के मन में उत्साह, साहस, धृति, मति, शंका, दया, हास, निर्वेद आदि कई भाव अवश्य स्फुरित होते हैं परन्तु अन्य उपकरणों के अभाव में वे रस-दशा तक न पहुँचने के कारण पाठक को आनन्दविभोर करने में समर्थ नहीं होते।

नरहरि का अधिकतर नीतिकाव्य छप्पय छन्द में है और उसमें अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है। राज-दरबार में फ़ारसी का बोलबाला होने, अधिकतर नीति-पद्यों के अकबर के लिए लिखे जाने तथा जनता में भी शताब्दियों से फ़ारसी-अरबी के शब्दों का प्रचार हो चुकने के कारण इन्होंने साहि, पिताब, गाजी आदि अनेक विदेशी शब्दों का नि.संकोच प्रयोग किया है। संस्कृत और फ़ारसी के तत्सम शब्दों की अपेक्षा इनकी प्रवृत्ति तद्भवों की ओर अधिक दिखाई पड़ती है, जैसे—द्रव्य, कृपण नृप, परस्पर आदि के स्थान पर दवं, कृपिन, ब्रिय, परसपर और बरुन, सखी, खुदा आदि के स्थान पर बखत, सखी, खुदाय आदि शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इनकी भाषा में प्राकृत के समान द्वित्व शब्दों का बाहुल्य पाठक का ध्यान हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, जैसे—एकक, मित्त, कज्ज, सज्जहि, रिझ्झहि, भग्गरहि, बोल्लहि आदि। बुन्देली के उत्तम पुरुष एक वचन के सर्वनाम 'में' तथा राजस्थानी के लज्जा, भज्जा आदि प्रयोग भी नरहरि के काव्य में उपलब्ध होते हैं। मट्ट वंश में उत्पन्न होने तथा मुख्यतः राजाओं के लिए लिखने के कारण ही कदाचित् इन्होंने चंद आदि पूर्वजों के समान छप्पय और उनमें द्वित्व अक्षरों का प्रयोग अधिक किया है। नरहरि ने 'जरे उपर जस लोन' 'एक पंथ दुई काज,' 'संपमुख अंगुलि मेल्लहि' आदि मुहावरों और लोकोक्तियों से जगह-जगह अपनी भाषा को प्रभावक तथा भावव्यंजक भी बनाया है।

विधान की दृष्टि से नरहरि के 'वादु' तो निबन्धकाव्य के अन्तर्गत माने जा सकते हैं और शेष पद्य मुक्तक हैं। कवि द्वारा प्रयुक्त छन्दों का उल्लेख ऊपर कर ही चुके हैं। उनमें से नीति की उक्तियाँ छप्पय, कुँडलिया तथा दोहा छन्दों में कही गई हैं।

'वादों' में कवि ने रूपक-काव्य-शैली तथा संवाद-शैली का मिश्रण कर दिया

१. अष्ट्युतानन्द : व्याख्यान माला, पृ० ५१।५

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० २३८।३

है। इसके अतिरिक्त तथ्य-निरूपक, उपदेशात्मक, अन्यापदेशात्मक तथा शब्दावर्तक शैलियों में भी अनेक सूक्तियाँ कही गई हैं। कुछ इने-गिने पद्यों के सिवा नरहरि ने अलंकार-प्रयोग की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। अलंकार स्वभावतः आए तो प्रत्येक पद्य में हैं परन्तु ऐसे सहज रूपा में कि कविता पर लादे हुए प्रतीत नहीं होते। शब्दालंकारों में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक और अर्थालंकारों में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, एकावली^१ और आवांत्त-दीपक^२ कुछ अधिक हैं।

नरहरि के नीति-काव्य में प्रसाद, माधुर्य और भोज तीनों गुण यथास्थान पाये जाते हैं परन्तु भोज की अपेक्षा प्रसाद और माधुर्य का प्राचुर्य लक्षित होता है।

नरहरि और रहीम के निम्नलिखित दोहों में भाव और भाषा का साम्य इतना अधिक है कि इन्हें दो कवियों की कृतियाँ मानना कठिन है। सम्भवतः रहीम ने नरहरि के दोहे को कुछ आधुनिक रूपा दिया है—

‘नरहरि’ दानि दरिद्र बस तऊ सो मांगन जोग।

जो सलित जल सूषिगो कुप्रां बने सब लोग ॥^३

‘रहीमन’ दानि दरिद्र तर, तऊ जांचवे योग।

उप्रां सरितन सूखा परे, कुप्रां खनावत लोग ॥^४

सब मिलाकर कह सकते हैं कि बुद्धितत्त्व की प्रधानता तथा कल्पना-तत्त्व और भावतत्त्व की गहनता के कारण नरहरि का अधिकतर नीतिकाव्य सामान्य कोटि में ही रखा जाएगा।

२. राजा टोडरमल

टोडरमल खत्री का जन्म संवत् १५८० में हुआ था और निधन संवत् १६४६ में। पहले ये शेरशाह सूरी के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे परन्तु उस वंश के विध्वस्त हो जाने पर अकबर के भूमिकर विभाग के मन्त्री बने। इन्होंने अपनी कार्यकुशलता तथा युद्ध-कौशल के कारण अकबर से राजा की उपाधि तथा बंगाल की सूबेदारी प्राप्त की थी। राजकीय कामकाज में हिन्दी के स्थान पर फ़ारसी का प्रचलन इन्हीं ने कराया था। वर्तमान बही-खाना, हुण्डी आदि का ढंग इन्हीं ने प्रचलित किया था। इनका कोई नपुर्ण ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं होता, कुछ फुटकल कविता-संवेद्ये प्राचीन हस्तलिखित तथा नवीन प्रकाशित संग्रहों में देखने में आते हैं। प्राप्त पद्यों से अनुमान होना है कि नीति-काव्य की रचना तथा जैनधर्म में इनकी विशेष रुचि थी। कहते हैं व्यापारियों की सुविधा के लिए मुड़िया लिपि का प्रचार इन्होंने किया था।

१-१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ २३८। १, २३८। २

३. वही, पृ० ३२३-२४

४. सं० अजरसनवास : रहीम बिलास, (इलाहाबाद, १९८७ वि०), पृ० २१। २०२

इनके व्यापार-सम्बन्धी छन्द तो काव्य-क्षेत्र में परिगणित नहीं हो सकते परन्तु नीति-रचना अच्छी है। कुछ उदाहरण लीजिए—

मुंडा लिपि बेचनागरी अति कठिन, स्वरव्यंजन व्योहार।

ताते जग के हित सुगम, मुंड कियो प्रकार ॥^१

बही-खाता बाम जमा दच्छिन खरख सिर पेटा पर पेट।

ऊपर नाम धनी लिखे हस्ते पुन री डेट ॥^२

जार को बिचार कहा, गनिका को साज कहा,

गबहा को पान कहा, धांधरे को धारसी।

निर्गुली को गुण कहा, दान कहा दालित्री को,

सेवा कहा सूम की, धरंड की सो डार सी।

मछपी को सुचि कहा, सांच कहा संपटी को,

नीच को वचन कहा, स्यार की पुकार सी।

टोडर सुकवि ऐसे, हठी तैं न टार्यो टरे,

भाबें कहौ सूधी बात, भाबें कहौ फारसी ॥^३

टोडर मल के काव्य में हृदय-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का अभाव-सा है, बुद्धि-तत्त्व तथा अलंकार-चमत्कार की प्रधानता है। अतः इनका काव्य सामान्य कोटि में ही रखने योग्य है।

३. ब्रह्म (महेशदास, राजा बीरबल)

भट्ट ब्रह्मराज गंगादास के पुत्र महेशदास का जन्म कानपुर जिले के तिकवां पुर (त्रिविक्रमपुर) नामक गांव में सं० १५८५ के लगभग हुआ था। बड़े होने पर सम्भवतः 'भट्ट ब्राह्मण' में से इन्होंने अपना साहित्यिक उपनाम 'ब्रह्म' रख लिया और अकबर से 'बीरवर' की उपाधि प्राप्त की। अकबर के दरबार में आने से पूर्व ये काल्पी, कालिंजर और रीवा के राजाओं की सभाओं में रह चुके थे। ये अत्यंत वाक्-पटु तथा प्रत्युत्पन्न-मति थे। अपनी बुद्धिमत्ता के कारण ये नवरत्नों में सम्मिलित कर लिये गए। उत्तम कवि होने के कारण अकबर ने इन्हें 'कविराय' (मलिकुश्शोभरा) की उपाधि से सम्मानित किया। इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर अकबर ने इन्हें 'राजा' की उपाधि और, पंजाब में नगरकोट (जिला कांगड़ा) के पास, जागीर दी। संवत् १६४० में अकबर ने इनकी न्यायप्रियता पर रीअकर इन्हें न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया और दोहजारी से पंचहजारी बना दिया। अकबर द्वारा प्रवर्तित 'दीने

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ४५३

२. वही पृ० ४५३

३. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ५२

इलाही' के ये एक-मात्र हिन्दू सदस्य थे और अकबर के प्रियतम मित्र थे । स्वात के युद्ध में जब सेनापतियों से पारस्परिक द्वेष के कारण शुक्रवार, माघ सुदी १२, सं० १६४२ को इन का देहान्त हुआ तब अकबर ने दो दिन तक अनशन किया और उसके शोकांत हृदय से निम्नांकित दोहा निस्सृत हुआ—

बीन जान सब बीन, एक बुरायो दुसह बुल ।

सो अब हम को बीन, कुछ नाहि राख्यो बीरवर ॥

कहा जाता है, इन्होंने काल्पी के एक संमानित विप्रवंश की कन्या का पाणिग्रहण किया था । इन के ज्येष्ठ पुत्र का नाम लाला था और दूसरे का हरमराय । इन की कन्या इनके ही समान बुद्धिमती कही जाती है । बीरबल बल्लभसंप्रदायी और छीतस्वामी के यजमान थे ।

अकबर के सभा-कवि गंग ने बीरबल के गुणों पर अनेक पद्यों की रचना की है । कहा जाता है कि केशवदास के एक सर्वे पर प्रमन्न हो बीरवर ने उन्हें छः करोड़ की हुंडियां प्रदान कर दी थीं । इनका एक अन्य उल्लेख्य गुण है—वाग्वेदग्यपूर्ण विनोद-प्रियता । अकबर जैसे मितभाषी, गम्भीर तथा गौरवप्रिय शासक को भाइयों का परिहास तो रुचिकर हो ही न सकता था, बीरवर के सम्य शिष्ट विनोद ने अवश्य उसे आकर्षित कर लिया था । बाजार में बीरवर के नाम से प्रसिद्ध, छुटकलों की अनेक पुस्तकें प्राप्त हैं परन्तु सम्भवतः उनमें से कोई ही छुटकला उनका हो । हाँ, इस बात की सम्भावना है कि बीरवर ने कुछ समस्यापूर्ति के छन्दों की रचना अकबर के इच्छानुसार की हो ।

ब्रह्म की रचनाएँ—ब्रह्म के लगभग २०० स्फुट पद्य तो प्राप्त हुए हैं परन्तु ग्रंथ एक भी नहीं । उन से ज्ञात होता है कि ब्रह्म मुख्य रूप से शृंगारी तथा भक्त कवि थे, शुद्ध नीति के पद्य तो इने-गिने ही हैं । शृंगार के अन्तर्गत इन्होंने रूप-सौन्दर्य वर्णन, नायिका-निरूपण तथा प्रकृति-चित्रण किया है और भक्त होने के कारण मुरली-माधुरी, रामलीला, गोपी-विरह आदि का । गंगा-स्तुति, समस्यापूर्ति आदि पर भी इनके कुछ छन्द उपलब्ध होते हैं ।

वैयक्तिक नीति—पेट चिरकाल से नीतिकवियों का प्रिय विषय रहा है । 'ब्रह्म' ने भी जगत् को उदरपूर्ति के लिए विविध लीलाएं करते देख एकाधिक पद्यों की रचना की है । जैसे—

पेट ते आयो तु पेट को धावत हायों न हेरत घामर छाही ।

पेट दियो जिहि पेट भरे सोइ 'ब्रह्म' भनै तिहि ओर न जाहीं ।

पेट पयो सिल देतहि देत रे पापिउ पेटहि पेट समाहीं ।

पेट के काज फिरै विन राति सु पेटहु से परमेसर नाहीं ॥'

कबीर आदि अनेक भक्त कवियों ने जिस प्रकार उदर-पूर्ति की चिन्ता से भुक्ति का साधन प्रभु-विश्वास बताया है, उसी प्रकार, परन्तु कहीं सरस भाषा में, 'ब्रह्म' लोगों को चिन्ता-त्याग का उपदेश देते हैं—

जब दाँत न थे तब दूध दियो अब दाँत भए कहा अन्न न बँहै ।

जीव बसे हि जल में थिल में तिन की सुधि लेइ सो तेरिहु लँहै ॥

ज्ञान को वेत अज्ञान को बेत जहान को वेत सो 'तोहूँ' कूँ बँहै ।

काहे को सोच करेँ मन मूरख सोच करेँ कुछ हाथ न ऐहै ॥^१

'ब्रह्म' का उपयुक्त पद्य पिछले साढ़े तीन सौ वर्षों से असंख्य लोगों को धीरज प्रदान करता आया है और आज भी अनेक सुपठित-अपठित लोगों के कंठ से सुना जाता है। ब्रह्म ने नम्रता-धारण पर बहुत बल दिया और अनेक व्यक्तियों तथा पदार्थों में विद्यमान नम्रता की प्रशंसा करने के पश्चात् इस बात पर खेद प्रकट किया है कि सूखा काठ और अज्ञानी नर कभी नहीं झुकते ।^२

पारिवारिक नीति—'ब्रह्म' की पारिवारिक नीति भी भक्त कवियों जैसी ही है। वे उन के प्रति अपने कर्तव्यों के निर्वाह में आनन्द अनुभव नहीं करते, बल्कि यह समझते हैं कि मनुष्य उनके हाथ की गंद बन जाता है—

पति कोऊ कहै पित कोऊ कहै सुत कोऊ कहै तिहूँ ताप तयो हों ।

प्रभु कोऊ कहै जन कोऊ कहै सु कहो तुम ही तुम काहि बयो हों ।

'ब्रह्म' भनै जित ही कित ही तित ही तित हाथ की गंद भयो हों ।

पाली तिहारो कियो तुम ही इन बीच के लोगन बाँटि लियो हों ॥^३

सबे का उत्तराद्ध कितना अनुभूति-पूर्ण तथा मर्मस्पृक है, यह सहृदय ही अनुभव कर सकते हैं ।

सामाजिक नीति—जीव-दया वैष्णवधर्म का मुख्य अंग मानी जाती है। आज के समान सम्भवतः उन दिनों भी शाकाहारियों को वैष्णव माना जाता था, चाहे वे अन्य आवश्यक आध्यात्मिक गुणों से युक्त न भी हों। ब्रह्म ने अपनी चमत्कारी कल्पना के बल से कबाब खाने वालों को भी वैष्णव सिद्ध कर दिया है—

काम कबूतर तामस तीतर ज्ञान गुलिन मार गिराये ।

पाखंड के पर दूर किये अर मोह के अस्थि निकासि ठराये ॥

संजम काटि मसालो विचार को साधु समाज ते ताहि हिनारये ।

ब्रह्म हुतासन सेकि के बावरे वेणव होत कबाब के खाये ॥^४

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ३५४।६५

२. वही, पृष्ठ ३५४।६६

३. वही, पृष्ठ ३५७।८४

४. वही, पृष्ठ ३५८।६३

समाज में जो व्यक्ति अपना कर्तव्य-पालन नहीं करता वह, ब्रह्म के विचार में, 'समुद्र में डूबाने योग्य' है । 'बारहौ बांधि समुद्र में डारो' तथा 'बारहौ बांधि समुद्र में बोरो' आदि पर ब्रह्म-कृत समस्या-पूर्ति अवलोकनीय है—

पूत कपूत कुलच्छनि नारी लराक परोस लजाय न सारो ।

बन्धु कुबुद्धि पुरोहित लम्पट चाकर चोर अतीय धुतारो ॥

साहब सूस झराक तुरंग किसान कठोर दिवान नकारो ।

'ब्रह्म' भनं सुनु साह अकबर बारहो बांधि समुद्र में डारो ॥^१

परन्तु उपर्युक्त समुद्र में डूबाना भी समस्या-पूर्ति के लिए ही था । बीरबल यह बात भली भाँति जानते थे कि बुरी-से-बुरी वस्तु का भी उपयोग होता है । इसी-लिए उन्होंने अपनी निराली सूझ का परिचायक निम्नांकित कवित्त रचा—

टूटे पर ईल ताकी मिल्नी गुड कंद करो,

ताको लं प्रभाव देव देविन चढ़ाइये ।

फूट के कपास पत राखत है आलम की,

ताके होत बस्त्र (सब ?) कहाँ लो गिनाइये ।

सड़े जब सन ताके स्वेत धन कागज के

तापर कुरान औ पुरानह लिखाइये ॥

कहे कवि 'ब्रह्म' सुनो अकबर बादसाह

टूटे फूटे सड़े ताको या विधि सराहिये ॥^३

धार्मिक नीति—भक्त-व वियों तथा नरहरि के समान इन्होंने भी धन के महत्त्व का बखान नहीं किया, उलटा धनोपाजन में लीन लोगों की निन्दा ही की । परन्तु इस निन्दा का वास्तविक कारण धन के प्रति द्वेष न था, लोगों की ईश-विमुखता थी । 'सुबह होती है शाम होती है, उम्र योंही तमाम होती है' का हिन्दी-रूपान्तर ब्रह्म के अघो-वर्ती सर्वयें में देखा जा सकता है—

रैन दिना (बस ?) दाम सो कामु है, काहू सो लेकर काहू की बीबो ।

ब्रह्म भनं जगदीस न जाग्यो, न जानियो जी करि खें सगि जीबो ॥

भोर तें राति लों राति तें भोर लों, कालि कियो सु तो बाज हो कीबो ।

खाइबो सोइबो बार ही बार, खमार के खामहि ज्यों जल बीबो ॥^४

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति के क्षेत्र में ब्रह्म का काव्य भक्त कवियों का-सा ही है । यह संसार स्वप्नवत् जंजाल है, इस से जितनी शीघ्र मुक्ति मिले अच्छा है, प्रभु का

१. बहो, पृष्ठ ३५६।७६

२. कविता कीमुदी, प्रथम भाग, पृ० २६५।४

३. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ३५६।७८

४. बहो पृ० ३५७।८३

सवा स्मरण-रचना चाहिए आदि। भाष के समान विभिन्न मनुष्यों की ऊँच-नीच दशाः का कारण स्वार्थी पूँजीपति या विविध यंत्र आदि नहीं कहे गये, प्राचीन कवियों के समान पूर्वकृत स्व-कर्मों को ही उसका कारण कहा गया है। जैसे—

इक धर्म की छाँह बिनोब करै, इक धान के काज फिरँ खु बुझारी।

एक श्रिया बहु पुत्र रमै एक छोटी सों कंत बन्नी बहो नारी॥

एक बंजल तेज तुरंग बड़े, इक मागत भोल फिरँ खु बुझारी।

‘ब्रह्म’ भनै गिर मेघ टरै पर कर्म की रेख टरै नाँह टारी॥^१

‘ब्रह्म’ का नीतिकाव्य उपदेशात्मक और भक्तिप्रवण है। वे नीति-विषयक बात करते हुए भक्ति को विस्मृत नहीं कर सकते। प्रवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा उनके नीति-काव्य में निवृत्ति-मार्ग ही प्रबल दिखाई देता है। यथायोग्य व्यवहार या वास्तविक नीति इन के छन्दों में दुर्लभ है। इनके नीतिकाव्य में भक्ति तथा शान्त-रस की अच्छी व्यंजना हुई है। भाषा साकू-सुधरी ब्रज है। कवित्त, सर्वया आदि छन्दों में नीतिकाव्य का प्रणयन किया गया है प्रायः उपदेशात्मक, तथ्यनिरूपक तथा समस्यापूर्त्यात्मक शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं। सब नीति-रचना मुक्तक छन्दों में है। अलंकारों का सुप्रयोग इन की विशेषता है। नवनव उपमाओं से काव्यकलेवर को अलंकृत करने के लिए तो ये विख्यात हैं ही—

उत्तम पद कवि गंग के उपमा में बलबीर।

कैलाश अर्थ गम्भीरता, सूर तीन गुन धीर॥^२

निम्नांकित पद्यांशों से इन की अलंकार प्रयोग की कुशलता समर्थित होती है—

जात चलयो ठहरात न नेकु घूर बचूरे को पात भयो हों।^३ (लुप्तोपमा)

झाड़बो सोड़बो बार ही बार चमार के खामहि ज्यों जल पीबो।^४ (उपमा)

ऐते पर मन मान्यो जान्यो न जगतपति,

अंधकूप ओंधो परयो हाथ लिए द्वे बिया॥^५ (अनुप्रास, लोकोक्ति)

‘ब्रह्म’ हुतासन सेकि के बावरे, वंनव होत कबाब के खाए॥^६

(रूपक, विरोधाभास)

इन के नीति-काव्य में अंश का अभाव-सा है परन्तु माधुर्य तथा प्रसाद कूट-

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ३५४।६४

२. वही, पृष्ठ १५५

३. वही, पृष्ठ ३५८।१०

४. वही, पृष्ठ ३५७।८३

५. वही, पृष्ठ ३५८।११

६. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ३५८।१३

फूट कर भरे हुए हैं। इन के कुछ ही पद्यों में अकबर को सम्बोधित किया गया है, परन्तु शेष पद्य सामान्य रूप में ही कहे गये हैं। सार यह है कि ब्रह्मा ने अपने अनुभव के आधार पर कुछ नवीन विषयों पर भी रचना की है और जो कुछ प्राचीन विषयों पर लिखा है वह भी हृदयहारी है। इस प्रकार मात्रा में अत्यल्प होता हुआ भी ब्रह्मा का नीतिकाम्य गुरुदृष्टया प्रशंसनीय है, 'कविराज' उपाधि को सार्थक करने वाला है।

४. गंग

महृद् ब्राह्मण गंग कवि का पूरा नाम गंगाधर या गंगाप्रसाद कहा जाता है। इनका जन्म इटावा जिले के इन्दीर ग्राम में संवत् १५६५ के लगभग हुआ था। सं० १६२७ में गंग ने 'चंद छन्द बरनन की महिमा' अकबर को सुनाई थी। काव्य-प्रेमी अकबर की दो हुई समस्याओं की पूर्ति तथा अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा गंग शीघ्र ही अकबर, रहीम, बीरबर आदि के सम्मान्य बन गये। कहते हैं, निम्न-लिखित छप्पय से प्रसन्न होकर रहीम ने इन्हें छत्तीस लाख का पुरस्कार दिया था—

अकित भंवर रह गयो गमन नहि करत कमल वन ।
अहि फनि मनि नहि लेत तेज नहीं बहुत पवन धन ॥
हंस मानसर तज्यो सबक सबकी न मिले अति ।
बहु सुन्दरि पदमनि पुरुष न चहैं त करैं रति ॥
खलमलित सेस कवि गंग भनि, अमित तेज रवि-रथ लख्यो ।
खामानखान बरम सुवन जबहि कोष करि तंग कस्यो ॥^१

परवर्ती कवि खूबचन्द ने उक्त पारितोषिक का उल्लेख प्रसंगवश अपनी कविता में किया है—

‘छप्पे पै छत्तीस लाख गंगे खान खाना दियो’ ।^२

गंग का सुख-सम्मान स्थिर न रहा। ‘चार दिन की चांदनी और फिर अँधेरी रात’ वाली बात जहाँगीर के शासनकास में इन पर बीती और इन्हें विवश हो हृदय की वेदना इस कवित्त में व्यक्त करनी पड़ी—

एक दिन ऐसो आये शिबका हू गब-बाजि रहै,
एक दिन ऐसो जा मे सोयबो को सहसो ।
एक दिन ऐसो जा मे गिलम गलीबा लागे,
एक दिन ऐसो जा मे तामे को न पयसो ॥

१. कविता कोमुबो, पहला भाग, पृष्ठ ३२७

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ११६

एक दिन ऐसो जा मे राजन सो प्रीति होत,
 एक दिन ऐसो जा मे दुश्मन को बहसो ।
 कहे कवि गंग नर मन में विचार देख
 आज दिन ऐसो जात काल दिन कै-असो ॥^१

एक बार नहीं अनेक बार कवि को अपने जीवन में उतार-चढ़ाव देखने पड़े थे और उनका सजीव वर्णन कवि ने अनेक पद्यों में किया है ।^२ जब गंग ६७ वर्ष के थे तब जहाँगीर सिंहासनारूढ़ हुआ । आरम्भ में जहाँगीर की प्रशंसा में भी गंग ने सुन्दर पद्य लिखे परन्तु जब जहाँगीर नूरजहाँ के हाथों की कठपुतली बन गया और राजकीय व्यवस्था बिगड़ने लगी तब अनेक प्रतिभाशाली दरबारियों के समान गंग का झुकाव भी शाहजादा खुर्रम की ओर हो गया । गंग ने कभी नूरजहाँ का गुणगान न किया था, यह भी सम्राज्ञी का अपमान सा ही था । इस प्रकार नूरजहाँ, शाहजहाँ के प्रेमियों से रुष्ट ही थी कि गंग के वध एक अन्य कारण आ उपस्थित हुआ । नूरजहाँ के एक सम्बन्धी जैन खाँ ने गंग के ग्राम-इकनौर के ब्राह्मणों की नृशंसा-पूर्वक हत्या कर डाली । गंग ने इस तथा अन्य क्रूर-कृत्यों की कड़ी आलोचना की । नूरजहाँ जल-भुन गई और उसकी उत्तेजना से जहाँगीर ने गंग को गज में कुचनवाने का आदेश दे दिया । रहीम ने गंग को बचाने के लिए अनुनय-विनय की परन्तु व्यर्थ । जब जल्लादों ने गंग को मस्त हाथियों के समक्ष ला खड़ा किया तब सन्तवादी और निर्भीक गंग ने यह दोहा पढ़ कर प्राण दे दिये—

कवहु न भडुआ रन चढ़े, कवहु न बाजी बंद ।

सकल सभाहि प्रनाम कर, विदा होत कवि गंग ॥^३

यह दुःखद घटना सं० १६८० के कुछ पूर्व हुई । नागरी-प्रचारिणी सभा की १९३२-३४ ई० की खोज रिपोर्ट में गंग की गंगपदावली, गंग पञ्चीसी और गंगरत्नावली नाम की तीन कृतियों का उल्लेख है । परन्तु 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' के अतिरिक्त गंग-कृत कोई संपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, ४०० के लगभग स्फुट पद्य ही मिलते हैं । गंग जैसे प्रतिभाशाली कवि ने लगभग साठ वर्षों (सं० १६२०-८०) के साहित्यिक जीवन में कई उत्तम ग्रंथ लिखे होंगे परन्तु आज वे, सम्भवतः नूरजहाँ के कारण, प्रकाश का मुख नहीं देख सके । शृंगार और भक्ति गंग की कविता के मुख्य क्षेत्र हैं तथा वीरत्व और नीति गीत । गंग ने नायिका, नखशिख, राम, कृष्ण आदि पर अधिक लिखा है और आश्रयदाताओं की वीरता, नीति, उपदेश आदि पर मूल्य ।

१. छकवरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ १२२

२. वही, पृष्ठ ४४९-४४३

३. वही, पृष्ठ १२२

वैयक्तिक नीति—गंग के नीति-काव्य का क्षेत्र खूब विस्तृत है। शारीरिक, पारिवारिक आदि प्रत्येक प्रकार की नीति पर इन्होंने सुन्दर काव्य-रचना की है। वैयक्तिक नीति के अन्तर्गत इन्होंने बाणी के सुप्रयोग पर बहुत बल दिया है और उसका कारण स्पष्ट है। राजसभाओं में जो धन-सम्पदा और मान-प्रतिष्ठा वैदग्ध्यपूर्ण उक्तियों से प्राप्त हो सकती थी, वह अन्य उपायों से नहीं। मनुष्य का मोल बाणी द्वारा तुरन्त जाँच लिया जाता है—

कहै कवि गंग सुनो साहिन के साहि सूरा,

आदमी को तोल एक बोल में विछानिए ॥^१

परन्तु कवियों को दुःख तो तब होता था जब श्रोता अपनी मूर्खता के कारण उनके अर्थगाम्भीर्य से परिचित न हो पाते थे। इसीलिए गंग को लिखना पड़ा कि मूढ़ के सम्मुख विद्या का प्रकाशन नीति विरुद्ध है—

कहै ते समझ नाहि समझाए समझे नाहि,

कवि लोग कहें काहि कं आवि सार सी।

काक को कपूर जैसे मरकट को भूषन जैसे,

ब्राह्मन को भबका जैसे मीर को बनारसी ॥

बहिरे के आगे तान गाए को सवार जैसे

हिजरे के आगे नारि लागति अंगार सी।

कहै 'कवि गंग' मन माहि तो विचार देखो

मूढ़ आगे विद्या जैसे अंध आगे धारसी ॥^२

संसार में, विशेषतः राजदरबार में, गुणों के कारण मनुष्य का मान होता है। इसलिए गंग ने गुणोपाजन पर विशेष बल दिया है।^३ गंग ने देखा कि मनुष्य उद्योग और अध्यवसाय से गुणी तो बन जाते हैं फिर भी उनके स्वभाव में अन्तूर नहीं आता। इसलिए उन्होंने स्वभाव के सम्बन्ध में यों कहा—

पावक को जल-बिन्दु निवारक सूरज ताप कूं छत्र लियो है।

व्याधि कूं बंद तुरंग को बाहुक चोपग कूं बख बंड दियो है।

हस्ति महामद को किय अंकुस भूत पिसाच कूं मंत्र कियो है।

छोखद है सब को सुखकारि स्वभाव को छोखद नाहि कियो है।^४

पारिवारिक नीति—धन के आधिक्य और साधनों की सुलभता के कारण प्रायः दरबारी लोग व्यभिचारी बन जाते हैं। पारिवारिक जीवन को विषमय बनाने वाली इस विषम कुटेव को मिटाने के लिए गंग कहते हैं—

१-२. एकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ४३३।६५, ४३३।६४

३.४. वही

"

पृष्ठ ४३४।१०२ ४३५।१११

बचल नारि सो प्रीति न कीजिए, प्रीति किए कुछ होत है भारी ।
काल परे कछु भ्रान बने कबु नारि की प्रीति है प्रेम कटारी ॥
लोहों के घाव दबा से मिटे पर चित्त की घाव न जाय बितारी ।
'गंग' कहै सुन साह अकबर, नारि की प्रीति संगार ते छारी ॥^१

पारिवारिक नीति के अन्तर्गत गंग ने पूट के दोषों का बहुत प्रभावी वर्णन किया है तथा बहिन के घर रहने वाले भाई और सास के घर में रहने वाले जमाई की बुराई की है ।

सामाजिक नीति—सामाजिक नीति में गंग ने दुर्जनों का स्वभाव, स्त्रियों की बचलता, मूल्य मित्र, याचक और दानी के बीच में हस्तक्षेप अनुचित, भ्रूत रमाने से कुकृत्यों का गोपन असम्भव आदि अनेक विषयों पर सुन्दर लिखा है । समाज में मनुष्य स्वार्थ-वश क्या-क्या करता है, इस बात का मार्मिक वर्णन गंग ने यों किया है—

गर्जहि अर्जुन दीप्य भये अरु गर्जहि गोविंद धेनु चराबे ।
गर्जहि द्रोपदी दासि भई अरु गर्जहि भीम रसोई पकावे ।
गर्ज बड़ो सब लोगन में अरु गर्ज बिना कोई घावे न जावे ।
'गंग' कहै सुन साह अकबर गर्ज से सीधी गुलाम रिभावे ॥^२

समाज में व्यक्तियों के चरित्र की पहचान के लिए गंग का निम्नांकित सबैया पर्याप्त सहायक हो सकता है—

नीति चले तो महीपति जानिये, भीर में जानिये सील धिया को ।
काम परे तब चाकर जानिए ठाकुर जानिए चूक किया को ।
पात्र तो बातन साहि पिछानिए, नेन में जानिए नेह तिया को ।
गंग कहै सुन साह अकबर हाथ में जानिए हेत हिया को ॥^३

प्रायः राजकर्मचारी कोई छोटा-मोटा पद पाकर भी ऐसे मदमत्त हो जाते हैं कि कदुनापण, निर्धनों की अवज्ञा, घूसखोरी, अन्याय, पिशुनता आदि दोषों में फँस जाते हैं । ऐसे लोगों को सावधान करने के लिए गंग कहते हैं—

रजो गुन कहत हैं बीमन कू जाने महीं,
ताते बोले बोल ताते तेल में म्हाएंगे ।
लाव लाव कहै कछु ग्याव की न बूझे बात,
बिगरसु ग्याव सो बड़ीय मार खाएंगे ॥
कहै कवि 'गंग' सोते जीव बुलवाई सब,
मोड़ मोड़ हाथ के बे फेरि पछतायेंगे ।

कहा ज्यों दिन बार नहीं के मुसही भये,
बही के करैया सब रही होय जायेंगे ।^१

धार्मिक नीति—धार्मिक नीति के अन्तर्गत गंग ने याचकता को बुरा ही नहीं,
संसार भर में सबसे बुरा काम कहा है—

बुरी प्रीति को पंथ बुरी जंगल को बासो,
बुरी नारि को मेह बुरी मूरख सो हाँसो ।
बुरी सूम की सेव बुरी भगनी घर भाई
बुरी नारी कुलज्य सास घर बुरी जमाई ॥
बुरी घेट पंचाल है बुरी सूर को भागनो ।
‘गंग’ कहै, अकबर सुनो, सबसे बुरो है भाँगनो ।^२

इस प्रकार याचक को बुरा कहने के अतिरिक्त इन्होंने कुपात्र को दान देने की भी बुराई की है ।^३

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति में कवि ने, उस देश को निवास के अयोग्य कहा है जिसमें चोर तथा साहू और खली तथा गुड़ में विवेक नहीं किया जाता ।^४ इन्होंने दान-पुण्य-हीन जीवन की सेमल से तुलना करते हुए उदारता-युक्त जीवन को ही सत् माना है ।^५

गंग के नीतिकाव्य पर एक दृष्टि

यह बात विचित्र-सी लगती है कि गंग के नीतिकाव्य में राजनीति की चर्चा न होने के बराबर है। नरहरि ने तो कहीं-कहीं नृपकृतव्यों का उल्लेख किया है परन्तु गंग इस विषय में मौनावलम्बी रहे हैं। कदाचित् इनकी राजनीति-विषयक कविता प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण लुप्त हो गई हो, इस बात पर भी निश्वास नहीं होता। जब इनके सामान्य नीतिविषयक बहुतेरे पत्र उपलब्ध हैं तो राजनीति-विषयक भी, अधिक न सही, कुछ तो उपलब्ध होने ही चाहिए। सम्भवतः इस क्षेत्र को इन्होंने नरहरि आदि के लिए ही छोड़ दिया और अपने को सामान्य नीति तक ही सीमित रखा। गंग ने एक कविता में विजया (भांग) की प्रबुर प्रशंसा की है और उसे पराक्रम तथा स्फूर्ति देने वाली कहा है—

नामरद लाय सो तो मरद से काम करे
महरी ओ लाय सो तो बाबे काम काज का ।
कहै कवि गंग गुन बेको विजया के ऐसे
बिड़िया जो लाय तो अयट पड़े बाज को ॥^६

१-४. बही, पृ० ४३५।११३, ४३५।१०६, ४३३।६७, ४३४।१०३

५. कविता कोमुदी, प्रथम भाग, पृ० ३२२

६. बही, अकबरी बारबार, पृ० ४४४।१६७

परन्तु यह कथन तथ्य-विपरीत प्रतीत होता है। यह तो सुना है कि भांग पीने पर भूख खूब चमक उठती है परन्तु उससे वीरता आदि की प्राप्ति की बात कभी किसी ने नहीं कही, अलबत्ता यह तो कहते हैं कि भांग का नशा भीरुता-जनक है। ऐसी दशा में तथ्य-विरुद्ध बात गंग ते बयों कहीं, यह चिन्त्य है। यह बात स्मरणीय है कि गंग ने याचकता को तो निकृष्टतम कर्म कहा है, परन्तु इस बात को भी स्वीकार किया है कि संपत्ति के लिए राव-राजघनों को ही नहीं, अवतारों तक को हाथ पसारना पड़ता है—

कन्यादान लेत सब छत्रपति छत्रधारी,

हृद्यवान गज-वान भूमि-वान भारी है ।

राजा मांगे रावन पै राव मांगे खानन पै,

खान सुलतानन पै भिच्छु छाक डारी है ।

भिच्छा ही के काजें कवि गंग कहै ठाड़े द्वार,

बलि से नृपति तहाँ बाधन बिहारी है ।

संपदा के काजें कही को ने नहीं ओढ़ी हाथ,

जहाँ जंसी वान तहाँ तंसीई भिखारी है ।^१

गंग ने जीवन में अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के दिन देखे थे। बाद में चाहे उन्हें धन-संपदा की कमी न रही थी परन्तु उन्हें वे दिन विस्मृत न हुए थे जब पापिन भूख को शान्त करने के लिए उन्हें बेरों का उपहार ले बीरबल के पास जाना पड़ा था। सम्भवतः इसी कारण से उन्होंने भूख के कुप्रभाव का मानिक वर्णन किया है।^२ इस प्रकार हम देखते हैं कि गंग ने निजी अनुभवों और परिस्थितियों के प्रभाव से नवीन विषयों पर भी नीति-काव्य रचा। परन्तु इससे अधिक महत्वपूर्ण है उनकी पनी दृष्टि जिसके द्वारा वे सामान्य विषयों को भी अधिक मनोहर बना डालते हैं। जैसे—

(क) गंग कहै सुन साह अकबर. गर्ज से बीबी गुलाम रिभावे ।^३

(ख) गंग कहै सुन साह अकबर, हाथ में जानिये हेत हिया को ।^४

स्वार्थ-सिद्धि के लिए वेगमों का दासों की चाटुकारी करना और दान के द्वारा हृदय के प्रेम की पहचान होना, मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं जो गंग से ओझल न रह सके।

गंग का नीति-काव्य भाव-पूर्ण है। उसके अध्ययन-काल में पाठक के मन में भय, उत्साह, स्मृति, शंका, सांमनस्य, अमर्ष, त्रास, धृति, विषाद, घृणा आदि भावों का सहज उद्रेक होता है। वह हृदय में विभिन्न भावों को उमगाता हुआ ही पाठक को बुराईयों से सावधान तथा गुणों में प्रवृत्त करता है। गंग की भाषा स्वच्छ, और प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा है परन्तु उसमें इज्जत, दरम्यान, ख्याल, गद्दी, मुगद्दी, बद्दी, रद्दी आदि विदेशी शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया गया है। गंग देशी और विदेशी—

तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक करते हैं, जैसे नाहक=अनाहक, नृपति=निपति, न्याय=न्याय, विभूति=विभूत, गृह=ग्रिह आदि । कुछ स्थलों पर, छंद की गति को अधिकल तथा मात्राएँ पूरी करने के लिए, शब्द-रूप भी विकृत किये हैं, जैसे-पंतो=पयसो, कैसो=कै-असो आदि ।

लाक्षणिक प्रयोगों तथा मुहावरों का सुन्दर और प्रचुर प्रयोग गंग के नीति-काव्य की विशेषता है । कहीं-कहीं तो पद्य के एक एक चरण में एकाधिक छवियाँ प्रयुक्त की गई हैं । जैसे—भांग के गुण-वर्णन में कवि ने कहा है—

बिजया जो बिसार साय स्वानहू के कान गहे,

स्वान हू जो साय सो तो बाबे गजराज को ।

गज राज हू जो साय कोटि सिंह हाथ डारे,

बनिया जो साय तो लुटाय देत नाज को ।^१

इन पद्य-द्वंद्वों में 'कान गहे', 'बाबे', 'हाथ डारे' और 'लुटाय देत' इन चार मुहावरों का प्रयोग हुआ ।

गंग ने नीति के लिए मुक्तक काव्य की ही रचना की है । अधिकतर नीति-पद्य सबैया तथा कवित्त छन्दों में लिखे गये हैं । कहीं-कहीं पर छप्पय तथा झूलना का प्रयोग भी किया गया है । इनकी छन्द-रचना निर्दोष है । कहीं-कहीं दिखाई देने वाला गति-भंग दोष लिपिकारों की अनवधानता से जनित प्रतीत होता है ।^२

गंग ने प्रायः उद्देशात्मक शैली का प्रयोग किया है । वे अपने पद्यों के तीन चरणों में तो तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं और प्रायः चतुर्थ चरण में अकबर वा सामान्य जनो को सम्बोधित कर उनका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते हैं ।^३ इस शैली के के अतिरिक्त गंग ने तथ्यनिरूपक तथा अन्यापदेशात्मक शैलियों का भी प्रयोग किया है ।

गंग कवि ने जिन कुछ पद्यों में अनेक नैतिक तथ्यों का निरूपण किया है वे विशेष प्रभविष्ण नहीं हैं । इनकी प्रिय और प्रभावक शैली तो वह है जिसमें ये एक ही तथ्य को हृदयंगम काने के लिए अनेक अप्रस्तुतों की योजना करते हैं ।^४ कहीं-कहीं तो प्रस्तुत के समर्थन के लिए एक ही अप्रस्तुत को क्रमशः इतनी अवस्थाओं में से गुज़ारते हैं कि तथ्य का प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है । जैसे—

सहमन गाँठ कपूर के नीर में बार पचासक छोड़ मंगाई ।

केसर के पुट दे दे के फेरि सु चन्दन बिच्छ की छाँह सुलाई ॥

१-२. बहो. पृ० ४४४।१६७ ४३३।६६

३. बहो. पृ० ४३२।६३ तथा ४३३।६७

४. प्रस्तुत प्रबन्ध के २६६ पृ० पर गण-सम्बन्धी पद्य देखें :

(गंग बू) भोपरे माहि लयेठ धरी पर वास सुवास जू आपन आई ।

ऐसे हि नौब कूँ ऊँब की संगत कोटि उपाय कुटेव न जाई ॥^१

गंग अलंकारों के प्रयोग में विशेष कुशल हैं । इन्होंने शब्दालंकारों में छेकानु-प्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास तथा वीप्सा का और अर्थालंकारों में उपमा, मालोपमा, व्यतिरेक, आवृत्ति-दीपक तथा अर्थान्तरन्यास का प्रयोग अधिक किया है । अलंकार-प्रयोग में इनकी विशेषता यह है कि ये परंपरागत अप्रस्तुतों से ही संतुष्ट नहीं होते, समाज पर जागरूक दृष्टि डाल कर उसी में से अवसरोपयोगी नवीन अवर्ण्य भी चुन लेते हैं, जैसे—

काक को कपूर जैसे मरकट को सुषन जैसे,

ब्राह्मण को मक्का जैसे मीर को बनारसी ।^२

काक को कपूर चुगाने और बंदर को जेवर पहनाने के उपमान तो और कवियों ने भी दिये हैं परन्तु ब्राह्मण को मक्का और मुल्ला को काशी दिखाने की बात गंग की ही मूभी ।

सार यह कि गंग का नीति-काव्य नव-नव विचारों, विविध भावों, नवीन कल्प-नाओं, सुन्दर अलंकारों, विशद भाषा तथा लाक्षणिक प्रयोगों के कारण सत्काव्य कह-जाने का अधिकारी है ।

५. रहीम

जीवनी—अब्दुर्रहीम का जन्म बरमसा के गृह में संवत् १६१३ में हुआ । जब ये चार ही वर्ष के थे कि पिता की एक पठान ने हत्या कर दी और अकबर ने इनकी शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध कर दिया । रहीम ने ग्यारह वर्ष के वय में काव्यप्रणयन आरंभ किया । अकबर ने इनका विवाह अपनी धात्री की पुत्री साहबानू से कर दिया । युवा होने पर रहीम ने गुजरात, कुंभलनेर, उदयपुर आदि पर विजय पाई और अकबर ने प्रमुदित हो इन्हें अजमेर की सूबेदारी तथा रणथंभौर का दुर्ग प्रदान किया । इनकी विद्वत्ता और कार्य-दक्षता पर मुग्ध होकर अकबर ने इन्हें शाहजादा सलीम का अता-लीक नियुक्त किया । सिंध-विजय तथा दक्षिण पर मुगलों की धाक बैठाने के कारण अकबर ने इन्हें खानखाना की उपाधि और पाँच हजारी पद प्रदान किया । जब सं० १६६१ में शाहजादा दानियाल दिवंगत हुआ तब खानखान को दक्षिण का शासक नियुक्त किया गया । जहाँगीर ने भी सिंहासनावृद्ध होने पर इनका प्रभूत आदर-सम्मान किया । परन्तु जब जहाँगीर ने शासन की बागडोर नूरजहाँ को सौंपी तब रहीम ७ बुरे दिन आये । नूरजहाँ, शाहजादा खुर्रम (शाहजहाँ) की अपेक्षा अपने जमा दोटे

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ४३५।११२

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ४३२।६४

शाहजादे शहगिर को ऊँचा उठाने लगी । जब घर की इस फूट में वृद्ध रहीम ने जहाँगीर के विरोधी शाहजहाँ का साथ दिया तब जहाँगीर ने, बेरम खाँ की वृद्धावस्था में अकबर के प्रति नमक-हरामी का उल्लेख करते हुए कहा 'भेड़िये का बच्चा आदमियों में बढ़ा होकर भा भेड़िया ही रहता है ।' पीछे इन्होंने स्वकृत्य पर पश्चात्ताप किया और जहाँगीर ने इनका अपराध क्षमा कर इन्हें पुनः खानखाना की उपाधि और कन्नौज का शासन दिया । इनका निधन १६८६ वि० में हुआ ।

रहीम को पारिवारिक जीवन में सुख नहीं मिला । पिता इन्हें बच्चा ही छोड़ परलोक सिधारे थे । पत्नी, एक पुत्री तथा तीन पुत्रों को जन्म देकर सं० १६५५ में कूब कर गई । चारों सन्तानों को इन्होंने अपनी आँखों से काल-कवलित होते देखा । इस प्रकार रहीम का वाढं'क्य तिमिराच्छन्न हो गया जिसकी भस्मक इनके दोहों में दिखाई देती है ।

रहीम अरबी, फ़ारसी, तुर्की और हिन्दी भाषाओं के प्रौढ़ विद्वान थे और संस्कृत भाषा तथा हिन्दू-शास्त्रों से भी परिचित थे । उक्त भाषाओं में से किसी एक का ग्रंथ देखते हुए दूसरी भाषा में उसका अनुवाद ऐसी योग्यता से करते जाते थे कि श्रोताओं को वही मूल भाषा प्रतीत होती थी । गुण और मात्रा की दृष्टि से इनकी कविता अकबरी दरबार के कवियों में सम्भवतः सर्वातिशायी थी । ये सभी भाषाओं की कृतियों में अपना उपनाम रहीम ही लिखते थे ।

वीर और विद्वान होने के अतिरिक्त रहीम बहुत उदार, दानी, सुशील और शान्त सज्जन थे । इन्होंने अपने आश्रित अनेक भाषाओं के कवियों को लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति पुरस्कार रूप में प्रदान की थी । हिन्दी-कवियों को जितने मूल्य के पुरस्कार इनसे प्राप्त हुए उसका दशमांश भी फ़ारसी-कवियों को नहीं । यही कारण है कि केशवदास, गंग, नरहरि आदि ने इनकी गुणावली का मुक्तकण्ठ से गान किया ।

कृतियाँ—रहीम की हिन्दी-रचनाएँ विभिन्न शीर्षकों से प्रकाशित हुई हैं, जैसे रहीम रत्नावली, रहिमन शतक, रहिमन चन्द्रिका, रहीम, रहीम-कवितावली, रहिमन विनोद, रहिमन विलास आदि । प्रायः इनमें रहीम की ये रचनाएँ संगृहीत हैं—दोहा-वली, नगरशोभा, शृंगार सोरठा, बरवै नायिका भेद, १०१ स्वतन्त्र बरवै, मदनाष्टक, खेटकौतुकजातकम्, संस्कृत श्लोक, फुटकल पद, सर्वय्ये और कवित्त । नांतिकाव्य, दोहा-वाली तथा कुछ स्फुट कवित्त-मवय्यो ही में उपलब्ध होता है, शेष रचनाएँ तो शृंगार, ज्योतिष आदि विषयों की हैं ।

दोहावाली वा सतसई—रहीम के उपरिलिखित प्रकाशित संग्रहों-में सब से पूर्ण दोहावली उद्भूत की गई है । स्व० पं० मयाशंकर याज्ञिक^१ आदि कुछ लोगों का अनुमान है कि रहीम ने 'सतसई' की रचना की होगी, उसमें से किसी न शृंगारिक दोहों

को पृथक् कर नीति-दोहों को अलग रहने दिया होगा । ७२ वर्ष के जीवन में सतसई रचना असम्भव नहीं है । वस्तुतः उक्त अनुमान निराधार है । उक्त अनुमान के विपरीत निम्नवर्ती तर्क दिये जा सकते हैं । उपलब्ध दोहावली में ३०० के लगभग दोहे मिलते हैं, शेष चार सौ दोहों का रहीम-कृत शृंगार-संग्रह अलभ्य है । रहीम ने शृंगारिक भाव तोरों, बरबै नायिका भेद, मदनाष्टक आदि में अभिव्यक्त कर दिये हैं । किसी को आवश्यकता ही क्या थी कि शृंगारिक दोहों को अलग करता ? जब बिहारी आदि की कृतियों में शृंगार में नीति मिश्रित रह सकती थी तो रहीम-सतसई में रहने पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी ? किसी समकालीन या परवर्ती कवि ने 'रहीम सतसई' का उल्लेख भी नहीं किया है । वस्तुतः रहीम-से व्यस्त व्यक्ति के पास कोई बड़ा सम्पूर्ण ग्रंथ लिखने का अवकाश ही न था । 'बरबै नायिका भेद' निबद्ध ग्रंथ है जो सम्भवतः उनके जीवन के आरम्भिक काल में रचा गया होगा । विपक्ष के इन तर्कों से इसी बात की पुष्टि होती है कि रहीम ने समय-समय पर भवित तथा समाज-आवहार सम्बन्धी जो फुटकल दोहे रचे, वही दोहावली में संगृहीत हैं ।

व्यक्तिक नीति—रहीम की 'दोहावली' नीतिकाव्य की एक उत्तम रचना है । इस में मानव-व्यवहार से सम्बन्धित प्रायः सभी प्रमुख विषयों का समावेश दिखाई देता है । जिस शरीर के रक्षण-पोषण के लिए आज असंख्य उद्योग किए जा रहे हैं, उसे भक्ति युग के अन्य कवियों के समान, रहीम ने भी विशेष महत्त्व नहीं दिया है । उसे अनेक दोहों में खस, मिट्टी और कागज का पुतला तथा चारणभंगुर कहा है और उसकी स्वसनक्रिया पर आश्चर्य प्रकट किया है—

कागज को सो पुतरा, सहजहि में घुलि जाय ।

रहिमन यह अचरज लखो, सोऊ खैंबत बाय ॥^१

रहीम ने मधुर भाषण के महत्त्व तथा कटुवचनों के त्याग पर अनेक दोहे रचे हैं । यद्यपि कहा जाता है कि उन्होंने स्वयं व्यक्तिक जीवन में कभी किसी पर क्रोध नहीं किया तथापि वे कटुभाषियों के लिए निम्नलिखित दण्ड के पक्षपाती थे—

खोरा सिर तें काटिए, मलियत नमक बनाय ।

रहिमन कहए मुखन को, चहिअत इहै लजाय ॥^२

यह कटुभाषण व्यक्तिगत जीवन में इतना निन्द्य दोष है कि इस के फल-स्वरूप जूते तक पहनने की सम्भावना रहती है^३ । रहीम शरीर के अंगों में सब से बुरा पेट को समझते थे । कारण, पूर्ण होने पर, यह दृष्टि में विकार उत्पन्न कर देता है और रिक्त होने पर आत्मसंमानी मनुष्यों को ऐसे-ऐसे नर-पशुओं के सम्मुख सीस

१. सं० अजरल्लास, रहिमन बिलास, प्रयाग, १९६७, पृ० ४१३६, (१५ व ११७ दोहा भी देखें) ।

२-३. वही. पृ० ५१४६, २०१११४

झुकाने तथा चाटुवचन कहने पड़ते हैं त्रिनकी, पेट के न होने पर, लोग सूरत देखना भी पाप समझते । रहीम ने चार-पाँच दोहों में इस पापी का उल्लेख किया है परन्तु उदाहरणार्थ एक ही दोहा पर्याप्त है—

भलो भयो घर ते छुट्यो हँस्यो सीस परि खेत ।

का के का के नबत हम अपन पेट के हेत ॥^१

विद्या का महत्त्व, उसके साधन आदि बौद्धिक विषयों पर नीतिकाव्य की जितनी मात्रा की आशा रहीम-से विद्वान् कवि से की जाती थी, उतनी दोहाबली में दिखाई नहीं देती । उन्होंने विद्याविहीन को संस्कृत के नीतिकाव्योंकारों के समान, पशु^२ कहने तथा एक-एक बड़ी में नमक डालने वाले और एक-एक पत्ते को सींचने वाले को मन्दबुद्धि^३ कहने में तो संकोच नहीं किया परन्तु बुद्धिदायिनी वाग्देवी के माहात्म्य का यथेष्ट यशोगान नहीं किया । कदाचित् उनका विश्वास था कि बुद्धि प्रभुप्रदत्त ऐसा पदार्थ है जो पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं किया जा सकता—

जँसी आकी बुद्धि है, तँसी कहै बनाय ।

ताकों बुरा न मानिए, लेन कहाँ सो जाय ॥^४

आत्मिक नीति—रहीम की आत्मिक नीति का स्वर भक्तों से भिन्न प्रतीत नहीं होता । माया, ममता, विषय, मोह, चिन्ता, गर्व, कुटिलता आदि के त्याग तथा नम्रता, क्षमा, शूरता, शील आदि गुणों में अनुराग की जो प्रेरणा भक्त-कवियों के नीतिकाव्य में दिखाई देती है, वही, आश्चर्य की बात है कि, दरबारी कवियों में भी पाई जाती है । सम्भवतः इसका कारण यह है कि उत्तर भारत में उन दिनों भक्ति की जो मन्दकिनी बह रही थी उसका वेग इतना प्रबल था कि राज-दरबारों के काँब भी उससे आप्लावित हुए बिना न रह सके । जैसे—

जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लगटात ।

ज्यों नर डारत बमन कर, स्वाम स्वाव सों ज्ञात ॥^५

करजी साह न हूँ सके गति टेढ़ी तासीर ।

रहिमन सीधी जाल सों, प्यादो होत बजीर ॥^६

परन्तु कहीं-कहीं रहीम नम्रता, शूरता आदि गुणों में कुछ शर्तें जोड़कर भक्त कवियों के काव्य से अपने काव्य में कुछ विशिष्टता भी उत्पन्न कर देते हैं । जैसे—

यह रहीम माने नहीं, दिल से नबा जो होय ।

घोता चोर कमान के, नये ते अवगुन होय ॥^७

१-४. सं० बजरत्नवास, रहिमन खिलास, प्रयाग १९८७, पृ० १४।१३८, २४।२१८,

१३।२२१, ८।७।

५-७. बहो, पृ० ६।८६, १३।२२६, १७।१६०

पारिवारिक नीति—रहीम ने वैवाहिक जीवन को व्याधि और पाँव की बेड़ी कहा है।^१ एक तो इसलिए कि प्रायः गृही घन, दारा और पुत्रों के झमेले में इतना फँस जाता कि प्रभु को ही भूल जाता है^२ और दूसरे, जंसा कि पहले कह चुके हैं, रहीम को पत्नी तथा सन्तान का मर्मवेधी बियोग सहना पड़ा था। फिर भी इन्होंने पति-पत्नी के वैमत्य से जनति दुःख,^३ दरिद्रता में भार्या और कुसमय में बन्धुओं की परीक्षा, परनारी-परित्याग, सपूत-कपूत के लक्षण, घर की फूट का दुष्परिणाम, सगे-सगे की समृद्धि से होने वाला सुख आदि पारिवारिक विषयों की और पाठकों ध्यान मार्मिक रीति से खींचा ही है। जैसे—

जो रहिम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय ।

बारे उजियारो लगे, बड़े अँधेरो होय ॥^४

रहिमन अंसुआ नैन दरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।

जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥^५

संतान के प्रति जनकों के या जनकों के प्रति संतित के कर्तव्य आदि के विषय में रहीम मौन ही दिखाई देते हैं।

सामाजिक नीति—रहीम की दोहावली के अधिकतर दोहों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार से है। समाज कैसा है, उसके व्यक्ति कैसे प्रसन्न किये जा सकते हैं, जगत् से प्राप्य गौरव का वास्तविक मूल्य क्या है, स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही में ही मिलना आवश्यक है, हितैषी तथा शत्रु की पहचान क्या है, मनुष्यों को कैसे वश में किया जा सकता है, आत्मसंमान, छोटे और बड़े, परदार-गमन, परोपकार, कुसंगति, सुसंगति, सुमित्र, कुमित्र, भूख, सुजन, दुर्जन, प्रेम आदि सैकड़ों उपयोगी बातों का रहीम ने अनुभूति-पूर्ण उल्लेख किया है। रहीम ने उपर्युक्त विषयों पर एक-से-एक बढ़कर एकाधिक दोहों की रचना की है परन्तु प्रबन्ध की क्लेवर-वृद्धि के भय से दो-चार दोहे ही उद्धृत कर संतोष करेंगे—

काज परं कछु और है, काज सरं कछु और ।

रहिमन अँधेरो के भए, नदी सिरावत और ॥^६

रहिमन जो रहियो चाहै, कहै, वाहि के वांछ ।

जो बासर को निस कहै, तो कचपची बिलास ॥^७

समाज में छोटे भी होते हैं, बड़े भी। यह छोटाई-बड़ाई प्रायः सम्पत्ति या सरस्वती की न्यूनाधिकता, पद की उच्चावचता तथा जाति-वंश की उत्तमाधमता पर अवलम्बित होती है। प्रायः सम्पन्न, विद्वान्, उच्चाधिकारी और

१-४. सं० ब्रजरत्नदासः रहिमन बिलास प्रयाग १६८७, पृ० २०।२१६, ११।१०८,

११।१२४, ६।८२

५-७. बही, पृ० १८।१७७; ४।३७, २०।१६६

कुलीन लोग दरिद्रों, मूर्खों, अधीनों तथा दुष्कुलीनों से घृणा का अभ्यहार करते देखे जाते हैं। रहीम-से उदार, धार्मिक और विद्वान् सज्जन को यह बात बहुत बुरी लगी और उन्होंने ऊँच-नीच का भाव मिटाने तथा छोटों के प्रति उदारता का दृष्टिकोण अपनाने पर दर्जनों सुन्दर दोहे लिख डाले। जैसे—

रहिमन बेख बड़ेन को, लघु न बीजिए डारि ।

बड़ा काम घावे सुई, कहा करे तलवारि ॥^१

छोटेन सों सोहैं बड़े, कहि रहीम यह रेख ।

सहसन को हय बांधियत, सैं बमरी की मेख ॥^२

रहीम ने अपना अधिकतर जीवन तो मान-प्रतिष्ठा पूर्वक व्यतीत किया था परन्तु बुढ़ापे में उन्हें कुछ दिन अपमानपूर्ण जीवन का कटु स्वाद भी चखना पड़ा। अतएव संमान-हीन जीवन उनकी दृष्टि में निघन से भी निकृष्ट था। यही कारण है कि उन्होंने इस विषय पर दर्जनों पद्यों की रचना की है। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

रहिमन मोहि न सुहाय, अमी पिघावैं मान बिनु ।

बर विष बेय बुलाय, मान सहित मरिघो भलो ॥^३

कोन बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भो धीम ।

केहि की प्रभुता नहि घटी, पर घर गये रहीम ॥^४

धार्मिक नीति—सामाजिक नीति के समान ही रहीम ने धार्मिक नीति पर भी बहुत और बहुत अच्छा लिखा है। वे लाखों-करोड़ों में भी खेले थे और मधुकरी मांगकर भी खा चुके थे। वे सम्पत्तिलभ्य सम्मान का गौरव भी अनुभव कर चुके थे और दुःखदरिद्र-जनित अवज्ञा का कटुस्वाद भी चख चुके थे। यही कारण है कि उनके काव्य में धन का महत्त्व, लक्ष्मी की चंचलता, सम्पत्ति के क्षय से गौरव-नाश, वित्त के बिना मित्रों का अभाव, दरिद्रता से मृत्यु की श्रेष्ठता, दान-हीन जीवन की निष्फलता, याचकता से निघन की उत्तमता, सज्जनों का धन-संचय उपकारार्थ, विपत्ति में धन-नाश, पाप की कमाई, बन्धुओं के मध्य में दरिद्र का मानहीन जीवन, धनी-धनी ही का सहायक, याचकता लाघव की जननी, धन से भी संमान बढ़ा आदि अनेक धार्मिक विषयों की सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है। जैसे—

विपति भए धन ना रहे, रहे जो लाख करोर ।

नभ तारे छिप जात हैं, क्यों रहीम भए भोर ॥^५

धन थोरो इज्जत बढ़ी कह, रहीम का बात ।

जैसे कुल की कुलवधू, चियड़न मांह समात ॥^६

१-४. सं० अजरतनदासः रहिमन बिलास, प्रयाग १९८७, पृ० २१।२०४, ६।५६,

९।२८५, ५।४४

५-६. वही पृ० १४।१३६, ११।१०७

इतर-प्राणिबोधक नीति—इतर प्राणियों के प्रति दया आदि की भावना रहीम के काव्य में दिखाई नहीं देती। उसमें तो कुत्ता भी वही पालने का उल्लेख है जो अपनी मृगया-कुशलता के द्वारा स्वामी का रसना-लौल्य शान्त कर सके—

नाहिं रहीम कछु रूप गुन, नाहिं मृगया अनुराग ।

बेसी स्नान जो राखिए, भ्रमत भूख ही लाग ॥^१

पशु-पक्षियों से शिक्षा लेने की प्रवृत्ति, चाणक्य-नीति आदि में हम देख ही चुके हैं, रहीम के काव्य में पर्याप्त पाई जाती है। कहीं तो वह प्रत्यक्ष रूप में अभिहित है और कहीं ग्रन्थापदेशों द्वारा व्यंग्य। जैसे—

पावस देखि रहीम मन, कोइल साथे मौन ।

अब बाबुर वक्ता भए, हम को पूछत कौन ॥^२

मिश्रित नीति—इस क्षेत्र में भी रहीम की रचना पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। समय का महत्त्व, समय पर चूकने से हानि, समय पर सहिष्णुता, स्थान की महिमा, कर्मों की गति, पुरुषार्थ से लक्ष्मी अप्राप्य, भवितव्यता की प्रबलता, आदि बुरा भ्रन्त बुरा, सुख-दुख, जीवन-सफलता, ईश्वर-विश्वास, राजनीति आदि अनेक विषयों को रहीम ने अपने दोहों का वर्ण्य बनाया है। बुढ़ापे में पदच्युत होने के कारण रहीम को अनेक निकट कष्ट सहने पड़े थे। जीवन में भी घनिष्ठ सम्बन्धियों के शाश्वत वियोग से वे पिसे थे। इस कारण पुरुषार्थ की विफलता और होनहार की प्रबलता का स्वर पर्याप्त तीव्र दिखाई देता है। मिश्रितनीति के कुछ दोहे लीजिए—

रहिमन असमय के परे, हित अनहित ह्वं जाय ।

बधिक बर्घे मृग बान सों, रुधिरं बेत बताय ॥^३

निज कर क्रिया रहीम कहि, सुधि भावि के हाथ ।

पांसे अपने हाथ में, बाँध न अपने हाथ ॥^४

समीक्षा—दोहावली का अध्ययन करने पर उसकी छः विशेषताओं पर ध्यान हठात् चला जाता है—

(क) आत्मानुभूति ।

(ख) गम्भीर सांसारिक अनुभव ।

(ग) उदार दृष्टि (व्युत्पन्नता)

(घ) दृष्टान्त ।

(ङ) सुन्दर कल्पना ।

(च) सूक्ष्म पर्यवेक्षण ।

१-३ बही. पृ० १२।११३, १३।१२२, १।१७१

४. बही पृ० १२।११६

(क) आत्मानुभूति—रहीम के दर्जनों दोहे ऐसे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि रहीम उनमें लोकानुभव का वर्णन नहीं कर रहे हैं, आप-बीती सुना रहे हैं । परन्तु वह आप-बीती भी शिक्षापूर्ण होती है, जैसे—

बोये बाहर बहार के, ज्यों रहीम घहरात ।

बनी पुरुष निबन भये, करे पाछिली बात ॥^१

(ख) गम्भीर सांसारिक अनुभव—जिस प्रकार रहीम प्रौढ़ विद्वान् थे उसी प्रकार पूर्ण अनुभवी भी थे । वे लोगों के बाह्य तथा आभ्यन्तर व्यवहार के भेद से सम्यक् परिचित थे । उनके अनुभव की इस गम्भीरता का पता कई दोहों से सहज ही लग जाता है । जैसे—

रहिमन निज मन की बिधा, मन ही राखो गोय ।

सुनि छठिसेँ लोग सब, बांटे न लैह कोय ॥^२

(ग) उदार दृष्टि (व्युत्पन्नता)—दोहावली के अध्ययन से सिद्ध हो जाता है कि उदारचेता रहीम ने हिन्दुओं के रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों से सम्यक् परिचय प्राप्त कर लिया था । वे नैतिक सत्यों के समर्थन के लिए उक्त ग्रंथों से ऐसी उपयुक्त घटनाएँ प्रस्तुत करते हैं कि पढ़कर चित्त गद्गद हो जाता है । जैसे—

मान सहित विष जाय के, संभु भये जगदीस ।

बिना मान प्रमृत हिये, राहु कटायो सीस ॥^३

धोरो किए बडेन की, बड़ी बड़ाई होय ।

ज्यों रहीम हनुमंत को गिरधर कहत न कोय ॥^४

(घ) दृष्टान्त—रहीम अपनी नीति की उक्तियों की पुष्टि प्राचीन कथानकों के अतिरिक्त समीपवर्ती पदार्थों तथा क्रियाओं से भी करते हैं । जिन वस्तुओं और घटनाओं में हमें कोई विशेषता दिखाई नहीं देती, उन्हीं में से रहीम ऐसे सुन्दर दृष्टान्त निकाल लेते हैं कि कुछ कहने नहीं बनता । जूमा खेलने के पक्ष, शतरंज के मोहरे, चौपड़ की गोटें, कुम्हार का चाक, रहट की घड़ियाँ, आदि अनेक पदार्थ उनके नैतिक कथनों के उपबृहणार्थ सदा सदा सन्नद्ध दिखाई देते हैं । यथा—

जब लग जीवन जगत में, सुख दुख मिलन अगोट ।

रहिमन फूटे गोट ज्यों, परत बुझें सिर चोट ॥^५

रहिमन रीति सराहिए, जो घट गुन सम होय ।

भीति आप पे डारि के, सबे पियाबे तोय ॥^६

१-३. सं० अजरामदास, रहिमान विलास, प्रयाग १०।६६, २१।२०७, १६।१५२

४. बही, पृ० १६८७, १०।१७

५-६. बही, पृष्ठ ७।९०, २४।२३४

(क) सुंदर कल्पना—यद्यपि रहीम के कई दोहे कोरे पद्य हैं तथापि अधिकांश दोहों में उनकी उद्भाषना सहज ही दिखाई दे जाती है । जब पाला दुष्टों से पड़ जाए तब सीधी उंगलियों से धी नहीं निकलता, इस नीति के समर्थन के लिए रहीम की कल्पना ने कुम्हार के चक्र और डंडे को खोज निकाला—

रहिमन चाक कुम्हार को, मांग दिया न बेइ ।

छेव में डंडा छारि कै, चाहे नांव लं लेइ ॥^१

उन दिनों जलघड़ी से समय को जानकर घड़ियाल की चोट से सबको सूचना दी जाती थी । रहीम की कल्पना ने उसी घटना में से कुसंगति त्याग की शिक्षा ग्रहण कर ली—

रहिमन नीच प्रसंग ते, नित प्रति लाभ बिकार ।

नीर चोराबं संपुटी, मार सहै घरिघार ॥^२

(ख) सूक्ष्म-पर्यवेक्षण—पैनी दृष्टि रहीम के नीतिकाव्य की अन्य विशेषता है । वे सामान्य वस्तुओं पर भी इतनी तीव्र निगाह डालते हैं कि तुरन्त ही उनमें से कोई काव्योपयोगी नैतिक तथ्य निकाल लेते हैं । जैसे—

रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन ।

ऊपर से तो दिल् मिला, भीतर फाँकें तीन ॥^३

रस और भाव—सरसता और भावपूर्णता रहीम के नीतिकाव्य के उल्लेखनीय गुण हैं । यद्यपि रहीम के कुछ दोहे ऐसे भी हैं जो बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता के कारण पद्यों की कोटि में ही परिगणनीय हैं तथापि उनके अधिकतर दोहों में से सच्चा कवि-हृदय भाँकता प्रतीत होता है । जीवन की उच्चावच परिस्थितियों ने उनके मस्तिष्क का ही स्पर्श नहीं किया उनके भावुक हृदयमें विभिन्न मनोवर्गों का उन्मेष भी किया । यही कारण है कि उनके दोहों में विविध भावों की सफल तथा प्रभविष्णु व्यंजना हुई है । उनकी आत्मानुभूति भी उन भावों को तीव्रतर करने में विशेष सहायता प्रदान करती है । अधिकतर नीतिकवियों में इस गुण का अभाव रहता है । वे शिक्षा देने के लिए नैतिक तथ्यों का उल्लेख करते हैं और अपने कथन को इतिवृत्तात्मकता तथा पद्यमयता से बचाने के लिए किसी दृष्टान्त या अलंकारादि का आश्रय ढूँढ़ लेते हैं । इस प्रकार उनकी रचनाएं सूक्तियाँ तो बन जाती हैं परन्तु भावों की कमी के कारण सरसता से शून्य रह जाती हैं । रहीम किसी नैतिक तथ्य का उल्लेख मात्र नहीं करते, उसके मार्मिक पक्ष में मग्न पहले हो जाते हैं और तब हृदय के भाव को दोहों में उड़ेल बेते हैं । यही कारण है कि हिन्दी-भाषी प्रदेशों में लोगों के मुख से विभिन्न परिस्थितियों के उपयुक्त रहीम के दोहे अनायास ही निःसृत होते सुनाई देते हैं । जैसे—

१-२. सं० अजरतनवास, रहिमान विलास, १६८७, प्रमाण १६।१८७, २२।२१०

३. वही, २३।२१३ ॥

कुविलन संग रहीम कहि, साधु बचते नाहि ।
 व्यो नैना संना करे, डरज उमेठे नाहि ॥^१ (शृंगार)
 यद्यपि अवनि अनेक है, कूपबंध सरि ताल ।
 रहिमान मान-सरीबरहि, मनसा करत मराल ॥^२ (रति)
 रहिमान मोहि न गुहाय, अमी पिमार्च मान बिनु ।
 बर बिष देय बुलाय, मान सहित मरिबो भलो ॥^३ (मान)

तात्पर्य यह कि रहीम नीति को सच्चे काव्य से मिश्रित कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं, वैसे ही नहीं ।

भाषा—नुलसीदा-जी के समान रहीम का भी ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अधिकार था, परन्तु रहीम ने नीति-रचनाओं में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है । रहीम की भाषा में तत्सम शब्दों की भी कमी नहीं है परन्तु संस्कृत के शब्दों को प्रचलित रूप में व्यवहृत करना उन्हें अधिक प्रिय है, जैसे—स्वर्ग, पाताल, दूषण, नरेश, प्रियतम, निष्ठुर, बशा आदि के स्थान पर उन्होंने सरग, पताल, दूषन, नरेश, प्रीतम, निठुर, दसा आदि का प्रयोग अधिक किया है । गंग के समान इनकी भाषा में भी फारसी, अरबी आदि के शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं और वे भी तद्भव रूप में, जैसे—गरीब, हजूर, अजीम, कागज, फजोहत आदि के स्थान पर गरीब, हजूर, अजीम, कागब, फजोहत आदि व्यवहृत हुए हैं । ढूँढ़ने पर कुछ लोकोक्तियों तथा मुहावरों की इनकी भाषा में मिल जाते हैं । जैसे—

अनकीम्हीं बातें करे, सोबत जागें जोय ।

ताहि सिखाय जगायबो, रहिमान उचित न होय ॥^४

कैसे निबहै निबल जन, करि सब तन सों गेर ।

रहिमान बसि सागर निबं, करत मगर सों बेर ॥^५

विधान और छन्द—रहीम का नीतिकाव्य केवल मुक्तक रूप में मिलता है । उनका अधिकतर नीतिकाव्य दोहा छन्द में है । इसके अतिरिक्त कुछ इने-गिने सोरठे, कवित्त और सवैये भी उपलब्ध होते हैं । छन्द-शास्त्र की दृष्टि से रहीम के पद्य निर्दोष नहीं हैं । कही-कहीं मात्राओं की न्यूनाधिकता पाई जाती है । छन्द निर्दोष बनाने के उद्योग में कहीं-कहीं शब्द को बिगाड़ दिया गया है, जैसे व्याधि को विम्राधि और कदाचित् को कदाधि । वस्तुतः रहीम का लक्ष्य छोटे से दोहे द्वारा विस्तृत अर्थ को अभिव्यक्ति या, दूसरी सब बातें गौण थीं—

१-३. रहिमान बिलास, पृष्ठ ५४१, १६१५७, २८१२८५

४. वही, पृष्ठ १४

५. वही, पृष्ठ ५४२ । और भी देखें ७०७

दीरघ बोहा अरथ के, आखर थोरे मोहि ।

ज्यों रहीम नट कुण्डली, सिनिटि कूबि कहि जाहि ॥^१

शैली—रहीम के नीतिकाव्य में प्रायः छः शैलियों का प्रयोग दिखाई देता है—तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, कथात्मक, अन्यापदेशात्मक, प्रश्नोत्तर और शब्दावर्तक । इनमें से प्रथम तीन का प्रयोग अधिक किया गया है और उनके उदाहरण पीछे उद्धृत पद्यों में सुलभ हैं । अन्तिम तीन के उदाहरण विरल हैं ।^२

अलंकार—अलंकारों की दृष्टि से दोहावली का स्थान बहुत ऊँचा है । रहीम वर्ण्य विषय का उल्लेख-मात्र नहीं कर देते, साहित्यमंज होने के कारण उसे किसी-न-किसी अलंकार से समतकृत भी करते हैं । इनके पद्यों में शब्द, अर्थ और उभय-तीनों प्रकार के अलंकार दिखाई देते हैं ।

(क) शब्दालंकार—शब्दालंकारों में से छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है । जैसे—

काह कामरी पामरी जाइ गए से कान ।^३ (छेकानुप्रास)

खैर कून खासी खुसी बैर प्रीति मद-पान ।^४ (वृत्त्यनुप्रास)

भाषी काहू ना बही, भाषी दह भगवान ।^५ (लाटानुप्रास)

रहिमन अपने पेट सों बहुत कछो समुझाय ।

जो तू घन-साये रहे तो सों की घनसाय ।^६ (यमक)

पानी गए न ऊबरे मोती मानुष छून ।^७ (श्लेष)

पायन बेड़ी पड़त है, डोल बजाय-बजाय ॥^८ (वीप्सा)

(ख) अर्थालंकार—अर्थालंकारों में से अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, और काव्यलिङ्ग का प्रयोग अधिक देख पड़ता है । उमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, ययासंख्य, अन्योन्य, आबृत्ति-दीपक, अन्योक्ति आदि अलंकार भी यथास्थान प्रयुक्त किये गये हैं । जैसे—

बड़े बड़ाई न करें, बड़ो न बोलें बोल ।

रहिमन होरा कब कहे, लाख टका मेरो मोल ।^९ (अर्थान्तरन्यास)

बिरह रूप घन तम भयो, अथधि घास उद्योत ।

ज्यों रहीम भादों निसा, खमकि जात खद्योत ॥^{१०} (दृष्टान्त)

रहिमन कठिन चितान ते, चिता को चित खेत ।

चिता दहति निर्जीव को, चिता जोब समेत ॥^{११} (काव्यलिङ्ग)

१. रहिमन खिलास, पृष्ठ ११।१०१

२. बही, पृष्ठ १६।१५७, १२।११२, १५।१४०

३-८. बही, पृष्ठ ५।४०, ५।४८, १५।१४०, १८।१६६, १२।२१२, २२।२१६

९-११. बही पृष्ठ १४।१३१, २६।२५५, १८।१७०

जलहि मिलाय रहीम क्यों कियो प्रापु समझीर ।

अंगबहि आपुहि आप क्यों सकल प्रांच की भोर ॥^१ (अन्योन्य)

अपने हाथ रहीम क्यों, नहीं आपुने हाथ ।^२ (बिरोधाभास)

(ग) उभयालंकार—इस प्रकार के अलंकारों में संकर की अपेक्षा संमृष्टि अधिक दृष्टिगत होती है। यथा—

मथत मथत मासन रहै, दही मही बिलगाय ।

रहिमन सोई मीत है, भीर परे ठहराय ॥^३

इसमें वीप्सा, वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास तथा धर्मान्तरन्यास का प्रयोग तिलतडुल-वत् हुआ है अतः संमृष्टि है।

गुण—दोहावली में प्रसाद और माधुर्य गुण की बहुलता है। श्रोज गुण उन पद्यों में उपलब्ध होता है जिनमें रहीम ने याचकता, दरिद्रता, दुःशीलता आदि की अपेक्षा मृत्यु को अधिमान दिया है।

बोध—सुन्दर भावों तथा प्रसादपूर्ण भाषा से युक्त भी रहीम का नीतिकाव्य दोषमुक्त नहीं है। कहीं-कहीं उसमें ऐसे प्रयोग आ जाते हैं जो भावानुभूति में बाधक सिद्ध होते हैं। जैसे—

(क) ओछे की सतसंग, रहिमन तजहु अंगार क्यों ।

तातो जारं अंग, सीरो पं कारो तंगे ॥^४

उक्त दोहे में सत का प्रयोग निरर्थक ही नहीं उपहासजनक भी है। ओछे मनुष्य की संगति को कुसंग तो भले ही कह दिया जाए, सतसंग कहना तो बदतो-व्याघात है।

(ख) धन धोरो इज्जत बड़ी, कह रहीम का बात ।

जैसे कुल की कुलबधू चिथड़न मांहि समात ॥^५

दोहे का तृतीय चरण अधिकपदत्व दोष से युक्त है, क्योंकि 'कुलबधू' या 'कुल की बधू' से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाती है, फिर 'कुल' का दो बार प्रयोग अपायक हो है। इसी प्रकार 'कुल' की 'पुनरुक्ति' अन्यत्र भी की गई है।^६ भावों तथा दृष्टान्तों की पुनरुक्ति भी अनेक पद्यों में सुलभ है।^७

आदान-प्रदान—प्रायः प्रत्येक साहित्यकार पूर्ववर्ती तथा समसामयिक लेखकों से प्रभावित होता है और समकालीन तथा परवर्ती साहित्यस्रष्टाओं को प्रभावित करता है। रहीम भी इस नियम के अपवाद न थे। उनकी रचनाओं पर संस्कृत और फ़ारसी के ही लेखकों का नहीं, कबीरदास, तुलसीदासादि का भी प्रभाव लक्षित होता

१-५. रहिमन बिलास, पृष्ठ ७।६३, ७।६२ १५।१४४, २८.२८०, ११।१०७

६. वही, पृष्ठ ६।४६

७. वही, तुलना करे, बोहा ६६, ८५; ७२, १११; ३०, १३२

है। परन्तु वे अधमर्ण ही नहीं, उत्तमर्ण भी थे। बिहारी, बृन्द, रसनिधि आदि की रचनाओं पर रहीम की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। चूँकि इस विषय पर अन्य विद्वान् पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं, इसलिए पिष्टपेषण निरर्थक प्रतीत होता है।^१

उपयुक्त विवरण से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रहीम विषय की व्यापकता, भावों की मार्मिकता, अनुभूतियों की नवीनता, भाषा की स्वच्छता, कल्प-नाओं की कोमलता, अलंकारों की सुन्दरता आदि की दृष्टि से नीतिकवियों की प्रथम श्रेणी में परिगणनीय हैं। उनकी 'दोहावली' एक सुन्दर नीतिकाव्य है।

अकबरी दरबार के नीतिकाव्य का सिंहावलोकन

व्यक्तिक नीति—अकबरी दरबार के कवि हिंदी साहित्य के भक्तिकाल के अंत-गंत आते हैं। ये कवि आस्तिक और धार्मिक थे। इसीलिए इन की रचनाओं में एक ओर तो भक्त-कवियों का-सा नीतिकाव्य दिखाई देता है, और दूसरी ओर दर-बारी नीतिकाव्य। शरीर की नश्वरता, वाणी की मधुरता, धील की महत्ता, संतोष की उपादेयता तथा विषयों की हेयता भक्तों के नीतिकाव्यों के प्रिय विषय थे। जहाँ उपयुक्त दरबारी कवियों ने इन विषयों के वर्णन में संकोच नहीं किया वहाँ नृप और नृपशासन से सम्बन्धित विषयों पर भी विशेष बल दिया है। इन कवियों ने अनुभव किया कि दरबार के विलासी जीवन का परिणाम दुःखप्रद होता है, शूरता, सत्य-संधत्व गुणोपाजन और विद्वत्ता से दरबार में संमान प्राप्त होता है और पेट के कारण अपमान भी सहना पड़ता है। इसलिए इन्होंने पश्चात्तापजनक बातों से पाठकों को सचेत किया, विद्यादि गुणों के ग्रहण की प्रबल प्रेरणा की और पापी पेट को धिक्काया। ध्यान देने की बात है कि उन दिनों सुरा, अफीम, भंग आदि का प्रचलन पर्याप्त था। अकबर स्वयं भी सुरापायी था और उसके दो पुत्र भी अत्यधिक सुरापान के कारण अकाल में ही कालकवलित हो गये थे। परन्तु इन कवियों ने इन व्यसनों का निषेध नहीं किया। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि ये कवि स्वयं भी मद्यप हों और दूसरा यह है कि ये लोग अपनी रचनाएँ दरबार में सुनाया करते थे। जब अकबर तथा समासद् इन व्यसनों में लिप्त हों तो कवियों को इनकी निंदा करने का साहस न हो सकता था। इन कवियों ने विद्याविद्वानों को पशु कहा है, विद्वत्ता की प्रशंसा की है और वेद, कुरानादि की सन्त कवियों के समान निंदा नहीं की। कारण स्पष्ट है; विद्वत्ता के कारण ही इनका दरबार में आदर-संमान था और सब धर्मों के ग्रंथों का वहाँ आदर होता था। इसके अतिरिक्त ये कवि कोई संत-महात्मा भी न थे जो ज्ञान-ध्यान में इतने लीन रहते कि धर्मग्रन्थों की अवज्ञा कर देते। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अकबर को निरक्षर कहा जाता है इसलिए इन्होंने अपने काव्य में

विद्याहीन को पशु कहने का साहस कैसे किया। वस्तुतः भक्तबर निरक्षर नहीं था, उसने वर्षों तक गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की थी और वह फारसी तथा हिन्दी में कविता किया करता था। श्री एन० एन० ला ने भी उन्हें साक्षर ही प्रमाणित किया है। वह अनेक विद्वानों से नित्य ग्रंथों को सुनता था और पाठ के समाप्तिस्थल पर पेंसिल से चिह्न लगाया करता था। शासकों के लिए स्वयं पढ़ने की अपेक्षा कर्मचारियों से सुनना अधिक गौरवयुक्त माना जाता था। इसलिए भक्तबर जैसे बहुश्रुत को ज्ञानहीन किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता और इसीलिए दरबारी-कवि विद्याविहीन को निस्संकोच पशु कह सकते थे।^१

पारिवारिक नीति—इस क्षेत्र में इन कवियों की कोई विशेष देन दिखाई नहीं देती। एक तो हम पर इन्होंने लिखा ही थोड़ा है और दूसरे जो लिखा है वह भी संत कवियों के ही अनुरूप। विवाह व्याधि है, पुत्र-कलत्र आदि का मोह दुःखप्रद है, गृह-सुत आदि अपनने नहीं हैं, यौवन चंचल है, पातिव्रत और पत्नीव्रत प्रशंसनीय है, फूट परिवार की विध्वंसिका है, स्त्री पुरुष का वैमत्य दुःखजनक है, आदि सामान्य बातों का ही प्रसंगवश निर्देश किया गया है। पारिवारिक सदस्यों के परस्पर कर्तव्य, उन में प्रेमोपचय के साधन, भाई-बहिनों आदि का परस्पर स्नेह, गार्हस्थ्य को स्वर्गमय बनाने के साधन आदि की विशेष चर्चा नहीं मिलती। वस्तुतः इन कवियों पर भी मध्ययुगीन चिन्ताधारा का प्रभाव इतना अधिक था कि इन में जीवन के प्रति वह उत्साह-पूर्ण दृष्टिकोण प्रादुर्भूत ही नहीं हुआ जो इन्हें इस प्रकार की काव्य रचना की स्फूर्ति प्रदान करता।

सामाजिक नीति—इन कवियों का वास्तविक महत्व इसकी सामाजिक नीति के कारण है। इन्होंने सच्चा मित्र, कपटी साधु, प्रेम, परोपकार आदि परम्परागत विषयों पर भी काव्य-रचना की है, परन्तु इनका वैशिष्ट्य स्वामिभक्ति, सम्मानयुक्त जीवन, कुलीन और ओछे, बड़ों की कृपा से उन्नति, दीन-प्रेम, दान, पुण्य व. बिना जीवन की व्यर्थता, याचकता की निन्दा, गुण-प्राहकता आदि विषयों के प्रतिपादन में है। कहना न होगा कि प्रायः इस सब विषयों का न्यूनाधिक सम्बन्ध इनके दरबारी जीवन से है। ये लोग राजभक्त थे, सम्मानित जीवन व्यतीत करते थे, उच्च कुलों में उत्पन्न हुए थे, आश्रयदातृओं की कृपा से समृद्ध बने थे तथा सुशिक्षा के कारण कार्पण्य के जीवन को निरर्थक, याचना को जघन्य और गुणप्राहकता को कर्तव्य समझते थे। इसलिए अपनी परिस्थितियों के अनुसार उक्त विषयों पर बल देना इन के लिए स्वाभाविक था। ये संसार को केवल प्राचीन पुस्तकों के नेत्रों से ही नहीं, अपनी आँखों से भी देखते थे और जो बात खरी लगती थी उसे, परम्पराविरुद्ध होने पर भी

कहने का साहस रखते थे। इन्हीं के समय में तुलसीदास जी ने गुरु आदि के वचन को चुपचाप शिरोधार्य करने को कहा था—

गुरु पित मात स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भल जानी।

उचित कि अनुचित किये विचारू। धर्म जाइ सिर पातक भाऊ।^१

परन्तु रहीम में इसका प्रतिवाद करने का साहस तथा अपने समर्थन में रामायणीय दृष्टान्त ढूँढ़ निकालने की बुद्धि भी थी—

अनुचित वचन न मनिए, जदपि गुराइस गाढ़ि।

हे “रहीम” रघुनाथ तँ, सुजस भरत को बाढ़ि ॥^२

लड़ाका पड़ोसी समुद्र में डुबाने योग्य होता है, निकम्मी घरतु में भी कोई गुण होता है, राज (स्वार्थ) से मनुष्य प्रत्येक काम करने पर तुल जाता है, सत्य-भाषण से संसार दृष्ट हो जाता है, छोटे लोग बड़ों के बल पर क्रूदा करते हैं, राम-जुझार करने वाला प्रत्येक व्यक्ति हितैषी नहीं होता आदि असूच्य बातों को इन कवियों ने अपनी अनुभूतियों के आधार पर लिखा है। इन कवियों के काव्य में हिंदू-मुसलमानों का वैमनस्य दूर करने पर बह बल लक्षित नहीं होता जो संतों और सूफियों के काव्यों में दिखाई देता है। कारण यही है कि अकबर की उदार धार्मिक तथा राजकीय नीति के कारण हिंदू-मुसलमानों की समस्या शेष ही न रह गई थी।

धार्मिक नीति—जहाँ इन कवियों ने धन की चंचलता, याचकता की निन्दा, वदान्यता की प्रशंसा, बंधुघों के मध्य में निर्धन जीवन की गहंता, कुपात्र-दान की कुत्सा, प्रभु को भूलकर वित्तसंचय में मग्न होने की बुराई, धन ह्रास से गौरव-नाश आदि पुराने विषयों पर कविता की, वहाँ धन की अपेक्षा भी सत्य, साहस, आदरसंमान आदि गुणों की महत्ता, सुदानी और कुदानी की पहचान, पाप से वित्तोपाजन का प्रतिषेध, घूसखोरी की गहंता, विपत्ति में धन का भी नाश, भाग्यवश धन-प्राप्ति में पुरुषार्थ की भी विफलता, हाथ से हृदय की पहचान आदि अपेक्षाकृत नवीन विषयों पर भी रचना की है। इन नवीन विषयों की प्रेरणा इन्हें अपने पदों की महत्ता, राजकीय कर्मचारियों की अनैतिकता तथा मानवीय प्रकृति के गम्भीर अध्ययन तथा अनुभव से प्राप्त हुई थी।

प्राणिविषयक नीति—जो दया-भावना हमें सन्त और भक्त कवियों के काव्यों में दिखाई देती है, उसका दरवारी कवियों में प्रायः अभाव है। सन्तों तथा भक्तों को स्वतन्त्रता थी। न उन्हें किसी का भय था न प्रलोभन। परन्तु इन सभा-कवियों से वैसी निर्भीकता तथा निर्लोभता की आशा करना अस्वाभाविक है नरहरि ने गोवध पर प्रतिबंध लगवा दिया परन्तु मुंग, बकरा, बटेर, मछली आदि निरीह प्राणियों की प्राण

१. कविता कोमुदी, भाग १, पृष्ठ २८६

२. रहिमत बिलास, पृष्ठ १६

रक्षा के निमित्त कुछ भी लिखने का साहस इन कवियों में न था । जब प्रायः सभी दरबारी मांसमक्षणादि में विशेष रुचि रखते थे तब इन नीतिज्ञों ने मौन रहना ही उत्तम नीति समझी ।

निश्चित नीति—मिश्रित नीति के क्षेत्र में इन कवियों का योग विशेष उल्लेख्य नहीं प्रतीत होता । भगवान् की भक्ति का महत्त्व, कलिकाल का विनोद, भाग्य की घमट रेखा, पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार समाज में समृद्धि-वृद्धि या ऊँचा-नीचा स्थान, समय और स्थान का महत्त्व, प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति की प्रधानता, मृत्यु की अनिवार्यता आदि प्राचीन विषयों पर ही प्रायः इन राजाश्रित कवियों ने भी लिखा है । आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि इन कवियों ने आश्रयदाताओं की गरिमा और उनके आतंक आदि का तो बहुत वर्णन किया है परन्तु राजनीति पर विस्तारपूर्वक नहीं लिखा । राजा, मंत्री, कोष, सेना, दूत, राजकुमार, रानियाँ आदि विषयों पर ये लगभग मौन ही रहे हैं । राजा को माली के समान पोषक, तथा चंद्र के तुल्य शान्तिदायक होना चाहिए, सूर्य के समान दाहक-शोषक नहीं । सैनिकों तथा चुगल-खोरों के सम्बन्ध में कहा है—

सबें कहावें लसकरी, सब लसकर कहं जाय ।

रहिमन सेह जोई सहै, सो जागीरें जाय ॥^१

रोल बिगाड़े राज नै, मोल बिगाड़े माल ।

सने सने सरबार की, चुगल बिगाड़े घाल ॥^२

इनके प्रतिरिक्त आदि बुरा तो भन्त बुरा, हित-अनहित की पहचान में सहायक होने के कारण अल्पकालीन विपदा की प्रशंसा, दुःख-सुख का समभाव से सहन आदि विषयों पर भी रचना की गई है ।

रस और भाव—अकबरी दरबार के की नीति-रचनाएँ पद्य-मात्र नहीं । उनमें शृंगार, शान्त, वीर, करुण, अद्भुत, रोद्र और बीभत्स रसों की कहीं-कहीं व्यंजना हुई है । उत्साह, धृति, मति, शंका, दया, हास, निर्वेद, स्मृति, सामंजस्य, अमर्ष, त्रास, विषाद, घृणा, गंव आदि भावों की तो प्रचुरता ही है । रस और भावों की दृष्टि से अन्य कवियों की अपेक्षा रहीम और गंग की रचनाएँ अधिक मूल्यवती हैं ।

भाषा—इन कवियों के नीतिकाव्य में प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है । नरहरि ने अवधी, बुन्देली, राजस्थानी के भी शब्दों का व्यवहार किया है । अन्य कवियों की अपेक्षा नरहरि की भाषा में प्राकृत के समान द्वित्वाक्षरों का प्रयोग प्रचुरता से दिखाई देता है । संस्कृत, फारसी आदि के तत्सम रूपों की अपेक्षा तद्भव रूपों में कवियों की रुचि अधिक है । लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग अन्य कवियों की अपेक्षा गंग में अधिक है ।

शैली—नीति के मुक्तकों की शैली अपभ्रंश-काल में प्रचलित थी हो। प्रादि-काल में, पठान-शासन के समय में, वीरगाथाओं की अधिकता के कारण ऐसी रचनाएँ या तो लिखी ही नहीं गई या फिर परिस्थितिवश लुप्त हो गईं। भक्तिकाल में कबीर, नानक आदि सन्तों ने पुनः नीति तथा उपदेशात्मक दोहे लिखे। मुक्तकों की यही शैली नैतिक विषयों के लिए पुनः स्वीकृत हुई।

छन्द—नीति की मुक्तक रचनाओं के लिए जिन अनेक मात्रिक छन्दों का प्रश्रय लिया गया उनमें से दोहा, छप्पय, कवित्त और सबैया मुख्य हैं। सोरठा, कुंडलिया, भूजना का भी प्रयोग किया गया परन्तु कुछ ही पद्यों में। ये छन्द उपलब्ध रूप में कहीं-कहीं मात्राओं की न्यूनाधिकता के कारण सदोष हैं।

अलंकार—ये नीतिकार निरक्षर पद्यकार नहीं थे। ये साहित्यशास्त्र के विद्वान् और प्रायः सुकवि थे। इसलिए इन्होंने नैतिक तथ्यों के निरूपण में भाव और भाषा दोनों का कुछ-न-कुछ चमत्कार लाने का यत्न किया है। प्रायः इनके पद्य शब्द, अर्थ और उभय तीनों प्रकार के अलंकारों से मण्डित दिखाई देते हैं। सुन्दर उपमाओं और दृष्टान्तों से स्ववर्ण्य को अधिक रोचक और प्रभावशाली बनाना ये नीतिकार कभी नहीं भूले। शब्दालंकारों में से इन्हें छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, बीप्सा और लाटानुप्रास, यमक तथा शब्दश्लेष की अपेक्षा प्रियतर थे। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, मालोपमा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, आवृत्तिदीपक, त्रिनोक्ति अलंकारों का प्रयोग यथासंख्य, अन्योन्य, एकावली, व्यतिरेक, आदि की अपेक्षा अधिक हुआ है। संकर की अपेक्षा संसृष्टि में इन कवियों की रुचि अधिक थी।

गुण-दोष—इन कवियों के नीतिकाव्य में प्रसाद गुण सर्व-प्रधान है। माधुर्य की मात्रा उससे कुछ कम है और ओज की सब से कम। इन कवियों के आश्रयदाताओं के वीरत्व-वर्णन में तो ओज की न्यूनता नहीं परन्तु वे रचनाएँ नीति-काव्य में अन्तर्हित नहीं हो सकतीं, वस्तुतः वे प्रशस्तियाँ ही हैं। कुशल कवियों की कृतियाँ होने के कारण ये सामान्य रचनाएँ सामान्य रूप से निर्दोष हैं।

इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रायः इसका दृष्टिकोण ऐहिक है और यह लोगों को लोक-व्यवहार की शिक्षा देने को ही लिखा गया है। प्रादिकाल के कवियों में नीतिकाव्य प्रसंगवश समाविष्ट है, सन्तों तथा भक्त कवियों का नीतिकाव्य धर्मप्रवण और मोक्षोन्मुख है, इन दरबारी कवियों ने ऐहिक जीवन को सफल बनाने के लिए ऐसी काव्य-रचना की जो उनके जीवन के अनुभवों पर आश्रित है और काव्यत्व-दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

३—अनुवादक कवि

बनारसीदास—जैन महाकवि बनारसीदास के मूल नीतिकाव्यों का उल्लेख कर ही चुके हैं। इन्होंने सूक्ति मुक्तावली, कल्याणमंदिर स्तोत्र तथा जिन

सहजनाम नाम के तीन संस्कृत ग्रंथों के हिंदी अनुवाद भी किए थे, जिनमें से प्राचायं सोमप्रभ (विक्रमी तेरहवींशती) की "सूक्तिमुक्तावली" या "सिद्धरत्नकर" संस्कृत का सुंदर नीतिशतक है। प्रारम्भिक पद्ययुगल मंगलाचरणात्मक हैं, मध्यवर्ती ६० पद्य २२ अधिकारों में विभक्त हैं, अंत में ८ उपदेश-गाथाएँ हैं जो न प्राकृत भाषा में हैं, न गाथा छंद में। वे संस्कृत के शिखरिणी, शादूलविक्रीडित आदि छंदों में हैं। इन गाथाओं में से दो भर्तृहरि के नीतिशतक पद्यों के ही जैन रूपान्तर हैं।^१

उक्त ग्रन्थ का अनुवाद बनारसीदास ने अपने अभिन्नहृदय मित्र कुँवरपाल के सहयोग से संवत् १६६१ की वंशाख शुक्ला एकादशी सोमवार को सम्पूर्ण किया था।^२ कुछ पद्यों में बनारसीदास, बनारसि या बनारसी नाम आया है और कुछ में कुँवरपाल, कौरपाल या कुँवरा। जिन पद्यों में किसी का भी नाम नहीं, सम्भवतः उनकी रचना में दोनों का सहयोग रहा होगा।

मूल पुस्तक तो संस्कृत के शादूलविक्रीडित, शिखरिणी, वसन्ततिलका, हारिणी, आदि छंदों में लिखी गई है परन्तु अनुवादकों ने अपने द्वितीय प्रेम के कारण अनुवाद में मनहरण (घनाक्षरी, सर्वया इकतीसा) मत्तगयन्द, छप्पय, दोषकांतवेसरी^३ कवित्तमात्रिक (आल्हा, ३१ मात्रा), सोरठा, आभानक^४, गीता, वस्तु,^५ कुँडलिया, मरहठा, रोडक (गोला), करिखा, चोपई, चोपाई, वेसरी, पद्धरि, हरिगीतिका, पद्यावती^६ तथा दोहा छंदों का व्यवहार किया है। लक्ष्य करने की बात है कि अनुवादकों ने दोहों और चोपाई का प्रयोग तो एकाध ही स्थल पर किया है परन्तु मनहरण, मत्तगयंद, कवित्त मात्रिक (३१ मात्रा) और छप्पय का बहुत अधिक। कारण यह

१. बनारसी विलास, पृष्ठ ६८।६७, ६८, शतक त्रयम्, पृष्ठ २६।५१, ३०।५३

२. कुँवरपाल बनारसी मित्र जुगल इकचित।

तिनहि ग्रंथ भाषा कियो बहुविधि छंद कवित।

सोमप्रभ सं इक्यानवं श्रुतु प्रोष्ठम वंशाख।

सोमवार एकादशी करनछत्र सितपाख। (बनारसी विलास, पृष्ठ ८१)

३. दोषकांत वेसरी। बोहा। वेसरी के चार चरणों में कमजः १६, १६, १५, १५ मात्राएँ होती हैं। (बनारसी विलास, पृष्ठ १८, २, ३)

४. आभानक के प्रत्येक चरण में २१ मात्राएँ होती हैं और ११, १० परयति। (वही, पृष्ठ ३०।२६)

५. वस्तु छन्द पाँच चरणों का विषम छन्द है। इसके प्रथम चरण में १४, ८ की यति से २२ यात्राएँ द्वितीय तथा तृतीय चरणों में ११, १५ की यति से २६-२६ मात्राएँ होती हैं तथा अन्तिम दो चरण बोहे के होते हैं। (वही, पृष्ठ २५, ४१)

६. पदमावती के प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ होती हैं और १६, १६ पर यति (बनारसी विलास, पृष्ठ ५८ ८०, ६१।८५)

है कि मूल पद्य संस्कृत के बड़े-बड़े छंदों में हैं और उनके एक-एक पद्य में अनुवाद के लिए भी बृहदाकार छन्द ही अपेक्षित होते हैं ।

पुस्तक के विषयों का परिचय २२ अधिकारों के निम्नांकित शीर्षकों से ही हो जाता है—धर्म, पूजा, गुरु, जिनमत, संघ, अहिंसा, सत्यवचन, अदत्तदान, शील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया (कपट), लोभ, सज्जन, गुणिसंग, इन्द्रिय, कमला (लक्ष्मी), दान, तप, भावना और वैराग्य । धर्माधिकार में ६ पद्य हैं और शेष सभी में चार-चार । धर्म, पूजा, जिनमत, संघ और वैराग्य के अधिकारों के सिवा सब में सामान्य नीति का वर्णन है । परन्तु वह सामान्य नीति चाणक्य-नीति आदि से उतना साम्य नहीं रखती जितना संतों के नीतिकाव्य से । उदाहरणार्थ, कमलाधिकार में लक्ष्मी की निन्दा ही निन्दा है, उपादेयता का उल्लेख नहीं । क्रोधाधिकार में क्रोध के दोषों का ही उल्लेख है, उचित अवसर पर उसकी उपादेयता का नहीं । शौर्य, पराक्रम, उद्योग आदि पर अधिकरणों का अभाव है । कारण यह प्रतीत होता है कि मूल ग्रंथ मुनिप्रणीत है और उनका ध्यान आदर्श की ओर रहना स्वाभाविक ही था । एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

पावक तें ज्ञत होय वारिध तें यल होय,
 शस्त्र तें कमल होय, ग्राम होय वन तें ।
 कूप तें विबर होय पवंत तें घर होय,
 वासव तें दास होय हितू वुरजन तें ॥
 सिंह तें कुरंग होय ग्याल स्याल अंग होय,
 विष तें पियूष होय मासा अहिफन तें ।
 बिषम तें सम होय संकट न व्याप कोय ।
 एते गुन होय सत्यबावी के बरस तें ।

सार यह है कि कृति अनुवादात्मक होते हुए भी बहुत बढ़िया है । चाणक्यनीति, भर्तृहरि-कृत नीतिसतक आदि के अनेक कवियों ने अनुवाद किये परन्तु इतने सुंदर, सरस और प्रसादोपेत अनुवाद विरल ही हैं ।

४—फुटकर नीति कवि

१. तानसेन —प्रकबरी दरबार के रत्न, प्रख्यात संगीतनिष्णान तानसेन का जन्म सं० १५८८ में मकरंद पाण्डे के गृह में हुआ था । मुमलमान वक्ते के पश्चात् ये श्री विठ्ठलनाथ आदि के प्रभाव से पुनः वैष्णव बन गये थे । इनके फुटकल पदों में वैश्य, सत्य आदि की प्रेरणा पाई जाती है ।

१. बनारसी बिलास, पृष्ठ ३१।३२

२. मनोहर कवि—कछवाहा सरदार मनोहर अकबरी दरबार के एक अधि-कारी थे। हिंदी के अतिरिक्त फारसी में कविता किया करते थे। संवत् १६२० के लगभग इन्होंने शृंगार के अतिरिक्त नीनिविषयक फुटकल दोहों की भी रचना की थी।

३. अमृत कवि—शिवसिंह सेंगर के मतानुसार इनका जन्म सं० १६०२ में हुआ था और ये सम्राट् अकबर के आश्रित थे। ना० प्र० सभा, काशी के संग्रह सं० १३३४।८५६ में “पंचबड़ाई” नाम से इनके केवल तीन पद्य संकलित हैं। “शिवसिंह सराज” में इनका केवल एक ही पद्य संगृहीत है और वह भी पंचविषयक ही है। पद्य सूचितमात्र हैं।

४. करनसिंह—इनका जन्म सं० १६११ में और कविता-काल लगभग सं० १६३७ माना जाता है। महापात्र नरहरि के साथ अकबरी दरबार में उपस्थित हुआ करते थे तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों पर रचना करते थे। इनके नीति के फुटकल पद्य भी सुन्दर हैं।

५. जमाल—सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में यवन-कवि जमाल ने नीति के दोहे लिखे थे जो राजस्थान में लोकप्रिय हैं। अभी तक इनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ।

६. नरायणदास—इनका जन्म सं० १६१५ में हुआ था। इन्होंने सं० १६४० में हितोपदेश का छन्दोबद्ध अनुवाद किया।

७. कादिर—जिला हरदोई के निवासी, संयद इब्राहीम के अन्तेवासी कादिर-बख्श का कविता काल सं० १६६० के लगभग है। इनके नीतिविषयक कुछ स्फुट सुन्दर पद्य इधर-उधर मिलते हैं।

८. समय सुन्दर—इनका “दानशीलतपभावना संवाद” जयपुर के पुरा-तत्त्वमंदिर में सुरक्षित है। क्रमांक ८८१, पत्र ४, आकार १०” × ४ १/२”। रचना सांगा-नेर में १६६२ में की गई है। राजस्थानी-गुजराती भाषा की इस संवादात्मक कृति का विषय नाम से हो स्पष्ट है।

९. मुनिहेमराज—मुनिजी ने “अक्षर बावनी” या “हितोपदेश बावनी” की रचना सं० १६६५ में की थी। इसकी प्रति जयपुर के तेरहपंथियों के बड़े मंदिर में सुरक्षित है। इसकी क्रमसंख्या १८८६, पत्र-संख्या १२, आकार १०” × ४” तथा लिपिकाल सं० १७५७ है। राजस्थानी की इस रचना में जैनप्रिय नीति का उल्लेख है। सबैया, कवित, छप्पय छन्द व्यवहृत हुए हैं।

१०. मुनि समय सुन्दर—इन जैन मुनि ने सं० १६६८-६९ के मध्य में राज-स्थानी भाषा में नीति की निम्नलिखित छह छत्तीसियों की रचना की—१. कर्म छत्तीसी (सं० १६६८ मुसतान) २. पुण्य छत्तीसी (सं० १६६९ सिद्धपुर) ३. सन्तोष छत्तीसी (सं० १६६४ सूर्यकर्णसर) ४. प्रस्ताव सबैया छत्तीसी (सं० १६६०, खभात) ५. भालोयणा छत्तीसी (सं० १६६९ अहमदपुर) ६. क्षमा छत्तीसी (नागौर) इनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा छठी छत्तीसी हमने जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में देखी।

इन छत्तीसियों के विषय नाम से ही स्पष्ट हैं। उन्हें ऐतिहासिक दृष्टान्तों से पुष्ट भी किया गया है। परन्तु रचनाएँ काव्यत्व-रहित हैं। संभवतः ये उपयुक्त समय सुन्दर से अभिन्न हैं।

११. सीखामण डाल—प्रज्ञातनामा कवि की सत्रहवीं शती की यह रचना जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में सुरक्षित है। प्रतिसंख्या २०७५, आकार १०" × ४ $\frac{३}{४}$ " गुजराती मिश्रित राजस्थानी की इस रचना में भोले लोगों के शिक्षार्थ केवल ४७ पद्य हैं।

१२. ईसर—ये प्रख्यात राजस्थानी चारण कवि ईसरदास से भिन्न हैं। इनकी 'ईसरशिक्षा' जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में विद्यमान है। क्रमांक २०३६ है और आकार १० $\frac{३}{४}$ " × ४ $\frac{३}{४}$ "। दो पन्नों की इस पुस्तिका की भाषा राजस्थानी, गुजराती है और मांस-मदिरादि व्यसनों का निषेध किया गया है। रचना का लिपिकाल सत्रहवीं शती है।

१३. क्षमाहंस या खेम—संभवतः जैनमुनि थे। इनकी 'द्विपंचासिका' (बावनी) जयपुर के लूणकरण पांडेय के मंदिर में सुरक्षित है। गुटके (सं० ६६) का लेखन-काल सं० १६१६ है। राजस्थानी भाषा में ५४ छप्पय हैं। विषय जैन-प्रिय नीति है। ब्राह्मणों तथा जैनों के इतिहास पुराणों की कथाओं के पर्याप्त संकेत हैं।

चतुर्थ अध्याय

भक्तिकाव्य में नीति-तत्त्व : (सं० १३७५-१६००)

स्वामी रामानन्द और बल्लभाचार्य की प्रेरणा तथा हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के संपर्क के फलस्वरूप विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सत्रहवीं की समाप्ति तक हिन्दी में भक्तिकाव्यों की रचना इतनी अधिक और सुन्दर हुई कि उस युग को भक्तिकाल की संज्ञा देना ही समीचीन समझा गया। उसी युग में कबीरदास, मुहम्मद जायसी, सूरदास, तुलसीदास आदि संतों, सूफियों और भक्तों ने अपनी अमर रचनाओं से हिन्दी के मुख को उज्ज्वल किया। यद्यपि रीति-काल में भी गुरु गोविन्द सिंह, विश्वनाथ सिंह, नागरीदास, चाचा हितवृन्दावन दास, ब्रजवासीदास आदि अनेक संतों और भक्तों ने भक्ति-काव्य का प्रणयन किया तथापि इनकी रचनाओं में वह नवीनता, स्फूर्ति, भावावेश तथा काव्यत्व नहीं जो उपर्युक्त कवियों की कृतियों में सुलभ है। गत अध्याय में तो हम ने उन मौलिक तथा अनूदित रचनाओं का परिचय दिया है, जिनका विषय ही नीति था, प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी के उस भक्तिकाव्य का, नीति की दृष्टि से मूल्यांकन करने का यत्न किया जायगा, जिनकी रचना भक्तिकाल और रीतिकाल के अन्तर्गत हुई। चूँकि भक्ति की धारा स्पष्टतः चार प्रवाहों में बहती हुई लक्षित होती है, अतः उसका अध्ययन निम्नांकित चार वर्गों के अन्तर्गत करना अनुचित न होगा—(क) सन्त काव्य में नीतितत्त्व (ख) सूफीकाव्य में नीति-तत्त्व (ग) राम काव्य में नीतितत्त्व और (घ) कल्याणकाव्य में नीतितत्त्व।

(क) सन्तकाव्य में नीतितत्त्व

लोक में सन्त शब्द का व्यवहार साधु, संन्यासी, ईश्वर-भवतादि के लिए किया जाता है। इस दृष्टि से तो रामभक्त, कृष्णभक्त और सूफी सभी सन्त माने जा सकते हैं और माने भी जाते हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में सन्त शब्द से हमारा अभिप्राय कबीर साहब, गुरु नानक, दादूदयाल आदि उन निर्गुणिया महात्माओं से है, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में और उसके बाद भी एक विशेष विचारधारा का प्रवर्तन तथा प्रचार किया। ये सन्त निराकार के उपासक थे, अवतारवाद, मूर्तिपूजा आदि के विरोधी थे तथा निर्गुण राम की भक्ति और सात्त्विक जीवन के प्रचारक थे। ये हिन्दु तथा मुसलमान दोनों ही धर्मों के मूलतत्त्वों-ईश्वर-विश्वाम, सत्यप्रियता, क्षमा, दया, परोपकारादि में तो आस्था रखते परन्तु जीवहिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाजादि बाह्य आडम्बरों

वाचिक नीति

सन्त-काव्य में वाणी के प्रयोग के विषय में बहुत ही मार्मिक तथा काम की बातें कही गई हैं। जैसे, न तो वाचालता हितकर है और न मौन। अवसरानुसार मधुर-भाषी या मौनी तो होना चाहिये परन्तु कटु-भाषी कदापि नहीं। अहंकार को त्याग कर ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जिससे अपना मन शीतल हो और श्रोताओं को सुख। मधुर वचन श्रोष-सहस्र होते हैं और कटु शब्द तीर-तुल्य। वे प्रविष्ट तो कर्ण-पथ से होते हैं परन्तु प्रभावित सकल शरीर को करते हैं। संसार में जिह्वा का रस सर्वोत्तम है। गाली का उत्तर गाली से न देना चाहिए। आत्म-श्लाघा और पर-निन्दा समान रूप से त्याज्य हैं। सन्तों ने आत्म-संस्कार के लिए पर-निन्दा का तो प्रतिषेध किया है परन्तु अपनी उदारता के कारण निन्दक को बुरा न कहकर उसकी प्रशंसा की है। उसके दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की है और उसकी मृत्यु पर अश्रुपात किया है। कारण, निन्दक हमारा अपकारी नहीं, उपकारी है। हममें दोष होंगे तो निन्दक के शब्दों से प्रभावित होकर हम उनके परिहार का प्रयत्न करेंगे। इन कवियों ने सत्यभाषण को सर्वोत्तम तप और मृषावादन को निकृष्टतम पाप कहा है। सत्यवादी के हृदय में ही प्रभु विराजते हैं, दूसरों के मन में नहीं। सज्जन वही है जिसकी “कथनी और करनी” में सामंजस्य हो। लोग सच्चे व्यक्ति पर तो विश्वास नहीं करते परन्तु झूठे पर कर लेते हैं। और सबसे बढ़कर वाणी का सदुपयोग है नाम के जाप में जिस के बिना जीवन ही निरर्थक है। उदाहरणार्थ—

मधुर वचन हैं श्रोषधि, कटुक वचन हैं तीर ।
 अवण द्वार हूँ संवरें, सालें सकल शरीर ॥^१ (कबीर)
 घोबो घोबो कापड़ा (रे), निन्दक घोबो मेल ।
 भार हमारा ले चलें, (जुँ) वणिजारा को धल ॥^२ (बघना)
 सपनेहुं में धरिदके, धोखेहुं निकरे नाम ।
 बाके पग की पैतरी, मेरे तन को चाम ॥^३ (कबीर)

मानसिक नीति

उन दिनों न हिन्दुओं में पंडितों की कभी थी न मुसलमानों में उलमा की। परन्तु उनकी विद्या मनुष्यों को प्रेम-पूर्वक रहना न सिखा सकी। दोनों एक दूसरे के धर्म और संस्कृति को बुरा-भला कहने में मग्न रहते और अपने ही धर्म की श्रेष्ठता

१. कबीर बचनावली, पृष्ठ १३५।४६६
२. बघना जी की वाणी (जयपुर, सं० १९६३) पृष्ठ ६७
३. कबीर बचनावली, पृष्ठ ६७।४८॥ और भी देखें, सप्तसुधासार रज्जव की वाणी, पृष्ठ ५३२, कबीर बचनावली, पृष्ठ ११७।२६६, १४५।६०४

प्रतिपादित करते थे । यद्यपि सन्त लोग सदाचारी और अध्यात्मी थे तथापि विशेष विद्वान् व थे । इसलिए धार्मिक कलहों से खींके हुए सन्तों की वाणी में यदि विद्या का महत्त्व, उसकी उपलब्धि के साधन, विद्वानों की प्रशंसा आदि नहीं मिलती तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं । उन्होंने वेद, कुरान, पुराण की उपेक्षा की है और सबद-साखी की प्रशंसा । संस्कृत जन-साधारण के लिए दुर्बोध हो चुकी थी, इसलिए उन्होंने प्रचलित भाषा की स्तुति की है । जो लोग विविध विषयों के ग्रन्थों के अध्ययन और वाद-विवादों में रत रहते थे, उन लोगों को इन्होंने आड़े हाथों लिया है । ये लोग विवेक और बुद्धि पर तो बल देते थे परन्तु साक्षरता का विवेक और भक्ति से कारण-कार्य का सम्बन्ध मानने को उद्यत न थे । कुछ उदाहरण देखिये—

पढ़ि पढ़ि के पत्थर भये, लिखि लिखि भए जो इंट ।

कबिरा अन्तर प्रेम की लागी नेक न छोट ॥^१ (कबीर)

वेद सु बाणी कूप जल, बुख सूं प्रापति होइ ।

सबद साखि सरवर सलिल, सुख पीबै सब कोइ ॥^२ (रज्जब)

आत्मिक नीति

सन्तों के नीतिकाव्य में आत्मिक नीति का स्थान सर्वोच्च है । आत्मा के मलिन रहते हुए परमात्मा की प्राप्ति असम्भव है, इसलिए सन्तों ने आत्मिक पवित्रता पर बहुत अधिक लिखा है । आत्मा को कलुषित करने वाले दोष हैं— काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, मात्सर्य, छल आदि । इसलिए प्रत्येक सन्त ने अनेक दोहों, पदों आदि में उक्त दोषों से पृथक् रहने की, मन और इन्द्रियों को वश में रखने की तथा क्षमा, धैर्य, नम्रता, निष्कपटता आदि गुणों को ग्रहण करने की प्रबल प्रेरणा की है । मनुष्य का सम्मान गुणों से होता है, कुलीनता आदि से नहीं । गुणी व्यक्ति को निवास भी गुणग्राहकों में करना चाहिए, अगुणजों में नहीं, क्योंकि मूर्खों में निवास से न गुणों का विकास होता है न धन-मान आदि की प्राप्ति । भोग-विलास आत्मिक मार्ग के तीव्र कण्टक हैं, इसलिए उनके परिहार की शिक्षा भी स्थान-स्थान पर दी गई है । यथा—

सील की अबध सनेह का जनकपुर सन्त की जानकी व्याह कीता ॥

मर्नाह बुलहा बने आप रघुनाथ जी, ज्ञान के मोर सिर बांध लीता ।

प्रेम बारात जब चली है उमंगि कै, छिमा बिछाय जनबांस दीता ।

भूप अहंकार के मान को मर्दि कै, धीरता धनुष को जाय जीता ॥^३ (पलटू)

१. कबीर बचनावली, पृष्ठ १३३।४६६

२. संत सुधासार, पृष्ठ ५३२

३. सन्त सुधासार, खण्ड, २ पृष्ठ २४२।१५

गर्ब के प्रकारों, उनके परिणामों तथा मृत्यु से उन सबके चूर्ण होने का उल्लेख चरणदासजी ने इस प्रकार किया है—

रूपबन्त गरबावें । कोई मो सम दृष्टि न आवें ।
तदनापा गरवाना । वह अंधरा होबे राना ।
कहै धनमद में परबोना । सब मेरे ही आधीना ।
कहै कुल अभिमानी सूचा । मैं सब जातिन में ऊंचा ॥
वह विद्या गर्ब जो भारी । करै वाद विवाद अनारी ।
अब भूप करै अभिमाना । उन आपे ही कूँ जाना ॥
उन काल नहीं पहिचाना । सो मार करै धमसाना ॥^१ (चरणदास)

पारिवारिक नीति—

कबीर, नानक, शेखफरीद, गरीबदास, बपना, दरिया साहब (विहारी) आदि कई सन्त गृहस्थ थे तो रज्जब, सुन्दरदास, चरणदास, सहजो-बाई आदि विरक्त । जो गृहस्थ बेष में रहते थे वे भी मन से विरक्त ही थे, किसी भी सम्बन्धी से मोह रखना अनुचित समझते थे । वस्तुतः तो इनकी नीति यही थी—

‘कबीर’ सुमिरण सार है, और सकल जंजाल^१

सकल संसार को ही जंजाल मानने वाले सन्त घर-गृहस्थी का मोह मिटाने की बात कहें तो कोई आश्चर्य नहीं—

पिह जिनि जानी रुझी रे ।

कंचन कलस उठाइ लै मंदिर, राम कहै बिन घुरी रे ॥^२ (कबीर)

परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ये गृहस्थ-त्याग का उपदेश नहीं देते, मन को अनासक्त रखने की ही प्रेरणा करते हैं । इनके विचारानुसार उदार गृही उतना ही श्रेष्ठ है, जितना विरक्त साधु—

बंरागी बिरक्त भला, गिरहीं चित्त उदार ।

बुझूँ चूकां रोता पड़ै, ताकूँ बार न पार ॥^३ (कबीर)

पिता, माता, पुत्र, कलत्रादि से सम्बन्ध तो देववश हो गया है परन्तु वस्तुतः अपना कोई भी नहीं, सभी स्वार्थी प्रतीत होते हैं । सगा सम्बन्धी तो केवल भगवान् है । कबीरजी का कथन है—

१. सन्त सुधासार, खण्ड, २, पृष्ठ १७७।१३

२. सं० इयामसुन्दरदासः कबीर ग्रंथावली (ना० प्र० स० काशी, १९४७ ई०) पृ० ५

३. " " " पृ० ११५

४. " " "

किसका ममां चचा पुनि किसका, किसका पंगुड़ा जोई ।

यहु संसार बजार भँझ्या है, जानैगा जन कोई ॥^१

गुरु नानकदेव जी को भी संसार में कोई सखा दिखाई नहीं देता । दारा, मित्र, पुत्रादि सम्बन्धी सुख के ही साथी हैं—

या जग भीत न देख्यो कोई ।

सकल जगत अपने सुख लाग्यो, दुख में संग न कोई ॥

दारा भीत पूत सम्बन्धी सगरे धन सों लागे ।

जब ही निरधन देख्यो नर को, संग छाड़ि सब भागे ॥^२

अनन्य भक्ति के प्रसंग में सन्तों ने जो साखियाँ, पद आदि लिखे हैं, उनसे पातिव्रत की प्रशंसा, सती होने वाली नारी की स्तुति तथा व्यभिचारिणी की निन्दा सुन्दर रूप से ध्वनित होती है। जैसे—

पतिवरता पति को भजै, और न आन सुहाय ।

सिंह बचा जो लंघना, तो भी घास न खाय ॥^३ (कबीर)

सच्ची पतिव्रता : वही है जो पति-गृह में दुःख सहर्ष सहने परन्तु पर-पुरुष से प्राप्य सुखों की ओर आँख उठाकर भी न देखे—

रंग होय तो पीव को, आन पुरुष विष रूप ।

छाँह बुरी पर घरन की, अपनी भली जु धूप ॥^४ (चरणदास)

रज्जब जी की दृष्टि में दीन-दुःखिनी विधवा की अपेक्षा दृढ़ संकल्प-पूर्णक सती हो जाने वाली स्त्री कहीं स्तुत्य है—

‘रज्जब’ कायर कामिनी, रही विपत के संग ।

सती चली सरि चढ़न कूँ, पहिरि पटंबर अंग ॥^५

गार्हस्थ्य में प्रविष्ट होने वाले व्यक्तियों को अपने साथी के वय का विशेषरूप से विचार कर लेना चाहिए क्योंकि दोनों तरफ हों तो भलीभाँति निर्वाह होता रहता है परन्तु जब कोई जरठ, युवति का पाणिग्रहण कर लेता है तब उसे दबकर ही रहना पड़ता है—

होत तरुन के तरुनि बसि, विरध तरुनि बसि होइ ।

इहै रीति सब जगत की, जानत है सब कोई ॥^६ (गुरु गोविन्दसिंह)

१. “ ” ” ” ” १२०।१०२॥

२. गणेशप्रसादः हिन्दी के कवि और काव्य (१९३६ ई०), पृष्ठ ७०॥

३. कबीर बचनावली, पृष्ठ ११=१२८०॥

४. संतसुधासार, खण्ड, २, पृ० १५६।७॥

५. संतसुधासार, खण्ड १, पृष्ठ ५२७

६. गुरु गोविन्दसिंहः दशमग्रन्थ (अमृतसर २०१३ वि०) पृ० ८१।६६

सामाजिक नीति

सन्तकाव्य में पारिवारिक नीति की न्यूनता, सामाजिक नीति की प्रचुरता द्वारा दूर कर दी गई है। सन्तों ने सामान्य जन, साधु, पाखंडी, वेष, दुर्जन, वरुण-जाति, हिन्दू-मुसलमान, शाक्त, छूत-छात, स्त्री, परनारी, गुरु-शिष्य, पंडित-मूर्ख, पड़ोसी, अतिथि, संग-कुसंग प्रभृति विषयों पर, अपनी अनुभूति के आधार पर, पर्याप्त और सुन्दर लिखा है।

सामान्यजन

इनका मत है कि सामान्य जन प्रायः कृतघ्न तथा स्वार्थी होते हैं। लोग सत्य को मिथ्या तथा मिथ्या को सत्य मानते हैं। सत्यनिष्ठ व्यक्ति उनकी मिथ्या मान्यताओं में विघ्न डालने का प्रयास करते हैं; अतः वे उनके प्राण तक लेने पर उतर आते हैं। वे धार्मिक, सदाचारी, परोपकारप्रिय जनों को भी कलंकित करने में संकोच नहीं करते। अतएव उनके अपवाद की अवहेलना करना अनुचित है। यद्यपि लोग तो उक्त दोषों से युक्त हैं ही तो भी मानव-सेवा सर्वोच्च धर्म है और उससे विमुख होना मनुष्यता से ही च्युत होना है। उदाहरणार्थ—

सांच कहूं तो मारिहैं, भूठे जग पतियाय ।
ये जग काली कूकरी, जो छेड़े ता लाय ॥^१ (कबीर)
'बाढ़' डरिये लोक धं, केसी धरं उठाइ ।
अणदेखी अजगंज की, पेसी कहैं बनाइ ॥^२
हरि भजि साफल जीवना, पर उपगार समाइ ।
'बाढ़' मरणा तहं भला, जहं पसु पंखी खाइ ॥^३

साधु-पाखण्डी

ज्ञान, परोपकार और मन, वाणी तथा कर्म में साम्य ही साधुत्व का मुख्य लक्षण है। जिसके विचार, वचन और कार्य में वैषम्य हो, वह और कुछ भले ही हो जाए, सन्त नहीं हो सकता। सन्तों ने देखा कि अधिकतर लोग सन्तों और महन्तों का वेष धारणकर निरीह जनता की प्रवंचना कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने जहाँ सन्तों के लक्षण, कर्तव्यादि का निरूपण किया वहाँ पाखंडियों से बचाव के लिए लोगों को सतर्क भी किया। सन्तों की सहिष्णुता तथा परोपकारिता का प्रतिपादक पलटूदास का यह सुन्दर पद्य द्रष्टव्य है—

संत सासना सहत हैं, जैसे सहत कपास ।
जैसे सहत कपास, नाय चरखी में ओटें ।

१. कबीरवचनावली, पृ० १४६।५ ६०५

२. सन्तबाढ़ और उनकी वाणी, पृ० १३२

३. सन्त बाढ़ और उनकी वाणी, पृष्ठ १३०।।

रुई धर जब तुनं हाथ से बोज निभोटं ॥
 रोम रोम अलगाय पकरि कं धुनिया धूनी ।
 पिउनी नहं दे कात सूत ले जुलहा बूनी ।
 धोबी भट्टी पर धरी, कुन्दीगर मुगरी मारी ।
 दरजी दुक दुक फारि जोरि कं किया तयारी ॥
 पर स्वारथ के कारने दुख सहै 'पलदूबास' ।
 संत सासना सहत हैं, जैसे सहत कपास ॥'

परन्तु उक्त प्रकार के सन्त संसार में वैसे ही विरल होते हैं जैसे सिंहों के समूह, हंसों की पंक्तियाँ और रत्नों की बोरियाँ ।^१ यदि ऐसे सन्त सौभाग्य से कहीं दिखाई पड़ें तो वे सर्वथा संमान्य हैं। उनके विषय में जाति-पाँति का विचार करना बुद्धिहीनता है—

जाति न पूछो साध की पूछ लीजिए ज्ञान ।

भोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान ॥^२ (कबीर)

परन्तु जिन लोगों ने साधुत्व को सम्पत्ति-संग्रह का साधन बना लिया है, उन पर पलदूजी ने तीखा व्यंग्य कसते हुए कहा है—

पगरी धरा उतारि टका छह सात का ।

मिला दुसाला आय रुपया साठ का ।

गोड़ धरे कछु बेहि मुंझाये मूँड के ।

(अरे हाँ पलदू) ऐसा है रजगार कीजिए हूँ के ॥^४ (पलदूबास)

इसी प्रसंग में सन्तों ने उन लोगों की भी खूब खबर ली है जो विविध व्यसनों में लिप्त, कुकर्मी और प्रभु-विमुख पाखण्डियों को भी पूज्य और संमान्य मानते हैं—

पीवत भाँग तिजारो तमाख़ि लाय अफीम रहै रंग भोना ।

कर्म अशुभ करं केइ कुकृत, सुकृत शुभ सँ होय पछीना ॥

राम को नाम कह्यो खिज ऊठत, दाम कं काम गुलाम अघीना ।

रामचरण ये भेष लजावत, ऐसे कूं संत कहैं मतहीना ॥^५ (स्वामी रामचरण)

धरा, जाति-पाँति

चिरकाल से वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप विकृत हो गया था। जो ब्रह्म-ज्ञान और वेद-ज्ञान से विहीन हो चुके थे, वे भी ब्राह्मण माने जा रहे थे। जो धीरता से विरहित

१. सन्तमुखासार, खण्ड २, पृष्ठ २२३॥

२. कबीरवचनावली, पृष्ठ १२२।३२७॥

३. " " १२२।३३७॥

४. सन्तमुखासार, खंड २, पृष्ठ २४७।६॥

५. स्वामी रामचरण: अणभं वाणी (शाहपुरा, १६२५ ई०), पृष्ठ ६६॥

भक्तिकाल में नीति-तत्त्व]

थे, वे भी अपने को क्षत्रिय कहने में गर्व अनुभव करते थे। जो छल-कपट से युक्त व्यापार करते थे, वे भी वणिक् कहाते थे और शूद्र तो नीच माने ही जाते थे। भाव यह कि गौरव का मानदंड गुणोपार्जन न रहा था, वंश-विशेष में जन्म ही रह गया था। यह कुव्यवस्था वस्तुतः है ही ऐसी कि कोई भी सज्जन इसका विरोध किये बिना रह ही नहीं सकता। यही कारण है कि बौद्ध, जैन, सिद्धादि ने इसका प्रबल विरोध किया था। नवागन्तुक मुसलमानों में भी इस प्रकार का जन्ममूलक भेदभाव न था। बात वगैरें तक ही सीमित न रह गई थी, क्योंकि प्रत्येक वर्ग में अनेक जाति-पातियाँ बन चुकी थीं, जो एक-दूसरे से खान-पान तथा ब्याह-शादी का प्रतिषेध करती थीं। सन्तों ने इस सामाजिक वैयम्य पर प्रबल कुठाराघात करना अपना कर्तव्य समझा और योग्यता तथा सच्चरित्र को ही गौरव का आधार प्रतिपादित किया। उदाहरणार्थ—

(क) एक बूंद एक मल भूतर एक चाम एक शूबा।

एक जोतिष सब उतपना, कौन बाह्म कौन सूबा ॥^१ (कबीर)

(ख) ब्राह्मण सो जो ब्रह्म पिछाने, बाहर जाता भीतर भाने।

पाँचों वस करि भूठ न भाखे, दया जनेऊ अन्तर राखे ॥^२ (वरणदास)

(ग) खत्री ब्राह्मण शूद्र बंस की, जाति पूछि नहि देता दाता ॥^३ (नानकदेव)

हिन्दू-मुसलमान

हिन्दू मुसलमान अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता के अभिमान से अन्धे हो रहे थे और एक-दूसरे से घृणा करते थे। हिन्दू तिलक लगाते, माला फेरते, प्रतिमा-पूजन करते और यज्ञोपवीत पहनते थे। मुसलमान मस्जिद में उच्च स्वर से बांग देते, रोजे रखते और पश्चिमाभिमुख नमाज अदा करते थे। परन्तु उनमें इतनी बुद्धि कहीं थी कि राम और रहीम को, कृष्ण और करीम को, काबा और काशी को एक समझते ! इन सन्तों ने निर्भीकतापूर्वक दोनों के दम्भ का ढंके की चोट से दलन किया और सद्धर्म-निरूपक संतमत का प्रचार किया। जैसे—

(क) वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिए।

कोइ हिन्दू कोइ तुलक कहावे, एक जमीं पर रहिए ॥^४ (कबीर)

(ख) ब्राह्मण तो भये जनेऊ को पहिरि के, बाह्मनी के गले कछु नहि देखा।

आधी सुत्रिनि रहै घरं के बीच में, करं, तुम खाहु यह कौन लेखा।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६।५७॥

२. सं० वियोगी हरि : सन्तवाणी (दिल्ली, १९३८ ई०), पृष्ठ ७१

३. " " " " " " " " " ६७

४. कबीर बचनावली, पृष्ठ २०८

सेख की सुन्नति से मुसलमानी भई, सेखानी को नाहि तुम कहो सेखा ।
 आधी हिन्दुइनि रहै घर के बीच में, पलटू अब दुहुन के मार मेखा ॥^१
 (पलटूबास)

(ग) दोनों भाई हाथ-पग, दोनों भाई कान ।
 दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मुसलमान ॥^२ (दादूजी)

छूत-छात

सन्तों के समय में छूत-छात ने इतना घृणित रूप धारण कर लिया था कि उच्च-कुलीन हिन्दू, तथाकथित अस्मृश्य जातियों के स्पर्शमात्र से अपने को अपवित्र मानने लगते थे । चौके-चूल्हे की पवित्रता का इतना अधिक ध्यान रखा जाता था कि न कोई किसी की पकाई हुई रोटी खाता था और न हाथ से छुई हुई । सार यह कि स्वच्छता का स्थान अन्धविश्वास ने ले लिया था । सन्तों ने इस बाह्याडम्बर का खंडन कर आन्तरिक पवित्रता का अनुरोध किया । उनके मत में तो उन्हीं से सम्पर्क विजित है जो माया में लिप्त हैं, अन्य लोगों से नहीं ।^३

एक पवन एक ही पांणी, करी रसोई न्यारी जानी ।
 माटी सूं माटी ले पोती, लागी कहो कहां धूं छोती ॥
 धरती लीपि पवित्र कीन्हो, छोति उपाय लीक बिचि दोन्हो ।
 या का हम सूं कहो बिचारा, बयूं भव तिरिहो इहि आचारा ॥^४

स्त्री

भक्ति के मार्ग में यदि पुरुषों के लिए स्त्री कटक रूप है तो स्त्रियों के लिए पुरुष भी पुष्प रूप नहीं हैं । परन्तु अधिकतर सन्तकाव्य पुरुष-प्रणीत है, स्त्री-रचित नहीं । कदाचित् यही कारण है कि सन्तकाव्य में स्त्रियों को तो पानी पी-पी कर कोसा गया है परन्तु पुरुष की पुरुष रूप में निन्दा दृष्टिगोचर नहीं होती । सहजोबाई और दयाबाई स्त्रियाँ थीं, परन्तु उन्हें भी, सम्भवतः पुरुष (चरणदास जी) की शिष्याएँ होने के कारण, पुरुषों के विरुद्ध कुछ लिखने का साहस नहीं हुआ । अस्तु, सन्तों के मत में स्त्री सूली से भी अधिक घातक और काली नागिन से भी अधिक विषैली है । मदं वही है जो कामिनी तथा कनक के प्रभाव से अपने को बचा सकता है । स्त्री को वित्त भले ही दिया जाए परन्तु चित्त कभी न देना चाहिए क्योंकि वह सच्चा प्रेम नहीं करती । स्त्री-चरित्र अत्यन्त दुर्बोध है और स्त्री से प्रेम करने वाले महामूर्ख होते हैं । जैसे—

१. सन्त सुभासार, पृष्ठ २४२-४३

२. सन्त बाणी, पृष्ठ ६६

३. सन्तबाणी, पृष्ठ १४७

४. कबीर ग्रन्थावली, रमंणी, पृष्ठ २४५ ॥

सुंदरि थें सुली भली, विरला बंचे कोइ ।
 लोह निहाला अगनि में, जलि बलि कोइला होय ॥^१ (कबीर)
 काल कनक अरु कामिनी, परिहरि इन का अंग ।
 दादू सब जग जलि मुवा, ज्यों दीपक ज्योति पतंग ॥^२ (दादू)
 जे स्याने ह्वै जगत में, त्रिय सो करत पियार ।
 ताहि महा जड़ समुझिये, चित्त भीतर निरधार ॥^३

यह स्मरण रहे कि 'कामी नर' की तो निन्दा सन्तों ने की है,^४ परन्तु नर-मात्र की नहीं । हाँ, कहीं दबी जवान से सकाम स्त्री-पुरुष दोनों को ही दूषित ठहराया है—
 नर नारी सब नरक हैं, जब लग देह सकाम ।
 कहै कबीर ते राम के, जे मुमिरें निहकाम ॥^५

परनारी

परदाराभिगमन अत्यन्त अनैतिक कार्य है क्योंकि इससे जहाँ पारिवारिक पवित्रता भग्न होती है वहाँ सामाजिक मर्यादा विध्वस्त । सच तो यह है कि इससे घृणित कार्य दूँढ ही मिलेगा । इसलिए यदि नारी-मात्र को निन्द्य कहने वाले सन्तों ने परदाराभिगमन का प्रबल निषेध किया है तो कोई आश्चर्य नहीं । नामदेव जी परधन तथा परकलत्र के परिहार को प्रमुप्राप्ति का प्रमुख साधन मानते हैं और कबीर साहब व्यभिचार को समूलोन्मूलक—

परधन पर - बारा परिहरी । ताके निकट बसहि नरहरी ॥^६ (नामदेव)

परनारी राता फिरें, चोरी बिड़ता साहि ।

बिबस चारि सरसा रहें, अंति समूला जाहि ॥^७ (कबीर)

गुरु-शिष्य

जो सन्त लौकिक विद्याओं को ही महत्त्व न देते थे वे उनके शिक्षक पंडितों और विद्वानों को पूज्य क्यों मानते ? हाँ, जो आध्यात्मिक गुरु मनुष्यों को देवता बनाने तथा प्रभु का साक्षात्कार कराने में समर्थ थे, उनकी इन्होंने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । उन्हें लोकोत्तर व्यक्ति कहने मात्र से इन्हें सन्तोष न होता था, इसलिए इन्होंने उन्हें परमात्म-रूप और कहीं-कहीं तो ब्रह्म से भी बड़ा बता दिया है । प्राचीन मान्यताः

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४०।१६ ॥

२. सन्त सुधासार, खंड, १, पृष्ठ ४७६।१२ ॥

३. ब्रह्म ग्रन्थ, पृष्ठ ८३८।१४ ॥

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३६-४१

५. " " " ३८

६. सन्त सुधासार, खंड १, पृष्ठ ५४

७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३६

चली आती है कि ब्रह्म को जान लेने और प्राप्त कर लेने पर कुछ भी ज्ञातव्य और प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। यही कारण है कि सन्तों ने गुरु को कल्पतरु, कामधेनु आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है। गुरु के चुनाव में शिष्य को विशेष सावधानता से काम लेना चाहिए क्योंकि जहाँ सद्गुरु शिष्य को लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ होता है, वहाँ कन-फूँका गुरु उसके जीवन को ही नष्ट कर देता है। गुरु योग्य हो तो शिष्य के ज्ञान का उसके दर्शन-मात्र से भी उपचय होता रहता है। शिष्य तो ऐसा होना चाहिए कि गुरु पर सर्वस्व न्योछावर करने में भी संकोच न करे और गुरु ऐसा कि शिष्य की श्रद्धा-भावना से ही सन्तुष्ट रहे, लोभ का उन्मेष तक हृदय में न होने दे। जहाँ शिष्य का पात्रत्व देखकर ज्ञान देना गुरु का कर्तव्य है, वहाँ अविनीत शिष्य को तर्जना, ताड़ना द्वारा विनीत बनाना भी उसी का कार्य है। ऐसे अवसरों पर गुरु के सम्मुख बोल पड़ना या रूठ कर अन्यत्र प्रस्थान करना सच्छिष्य का काम नहीं। अस्तु, इन विषयों के दो-चार पद्य द्रष्टव्य हैं—

- (क) गुरु गोविन्द बोज़ खड़े, काके लागी पांय ।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय ॥^१
- (ख) कन फूँका गुरु जगत का, राम मिलावन और ।
सो सतगुरु को जानिये, मुक्ति दिखावन ठौर ॥^२ (चरणदास)
- (ग) मार भली जो सतगुरु देहि। फेरि बदल औरें करि लेहि ।
ज्युं माटी कूँ कुटं कुंभार । त्यूं सतगुरु की मार विचार ॥
जंसा लोहा घड़ं लुहार । कूटि काटि करि लेवे सार ।
त्यूं रज्जब, सतगुरु का खेल । ताते सभी मार सब भेल ॥^३

बुद्धिमान्, मूर्ख

यद्यपि साक्षरता से बुद्धि की वृद्धि होती है तथापि इस बात का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता कि निरक्षर व्यक्ति भी बुद्धिमान् और साक्षर भी मूर्ख हो सकते हैं। सन्तों ने जहाँ विद्या और विद्वानों की, प्रेम-विमुख तथा विवादोन्मुख करने के कारण, गर्हा की है, वहाँ सुबुद्धि व्यक्तियों की स्तुति और कुबुद्धि लोगों की वृत्ता करने में भी वे पीछे नहीं रहे हैं। जैसे—

बिना बसीले चाकरी, बिना बुद्धि की देह ।
बिना ज्ञान का जोगना, फिर लगाए खेह ॥^४ (कबीर)

१. कबीर वचनावली, पृष्ठ ११६॥

२. संतमुखासार, खण्ड २, पृष्ठ १७३।१॥

३. ,, ,, १ ,, ५२२-२३॥

४. कबीर वचनावली, पृष्ठ १४७

मूरख को समझावते ज्ञान गांठि को जाय ।
कोइला होय न ऊजरो, नौ मन साबुन लाय ॥^१ (कबीर)

सत्संग-कुसंग

मनुष्य सदा एक-सा नहीं रहता । उस के विचार, वाणी और कार्य संगति से प्रभावित होते रहते हैं । निर्बल संकल्प वाला व्यक्ति संगति से शीघ्र प्रभावित होता है तो दृढ़ संकल्प वाला कुछ बिलंब से । ऐसे व्यक्ति तो दुर्लभ ही होते हैं जो चिरकाल तक सत्संग या कुसंग करने पर भी पूर्ववत् ही बने रहते हैं । इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का सन्तों ने भली भांति अनुभव किया था और इसीलिए प्रायः सभी सन्तों ने सत्संग में प्रवृत्त होने तथा कुसंग का परिहार करने की प्रबल प्रेरणा की है । उन का मत है कि सत्संग से दुःख दूर होते हैं और कुसंग से प्राप्त । सत्संग में रहते हुए जो भी भूखी प्राप्त हो तो अच्छी परन्तु कुसंग में रह कर मिष्टान्न-भोजन भी बुरा । जब तक सत्संग न हो तब तक तीर्थ-यात्रा भी निष्फल है और जीवन भी । कुसंगति से लगने वाला धब्बा नहीं धुलता । मनुष्य को तभी सचेत होना चाहिए जब वह कुसंगति में पड़ने लगे क्योंकि जब कुसंग का रंग पर्याप्त चढ़ जाता है तब अनेक उपायों से भी दूर नहीं होता । उन्हीं लोगों की संगति करनी चाहिए जिनके विचार समान हों क्योंकि विभिन्न विचार वालों की संगति का चिरकाल तक निर्वाह असम्भव है । कुछ उदाहरण लीजिए—

कबिरा संगत साधु की, जो की भूखी खाय ।

खीर खांड भोजन मिले, साकट संग न जाय ।

कबिरा खाई कोट की, पानी पिबे न कोय ।

जाय मिले जब गंग से, सब गंगोदक होय ॥^२

• हंसा कौवा न बणै, जाके दोय विचार ।

हंसा मुक्ताहल चुगै, वे विष्टा भोजनहार ॥^३ (रामचरण)

पड़ोसी

सामाजिक दृष्टि से हमारा जितना सम्बन्ध प्रतिवेशी से होता है उतना सगे-संबंधियों से भी नहीं । प्रतिवेशी से सम्बन्ध अच्छे हों तो जीवन अधिक सुखी बन जाता है और यदि मनमुटाव हो तो जीवन की शान्ति भग्न हो जाती है । पलटू साहब का मत तो यह है कि यदि पड़ोसी से प्रतिदिन कलह हो तो मकान को छोड़ कर अन्यत्र चले जाना अच्छा, नित्य की खटपट बुरी ।^४ स्वामी रामचरणजी की नीति यह है कि मनुष्य को बह्मरम्भी न होना चाहिए । अपनी गृहस्थी का भार ही दुर्वह होता है, इसलिए पड़ोसी

१. कबीर बचनावली, पृष्ठ १४८॥

२. " " " १२५।३७४; १२६।३७६॥

३. स्वामी रामचरणः अणभंवाणी (सन् १९२४), पृष्ठ २३॥

४. सन्तुषासार, पृष्ठ २३५।३२॥

का भार भी अपने सिर पर लेना नीतिमत्ता नहीं।^१ कबीर साहब का विचार है कि पानी छान कर पीने की अपेक्षा पड़ोसी से प्रेमपूर्वक व्यवहार करना अधिक अच्छा है। कारण, जल छानने से तो तुच्छ कीटाणुओं की ही रक्षा होती है परन्तु पड़ोसी से रूष्ट होना प्रतिक्षण अपनी ही हानि करना है और सामान्य कीटाणुओं से मानव-जीवन कहीं मूल्यवान् है।

पाड़ोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि ।

पंडित भए सरावगी, पाणी पीवें छाणि ॥^२ (कबीर)

इस प्रकार सन्तों ने कलही पड़ोसी से भागने, उसका भार सिर पर न लेने तथा उससे न रूठने की प्रेरणा तो की है परन्तु बाइबल की-सी 'तू अपने पड़ोसी से अपने ही समान प्रेम कर'^३ की प्रबल प्रेरणा इस काव्य में दिखाई नहीं देती।

अतिथि

अतिथि-पूजा को भारत में चिरकाल से परम कर्तव्य माना जा रहा है। मनु महाराज ने तो इसे गृहस्थों के परम धर्म रूप पंच महायज्ञों—ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूत-यज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ—में स्थान दिया है। उन्होंने 'नृयज्ञो—अतिथि पूजनम्'^४ अर्थात् अतिथि पूजा को ही नृयज्ञ नाम दिया है और अतिथियों की अन्न से सेवा करने का विधान किया है।^५ यद्यपि सन्तों ने धन की कभी विशेष कामना नहीं की तथापि प्रभु से इतने वित्त की याचना की ही है जितने से उनका अपना भी निर्वाह हो जाए और अतिथि को भी भूखा न जाना पड़े—

साईं इतना बीजिए, जामें कुटुंब समाय ।

मैं जो भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥^६ (कबीर)

जिस घर में सच्चरित्र साधु-सन्तों का सम्मान नहीं होता उसे श्मशान और उस घर में रहने वालों को मानव नहीं, भूत-प्रेत समझना चाहिए—

जिहि घर साधु न पूजिये, हरि की सेवा नाहि ।

ते घर मड़हट सारखे, भूत बसैं तिन माहि ॥^७ (कबीर)

शाक्त

ध्यान देने की बात है कि सन्तों ने हिन्दू-मुसलमानों को तो परस्पर समीप लाने का भरसक उद्योग किया है, परन्तु शाक्तों से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद की ही प्रेरणा की

१. स्वामी रामचरण, अणभं वाणी, १०५६।७ २. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३७।१२

३. होली बाइबल, लेविटिकस, अध्याय १६।१८

४-५. मनु० ३।७०, ३।८१

६. सं० रामनरेश त्रिपाठी: कविता कीमुदी, भाग १, (बम्बई १९५४ ई०) पृष्ठ १६०।६८

७. कबीर ग्रन्थावली, १० ५३।३

है । कारण यह है कि सन्त तो सच्चरित्र को जीवन-चर्या में प्रमुख स्थान देते थे और शाक्तों का आचार-व्यवहार अत्यन्त गहर्ष था । यही कारण है कि उन्होंने द्विज-कुल में उत्पन्न शाक्त ब्राह्मण के दर्शन को भी वर्ण्य कहा है और दवपच-वंश में उत्पन्न वैष्णव को भी आलिङ्ग्य । जैसे—

साधत बांभण मति मिले, बैसनौ मिले चंडाल ।

अंक माल बं भेटिये, मानौ मिले गोपाल ॥^१ (कबीर)

दुष्ट

दुष्टों के विषय में सन्तों के विचार वीरगाथाकारों से सर्वथा विपरीत हैं । वीर कवि तो दुर्जनों को शस्त्रबल से सीधा करने की शिक्षा देते हैं,^२ परन्तु सन्त-काव्य क्षत्रियों का काव्य नहीं, भक्तों का काव्य है । वे परपीड़कों को सबसे जघन्य भी कहते हैं^३ और उसकी मृत्यु से पृथ्वी के भार का हलका होना भी, परन्तु उनका मत है कि सुसंगति से दुष्ट का प्रायः सुधार नहीं होता । सदुपदेश से वे संवरते नहीं और शस्त्र-प्रहार की इनमें क्षमता नहीं, इसलिए एक ही उपाय शेष रह जाता है कि उनसे दूर रहो और इसकी शिक्षा वे अनेक स्थलों पर देते हैं । जैसे—

बाढ़ कीड़ा नर्क का, राख्या चंदन मांहि ।

उलटि अपूठा नरक में, चंदन भाव नांहि ॥^४

आप भले तो सबहि भलो है, बुरा न काहू कहिये ।

जाके मन कछु बसे बुराई, तासौ भागे रहिये ॥^५ (मल्लूबास)

आर्थिक नीति

यद्यपि सन्तों ने कामिनी के समान कंचन की भी तत्त्वतः कुत्सा ही की है तथापि अधिकतर सन्त, स्वयं गृहस्थ होने के कारण, उसे सर्वथा त्याज्य नहीं कह सके । उन्होंने परिश्रमपूर्वक वित्तोपाजन करने वाले गृहस्थों को परद्रव्य पर आश्रित सन्तों से अन्ध्रा ही कहा है ।^६ परन्तु इस बात का उन्होंने विशेष आग्रह किया है कि कमाई पुष्प की होनी चाहिए, न छल-कपट की, न कम तोल-माप की ।^७ उनकी रचनाओं में निर्धनता-जन्य सामाजिक अनादर का भी कई स्थलों पर उल्लेख किया गया है ।^८ यही कारण है

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३।६॥

२. प्रस्तुत प्रबन्ध का १५६ पृष्ठ देखें ।

३. संतमुधासार, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३६।२७

४. " प्रथम " " ४६८

५. " दूसरा " " ३३।४

६. " " " " २४८।७

७. " " " " २३३।२८

८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०२।१३०

कि उन्होंने याचना को मृत्यु-मुल्य कहा है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि अपने लिए याचना की निन्दा करते हुए भी परमार्थ के लिए माँगने को बुरा नहीं कहा गया। धन के उचित महत्त्व को स्वीकृत करते हुए भी उन्होंने वित्त-संचय का निषेध किया है। प्रभु पर विश्वास उन्हें इतना अधिक था कि धन-संग्रह की आवश्यकता न रहती थी। उन्हें प्रभु सर्वदा और सर्वत्र अपने अंग-संग दिखाई देता था और उन्हें दृढ़ विश्वास था कि जो माँगेंगे मिल जायगा। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में सन्तोष की स्तुति बहुत की गई है। आज प्रत्येक तथाकथित सभ्य देश अपना जीवन-स्तर उन्नत करने की चिन्ता में व्यस्त दिखाई देता है। परन्तु सन्तों का विचार यह था कि जीवन-स्तर जितना उन्नत करने का उद्योग किया जायगा, उतना ही समाज के नैतिक स्तर का पतन हो जायगा। इसलिए उन्होंने चुपड़ी और सारी रोटी पर सूखी और आधी रोटी को अधिमान दिया है।^१ ध्यान देने की बात है कि सन्त-काव्यों में वित्तार्जन पर उतना बल नहीं जितना दान-पुण्य पर। वे अनुभव करते थे कि लोग लोभ की लहर में स्वतः एव इतना अधिक बहे जा रहे हैं कि उन्हें धनोपार्जन की शिक्षा देना अनावश्यक है। परन्तु ये यह भी अनुभव करते थे कि लोग उपार्जित द्रव्य को अपनी ही सुख-सुविधाओं तथा विषयभोगों के लिए व्यय करते हैं, सत्कार्यों में उसका विनियोग नहीं करते। यही कारण है कि उन्होंने कृपणों की निन्दा की है और घर में धन बढ़ जाने पर उसे दोनों हाथों से दान करने की प्रेरणा।^२ दान करते समय पात्रापात्र का ध्यान रख लेने की नीति का भी उनके काव्यों में उल्लेख मिलता है। उक्त कथन के समर्थक कुछ पद्य अवलोक्य हैं—

धन-निन्दा

माया की भूल जग जल्यो, कनक कामिनी लागि ।

कहु धौं किहि विधि राखिये, रुई लपेटी आगि ॥^३ (कबीर)

याचक-निन्दा

मरि जाऊं माँगूँ नहीं, अपने तन के काज ।

परमार्थ के कारने, मोहि न आबं लाज ॥^४

पाप की कमाई

ऊँची है दुकान जा मैं फीके पकवान भरें,

खड़े हैं गिवांर लोग जाँण हलवाई है ।

बूर की मिठाई चाप चप सूं बनाई,

नहीं भाव मैं भलाई घाट तोला सूं तुलाई है ।

१. कबीर वचनावली, पृष्ठ १४८।६६७

२. " " " १४३।५७५

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३५।३२

४. कबीर वचनावली, पृष्ठ १४३।५८२

कपठ कमाई क्षुधा खात हू न जाई,
 बाम लेत है बजाई चाल चोर की चलाई है ।
 साब शरण पाई तोही साच नाहि आई,
 'रामचरण' राम बिना दुनी भरमाई है ॥^१

इतर-प्राणविषयक नीति

दया, क्षमा, शीलादि के प्रचारक सन्तों की नीति इतर प्राणियों के प्रति भी उदार है। उन्हें गाय, बकरी, मुर्गी आदि में भी वैसे ही जीव की प्रतीति होती है जैसे मनुष्य में। इसीलिए सन्तों ने जीवमात्र की हत्या का निषेध किया है—

दया कौन पर कीजिए, कापर निर्दय होय ।

साई के सब जीव हैं, कोरी कुंजर द्योय ॥^२

सन्तों ने देखा कि हिन्दू बकरी आदि को तो हड़प कर जाते हैं परन्तु गौ को पूज्य मानते हैं और मुसलमान गौ-बकरी आदि को तो भक्ष्य मानते हैं परन्तु शूकर को अभक्ष्य। उनका मत यह था कि जब आत्माएँ सभी में एक-सी होती हैं तो एक का भक्षण पुण्य क्यों और दूसरे का पाप क्यों? इसीलिए उन्होंने सभी को मांस-मात्र के परित्याग की प्रेरणा करते हुए कहा—

क्या बकरी क्या गाय है, क्या अपना जाया ।

सबको लोहू एक है, साहिब फरमाया ।

पीर पंगंबर ओलिया, सब मरने आया ।

नाहक जीव न मारिये, पोषन को काया ॥^३ (गुरु नामक)

पीर सबन की एक सी, मूरख जानत नाहि ।

कांटा चूभे पीर है, गला काटि को खाइ ॥^४ (मलूकदास)

सन्तों की यह दया-भावना प्राणियों के प्राणापहरण के निषेध तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने तो उन लोगों की भी निन्दा की है जो बछड़ों को पूरा दूध भी नहीं पीने देते, वृक्षों की हरी शाखाओं को विच्छिन्न करते हैं तथा चर्चा-पूजा आदि के लिए पत्र-पुष्प तोड़ने में संकोच नहीं करते। जैसे—

बछा चूखत उपजी न दया, बछा बांधि बिछोही मया ।

ताका दूध आप दुहि पीया, ग्यान विचार कछु नहीं कीया ॥^५ (कबीर)

१. रामचरण : अणभे वाणी, पृष्ठ १००।६

२. कबीर वचनावली, पृष्ठ १४५।५६८

३. गणेशप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी के कवि और काव्य (१९३६ ई०), १० ७०

४. वियोगी हरि : संतवाणी, १० ८१

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४४-४५

हरी डारि न तोड़िये, लागे छूरा बान ।

बास 'मलूका' यों कहै, अपना सा जिव जान ॥^१

भारत में चिरकाल से यह भावना प्रचलित है कि जिस पशु का मांस हम यहाँ खायेंगे, वही पशु अगले जन्मों में हमारा मांस खायगा । 'मांस' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी बात की ओर इंगित करती है । "मां सः" अर्थात् मुझको वह (खायगा), जिसे मैं अब खाता हूँ ।^२ इसी भाव की ओर संकेत सन्तकाव्य में भी प्राप्य है । जैसे—

खुस खाना है खीचरी, माहि परा दुक नोन ।

मांस पराया खाय कर, गरा कटावे कौन ॥^३

मिश्रित नीति

सन्तों की मिश्रित नीति निम्नांकित वर्गों में विभाज्य है—१-संसार, २- मृत्यु, ३-देश, ४-काल, ५-भाग्य-पुरुषार्थ, ६-दुःख, ७-शकुन-ज्योतिष, ८-भूत-प्रेत, ९-धर्म ।

संसार

सन्त-कवियों के मत में संसार निःसार स्थान है, स्पृहणीय नहीं । यहीं तक नहीं, वे तो इसके वास्तविक अस्तित्व का ही प्रत्याख्यान करते हैं और इसे स्वप्न के समान मिथ्या मानते हैं । वे इसे सेमल के सुमन के सदृश आपातरमणीय कहते हैं । इसलिए उनकी दृष्टि में मन को कभी संसार में न लगाना चाहिए । जीवन में कुछ-न-कुछ तो प्रत्येक व्यक्ति करता ही रहता है, परन्तु विवेकी मानव वही है जो शरीर से बाह्य कार्य करता हुआ भी मन को महेश्वर में ही मग्न रखता है । सारांश यह कि मनुष्य को संसार में ऐसे ही अनासक्त रहना चाहिए जैसे मुख में जिह्वा । उदाहरणार्थ—

ऐसा यह संसार है, जंसा सेमर फूल ।

दिन दस के व्योहार में भूठे रंग न भूल ॥^४

जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहि ।

घोव घना भच्छन करे, तो भी चिकनी नाहिं ॥^५ (चरणदास)

२. मृत्यु

मृत्यु सदा ही धर्मप्रचारकों का अमोघ अस्त्र रही है । इसी का स्मरण करा वे जन-साधारण को ईश्वरोन्मुख करते रहे हैं । सन्तों ने भी मृत्यु की अनिवार्यता, भयंकरता,

१. सन्तसुधासार, खण्ड, २, १० ३८।२०

२. मां स भक्षयिता अनुत्र, यस्य मांसमिहादम्यहम्

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ (मनुस्मृति ५।५५)

३. कबीर वचनावली, १० १४८।६३४

४. कबीर वचनावली, पृष्ठ १२८।४०६॥

५. सन्तसुधासार, खण्ड, २, १६७।८॥

आकस्मिकता आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख कर लोगों को विषयविमुख तथा परमार्थोन्मुख करने का उद्योग किया है। सन्तों ने इस बात पर तो आश्चर्य प्रकट किया है कि मनुष्य जीता कैसे रहता है, इस बात पर नहीं कि वह मरता क्यों है। उन की दृष्टि में तो जीवन झूठा है और निधन सच्चा। जहाँ उन्होंने सामान्य लोगों के लिए मृत्यु को भयंकर बताया है वहाँ सन्तों के लिए आनन्ददायक, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् ही 'पूरन परमानन्द' की प्राप्ति होती है। अन्त-काल में पुत्र, पत्नी आदि सम्बन्धियों का स्मरण करने वाला मनुष्य विभिन्न नीच योनियों में जाता है ;^१ किसी के कालकवलित होने पर करुण क्रन्दन व्यर्थ है, इत्यादि नीतियाँ भी जहाँ-तहाँ उल्लिखित हैं। यथा—

चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय ।

बुझ पट भीतर आइके साबित गया न कोय ॥

जा मरने से जग डरं मेरे मन आनन्द ।

कब मरिहों कब पाइहों पूरन परमानन्द ॥^२ (कबीर)

देश

यों तो गंगा, यमुना आदि नदियों और काशी, हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थों की पावनता का भाव इस देश में चिरकाल से चला आ रहा है, तो भी इस भाव का प्रत्याख्यान करने वाले सिद्ध,ना आदि समय-समय पर आविर्भूत होते रहे। सन्तों ने भी तीर्थों की यात्रा से और नदियों में स्नानादि से निष्पाप होन का प्रबल खण्डन किया है। इन के मत में तो सच्चे तीर्थ मानवीय मन में ही विद्यमान हैं, और उन्हीं में स्नानादि से मनुष्य का कल्याण संभव है। जैसे, चरणदासजी का एक पद है—

(क) घट में तीरथ क्यों न नहावो ।

इत उत डोलत पथिक बनें ही, भरमि भरमि क्यों जन्म गंवावो ।

सत जमुना संतोष सरस्वती गंगा धीरज धारो ।

झूठ पटकि निर्लोभ होय करि, सब ही बोझा सिर सूं डारो ॥^३

(चरणदास)

गरीबदास जी के मत में तो सत्यवादी तथा निष्कपट साधुओं का समागम ही सच्चा तीर्थ-मज्जन है—

साहिब जिनके उर बसै, झूठ कपट नहिं भंग ।

तिनका दरसन न्हान है, कहं परबी फिर गंग ॥^४

स्मरण रहे कि सन्तों ने तीर्थों के खंडन में हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं

१. ग्रन्थसाहब, भाग, १, पृष्ठ ५२६॥

२. कबीर वचनावली, पृष्ठ १३०।४३०, ११६।२५६।

३. संतमुखासार, खंड २, पृष्ठ १६०।१५

४. विद्योगी हरिः सन्तबाणी, पृष्ठ १४३॥ और भी देखें 'वषणाजी की बाणी, पृष्ठ १०८।६

रखा। कबीर, बुस्नाशाह आदि ने भक्ता-यात्रा, रोजा आदि का भी उसी निर्भीकता से विरोध किया है, जिससे काशी, गंगा आदि का ।^१

काल

समय के सम्बन्ध में सन्तों की नीति यह है कि जो कुछ करना हो तुरन्त कर डालो, विलम्ब उचित नहीं। कौन कह सकता है कि जिस कार्य को हम किसी आगामी काल के लिए स्थगित करते हैं, वह समय आयागा भी या उससे पूर्व ही हमारा महा-प्रस्थान हो जायगा।^२ जो व्यक्ति प्रभु-भक्ति या कोई अन्य कर्तव्य कार्य समय पर नहीं करते, उन्हें भ्रन्त में पश्चात्ताप करना ही पड़ता है। जो व्यक्ति अपने अमूल्य समय को निद्रा, तंद्रा, खानपानादि में ही यापित कर देते हैं, वे कौड़ियों के बदले हीरे दे डालने वाले महामूर्ख हैं।^३

भाग्य, पुरुषार्थ

सन्तों की रचनाओं में पुरुषार्थ की विशेष चर्चा नहीं मिलती। मिलती भी है तो भक्ति, नाम-जप आदि के लिए उद्योग करने की। संसार को जंजाल मानने वालों से सांसारिक सुखैश्वर्यों के लिए प्रयास की प्रेरणा की आशा व्यर्थ ही है। इनके विचार में तो जो ईश्वर ने दे दिया है, उसी पर सन्तुष्ट रहना उचित है और यदि कोई पुरुषार्थ करे भी तो भी उससे क्या बनता है? उपलब्धि तो उतनी ही होगी, जितनी कि भाग्य में अंकित की जा चुकी है—

जाकौ जेता निरमया, ताको तेता होइ।

रत्तो घटं न तिल बढ़े, जो सिर कूटे कोइ ॥^४

बात यह है कि जिनके मन में धनैश्वर्य तथा सांसारिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने की कामना रहती है, वही अधिक उद्योगशील होते हैं। जिन्होंने इच्छाएँ ही समाप्त कर दीं, उनकी चिन्ताएँ और चिन्ताओं के साथ ही पुरुषार्थ भी समाप्त हो जाता है। कबीर जी का कथन है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुषां बेपरवाह।

जिन को कछु न चाहिए, सोई साहंसाह ॥^५

कर्मगति—

भाग्य का निर्माण मनुष्यों के पूर्व जन्मों के कर्म से होता है और उन कर्मों में सन्तों का अटल विश्वास है; इसलिए इनका मत है कि कर्म-गति को बढ़े-बढ़े विद्वान् और वीर भी नहीं टाल सकते।

१. विद्योगी हरिःसन्तवाणी' पृष्ठ १४३

२-३. कबीर वचनावली, पृष्ठ १२८।४००-४०२

४. मुंशीराम : कबीर वचनामृत, भूमिका, पृष्ठ ६५

५. कबीर वचनावली, पृष्ठ १४३।५७८

करम गति टारे नाहिं टरी ।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी ।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में विपति परी ॥
कोटि गाय नित पुन करत नृप, गिरगिट जोन परी ।
पाण्डव जिनके आप सारथी, तिन पर विपति परी ॥'

सुख-दुख

सेमल-सरीखे संसार में सच्चे सुख का स्थान कहाँ ! सन्तों की दृष्टि में जगत् के सभी सुख झूठे हैं और उन्हीं को पाकर लोग मोहवश अपने को सुखी मान बैठते हैं । जब आज या कल सभी को काल-कवलित होना है तो फिर यहाँ सुख कहाँ ? वास्तविक सुख तो उन्हीं को है जो प्रभु-नाम के जाप में लीन हैं । मनोहर रूप, मधुर संगीत, सरस भक्ष्य, सुगंधित द्रव्य, स्त्री-संस्पर्श जो सामान्य जनों के लिए विशेष आकर्षण रखते हैं, सन्तों के लिए किसी काम के नहीं, वमन के समान जघन्य हैं । उनमें तो मूढ़ जन ही लिप्त होते हैं, विवेकी नहीं—

बासर सुख ना रैन सुख, ना सुख सपने भाहि ।
जो नर बिछुड़े नाम से, तिन को धूप, न छाहि ॥^१

शकुन, ज्योतिष

लगन, मुहूर्त, शकुनादि के शुभाशुभ होने का विचार आज की अपेक्षा उन दिनों कहीं अधिक था । परन्तु सन्तों का विचार यह था कि इनमें विश्वास करना प्रभु में आस्था के अभाव या कमी को सूचित करना है । सब दिन, घड़ियाँ और मुहूर्त भगवान् के बनाये हुए हैं और कर्म का फल अवश्यम्भावी है । इसलिए शकुन-मुहूर्तादि में विश्वास करना मिथ्याविश्वास मात्र है । सच्चे आस्तिकों को इन भ्रमों से ऊपर ही उठना चाहिए । जैसे—

(क) मन ते इतने भरम गंवावो ।

चलत विदेस बिप्र जनि पूछो, दिन का दोष न लावो ।^२ (मल्लकदास)

(ख) लगन मुहूरत झूठ सब, और बिगाड़ें काम ।

और बिगाड़ें काम, साइत जनि सीधें कोई ।

एक भरोसा नाहि, कुसल कहाँ से होई ॥

‘पलटू’ सुम दिन सुभ घड़ी याद पड़े जब नाम ।

लगन मुहूरत झूठ सब और बिगाड़ें काम ॥^३

१. फबीर वचनावली पृष्ठ २१५।११४; और भी देखें, दही पृष्ठ २१५।११५

२. " " " १२६।४२०

३. सन्त सुधासार, खण्ड २, पृष्ठ ३३।४

४. " " " २२८।१७

वर्ध

सन्त लोग एकमात्र निराकार ईश्वर के उपासक थे। अवतार, मूर्तिपूजा, भूत-प्रेत तथा अन्य देवी-देवताओं में इनकी रस्ती-भर भी आस्था न थी। चौरासी के बन्धन से छूटना और आत्म-तत्त्व को परमात्म-तत्त्व में लीन कर देना ही इनका परम उद्देश्य था। चूँकि धर्म-नीति हमारे विवेच्य क्षेत्र से बाहर है, अतः उसकी सविस्तर चर्चा करना अनावश्यक है।

सन्तों के नीतिकाव्य की प्रालोचना

नवीन विषय

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि सन्तों की कृतियों का मुख्योद्देश्य प्रभु-प्राप्ति है तथापि उनमें नीति-विषयक बहुत सी उपयोगी बातों का उल्लेख किया गया है। उन बातों में अनेक ऐसी हैं जिनकी चर्चा प्राचीन संस्कृत और हिन्दी-काव्यों में प्रायः दृष्टिगत नहीं होती; उदाहरणार्थ शव को भस्म करने की अपेक्षा पशु-पक्षियों को खिलाना श्रेष्ठ है; जिह्वा-रस ही सर्वोत्तम रस है; गार्हस्थ्य नहीं, सम्बन्धियों का मोह त्याज्य है; कनफूँकी गुरु; गुरु की भगवान् से उच्चता; गुरु-श्रुत ताड़ना की प्रशंसा; तरुणी तरुण-वश होती है तो वृद्ध तरुणीवश; परिश्रमी गृहस्थ की निठल्ले साधु से श्रेष्ठता; परोपकार के लिए याचना निन्द्य नहीं; हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई; चौके-चूल्हे तथा छूत-छात का खंडन; स्त्री को वित्त दो, चित्त नहीं; गौ-बकरी की समानता इत्यादि। कहना न होगा कि मौलिक चिंतन तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ ही अधिकतर नवीन विषयों का प्रेरक सिद्ध हुईं।

उपेक्षित विषय

जहाँ इन काव्यों में अनेक नवीन विषयों की चर्चा दिखाई देती है, वहाँ कई प्राचीन विषयों की उपेक्षा भी दिखाई देती है; जैसे, क्षुधा, वाग्मि-प्रशंसा, कुसमय पर सत्य भाषण से हानि; विद्या का महत्त्व, साधन और विघ्न; सुकवि-कुकवि; अभ्यास का महत्त्व; अनागत का प्रतिकार; व्यवहार-ज्ञान के बिना पंडित भी मूर्ख, मान-शौर्य की प्रशंसा; पत्नी की अपेक्षा मित्र की बात मानना हितकर; पराये कार्य में हस्तक्षेप तथा अपरिचित को आश्रय देने का अनौचित्य; स्वार्थसिद्धि में कपट की अनिवार्यता; दैवविश्वासी का विनाश; नीच लोभी को पंच न बनाओ, इत्यादि। उपर्युक्त प्रकार के विषयों की उपेक्षा का कारण है, संतों के दृष्टिकोण में ऐहिकता की कमी। न उन्हें लौकिक जीवन को सुखी-समृद्ध बनाने की चिन्ता थी और न वे सुख-समृद्धि की प्राप्ति के साधन बताने को ही उत्सुक थे।

पूर्ववर्ती प्रभाव

यह तो सर्वविदित ही है कि अधिकतर सन्त-काव्य ऐसे व्यक्तियों के द्वारा प्रणीत हुआ है, जो विशेष विद्वान् न थे। यद्यपि उनमें से अधिकतर सन्त संस्कृत, प्राकृतादि भाषाओं से अनभिज्ञ थे तथापि यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि उनके

हृदयों में महात्माओं तथा विद्वज्जनों के संसर्ग से ज्ञानज्योति जगमगा रही थी। यही कारण है कि उनके छन्दों पर पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव अनेक स्थलों पर लक्षित होता है। प्राकृत व अपभ्रंश की अपेक्षा उन दिनों संस्कृत तथा हिन्दी का प्रचार कहीं अधिक था, अतः सन्तों के नीति-काव्य पर संस्कृत और हिन्दी-साहित्य का ही प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

१. संस्कृत-साहित्य का प्रभाव

संस्कृत तथा सन्तों के नीति-पद्यों में जहाँ कहीं भाव-साम्य या दृष्टान्त-साम्य दिखाई देता है, वहाँ ध्यान से देखने पर, स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों ने संस्कृत श्लोक को सामने रख कर उनका अविकल अनुवाद करने का यत्न नहीं किया है, अपितु श्रुत-मात्र भाव और उदाहरण को अपने शब्दों में व्यक्त कर दिया है। उदाहरणार्थ—

(क) पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली वेष्युपस्करः ।

कंठनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु बाहयन् ॥^१

पंचमहायज्ञ-प्रकरण में मनु जी ने लिखा है कि 'गृहस्थ के घर में चूल्हा, चक्की, बुहारी, उलूखल-मुसल और जलघट ये पाँच पदार्थ ऐसे होते हैं जहाँ कीट-पतंगों की हत्या होनी रहती है।' पंचमहायज्ञों का उस पाप के प्रतिकारार्थ विधान किया गया है। अब रज्जब जी का इसी आशय का एक पद्य लीजिए—

राग रामगिरि

चींटी दस चौके में मारें, घुण दस हांडी माहीं ।

चाकी चूल्हं जीव मारें जो, सो समुझं कछु माहीं ॥

पाती फूल सबा ही तोड़ें, पूजन कूं पाषाण ।

छार पतंगा होहि आरती, हिरबं नहीं बिनाण ॥^२ (रज्जब)

मुनिजी का ध्यान तो चक्की चूल्हे आदि तक ही सीमित रहा परन्तु रज्जब जी ने प्रतिमा-पूजन के लिए पत्र-पुष्पादि के अवचय तथा आरती के समय होने वाले शल्य-दाहका भी उल्लेख कर दिया है।

(ख) विकृति नैव गच्छन्ति संगदोषेण साधवः ।

आवेष्टितंमहा सर्पश्चन्दनं न विषायते ॥^३ (शांगंघर)

'कुसंगति के दोष से सज्जनों में विकार नहीं उत्पन्न होता, जैसे बड़े-बड़े सर्पों से आवेष्टित भी चन्दन का वृक्ष विणैला नहीं होता।'

सन्त न छोड़े संतई कोटिक मिलें असंत ।

मलय भुवंगहिं बेधिया सीतलता न तजंत ॥^४ (कबीर)

१. मनुस्मृति (चोखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३५ई०) अध्याय ३।६८

२. सन्तसुधासार, खण्ड १, पृष्ठ ५१४

३. सुभाषित रत्नाकर, पृष्ठ ११।३

४. कबीर वचनावली, पृष्ठ १२३।३३८

निस्सन्देह दोहे का भाव और दृष्टान्त श्लोक से लिया गया है, परन्तु 'कोटिक' तथा 'सीतलता' का विचार कबीर जी का ही है।

(ग) बर्जनीयो मतिमता दुर्जनः सख्यवैरयोः ।

इवा भवत्यपकाराय लिहन्नपि दशनपि ॥^४ (अज्ञात कवि)

बुद्धिमान् मनुष्य को दुर्जन से न मैत्री करनी चाहिए न वैर। कुत्ता चाहे चाटे और चाहे काटे, दोनों प्रकार से अपकार ही करता है।

मान बढ़ाई जगत में, कूकर की पहिचानि ।

भीत किए मुख चाटही, बैर किए तन हानि ॥^५

श्लोककार ने जिस दृष्टान्त को दुर्जन से सख्यवैर के निषेध के लिए प्रस्तुत किया है, कबीर जी ने उसी को सांसारिक मान-बढ़ाई के परिहार के लिए।

इस प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के ही क्षेत्रों में सन्तकाव्य कुछ सीमा तक संस्कृत-साहित्य का ऋणी है।

२. हिन्दी साहित्य का प्रभाव

सन्तकाव्य के पूर्व कुछ नायकाव्य तथा कुछ वीर-काव्य लिखे जा चुके थे। सन्तकाव्य की इन पूर्ववर्ती काव्यों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सन्तकाव्य जितना नायकाव्य से प्रभावित हुआ है, उसका दसवाँ भाग भी वीर-काव्य से नहीं। वीर-काव्यों के अध्ययन के पश्चात् जब हम सन्तकाव्यों का अवलोकन करते हैं तब ऐसे लगता है जैसे हम भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर जा रहे हैं, बाह्य जगत् से आन्तरिक जगत् में प्रवेश कर रहे हैं। परन्तु नाय-काव्यों से सन्तकाव्यों की ओर जाते समय ऐसे प्रतीत होता है कि दोनों एक ही शृंखला की दो कड़ियाँ हैं; नायकाव्य पहली, सन्तकाव्य दूसरी। उदाहरणार्थ, मानव शरीर की दुर्लभता तथा नश्वरता का उल्लेख तीनों धाराओं में किया गया है। परन्तु उसे सार्थक बनाने के साधन भिन्न-भिन्न हैं। वीर-कवियों की दृष्टि में उसकी शक्ति वीरगति द्वारा यश-प्राप्ति तथा रणक्षेत्र में अपना मांस पशु-पक्षियों को खिलाने में निहित है। नाथों और सन्तों के मत में उसकी सफलता क्रमशः नाय-पद की प्राप्ति तथा ब्रह्मप्राप्ति पर निर्भर है। जगत् के समान दादू जी ने भी शरीर को इतर प्राणियों को खिलाने में पुण्य माना है परन्तु यहाँ भी पूर्ण ऐकमत्य का अभाव है। वीरकवियों का आशय तो यह है कि युद्ध-भूमि में जो योद्धा लड़-मर कर अपना मांस जीवजन्तुओं का भक्ष्य बना डालता है, वह पुण्यवान् है और दादू जी का भाव यह है कि निरर्थक शरीर को जलाने-दफनाने की अपेक्षा पशु-पक्षियों का भोज्य बना डालना उसका सदुपयोग है। वीर-काव्यों में वेद, शास्त्र, पुराण, ज्योतिषादि के ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा दिखाई देती है, परन्तु नाथों तथा सन्तों ने पुस्तकी ज्ञान की उपेक्षा की है और साधना

१. सुभाषित रत्न भाण्डागार, पृष्ठ ५४।१८

२. कबीर वचनावली, पृष्ठ १३७।५।४

तथा ज्ञान पर अधिक बल दिया है। शील, क्षमा, दया, दीनता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारादि आत्मिक विषयों पर तो वीर-काव्य प्रायः छुप ही रहते हैं परन्तु नाथकाव्य तथा सन्तकाव्य शीलादि के धारण और कामादि के दमन पर अत्यधिक बल देते हैं। धैर्य और वीरताकी सभी ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है परन्तु क्षेत्र विभिन्न हैं। जहाँ वीरकवि युद्ध-भूमि में इन गुणों को वीरों का आभरण कहते हैं, वहाँ सन्तकवि इन्हें भक्ति-पथ पर अप्रसर होने वालों का अलंकरण।

पारिवारिक नीति के क्षेत्र में भी सन्तकाव्य का दृष्टिकोण वीरकाव्यों तथा नाथकाव्यों से सर्वथा भिन्न है। वीर-काव्य पारिवारिक जीवन को प्रशंसनीय तथा स्त्री को 'धन' कहते हैं। नाथों के मत में गार्हस्थ्य-जीवन गर्ह्य है, अखण्ड ब्रह्मचर्य काम्य वस्तु है, स्त्री बाधिन है और उसके हाथ से जल पीना भी अनुचित है। सन्त भी स्त्री को कोई संमान्य पद नहीं देते परन्तु गार्हस्थ्य की उग्र निन्दा भी नहीं करते।

सन्तकाव्य ने "स्वामि-धर्म" का भाव तो वीरकाव्य से ग्रहण किया है परन्तु लक्ष्य परिवर्तित कर दिया है। वीर-काव्यों में स्वामी का अभिप्राय था राजा या अन्नदाता और "स्वामिधर्म" का आशय था, प्राणपण से उसकी सेवा। सन्तकाव्य में "स्वामी, का अर्थ हो गया है भगवान् और, स्वामिधर्म का अर्थ अनन्य भगवद्भक्ति। ऐसा ही अर्थ-परिवर्तन, 'पातिव्रत' का भी किया गया है। वीर-काव्यों में तो अनन्य पतिपरायणा तथा मृत पति के साथ सती होने वाली साध्वी को पतिव्रता कहा गया है, परन्तु सन्तकाव्यों में अनन्य भक्त को पतिव्रता और उसकी अनन्य भक्ति को पातिव्रत। वीरकाव्यों में जन्ममूलक ऊंच-नीच भाव तथा जाति-पाति को स्वीकृत किया गया है परन्तु सन्तों ने नाथों के तुल्य उच्च गुणों को ही श्रेष्ठता का मानदंड माना है, जन्म को नहीं।

सन्तों की आर्थिक नीति वीरकाव्यों से सर्वथा विपरीत है और नाथों की अपेक्षा कुछ उदार। जहाँ वीरकाव्यों में धनैश्वर्यादि को काम्य और भोग्य कहा गया है, वहाँ नाथ-काव्यों में सम्पत्ति को त्याज्य और भिक्षा को स्तुत्य। सन्तों की वाणी में कंचन की कुत्सा की भी कमी नहीं परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से गृहस्थ के लिए उसे विशेष निन्द्य नहीं कहा गया।

इतरप्राणि-विषयक नीति के क्षेत्र में भी सन्त-काव्य नाथ काव्य का अनुकरण करता है, वीर काव्यों का नहीं। वीर काव्यों में हिंसा, आखेट, मद्य-मांस-सेवनादि की निन्दा नहीं दिखाई देती। नाथ-काव्यों में मांस, मद्य, मांगादि के परित्याग की प्रेरण की गयी है और सन्तकाव्य में तो कहीं-कहीं हरी शाखाओं और पुष्प-पत्रों तक को भी तोड़ने का निषेध दिखाई देता है। वीरकाव्यों में तो गौ ही पूज्य थी परन्तु सन्तों ने गौ, बकरी आदि सभी में जीव का सादृश्य वर्णित कर प्राणिमात्र की हत्या का प्रतिषेध कर दिया है।

मिश्रित नीति के क्षेत्र में भी सन्तकाव्य नाथकाव्य से प्रभावित है, वीरकाव्य से नहीं। गंगा, तीर्थ, शकुन, महर्त्तादि में वीर-कवियों का विश्वास तो था परन्तु सन्तों

का तिलमात्र भी नहीं। वीरकाव्यों में हिन्दू-संस्कृति के प्रति प्रेम है और इस्लाम के प्रति द्वेष। परन्तु सन्तों ने नाथों के समान ही दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बरो का खंडन कर जनसाधारण को एक-दूसरे के समीप लाने का उद्योग किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सन्तकाव्य पर वीरकाव्य का प्रभाव बहुत थोड़ा है और नाथकाव्य का बहुत अधिक। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रभाव भावपक्ष पर ही अधिक पड़ा है कलापक्ष पर कम। नाथों के समान ही सन्तों की रचनाओं में भी हमें साहित्यिक सौष्ठव दिखाई नहीं देता, परन्तु वीर-काव्यों को न भावों की दृष्टि से उपेक्ष्य कहा जा सकता है, न भाषा आदि की दृष्टि से।

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह भी है कि सन्त-काव्य अपने पूर्ववर्ती काव्य से ही प्रभावित नहीं है, परवर्ती सन्तों पर पूर्ववर्ती सन्तों का प्रभाव भी कहीं-कहीं स्पष्टतया दिखाई देता है। इस प्रभाव का कारण है कबीर जी की असाधारण प्रतिभा तथा परवर्ती कवियों की उनके प्रति अगाध आस्था। जैसे—

(क) चलती चक्की देखि के बिया कबीरा रोय ।

हुइ पट भीतर आइके, साबित गया न कोय ॥^१ (कबीर)

चलती चक्की देखि दिया मैं रोय है ।

पीस गया संसार बचा न कोय है ॥

अधबीचे में परा, कोउ न निरबहा ।

(अरे हाँ, पलटू) बचेगा कोऊ सन्त जो खूँटे लगि रहा ॥^२ (पलटू)

(ख) निदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय ।

बिन पानी सावुन बिना, निर्मल करं सुभाय ॥^३ (कबीर)

(दादू) निदक यपुरा जिनि भरै, पर उपगारी सोइ ।

हम कूं करता ऊजला, आपण मंला होइ ॥^४

पलटू जी ने जहाँ कबीर के दोहे की व्याख्या कर दी है, वहाँ दादू दयाल ने कबीर से निन्दक-प्रशंसा का भाव लेकर उसके दीर्घजीवी होने की कामना भी की है।

रस और भाव

सन्तकाव्य के अधिकतर प्रणेता न विशेष विद्वान थे, न सिद्धहस्त कवि। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कल्पना, चारुत्व तथा सरसता की कमी है। ऐसा होते हुए भी इन काव्यों के अध्ययन से मन में निर्वेद, दैन्य, धृति, मति, क्षमा, दया, उदारता,

१. कबीर वचनावली, पृष्ठ १३०।४३०

२. सन्तसुधासार, खण्ड २, पृष्ठ २५३।३०

३. कबीर वचनावली, पृष्ठ १३६।५३६

४. सन्त दादू और उनकी वाणी (बलिया, प्रथम संस्करण), पृष्ठ १३१।७

सन्तोष आदि के भावों का थोड़ा-बहुत उल्लेख होता ही है और इस दृष्टि से इनमें रस-तत्त्व का सर्वथा अभाव नहीं है ।

भाषा

अधिकतर सन्त-कवियों का ध्यान भाषा-सौष्ठव की ओर न होकर भावों की सुबोध अभिव्यक्ति की ओर ही था । सुन्दरदास जी की भाषा तो प्रांजल व्रज है परन्तु शेष सन्तों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' ही कहा जाता है जिसमें भोजपुरी, पूर्वी, व्रज, पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी-बोली, फारसी, अरबी, सभी के शब्द सुलभ हैं । प्रचलित रुढ़ियों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है । जैसे—

(क) अब पछतावा क्या करै, चिड़ियां चुग गईं खेत ।^१ (कबीर)

(ख) यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहि ॥^२ (पलटू)

काव्य-विधान तथा छन्द

सन्तों का नीतिकाव्य मुक्तक छन्दों तथा राग-वद्ध शब्दों (गीतों) के रूप में ही उपलब्ध होता है । सर्वाधिक प्रयोग दोहा छन्द का किया गया है । झूलना, अरिल्ल, कबित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया, चौपाई आदि छन्दों का भी सुन्दरदास, पलटूदास आदि ने सुष्ठु, प्रयोग किया है ।

अलंकार

सन्तों के अधिकतर नीति-छन्द पद्यमात्र हैं । उनमें न तो कोई शाब्दिक चमत्कार दिखाई पड़ता है, न आर्थिक । सच तो यह है कि अधिकतर सन्तों ने शब्द या अर्थ को चमत्कृत करने का उद्योग किया ही नहीं । हाँ, विषय को सम्यक् रूप में हृदयंगम कराने के लिए वे विशेष सतर्क रहते थे और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो अनुप्रास, उपमा, यमक, वीप्सा, रूपक, दृष्टान्त, अन्योक्ति आदि अलंकार स्वतः एव हृदय से उद्गत होते थे, उनके 'प्रयोग में वे कोई संकोच न करते थे । उदाहरणार्थ—

(क) कांची काया मन अधिर, धिर धिर काज करंत ।

ज्यों ज्यों नर निधड़क फिरत, त्यों त्यों काल हसंत ॥^३ (कबीर)

(छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, वीप्सा)

(ख) गुरु ग्याता परजापति, सेवक माटी रूप ।

'रज्जव' रज सूँ फेरि कै, घड़ि ले कुंभ अनूप ॥^४ (रूपक)

१. कबीर वचनावली, पृष्ठ १२८।४०१

२. सन्तसुधासार, खण्ड २, पृष्ठ २२७।१६

३. कबीर वचनावली, पृष्ठ १३०।४३५

४. सन्तसुधासार, खंड १, पृष्ठ ५२५।१६

- (ग) पर स्वारथ के कारने, युख सहै “पलटूवास” ।
 सन्त सासना सहत हैं, जैसे सहत कपास ॥^१ (उपमा, आवृत्ति-दीपक)
- (घ) कर बहियां बल आपनी, छांड बिरानी आस ।
 जाके आंगन नवी है, सो कस मरै पिआस ॥^२ (कबीर) (दृष्टान्त)

शैली

सन्तकाव्य के नीति-विषयक अंशों में तथ्य-निरूपक, उपदेशात्मक तथा आत्माभि-
 व्यञ्जक शैलियों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। अन्यापदेशिक, संवादात्मक,
 शब्दावर्तक तथा कूट शैलियों का भी प्रश्रय लिया गया है परन्तु उपर्युक्त शैलियों
 से कम ।

गुण-दोष

सन्तकाव्य में प्रसाद गुण की प्रधानता है। ओज और माधुर्य का सर्वथा अभाव
 तो नहीं कहा जा सकता परन्तु उनकी मात्रा उल्लेख्य नहीं। संतों की वाणी में शब्दों
 की तोड़-मरोड़, मात्राओं की न्यूनाधिकता, अश्लीलत्वादि अनेक शास्त्रीय दोष दुर्लभ
 नहीं हैं परन्तु सन्त-काव्य की आलोचना के समय उनकी उपेक्षा ही उचित है।

सन्तों के नीति-काव्य का मूल्यांकन

हमारे मतानुसार सन्तों के नीतिकाव्य का सबसे बड़ा दोष है—ऐहिक दृष्टि
 की कमी। उसकी दृष्टि प्रभु-प्राप्ति पर जितनी केन्द्रित है, उतनी लौकिक सुख तथा
 सफलता पर नहीं। जब ब्रह्म ही सत्य है, संसार, परिवार और मनुष्यमात्र मिथ्या हैं
 तब लौकिक दृष्टिकोण आ ही कैसे सकता है? यही कारण है कि इस काव्य में शारी-
 रिक और मानसिक विकास, पारिवारिक कर्तव्यपालन आदि विषय उपेक्षित रह गये
 हैं। इसी प्रकार सम्पत्ति तथा स्त्रियों की निन्दा, गुरु की ईश्वर से उच्चता, सांसारिक
 सुखों की नितान्त उपेक्षा तथा भाग्यवाद में अत्यधिक आस्था भी आधुनिक दृष्टि से
 स्तुत्य नहीं मानी जा सकती। इन न्यूनताओं के रहते हुए भी सन्तों के नीतिकाव्य का
 अपनी आदर्शात्मकता के कारण विशेष महत्त्व है। वह मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ,
 मोह, अहंकार, ईर्ष्यादि दोषों से बचाकर उसे संयमी, शान्त, सन्तुष्ट, निर्मोह, तथा
 विनम्र बनाता है। उसके अध्ययन से मनुष्य स्वार्थी तथा कृतघ्न का भी भला करने
 तथा अपकारी का भी उपकार करने की पुनीत प्रेरणा प्राप्त करता है। वह उस घोर
 सामाजिक अन्याय पर निर्भीकतापूर्वक तीव्र कुठाराघात करता है, जिसके कारण एक
 निर्गुण व्यक्ति भी उच्च कुल में जन्म प्राप्त कर लेने मात्र से पूज्य बना रहता है और
 दूसरा गुणी मनुष्य भी तथाकथित नीच वंश में उत्पन्न होने के कारण यावज्जीवन
 नीच ही माना जाता है। वह उन झूत-छात, चौका-चूल्हा, जाति-पाँति, सांप्रदायिक

१. सन्त सुधासार, खंड २ पृष्ठ २२३।७

२. " " १ " १७५।११

द्वेषादि दोषों के समूलोन्मूलन की शिक्षा देता है जिनके कारण मनुष्य परस्पर दश-स्पर्श, खान-पान, व्याह-शादी तथा अन्य व्यवहार नहीं कर सकते । वह पड़ोसी से ही प्रेम करना नहीं सिखाता, विश्वजनीन प्रेम की भी शिक्षा देता है । उसके प्रेम की सीमा मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षियों तथा ओषधि-वनस्पतियों तक को अपनी परिधि में ले लेती है । सत्य, अहिंसा, शील, क्षमा, दया, परोपकार, नम्रता, धैर्य, उदारता, आदि सच्चरित्र के अंगों पर इस काव्य में विशेष बल दिया गया है । परन्तु जो धर्मध्वजी हिन्दू और मुसलमान तथा पाखण्डी साधु रोजा, नमाज, व्रत, तीर्थ, कंठी, माला, काषाय आदि द्वारा आठों पहर स्वार्थ-साधन में तत्पर रहते थे, उनकी तीव्र भत्सना की गई है । जो अज्ञानी लोग शकुन, मुहूर्त, दिशाशूलादि से भीत-त्रस्त रहते थे, उन्हें एकेश्वर-विश्वास के द्वारा निर्भय बना दिया गया है । सार यह है कि सन्तों का पाखंड-नाशक, चरित्र-प्रचारक और प्रेम-विस्तारक नीतिकाव्य निवृत्ति-परायण लोगों को उच्च जीवन की प्रेरणा देने के कारण तो स्तुत्य है परन्तु सांसारिक सुख-समृद्धि के इच्छुक सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं है ।

सन्तों के नीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ

- १—सन्त-नीतिकाव्य का दृष्टिकोण ऐहिक नहीं पारमार्थिक है ।
- २—उसमें आदर्शात्मकता प्रधान है, व्यावहारिकता गौण ।
- ३—उसमें आत्मिक नीति की तो प्रचुरता है परन्तु शारीरिक तथा मानसिक नीति की कमी अखरती है ।
- ४—सम्बन्धी स्वार्थी तथा सम्बन्ध भूठे बताए गये हैं । उनके प्रति कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा का अभाव-सा है ।
- ५—धार्मिक, साम्प्रदायिक, जातिगत भेद-भाव को मिटाकर मनुष्यों को परस्पर समीप लाने का सदुद्योग किया गया है ।
- ६—धन-सम्पत्ति तथा नारी की निन्दा की गई है ।
- ७—अहिंसा और दया का महत्त्व बहुत अधिक बताया गया है । जीवमात्र को ही गौ के समान अघ्न्य माना गया है ।
- ८—बाह्य आडम्बरों का तीव्र खंडन किया गया है और शम, दमादि पर बल बहुत अधिक है ।
- ९—संसार और उसके मुख भूठे हैं । प्रभु-प्राप्ति ही प्रधान लक्ष्य है ।
- १०—प्रायः सधुक्कड़ी भाषा और दोहा तथा पदों में रचित है ।
- ११—इसके अधिकतर भाग पद्यमात्र हैं; सरसता तथा साहित्यिकता न्यून है ।
- १२—वास्तविक नीति तथा साहित्यिकता की कमी के कारण यह काव्य धर्मो-पदेश-सा लगता है, नीतिकाव्य के समान नहीं ।

१३—सन्तों का नीतिकाव्य उच्च आदर्शों के कारण महान् अवश्य है, परन्तु व्यावहारिकता की कमी के कारण सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं ।

(ख) सूफीकाव्य में नीतितत्त्व

जहाँ मुसलमान शासकों ने खड्ग के बल से भारत पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया वहाँ मुस्लिम प्रचारक हिन्दुओं को स्वधर्म में दीक्षित करने के लिए भी सौत्साह्य अग्रसर हुए । ऐसे धर्म-प्रचारकों में सूफियों का अपना विशेष स्थान था । सूफियों का जीवन सादा, हृदय उदार, विचार उच्च, ज्ञान उत्कृष्ट तथा प्रचार का ढंग प्रेम-पूर्ण था । ये लोग राजाओं की सभाओं में पंडितों के साथ शास्त्रार्थों का आयोजन कर अपने मत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने का उद्योग करते थे । इनके उद्योग के परिणाम रूप में हिन्दुओं की सामाजिक विषमता से पीड़ित बहुत से लोगों ने इस्लाम को अंगीकार कर लिया । जहाँ इन्होंने मौखिक प्रचार से सहस्रों लोगों को प्रभावित किया वहाँ अपने मत के प्रचार के लिए लेखनी से भी साहाय्य ग्रहण किया । परिणामतः इनकी कृतियाँ हमारे समक्ष दो रूपों में विद्यमान हैं (१) प्रेम-कथानक (२) स्फुट रचनाएँ ।

१. प्रेमकथानक

प्रेमकाव्य की परम्परा—प्रेमकथाओं की रचना भारत में चिरकाल से गद्य, पद्य, नाटक और चम्पू रूपों में होती आई है । रत्नावली, पद्मावती, वासवदत्ता कुवलयमाला आदि संस्कृत की ऐसी ही कृतियाँ हैं । इन कथाओं की घटनाएँ तो प्रायः काल्पनिक होती थीं परन्तु नायक-नरवाहनदत्त, उदयन, शूद्रक, विक्रमादित्य आदि—कभी-कभी ऐतिहासिक व्यक्ति भी होते थे । प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी यह परम्परा अक्षुण्ण रही । कौतूहल की 'लीलावती,' मयूर कवि की 'पद्मावती' कथा तथा जैन कवियों के जसहर चरित, रणायक कुमार चरित, करकण्ड चरित आदि चरित-काव्य ऐसे ही प्रेम-काव्य हैं । फिर 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित पृथ्वीराज के पद्मावती, हंसावती, इन्द्रावती आदि से पाणिग्रहण के प्रसंग भी प्रेमकाव्यों की परम्परा में ही परिगणनीय हैं । जायसी ने 'पद्मावत' में प्रेमकथाओं की जो विस्तृत सूची दी है उससे भी यही सिद्ध होता है कि उन दिनों सपनावती, मुगधावती, मिरगावती, प्रेमावती आदि कई प्रेमकथाएँ मौखिक या लिखित रूप से प्रचलित थीं । ऐसी कथाओं में तीव्र लोक-रुचि देखकर सूफी साधकों ने इन्हें आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बना लिया । यह उनकी कोई नई सूझ न थी । महाभारत और पुराणों में, बौद्ध जातक-कथाओं तथा अवदान साहित्य में और जैन कवियों के चरितकाव्यों और पुराणों में लोक-कथाओं द्वारा धार्मिक और आध्यात्मिक उपदेश देने की प्रवृत्ति अनेकत्र देखी जा

सकती है। उपलब्ध सूफ़ी प्रेमकथानकों में कुतबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती, जायसी की पद्मावत, उसमान की चित्रावली, जान कवि की कनकावती, कामलता, मधुकरमालती, रतनावती और छीता, कासिमशाह की हंसजवाहिर, नूरमुहम्मद की इन्द्रावती और अनुराग बांसुरी तथा शेख निसार की यूसुफ़जुलेखा विशेष प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उक्त कवियों में से अंतिम तीन रीति-कालीन हैं तथापि भावधारा के साम्य के कारण उन्हें यही परिगणित करना समीचीन होगा।

सूफ़ीकाव्यों में नीति की गौणता

लौकिक विषयों से मन को विरक्त कर सौन्दर्यमय प्रभु में अनुरक्त रहने वाले लोग सूफ़ी कहाते हैं। सूफ़ी-मत का प्रासाद प्रभु-प्रेम की आधार-शिला पर ही अवस्थित है और उसी दिव्य प्रेम का प्रसार करने के उद्देश्य से ही सूफ़ी सन्तों ने उपर्युक्त प्रेमकाव्यों का प्रणयन किया है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए इन्होंने माध्यम-रूप में प्रायः हिन्दू-समाज में प्रचलित उन प्रेम-कहानियों को चुना है जिनमें कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के अनूप रूप-लावण्य को देख-सुनकर उस पर आसक्त हो जाता है और उसकी प्राप्ति के लिए घर-बार का सुख छोड़, जोगी बन, अनेक विकट विघ्न-बाधाओं को पार कर प्रियतमा के मिलन-सुख का अनुभव करता है। चूँकि ऐसी कथाओं में नायक-नायिकाओं को जीवन की विविध परिस्थितियों में से होकर निकलना और बहु-विध प्राप्ति-यों के सम्पर्क में आना पड़ता है, अतएव इनमें लोक-व्यवहार-विषयक अनेक बातों का सन्निवेश स्वभावतः ही हो गया है। यही प्रासंगिक नीतिकाव्य हमारे अनुसंधान का विषय है।

वैयक्तिक नीति—तात्त्विक दृष्टि से सूफ़ी लोग अपना या किसी भी अन्य वस्तु का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते। उन्हें मुस्लिम वेदान्ती की संज्ञा देने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि—

आपुहि मोच जियन पुनि आपुहि, आपुहि तन मन सोइ।

आपुहि आपु करं जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ ॥^१

हमारा तन और मन, जीवन और मरण, करना और कराना कुछ भी स्वतंत्र नहीं है, सब प्रभु-रूप है और प्रभु-प्रेरित। ऐसी मान्यता की विद्यमानता में वास्तविक नीति का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है क्योंकि कार्य-विशेष की नैतिकता या अनैतिकता कार्यकर्ता की स्वतंत्रता पर निर्भर रहती है। तो भी व्यावहारिक दृष्टि से सूफ़ी कवियों ने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक नीति के विषय में सुन्दर तथा उपयोगी तथ्यों का प्रतिपादन किया है।

सूफ़ी-काव्यों में, शरीर की नश्वरता के कारण तत्सम्बन्धी गर्व के त्याग का उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। नूर मुहम्मद 'इन्द्रावती' के नहान-खंड में कहते हैं—

१. स.० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली (काशी, सं० २००६ वि०), पृष्ठ ६३

परगट रंग देह को देखि न सरब कोइ ।

भावं एक दिवस अस, छार कलेवर होइ ॥^१

ऐसा होते हुए भी इन काव्यों में शरीर की वह उपेक्षा या गह्रा लक्षित नहीं होती जो सन्तकाव्य में अनेकत्र दिखाई देती है। इनमें स्वास्थ्य के नियमों का उल्लेख है, रोगों के उपचारार्थ औषधों की चर्चा है, काया-रूपी वृक्ष को सुख-रूपी जल से हरा-भरा रखने का आदेश है तथा रूप और यौवन के महत्त्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा है। वात-ज्वर के विनाशार्थ नूरमुहम्मद कहते हैं—

उपजे स्वेह वाय जर जाको । होइ कम्प जमुहाई ता को ।

मोह मरम और मुख कल्लाई । औरो गात्र होइ अधिकारी ॥

अभया सोंठ चिरायत कना । सोचर भिर्चाहि चूरन बना ।

माखत जर यह चूरन हयई । प्रात समं जो भोजन करई ।

बहुत न सोऊ देवस कहँ, थोर न रैन भँभार ।

खाहु न उबर भरे पर, पियहु न निस कहँ बार ॥^१

जब मूरतिपुर नगर के राजा जीवन के पुत्र अन्तःकरण ने ब्राह्मण श्रवण से सनेह नगर के राजा दर्शनराय की तनुजा सर्व-मंगला के सौन्दर्य का वर्णन सुना, तब वह माता-पिता के मोह और राजप्रासाद के सुखों का परित्याग कर सर्व-मंगला को प्राप्त करने के उद्देश्य से सनेह-नगर को जाने के लिए कटिबद्ध हो गया। उस समय उस की पत्नी महामोहिनी उससे प्रवासजन्य दुःखों से बचने और शरीर को सुखी रखने की चर्चा, नरमोहम्मद के शब्दों में, इस प्रकार करती है—

बासी बास गयंद तुरंगू, जेहि सेवा परमोदत अंगू ।

रूप-कनक-मोती-नग-हीरा, जेहि पाएँ सुख बीच सरीरा ।

यह सब तजि के चलिबौ, भलो न होइ ।

पलुहत काया पावप, सुख के सोइ ॥^२

सूफ़ी लोग प्रेमी थे और उनके अनुसार प्रेम का आधार सौन्दर्य है।^३ इसलिए सूफ़ी-काव्यों में सौन्दर्य की महिमा तथा उससे प्रेम करने की प्रेरणा का उल्लेख पग-पग पर प्राप्त होता है—

१. सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी: हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह (प्रयाग, प्रथम संस्करण) पृष्ठ १०४॥

२. इन्द्रावती; डा० सरला शुक्ल: जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य (लखनऊ, २०१३ वि०), पृष्ठ ४७७॥

३. नूरमुहम्मद: अनुराग बांसुरी (प्र० हि० सा० सं० प्रयाग) पृष्ठ ३६॥

४. 'दि बेसिस ऐंड दि काज आफ़ आल लव इज व्यूटी', ए० ई० एफ़िफ़ी: दि मिस्टि-कल फ़िलासफ़ी आफ़ मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी, पृष्ठ १७३॥

सुंदर मुख देखें सुख होई, सुंदरता चाहे सब कोई ॥

चंद्रबदन जन सेवें जाको, धरती सरग मिला है ताको ॥

देखें नित बाता दृग दीन्हा, सुंदर रूप सुफल दृग कीन्हा ॥

रूप आइ आखिन मां, हृद समाइ ।

हिएँ समाने प्रेमी, कहा, अघाइ ॥^१

परन्तु यह रूप-सौन्दर्य चिरस्थायी नहीं है, यौवन के साथ ही ढलना आरम्भ हो जाता है । इसलिए इसका समय रहते ही उपयोग करने में संकोच अनुचित है । यौवन तथा रूप का ह्रास हो जाने पर मनुष्य का मूल्य उतना ही रह जाता है जितना जलपक्षियों की दृष्टि में निर्जल सरोवर का । 'पद्मावत' में देवपाल की दूती कुमोदिनी पद्मावती को इस नीति का उपदेश यों देती है—

जोबन-जल दिन-दिन जस घटा । भँवर छ्यान, हंस परगटा ॥

सुभर सरोवर जौ लहि नीरा । बहु आदर, पंखी बहु तीरा ॥

नीर घटे पुनि पूछ न कोई । बिरसि जो लीज हाथ रह सोई ॥^२

रूप और प्रेम निस्सन्देह वांछनीय तथा प्रयोजनीय पदार्थ हैं परन्तु उन पर अभिमान करना बुद्धिमान् के लिए उचित नहीं क्योंकि रूप सदा स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं और उसके अभाव में प्रेम का ह्रास भी स्वाभाविक है । इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का प्रतिपादन नूरमुहम्मद ने इन शब्दों में किया है—

रूप प्रेम पर का अभिमान् ? दोऊ तजि घट जाहि निदान् ॥

सदा न रूप रहत है, अंत नसाइ ।

प्रेम रूप के नासहि, तें घट जाइ ॥^३

वस्तुतः जीवन का आनन्द जोबन में ही है । वार्धक्य में तो बुद्धि क्षीण, इन्द्रियाँ शिथिल और शरीर निःशक्त हो जाता है तब पराधीनता-जन्य दुःख सहने की अपेक्षा मरण कहीं अच्छा है । वृद्धावस्था की कष्टप्रदता का वर्णन जायसी ने पद्मावत की समाप्ति पर इस प्रकार किया है—

बल जो गएउ केँ खीन सरीरु । बिस्टि गई नैनहिं वेइ नीरु ॥

दसन गए केँ पचा कपोला । बंन गए अनरुच वेइ बोला ॥

बुद्धि जो गई वेइ हिय बौराई । गरब गएउ तरहुँत सिर नाई ॥

जो लहि जीवन जोबन साथी । पुनि सौ मोचु पराए हाथी ॥

बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस ।

बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असोस ॥^४

१. अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ४५

२. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २७१

३. अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६

४. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ३०२

वाणी, सत्यभाषण तथा मधुरभाषण का महत्त्व और वाचालता तथा मौन की निन्दा इन कवियों के प्रिय विषय रहे हैं। मनुष्य तो सदा-सर्वदा नहीं रहता परन्तु उसके वचन-कुसुम सदा संसार को सुवासित करते रहते हैं। नूरमुहम्मद के विचार में तो सुवचन मनोवाटिका के सुरभित सुमन हैं—

है मन फुलवारी हो भाई । फूल समां यह वचन सोहाई ॥
वचन अर्थ है बास समाना । कवि खोता है भँवर सयाना ॥
जब वह फूल तजत फुलवारी । विकसत बास देत अधिकारी ॥
जुग जुग रहत न तनु कुम्हिलाई । दिन दिन बास बढ़त अधिकारी ॥^१

वाणी के व्यवहार में विशेष सतर्कता अपेक्षित है क्योंकि, जल और अनल दोनों का आश्रय होने के कारण, वह हास्य और रुदन, गज-दान और गजचरण-मर्दन दोनों ही का कारण बनती है। 'इन्द्रावती' में नूरमुहम्मद कहते हैं—

वचन सोइ जासों सुख बाढ़ें, दुखद वचन चातुर कित काढ़ें ॥
सो न पूछिए जेहि सुनि हिया, होई पचन लागें अनु दिया ॥
बहुत वचन तें मानुख हँसे, बहुत वचन रक्तासू खँसे ॥
सुलभ खरग के पूजें धाऊँ, रसना-धाव रहै बिलगाऊँ ॥
समुझि खोलिए रसना, भाखित लागि ।
है रसना में प्यारी, जल औ आगि ॥^२

परन्तु मधुरभाषण ही पर्याप्त नहीं है, 'प्रियं च नानृतं, व्रूयान् के अनुसार सत्य की उपेक्षा भी कभी न करनी चाहिये क्योंकि नाम की स्थिरता के लिए सत्य, सन्तान की अपेक्षा भी अधिक वलवान् है। उममान का कथन है—

सत्य समान पूत जग नाहीं, सत सों रहै नाउँ जग माहीं ।
कोखि पूत एक देस बखाना, सत्य पूत चारों खंड जाना ॥^३
जायसी ने भी 'पद्मावत' के राजा सुआ संवाद खंड में सत्य को सर्व पुण्यों का मूलकारण, तेजोवर्द्धक और ऐश्वर्य तथा सिद्धियों का दाता कहा है—

होइ मुख रात सत्य के बाता । जहाँ सत्य तहँ धरम संधाता ॥
बाँधी सिहिटि अहै सत केरी । लछिभी अहै सत्य केँ चेरी ॥
सत्य जहाँ साहस सिधि पावा । औ सतबादी पुरुष कहावा ॥
सो सत छाँड़ि जो धरम बिनासा । भौ मतिहीन धरम करि नासा ॥^४

१. नूर मुहम्मद: इन्द्रावती का स्तुति खंड, 'हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह,' पृष्ठ ७८

२. अनुराग वांसुरी, पृष्ठ ६२

३. उसमान: चित्रावली, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य, पृष्ठ २१०

४. जायसी चित्रावली, ३८

नितान्त मीन रहने से मानव के गुण गुप्त रहते हैं और परिणामतः उसका समाज में आदर-संमान नहीं होता। वाचालता अभिमान और क्षुद्रता दोनों ही का लक्षण है। इस नीति को अनुराग बांसुरी में सर्वमंगला स्व सखियों के समक्ष यों व्यक्त करती है—

गुन बोली सों परगट होई, बिन बोलें लखि जात न कोई ।

जैसे साधु माख नित रहै, ताकी संगति कछु न लहै ।

भलो न बहुतें, चुप होइ रहना, भलो न बहुतें भाषित कहना ॥^१

मानसिक नीति—सूफी कवि निरक्षर न थे। ये विद्या और स्वाध्याय के महत्त्व से सुपरिचित थे और अपने धर्मग्रन्थों के समान ही अन्य मतों के ग्रन्थों का भी श्रद्धापूर्वक अध्ययन करते थे। जहाँ ये सभी धर्मों के अवतारों और देवतों को आदर की दृष्टि से देखते थे वहाँ उनके धर्म-ग्रन्थों के प्रति संमान का भाव रखते थे। यही कारण है कि इन प्रेमकथानकों में विद्या, बुद्धि तथा धर्मग्रन्थों के प्रति आदर की भावना दृष्टिगत होती है। नूरमुहम्मद के शब्दों में विद्या वस्तुतः एक विशाल और अगाध 'रत्नाकर' है जिसकी थाह पाना या पार पहुँचना किसी के लिए भी सम्भव नहीं—

वचन अरथ है सिधु अपारा। संपूरन कोउ तिरै न पारा ॥

नई नई लहरें नित तासों। सागर मरम परगटें कासों ॥

बड़े बड़े कवि लोग सयाने। तिरि नहि सके ठाँव विथकाने ॥^२

इस विद्या-रूपी सर्वोत्तम तथा अविभाज्य धन के विना मनुष्य पशु-तुल्य रहता है और जो इसे प्राप्त कर भी आचरण में नहीं लाता उसकी दशा तो ग्रन्थवाही गर्दभ की सी है—

विद्या सों नर मानुख होई, जाहि न विद्या है पशु सोई ।

विद्या दरब न बाँटे भाई, नहि तस्कर ठग हाथे जाई ।

नहि नृप कर न सहोदर-भागें, अधिक बढ़त जब बाटे लागें ।

विद्या मते चले जो नाहीं, पोथी लावे खर उपराहीं ।

विद्या-जल सों सूँझें आगम बाट ।

बहुतें वस्तु मनोरम, विद्या हाट ॥^३ (नूर मुहम्मद)

विद्या से वास्तविक लाभ उठाना प्रत्येक के भाग्य में बदा नहीं होता। जिनके मनोमुकुर निर्मल और हृदय-नेत्र उन्मीलित होते हैं वही इस अलौकिक प्रकाश से आलोकित हो सकते हैं, शेष तो उस तोते के समान हैं जो कुछ वाक्य सीख तो लेता है परन्तु माणिक्य और मोती को दाडिम और द्राक्षा मान मुख में डालने का उद्योग करता है। पद्मावत में जायसी कहते हैं—

१. अनुराग बांसुरी, पृष्ठ ६० ।

२. नूर मुहम्मद : अनुराग बांसुरी, पृष्ठ ३ ।

३. वही पृष्ठ ६ ।

सुझा जो पढ़े पढ़ाए बना । तेहि कत बुधि जेहि हिये न नैना ।

मानिक मोती देखि वह हिये न ज्ञान करेइ ।

बारिउँ दास जानि के अर्बाहि ठौर भरि लेइ ॥^१

विद्वान् को अपनी विद्या विद्वानों के सम्मुख प्रकट करनी ही चाहिए । जहाँ इस से धन-मान आदि की प्राप्ति होती है, वहाँ विद्या का विकास भी । 'पद्मावत' में ब्राह्मण बनिजारा व्याघ्र-निगृहीत हीरामन शुक से यों कहता है—

पण्डित हो तो सुनावहु बेदू । बिन पूछे पाइय नहि भेदू ।

हो बाह्यन औ पंडित, कहु आपन गुन सोइ ।

पढ़े के छागे जो पढ़े दून लाभ तेहि होइ ॥^२ (जायसी)

वेद के प्रति इन कवियों के आदर का अनुमान शेख नबी की निम्नलिखित चौपाई से सहज ही हो जाता है—

वेद भेद जो मारग जइया, पंथ हैरान तही छिन पइया ।

वेद विहून सुनी सो काया, पसु के अंस घरी नर काया ॥^३

विद्या बुद्धि को जननी है और विकसित बुद्धि सर्व विध सफलताओं की । इसलिए इन काव्यों में बुद्धि का गुणगान भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है । 'पद्मावत' के गोराबादल युद्ध खण्ड में गोरा और बादल बल की अपेक्षा बुद्धि के उत्कर्ष का यों उल्लेख करते हैं—

सुबुद्धि सों ससा सिध कहें मारा । कुबुद्धि सिध कूझां परि हारा ॥^४

नूर मुहम्मद भी बुद्धि के अनेक गुणों के कारण उसे अपने काव्य का एक पात्र कल्पित कर उसकी महिमा को असीम बताते हैं—

बुद्धि-बखान-अंत को पावें, मंजुल काज लागि नित पावें ।

बुद्धि के मतें चलें जो कोई, ताके काज सिरैयस होई ।

मंत्री बुद्धि समा 'जेहि पासा', काहें बक्र चलें सुख-आसा ॥^५

आत्मिक नीति—'इजिप्शियन रायल लायब्रेरी' में सुरक्षित 'अलसिर फि अफनास अलसूफिया' नाम के हस्तलिखित ग्रंथ की समाप्ति पर सूफ़ीमत की जो अनतीस संक्षिप्त परिभाषाएँ उपन्यस्त हैं, उनमें प्रथम इस प्रकार है—

अलिक्र-सूफ़ी मत का तात्पर्य सद्गुणों की प्राप्ति एवं दुर्गुणों का अभाव है ।^६

१. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २१

२. वही पृष्ठ ३१

३. शेख नबी, ज्ञान दीप, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य पृष्ठ ४२८

४. जायसी ग्रंथावली, ४३ २८६

५. नूर मुहम्मद : अनुराग बांसुरी, पृष्ठ ८

६. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ीकवि और काव्य, पृष्ठ २२५

इस गुण को प्राथमिकता देने का आशय यही है कि सूफीमत अन्य विषयों की अपेक्षा सद्गुणी बनने का विशेष आग्रह करता है। यही कारण है कि सूफी-काव्यों में गुणों के महत्त्व तथा गुणी की सार्वत्रिक प्रतिष्ठा का कई स्थलों पर उल्लेख मिलता है। आलम कहते हैं—

गुन देखें गुनिजन सुखी, निर्गुन होइ जनु कोइ ।

राय रंक सब बीच लै, जो रं पेट गुन होइ ॥

ऊँच नीच पूछहि नहि कोई । बंठहि सभां जोर गुन होई ॥

गुनीं पुरिष जो पर भुमि जाई । त्यों त्यों महंगे मोल बिकाई ॥

जैसे पुत्रहि पालें माई । त्यों गुन रहै सदा सुखदाई ॥

गुन बिन पुरिष पंख बिन पंखी । गुन बिन पुरिष ग्रंथ ज्यों ग्रंथी ॥^१

सूफी होने के कारण इन कवियों का काम, शोध, लोभ आदि पापों की गह्रा तथा जप, तप, कर्म, धर्म, 'नेम' आदि की प्रशंसा करना स्वाभाविक ही था, परन्तु जो बात विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है वह है इनके काव्यों में यश, कीर्ति, दृढ़-संकल्प, साहस, वीरत्व, धैर्य आदि की स्तुति। इन क्षत्रियोचित गुणों की इलाफा के दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि इन काव्यों के चरित-नायक प्रायः राजा लोग हैं जो अनेक विघ्न-बाधाओं के दमन-मर्दन के पश्चात् ही प्रियतमाओं की प्राप्ति में सफल होते हैं। द्वितीय यह कि प्रभु-प्राप्ति के इच्छुक साधक को भी कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। उसे भी धैर्य, साहस आदि की उतनी ही अपेक्षा रहती है जितनी प्रेमी पृथ्वी-पतियों को। स्त्रियों के लिए इन साधकों ने लज्जा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अधिक न कह कर अपने कथन के समर्थन में कतिपय पद्यों को उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा—

(क) निहचं चला भरम जिउ खोई । साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई ॥^१ (जायसी)

(ख) तुइ अबला, धनि ! कुबुधि-बुधि, जाने काह जुभार ।

जेहि पुरुषहि हिय बीर रस, भावें तेहि न सिंगार ॥^३ (जायसी)

(ग) तिरबौ एक बार न आवें, तिरत तिरत तिरबौ गुन पावें ।

होइ साहसिक साहस राखें, बबता होइ बाक् के भाखें ॥

या नर जा मग राखें पाऊ, गौनत पूरा होइ बटाऊ ।

पहलें दोच्छित बिद्या दोही, अंत गुरु कहवावें ओही ॥^४ (नूरमुहम्मद)

(घ) धनि सोई जस कीरति जासू । फूल मरें पं मरें न बासू ॥^५ (जायसी)

१. आलम : माधवानल कामकंदला, हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह, पृष्ठ १६३

२. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२

३. वही, पृष्ठ २८४

४. अनुराग वासुरी, पृष्ठ २०

५. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०१

(ङ) सुन्दर मुख की आखिन, चाही लाज ।

लाज बिना सुन्दरता, कोने काज ॥

लाज सोभा सुन्दरता को है, जा को लज्जा सुन्दर सो है ॥^१ (नूर मुहम्मद)

(च) जो लहि ऊपर छार न परै : तो लहि यह तिस्ना नहि मरै ।^२

मनुष्य का दुर्गुणों से पृथक् और गुणों से पूर्ण होना ही पर्याप्त नहीं है । आदर-मान की प्राप्ति के लिए उन गुणों का यथा-स्थान तथा यथा-अवसर प्रकाशन भी आवश्यक है ।^३ इस नीति का उल्लेख 'पद्मावत' में यों किया गया है—

बाम्हन आइ सुआ सौं पूछा । दहूँ गुनवंत कि निरगुन छूछा ।

कहु परबत्ते ! गुन तोहि पाहाँ । गुन न छिपाइय हिरदय माहाँ ।^४

पारिवारिक नीति—हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दू-समाज में प्रचलित दाम्पत्य-प्रेम की कथाओं को सूफी सन्तों ने आध्यात्मिक प्रेम का रंग देने का प्रयास किया है । उस लक्ष्य की विद्यमानता में भी इन काव्यों के अध्ययन से यही प्रभाव पड़ता है कि दाम्पत्य-प्रेम भी एक बड़ा बरदान है, वह आध्यात्मिक प्रेम की प्राप्ति का साधन है और उसके बिना जीवन की पूर्णता असम्भव है ।

(क) 'मुहमद' बाजी पेम के ज्यों भावें त्यों खेल ।

तिल फूलहि के संग ज्यों होइ फुलायल तेल ॥^५ (जायसी)

(ख) 'मंझन' जो जग जनम ले बिरह न कीया घाव ।

सुने घर का पाहुना ज्यों आवा त्यों जाव ॥^६ (मंझन)

वास्तव में इन काव्यों में प्रेम के विभिन्न अंगों पर इतना अधिक, उपयोगी और सुन्दर लिखा गया है कि प्रेम-पन्थ के प्रत्येक पांथ के लिए उसका अध्ययन जितना उपयोगी है, उतना ही हृदयहारी भी । प्रेम में बुद्धि का स्थान नहीं, सुखद पदार्थ भी प्रेमी के लिए दुःखद, प्रेमियों के कष्ट, प्रेमाश्रुओं की मूल्यवत्ता, प्रेम-रोग की असाध्यता प्रेम का छिपाना अशक्य, प्रेम में दूरी का अभाव, वियोग-दुःख, दिल देना ही भूल, लगन की अगन, प्रेम कमल और जल के समान चाहिए, आदि विषयों से इस क्षेत्र की व्यापकता और मार्मिकता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है । कुछ उद्धरण अवलोकनीय हैं—

१. अनुराग बांसुरी, पृष्ठ ७२

२. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ३००

३. रे रे कोकिल मा भज मोनम्, किंचिदुदञ्चय पंचमरागम् । नो सेत्त्वामिह को जानीते, काककदम्बकपिहिते चूते । (सु० २० भा० पृष्ठ २२५।१३१)

४. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१

५. जायसी ग्रन्थावली, २५

६. 'मधुमालती', डा० कमल कुलश्रेष्ठ : हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य (अजमेर, १८५३ ई०) पृष्ठ ३६२

(क) जो जेहि रस नित है मकरंदी, ता चरचा सुनि होइ अनन्वी ।
तपी तपस्या सन सुख पावै, मविरा बात मद्रूपहि भावै ॥
विद्या रागी विद्या सुनै, फूल सनेही फूल चुनै ।
जो जाको मन भावन होइ, ता गुन सन मुद मानै सोइ ॥^१ (नूर मुहम्मद)

(ख) जो सनेह मग पर पग राखै, सो करेज को खोनित चाखै ।
जिय सों गरु होइ जो कोइ, सो सनेह को पथिक होइ ।
यह मैवान न जीते पारे, अर्जुन भीम अस्त्र जहँ डारै ।
है सनेह के कठिन लड़ाई, सकती पाइ लखन मरि जाई ॥^२ (नूर मुहम्मद)

(ग) 'आलम' ते नर तुच्छ मति, जे पर हंथ मनु देहि ।
सुख संपति लज्या तजै, दुख विरहा सोइ लैहि ॥^३ (आलम)

परन्तु प्रेममार्ग के ये काँटे सच्चे प्रेमी को फूल प्रतीत होते हैं और वह अपने प्रेम को इसी जीवन तक सीमित न रख कर मरणानन्तर भी जीवित रखना चाहता है—
का सो प्रीति तन माँह विलाई ? सोई प्रीति जिउ साथ जो जाई ॥^४ (जायसी)

प्रेम की परिणति और नाम को अमर रखने के लिए सन्तान का होना आवश्यक है : इसलिए जान कवि कहते हैं—

ब्याह बिना सन्तान न होई, मुये नाम न ले है कोई ॥^५

वस्तुतः दाम्पत्य-जीवन की सफलता सापत्य होने में ही निहित है—

(क) रहा महीपति घर उजियारा । बालक दीप बिना अधियारा ॥^६

(ख) आत्मजा जो होत एक, होत सदन उजियार ।
कन्यादान बिहै सों, होते मुकुत हमार ॥^७ (नूर मुहम्मद)

इन काव्यों में पति-पत्नी दोनों के ही कर्तव्यों का यथाप्रसंग उल्लेख मिलता है परन्तु जिस उच्च व पवित्र जीवन भी आशा पत्नी से की जाती है, पति से नहीं ।

१. अनुराग बांसुरी, पृष्ठ २४-२५

२. वही, पृष्ठ २६

३. माधवानल कामकंदला, विक्रमसहायता खण्ड, हिन्दी प्रेमगाथा काव्य-संग्रह, पृष्ठ २०६

४. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २२

५. कथा छविसागर सोलनिधान की, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य पृष्ठ ४१४

६. ७. इन्द्रावती, स्वप्नखंड कुंवर, हिन्दी प्रेमगाथा का काव्य संग्रह, पृष्ठ ८३

पति का यह कर्तव्य तो निर्दिष्ट है^१ कि जिस स्त्री का उसने पारिग्रहण किया है, उसकी जीवन-नैया को पार पहुँचा दे परन्तु उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह केवल उसी का हो कर रहे। पुराने जमाने में इस विषय में पुरुषों ने प्रायः कभी अपने पर यह बन्धन नहीं लगने दिया और ये सूफ़ी काव्य भी उस नीति के अपवाद नहीं हैं। एक पत्नी के रहते हुए भी नायक अन्य सुरुपवती स्त्रियों के समाचार पाकर कामातुर हो उठते हैं और उन्हें पाने के लिए प्रथम पत्नी वा पत्नियों, माता-पिता तथा राज-कीय सुखैश्वर्यों को सहर्ष तिलांजलि दे देते हैं। हाँ, इस बात के लिए वे कुछ सीमा तक प्रशंसा-पात्र अवश्य हैं कि नवोढ़ा पाकर वे प्रोढ़ा का परित्याग नहीं कर देते हैं—अपने स्नेह के कुछ कणों से उन चातकियों की तृषा भी शान्त रखते हैं। जब सौतिया बाह से संतप्त नागमती ने रत्नसेन को यह उपालम्भ दिया—

काह हँसो तुम मो सों, किएउ और सों नेह ।

तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहिं मुख बरिसं मेह ॥^२

तब रत्नसेन ने उस रुष्टा को निम्नलिखित शब्दों से तुष्ट किया—

नागमती तू पहिलि बियाही । कठिन प्रीति बाहै जस बाही ॥

बहुतैं बिनन आव जो पीऊ । धनि न मिलैं धनि पाहन जीऊ ॥

पाहन लोह पौढ़ जग दोऊ । तेउ मिलहि जो होइ बिछोऊ ॥

भलेहि सेत गंगजल दीठा । जमुन जो साम नीर अति मोठा ॥

कोइ केहु पास आस के हेरा । धनि ओहि बरस-निरास न फेरा ॥^३

पत्नी के लिए पातिव्रत धर्म की, लज्जाशीलता, की उच्छृंखलता के परित्याग की तथा पति-सेवा आदि की, प्रेरणा पग-पग पर प्राप्त होती है, परन्तु, कदाचित् पुरुष होने के कारण इन्हें अपने सजातीयों के लिए भी ऐसी ही बातें लिखने का साहस नहीं हुआ। पत्नी के कर्तव्यों के सम्बन्ध में जायसी लिखते हैं—

(क) रहै जो पिय के आयसु औ बरतैं होइ हीन ।

सोई चाँद अस निरमल, जनम न होइ मलीन ॥^४

(ख) जो न कंत के आयसु माहीं । कौन भरोस नारि के बाही ?^५

राजाओं की कथाओं में संग्रामों का वरान् स्वाभाविक ही है और उनके लिए हथेली पर सिर रख कर लड़ने वालों की आवश्यकता होती है। इसलिए स्त्रियों को सिंह-सदृश सुतों को जन्म देने की प्रेरणा भी दिखाई देती है। कवि आलम कहते हैं—

१. जा संग ब्याह होत जग माहीं, पंथ निबाहत सो धरि बाहां ॥

जनम संघाती होत सो जा के संग बियाह ।

जंस पर तस अंगबै, धन को करे निबाह । (नूर मुहम्मद : इन्द्रावती, नहान खंड, हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह, पृष्ठ १०६)

२. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १८६

४. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ३७

५. वही, पृष्ठ ३५

सिंहनि ऐसो पूत जनि, पर रन मंडहि जाइ ।

कुम्भ बिदारन गज बलन, अघरन मंडे जाइ ॥

सिंहनि ऐसो पूत जनि, सिंह बिदारन जोग ।

घर सूर रा रन भागना, जिन त हैसे ये लोग ॥^१

इन काव्यों में माता-दिता के सन्तान पर उपकारों तथा सन्तान के उनके प्रति कर्तव्यों का भी प्रसंगवश उल्लेख किया गया है। 'अनुराग बाँसुरी' में जब नायक (अन्तः करण) सर्वमंगला को पाने के लिए प्रस्थान करने लगा तब माता के निषेध करने पर उसने जनकों के वात्सल्य तथा उनके प्रति श्रद्धा का वर्णन यों किया—

मात पिता बाया की छाहें, पाएउ सुख नित मया निबाहें ॥

जो पितु मातु मया जस गाऊँ, हारे रसना अन्त न पाऊँ ॥

जहाँ रहों तहें सिमरौं नाऊँ, आयसु मेडि कहाँ मैं जाऊँ ॥

मात पिता पग रेनु, बेइ दृग जोति ।

बोऊ मन के रुठें, मुकति न होति ॥^२

यही नहीं, नूर मुहम्मद ने माता-पिता की सेवा को ईश्वरीय आदेश कहा है—

मात-पिता संग करहु भलाई। करता की आज्ञा अस आई ॥

जो अपने आगे विधाहीं। उन्हें बात उह भाखी नाहीं ॥

और न कीजे उन्हें निरासु। उन नित माँगु सरग सुख वासु ॥^३

नारी-जीवन के दो भाग होते हैं। प्रथम भाग माता-पिता के घर व्यतीत होता है, द्वितीय ससुराल में। जो वात्सल्य और स्वतंत्रता कन्या को पितृगृह में सुलभ होती है, उन्हे वह जीवन भर स्मरण किया करती है। उस के जीवन का द्वितीय भाग अनिश्चित होता है। सास-ननद के उपालम्भ तथा पति-निर्दिष्ट बन्धन उस के हृदय को प्रायः व्यथित करते रहते हैं। जायसी ने दोनों अवस्थाओं का सुन्दर उल्लेख किया है। 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड में जब पद्मावती स्व सखियों के सहित सरोवर-तीर पर जाती है तब सखियाँ कहती हैं—

ए रानी ! मन देखु बिचारी । एहि नँहर रहना दिन चारी ॥

जौ लगि अहै पिता कर राजू । खेलि लेहु जो खेलहु आजू ॥

पुनि सासुर हम गबनब काली । कित हम कित यह सरवरपाली ॥

सासु ननब बोलिन्ह जिउ लेहीं । बारन ससुर न निसरें देहीं ॥

१. आलम : माधवानल कामकंदला, युद्ध खंड, हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह, पृष्ठ २२३.

२२५

२. नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ३६

३. नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य, पृष्ठ ४८१

पिउ पियारे सिर ऊपर, पुनि सो करै दहूँ काह ।

बहुँ सुख राखै की दुख, बहुँ कस जनम निबाह ॥^१

सामाजिक नीति—इन प्रेम-कथानकों में समाज के प्रायः सभी अंगों पर यथेष्ट प्रकाश-निक्षेप किया गया है । गुरु, शिष्य, मित्र, स्त्री, पण्डित, पुरोहित, उत्तम, अघम, हिन्दू, मुसलमान, योगी, स्वामी, सेवक आदि सभी के व्यवहारों का प्रसंगवश उल्लेख मिलता है । सूफ़ी कवियों की दृष्टि में गुरु का स्थान समाज में सर्वोच्च था क्योंकि उसकी कृपा-दृष्टि के बिना अध्यात्म-मार्ग पर अग्रसर होना अशक्य था । ‘अनुराग बाँसुरी’ में राजकुमार ‘अन्तःकरण’ गुरु-कृपा की प्राप्ति के लिए गुरु-महत्त्व का यों बखान करता है—

बिन गुरु माल होउँ कत चेला, बिन गुरु दाया चलै अकेला ॥

गुरु बिन पंथ न पावै कोई, केतिकी ज्ञानी ध्यानी होई ॥

गुरु ऐसौ मीठो किछु नाहीं, जहँ गुरु तहाँ तिबत मिटि जाहीं ॥

‘कामयाब’ को गुरु अति भावै, सो हित जो गुरु ताहि जिवावै ॥^२

और जायसी के शब्दों में सुशिष्य भी वही है जो गुरु के चरण-न्यास के स्थल पर मस्तक रखने में ननु-नच न करे—

गुरु हमार तुम राजा, हम चेला तुम नाथ ।

जहाँ पाँव गुरु राखै, चेला राखै माथ ॥^३

अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मित्र मान बैठना नीति-विरुद्ध है । अधिकतर लोग स्वकार्य-साधन के लिए दूसरों से भेल-जोल बढ़ाते हैं । सो स्वायं-साधक सखाओं से सचेत करने के लिए उसमान ने नैन-मीत, इच्छा-मीत, बैनमीत और प्रानमीत नाम के चतुर्विध मित्रों का वर्णन किया है—

मीतहि होई मीत की चिन्ता, चारि भाँति जग किये मित्ता ।

नैन मीत एक जग आवा, नैन देखि के मीत कहावा ॥

मुख फेरत भा औरे लेखा, गयो भूमि जनु सपना देखा ।

इच्छा मीत होइ एक दूजा तो लहु मीत इच्छा जब पूजा ॥

होँछाँ पूजी गई मित्ताई, बहुरि बार नहि भाँके आई ।

बैन मीत बैन रस रसा, बैनहि लागि रहँ मन बसा ॥

प्रान मीत वहि कहिन है, पर न सकै निरबाँहि ।

सो दुख आनँ आप जिय, जाँ महुँ सुख हो ताँहि ॥^४

१. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २३

२. नूरमुबम्मद : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ३३

३. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ६२

४. चित्रावली (ना० प्र० सभा काशी, १९१२ ई०) पृष्ठ ३१

इसलिए जीवन में मित्रों के चुनाव के समय और पश्चात् भी महामित्र की पहचान के लिए उसमान-निर्दिष्ट यह 'गुर' विशेष उपयोगी है—

जो मुख पर ऐगुन कहे, महामित्र है सोइ ।

ताको मित्र न जानिये, ऐगुन राखे गोइ ॥^१

समाज में स्त्री का स्थान भी आदरणीय नहीं दिखाई देता । उसकी मान-प्रतिष्ठा उसके सौन्दर्य पर ही अवलम्बित दिखाई देती है । यह गया तो वह भी गई । इस सम्बन्ध में देख नबी कहते हैं—

त्रिय जोबन जल नद की पानी, उतरि गये को मेखें आनी ।

तिरिया जाति दूध की नाई, बिनसे बहुरि सवाद न पाई ॥

तिरिया कँवल एम सम तूला, पानी गये न सो रंग फूला ।

तिरिया केदलि धंभ की नाई, एक बार फर होइ मिटि जाई ॥

तिरिया माटिक बासन जंसे. पाए छूति रसोई न पैसे ।

तिरिया जस माटी की गगरी, माहुर बूंद परत धन बिगरी ॥

औगुन मरी सो तिरिया, तंसा गुन अधार ।

संत करहु चित भीतर, जा पुरवाहि करतार ॥^२

स्त्री के मन को छल-कपट से पूर्ण कहा गया है, और उससे सावधान कहने की प्रेरणा की गई है—

तिरिया चरित न कोन्ह विचारा, तिरिया मतें बूड़ संसारा ॥

तिरिया जल भँह आग लगावें, तिरिया सूखे नाउ चलावें ॥

तिरिया छार पुरुष मुख मेले, तिरिया छल नाटक(?) खेले ॥^३

उसका मन ही कपटी नहीं, बुद्धि भी मंद कही गई है—

मतें बँढि बादल औ गोरा । सौ मत कीजं पर नहिं भोरा ।

पुरुष न करहिं नारिमति काँची । जस नौशाबा कोन्ह न बाँची ॥^४

समाज में व्यक्तियों को उनकी योग्यता, विद्या, सम्पदा आदि के अनुसार ही स्थान दिया जाना चाहिए, 'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' की नीति प्रशस्य नहीं मानी जा सकती । नूर मुहम्मद के शब्दों में इसका प्रतिपादन यों हुआ है—

जो जंसौ तेहि तंसौ चाहिय ठौर ।

उत्तम फूल होत है, सिर को मोर ॥^५

१. नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, जायसी के परवर्ती० : पृष्ठ ४८१-४८२

२. शेखनबी : ज्ञानदीप, वही, पृष्ठ ४२८

३. कासिमशाह : हंस जवाहर, (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३७ ई०) पृष्ठ १०४

४. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २८६

५. नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६३

समाज में विभिन्न गुणों के आधार पर उत्तम, मध्यम, अधम जनों का विभाजन अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । परन्तु इसका आशय यह नहीं कि उत्तम लोग दर्पान्ध हो कर छोटों से घृणा करें । वस्तुतः उत्तम वही है जो छोटों को अपने अधीन से कृतकृत्य करे । प्रिया की दया का अभिलाषी 'अन्तःकरण' पत्र में लिखता है—

कमल भानु-दाया तैं फूला, ना तु रवि कहाँ, कहाँ वह फूला ॥

फूलें कुमुद चंद्र की दाया, ना तो कहाँ कुमुद को काया ॥

पलुहै धरती तेहि दाया सों, ना तो का गुन-रूप रसा सों ॥

उत्तम होंहि अधम पर, आप दयाल ।

मन को सुकन फंदावैं. दाया-जाल ॥^१

समाज-प्रिय मानव किसी-न-किसी की संगति में तो रहता ही है परन्तु उच्चता उसे ही उपलब्ध होती है जो ऊँचों से मेल-जोल रखता है । 'पद्मावत' में जब हीरामन ने उच्च सिंहल-दुर्ग को पद्मावती का निवास-स्थान बताया तब रत्नसेन ने उत्साहपूर्वक कहा—

पुरुषहि चाहिय ऊँच हियाऊ । दिन-दिन ऊँचें राखें पाऊ ॥

सदा ऊँच पै सेइय बारा । ऊँचे सौं कीजिय वेवहारा ॥

ऊँचे चढ़ैं, ऊँच खंड सूझा । ऊँचे पास ऊँच मति बूझा ॥

ऊँचे संग संगति निति कीजैं । ऊँचे काज जीउ पुनि दीजैं ॥

दिन दिन ऊँच होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ ।

ऊँचे चढ़त जो खसि परैं, ऊँच न छाड़िय काउ ॥^२

क्रूर पड़ोसी के कारण सज्जन का जीवन दुःखमय हो जाता है, इस नीति को हीरामन पद्मावती के सम्मुख प्रकट कर राजरोष के कारण वहाँ से विदा होना चाहता है—

मारैं सोइ निसोगा, डरैं न अपने दोस ।

केरा केलि करैं का, जौं भा बेरि परोस ॥^३

ऐसे प्रतीत होता है कि उन दिनों अनेक लोग योगियों का वेष तो धारण कर लेते थे परन्तु होते थे वस्तुतः 'बगुला भगत' । यही कारण है कि इन कवियों ने जनता को 'वेश-धारियों' से सतर्क किया और सच्चे तपस्वियों के लिए वेष को अनावश्यक ठहराया । शेखनबी-कृत 'ज्ञानदीप' में रक्षक, राय सुखदेव को योगियों से सावधान रहने की प्रेरणा करते हैं—

(क) जोगी भयल रूप सब रहहीं, कहहीं अवर कुछ अवरे करहीं ।

जोगी नहिं बातन पतिआइय, जहें देखी तहें मारि उड़ाइय ।

१. त्रुर मुहम्मद : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ७८

२. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ६६

३. वही, पृष्ठ २१

जोगी छलत फिरिहं संसारा, हाथ धँधारि लाइ मुख छारा ॥

जोगिहि नहिं पतिआइय, बैठिय पास न दौरि ।

देई भोषि मँगाइके, बँठे देइ न पोरि ॥^१

(ख) तपो न होहिं भेस के किहें, रंग-दुकूल माला के लिहें ।

उज्जल बास बीच भल जोगू, रहें छिपान, न चीन्हें लोगू ॥

सुमिरन ध्यान राति दिन चाहै, इहै तपस्या पूरन आहै ॥^२

जब सजातीय लोग परस्पर मिलते हैं तो स्वभावतः व्यवसाय-विषयक चर्चा चल ही पड़ती है । जैसे 'पद्मावत' में ब्राह्मण हीरामन से पूछता है ।

हम तुम जाति बराम्हन दोऊ । जातिहि जाति पूछ सब कोऊ ।

पंडित हो तो सुनावहु वेदू । बिनु पूछे पाइय नहिं भेदू ॥^३

वैसे ही 'ज्ञानदीप' में जब देवजानी की संस्कृत वाणी से ज्ञानदीप प्रभावित हुआ तब शेख नबी ने लिखा—

पण्डित पण्डित मिलें जो कोई, बहुत सवाद बात कर होई ॥^४

उस युग में, सेवक स्वामी के सिर पर सवार न थे । स्वामी के माथे पर बल पड़ते ही उनके प्राण शुष्क होने लगते थे और उन्हें जान बचा कर भागने में कुशल-क्षेम दिखाई देता था । जब रत्नसेन ने हीरामन शुक के वध का आदेश दिया तब भीत-त्रस्त शुक ने पद्मावती से कहा—

ठाकुर कंत चहै जिहि मारा । तेहि सेवक कर कहाँ उबारा ?^५

राजा का प्राण-पराण से हित करना क्षत्रिय जन अपना परम कर्तव्य मानते थे । जब स्वामी विपद्ग्रस्त होता था तब सेवकों को घर-बार व दाम्पत्य सुख हेतु प्रतीत होते थे । स्वामिकाज को प्राथमिकता दी जाती थी । 'पद्मावत' के गौरा-बादल युद्धयात्रा खंड में जब पत्नी ने बादल को युद्ध में जाने से रूकने को कहा तब बादल ने यों उत्तर दिया—

जो तुइ गवन आइ, जगगामी, गवन मोर जहँवाँ मोर स्वामी ॥

जौ लागि राजा छूटि न आवा । भावं धीर, सिंगार न भावा ॥

तिरिया भूमि खडग कँ चेरी । जीत जो खडग होइ तेहि केरी ॥

जेहि घर खडग मोँछ तेहि गाढ़ी । जहाँ न खडग मोँछ नहिं बाढ़ी ॥

तब मुँह-मोँछ जीउ पर खेलौ । स्वामि काज इन्द्रासन पेलौ ॥^६

१. जायसी के परवर्त्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य, पृष्ठ ४२६

२. नूरमुबम्मद : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ३२

३. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ३१

४. जायसी के परवर्त्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य, पृष्ठ ४२७

५. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २१

६. वही, पृष्ठ २८४

इन काव्यों में वैसे तो उज्ज्वल चरित्र को ही नीति कहा गया है परन्तु जब पाला कपटी शत्रु से पड़ जाए और बल से काम न बने तब छल-पूर्ण व्यवहार को भी अंगीकार्य कहा है। जब यवनों ने रत्नसेन को छल से बन्दी बना लिया तब गोरा-बादल ने सोचा—

जस तुरकन्ह राजा छर साजा । तस हन साजि छोड़ावहि राजा ॥

पुरुष तहाँ पै करं छर, जहँ बर किए न आँट ।

जहाँ फूल तहँ फूल है, जहाँ काँट तहँ काँट ॥^१

इसी प्रकार इन काव्यों में, सज्जन अपकार के बदले भी उपकार करते हैं,^२ दया तथा प्रेम सब को वशीभूत कर लेते हैं, अपना दुःख सहृदय पर ही प्रकट करना चाहिए,^३ सज्जन कंचन हैं और दुर्जन मिट्टी^४ आदि अनेक सामाजिक विषयों पर सुन्दर पद्य उपलब्ध होते हैं। अन्त में उन दस व्यक्तियों का उल्लेख कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं जिन पर विश्वास करना विपज्जनक कहा गया है। कवि आलम का कथन है—

राजा त्रिया सुनारि, बिटिया रोकष आगि जलु ।

पाँसा साँपिन हारि, ए दस होइ न आपने ॥^५

आर्थिक नीति—सूफ़ी प्रभुप्रेमी थे और इनकी दृष्टि में निर्धनता का विशेष महत्त्व था^६। अबूअब्द अल्लह अल कुरेशी के मत में तो सर्वस्व ही प्रभु को अर्पित कर देना चाहिए जिस से अपने पास कुछ भी न रहे।^७ फिर भी इन प्रेमकथानकों में प्रसंग-वश कई पात्रों के मुख से धन की महिमा का कहीं-कहीं वर्णन कराया गया है। इन काव्यों में धन-सम्बन्धी अनेक प्रसंगों के अध्ययन से सामूहिक रूप से जो प्रभाव पड़ता है वह यह है कि धन कोई विशेष आदरणीय पदार्थ नहीं है। इसके उपाजन में अनुचित साधनों का व्यवहार अनीति है। इसका लोभ न करना चाहिए और दान-पुण्य आदि कार्यों में इसका सद्ध्यय ही श्रेयस्कर है।

‘पद्मावत’ में जब रत्नसेन जलपोत पर आरुढ़ होकर स्वदेश को लौटने लगा तब भिक्षु-वेपधारी समुद्र ने उससे कुछ दान माँगा। तब उसकी याचना को विफल करते हुए रत्नसेन ने धन का महत्त्व यों वर्णित किया—

१. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २८७

२. वही, भूमिका, पृष्ठ १७३

३. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १५६

४. वही, पृष्ठ २८६

५. माधवानल कामकंदला, दिन्वी प्रेमगाथाकाव्य संग्रह, पृष्ठ १६६

६. सरदार इकबाल अलीशाह : इस्लामिक सूफ़िज्म, पृष्ठ २४२

७. मार्गरेट स्मिथ : स्टडीज इन अली मिस्टिसिज्म (इन नियर ऐंड मिडिल ईस्ट)

पृष्ठ ६

- (क) सोई पुरुष दरब जेइ सेती । दरबहि तें सुनु बातें एती ॥
 दरब तें गरब करे जे चाहा । दरब तें घरती सरग बेसाहा ॥
 दरब तें हाथ आव कविलासु । दरब तें अछरी चांड न पासु ॥
 दरब सें निरगुन होइ गुनवंता । दरब तें कुबज होइ रूपवंता ॥
 दरब रहै भुंई विपे लिलारा । अत मन दरब वेइ को पारा ? ॥
 दरब तें धरम करम ओ राजा । दरब तें सुद्ध बुद्धि, बल गाजा ॥^१
- (ख) दरबहि ते यह राज पसारा । दरब लागि जग आइ जोहारा ॥^२

(उसमान)

यद्यपि द्रव्य की उपर्युक्त महिमा में कुछ अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती तो भी सूफी कवि लोभ, घूसखोरी, थाती-हरण आदि से द्रव्योपचय का निषेध ही करते हैं क्योंकि अन्ततः ये बातें मनुष्य के अधःपतन का ही हेतु बनती हैं । रत्नसेन को दहेज के द्रव्य से दृष्ट देख कर जायसी लोभ तथा द्रव्यसंचय के दोष दिखाते हैं—

- दरब ते गरब, लोभ विषमूरी । दत्त न रहै, सत्त होइ दूरी ।
 दत्त सत्त हैं, दूनौं भाई । दत्त न रहै, सत्त पे जाई ॥
 जहाँ लोभ तहँ पाप सँघाती । सच्चि के मरे आन कं थाती ॥
 काहू चाँव, काहु भा राहू । काहू अमृत विष भा काहू ॥^३

घूसखोर व्यक्ति परवश, पापमग्न, सत्यविहीन ही नहीं हो जाते, अपने स्वामी के कार्य को भी हानि पहुँचाते हैं—

- (क) लीन्ह अंकोर हाथ जेहि, जोउ दीन्ह तेहि हाथ ।
 जहाँ चलाबे तहँ चलें, फेरे फिरे न माथ ॥
 लोभ पाप के नदी अंकोरा । सत्त न रहै हाथ जो बोरा ॥
 जहँ अंकोर तहँ नीक न राजू । ठाकुर केर बिना सं काजू ॥^४

- (ख) लालच बाँधा सब संसारा । लालच सों मृदु होय पहारा ।
 लालच हस्ती कर बल हरा । लालच सों हरनाकुश धरा ॥^५

(उसमान । चित्रावली)

थाती-रक्षा के सम्बन्ध में कासिमशाह 'हंस जवाहर' में कहते हैं—

- जो थाती काहू सों नासे, आपुइ आप न ताही आसे ।
 जो थाती थाती लं धरई, नासे उतर ताहि को करई ॥

१. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १७२
२. चित्रावली, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य पृष्ठ २६१
३. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १७१
४. वही, पृष्ठ २८७
५. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृष्ठ २६१

जो थाती दूसर घर माहीं, डर सो डारा कर तेहि नाहीं ॥^१

धन की निंदा का एक अन्य कारण यह भी है कि मनुष्य सम्पन्न होने पर स्रष्टा को विस्मृत कर देता है। जायसी का मत है—

तौ लहि सोग बिछोह का, भोजन परा न पेट ।

पुनि बिसरन भा सुभिरना, जब संपति पै भेंट ॥^२

धन की तीन अवस्थाएँ होती हैं—भोग, दान और नाश^३। नूरमुहम्मद ने पुण्योपाजित सम्पदा को मितव्ययिता-पूर्वक विनियुक्त करने की प्रेरणा यों की है—

पट बाहर जेइ पाँव पसारा । जाड़ा कठिन अंत तेहि मारा ॥^४

इन काव्यों में दान का महत्त्व, मात्रा, पात्रादि पर सविस्तर प्रकाश डाला गया है। दिया हुआ दान याचक का तो कल्याण करता ही है लोक-परलोक में दाता के लिए भी कई गुना हितकर होता है। 'पद्मावत' में रत्नसेन राजा गजपति से कहते हैं—

धनि जीवन औ ताकर हिया । ऊँच जगत महँ जा कर दीया ॥

दिया जो जप तप सब उपराहीं । दिया बराबर जग किछु नाहीं ॥

एक दिया ते दस गुन लहा । दिया देखि सय जग मुख चहा ॥

दिया करे आगे उजियारा । जहाँ न दिया तहाँ अंधियारा ॥

दिया मंदिर निसि करे अंजोरा । दिया नाहि घर भूसाहि चोरा ।

हातिम करन दिया जो सिखा । दिया रहा धर्मन्ह महँ लिखा ॥

दिया सो काज दुखी जग आवा । इहाँ जो दिया उहाँ सब पावा ॥

निरमल पंथ कीन्ह तेइ, जेह रे दिया किछु हाथ

किछु न कोइ लेइ जाइहि, दिया जाइ पै साथ ॥^५

वेमें तो ब्राह्मण, भट्ट, भिक्षुक आदि पात्रों को जितना दान दिया जाए अच्छा है परन्तु आय का चालीसवाँ भाग तो देय ही है। भिक्षुक-वेधी सागर इतने ही अंश के लिए रत्नसेन से प्रार्थी है—

चालिस अंस दरब जहँ, एक अंस तहँ मोर ।

नाहि त जरै कि बूड़ै, की निसि भूसाहि खोर ॥^६

जो भोग न धन का सम्यक् भोग करते हैं न दान-पुण्य, उनकी जीवन-नैया तो भवसागर में डूबती ही है। जायसी कहते हैं—

१. 'जायसी के परवर्ती...' पृष्ठ २६१

२. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २६

३. शतक-त्रयम्, पृष्ठ २०।३४

४. 'जायसी के परवर्ती...' पृष्ठ ४८०

५. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ६१

६. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १७२

बरब-भार संग काहु न उठा । जेइ सेता ताही सों रुठा ।

गहे पखान पंख नहि उड़ै । 'मोर मोर' जो करं सो बुड़ै ॥

बरब जो जानहि आपना, भूलहि गरब मनाहि ।

जो रे उठाइ न लेइ सके, बोरि चले जल माहि ॥'

इतरप्राणि-विषयक नीति—प्रेमकाव्यों में पशु-पक्षियों की चर्चा अनेक प्रसंगों में हुई है । 'पद्मावत' में हीरामन तोता राजा रत्नसेन और पद्मावती के पाणिग्रहण में सहायक हुआ । 'इन्द्रावती' में जब राजकुंवर दुर्जनराय द्वारा बंदी बना लिया गया तब उसने तोते द्वारा ही अपने बन्दी होने का समाचार इन्द्रावती के पास पहुँचाया । 'अनुराग बाँसुरी' में भी सनेहगुरु ने नायक अन्तःकरण के साहाय्यार्थ उपदेशी नाम के शुक को साथ भेज दिया । 'चित्रावली' में जब मुजान नेत्रहीन होकर बीहड़ वन में भटक रहा था तब एक वनमानुष के दिये हुए अंजन के प्रयोग से उसके नयन पूर्ववत् ज्योतिर्पूर्ण हो गये । इस प्रकार प्रायः तो पशु-पक्षी कथा-पात्रों से सहानुभूति ही प्रकट करते हैं परन्तु कहीं-कहीं कथा में चमत्कार लाने या नायक की वीरता व्यंजित करने के लिए उन्हें विघ्नकारी भी चित्रित किया गया है, जैसे 'चित्रावली' में अजगर मुजान को निगल जाता है परन्तु उसके विरह-ताप से तप्त होकर उगल देता है । इसी कथा में एक पक्षी, नायक की मस्त हाथी से रक्षा करता है । जैसे ये प्राणी पात्रों के प्रति सहानुभूति रखते हैं, वैसे ही कविगण भी इनके प्रति दयालुता का उपदेश ही देते हैं । यद्यपि राजाओं की कथाएँ होने के कारण इनमें आखेट का उल्लेख हुआ है तो भी इन कवियों ने अहिंसा का विधान तथा मांसभक्षण का निषेध किया है । 'पद्मावत' का निम्नलिखित ब्राह्मण-व्याध-संवाद इसी बात का समर्थन करता है—

सुनि बाम्हन बिनवा चिरिहारू । करि पंखिन्ह कहं मया न मारू ॥

निठुर होई जिउ बधसि परावा । हत्या केर न तोहि डर आवा ॥

कहसि पंखि का दोस जनावा । निठुर तेइ जे परमस खावा ॥

आवहि रोइ जात पुनि रोना । तबहुं न तजहि भोग सुख सोना ।

ओ जानहि तन होइहि नासू । पोखं मांसु पराये मांसू ॥

जो न होहि अस परमस-खाधू । कित पंखिन्ह कहँ धरँ दियाधू ॥

जो व्याधा नित पंखिन्ह धरई । सो बेचत मन लोम न करई ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव-हत्या के वास्तविक अपराधी मांस-भक्षक लोग कहे गये हैं, व्याध नहीं, क्योंकि उन्हीं की उदर-पूर्ति व रसना की शान्ति के लिए बहेलिये निरीह पशु-पक्षियों के प्राणों के ग्राहक बनते हैं ।

मिश्रित नीति—राजाओं की प्रेमकथाओं द्वारा प्रभु-प्रेम का प्रतिपादन होने के

कारण सूफ़ी-प्रेमकाव्यों में प्रभु का स्वरूप, गुण और प्राप्तिसाधन तथा राजा, मंत्री आदि के कर्तव्यों की पर्याप्त चर्चा उपलब्ध होती है परन्तु ये विषय हमारे विवेच्य क्षेत्र से बाहर हैं, अतः इन विषयों में हम मौन रहना ही उचित समझते हैं ।

संसार—सूफ़ी मत के अनुसार यह संसार सत्य नहीं है, मिथ्या है । यह स्वप्न के समान है, छाया के तुल्य है, धोखे की टट्टी है, समझदार मनुष्य इसके फेर में नहीं पड़ते^१ । इसीलिए सूफ़ी-कवियों के प्रेमकाव्यों में भी इसी नीति का उल्लेख प्राप्त होता है । जैसे—

(क) 'कामयाब' जगधंधा, सपन-समान ।

दुख-दरिद्र-सुख-संपति, जाइ निदान ॥^२ (नूरमुहम्मद)

(ख) छाया देखि मूल नेज हेरा, करै न छाया की दिसि फेरा ।

हम छाया पर भूल, दिन श्री रात ।

भरम बीच हा ! जीवन, बीतो जात ॥^३ (नूरमुहम्मद)

(ग) 'कासिम' जक्त जान सब धोखा । जो जग भूल गयो सो खोखा ॥

धोखा गगन फिरँ दिन राती । धोखा देखि बलबला भाँति ॥

धोखा नगर कोटि घर बारा । धोखा द्रव्य और रूप सिगारा ॥

धोखा राज काज सुख भोग । धोखा सब लक्षण कुल लोग ॥^४

भ्रम-रूप इस संसार के पदार्थों से विरक्त तथा सत्य-रूप प्रभु पर अनुरक्त करने के लिए इन कवियों ने मृत्यु की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए काल-नगाड़े की ध्वनि को सुनने के लिए सब को स्थल-स्थल पर सचेत किया है—

(क) दस दुवार जेहि धौजर माँहा । कैसे वांच मंजारी पाहीं ?^५ (जायसी)

(ख) कोउ दिन दस आगे कोउ पाछे । है नित काल सो काछे-काछे ॥

जें कोई जनम लीन्ह जग माहीं । सो जान्यो एक दिन है नाहीं ॥^६ (निसार)

(ग) बजे नगारा कूँच का, करहु सुचेत संभार ।

अगम पंथ साथी नहीं, केहि विधि उतरब पार ।^७ (निसार)

पुनर्जन्म—जातमात्र का निधन तो अवश्यम्भावी है परन्तु दिवंगत का पुनर्जन्म भी आवश्यक है या नहीं, इस विषय में सूफ़ियों का मत स्पष्ट है । वे, अन्य मुसलमानों

१. मारगोट स्मिथ: अलगज्जाली दि मिस्टिक, पृष्ठ १५६

२. नूर मुहम्मद : अमुराग बाँसुरी, पृष्ठ २८

३. वही, पृष्ठ ६६

४. कासिमशाह : हंस जवाहर, पृष्ठ २७१

५. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २६

६. निसार : युसुफ जुलेखा, हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह, पृष्ठ २६८

७. वही , , , , पृष्ठ २३३

के तुल्य ही, पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते ।^१ फिर भी इन काव्यों में कहीं-कहीं ऐसी झलक दिखाई देती है जिससे इस विषय में कुछ सन्देह उत्पन्न होता है । 'मधुमालत' में मनोहर मधुमालती से कहता है कि^२ उसका प्रेम सद्योजात नहीं, जन्मजन्मान्तर का है ।^३ 'इन्द्रावती' के फुलवाड़ी खंड में इन्द्रावती भ्रमर की कमल के प्रति प्रीति को झूठी कहती हुई प्रभु-प्रेमी की अमरता का यों वर्णन करती है—

मित्र जो हैं करतार के, मरत नाहि हैं सोइ ।

एक भंवरि तजि दूसरें, गवनत हैं वे सोइ ॥^४

इस दोहे के उत्तरार्द्ध से पुनर्जन्म में विश्वास का आभास मिलता है । प्रश्न होता है कि पुनर्जन्म में आस्था न रखने वाले सूफ़ियों ने अपनी कृतियों में इन विचारों को स्थान क्यों दिया । उत्तर यह हो सकता है कि मनोहर और इन्द्रावती दोनों ही हिन्दू थे और उन्होंने अपने विश्वास के अनुसार ये विचार प्रसंगवश व्यक्त किये, यह मत सूफ़ी कवियों का नहीं है । द्वितीय समाधान यह भी सम्भव है कि मनोहर के वचन भावावेश में कहे गये हैं । इन्द्रावती के उत्तरार्द्ध का आशय कदाचित् पुनर्जन्म का न होकर, स्वर्ग में अन्य शरीर की प्राप्ति का हो । तीसरे यह भी हो सकता है, भारतीय सूफ़ी कवि इस विषय में भारतीय विचार-धारा से कुछ-कुछ प्रभावित हुए हों और इसीलिए उनकी लेखनी से उपर्युक्त भाव व्यक्त हुए हों । हमारा हृदय प्रथम उत्तर की ओर अधिक अभिरुचि होता है ।

द्वैत—इन काव्यों में कर्म-गति को अटल तथा भाग्य-रेखाओं को अमिट कहा गया है । मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भले ही भावी सुख-दुख के बीज बो दे परन्तु जो सुख-दुख उसके भाग्य में लिख दिया गया है, वह अपरिमार्जनीय है । आलम कवि कहते हैं—

(क) जो दक्षिण ध्रुव अस्तवै, तप्त अग्नि तिवराइ ।

पश्चिम भान उदै करे, तऊ न कर्म गति जाइ ॥

पंख लागि कं तिला उड़ाहीं । पाहन फोरि कमल दिहसांही ।

जो इतनी विपरीत चलावै । तऊ न कर्म सों छूटन पावै ॥

कर्महेतु हरिचंद जल भरा । कर्म हेतु बलि सर्वस हारा ॥

कर्म हेतु पांडव फल खाये । कर्म रेख रघुपति वन आये ॥

सोइ कर्म मनुष्य में, कोटि कराव हि भेख ।

सो 'कवि आलम' न मिटै, कठिन कर्म को रेख ॥^५

१. इकबाल अलीशाह : इस्लामिक सूफ़िज्म, पृष्ठ ३०

२. 'जायसी के परवर्त्ती...', पृष्ठ ३३६

३. नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह, पृष्ठ ६६

४. 'माधवानल कामकंबला', हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह, पृष्ठ १६६

(ख) लिला जो करता को, सोइ होइ ।

जनम पत्र को छाछर जात न षोइ॥^१

इस प्रकार संसार में मनुष्य पर निज कर्मों के अनुसार जो सुख-दुख आ पड़ें उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए । दुःख में अघीर होना अयुक्त है क्योंकि वे सुख से अनुगत होते हैं । 'यूसुफ जुलेखा' में यूसुफ स्वप्न में विरहाकुल जुलेखा को यों धैर्य प्रदान करता है—

कुछ दिन सहो विरह दुख दाह । बिन दुख प्रेम न प्रापत काह ।

जो दुख ते नहि होय उबासा । अंत होय सुख भोग बिलासा ॥^२

और यह तो पहले ही कह चुके हैं कि सांसारिक भोग-विलास वस्तुतः इन कवियों के अभीष्ट नहीं है, उन से विरक्ति ही इन का वास्तविक ध्येय है ।

देश, काल—इन काव्यों में स्थान और समय के सम्बन्ध में अनेक व्यावहारिक तथ्यों का उल्लेख मिलता है । प्रत्येक को योग्यतानुसार ही स्थान की कामना करनी चाहिए, अन्यथा हानि उठाने की सम्भावना है । नूरमुहम्मद 'इंद्रावती' में कहते हैं—

जो पंखी बित बाहर धावा । सो निदान महि ऊपर आवा ॥

अपने जोग ठाव जेहि लीन्हा । सब कोऊ तेहि आदर दीन्हा ॥

सब काहूं कहूं ठाउं हैं, अपने अपने मान ।

रानी राजा जोग है, ससि जोगें है भान ॥^३

इन प्रेमकथानकों में राजकुमार प्रियतमाओं की प्राप्ति के लिए स्वदेश को छोड़ कर विदेश जाने का संकल्प करते हैं । ऐसे अवसर पर उन्हें सगे-सम्बन्धी स्वदेश-वास के सुखों तथा प्रवास के दुःखों का स्मरण करा के उन्हें विदेशगमन से रोकने का यत्न करते हैं । परन्तु वे सच्चे प्रेमी गृहवास की हानियों तथा प्रवास के लाभों का वर्णन करते हैं । 'अनुराग बांसुरी' में जब 'अन्तः करण' सनेहपुर को जाने के लिए उद्यत हो गया तब उसके मित्र (बुद्धि) ने उसे यों समझाया—

का परदेस चाव तोहि वाढा । है परदेस गवन अति गाढा ॥

प्यारे नगर पराए मांझा । ग्रहै कठिन अध्वगकं सांझा ॥

अपने देस परनु जो कोई । माया-रहित बिदेसहि होई ॥

हो तुम राजकुलारे, अति सुकुमार ।

का जानहु परदेस, संकट भार ॥^४

इस पर ईश्वर-विश्वासी राजकुमार विदेश-यात्रा के लाभों का यों वर्णन करता है—

१. नूरमुहम्मद : 'अनुराग बांसुरी', पृष्ठ ६७

२. निस्तार: यूसुफ जुलेखा, हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह, पृष्ठ २६५

३. हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह, पृष्ठ ८६

४. नूरमुहम्मद: अनुराग बांसुरी, पृष्ठ १९

जा पर होइ तासु अनुकंपा, तापर होइ सुमन सम संपा ।
जनम भूमि मों जब लगि कोई, तब लगि गुनी-विदग्ध न होई ॥
सुमन तोरि जब बाहर आवे, उन्नत ठौर पाग तब पावे ॥

गएँ विदेश बहुत कुछ, आवेँ दिस्टि ।

सहि परदेस-सरम नर देखे सिस्टि ॥'

नीतिकारों की दृष्टि में काल का भी विशेष महत्त्व होता है । प्रत्येक कार्य हर समय नहीं किया जा सकता है, न करना उचित ही होता है । इसलिए देश के समान काल का विचार भी आवश्यक है । 'अनुराग बांसुरी' में रानी की प्रार्थना पर उपदेशी शुक कहता है—

उपदेशी ब्रह्मा मन माहीं । मिली समय फिर आवति नाहीं ॥

बोल समय में बोलव भलो । डोल-समय में डोलव भलो ॥

अपनी समय पपीहा बोले । सुनि ता वचन बहुत मन डोले ॥

अपनी समय मेघ जल ढारा । हरित होइ धरती संसारा ॥

समय पाइ जोबन तन आवेँ । सुन्दरता छवि देह बढावेँ ॥

समय पाइ जब मालति फूल । तब मधुकर मन ता पर भूलें ॥'

इन काव्यों में ग्रह-राशि, लगन-मुहूर्त, दिशा-शूल आदि विषयों की भी चर्चा की गई है । लोग प्रत्येक कार्य करने समय इन बातों का भी ध्यान रखा करते थे, अतः एव सूफ़ी कवियों ने इन विषयों की उपेक्षा करना भी अनुचित समझा । जैसे, कासिमशाह दिशा-शूल के विषय में कहते हैं—

देखें पंडित वेद विचारो । अदित शूक पच्छिम दिशि भारी ॥

मंगल बुध उत्तर दिशी गाढ़ा । समहुं काल कटक लिये ठाढ़ा ॥

सोम सनीचर पूरब हीना । बेफेँ बखन सो औगुन चीना ॥'

परंतु यदि किसी को अनिवार्य कार्य से विषम वार में भी प्रस्थान करना ही पड़े तो उसके प्रतिकार भी निर्दिष्ट हैं—

जो रे उताहिल चहै सिधावेँ । औषध खाय सियें सुख पावेँ ॥

बुध दधि औ बेफेँ गुड़ मोठा । रवि तांबूल खाय सुख दीठा ॥

राई खाय शूक पग धारें । बर्पण देख सो सोम सिधारें ॥

वायवार्डिग शनीचर भूरी । मंगल धनिया खा दुख दूरी ॥'

शकुन—प्राचीन काल से चली आती हुई शकुन-परम्परा की मान्यता इन काव्यों में भी दिखाई देती है । अकस्मात् दिखाई देने वाले विशेष पशु-पक्षी ही भावी

१. वही, पृष्ठ २०

२. नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी, पृष्ठ ६१

३ व ४. कासिमशाह : हंस जवाहिर, 'जायसी के परवर्ती...', पृष्ठ २६४

शुभ अशुभ को सूचित नहीं करते, विभिन्न व्यवसायियों का दर्शन भी मांगलिक या अमांगलिक माना जाता है। शेख नबी-कृत 'ज्ञानदीप' में जब ज्ञानदीप विद्यानगर को प्रस्थान करने लगा तब ये सिद्धि-सूचक शकुन हुए थे—

बाहिने काग सवरिया बोला । जबकि मिले धन होय निडोला ॥
 रजक परोहन भारे आधा । दहिने ओर मिरग देखराबा ॥
 मालिनि आइ फूल कर बीन्हा । बंसी बजाइ काहु सुर लीन्हा ॥
 नीला खेमकरी देखराई । लोआ नाचत डिग मा आइ ॥
 दहिउ अहीरिन लेउ पुकारी । धीमर आइ मच्छ लेइ कारी ॥
 बांए बिसि बोला पतिहारा । तरुनि सीस कलस जलभरा ॥
 बाभन तिलक दुआवस कीन्हें । सिद्धि-सिद्ध मुख असोस दीन्हें ॥^१

आजकल के कुछ लोग भले ही इन शकुनों को मिथ्या-विश्वासों के अन्तर्गत मानें परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन तथा मध्यकाल में लोग शुभ या अशुभ शकुन देख कर क्रमशः प्रसन्न या विषण्ण हो उठते थे। और इन्हीं के अनुसार भावी कार्यों के अनुष्ठान या परित्याग का निश्चय कर लेते थे। इसी प्रकार यन्त्र, मन्त्र, जादू-टोना आदि की चर्चा भी इन काव्यों में कहीं-कहीं उपलब्ध होती है।^२

विषय—‘वस्तु’ या प्रभु-मिलन के इच्छुक स्त्रियों की रचनाएँ होने पर भी प्रेमकथानक नीति-काव्य की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखते हैं। इनमें शरीर, यौवन, रूप-लावण्य की वह उपेक्षा प्रायः दिखाई नहीं देती जो बौद्धों, जैनों तथा सन्तों की रचनाओं में प्रचुरता से पाई जाती है। शरीर को स्वस्थ और पुष्ट रखना तथा यौवन के सुखों का उचित उपभोग करना इनमें निन्द्य नहीं माना गया। इनमें लौकिक प्रेम को प्रभु-प्राप्ति का सोपान माना गया है और उस प्रेम का आधार है यौवन और सौन्दर्य। अतएव वे प्रशस्य हैं, हेय नहीं। विद्या और बुद्धि की प्रशंसा इनमें अनेकत्र दृष्टिगत होती है। धर्म-ग्रन्थों की भी उपेक्षा इनमें दिखाई नहीं देती। प्रायः सभी नायिकाएँ वेद-पुराणों की विदुषी कही गई हैं। वेद और विद्या से विहीन जनों को पशु तक कहा गया है। विद्या की अविभाज्यता तथा अहार्यता का भी उल्लेख मिलता है। साथ ही इस उपयोगी बात का भी कि उसे छिपा कर न रखना चाहिए, अपितु गुणि-जनों के समक्ष प्रकट करना चाहिए, क्योंकि ऐसा किये बिना न समाज को उस से लाभ की प्राप्ति होती है और न विद्वान् को मान-प्रतिष्ठा की। इसी प्रकार धैर्य, साहस, दृढ़ संकल्प, यश, कीर्ति आदि गुणों के उपार्जन पर विशेष बल लक्षित होता है। कहना व्यर्थ है कि यही वे गुण हैं जो सांसारिक सफलता के लिए अनिवार्य हैं।

प्रेमकथानकों के अनुसार माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री आदि सम्बन्धी

१. ‘जायसी के परवर्त्ताँ...’ पृष्ठ ४२७

२. ‘जायसी के परवर्त्ताँ...’ पृष्ठ ३३०

उपेक्ष्य नहीं हैं। माता-पिता श्रद्धेय ही नहीं हैं, सम्यक् सेव्य हैं। उनकी आज्ञा सर्वदा शिरोधार्य है परन्तु एक अवसर ऐसा भी है जब उसकी उपेक्षा ही नीति कही गई है। तुलसी दास जी ने उसका उल्लेख यों किया है—

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लों।

अंजन कहा आलि जेहि फूटै, बहुतक कहीं कहां लों ॥^१

ऐसे ही माता-पिता को सुखी रखने का उपदेश देने के अनन्तर नूरमुहम्मद कहते हैं—

एक बात मों कहा न कीजै, सुनि यह बात चित्त सों लीजै।

जो तेहि कहै कि जगह मझारी, पगु ब्रह्म ब्रूसर करतारी ॥^२

यह बात भारतीय परम्परा के भी प्रतिकूल नहीं है। जब माता-पिता प्रभु-प्राप्ति या धर्म के मार्ग में व्यवधायक हुए तब उनका आदेश भी उपेक्ष्य हो गया। प्रह्लाद ने इसी नीति को अधिमान देते हुए पिता की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया था और मीराबाई ने भी सम्बन्धियों को भक्तिपथ में प्रत्यवाय मान कर गृहपरित्याग ही उचित माना। जनकों का स्वसंतान के प्रति कितना स्नेह होता है, इस विषय में कासिम शाह की उक्ति है—

जरा जिउ माता को और पिता को प्रान।

बालक पगु को कांटा मात पिता अलिखान ॥^३

परन्तु परिवार में पुत्र तथा पुत्री का स्थान समान नहीं कहा गया है। जहाँ पुत्र का जन्म उल्लास का कारण है^४ वहाँ कन्या की उत्पत्ति चिन्ता की जननी। भारत में यह भावना चिरकाल से चली आई है।^५ वह दिन धन्य माना जाता है जब परकीय धन पुत्री पितृगृह से पतिकुल को प्रस्थान करती है।^६

१. विनयपत्रिका (गीताप्रेस, सं० २००७) पृष्ठ २८३

२. नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, (का० ना० प्र० सभा, १६०६) पृष्ठ १३६

३. कासिम शाह: हंस जवाहिर, 'जायसी के परवर्त्ती...' पृष्ठ १६८

४. धनि वह रैन पुत्र की होइ, धरती रदग हुलस सब कोई ॥ (कासिम शाह, हंस जवाहिर, पृष्ठ ११)

५. जातेति कन्या महती हि चिन्ता, कस्मं प्रवेयेति महान् वितर्कः।

बत्ता सुखं यात्यति वा न वेति, कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥ (सुभाषित-रत्नभांडागार, पृष्ठ ६०)

६. (क) कन्या निष्कासिता श्रेष्ठा बधू श्रेष्ठा प्रवेशिता। अन्नं संकलितं श्रेष्ठं धर्मः श्रेष्ठो दिने दिने। (बही, पृष्ठ १६६)

(ख) अर्थोऽहं कन्या परकीय एव, तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः। जातोममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इयान्तरात्मा ॥ (कालिदासः अभिज्ञानशाकुन्तल, ४।२२)

जब ते दुहिता अपनी सतत हिये उतपात ।

निकसे कांटा तबहि जब प्रांगन आउ बरात ॥^१

इन काव्यों में पारिवारिक जीवन की पवित्र मर्यादा को अक्षुण्ण रखने का भरसक उपदेश दिया गया है। उच्च परिवारों में प्राचीन काल से प्रचलित बहुपत्नी-विवाह का उल्लेख तो प्रायः सभी प्रेमकाव्यों में हुआ है परन्तु न तो नायक कभी किसी परकीया के प्रेमपाश में फँसते हैं और न ही कभी किसी प्रेयसी से विवाह-विधि की सम्पन्नता से पूर्व संयोग-मुख की कामना करते हैं। केवल जान-कृत 'रूप मंजरी' में ही इसका अपवाद दिखाई देता है जहाँ रूपमंजरी प्रेमातिरेक के अधीन होकर स्व पितृगृह से नायक जानसिंह के साथ भाग जाती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों में प्रचलित बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध कुछ कहने का साहस इन कवियों ने नहीं दिखाया। दाम्पत्य जीवन की पवित्रता का सारा भार इन्होंने अवलाम्रों के निर्बल कंधों पर ही डालना उचित समझा। 'तिय बिन घर नाहित बनै ज्यों मोती बिन सीप'^२ कहकर गार्हस्थ्य-जीवन के लिए स्त्री की अनिवार्यता तो विवशतः स्वीकार कर ली गयी परन्तु उस पर प्रतिबन्ध इतने अधिक लगा दिये गये कि जो आधुनिक नारी को अत्याचार से कम प्रतीत न होंगे। घर से बाहर पांव न रखना, घूँघट काटना, धीरे चलना, धीमे बोलना, नीचे देखना, पर-पुरुष को देख छिप जाना आदि ऐसे प्रतिबन्ध हैं^३ जो सम्भवतः इस्लाम के साथ भारत में आए और प्रसंगवश इन काव्यों में उल्लिखित हुए।^४ वस्तुतः इन काव्यों में स्त्री के शील पर इतना अधिक बल है जितना किसी अन्य विषय पर नहीं—

जा के घर में होइ सत पति सो हित ठहराइ ।

शील बिना 'कवि जान' कहि घर घर रूप बिकाइ ॥^५

परन्तु जब पति की दुःशीलता के कारण घर में एकाधिक पत्नियाँ आ ही जाएं तब नैतिक कलह की अपेक्षा उनका पति के अधीन तथा परस्पर प्रेमपूर्वक रहना ही

१. उसमानः चित्रावली, पृष्ठ १६६

२, ३. 'जायसी के परवर्ती...', पृष्ठ १८५

४. लाज नहि जेहि आंखिन साहीं, है वह पशु है मानुष नाहीं ।

घूँघट पहिर लाज यह आही, पशु कहं धीमे राखब चाही ॥

ओ धन ऊंची सबड न बोले, सुनत बिराने को मन डोले ।

ओँधे नयन लाज सों कीजै, ओ मुख ऊपर घूँघट कीजै ।

हो प्यारी जब पहिरहु गहना, पुरुष बिराने सो छिप रहना ॥ (तूरमुहम्मदः

इन्द्रावती, पृ० ५०)

५. जायसी के परवर्ती...', पृष्ठ १८४

नीति है। इसी नीति का उल्लेख कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में और उसमान ने 'चित्रावली' में किया है।^१

इतना कुछ होने पर भी बेचारी नारी-जाति को इन काव्यों में उच्च स्थान नहीं मिला। 'कथा कलावती' में नायक पुरन्दर आठ पत्नियों की विद्यमानता में भी कलावती के लिए अधीर होता हुआ दोपी नहीं ठहराया गया परन्तु नारी के शील में ढील देख कर वह वध्य घोषित कर दी गई—

भली नहीं मिहरी की जाति, जब तब इन से पानिउ जात ।

जो तिय अपनो खोवं सोल, मारहु ताकि न लायहु ढील ॥^२

यहाँ यह बात लक्ष्य करने की है, कि इन काव्यों में वारांगना-प्रेम की चर्चा न होने के तुल्य है। 'इन्द्रावती' में रम्भा गणिका का उल्लेख तो हुआ है परन्तु उसका प्रेम आदर्शात्मक है। वह प्रेम के भिखारी राजा हंसराज को अपने से विमुख कर स्व स्वामिनी 'चन्द्रवदन' की ओर प्रेरित करती है। राजाओं की इन कथाओं में गणिका-विषयक नीति की चर्चा के अभाव का कारण कदाचित् यह है कि जब उन्हें कुलीन तथा कमनीय राजकुमारियों की कमी न थी तब उच्छिष्ट वारांगनाओं को उनकी प्रेमपात्री दिखाना राजाओं के गौरव-ह्रास का ही कारण होता।

कन्याओं की स्थिति भी स्तुत्य नहीं है। जिन व्यक्तियों के साथ उन्हें जीवन भर निर्वाह करना होता है, उनके चुनाव में भी इनकी सम्मति आवश्यक नहीं कही गई। वे लज्जा, भय आदि के कारण इस विषय में जिह्वा तक नहीं हिला सकतीं।^३ उन्हें संयोगवश अभीष्ट पति प्राप्त हो जाए तो उनका सौभाग्य है, अन्यथा धूल-धुलकर मरना है। हां, जान कवि ने इस विषय में कन्याओं को कुछ स्वातन्त्र्य देने का साहस दिखाया—

१. (क) 'पुश्रूषस्व गुरुन् कुह प्रियसखीर्युत्ति सपत्नीजने,
भर्तु विप्रकृता ऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।' (कालिदासः अभिज्ञान-
शाकुन्तल, ४ । १८)

(ख) सौतिन कर डरदा नहि करता, साई संग सदा जिय डरना ।

अल्प मान सेवा अश्रिक रिसि राखव जिउ मारि ।

जेहि घर महं ये तीन गुन, सोइ सोहागिन नारि ॥ (उसमानः चित्रावली,
पृष्ठ २२३-२४)

२. जान कवि : कथा छविसागर, 'जायसी के परिवर्त्ती...' पृष्ठ १८५ ॥

३. (क) हों सौ बारी पिता घर, बोलत वचन लजाउं ।

तब मैं बचों कलंक ते, प्राण कांप भर जाउं ॥

(ख) पिता जो गुने मार जिउ डारै, माता सुने घोर अिय मारे ॥ (कासिमशाहः
हंस जवाहिर, पृष्ठ ४२, २०६)

(क) बायस बायस ही बन पिक सौं कंसों जोर ॥

(ख) आप समान न पाउं जो लौं, भूल व्याह नहिं करिहौं तो लौं ॥^१

इन काव्यों में ब्राह्मण, बनिया, राजपूत, क्षत्रिय आदि छत्तीस जातियों का उल्लेख अनेकत्र किया गया है जिनमें से कई जातियों के लोग अपने को दूसरों से ऊँचा समझकर गर्व करते थे । इस जन्म-जन्म गर्व का खंडन जैसे बौद्धों, जैनों, सन्तों आदि ने किया था, वैसे ही सूफ़ियों ने भी किया । नूरमुहम्मद ने लिखा है—

कुल विशेष उत्तम नहीं, सुमिरं उत्तम होय ।

उत्तम जात भये सौं, गरब न राखे कोय ॥^२

विद्या, चरित्र आदि गुणों से वंचित हो जाने के कारण आज के समाज में पंडित-पुरोहितों की वह प्रतिष्ठा नहीं जो वैदिक युग में पाई जाती थी ।^३ परन्तु इन काव्यों से विदित होता है कि उन दिनों में पुरोहित-पंडित अपने यजमानों के दुःख खंडित करने के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहते थे । नूरमुहम्मद का कथन है—

पण्डित जन दुख खंडित होइ, पंडित चाह न ग्यानी कोई^४

इनके विपरीत अनेक पाखंडी लोग उदर-पूर्ति के लिए कन्याधारी बन जाते और समाज में दुराचार का प्रसार करते थे । सूफ़ी कवियों ने भोली जनता, विशेषतः कुमारियों, को उनसे बचने का उपदेश दिया—

(क) कन्या भो जोगी सब नाहीं, ठग हैं बहुत न चीन्हें जाहों ।^५

(ख) हसि तैं बारी बिना बियाही, जोगि देखें तोहि न चाही ॥^६

गुरु का महत्त्व, शिष्य की श्रद्धालुता, हिन्दू-मुस्लिम प्रेम, अपकारी के प्रति भी उपकार आदि विषय तो सन्तकाव्यों के सदृश ही हैं परन्तु पूर्वोक्त चतुर्विध मित्र, महा-मित्र, पण्डित-पुरोहित-प्रशंसा, स्वामिभक्ति, कपटी शत्रु के प्रति कपट व्यवहार आदि बातें कथाप्रसंग से समाविष्ट हुई हैं । सन्तकाव्य तो कंचन और कामिनी की निन्दा से प्रपूर्ण है परन्तु इन काव्यों में धन का महत्त्व भी अंगीकृत किया गया है और उसके दान, मितव्यय आदि की प्रेरणा भी दिखाई देती है । वैसे तो दानपुण्य जितना किया जाए उतना ही अच्छा, फिर भी आय का दशमांश देने का नियम चिरकाल से प्रचलित है—

सहस्रशक्तिः शतं दद्यात् शतशक्तिर्दशापि च ।

दद्यादपरच यः शक्त्वा सर्वं तुल्यफलाः स्मृताः ॥ (अज्ञात कवि)

अर्थात् सहस्र की आय वाला सौ का दान करे और सौ की आय वाला दस

१. कवि जान : कथा कंबलावती, 'जायसी के परवत्ती...' पृष्ठ १८८

२. इन्द्रावती, पृष्ठ ७५

३. अथर्व वेद ३।१६।४

४. नूर मुहम्मदः इन्द्रावती (उत्तरार्द्ध), जायसी के परवत्ती..., पृष्ठ १६८

५, ६. नूरमुहम्मदः इन्द्रावती, ,, , पृष्ठ १६३

का । जो अधिक दान-पुण्य नहीं कर सकता वह प्यासे की व्यास ही बुझा दे । इन सब सुकर्मों का फल समान ही होता है । परन्तु इन काव्यों में इस्लाम की संस्कृति के अनुसार आय के चालीसवें भाग के त्याग का विधान किया गया है—

चालिस अंस दरब जहँ, एक अंस तहँ मोर ।

नाहि त जरै कि बूझै, की निसि भूतहि चोर ॥^१

मांसभक्षण इस्लाम के विरुद्ध नहीं है परन्तु इन काव्यों में, सम्भवतः वैष्णव मत के प्रचार के प्रभाव के कारण, मांस भक्षण का निषेध किया गया है । यह अवधेय है कि भारतीय धर्मग्रन्थों में तो जीवघातक, मांसविक्रयी, मांसपाचक, मांस-भक्षक आदि अनेक व्यक्ति हिंसा के अपराधी घोषित किये गये हैं,^२ परन्तु जायसी ने व्याध को दोष-मुक्त ठहरा दिया है क्योंकि वह मांस-भक्षक के लिए हिंसा करता है, अपने लिए नहीं । तत्त्वतः तो वह भी दोषी है ही क्योंकि यदि जीवघातक लोग जीव हत्या न करें तो सम्भवतः थोड़े ही लोग अपनी जिह्वा की लोलुपता की शान्ति के लिए प्राणि-घात पर उद्यत होंगे । शकुन विचार कर कार्य-विशेष में रत या उससे विरत होने की नीति भारतीय परम्परा की ही अनुसारिणी है ।

जगन्मिथ्यात्व, कूच-नगाड़ा, भाग्य-रेखा, सुख-दुख का चक्र, स्थान और समय का महत्त्व आदि विषय तो ऐसे हैं जिनकी चर्चा प्राचीन नीति-ग्रन्थों में अनेकत्र हुई है परन्तु जादू-टोना, यंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत, आकाशवाणी आदि का भी मानव-व्यवहार से सम्बन्ध इन कृतियों में दिखाया गया है । एकाध रचना में, जैसा कि पहले कह चुके हैं, 'पुनर्जन्म में विश्वास' का भी संकेत मिलता है परन्तु इतने मात्र से उसे प्रेमकाव्यों की सर्वसम्मत मान्यता कहना उचित नहीं है ।

प्रेमकथानकों में नीति-विषयक ऐसे कई पद्य उपलब्ध होते हैं जिन पर संस्कृत के नीतिकाव्यों का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है । उक्त पद्यों के भाव सूफ़ी कवियों ने सीधे ही संस्कृत से ग्रहण किये या भाषा आदि के माध्यम से, यह कहना तो कठिन है परन्तु इतना अंगीकार करने में कोई संकोच न होना चाहिए कि सभी सूफ़ी कवि संस्कृत से सुपरिचित न थे । संस्कृत-हिन्दी के निम्नलिखित पद्यों की तुलना से उक्त प्रभाव का सहज ही अनुमान हो सकता है—

(क) बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?

पश्य सिंहो मर्दोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥^३ (नारायण पंडित)

सुबुधि सौ ससा सिध कहँ मारा । कुबुधि सिध कूआँ परि हारा ॥^४ (जायसी)

१. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १७२

२. मनुस्मृति, अध्याय ५।५१

३. हितोपदेश (निर्णयसागर मुद्रणालय, १९४६ ई०) पृष्ठ १३१

४. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २८६

(ख) शैले शैले न भाणियं. मोक्षितकं न गजे गजे ।

साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ॥^१

थल थल नग न होहि जेहि जोती । जल जल सीप न उपनिहि मोती ॥

वन वन विरिछ न चंदन होई । तन तन बिरह न उपनि सोई ॥^२

(जायसी)

(ग) न चौरहार्यं न च राजहार्यं, न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि ।

व्यये कृते वर्धत एव नित्यं, विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥^३

विद्या दरव न बांटे भाई, नहि तस्कार ठग हाथें जाई ॥

नहि नृप कर न सहोदर-भागं, अधिक बढ़त जब बांटे लागें ॥^४

(नूरमुहम्मद)

कहना न होगा कि ऐसे स्थलों पर भी सूफ़ी-कवियों ने अक्षरशः अनुवाद नहीं किया, भाव ही ग्रहण किये हैं। जैसे—‘ख’ में ‘शैले-शैले’ के स्थान पर ‘थल-थल’ और ‘गजे-गजे’ के स्थान पर ‘जल-जल सीप’ से ही संतोष कर लिया गया है परन्तु रत्नों और मोतियों की दुर्लभता, जो मुख्य प्रतिपाद्य है, दोनों में तुल्य ही है।

विदेशी प्रभाव—यूसुफ़-जुलेखा, लैलामजनू आदि कुछ कथाओं को छोड़ कर शेष प्रेम-कथाएँ हिन्दूवातावरण से प्रपूर्ण हैं। फिर भी मुसलमान सूफ़ियों की कृतियाँ होने के कारण उन पर इस्लाम तथा विदेशी साहित्यों के प्रभाव की झलक कहीं-कहीं दिखाई दे ही जाती है। भाष्य-लेख के अमिट होने का उल्लेख तो हिन्दू और मुसलमान दोनों के साहित्यों में समान रूप से किया गया है परन्तु आदम-हव्वा की भूल के कारण होने वाले मानवीय दुःखों का वर्णन शामी संस्कृति से ही आया है। ‘पद्मावत’ में जब पद्मावती की विदाई के समय उसके सम्बन्धियों तथा सखियों के हृदय विदीर्ण तथा नेत्र सन्न हो गये तब उनके मुख से अनायास निकल पड़ा—

आदि अंत जो पिता हमारा । ओह न यह दिन हिये बिचारा ।

छोह न कीन्ह बिछोही ओह । का हम्ह दोष लाग एक गोह ॥^५

हव्वा की प्रेरणा से ही आदम ने गेहूँ का वजित फल खाया था और उसीके अपराध के कारण निरीह नारियों को जनक-वियोग का यह दुःसह कष्ट सहना पड़ता है। यह “करे कोई और भरे कोई” की नीति भारतीय साहित्य में नहीं मिलती। यहाँ तो यही देखा जाता है कि जब किसी पात्र पर विपत्ति आती है वह अपने ही पूर्व-कर्मों को कोसता

१. चाणक्य नीति, पृष्ठ ६१६

२. जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ १७५

३. सुभाषित रत्न भांडागार, पृष्ठ ३०१३

४. नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी, पृष्ठ ६

५. जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १६७

है, किसी अन्य को नहीं ।

मनुष्यों को अपने सभी भले-बुरे कर्मों के फल कयामत या प्रलय के दिन ही प्राप्त होते हैं, यह सिद्धान्त भी भारतीय नहीं है । भारतीय आस्था तो यह है कि वे इस जीवन में साथ-साथ भी मिलते जाते हैं और आगामी जन्मों में भी मिल सकते हैं । सूफ़ी प्रेमकाव्यों में प्रलय के दिन कर्मफल की प्राप्ति का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है । जैसे, पचावत में कहा गया है—

गुन अवगुन विधि पूछय, होइहि लेख ओ जोख ।

यं बिनउब आगे होइ, करब जगत कर मोख ॥'

दान-रूप में चालीसवाँ ग्रंथ देना भी इस्लामी संस्कृति के ही अनुरूप है ।^१ इसी प्रकार प्रतिपाद्य नीति के समर्थन में इन कवियों ने कहीं-कहीं हातिम, इस्कंदर, नौशाबा आदि विदेशी व्यक्तियों की जीवन-घटनाओं की ओरभी संकेत किये हैं ।^२ कई पद्यों में फ़ारसी की लोकोक्तियों की छाया स्पष्ट प्रतीत होती है । जैसे—

फ़ारसी—(क) दूराँ बा-बसर नजदीक व नजदीकाँ बेबसर दूर ।^३-क

“दृष्टि वालों के लिए दूर भी समीप और दृष्टि-रहितों के लिए समीप भी दूर होता है ।”^४—ख

नियरहि दूर फूल जत काँटा । दूरहि नियर सो जस गुर चाँटा ।^५-ख

(ख) फ़ारसी—इश्क ब मुश्क रा नतवाँ नहुफ़्तन ।^६-ग

(प्रेम और मृगमद छिपाये नहीं छिपते)

परिमल प्रेम न आछें छपा ॥^७-घ

कलापक्ष—सूफ़ी काव्य के कलापक्ष पर सर्वश्री रामचंद्र शुक्ल, गणेशप्रसाद द्विवेदी, सरला शुक्ल, कमल कुलश्रेष्ठ आदि विद्वान् इतना अधिक लिख चुके हैं कि उसका सविस्तर उल्लेख अनावश्यक प्रतीत होता है । संक्षेप में इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि सूफ़ी काव्यों के नैतिक ग्रंथों में शृंगार, वीर और शान्त रस का प्राधान्य है और शेष रसों की व्यंजना छिटपुट रूप से हुई है । भावों में से रति, असूया, औत्सुक्य, उत्साह, धृति, निर्वेद, हर्ष, विषाद, व्रीडा, चिन्ता, दया, मति आदि की अभिव्यक्ति अधिक हुई है ।

जान कवि की भाषा पिंगल है और अज्ञातकर्तृक ‘कामरूप की कथा’ की भाषा खड़ी बोली । शेष कवियों ने बोल-चाल की मधुर अवधी भाषा में अपनी रचनाएँ की हैं । भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से जायसी, जान, उसमान और नूरमुहम्मद के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं । मुसलमान कवियों की कृतियाँ होने के कारण सूफ़ी-काव्यों में

१. जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ १८३

२. वही , मूल , पृष्ठ १७२

३. वही , मूल , पृष्ठ २८६

४. क-ब-वही , भूमिका, पृष्ठ १८५

फ़ारसी, अरबी आदि के भी सैकड़ों शब्द सुलभ हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक है और रूढ़ियों तथा लोकोक्तियों की मात्रा भी पर्याप्त है।

काव्य-विधान की दृष्टि से ये प्रेमकाव्य प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आते हैं और फ़ारसी की मसनवी शैली में रचित हैं। अधिकतर प्रेमकाव्य दोहा-चौपाई शैली में लिखित हैं परन्तु जान कवि ने दोहा-चौपाई और नूरमुहम्मद ने चौपाई-बरवै का भी प्रयोग किया है। ऐसा तो कोई नियम नहीं दिखाई देता कि कथा तो चौपाइयों में ही निबद्ध हो और नीति, दोहे या बरवै में, हाँ, यह बात कई स्थलों पर लक्षित होती है कि जहाँ कोई नीति-विषय कड़वक की अन्तिम चौपाइयों में आरब्ध होता है, वहाँ उसका पर्यवसान दोहे, या बरवै में।^१

इन रचनाओं में अलंकार-प्रयोग तो पर्याप्त दिखाई देता है परन्तु वह कृत्रिम नहीं प्रतीत होता। शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का व्यवहार अधिक किया गया है।

प्रेमकथानकों के नीति-विषयक अंशों में प्रसाद गुण तो सर्वत्र ओत प्रोत है, परन्तु माधुर्य और ओज की भी कमी नहीं। इन काव्यों में हतवृत्तत्व, न्यूनपदत्व, च्युतसंस्कृत आदि कई दोष कहीं-कहीं दृष्टिगत होते हैं परन्तु इनसे भी बड़ा दोष है उन स्थलों की इतिवृत्तात्मकता यहाँ ये कवि पद्मिनी आदि चतुर्विध नारियाँ, यात्रा-विचार, रोग तथा उपचार आदि विषयों का वर्णन करते हैं। अन्त्यानुप्रासादि की रक्षा के लिए शब्दों को कहीं-कहीं तोड़ा-मरोड़ा भी गया है।

नीति के प्रसंगों में प्रायः तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, निष्कर्षात्मक, संवादात्मक, ऐतिहासिक, आत्माभिव्यंजक, अन्यापदेशात्मक तथा शब्दावर्तक शैलियों का प्रयोग किया गया है। इनमें से प्रथम दो का प्रयोग शेष की अपेक्षा अधिक है। कुछ शैलियों के उदाहरण तो ऊपर उद्धृत पद्यों में सुलभ हैं, निष्कर्षात्मक शैली का एक निदर्शन द्रष्टव्य है—

पित्त बढ़े तो ओखद पावें, चंदन और गुलाब मिटावें ॥

जहाँ परेम-पित्त-दुख अहे, तहाँ गुलाब न चंदन लहे।

जौ मारुत तन-दुख उपजावें, मृगमद केसर ताहि नसावें।

कुमकुम मिरगसार पुनि तहाँ, लहे न प्रेम-बाइ-दुख जहाँ।

जौ असलेखम व्याधि सरीरा, ग्रंथि-मागंधी नासै पीरा ॥

जहाँ प्रेम असलेखम बाढ़ा, ग्रंथी सों वह जाइ न काढ़ा ॥

प्रेम-व्याधि ओखद सों, नाहीं जाति।

हरति जाति मुख तन सों, दिन औ राति ॥^२

१. नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी, पृष्ठ ६३

२. नूरमुहम्मद : अनुराग बांसुरी, पृष्ठ ५८

२. स्फुट रचनाएँ

यद्यपि सूफी सन्तों ने अपनी स्फुट रचनाएँ प्रेमकथाओं से पूर्व ही आरम्भ कर दी थीं तथापि आज वे पर्याप्त संख्या में प्राप्त नहीं हैं। जिन अमीर खुसरो की चर्चा हम आदिकाल के नीतिकार्य में कर चुके हैं उन्होंने पूर्वोक्त हास्य-विनोदमयी रचनाओं के प्रतिरिक्त सूफी सिद्धान्तों तथा नीति के प्रतिपादक कुछ दोहे और पद भी लिखे। उनके पश्चात् जायसी की अखरावट, आखिरी कलाम तथा 'महरी बाईसी', शेखफरीद के दोहे, बजहन के दोहे तथा बजहन नामा (मालिफाए), जान कवि का बर्ननामा, यारी साहब के भजन, कवित्त, भूलने, साखी, अलिफनामा, शाह सैयद बरकतउल्ला 'प्रेमी' का 'प्रेम प्रकाश', बुल्लेशाह की सीहर्फी, अठवारा, बारामासा, काफ़ी और दोहे, दीन दरवेश की कुण्डलियाँ, नजीर अकबराबादी के फारसी छन्दों में रचित पद्य, हाजी-वली के दोहों और प्रेमनामा तथा अठ्ठुनसमद के भजन प्राप्त होते हैं। इन रचनाओं का मुख्य विषय अष्टायाम है, नीति का प्रतिपादन नहीं। फिर भी प्रभु से एक-रूपता प्राप्त करने के इच्छुक लोगों के लिए एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करना अनिवार्य होता है और उसी व्यवहार का उल्लेख इन स्फुट रचनाओं में कहीं-कहीं किया गया है। निम्नस्थ पंक्तियों में उन्हीं व्यावहारिक विषयों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

वैयक्तिक नीति—जहाँ प्रेमकथानकों में शरीर के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य तथा उसके बनाव-सिगार की चर्चा अनेकत्र की गई है, वहाँ इन स्फुट रचनाओं में, दृष्टि परमार्थ पर अधिक केन्द्रित होने के कारण, शरीर का शृंगार वर्जित कहा गया है। 'महरी बाईसी' में जायसी कहते हैं—

बुड पायन पायल श्री चूरा अस-अस कं कीन्ह सिगारा रे ।

काया साजि मांजि कं बरपन देखं सबहि सितारा रे ॥

कहै मुहम्मद कीन सुने दुई दुई जग से सब जानेउ रे ॥

बाहिन बांव बूझि कै होइ रहू तो आपुहि पहिचानेउ रे ॥^१

कहीं-कहीं इस काया को पूज्य भी कहा गया है परन्तु इस कारण नहीं कि इसे बना-संवारकर अन्य मनुष्यों को अपना प्रेमी बनाया जाए अपितु इसी कारण कि प्रभु इसी के अन्दर विराजमान तथा प्राप्त्य हैं। 'प्रेमी' का कथन है—

बेह-देवरा पूजियो, तीन लोक तिन मांह ।

तीरथ षटवर्सन संच्यो, नेरे बंटे नांह ॥^३

१. इस में 'महरी' नामक गान के २२ गीत हैं। यह नाम जायसी-प्रवृत्त नहीं है, डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा कल्पित है। (सं० माताप्रसाद गुप्त : जायसी ग्रंथावली, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग १३५२ ई०, भूमिका पृष्ठ १०५)

२. माताप्रसाद गुप्त : जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ७१६ ॥

३. बरकत उल्लाह पेमी : प्रेम प्रकाश (फ्रैंक बर्दर्स, दिल्ली, १९४३ ई०) पृष्ठ १५।६६

इन्द्रियों के वशीकरण से सम्बन्धित भाव तो इन रचनाओं में प्रेमकथानकों के ही तुल्य हैं परन्तु पोथी-पत्रा-विषयक नीति कुछ भिन्न प्रतीत होती है। प्रेमकथानकों का वातावरण राजकीय होने के कारण, उनमें विद्याओं तथा कलाओं में मुख्य पात्रों का विज्ञ और कलाविद् होना आवश्यक था। परन्तु यहाँ दृष्टि प्रभु पर केन्द्रित है और इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए पुस्तकी ज्ञान की प्रपेक्षा साधना अधिक अपेक्षित है। यही कारण है कि इनमें धर्मग्रन्थ उद्देशित-से हैं। जैसे—

(क) ना-नारद तस पाहुर काया । चारा मेलि फाँद जग माया ॥

नाद वेद श्री भूत संचारा । सब अरुआइ रहा संसारा ॥^१ (जायसी)

(ख) वेद पुरान सब पढ़े, पुथियन अरुगाहें ।

दिना पेस कलू नाहे, पूजा बिरया हैं ॥^२ (पेमी)

(ग) तुसी इलम किताबां पढ़े हो, केहे उलटे माने करवे हो ।

बेमूजब ऐवें लड़वे हो, केहा उलटा वेद पढ़ाया है ॥^३ (कुलेशाह)

आत्मिक नीति प्रेमकथानकों के तुल्य ही है परन्तु स्फुट रचनाओं में काम-कोषादि तथा माया-मोहादि के त्याग का आग्रह बहुत अधिक है। जायसी व 'पेमी' मन के विषय में कहते हैं—

(क) मनुवां बंचल डांप, बरजे अहथिर ना रहे ।

पाल पटोरे सांप, 'मुहमब' तेहि बिधि राखिए ॥^४

(ख) रे मन, तू तो बड़ो अनीत ।

मया मोह माया मष भूल्यो, छाड़ि हरि की प्रीत ।

छांडे बिरह फिर भ्रम भूल्यो, बेल लई परतीत ॥^५

साधक के लिए नम्रता-गुण अनिवार्य हैं; अतएव इन कृतियों में इस पर बहुत बल दिया गया है। यारी साहब अलिफनामे में कहते हैं—

हमजा नरहरि सुमिरन करें, बीनु प्रयास भवसागर तरें ॥

जीम जगपती होदये राखहु, हे हलीम होय नरहरि माखहु ॥^६

पारिवारिक नीति—प्रेमकथानकों में तो कहीं-कहीं सगे-सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्य-पालन के उपदेश मिल जाते हैं परन्तु स्फुट रचनाओं में 'प्रेम-मार्ग' में बाधक होने के कारण सगे-सम्बन्धियों से सम्बन्ध सर्वथा त्याज्य कहा गया है। 'पेमी' की

१. जायसी ग्रन्थावली, (अल्लरावट) पृष्ठ ३१०-३११

२. पेस प्रकाश, पृष्ठ ६० ।

३. संतबानी संग्रह, दूसरा भाग (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद १९३८ ई०) पृष्ठ १८०

४. जायसी ग्रन्थावली, (अल्लरावट) पृष्ठ ३२६

५. पेसप्रकाश, पृष्ठ ५६ ॥

६. जायसी के परबर्ती, पृष्ठ ३०७

उक्ति है—

तजो कुटुम को हेत हित, करत पैम की हान ।
सोना क्या ले कीजिये, जासों टूटे कान ॥^१
केहु नहिं सागिहि साथ, जब गोनब कबिलास यहं ।
चलब आरि बोज हाथ, 'मुहमब' यह जग छोड़ि के ॥^२

सामाजिक नीति—इन रचनाओं में हिन्दू-मुस्लिम के भेद-भाव और ऊँच-नीच के परित्याग तथा एक-दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता दिखाने की प्रेरणा बहुत अधिक दिखाई देती है। जैसे—

(क) पुनि माया करता कहं भई । भा भिनसार रैन हटि गई ॥
सुख ज उए कंबल दस कूने । दूबी मिले पंथ कर भूले ॥
तिन्ह संतति उपराजा भातिहि भाति कुलीन ।
हिन्दू तुलक बुबी भए अपने अपने दोन ॥^३ (जायसी)

(ख) 'पेमी' हिन्दू-तुलक में, हर रंग रहो समाय ।
देवल और मसीत में, दोष एक ही माय ॥^४ (पेमी)
हिन्दू कहैं सो हम बड़े, मुसलमान कहैं हम्म ।
एक भुंग दो फाड़ हैं, कुण जावा कुण कम्म ॥
कुण जावा कुण कम्म, कबी करना नहिं कजिया ।
एक भगत हो राम, दूजो रेमान से रजिया ।
कहे दोन बरवेश, दोय सरिता मिल सिन्धू ।
सबदा साहब एक, एक मुसलमान हिन्दू ॥^५ (दीन बरवेश)

प्रेमकथानकों के समान ही इन रचनाओं में भी गुरु के महत्त्व का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। जिस पर गुरु की कृपा होती है, उसके लिए तो प्रेम-माग खिलवाड़ बन जाता है, परन्तु जो अपने ही बल पर उस पथ पर अग्रसर होता है, उसकी जंघाएँ टूट जाती हैं और अतएव वह गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता।^६ सच्ची बात तो यह है कि गुरु-प्रीति के बिना प्रभु प्रीति असंभव है। जो गुरु से दीक्षा लिए बिना ही वस्त्र रंगा लेता है, न उसका लोक संवरता है, न परलोक। बज्रहन का

१. पेमी : पेमप्रकाश, पृष्ठ २४। ११७

२. जायसी ग्रन्थावली (अखरावट), पृष्ठ ३१६

३. जायसी ग्रन्थावली (अखरावट), पृष्ठ ३०८

४. पेमी : पेमप्रकाश, पृष्ठ ८। ३६

५. जायसी के परवर्ती, पृष्ठ ३११-१२

६. जायसी ग्रन्थावली, (अखरावट), पृष्ठ ३२०

कथन है—

वे बिन गुरु कोई भेद न पावे धरती से आकास को घाबै ।

पहिले प्रीत गुरु से करै, प्रेम डगर में तब पगु धरै ।

बिन गुरु बजहन जो कोई, लेत है बसन रंगाय ।

यह तुम निश्चय जानियो तो बौड और से जाय ॥^१

क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, दोनों ही धर्म के तत्त्व को विस्मृतकर बाह्या-चारों तथा रूढ़ियों में अधिक निमग्न हो गए थे। इन रचनाओं में दोनों के बाहरी आदर्शों का खण्डन किया गया है और उसका स्वर कहीं-कहीं कबीर आदि सन्त-कवियों से कम तोला नहीं है। जैसे—

‘बुल्ला’ धर्मताला बिच धाड़वी रहंदे, ठाकुरद्वारे ठग ॥

मनीता बिच कोस्ती रहंदे, आसिक रहन अलग ॥

‘बुल्ला’ मक्के गया गल्ल मुकदी नहीं, जिचर दिलों न आप मुकाय ॥

गंगा नयाँ पाप नहि छुटदे, भाबे सो-सो गोते लाय ॥^२

‘बुल्ला’ मुल्ला ते मसालची, बोहादा इको बित्त ।

लोकां करदे चानना, आप हुनेरे बिचव ॥^३

आर्थिक नीति—चूँकि सूफ़ी लोग सिद्धान्ततः धन को हेय ही मानते थे अतः इन सिद्धान्त-बहुल फुटकल रचनाओं में धन के महत्त्वादि का उल्लेख नहीं है। जब यह संसार ही झूठा है तब इसकी धन-सम्पदा और विभिन्न भोग कहाँ सत्य हो सकते हैं। जायसी के मत में प्रेम-रस की तुलना में धन और तज्जनित भोगों के रस फोके हैं—

यह संसार झूठ, थिर नाही । उठहि मेघ जेउं जाइ बिलाहीं ॥

जो एहि रस के बाएं भएउ । तेहि कहं रस विष भर होइ गएउ ॥

तेइ सब तजा भरय बेबहाळ । ओ घर बार कुटुम परिवार ॥

खोर खांड तेहि मीठ न लागै । उहै बार होइ भिच्छा मांगै ॥^४

इतरप्राणविषयक नीति—इन स्फुट काव्यों में मछली-मांस आदि हिंसा से प्राप्त होने वाली वस्तुओं का ही नहीं, दूध-घी आदि पदार्थों के सेवन का भी प्रतिषेध किया गया है। कारण यह कि ये पदार्थ सुपीष्टिक होने के कारण कामवर्द्धक^५ और भक्ति मार्ग में बाधक हैं—

छांडहु घिउ ओ मछरी मांस । सूखे भोजन करहु गरास ।

१. जायसी के परवर्ती०, पृष्ठ ३२२

२. सन्तबानी संग्रह, भाग १ (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९६६ ई०) पृष्ठ १५२

३. सन्तबानी संग्रह, भाग १ (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९४६), पृष्ठ १५४

४. जायसी ग्रन्थावली (अखरावट), पृष्ठ ३१८

५. भर्तृहरि : शतकत्रयम्, पृष्ठ १०३।८०

बूब मांसु घिड कर न ग्रहाव । रोटी सानि करहु करहाव ॥

एहि बिधि काम घटावहु काया । काम शीघ्र तिसना मव माया ॥^१

निश्चित नीति—प्रभु-भक्ति, संसार की असत्यता, मृत्यु की अनिवार्यता, उपदेश, चेतावनी आदि मिश्रित विषयों की कविता जितनी इन स्फुट काव्यों में है, उसका सह-साक्ष भी प्रेमकथानकों में नहीं। कारण, इन कृतियों की रचना प्रत्यक्ष रूप से इन्हीं विषयों के प्रतिपादन के लिए की गई है। जगत की भ्रामकता के विषय में नजीर ने लिखा है—

कोई ताज खरीदे हंसकर कोई तख्त खड़ा बनाता है ।

कोई कपड़े रंगे पहने है कोई गुबड़ी ओढ़े जाता है ।

कोई भाई बाप चचा नाना कोई नाती पूत कहाता है ।

जब देखा खूब तो आखिर को ना रिश्ता है ना नाता है ।

गुल शोर बबूला प्राग हवा और कीचड़ पानी मिट्टी है ।

हम देख चुके इस दुनिया को यह धोखे की सी टट्टी है ॥^२

इस जगत में सर्वथा सुखी कोई नहीं; जहाँ सुख है, वहाँ दुःख भी अनिवार्य है—

जहां पीत तहं विरह है, जहां सुख बुख देख ।

जहां फल तहां कांट है, जहां विरब तहां सेख ॥^३

किसी-किसी कवि की रचना में पुनर्जन्म का विचार मुखर हो उठा है। मारवाड़ी दरिया का वचन है—

जीवत सुख-बुख में दिन भरें, मुझा पछें खोरासी परें ।

जन दरिया जिन राम न ध्याया, पसुवा ही ध्यों जनम गवाया ॥^४

स्फुट सूफी काव्य पर एक दृष्टि

नीतिकाव्य की दृष्टि से उपलब्ध स्फुट सूफी काव्य का महत्त्व प्रेमकथानकों की अपेक्षा कम है। दोनों का चरम उद्देश्य—सूफी-साधना द्वारा प्रभु-प्राप्ति—समान होते हुए भी अभिव्यक्ति में पर्याप्त भिन्नता है। प्रेमकथानकों में इस लक्ष्य की त्रिद्वि के लिए प्रायः हिन्दू-समाज में प्रचलित लौकिक प्रेम-कथाओं को माध्यम बनाया गया है और प्रस्तुत कृतियों में सूफी-सिद्धान्तों की चर्चा स्पष्ट रूप से ही की गई है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि जहाँ प्रेम-कथाओं का वातावरण ऐहिकता-प्रधान है, वहाँ इन कृतियों का आध्यात्मिकता और नैतिकता-प्रधान। जैसे उनमें आध्यात्मिकता कहीं-कहीं हो

१. जायसी ग्रन्थावली (अखरावट), पृष्ठ ३२८

२. जायसी के परवर्ती०, पृष्ठ ३१५

३. पेमी : प्रेमप्रकाश, पृष्ठ २०

४. जायसी के परवर्ती०, पृष्ठ ३१०

दिखाई देती है, वैसे ही इनमें लौकिकता कहीं-कहीं। उनके अध्ययन से तो स्वास्थ्य-सौन्दर्य के प्रति प्रेम, विद्या प्राप्ति में रुचि, माता-पिता के प्रति श्रद्धा, दम्पती का परस्पर अनुराग, धनोपार्जन के लिए उत्साह आदि भावों का हृदय में उद्रेक होता था, परन्तु यहाँ ऐसी कोई बात नहीं दिखाई देती। यहाँ तो सन्त कवियों के समान शरीर की नश्वरता, यौवन की चंचलता, इन्द्रियों का दमन, मन की शुद्धि, अभिमान का स्थान, पारिवारिक सम्बन्धों का मिथ्यात्व, बुरे का भी भला, हिन्दू-मुक्त-ऐक्य, ब्राह्मणों तथा बाह्याचार्यों का खण्डन, सन्तोष की स्तुति, लोभ की निन्दा, प्राणियों के प्रति दया, मृत्यु की अनिवार्यता तथा चेतावनी का ही प्राधान्य है। तात्पर्य यह कि सन्त-काव्य से सूफी-प्रेमकथानकों की ओर जाते समय तो यह अनुभूति होती थी कि हम प्राध्यात्मिकता के वातावरण से लौकिक वातावरण में जा रहे हैं परन्तु प्रेमकथानकों से स्फुट सूफी काव्यों की ओर आते हुए ऐसे लगता है मानो फिर हम सांसारिकता से पारमार्थिकता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इन स्फुट काव्यों की नीति लौकिक सफलता के लिए वैसी ही बेकार है जैसा कि सन्त काव्यों की अधिकतर नीति थी। यह नीति अम्युदय की उपेक्षा कर निःश्रेयस की ओर ही दृष्टि को केन्द्रित करने की शिक्षा देती है। अम्युदय और निःश्रेयस में सामंजस्य की स्थापना की प्रेरणा इससे प्राप्त नहीं होती। “यतो अम्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः” सूत्र के रचयिता कणाद भी तो ऋषि ही थे परन्तु वे लौकिक जीवन को तुच्छ, मायामय और हेय न समझते थे जैसे कि प्रायः बौद्धों, जैनों, सन्तों और सूफियों ने समझा। फिर भी इस नीति को नितान्त निरर्थक नहीं कहा जा सकता—इसका भी अपना उपयोग है, परन्तु मुख्यतः मुमुक्षुओं के लिए, न कि सामान्य गृहस्थों के लिए। हाँ, सामान्य जनों के लिए भी पुण्यश्रम व्याय से कोई कोई उपयोगी बात आ ही जाती है। जैने, अपना स्वरूप समझने की प्रेरणा करते हुए जायसी दृष्टान्त रूप में कहते हैं—

मरम नैन कर धँवरें बूझा। तेहि बिसरें संतार न सूझा ॥

मरम लवन कर बहिरं जाना। जो न सुनै किछु बीजं साना ॥

मरम जोम कर गुँगे पावा। साथ मरें पे निकर न छावा ॥

मरम बाँह के लूलें चीन्हा। जेहि विधि हाथन्ह पांगुर कीन्हा ॥

मरम कपा कं कुस्टी भेंटा। नित बिरकुट जो रहै लपेटा ॥

मरम पाँव कं तेहि पं बीठा। होइ अर्पाय भुँईं जलें बईठा ॥

अति सुख बीन्हा बिषातं, ओ सब सेवक ताहि।

आपन मरम ‘मुहम्मद’ अबहै समुझ कि नाहि ॥^१

जो प्रभु को भी विस्मृत कर देते हैं और धन का भी सदुपयोग नहीं करते, उन

के सम्बन्ध में दीनदरवेश का कथन है—

माया माया करत है, खर्चा खाया नाहि ।
सो नर ऐसे जाहिगे, ज्यों बादर की छाहि ॥
ज्यों बादर की छाहि जायगा घामा जेसा ।
जाना नहि जगदीश प्रीति कर जोड़ा पंसा ॥
कहै दीन दरवेश नहीं कोई घम्वर काया ।
खर्चा खाया नाहि करत नर माया माया ॥^१

रस और भाव—इन वैराग्य-प्रवण रचनाओं में न रसों की विविधता है न है परिपाक । शान्त रस तथा निर्वेद, श्लानि, दैन्य, विबोध, मति प्रादि भाव ही यत्र-तत्र व्यञ्जित हुए हैं ।

भाषा—अधिकतर स्फुट सूफीकाव्य, लिखित ग्रन्थों द्वारा नहीं, श्रुतिपरम्परा से हम तक पहुँचा है । इस मौखिक प्रादान-प्रदान के कारण यह कहना कठिन है कि सूफी-सन्तों की रचनाओं की भाषा में क्या और कितना हेर-फेर हुआ है । प्रात रचनाओं की भाषा अवधी, ब्रज, पंजाबी वा पंजाबी-मिश्रित ब्रज है । प्रेम-कथानकों की अपेक्षा इन रचनाओं में फारसी, अरबी आदि के शब्द और वाक्यांश बहुत अधिक मिलते हैं । सम्भवतः इसका कारण यह है कि प्रेम-काव्यों के असमान ये रचनाएँ जनसाधारण के लिए नहीं अपितु उन शिष्या और सत्संगियों के लिए की जाती थी, जो इन साधकों के निकट सम् के में रहते थे और इनके उपदेशों से लाभान्वित होने के कारण इस्लाम के पारम्भाधिक शब्दों से भी परिचित थे । लोकोक्तियों तथा कृद्वियों की भी इनकी भाषा में कमी नहीं है । इस प्रसंग में अधिक न कह कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा—

(क) मोह कोह मन में भरे, प्रेम पन्थ को जाय ।

चली बिलाई हज्ज को, नौ सँ घूहे खाय ॥^२

(ख) बेरी तो में कठिन है, बीजे नाहि अघाय ।

कुत्ता चोक चढ़ाइए, चाकी चाटन जाय ॥^३

(ग) ‘तजबिह’ कहियो ‘ताल’ सँ, ‘तंजिह’ कलसे बखान ।

मरे सु सुरंग देखिहै, हम क्या करें बिनान ॥^४

काव्य-विधान-तथा छन्द—अधिकतर स्फुट सूफीकाव्य मुक्तक रूप में है और उसमें दोहा (साखी, सलोक) सर्वया, कवित्त, छप्पय, भूलना, कुंडलिया तथा फ़ारसी की

१. परशुराम जतुर्वेदी:सूफीकाव्य संग्रह, पृष्ठ २२०।३

२. बरकतउल्लाह पेसी: पेसप्रकाश, पृष्ठ २१।६६

३. " " " " ३१।१५४

४. " " " " २१।१४३

कुछ बहरों का प्रयोग किया गया है। जायसी-कृत, 'आखिरी-कलाम' तथा 'अखरावट' का कुछ भाग निबद्ध काव्य के अन्तर्गत गणनीय है। प्रथम कृति में चौपाई-दोहा का तथा द्वितीय में चौपाई-दोहा-सोरठा का प्रयोग किया गया है। परन्तु यहाँ इतना स्मरणीय है कि जहाँ इन रचानाओं में दो-एक अक्षरों या मात्राओं का इधर-उधर होना साधारण बात है, वहाँ छन्दों के नाम भी कई स्थलों पर भ्रामक है। उदाहरणार्थ, २६ मात्रा के झूलना छन्द में ७ ७ ७ ५ पर यति होती है और अन्न में गुरु-लघु अक्षर होते हैं जैसे—
'तब लोकनाथ बिलोकि कै रघुनाथ को निज हाथ ।' (केशवदास)

परन्तु यारी साहब का एक झूलना देखिए, जिस पर न उक्त लक्षण चरिताय होता है, न चारों चरण समान हैं—

आँखों सेती जो दिखये, सो तो आलम फानी है।

कानों सेती जो सुनिये रे, सो तो जैसे कहानी है ॥

इस बोलते को उलटि देखें, सोई आरिफ़ सोई ज्ञानी है।

यारी कहै यह ब्रह्मि देखा, और सबे नादानी है ॥^२

पेमी' कवि ने 'पेमप्रकाश' में 'कवित्त' शब्द का प्रयोग मनहरण तथा सबेया दोनों छन्दों के लिए किया है।^३ सम्भव है, दोनों छन्दों के अत्यधिक प्रचार और प्रायिक सहवर्तित्व के कारण जनसाधारण में दोनों छन्दों के लिए एक 'कवित्त' शब्द का ही प्रयोग चल पड़ा हो। पदों पर रागों के नाम का निर्देश अनेक कवियों ने किया है परन्तु पेमी द्वारा कवित्त पर रागनाम (जै जैवन्ती) का उल्लेख^४ यह सूचित करता है कि कभी-कभी कवित्त विशिष्ट रागों में गाये भी जाते थे।

शैली—स्फुट सूफी काव्य में प्रायः निम्नलिखित शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं—
तथ्यनिरूपक शैली, उपदेशात्मक शैली, आत्माभिव्यंजक शैली, शब्दावतंक शैली, संवादात्मक शैली, कूट शैली, पदशैली, अठवारा शैली, बारहमासा शैली और कक्का शैली। कक्का शैली में जहाँ भारतीय कवियों ने अपभ्रंश, हिन्दी आदि में देवनागरी लिपि के अक्षरों के आधार पर कविता की थी वहाँ सूफियों ने देवनागरी के अतिरिक्त फ़ारसी लिपि का भी आश्रय लिया है। जायसी की 'करावट' तथा जान कवि का 'वर्ननामा' तो देवनागरी के आधार पर रचित है और यारी साहब का 'अलिफ-नामा' वजहन का 'अलिफ-बाए' (वजहन नामा) तथा बुल्लेशाह की 'सी हफी' फ़ारसी लिपि के आधार पर। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। जहाँ कुछ कवि देवनागरी अक्षरों के सामान्य उच्चारण—क, ख, ग, आदि—का आश्रय लेकर पद्य रचना करते हैं वहाँ कुछ कवि

१. परमेस्वरानन्द, छन्द शिक्षा, पृष्ठ १३६

२. परशुराम चतुर्वेदी, सूफी काव्यसंग्रह, पृष्ठ २१३

३. पेमप्रकाश, पृष्ठ ६६-६७

४. पेमी, पेमप्रकाश, पृष्ठ ६५

कबीर के समान^१ इन के दोहरे रूपों—कक्का, खक्का—आदि का। दोनों लिपियों के कुछ उदाहरण देखिए—

(क) देवनागरी वर्णमाला : सामान्य रूप

आ-आखर-तन महं मन भूले । कांठन्ह मांह फूल जनु फूले ॥^२ (जायसी)

(ख) देवनागरी वर्णमाला : दोहरे रूप

टटं टेकु गहि नाम की, जपहु अलपदिन रैन ।

संतन की यहू रीत है, सुमिरन ही में चैन ॥^३ (जान कवि)

(ग) फारसी वर्णमाला :

जाल—जरा भी शक्क ना रख मनतें, तुहीं होहु बेशक्क खुद खसम साईं ।

जिबें सिध भुझाय बल आपरो नूँ, चरे घास मिल अजामें अजान्याई ॥^४ (बुल्लेशाह)

अलंकार—अलंकारों में अनुप्रास, यमक तथा वीप्सा का और अर्थालंकारों में उपमा और सांग रूपक का प्रयोग अन्य अलंकारों की अपेक्षा अधिक हुआ है। जायसी तथा पेमी की अपेक्षा अन्य कवियों में अलंकार प्रयोग अधिक स्वामाविक लगता है। पेमी में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग भी प्रचुर है और सती के वर्णन में प्रयुक्त निम्नलिखित उत्प्रेक्षा तो हिन्दी-साहित्य में अनूठी ही है—

सज सोरह तिगार चली नबला पिय-कामिनि ।

कबल-रूप मुख नैन अंग अंगन इतरामनि ॥

पती संग आ दहै, नबल नारी मनरंजन ।

रोम-रोम उत्साह चाह-बूबे चख खंजन ॥

प्रति हुलास हित चित कर चिता, बंठ लियो उन अंग अल ।

कवि कहत पद्मिनी रूप छवि, अगन कुण्ड फुलिबो कमल ॥^५

गुण-दोष—स्फुट र फ्री रचनाओं में ओज तथा माधुर्य की मात्रा अत्यन्त ही कम है। प्रसाद निस्सन्देह व्यापक है परन्तु जहाँ कवियों ने रेखा, उलटबासी या इस्लाम के पारिभाषिक शब्दों तथा वाक्यांशों का प्रयोग किया है, वहाँ उसका भी अभाव हो जाता है। इन रचनाओं में हतवृत्तत्व दोष व्यापक-सा है, यह ऊपर कह ही चुके हैं।

सन्तों और सूफियों के नीतिकाव्य की तुलना

ऊपर हम देख चुके हैं कि सन्तों का नीतिकाव्य स्फुट रूप में ही उपलब्ध होता-

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१०-३१३

२. जायसी ग्रन्थावली (अखराबट), पृष्ठ ३१४

३. जान कवि, वर्ननामा, जायसी के परवर्ती, पृष्ठ २६६

४. बुल्लेशाह : सोहर्नी, परशुराम चतुर्बेदी, सूफीकाव्य संग्रह, पृष्ठ २१६

५. पेमी : पेन-प्रकाश, पृष्ठ, ८३-८४

है परन्तु सूक्तियों का प्रेमकथा तथा स्फुट, दोनों रूपों में। चूँकि सन्तों के नीतिकाव्य का सूक्तियों की प्रेमकथाओं के नीतिकाव्य से वैषम्य है और स्फुट नीतिकाव्य से साम्य, इस लिए सीक्य की दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन को दो वर्गों में विभाजित करना उचित होगा—

(क) सन्तकाव्य और सूफी प्रेमकथात्मक काव्य

(ख) सन्तकाव्य और सूफी स्फुट काव्य

(क) सन्त-काव्य और सूफी प्रेमकथात्मक काव्य

सन्त-काव्य और प्रेमकथाओं की तुलना करने पर विदित होता है कि सन्तों ने शरीर और पठन-पाठन की उपेक्षा की है परन्तु सूक्तियों ने दोनों बातों का उचित महत्व प्रदर्शित किया है। सन्त तो कामिनी की निन्दा करते न थकते थे परन्तु प्रेम का सांगो-पांग वर्णन सूक्तियों का मुख्य विषय है। सन्तों की रचनाओं में सब पारिवारिक सम्बन्ध भूटे और सम्बन्धी स्वार्थी बताये गए हैं परन्तु प्रेमकाव्यों में उन सब के प्रति कर्तव्य-पालन की प्रबल प्रेरणा की गई है।

गुरु का महत्त्व, शिष्य की सेवाभावना, हिन्दू-मुस्लिम का ऐक्य आदि भाव तो दोनों में तुल्य है परन्तु मूर्ति-पूजा, तीर्थादि का जो खण्डन सन्त काव्य में सुलभ है वह यहाँ दुर्लभ। और इस अन्तर का कारण भी गूढ़ नहीं है। सन्तों की रचनाएँ सिद्धान्त-रूप में हैं और इनकी प्रायः हिन्दू कथाओं के रूप में। इसलिए इन कथाओं में हिन्दू-मान्यताओं और विश्वासों का यथा-तथ्य चित्रण भी आवश्यक ही था। फिर भी इस बान का श्रेय इन्हें देना ही होगा कि अपने मत में सुदृढ़ होने पर भी इन्होंने हिन्दुओं की रीति-नीति के वर्णन में मतान्धताजन्य संकोच से काम नहीं लिया, प्रोदार्य का ही अश्रय लिया है। सन्तकाव्य शत्रुओं के प्रति भी प्रोदार्य का उपदेश देता है। परन्तु इनमें 'जैसे को तैसा' की नीति भी पाई जाती है। धन का महत्त्व इन काव्यों में उतना दुर्लभ नहीं जितना सन्त काव्य में। इधर प्राणियों के प्रति दया भावना दिखाई तो गई है परन्तु उतनी व्यापक व तीव्र नहीं जितनी सन्तकाव्य में। संसार की असारता, जीवन की नश्वरता, भाग्यरेखा आदि के विचार दोनों में समान हैं परन्तु विदेशगमन के हानि-लाभों की चर्चा सूक्तियों में ही है, सन्तकाव्य में नहीं।

(ख) सन्त काव्य तथा सूफी स्फुट काव्य

ऊपर हम कह चुके हैं कि सन्त-कवियों के नीतिकाव्य तथा सूक्तियों के स्फुट नीतिकाव्य में भाव-साम्य है। दोनों की षड्विध नीति समान है। यदि यह साम्य भावों तक ही सीमित होता तो हम कह सकते थे कि निर्गुणों पासक भक्त या प्रेमी होने के कारण ही इनकी नीति ऐहिकता-विमुख तथा परमार्थ की और उन्मुख हो गई है। परन्तु ध्यान से देखने पर विदित होता है कि इनके नीति-काव्यों में विषयों के प्रतिरिक्त

अभिव्यक्ति का भी साम्य है; और यह साम्य कहीं-कहीं तो इतना अधिक है कि उसे आकस्मिक मानना कठिन हो जाता है। जैसे—

बिरहा बुरहा जिनि कही, बिरहा है सुलितान ।

जिस घट बिरह न संखरे, सो घट सदा मसान ॥^१ (कबीर)

बिरहा-बिरहा आलीऐ, बिरहा तू सुलतानु ।

‘फरीदा’ जितु तनि बिरहु न ऊपजे, से तनु जायु मसायु ॥^२ (शेखफरीद)

दोनों दोहों का भाव और भाषा समान है, केवल, पंजाबी होने के कारण फरीद की भाषा में पंजाबी का कुछ पुट स्पष्ट है।

काल्ह करे सो आज कर, आज करे सो अब्व ।

पल में परले होयगी, बहुरि करेगा कव्व ॥^३ (कबीर)

करना होय सो आज कर, काल परों दे छाड़ ।

‘हाजी’ बुलहिन सासरे, सास न माने लाड़ ॥^४ (हाजीबली)

चूँकि कबीर का स्फुरण-काल स्फुट काव्यों के रचिता अधिकतर सूफी कवियों से प्राचीन है, अतः यह अनुमान स्वाभाविक है कि प्रायः सूफी कवि सन्तकाव्य से प्रभावित हुए हैं। परन्तु जब हम कबीर की रचना की तुलना खसरो से करते हैं जो हिन्दी के प्रथम सूफी कवि माने जाते हैं, तब हमें यह मानना पड़ता है कि कबीर भी सूफी-प्रभाव से अप्रवृत्त न थे। जैसे खसरो का मृत्यु-विषयक एक पद इस प्रकार है—

बहुत रही बाबुल घर बुलहिन, चल तेरे पी ने बुलाई ।

बहुत खेल खेती सलियन सों, अंत करो सरिकाई ॥

नहाय घोय के बस्तर पहिरे, सबहि सिंगार बनाई ॥

बिवा करन को कुटुम्ब सब आये, सिंगरे लोग लुगाई ॥

चार कहारन डोली उठाई, संग पुरोहित नाई ।

खले ही बनेगी होत कहा है, नयनन नीर बहाई ॥^५

अब उक्त पद की तुलना कबीरजी के इस पद से कीजिए—

छाई गबनवां की सारी उमिरि अबही मोरी बारी ।

साज समान पिया लें आये और कहिरिया चारी ।

बम्हना बेबरवी अचरा पकरिकं जोरत गठिया हमारी ।

सखी सब गावत गारी ॥

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६। २१

२. सूफी काव्य संग्रह, पृष्ठ, २११। २

३. कविता कीनुवी, भाग १, पृष्ठ १५६। १६

४. सूफी काव्य संग्रह, पृष्ठ २२७। ६

५. सूफी काव्य संग्रह, पृष्ठ २०२

बिष गति बाम कछु समझ परत ना, बैरी भई महतारी ।

रोय रोय अंखियाँ मोर पोंछत घरवा से देत निकारी ।

भई सबको हम भारी ॥'

चूँकि कबीर के पूर्व का स्फुट सूफी काव्य अधिक प्राप्त नहीं होता इसलिए उप-सम्ब सामग्री के आधार पर इससे अधिक कहना उचित न होगा कि जहाँ कबीर आदि कुछ मात्रा में सूफी काव्य के ऋणी हैं, वहाँ स्फुट सूफी काव्य भी सन्तों का कदाचित् अपेक्षाकृत अधिक आभारी है। इस प्रकार लगभग समकालीन होने पर दोनों सम्प्रदायों के नीतिकाव्य में कुछ आदान-प्रदान होता रहता था।

निष्कर्ष

सूफी-साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से हम सहज ही निम्नलिखित मुख्य निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१. सूफी कवि मुख्यतः नीति-कवि न थे, आध्यात्मिक कवि थे।
२. वस्तुतः उन्होंने आध्यात्मिक उद्देश्य से ही प्रेमकथानकों तथा स्फुट कृतियों की रचना की।
३. प्रेमकथानकों में प्रसंगवश सब प्रकार की नीति पर्याप्त मात्रा में सन्निविष्ट है।
४. सब नीतियों में आदर्शात्मक अर्थात् स्वकीया-परक, उत्सर्गात्मक तथा कष्टसहिष्णु प्रेम से सम्बन्धित नीति का प्राधान्य है।
५. स्त्री के शील तथा सतीत्व पर बहुत बल दिया गया है, परन्तु पुरुष के सम्बन्ध में मोन बहुत खटकता है।
६. प्रियतमा परमेश्वर की प्रतीक अवश्य है परन्तु सामान्यतः स्त्री का स्थान पुरुष से निम्न ही दिखाया गया है।
७. मुसलमान होते हुए भी इन कवियों द्वारा मांस, मछली आदि का निषेध तथा सन्त होते हुए भी विदेश-गमन, धन महत्त्व, जैसे को तैसा आदि विषयों का निरूपण विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
८. भारतीय कथानक, वातावरण, भाषा तथा छन्द और विदेशी मसनवी शैली तथा ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं का समावेश दो संस्कृतियों का सुन्दर मिश्रण है।
९. स्फुट सूफी काव्य ऐहिकता तथा सरसता की कमी के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं तथापि उसमें भाषा और शैली की विविधता प्रशंसनीय है।
१०. जीवन के सभी क्षेत्रों में सरस रीति से मार्ग-प्रदर्शन के कारण सूफी प्रेमकथाओं के नीतिकाव्य का हिन्दी नीतिकाव्य में प्रशस्त स्थान है।

(ग) रामकाव्य में नीति-तत्त्व

उत्तर भारत में स्वामी रामानन्द ने भक्ति की जिस वेगवती तरंगिणी को प्रवाहित किया वह दो धाराओं में विभक्त हो गई—निर्गुन और सगुण । निर्गुन धारा में कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने भक्ति का खूब प्रचार तो किया और 'राम' का गुणगान भी किया, परन्तु उनके 'राम' ब्रह्मांड के भगु-परमाणु में रमने वाले परब्रह्म ही थे, दशरथाजिरविहारो नहीं । कबीर का कथन है—

दशरथ कुल भवतरि नहि आया । नहि लंका के राय सताया ।

नहि देवकि के गर्भहि आया । नहीं यशोदा गोद खिलाया ॥'

इसके विपरीत सगुण धारा में जिन राम के चरित्र का यशोगान तुलसीदास, नःभादास, अग्रदास, केशवदास, हृदयराम आदि कवियों ने किया है, वे भगुण, ब्रह्म, अलक्ष्य और भज होते हुए भी सुर, भूसुर, सुरभि, तथा भक्तों के कष्ट नष्ट करने को दशरथ-सुत के रूप में भवतीएँ हुए थे—

जब जब होइ धरम के हानि । बाढ़हि असुर अधम अभिमानी ॥

करहि अनैति जाइ नहि धरनी । सीरहि विप्र धेनु सुर धरनी ॥

असुर मारि थापहि सुरन्ह, राखहि निज भुति-सेतु ।

जग विस्तारहि बिसर जस, रामजन्म कर हेतु ॥'

(गोस्वामी तुलसीदास)

सौभाग्य से रामकाव्य के प्रणेताओं ने, सूरदास के असमान, श्री रामचन्द्र के समग्र जीवन को अपने काव्य का विषय बनाया है । इन काव्यों में हमें श्रीराम के शैशव, बाल्य, कौमार्य, यौवन, प्रौढत्व आदि सभी अवस्थाओं के दर्शन ही नहीं होते, वे हमें विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी लक्षित होते हैं । क्रमशः वे जनक-जननी की गोदी की शोभा बढ़ाते हैं; नन्हें-नन्हें धनुष-बाण लेकर सरयू-तीर पर विहार करते हैं; गुरु वसिष्ठ से शास्त्राभ्यास तथा ऋषि विष्वामित्र से शास्त्राभ्यास करते हैं; यज्ञ-रक्षा, ताड़का-वध, तथा ग्रहल्योद्धार करने के पश्चात् शिवधनु-भंग कर सीता का पारिश्रहण करते हैं; अयोध्या लौटने पर यौवराज्य का उल्लास वन-वास की विषमताओं में परिवर्तित हो जाता है; वन में सीता का अपहरण होता है और वे राक्षसों का संहार कर भार्या का उद्धार करते हैं तथा अन्त में कुछ राजसुखों के उपभोग के पश्चात् प्रजा-रंजन के लिए प्रिय पत्नी तक का परित्याग कर देते हैं । तात्पर्य यह है कि जितने सुख-दुःख और उतार-चढ़ाव एक सामान्य मानव के जीवन में प्रायः आते हैं, उनसे कहीं अधिक उच्चावच और मार्मिक परिस्थितियों में श्रीराम की जीवन-धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है । यही कारण है कि रामकाव्य का मुख्य विषय

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय: कबीर वचनावली (काशी, सं० २००३, पृष्ठ १६३

२. रामचरित मानस, गुटका (प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३) पृष्ठ १०४

श्रीराम का चरितगान होते हुए भी उसमें नीति तत्त्व सुन्दर और व्यापक रूप में व्यक्त हुआ है। बैसे तो नीति के पूर्वोक्त छहों प्रकारों पर इन कवियों ने प्रचुर मात्रा में काव्य रचना की है तथापि सापेक्ष दृष्टि से कह सकते हैं कि अन्य विधाओं की अपेक्षा पारिवारिक तथा सामाजिक नीति पर इनकी दृष्टि अधिक केन्द्रित रही है।

वैयक्तिक नीति (क) शारीरिक नीति—राम-काव्य में शरीर के प्रति उतनी उदासीनता तो दृष्टिगत नहीं होती जितनी सन्त-काव्य में हम देख चुके हैं परन्तु उतना ललक और उमंग भी नहीं जितनी कि वैदिक मन्त्रों में दिखाई देती है।^१ गोस्वामीजी ने जिन चौदह प्रकार के मनुष्यों को जीवन्मृत कहा है, उनमें सदा रोगी के साथ 'तनु-पोषक' को भी परिगणित कर दिया है—

कील कामबस कृपिन विघ्नदा । अति वरिष्ठ अजसी अति बूढ़ा ॥

सदा रोगबस संतत क्रोधी । विष्णु विमुक्त भूति संत-विरोधी ॥

तनुपोषक निर्वंक अघ-ज्ञानी । जीवत सब सम जोबह प्रानी ॥^२

कहीं वैदिक युग के धार्यों का नवजात शिशु को चट्टान के समान सुहड़ तथा कष्टसहिष्णु और कुल्हाड़े के तुल्य शत्रुसंहारक बनने का आशीर्वाद देना^३ और कहीं शरीर के पोषक को मृतकतुल्य कहना ! ऐसा होते हुए भी गोस्वामीजी धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने शत्रु, अग्नि, पाप, स्वामी और सप के समान रोग को भी छोटा न समझने का उपदेश दिया है—

रिपु रज पावक पाप प्रभु अहि गमिय न छोट करि ॥^४

राम-काव्यों में शरीर को अश्व भी कहा गया है और महाश्व भी; परन्तु जितना इसकी तुच्छता का उल्लेख है उतना मूल्यवत्ता का नहीं। इसे तुच्छ और अश्व कहने का कारण है इसकी क्षणभंगुरता, शुक्लशोणितमयी तथा अस्थिचर्ममयी रचना और इसका रोगों और विकारों का आगार होना। महामूल्यवान् इसे इसलिए कहा गया है कि इसके द्वारा ही मनुष्य भवसागर तरने में समर्थ होता है और स्वर्ग के सुखों तथा अपवर्ग के अक्षय आनन्द का भागी बन सकता है। इस प्रकार शरीर-सम्बन्धी दृष्टिकोण में जो विरोध प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं, आभास-मात्र है। श्रीराम के धार्यों पति का प्रणान्त होने पर जब तारा विकल विलाप करती है तब श्रीराम उसे साम्त्वना देते हुए जीव की नित्यता तथा शरीर की अश्वमता का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

१. अदीना : स्वाम शरब : शतम्, भूयस्व शरब : शतात् । (यजुर्वेद अ० ३६। २४)

२. राम चरित मानस, गुटका, पृ० ५२४

३. ऊँ अद्या भव परशुभं । (मं० ब्राह्मण १।५।१८)

४. सं० त्रियोगी हरि : तुलसीसूक्तिमुषा (साहित्य सेवा सदन, बनारस, १९८६ वि०)

पृष्ठ ३६।६

छिति जल पायक गगन समीर । पंच रचित अति अथम सरीरा ॥

प्रगट सो तनु तब प्रागें सोबा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोबा ॥^१

(गोस्वामी तुलसीदास)

केशवदास की दृष्टि भी 'रामचन्द्रिका' में जितनी बाल्य, यौवन तथा वार्द्धक्य के दुःखों पर पड़ती है, उतनी शैशव, बाल्य और तारुण्य में सुलभ सुखों पर नहीं । विरक्त-रामचन्द्र विश्वामित्र आदि से कहते हैं—

बचपन के दुःख—

हैं पितु मातन तें दुख भारे । ओ गुह ते अति होत दुखारे ।

भूख न प्यास न नींद न जोबें । खेलन को बहु भांतिन रोबें ।^२

यौवन के दुःख—

खँचत लोभ बसो दिसी को गहि मोह महा इत फांसिहि डारे ।

ऊंचे ते गर्व गिरावत क्रोधहु जीवहि लूहर लावत भारे ॥

ऐसे में कोढ़ की लाज उघों 'केशव' भारत कामहु बाण निनारे ।

भारत पांच करे पंच कूटहि कासों कहैं जग जीव बिचारे ॥^३

जराजनित दुःख—

कंपें उर बानि उगें वर डीठि त्वचा उति कुचें सकुचें मति-बेली ।

नवें नवप्रौढ थकें गति केशव बालक ते संग ही संग खेली ॥

लिये सब आधिन व्याधिन संग जरा जब धावें ज्वरा की सहेली ।

भगें सब बेह-बशा जिय साथ रहै बुरि दौरि दुराशा अकेली ॥^४

इतना मानने में तो हमें कोई संकोच नहीं कि जरूरत की दशा में शारीरिक तथा ऐन्द्रिय शक्तियों की क्षीणता के कारण मनुष्य को विभिन्न दुःखों का सामना करना पड़ता है और उन्हें भी बुद्धिमान् मानव प्राकृतिक नियम समझकर सहर्ष सहन कर लेता है—परन्तु इस बात को हम कदापि स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि निश्चिन्तता और वात्सल्य से परिपूर्ण बाल्य तथा स्वास्थ्य, सौन्दर्य, स्वाधीनता और सुखभोगों से प्रीत-प्रोत यौवन में भी सुखों की अपेक्षा दुःख अधिक होते हैं । भले ही सन्त, महात्मा और विरक्त नीतिकार इस प्रकार समग्र जीवन को दुःखमय कहते रहें परन्तु स्वस्थ दृष्टिकोण रखने वाला कोई कुशल कवि बाल्य और तारुण्य को दुःखबहुल कहने का साहस न करेगा । अस्तु, इन्हीं कवियों के शरीरस्तुति-विषयक विचार भी द्रष्टव्य हैं—

१. रामचरित मानस, गुटका पृष्ठ ४५३

२. केशवदास : रामचन्द्रिका, प्रकाश २४।४

३. " " " " २४।८

४. " " " " २४।११

(क) नर तन सम नहि, कवनिउ बेहो । जीव चराचर जाचत जेही ।

नरक सर्ग अपवर्ग निसेनी । ग्यान बिराग भगति सुख बेनी ॥^१

(ख) नर तनु भव बारिधि कहूँ बेरो । सनमुख भवत अनुग्रह मेरो ॥^२

(गो० तुलसीदास)

उपर्युक्त उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट ही है कि इनकी दृष्टि में शरीर का महत्त्व ऐहिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति का साधन होने में नहीं अपितु ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि द्वारा स्वर्ग और मोक्ष के सुखों की प्राप्ति का साधन होने में है । जो लोग संसार को सागर और उसमें बार-बार आने को अपार दुःखों का कारण समझते हों, उनकी दृष्टि में ऐहिक सुख भोगों का महत्त्व हो ही कैसे सकता है । ऐसा होते हुए भी ये कवि ऐहिक दृष्टि से शरीर की सार्थकता, परोपकार, दीन-पालन आदि सत्-कार्यों में समझते थे—

काजु कहा नरतनु घरि सार्यों ।

पर-उपकार सार श्रुति को जो, सो धोखेहु न बिचार्यों ॥

सम दम दया दीनपालन सीतल हिय हरि न संभार्यों ॥^३

(गो० तुलसीदास)

विषय-भोगों को इन कवियों ने विष की खान के समान प्राणपहारक कहा है । उनके सेवन से मानव को उतनी ही शान्ति मिल सकती है जितनी कि खीर के भ्रम से चन्द्रिका-भक्षण करने वाले कुत्ते को—

तजत अभिय उपदेश गुरु, भजत विषय विष-खान ।

चन्द्र-किरण धोखे पयस, चाटत जिमि शठ स्वान ॥^४ (तुलसीदास)

ऐसा होते हुए भी जो लोग विषय-भोगों के इच्छुक हों और यौवन को स्थायी समझे बैठे हों, उन्हें सावधान करने के लिए कहीं-कहीं इस प्रकार की उक्तियाँ भी मिल जाती हैं । त्रिजटा सीता को रावणमुख करने के उद्देश्य से कहती है—

जोबन चंचल थिर नहीं ज्यों कर-अंजुरी-बारि ॥^५ (सूरदास)

मरते दम तक घर के काम-धन्धों ही में लिप्त रहना प्राचीन आश्रम-व्यवस्था के प्रतिकूल है । इसी नीति का अनुसरण करते हुए पुरातन आर्य, पुत्र के सपुत्र हो जाने पर, वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो जाते थे ।^६ यह नीति सामान्य जनों तक ही सीमित

१. तुलसीमुक्तिमुधा, पृष्ठ ३२०।६

२. रामचरितमानस, गुटका, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ ६२०

३. विनयपत्रिका (गीता प्रेस, सं० २००७ बि०), पृष्ठ ३२४

४. तुलसीसतसई (सरस्वती मंडार, पटना, १९२९ई०), पृष्ठ २४६

५. सूर : रामचरितावली (गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१४), पृष्ठ ८२; मनु० ६।२

न थी, रघुवंशी नृप भी इस पर आचरण करते थे ।^१ इस नीति का प्रतिपादन राम-काव्य में भी किया गया है । जब श्रीराम वन-प्रस्थान से पूर्व माता कौशल्या से मिलने गये तब वे बोलीं कि वनवास तो राजा को करना उचित ही है परन्तु अन्तिम वय में, मुझे दुःख इसी बात का है कि तुम्हें वह यौवन में करना पड़ा—

अतः उचित नृपार्ह वनवास । वय विलोक हियं होइ हरासू^२ ॥ (तुलसीदास)
सूरदासजी ने भी इसी नीति को यों व्यक्त किया है—

महाराज बसरब मन भारी ।

अवधपुरी को राज राम बं, लीबं व्रत धनचारी ॥^३

शरीर का अन्त होने पर सगे-सम्बन्धियों का करुण क्रन्दन स्वाभाविक ही होता है, परन्तु वृद्ध या वृद्धा के शाश्वत वियोग पर रोना-पीटना अनावश्यक है क्योंकि उनकी मृत्यु अकाल में नहीं उचित काल में होती है । यदि अधिक देर जीवित रहते तो वाढक्य के असह्य कष्टों को पाते । हाँ, सावधानी इस बात की करनी चाहिए कि यमराज उस घर से सुपरिचित होकर कहीं बार-बार उसे अपनी विहार-स्थली न बनाने लगे । जब लक्ष्मण के हाथों नकटी-बूची होकर शूर्पणखा रावण की सभा में पहुँची तब कुछ सभा सदों को हँसी आ गई । इस पर उन में से एक बोल उठा—

एक कहे तुम हँसो जिन, कहो बात समझाय ।

बुढ़िया मुए न रोइये, पं जस गीघो जाये ॥^४ (हृदयराम)

वाणी के सुप्रयोग के विषय में नीतिकवि आदिकाल से ही लिखते आए हैं । सभी कवियों के समान राम-काव्य के प्रणेताओं ने भी सत्यभाषण, मधुर वचन, प्रतिज्ञा-पालन आदि की प्रेरणा और प्रशंसा की है तथा मिथ्याभाषण, कटुवचन, प्रतिज्ञाभंग की निन्दा । परन्तु वाणी-विषयक कुछ ऐसी नीतियों का भी उल्लेख इन कवियों ने किया है जो अन्यत्र विरल स्थलों पर ही दृष्टिगत होती हैं । उदाहरणार्थ, राम-नाम के जाप से जिह्वा और जीवन को सफल बनाना चाहिए; आतं, स्वार्थ-परायण और दीन-जन के कुवचनों पर क्रोध करना अनुचित है; क्रोध में मौनधारण ही श्रेयस्कर है; प्रतिज्ञा के धनी प्राणों को तृण-तुल्य तुच्छ समझते हैं; तीर्थादि पर तो दम्भमयी वाणी का व्यवहार सर्वथा त्याज्य है; अधर्मी से वार्तालाप न करना ही हितकर है; अपने यश की बातें सभी को श्रवण-मुखद होती हैं; बरातियों को स्त्रियों की गालियाँ भी सह्य सह लेनी चाहिए; प्रतिज्ञा भंग होने पर मुख पर कालिमा लग जाती है, इत्यादि । जैसे—

१. कलिदासः रघुवंश, १।८

२. रामचरितमानस, गुटका, पृष्ठ २६६

३. सूररामचरितावली, पृष्ठ २७

४. हृदयरामः हनुमन्नाटक (वैण्टेनबर प्रेस, १९४५ बि०) पृष्ठ ४७।८४

(क) राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिनिहि न पाप-पुंज समुहाहीं ॥
उसटा नाम जपत जगु जाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना ॥^१
(तुलसीदास)

(ख) क्रोध न रसना खोलिये, बर खोलब तरवारि ।
सुनत मधुर परिनाम हित, बोलब बचन विचारि ॥^२ (तुलसीदास)

(ग) दशरथ के प्रति विश्वामित्र की उक्ति—
प्रथम प्रतिज्ञा करी शासन कहूँगो सब,
सुत के सनेह बस कस बिसराइये ।
यह विपरीत रघुबंसिन उचित नाहि,
आजु लौं न ऐसी भानुबंसिन से पाइये ॥
भनै 'रघुराज' जो कल्याण होइ रावरे को,
तौ तो हम आये जस तैसे फिर जाइये ।
मिथ्यावादी हूँ के भूप भोग भोगिये अनूप,
बंधन समेत सुख संपति कमाइये ॥^३

(महाराज रघुराजसिंह)

मानसिक नीति—मानसिक नीति के क्षेत्र में रामकाव्य का दृष्टिकोण सन्तकाव्य के सर्वथा विपरीत है । इसमें वेद, शास्त्र, पुरान आदि धर्मग्रन्थों के प्रति पग-पग पर प्रगाढ़ श्रद्धा के दर्शन होते हैं । राजकुमार श्रद्धापूर्वक वेदशास्त्रादि का अध्ययन करते हैं यज्ञ-याग और विभिन्न संस्कारों के समय वेदमन्त्रों के मधुर उच्चारण की ध्वनि से गगन गूँज उठता है । वेदानुकूल आचरण की प्रभूत प्रशंसा तथा वेदविरुद्ध आचरण की तीव्र निन्दा सभी राम-काव्यों में की गई है । जैसे—

(क) बंदउं चारिउ वेद, भव-वारिध-बोहित सरिस ।
जिनहि न सपनेहु खेद, बरनत रघुवर विसद जस ॥^४

(तुलसीदास)

जो वेद जगदराज के पार पहुँचाने वाले जहाज हैं उनके निन्दकों तथा विक्रेताओं को घोर नरक में दारुण यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं । श्रीराम के वनवास में अपनी निर्दोषता को प्रमाणित करने के लिए भरत कोशल्या को जिन शब्दों में विश्वास दिलाते हैं, उनमें उक्त भावनाएँ अनायास निहित हो गई हैं—

१. रामचरित मानस, गुटका, अयोध्याकांड, पृष्ठ ३३६

२. तुलसी सतसई, पृष्ठ २६७।११४

३. सं० ब्रजरत्नदास : संक्षिप्त रामस्वयंवर (ना० प्र० स० काशी, सं० १९८१)
पृष्ठ ५७-५८

४. तुलसी सूक्तिमुधा, पृष्ठ ४२४।२४

बेचोह वेद धरमु बुहि लेहीं । पिसुन पराय पाप कहि बेहीं ॥
कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी । वेद विवूषक बिस्व विरोधी ॥
पारों में तिन्ह के गति घोरा । जौ जननी यहु संमत मोरा ॥^१

(तुलसीदास)

केशवदासजी के मत में तो वेद के निन्दक निस्सन्देह पाखंडी हैं—

सबा शुद्ध अति जानकी, निंदत यों खल जाल ।

जैसे श्रुतिहि सुभाव ही, पाखंडी सब काल ॥^२

वैदिक ज्ञान के समान ही इन काव्यों में विवध लौकिक विषाग्रों के प्रति भी पूर्ण श्रद्धा पाई जाती है क्योंकि उनकी प्राप्ति से मानव अनेक विपत्तियों और मोह-मद आदि दुर्गुणों से बच कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने में समर्थ होता है—

‘तुलसी’ साथी विपति के विद्या विनय बिबेक ।

साहस मुकुत सत्यव्रत, राम-भरोसो एक ॥^३

बरषाह जलब भूमि निभराएँ । जया नवाह बुध विद्या पाएँ ॥^४

कृषी निरावह चतुर किसान । जिमि बुध तजहि मोह मद नाना ॥^५

(तुलसीदास)

बला और अतिबला विद्याएँ तो ऐसी हैं जो शारीरिक श्रम तथा मानसिक भ्रम को नष्ट कर बुद्धि की रक्षा तथा प्रसन्नता का प्रसार करती हैं ।^६ कहीं-कहीं इन काव्यों में प्रसंगवश काव्यकला के सम्बन्ध में भी कुछ नीतियों का उल्लेख किया गया है; जैसे—कविता वही श्रेष्ठ है जो लोकहितकारिणी हो, सत्-कवि को भाव और भाषा दोनों पर ही दृष्टि केन्द्रित रखनी चाहिए, आदि—

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ॥^७

कविहि अरथ आखर बल साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा ॥^८

(तुलसीदास)

इन कवियों के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक विद्या का अधिकारी नहीं है । जैसे निरुक्तकार यास्काचार्य ने सुपात्र को ही विद्या-दान देने का निर्देश किया है ।^९

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३२२-२३

२. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३३, पद्य ३०

३. तुलसी सतसई, पृष्ठ २४१।४६

४, ५. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४५४, ४५५

६. रघुराजसिंह : संक्षिप्त रामस्वयंवर, पृष्ठ ५६

७, ८. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४४, ३६०

९. असूयकायानुजवे अयताय न माब्रूया दीर्यवती यथा स्याम् । (निरुक्त)
(बम्बई संस्कृत ऐण्ड प्राकृत सीरिज, १९१८ ई०) पृष्ठ १७५

वैसे ही इन काव्यों में भी पुष्पस्वरूपा रामकथा के अधिकारी भी बिरले ही जन कहे गये हैं—

रामकथा के ते अधिकारी । जिन्ह के सत्संगति प्रति प्यारी ॥

गुरु-पद-प्रीति नीतिरत जेई । द्विज सेवक अधिकारी तेई ॥^१

जो लोग शठ, हठी, लोभी, कामी, क्रोधी और नास्तिक हैं वे इस कथा के श्रवण के अनधिकारी हैं ।^२

आत्मिक नीति—रामकाव्य की आत्मिक नीति सन्तकाव्य के समान ही है परन्तु उसके प्रतिपादन की शैली विलक्षण है । माया, ममता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, राग, द्वेष आदि त्याज्य विकार हैं; परन्तु प्रायः उनके परित्याग की प्रत्यक्षतः प्रेरणा नहीं की गई; अज्ञाना से सुभाव मात्र दिया गया है । इसीलिए ऐसे स्थलों के अध्ययन से जो ऊँचता नहीं, अनायास प्रभावित होता चलता है । जैसे, तुलसीदास-कृत माया-कटक का वर्णन देखिए—

गुन कृत सन्निपात नहिं केही । कोउ न मान मद तजेउ निबेही ।

जोबन-ज्वर केहि नहिं बलकावा । ममता केहि कर जसु न नसावा ॥

बख्तर काहि कलंक न लावा । काहि न सोक समीर डोलावा ॥

धिन्ता-सोपिन को नहिं लाया । को जग जाहि न व्यापी माया ॥

कीट मनोरथ बास सरीरा । जेहि न लाग घुन को अस धीरा ॥

सुत बित लोक ईषना तीनी । केहि कं मति इन्ह कृत न मलीनी ॥

व्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचंड ।

सेनापति कामादि भट बंभ कपट पाखंड ॥^३

प्रायः नीतिकार परोपकार के उद्देश्य से कभी-कभी कपटमय आचरण की छूट दे देते हैं परन्तु यहाँ इसे भी निन्द्य कहा गया है—

विबुध काज बावन बलिहि छलो भलो जिय जानि ।

प्रभुता तजि बश भे तदपि मनतें गई न ग्लानि ॥^४ (तुलसीदास)

तृष्णा-रूपी नदी तो ऐसी विशाल और वेगवती है कि उसमें बड़े-बड़े लज्जावान्, धीर और सत्यवादी भी अनायास ही बह जाते हैं । केशवदास उसकी भयंकरता तथा दुस्तरता का वर्णन एक छन्द में इस प्रकार करते हैं—

कौन गनं यहि लोक तरीन विलोक विलोकि जहाजन बोरे ।

लाज विशाल लता लपटी तन धीरज सत्य तमालन तोरें ॥

१, २. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ६७८

३. रामचरित मानस, गुटका, उत्तर काण्ड, पृष्ठ ६३५

४. तुलसी सतसई, पृष्ठ २४२।५०

बंशकता अपमान प्रयास अनाप भुजंग भयावक कुलना ।

पाद बढ़ो कहुँ बाद न 'नेत्रव' क्यों तरि जाव तरबिनि तुलना ॥'

उक्त विकारों के परिहार का सबसे सुगम उपाय है श्रीराम की शरण में जाना और उनके नाम का जाप । अपने शरणागतों के रक्षार्थ जहाँ श्रीराम स्वयं सदा सम्पन्न रहते हैं, वहाँ कभी अपने किसी सेवक को भी भेज देते हैं । श्री लक्ष्मीनारायणदास पौहारी का अनुभव तो इस प्रकार का है—

काम कहै हमरो कहवाबहु, क्रोध कहै हमरो कह भाई ।

लोभ कहै हम मोल लियो, तहँवा रघुनाथ की दोन बोहाई ।

सूनि लियो महाराज धनी हनुमान बली कहँ दोन पठाई ।

लातन मारि के काँड़ि बियो अपने जन जानि के लोन्ह छोड़ाई ॥^१

रामकाव्य में धैर्य, शील, क्षमा, तप, कृपा, समता, शम, दम, परोपकार, विरक्ति, सन्तोष आदि पर विशेष बल दिया गया है । अन्य स्थलों की तो बात ही क्या, युद्ध के प्रसंग में भी गोस्वामीजी इनका महत्त्व प्रतिपादन करने से नहीं चूके । राम-रावण का संग्राम होने को था । रावण कवच आदि धारण कर और सुदृढ़ रथ पर आरुढ़ होकर रणभूमि में आया । श्रीराम के पास न रथ था न कवच । वे धनुष-बाण लेकर पदाति रूप में ही रावण के सम्मुख आ बटे । श्रीराम को साधन-विहीन देखकर चिन्तातुर विभीषण उनकी विजय में सन्देह करने लगा । तब श्रीराम उसके संशय को शान्त करते हुए बोले—इस संग्राम में विजयी होना तो सरल है; कठिन है संसार-रूपी रिपु पर विजय-प्राप्ति, जिसके साधन निम्नलिखित हैं—

सुनहु सखा कह कृपा निषाना । जेहि जय होइ सो स्थंदन आना ॥

सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील बुढ़ ध्वजा पताका ॥

बल विवेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रक्ष जोरे ॥

ईस भजनु सारथी सुजामा । विरति चर्म सन्तोष कृपाना ॥

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिग्यान कठिन कोवंडा ॥

अमल अचल मन औन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥

कवच अभेद विप्र गुर पूजा । एहि सम विजय उपाम न दूजा ॥^२

(तुलसीदास)

पिंड और ब्रह्मांड में शान्ति के अखंड साम्राज्य की स्थापना आर्य-संस्कृति का प्रधान लक्ष्य रहा है । यह भावना अनेक वैदिक मन्त्रों में ओत-प्रोत लक्षित होती है ।^३ 'बेराग्य

१. रामचंद्रिका, प्रकाश २४, पद्य २१

२. लक्ष्मीनारायणदास पौहारी : श्री भक्तिप्रकाशिका, पत्र २२; रामभक्ति में दक्षिण-संप्रदाय, पृष्ठ ४४८ पर उद्धृत ।

३. रामचरित मानस, गुटका लंकाकांड, पृष्ठ ५५५

४. देखें ऋग्वेद ७।३।१-१३ तथा यजुर्वेद ३६।८, १०-१२, १७

संदीपिनी” में गोस्वामी तुलसीदास ने इस दिव्य गुण की प्राप्ति के साधनों तथा महत्त्व का सविस्तर वर्णन किया है। उनके मतानुसार सात द्वीप, नव खण्ड, तीन लोक और समस्त ब्रह्मांड में शान्ति की तुलना कर सकने वाला कोई सुख नहीं है। सद्-गुरु की कृपा से जिस का मन शान्त हो जाता है उसके मन में क्रोध की जड़ जल जाती है, काम वासना विलीन हो जाती है और अहंकार की अग्नि शान्त हो जाती है। शान्ति को मानवीय आत्मा का परम भूषण बताते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

रैन को भूषन इंदु है, दिवस को भूषन भानु।

दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञान ॥

ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग।

त्याग को भूषन शान्तिपद, तुलसी श्रमल अदाग।^१

अनन्य प्रेम की सर्वोत्कृष्टता^२, कपटमय आचरण से प्रेम का नाश^३, प्रेम और वैर छिपाये नहीं छिपते^४, जिस से प्रेम हो जाए वही अच्छा लगता है^५, तेजस्वी व्यक्ति लघ्वाकार होने पर भी भयंकर होता है^६, क्रोध से क्षमा बलवती है^७, आदि विषयों पर सैंकड़ों सुन्दर सूक्तियाँ राम-काव्य में विकीर्ण लक्षित होती हैं, परन्तु प्रबन्ध का आकार उन्हें उद्धृत करने से वर्जित करता है।

परिवारिक नीति—हम ऊपर कह चुके हैं कि रामकाव्य में परिवारिक नीति पर विशेष बल दिया गया है। आशय यह कि इसमें पिता, माता, पुत्र, पति, पत्नी, भाई, बहिन आदि के कर्तव्यों का सविस्तर और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। ऐसा होते हुए भी हम पुनः यह स्मरण करा दें कि रामकाव्य भक्ति-काव्य है और अतएव उसका मुख्य उद्देश्य रामभक्ति का प्रचार है। इसलिए राम-काव्यों का परिशीलन करते समय जो तत्त्व बार-बार हमारे सम्मुख आ उपस्थित होते हैं, वे ये हैं कि पुत्र-कलत्र आदि के सम्बन्ध मायाजनित हैं, वास्तविक नहीं। जो लोग सुत, स्त्री, सम्पत्ति, सदन आदि में ममता रखते हैं, वे नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं। गुराी पुत्र, सुरूप नारी और विपुल श्री का स्वामी होता हुआ भी मानव रामभक्ति के बिना कौड़ी काम का नहीं। सभी सम्बन्धी स्वार्थी हैं और स्वार्थसिद्धि के पश्चात् किनारा कर जाते हैं; अतः जो व्यक्ति इनका परित्याग नहीं करता वह वस्तुतः पामर और अविवेकी है। आगे बढ़ने से पूर्व उक्त

१. तुलसी प्रथावली, खंड २, वैराग्य संदीपिनी, पृष्ठ १२।४३-४४

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३४१

३. तुलसी सूक्तिमुधा, पृष्ठ ३६६।१०

४. रामचरित गानस, गुटका. पृष्ठ ३३५, ३७१

५. तुलसी सूक्तिमुधा, पृष्ठ ३६८।५

६. तुलसी सूक्तिमुधा, पृष्ठ ४००।१३-१५

७. तुलसी सतसई, पृष्ठ २६६।१२

कथन के समर्थन में कुछ उद्धरण प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा—

(क) नारी सेती नेह लगायो । कबहुं हिरदै राम नहिं आयो ॥

बँधे काल कीयो चौरंगा । सुत बेटी नार कोइ नहिं संगी ॥ (स्वामी रामानन्द)

(ख) सुत-बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सब ही ते ।

अंतहु तोहिं तजंगे पामर, तू न तजं अब ही ते ॥^१

(तुलसीदास)

(ग) सुख सम्पति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहुँ सेवकाई ॥

ए सब राम भगति के बाधक । कहहिं संत तब पद अवराधक ॥

सत्र मित्र सुख दुख जग माहीं । माया-कृत परमारथ नाहीं ॥^३

(तुलसीदास)

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि तात्त्विक दृष्टि से रामकाव्य की पारिवारिक नीति सन्तकाव्य के सदृश ही है । परन्तु इसकी विलक्षणता है इस का द्वितीय पक्ष, जिस का संतकाव्य में प्रायः अभाव है । रामकाव्य परमार्थ की दृष्टि से उपर्युक्त सम्बन्धों को मिथ्या मानता हुआ भी व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें सत्य मानता है और पारिवारिक कर्तव्यों के सम्यक् पालन पर इतना अधिक बल देता है कि पाठक संशय में पड़ जाता है । वह सहज ही निश्चय नहीं कर सकता है कि कौन-सा मत स्वीकार्य है और कौन-सा परिहार्य । परन्तु यत्र-तत्र विकीर्ण परस्पर विरोधी-सी उक्तियों पर गम्भीर विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि जो सगे-सम्बन्धी राम-भक्ति में बाधक हों, वे तो अनिष्ट होते हुए भी, त्याज्य हैं और जो रामभक्ति में सहायक हों, वे सुसेव्य—

जाके प्रिय न राम-धंदेही ।

तजिये ताहि कोटि बेरी सम, जछपि परम सनेही ॥

तज्यौ पिता प्रह्लाद बिभीषन बन्धु भरत महतारी ॥

बलि गुरु तज्यौ कंत ब्रजबनितन्हि, मये मुदभंगलकारी ॥

‘तुलसी’ सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो ॥

जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो ॥^४

रामकाव्य में प्रायः निम्नलिखित पारिवारिक जनों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है—

(क) पिता

(ख) माता

१. पीतांबरदत्त बड़वाल : रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, ग्याम शीला, पृष्ठ ६

२. विनयपत्रिका, पृष्ठ ३१६

३. रामचरित मानस, गुटका, किष्किन्धा कांड, पृष्ठ ४५०

४. विनय पत्रिका, पृष्ठ २८२-८३

(ग) पुत्र (घ) पुत्री

(ङ) पति

(च) पत्नी (छ) बहू (ज) सास-ससुर

(झ) भाई

(क) पिता—पिता का सन्तान के प्रति सहज स्नेह होता ही है, परन्तु उलझन तब आ उपस्थित होती है जब सन्तान एक से अधिक हो। गुण-कर्म-स्वभाव के भेद के कारण पिता सब बच्चों से समान स्नेह नहीं रख सकता। कोई योग्यता, कोई रूप और कोई अन्य गुणों के कारण पिता का प्रिय, प्रियतर या प्रियतम बन जाता है। तुलसीदासजी का इस विषय में मत यह है कि जो अनन्य भाव से पिता की सेवा करता है, वही पिता का सबसे प्रिय पुत्र हो जाता है, गुणी, धर्मशील, धनी, शूरवीर आदि पीछे रह जाते हैं—

एक पिता के विपुल कुमारा । होंहि पृथक् गुन सील अचारा ॥

कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता । कोउ धनवंत सूर कोउ दाता ॥

कोऊ सर्वज्ञ धरमरत कोई । सब पर प्रीति पितहि सम होई ॥

कोऊ पितु-भगत बचन-मन-करमा । सपनेहुँ जान न दूसर धरमा ॥

सो सुत प्रिय पितु-प्राप्त-समाना । जखपि सो सब भीति अमाना ॥^१

प्राचीन काल से प्रायः यह प्रथा प्रचलित रही है कि जिन देशों में राजा बंशा-नुक्रम से होते आए हैं, वहाँ पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी नियत करता आया है। परन्तु यह नियम निरपवाद नहीं रहा। यदि पिता की सम्मति में ज्येष्ठ पुत्र अयोग्य, कुलक्षणा आदि होता था तो वह किसी छोटे पुत्रादि को भी राज्य दे सकता था। रामकाव्य में पिता का यह अधिकार सुरक्षित दिखाई देता है। दशरथ के देहान्त के बाद जब भरत केकय देश से अयोध्या में लौटे तब गुरु वसिष्ठ ने उन्हें इन शब्दों में शासन सँभालने की प्रेरणा की—

अवसि नरेस बचन फुर करहू । पालहु प्रजा सोकु परिहरहू ।

वेद विहित संमत सब ही का । जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥^२

(तुलसीदास)

इसी भाव को मुनिवर भरद्वाज ने भी प्रयाग में भरत के सम्मुख व्यक्त किया था।^३

गार्हस्थ्य की सफलता पुत्रवत्ता में निहित है। पुत्री तो सचमुच ही पराया धन है। इसीलिए हमारे यहाँ 'पुत्रहीनं गृहं शून्यम्' अर्थात् 'सुत बिन सूना सद्म' की लोकोक्ति प्रचलित हो गई है। परन्तु सभी गृहस्थ समान रूप से सौभाग्यशाली

१. रामचरित मानस, गुटका, उत्तरकांड, पृष्ठ ६४५

२. रामचरित मानस, गुटका, अयोध्याकांड, पृष्ठ ३२६

३. रामचरित मानस, गुटका, अयोध्याकांड, पृष्ठ ३४२

नहीं होते। निस्सन्तानों की अपेक्षा तो निस्सन्देह वे अच्छे ही हैं जिन्हें पुत्री के मुखदर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है। ऐसे अल्पभाग्य लोग सुशील जामाता के दर्शन से ही कुछ सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। इस नीति का उल्लेख सूरकिशोर ने निम्नलिखित सबैयों में किया है—

निबही तिहुं लोक में 'सूर किशोर' बिजै रम में निमि के कुल की।
जस जाइ रह्यो सत बीष लुकान कया कमनीय रसातल की।
मियिला बसि राम सहाय बहै तो उपासक कौन कहें मल की।
जिन के कुल बीच सपूत नहीं करें आस बसावन के बल की ॥^१

(ख) माता—भारतीय विचार-धारा के अनुसार माता को पिता से श्रेष्ठ माना गया है। प्राचीन आर्य विविध गुणों के आधार पर भगवान् को माता, पिता, बन्धु, सखा कह कर प्रार्थनाएँ करते थे। परन्तु सर्वप्रथम स्थान माता को दिया जाता था—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।^२

मनु महाराज के मत में आचार्य का गौरव दस अध्यापकों से, पिता का सौ आचार्यों से और माता का सहस्र पिताओं से अधिक होता है—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥^३

कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरणात्मक प्रथम पद्य में जगत् के जनकों की वन्दना की है। ध्यान देने की बात यह है कि उस पद्य में उन्होंने पहले पार्वती का स्मरण किया है, पश्चात् परमेश्वर (शिव) का—

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥^४

इसी प्राचीन परंपरा के अनुसार रामकाव्य में भी माता को पिता से उच्च पदवी दी गई है। जब श्रीराम वन को प्रस्थान करने के पूर्व माता कौशल्या की अनुमति लेने जाते हैं तब वे कहती हैं कि यदि आदेश केवल पिता का है तब तो उसकी उपेक्षा भी सम्भव है परन्तु यदि आज्ञा माता (कैकेयी) की भी है तो तुम्हें जाना ही चाहिए—

१. मिथिला माहात्म्य, छन्द ६; रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृष्ठ ४०१

२. अर्थ—हे भगवन्, तू ही माता है और तू ही पिता, तू ही बन्धु है और तू ही सखा। (सं० अच्युतानन्द : ध्यास्थानमाला, लाहौर, १६२७ ई०) पृष्ठ ४३६

३. मनुस्मृति, अध्याय २।१३८

४. रघुवंश, १।१

जो केवल पितृ आयसु ताता । तो जनि जाहु जानि बड़ी माता ॥
जो पितृ मातृ कहेउ बन जाना । तो कानन सत प्रबध समाना ॥^१

(तुलसीदास)

प्रश्न होता है कि जहाँ माताएँ एक से अधिक हों, वहाँ कौन सी माता पूज्यतर होगी—सगी या सौतेली ? रामकाव्य इस प्रश्न का उत्तर श्रीराम के आचरण द्वारा प्रस्तुत करता है। जब भरत माताओं के साथ चित्रकूट पहुँचे तब श्रीराम ने प्रथम कैंकेयी की ही चरणवन्दना की, बाद में अन्य माताओं की—

प्रथम राम भेंटी कैंकेई । सरल सुभाय भगति मति मेई ।
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी । काल करम विधि सिर धरि खोरी ॥^२

(तुलसीदास)

इसी प्रकार जब वे वनवास से लौटे तब भी सबसे पूर्व कैंकेयी को ही मिलने को गये—

प्रभु जानि कैंकेई लजानी । प्रथम तासु गृह गये भवानी ॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा । पुनि निज भवन गमन हरि कीन्हा ॥^३

[तुलसीदास]

(ग) पुत्र—सन्तान के सम्बन्ध में रामकाव्य की प्रथम नीति यह है कि—जैसे बहुत बोलना, बहुत कामनाएँ और बहुत आचार-व्यवहार दुःख के कारण होते हैं वैसे ही बहुत सन्तान भी। अधिक सन्तान से जैसे उनके सम्यक् पालन-पोषण में कठिनाई का होना स्वाभाविक है, वैसे ही उनमें पारस्परिक कलह-क्लेश की सम्भावना भी बढ़ जाती है। इसीलिए कहा है—

बहु सुत बहु रुचि बहु वचन, बहु अचार व्यवहार ।
इनको भलो मनाइबो, यह अज्ञान अपार ॥^४ (तुलसीदास)

सन्तान का अधिक या न्यून होना तो दैव और जनकों के अधीन है परन्तु माता-पिता के प्रति कर्तव्यों का पालन सन्तान के अधीन। रामकाव्य की नीति के अनुसार पुत्र का सर्वोत्तम धर्म माता-पिता की आज्ञा का अनुवर्तन है। जो पुत्र इस धर्म का सर्वात्मना पालन करता है, उसी का जन्म धन्य है। जब कैंकेयी से श्रीराम को दशरथ की मूर्छा का कारण विदित हो गया तब वे बोले—

१. रामचरितमानस, गुटका, अयोध्याकांड, पृष्ठ २६५
२. रामचरित मानस, गुटका, अयोध्या कांड, पृष्ठ ३६१
३. रामचरित मानस, गुटका, उत्तर कांड, पृष्ठ ५९९
४. तुलसी सतसई, पृष्ठ २३६।३४

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी । जो पितृ मातृ बचन अनुरागी ॥
तनय मातृ पितृ तोषनिहारा । दुर्लभ जननी सकल संसारा ॥^१

(तुलसीदास)

वन को प्रस्थान के समय विह्वल पिता को सान्त्वना देने के लिए उन्होंने अपने भाग्य की श्लाघा इन शब्दों में की—

धन्य जनमु जगती-तल तासू । पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ।
चारि पदारथ करतल ताके । प्रिय पितृ मातृ प्रान सम जाके ॥^२

(तुलसीदास)

इसी प्रसंग में केशवदास ने भी श्रीराम के मुख से ऐसे ही शब्द कहलाए हैं । जब राम ने अपने वनवास की सूचना कौशल्या को दी तो वे बिगड़ कर बोलीं— तुम्हारे पिता बुढ़ापे के कारण बावले हो गये हैं, उनकी आज्ञा का पालन करते हुए तुम्हारा वन को प्रस्थान अनुचित है । इस पर पितृभक्त राम ने कहा कि जो सेवक, सुत और छात्र स्वामी, पिता और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह करोड़ों जन्म नरक-दुःख भोगता है—

अन्न वेइ सीख वेइ राखि लेइ प्राण जात ।
राज बाप मोल लं करै जु पोषि दीह गात ॥
दास होय पुत्र होय शिष्य होय कोइ माइ ।
सासना न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ ॥^३

इन काव्यों में पिता के शत्रु से प्रतिशोध लेने को नीति-सम्मत कहा गया है और जो पुत्र इस कर्तव्य को पूर्ण करने में असमर्थ रहता है, उसे मृतक-तुल्य माना गया है । भेद-नीति का आश्रय लेता हुआ रावण अंगद को श्रीराम के विरुद्ध उत्तेजित करते हुए कहता है—

जो सुत अपने बाप की, बंर न लेइ प्रकास ।

तासों जीवत ही मर्यौ, लोग कहैं तजि आस ॥^४

आज्ञा-पालक पुत्र का और सेवाभावना से ओतप्रोत होना ही पर्याप्त नहीं है उसका चरित्रवान् तथा रामभक्त होना भी आवश्यक बताया गया है । जो पुत्र चरित्र और रामभक्ति से रहित है, वह तो माता के यौवन-रूप वन के लिए कुठार-मात्र है, आकार से चाहे वह मानव क्यों न हो । जब निषादपति गुह ने भरत को ससैन्य आते देखा तब सशंक होकर उनसे युद्ध करने की तैयारी करता हुआ बोला—

१. रामचरित मानस, गुटका, अयोध्या कांड, पृष्ठ २५८

२. रामचरित मानस, गुटका, अयोध्या कांड, पृष्ठ २६०

३. केशवदास : रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, पद्य ६

४. केशवदास : रामचन्द्रिका, प्रकाश १६, पद्य १६

साधु स्याज ब जाकर कैला । राम भगत भहुं जासु न रेखा ॥
 जाय बिभ्रत जग सो महि भाऊ । जननी जीवन बिटप कुठारु ॥^१

(तुलसीदास)

जब लक्ष्मण भी राम के साथ ही वनवास को उद्यत हो गये तब सुमित्रा ने भी रामभक्त पुत्र की ही प्रशंसा की—

पुत्रवती जुवती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
 नतर बाँझ भलि बाढ़ि बियानी । राम बिमुख सुत तैं हित जानी ॥^२

(तुलसीदास)

जहाँ सुपुत्र उपर्युक्त गुणों से युक्त होने के कारण अपने कुल का नाम उज्ज्वल करता है वहाँ कुपुत्र अपने दोष-दुर्गुणों से कुल-धर्मों को नष्ट-भ्रष्ट कर कुल को कलंकित कर देता है । जब किष्किन्धा में, वर्षा ऋतु में, श्रीराम वायुवेग से मेघों को छिन्न-भिन्न होते देखते हैं तब उन्हें उक्त नीति सहज ही स्मरण आ जाती है—

कबहुं प्रबल वह मास्त, जहं तहं मेघ बिलाहि ।

जिमि कपूत के ऊपजे, कुल सद्धर्म नसाहि ॥^३ (तुलसीदास)

“तुलसीसतसई” में उन लोगों की गिनती भी कुपुत्र में की गई है जो बाहर अपमान करने वालों का तो कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते परन्तु उसका बदला घर के निर्बल सम्बन्धियों से लेते हैं—

फोरहि भूरख सिल सबन, लागे उडुक पहार ।

कायर कूर कपूत कलि, घर घर सरिस उहार ॥^४

(घ) पुत्री—रामकाव्य में पुत्री-सम्बन्धी नीति का उल्लेख कदाचित्-कदाचित् ही दिखाई देता है । वर्तमान काल के समान उन दिनों भी विवाह के अवसर पर माता-पिता और सखियाँ उसे कुछ उपयोगी बातों की शिक्षा दिया करती थीं, जिससे सुसराल में उसका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो । जब जानकी मायके से विदा होने लगीं तब माता ने उन्हें निम्नलिखित शब्दों में आशीर्वाद और शिक्षा दी—

होएहु संतत पियॉह पियारी । चिर अहिबात असीस हमारी ॥

सासु ससुर गुर सेवा करेहु । पति दख लख आयसु अनुसरेहु ॥^५

(तुलसीदास)

१. रामचरित मानस, गुटका, अयोध्या कांड, पृष्ठ ३३४

२. रामचरित मानस, गुटका, अयोध्या कांड, पृष्ठ २७५

३. रामचरित मानस गुटका, किष्किन्धा कांड, पृष्ठ ४५५

४. तुलसी सतसई, पृष्ठ २७०।१२३

५. रामचरित मानस, गुटका, बालकांड, पृष्ठ २२०

माता ने तो उन्हें सास, ससुर और गुह की सेवा तथा पति के आज्ञापालन की शिक्षा दी परन्तु सखियों ने नारी-धर्म और पिता ने कुल-धर्म के भी उपदेश दिये ।^१ गोस्वामीजी ने तो सखियों और पिता के उपदेशों का संकेत-मात्र कर दिया है परन्तु महाराज रघुराजसिंह ने कुछ विवरण भी दिया है—

जस तसके बरि बीरज राजा । बोस्यो विलसत भंद अबाबा ॥

कीन्ह्यो सासु ससुर सेबकाई । पतिव्रत बर्म कबहुं नहिं जाई ॥

करिहुं मोसे अधिक दुलारा । जानि-सिरोमनि ससुर तिहारा ॥^२

धीता के साथ ही उसकी तीन चचेरी बहिनें भी भरतादि से व्याही गई थीं । जब एकाधिक बहिनें संयोगवश एक ही परिवार में व्याही जाती हैं और जेठानी-देवरानी बन जाती हैं तब अनेक बार उन में सहज ही ईर्ष्या आदि उत्पन्न हो जाती है । उससे बचाव के लिए “रामस्वयंवर” में उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया गया है—

चारिहु भगिनि मिली रहियो, नित कबहुं न होय विरोध ।

सब सासुन को मान राखियो, किह्यो न कबहुं क्रोध ॥

पर दुख दुखी सुखी पर सुख सौं, सब सौं हंसि मुख भाख्यो ।

अथाजोग सत्कार सबन कौ करि सनेह सुठि राख्यो ॥^३

(रघुराजसिंह)

मानव-प्रकृत से अनभिज्ञ कई लोग इस बात की कामना किया करते हैं कि जब कन्या पितृकुल से पतिकुल में जा पहुँचे तब उसे पितृकुल का मोह एकदम त्याग देना चाहिए । ऐसे लोग बल-पूर्वक उसे मायके जाने से रोकते रहते हैं । इस अप्राकृतिक नीति के कई कट्टु पारिणाम भी समाज में देखे जाते हैं । अतः इस अनुचित व्यवहार से वज्रित करने के लिए सूरकिशोरजी कहते हैं कि पुत्री को सुसराल में कितने ही सुख क्यों न मिलें वह पिता के घर को सर्वथा विस्मृत नहीं कर सकती—

उभे कुलबीष सिखामनि जानकी लोक रु बेद की मेड़ न मेटी ।

भरी सुख संपति औषपुरी रजधानि सब लछना सो लपेटी ।

करें मिथिला धित ‘सूरकिशोर’ सनेह की बात न जातलमेटी ।

कोटिन सुख्खु जो होइ ससुरारि तो बाप को भीन न भूलति बेटी ॥^४

(क) पति—गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता दम्पती के अनन्य प्रणय पर अवलंबित है । जहाँ पति-पत्नी में से एक भी अपने जीवन-सहचर से विश्वासघात कर किसी अन्य को अपने प्रेम का पात्र बनाता है, वहीं गार्हस्थ्य-भवन की नींव क्षिप्त हो जाती है

१. रामचरित मानस, गुटका, बालकांड, पृष्ठ २२०-२२२

२. संक्षिप्त राम स्वयंवर, पृष्ठ १८५

३. संक्षिप्त राम स्वयंवर, पृष्ठ १८१

४. सूरकिशोर : मिथिला दिलास, पृष्ठ १६ : रामभक्ति में रसिक सत्प्रदाय, पृष्ठ ४०१

और धरेलू जीवन के सुख नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए रामकाव्यों में पतिव्रत और पत्नीव्रत दोनों के ही पालन का विशेष आग्रह किया गया है। मिथला की पुष्पवाटिका में सीताजी को देखकर जब श्रीराम के मन में विक्षोभ उत्पन्न होता है तब वे रघुवंशियों के चित्त की निर्मलता का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं—

रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनकुपंथ पगु धरइ न काऊ ॥

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी ॥

जिन्ह कैं लहहि न रिपु रन पीठी । नहि पाबहि परतिय मन बीठी ॥

मंगन लहहि न जिन्ह कैं नाहीं । ते नरवर थोरे जग माहीं ॥^१

(तुलसीदास)

गोस्वामीजी की उक्त चौपाइयों के ही आधार पर महाराज रघुराजसिंह ने उसी प्रसंग में निम्नांकित सवैया की रचना की—

जँवो न लायक लाल उतँ पर बारन के विच धर्म विचारो ।

आये इतँ मुनिशासन लँ नहि जानी रही मरजाव हमारी ॥

रीति है धर्म धुरीनन की रघुवंसिन की जग जाहिर भारी ।

पीठि परँ नहि संगर में नहि दीठि परँ स्वपन्यो परनारी ॥^२

उक्त परिस्थिति से भी अधिक मोहक परिस्थिति वह थी जब राक्षस-राजकुमारी शूर्पणखा ने एकान्त वन में राम या लक्ष्मण का वरण करने की कामना प्रकट की। हर्ष और गौरव का विषय है कि दोनों रघुवंशी राजकुमारों ने उस विकट परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक-पत्नीव्रत की ध्वजा फहरा दी। श्रीराम ने तो सीता की ओर संकेत कर शूर्पणखा के पाणिग्रहण का प्रतिषेध कर दिया और लक्ष्मण कहने लगे कि जब से तूने राम को वरने की इच्छा प्रकट की तब से तू मेरे लिए मातृतुल्य हो गई। कवि हृदयराम ने लक्ष्मण के उदात्त भावों को निम्नांकित सवैया में व्यक्त किया है—

तोहि कहीं सुन बात निशाचरि तू जननी मेरी है तब ही ते ।

काम को भाव धरँ मन में रघुवीर के तीर गई जब ही ते ।

कँ अब जाहि तहि प्रभु पँ चल आस तजी हमरी अब ही ते ।

जो चल पूरब की तटनी नटनी उलटी न वही कब ही ते ॥^३

केशवदासजी ने भी श्रीरामचन्द्र के विवाह के अवसर पर जेवनार के प्रसंग में नारियों द्वारा श्रीराम को प्रथा के अनुसार जो गालियाँ दिलवाई हैं, उनमें दशरथ पर परस्त्री (वस्तुतः भूमि) के अभिगमन का कलंक लगाया गया है।^४ वैसे तो परनारी

१. रामचरित मानस, गुटका, बालकांड, पृष्ठ १६२

२. संक्षिप्त राम स्वयंवर, पृष्ठ ६८।५४७

३. हृदयराम : हनुमन्नाटक, पृष्ठ ४५।७६

४. केशवदास : रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, पद्य ३०

सर्वथा परिहार्य है ही परन्तु अनुज-वधू, बहिन तथा पुत्रवधू तो पुत्री-तुल्य ही कही गई हैं । जब आहत बालि ने श्रीराम पर, निरपराध व्यक्ति पर प्रहार करने का दोषारोपण किया, तब श्रीरामचन्द्रजी ने अपने कृत्य का समर्थन यह कह कर किया कि अनुज की आर्या से व्यभिचार करने वाले व्यक्ति के वध में कोई पाप नहीं—

अनुज बधू भगिनी सुत-नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥

इनहि कुदृष्टि बिलोकत जोई । ताहि बधे कछु पाप न होई ॥^१

(तुलसीदास)

रामकाव्यों के अनुसार नारी काम-क्रीड़ा का कन्दुक-मात्र नहीं है, सन्तान के लिए ही उपगम्य है । केवल विषय-रस के आस्वादन के लिए रमाविलास करना तो कुत्ते के समान वमन-भक्षण करना है—

रमा-विलास राम-अनुरागी । तजत वमन इव जन बड़भागी ॥^२

(तुलसीदास)

धर्म करत अति अर्थ बढ़ायत । संतति हित रति कोविद भावत ॥

संतति उपजत ही निसि वासर । साधत तन मन मुक्ति महीधर ॥^३

(केशवदास)

संयममय जीवन की प्रशंसा के साथ-साथ रामकाव्य में पत्नी को सुखी रखने तथा उसकी रक्षा करने को परम कर्तव्य कहा गया है । श्रीराम ने एक भी बार तो सीताजी से कहीं यह नहीं कहा कि तुम्हारे बिना मेरी वनवास की अवधि सुख से न कट सकेगी, इसलिए तुम्हें मेरे साथ चलना ही चाहिए । इसके विपरीत पति को सुखी रखने के लिए जब सीताजी ने साथ जाने का आग्रह किया तब श्रीराम ने उसे वन के विविध विकट दुःखों का परिचय देते हुए घर में ही सुख-पूर्वक समय व्यतीत करने की प्रेरणा की । जो पति पत्नी को कष्ट में देख कर भी निश्चिन्त रहता है, उसके उद्धार के लिए भ्रमरसक उद्योग नहीं करता, वह नीति की मर्यादा का भंजक है । जब श्रीराम की प्रेरणा से हनुमान् लंका में पहुँच कर सीताजी को ढूँढ लेता है तब सीताजी हनुमान् के द्वारा श्रीराम को यह सन्देश भेजती हैं—

यह तो अंध बीसहूँ लोचन, छल बल करत आनि मुख हेरी ।

आइ सुगल सिंह-बलि चाहत, यह मरजाब जाति प्रभु तेरी ॥^४

(सूरदास)

१. रामचरित मानस, गुटका, किष्किन्धा काण्ड. पृ० ४५२

२. तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३६७

३. रामचन्द्रिका, प्रकाश १८, पद्य ८

४. सूर : रामचरितावली, पृ० १०१

पति का कर्तव्य है कि जिस नारी का परिग्रहण करे, उसे यावज्जीवन साथ रखे, कभी परित्याग न करे क्योंकि एक तो उसके परित्याग से पति पापी हो जाता है और दूसरे उसके बिना किये हुए धर्म-कार्य सफल नहीं माने जाते। परन्तु श्रीराम के जीवन में ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि उन्हें प्रजा में मर्यादा की रक्षा के लिए पत्नी का परित्याग करना ही पड़ा। निस्सन्देह उन्होंने अपने तथा पत्नी के सुखों की उपेक्षा कर सीता जी को निर्वासित तो कर दिया परन्तु अनीति का भार उनके हृदय को कुचलने लगा। इसी बोझ से बचने के लिए उन्होंने वंदेही के बिना भी अश्वमेध यज्ञ करने की ठानी—

सीय-त्याग पाप ते हिये सुहो महा डरौ ।

और एक अश्वमेध जानकी बिना करौ ॥' (केशवदास)

परन्तु पत्नी के बिना धर्मकर्म निष्फल होते हैं इसलिए कश्यप ऋषि ने उन्हें एक सुवर्णमयी सीता-प्रतिमा बनवाने की आज्ञा दी—

धर्म कर्म कछु कीजई, सफल तरुणि के साथ ॥

ता बिन जो कछु कीजई, निष्फल सोई नाथ ॥

करिये युत भूषण रूपरयो । मिथिलेश सुता इक स्वर्ण मयो ॥' (केशवदास)

वस्तुतः पारिवारिक जीवन की सफलता पति और पत्नी के पूर्ण सहयोग पर निर्भर है। केशवदास के मत में तो पत्नी के बिना पति का और पति के बिना पत्नी का जीवन ऐसा ही नीरस और श्रीविहीन है जैसा रात्रि और चन्द्र का एक दूसरे के बिना—

पतिनी पति बिनु दीन अति, पति पतिनी बिनु मंद ।

चंद बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिन जामिन चंद ॥^१

(ब) पत्नी—पत्नी-सम्बन्धी नीति दो भागों में विभाज्य है—

(१) सधवा-सम्बन्धी नीति

(२) विधवा-सम्बन्धी नीति

१—सधवा-सम्बन्धी नीति—रामकाव्यों में जितना बल पति के पत्नीव्रत पर दिया गया है, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक बल पातिव्रत पर लक्षित होता है। इसका कारण प्राचीन परम्परा तथा अधिकतर कृतियों का पुरुष-कृत होना है। मन-वचन-कर्म से जैसे-तैसे भी पति का ध्यान करना और सब प्रकार की सेवा से उसे प्रसन्न रखना ही पातिव्रत है। जो सधवा इन कर्तव्यों का भलीभाँति पालन करती है, वह पतिव्रता

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३५, पद्य २

२. वही, प्रकाश ३५, पद्य ३-४

३. रामचन्द्रिका, प्रकाश १३, पद्य १०

है। स्त्री के लिए पातिव्रत के पालन से श्रेष्ठ कोई कर्त्तव्य नहीं है। इस पर आचरण से स्त्री सहज ही परमगति प्राप्त कर लेती है। उसे अन्य जप, तप आदि कर्त्तव्यों के पालन की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु जो नारी इस कर्त्तव्य की उपेक्षा करती है, वह यौवन में वैधव्य के दुःखों और शत कल्प पर्यन्त रौरव नरक के कष्टों की भागिनी बनती है। अत्रि-पत्नी अनसूया सीताजी को स्त्री के कर्त्तव्यों का उपदेश इन शब्दों में देती हैं—

मातु पिता भ्राता हितकारी । मित प्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्ता बयदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥
धीरज धरम मित्र अरु नारी । आपद काल परिक्षिर्नाहि चारी ॥
वृद्ध, रोग-बस जुड़ घन हीना । अन्ध बधिर क्रोधो अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाणा । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
बिनु अम नारि परम गति लहई । पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥
पति प्रतिकूल जनम जहें जाई । विधवा होइ पाइ तरनाई ॥^१

(तुलसीदास)

केशव ने भी पातिव्रत पर अत्यधिक बल दिया है परन्तु एक अन्य प्रसंग में। जब वन-गमन के लिए उद्यत श्रीराम कौशल्या से अनुमति माँगने गये, तब ममता-वश कौशल्या भी साथ ही जाने को उद्यत हो गईं। उस समय श्रीराम ने कौशल्या से कहा कि स्त्री के सर्व सुख उसके पति में निहित हैं; पति के बिना उसके लिए माता, पिता, भाई, देवर, जेठ, पुत्र, पाँत्र, कोई भी सुखप्रद नहीं होता^२। इसलिए पति कंसा भी क्यों न हो, उसका साथ छोड़ना पत्नी के लिए उचित नहीं—

नारी तजै न आपनो सपनेहु भरतार ।
पंगु गुंग बौरा बधिर अंध अनाथ अपार ॥
अंध अनाथ अपार वृद्ध बावन अतिरोगी ।
बालक पंडु कुरूप सदा कुवचन जड़ जोगी ॥
कलही कोढ़ी भीरु चोर ज्वारी व्यभिचारी ।
अधम अभागी कुटिल कुमति पति तजै न नारी ॥^३

(केशवदास)

वस्तुतः पतिव्रता के सब आमोद-प्रमोद पति पर ही अवलंबित हैं, और पति के बिना उसके लिए सब सांसारिक सुख दुःख-रूप बन जाते हैं। जब वनवास के दुःखों का वर्णन कर श्रीराम ने सीता को साथ चलने से रोका तब पतिव्रता सीता बोलीं—

जहें लगि नाथ नेहु अरु नाते । पिय बिन तिवहि तरनिहु ताते ॥

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४०६-१०

२. रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, पद्य १५

३. रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, पद्य १६

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू । पति विहीन सब सोफ समाजू ॥
जिय बिनु देह नबी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥^१

(तुलसीदास)

पत्नीव्रती पुरुषों का वर्गीकरण तो रामकाव्य में, हमारे देखने में नहीं आया, परन्तु गोस्वामीजी ने अनसूया-सीता-संवाद के प्रसंग में चतुर्विध पतिव्रताओं का उल्लेख किया है—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम । उत्तम पतिव्रता को तो स्वप्न में भी पर पुरुष दिखाई नहीं देता; उसके लिए पति के बिना समग्र संगार स्त्री-रूप होता है । मध्यम पतिव्रता की दृष्टि में जगत् में अन्य-पुरुष होते तो हैं परन्तु वे उसे अपने पिता, पुत्र या भाई के समान दिखाई देते हैं । निकृष्ट पतिव्रता धर्म और कुल की मर्यादा के विचार से धर्मच्युत होने से बची रहती है । जो नारी अवसर न मिलने अथवा भय के कारण भ्रष्ट होने से बची रहती है, वह अधम पतिव्रता है^२ । वस्तुतः देखा जाए तो उत्तम और मध्यम पतिव्रता ही प्रशंसनीय हैं, शेष दो तो मानस व्यभिचार में लिप्त होने के कारण गर्ह्य ही हैं । तथापि शरीर से दूषित न होने के कारण, गोस्वामीजी ने इन्हें पतिवंचक और परपति-रत नारियों से ऊँचा पद दे दिया है और उनकी गणना पतिव्रताओं में कर दी है ।

(२) विधवा-सम्बन्धी-नीति—पत्नी के कर्तव्य पति के जीवनकाल में ही समाप्त नहीं हो जाते । चिरकाल से भारत में सती-प्रथा प्रचलित थी । चंदबरदाई ने भी स्त्री के स्नेह की जो स्तुति की है, उसमें सती-प्रथा की भी प्रशंसा निहित है—

पूरन सकल बिलास रस, सरस पुत्र फल दान ।

अन्त होइ सहगामिनी, नेह नारि को मान ॥^३

रामकाव्य में भी पति के साथ ही सती होने को साध्वी का कर्तव्य कहा गया है—

नारि न तजहि मरे भरतारहि । ता संग सहाहि धनंजय भारहि ॥^४

परन्तु सभी अवस्थाओं में पत्नी का पति के साथ सती होना कर्तव्य नहीं कहा जा सकता । गर्भवती अथवा अबोध शिशुओं की माता का सहगामिनी होना स्तुत्य नहीं । इसलिए जहाँ नारी को वैधव्य का जीवन व्यतीत करना ही पड़े, वहाँ भी उसके विशेष कर्तव्य होते हैं । केशवदास विधवा नारी के लिए सुखमय जीवन का निषेध तथा तपो-मय जीवन का विधान इस प्रकार करते हैं—

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २७०

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४०६

३. कविता कौमुदी, भाग, १, पृष्ठ १२६

४. रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, पद्य १७

गान बिन मान बिन हास बिन जीवहीं ।
 तप्त नहिं खाय जल सीत नहिं पीवहीं ॥
 तेल तजि खेल तजि खाट तजि सोवहीं ।
 सीत जल न्हाय नहिं उठण जल जोवहीं ॥
 खाय मधुरान्न नहिं पाय पनहीं धरें ।
 काय मन वाच सब धर्म करिबो करें ॥
 कृच्छ्र उपवास सब इन्द्रियन जीतहीं ।
 पुत्र सोख लीन तन जो लगि अतीतहीं ॥^१

(छ) बहू—रामकाव्य में बहू के लिए सास और ससुर की सेवा पर भी बहुत बल लक्षित होता है। पुरुष के लिए तो सास-ससुर की सेवा के विधान की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि पुरुष तो विवाह के पश्चात् अपने माता-पिता के पास रहता है, सास-ससुर के पास नहीं। जिस घर में सास-बहू की नहीं बनती, उसमें कलह-क्लेशों का अविच्छिन्न शासन बना रहता है। उस विषम परिस्थिति से बचने के लिए जहाँ बहू को सास-ससुर की सेवा करने की प्रेरणा की गई है, वहाँ सास-ससुर को भी बहू से स्नेह करने की। सीता को अयोध्या में ही रहने की प्रेरणा करते हुए राम कहते हैं—

आयसु मोर सास सेवकाई । सब विधि भामिनि भवन भलाई ।

एहि ते अधिक धरसु नहिं दूजा । सादर सास ससुर पद पूजा ॥^२ (तुलसीदास)

यद्यपि चौपाई में सास-ससुर की पूजा को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है तथापि आशय इसका यही है कि पति-सेवा के सिवा शेष सब कर्तव्यों में सर्वोत्तम स्थान इसी का है। यदि सास-ससुर की सेवा का स्थान तत्त्वतः सर्वोत्कृष्ट होता तो न जानकी, राम के साथ जाने का अदम्य-आग्रह करतीं और न ही मर्यादा-पुरुषोत्तम उन्हें साथ ले जाते।

(ज) सास-ससुर—जैसे बहू के लिए सास-ससुर की सेवा का निर्देश किया गया है वैसे ही सास-ससुर के लिए बहू से सच्चा प्रेम करने तथा उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखने का। राम के वन-प्रस्थान के समय कौशल्या ने सीता को लक्ष्य कर जो उद्गार प्रकट किये उनसे उक्त नीति का भलीभाँति समर्थन होता है—

नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई । राखेउं प्रान जानकिहिं लाई ।

कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली । सौंचि सनेह सलिल प्रतिपाली ॥

पलंग पीठि तजि गोद हिंडोरा । सियें न दीन्ह पगु अवनि कडोरा ।

जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ । दीप बाती नहिं टारन कहऊँ^३ ॥

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, पद्य १८-१९

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २६८

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २६७

(क) भाई—माता-पिता का अविवेक, पैतृक सम्पत्ति का अन्याय्य लोभ आदि अनेक कारणों से प्रायः सगे भाइयों में भी वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है, वैमात्रों का तो कहना ही क्या । रामायण में भी यदि राम रामवत् और भरत भरवत् अनुपम उदारता से काम न लेते तो रामायण रामायण न रहती, राजकुमारों की कलह-कथा बन जाती । राम-काव्य हमारे सम्मुख उस भ्रातृ-प्रेम का आदर्श प्रस्तुत करता है जिससे प्रेरित होकर दो सौतेले भाई (राम और भरत) एक-दूसरे के लिए सहर्ष राज-सिंहासन को ठुकरा देते हैं और दो सौतेले भाई (भरत और लक्ष्मण) प्रसन्नतापूर्वक राजकीय सुखों का परित्याग कर तपस्वी जीवन व्यतीत करने लगते हैं ; रामकाव्य के अनुसार, बड़ा राजकुमार ही राज्य का अधिकारी है, छोटे भाई नहीं । इसीलिए दशरथ ने कैकेयी के प्रति की गई अपनी प्रतिज्ञा को विस्मृत-सा करके राम को सिंहासनारूढ़ करने का उद्योग किया था । यदि भरत की इस सिद्धान्त में आस्था न होती तो वे कैकेयी के षड्यन्त्र-द्वारा प्राप्त राज्य को सहर्ष स्वीकृत कर लेते । इसी आशय की अभिव्यक्ति सूरदास ने इस प्रकार की है—

आए भरत, दोन ह्वै बोले, कहा कियो कंकई माइ ।

हम.सेवक, वे त्रिभुवनपति, कित स्वान सिंह बलि खाइ ॥^१

जैसे सिंह की बलि को कुत्ता नहीं खा सकता, वैसे ही अग्रज के अधिकार को अनुज नहीं पा सकता । रामकाव्य में बड़े भाई को स्वामी और पिता कहा गया है तथा छोटे भाई को सेवक और पुत्र । मंथरा जब कैकेयी को राम के राजतिलक का समाचार सुना कर कुपथ पर अग्रसर करने का उद्योग करने लगी तब कैकेयी उस 'घरफोरी' से बोली—

जेठ स्वामि, सेवक लघु भाई । यह दिनकर-तुल रीति मुहाई ॥^२

जब लक्ष्मण ने राम के साथ वन को जाने के लिए सुमित्रा से अनुज्ञा माँगी तब वे बोलीं—

तात तुम्हारि मातु वंदेही । पिता रामु सब भाँति सनेही ॥^३

जब बड़ा भाई पितृतुल्य है तब बड़ी भावज का मातृतुल्य होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार अनुज, अग्रज के लिए पुत्रवत् होता है और उसकी जाया पुत्रवधू या पुत्री के समान । छोटे भाई का बड़े भाई की पत्नी को कामुक दृष्टि से देखना अत्यन्त गहर्ष माना गया है । लक्ष्मण ने इस नियम का कितनी कड़ाई से पालन किया था, इसका अनुमान हृदयराम के निम्नलिखित कवित्त से सहज ही हो जाता है । जब श्रीराम ने किष्किंधा में लक्ष्मण से सीता के आभूषण पहचानने को कहा तब वे सदा

१. सूर रामचरितावली, पृष्ठ ४४

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २४५

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २७४

निम्नदृष्टि रखने के कारण कुंडल और कंकण को तो न पहचान सके परन्तु नैत्यिक चरण-वन्दना के कारण चरणाभरणों को पहचान गये—

जानकी को मुख न बिलोषयी ताते कुंडल न,
जानत हों बीर पाय छुवों रघुराई के ।
हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे ता ते,
कंकन न देखे बल कहों सत भाइ के ।
पाय परबे को जातो दास लछमन या ते,
पहचानत हों भूखन जे पाइ के ।
बिछुवा है आई और भांजन है आई जुगु,
नूपुर है तेई राम जानत जराइ के ॥^१

स्नेही भाई दक्षिण भुजा के समान संकट-मोचक होता है ।^१ इस संसार में संतान, संपत्ति, स्त्री, सदन और सम्बन्धी तो मुलभ हैं परन्तु स्नेहशील सहोदर भाई दुर्लभ । युद्ध में लक्ष्मण के शक्ति द्वारा मृतप्राय होने पर श्रीराम ने जिन स्नेहसिक्त सहज उद्गारों को व्यक्त किया था, वे रामकाव्य की भ्रातृ-विषयक नीति को सम्यक् स्पष्ट करते हैं—

जो जनतेउं बन बन्धु विछोह । पिता वचन मनतेउं नहि ओह ॥
सुत वित नारि भवन परिवारा । हौंहि जाहि जग वारहि बारा ॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता । मिलइ न जयत सहोदर आता ॥^३

सामाजिक नीति—रामकाव्य के रचयिताओं ने जिन सामाजिक विषयों पर रचना की है, उनमें से प्रमुख ये हैं—१. जनता २. वर्ग, ३. जात-पात ४. आश्रम ५. व छोटे, ६. गुरु ७. शिष्य, ८. अतिथि, ९. सन्त-असन्त १०. मित्र-शत्रु ११. स्वामी-सेवक १२. विद्वान्-मूर्ख, १३. नारी, १४. संगति, १५. शरणागत-वत्सलता, १६. फुटकल ।

१. जनता—इन कवियों ने कथनी और करनी के आधार पर मानव-समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया है । प्रथम, जो कहते तो बहुत कुछ हैं, करते कुछ भी नहीं । द्वितीय, जो कहते भी हैं और करके भी दिखा देते हैं । तृतीय, जो मुख से कुछ कहे बिना ही कर्तव्य-पालन में निरत रहते हैं । तुलसीदासजी ने उनकी तुलना क्रमशः पाटल, रसाल और पनस के वृक्षों से इन शब्दों में की है—

संसार महँ पूरुष पूत्रिबिध, पाटल रसाल पनस समा ।
एक सुमन प्रद, एक सुमन फल, एक फलइ केवल लागहीं ॥

१. हृदयरामः हनुमन्नाटक, पृष्ठ ५९-६०

२. गीतावली, लंकाकांड, पद ६-७

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ५४२

एक कहँहि, कहँहि करँहि अपर, एक करँहि कहत न बागहीं ॥^१

इन कवियों का अनुभव यह है कि सांसारिक लोग स्वार्थपरायण हैं ।^२ उनके प्रेम में भी स्वार्थसिद्धि की भावना निहित रहती है ।^३ वे जगत् में जिसका आदर-सम्मान होता देखते हैं, उससे द्वेष करने लगते हैं ।^४ प्रायः उनकी चाल विवेकशून्य होने के कारण उलटी होती है । और वे भेड़ों के झुंड के समान अन्धाधुन्ध अनुसरण करते हैं ।^५ फिर भी नीतिमान् व्यक्ति का कर्तव्य है कि ऐसे अविवेकी, ईर्ष्यालु और स्वार्थी संसार की अवहेलना या उपेक्षा न करे क्योंकि वह तो सीता-सी सती और कृष्ण-से सुचरित्र को भी कलंकित करने से नहीं चूका—

अयश-योग की जानकी, मणिचोरी की कान्ह ।

तुलसी लोग रिभाइबो, करसि कातिबो नान्ह ॥^६

(२) वर्ण—वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में रामकाव्य का दृष्टिकोण सन्त-काव्य के सर्वथा विपरीत है । सन्तों ने कर्म के आधार पर मनुष्य को ऊँचा वा नीचा ठहराने का यत्न किया था परन्तु इन लोगों ने जन्म को प्राधान्य दिया । इनके मत में ब्राह्मण विष्णु का रूप है, मानव नहीं ।^७ इसीलिए उसे अद्वैत भी कहा गया है ।^८ शेष तीनों वर्णों द्वारा वह पूज्य है ।^९ जो व्यक्ति, चाहे वह स्त्री भी क्यों न हो, विप्रपीडक है, उसका बध उचित ही है ।^{१०} विप्र के कटु वचनों को भी सहर्ष सह लेना चाहिए ।^{११} ब्राह्मण के प्रसाद में लाभ और रोष में हानि निहित है ।^{१२} उसकी कार्यसिद्धि के लिए सन्तान-दान में भी ननु-नच न करना चाहिए ।^{१३} जो क्षत्रिय युद्ध से पलायन करता है, अपमान को सह लेता है तथा आत्मश्लाघा करता है, उसकी खूब निन्दा की गयी है ।^{१४} वैश्य के लिए वदान्यता

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ५६३

२. तुलसी सतसई, पृष्ठ २२४।५

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४५३

४, ५. तुलसी सतसई, पृष्ठ २३७।३६, ३८, ३७

६. तुलसी सतसई, पृष्ठ २३६।३५

७. रामचन्द्रिका, प्रकाश २१, पद्य ५

८. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३४ पद्य १३

९. सूर रामचरितावली, पृष्ठ २६

१०. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३, पद्य ६

११. संक्षिप्त रामस्वयंवर, पृष्ठ १६४। २०६

१२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३०१

१३. संक्षिप्त रामस्वयंवर; पृष्ठ ५७।३०२

१४. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३११, ३५४ तथा संक्षिप्त रामस्वयंवर, पृष्ठ ११७।

का विधान किया गया है तथा उन शूद्रों की बहुत निन्दा की गई है जो शास्त्र-विहित द्विज-सेवा का परित्याग कर द्विजों की समानता करने की घण्टता करते हैं।^१ सार यह कि जो व्यक्ति जिस वर्ण में उत्पन्न हो गया, वह जीवन-भर उसी वर्ण में रहेगा, समाज में उसे उच्चतर पद प्राप्त करने का अवसर नहीं दिया जाता। हाँ, इतना कह कर सबको सन्तुष्ट रखने का यत्न कर दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ परमगति का अधिकारी बन जाता है—

कं ब्रूमिबौ, कि जूमिबौ, दान, कि काय-भ्लेश ।

चारि चार परलोक-पथ, यथायोग उपदेश ॥^२

(३) जातपात—ये कवि जात-पात को स्वीकृत करते हैं तथा चाण्डाल, शबर, खस, यवन, कोल, भील, आदि को नीच जातियों में गिनते हैं। तथापि इनकी दृष्टि में राम के नाम में वह जादू है जिसके जाप-मात्र से उक्त जातियों के लोग पवित्र हो जाते हैं।

स्वपच सबर खस जमन जड़, पाँवर कोल किरात ।

राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात ॥^३

निपाद आदि कई जातियों को तो इतना पतित माना जाता था कि उनकी छाया के स्पर्श पर भी स्नान का विधान किया गया था। परन्तु रामभक्ति के प्रताप से वे ऐसे पुनीत मान लिए जाते थे कि राम और भरत तक ने उन्हें आलिंगन करने में संकोच नहीं किया।^४ सुरदासजी शबरी-उद्धार के प्रसंग में कहते हैं—

जाति न काहू की प्रभु जानत । भक्ति-भाव हरि जग-जुग मानत ॥^५

तुलसीदास ने अपनी जाति के अपमान को सबसे घोर दुःख माना है^६ तथा केशवदास ने स्वयं सनाढ्य ब्राह्मण होने के कारण सनाढ्यों की जीविका के अपहारक को समूलोन्मूलन, अकाल मृत्यु तथा नरकगामी होने का शाप दिया है—

सनाढ्य वृत्ति जो हरै । सब समूल सौ जरै ।

अकाल मृत्यु सो मरै । अनेक नरक सो परै ॥^७

(४) आश्रम—रामकाव्य में वर्ण-व्यवस्था के समान ही आश्रम-व्यवस्था में भी जहाँ पूर्ण आस्था दिखाई देती है, वहाँ इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि कलि-

१. तुलसी सूक्तियुधा, पृष्ठ ६७५

२. तुलसी सतसई, पृष्ठ २३८।३६

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३३६।१६४

४. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३३६

५. सूररामचरितावली, पृष्ठ ६२

६. तुलसी सूक्तियुधा, पृष्ठ ३६६।६

७. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३४, पद्य ५."

काल के प्रभाव से सब व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई है। वर्ण-धर्म के समान ही आश्रम धर्मों की भी उपेक्षा हो रही है। गृहस्थ दरिद्र दिखाई देते हैं और संन्यासी सम्पन्न। लोकोपकार में समर्थ विद्वानों का ही परिव्राजक बनना उचित था परन्तु छोटी जातियों के लोग पत्नी के परलोक-गमन पर और सम्पत्ति के समाप्त हो जाने पर सिर मुँडवा कर संन्यासी बन जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का कथन है—

(क) बहु दाम सँवारीह धाम जती। विषया रह लीन नहीं बिरती ॥

तपसी धनवन्त दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कहो ॥^१

(ख) जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा ॥

नारि मुई गृह-संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ होहि संन्यासी ॥

ते विप्रन सन पांव पुजार्वाहि। उभय लोक निज हाथ नत्तार्वाहि ॥^२

(५) बड़े-छोटे—समाज में सब मनुष्य समान नहीं होते। वंश, विद्या, सम्पत्ति, गुण, पदवी आदि के कारण कई लोग तो बड़े माने जाते हैं और शेष छोटे। इन बड़ों और छोटों के व्यवहार के विषय में भी रामकाव्य में कई प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। जैसे, बड़े लोग स्वभावतः ही कृपालु होते हैं, बड़ों के भगड़ों में हस्तक्षेप करने वाले छोटे नष्ट हो जाते हैं, सम्पत्तियाँ और विपत्तियाँ बड़ों पर ही आती हैं, बड़ों से छल करने वाले छोटों को जीवन भर उनके अधीन रहना पड़ता है, बड़ों को उचित है कि छोटों को अपने यहाँ बुलवा भेजें, यथासम्भव उनके घर न जाएँ, छोटे लोग नम्रता से नहीं, डाँटने से ही भुक्ते हैं, स्वार्थसिद्धि के लिए अत्यन्त छोटों से भी प्रेम करना चाहिए इत्यादि। तुलसीदासजी कहते हैं—

बड़े सनेह लघुह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तुन धरहीं।

जलधि अगाध मौलि बह फेन। संतत धरनि धरत सिर रेन ॥^३

तुलसी भगारा बड़न के, बीच परहु जनि धाय।

लड़े लोह पाहन दोऊ, बीच रुई जल जाय ॥^४

(६) गुरु—भारतीय संस्कृति के अनुसार गुरु का पद अत्युच्च है। माता-पिता और अतिथि के समान उसे भी देवता माना गया है। प्राचीन भारत में अध्ययन-काल की समाप्ति पर आचार्य शिष्य को यों उपदेश देता था—

मानुदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ॥^५

अर्थात् तू माता-पिता, आचार्य और अतिथि को देवता समझ। सद्गुरु के प्रति

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ६५३

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ६५३

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ १२७

४. तुलसी सतसई, पृष्ठ २५८।६०

५. तैत्तिरीय० प्रपा० ७, अनु० ११

अगाध श्रद्धा, समस्त भारतीय वाङ्मय के समान रामकाव्य में भी अतःप्रोत दिखाई देती है—

प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू । कुल-गुरु सम हित माय न बापू ॥^१

(तुलसीदास)

इस अगाध आस्था का कारण है गुरु की हितैषिता, विद्वत्ता तथा सच्चरित्र जिनके अभाव में मानव आकृति-मात्र से ही मनुष्य होता है । रामकाव्य में गुरु के कर्तव्यों की अपेक्षा शिष्य के कर्तव्यों का वर्णन अधिक दृष्टिगत होता है । कदाचित् इन कवियों की धारणा ऐसी थी कि गुरु तो गुरु होने के कारण अपने कर्तव्यों से अभिज्ञ ही हैं, इसलिए उन्होंने शिष्यों के कर्तव्यों का उल्लेख अधिक किया है । गुरु का मुख्य कर्तव्य यही निर्दिष्ट किया गया है कि वह शिष्य की पात्रता तथा अवस्था पर अवश्य दृष्टि रखे । इन बातों का उपेक्षा कर जो उपदेश दिया जायगा वह निष्फल होगा । तुलसीदासजी का कथन है—

धरम नीति उादेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥^२

(७) शिष्य—रामकाव्य में शिष्य के कर्तव्यों का उल्लेख पग-पग पर किया गया है । गुरु-सेवक शिष्य ही सम्पन्न बनता है, गुरु-शिक्षा की अवज्ञा से शिष्य के हित की हानि होती है, गुरु से अपना भेद छिपाना अनुचित है, सद्गुरु से शिष्य को डरना चाहिए, गुरु के अपराधी को क्षमा न करना चाहिए, आदि अनेक सुन्दर नीतियों का उल्लेख रामकाव्य में व्याप्त है ।

(८) अतिथि—अतिथि-सेवा का महत्त्व रामकाव्य के अनेक प्रसंगों में व्यक्त किया गया है । सीता तथा लक्ष्मण के साथ श्रीराम भारद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि आदि जिस भी ऋषि-मुनि के आश्रम में जा पहुँचते हैं वहाँ उनकी कन्द-मूल, फल-फूल आदि से 'पहुनई' की जाती है । जब पौरजनों के साथ भरतजी प्रयाग में पहुँचते हैं तब उनका भी यथोचित आतिथ्य किया जाता है । अतिथि-सेवा करते समय अतिथि के महत्त्व को आँखों से ओझल न होने देना चाहिए । इस नीति को गोस्वामीजी ने भारद्वाज द्वारा भरत के आतिथ्य के प्रसंग में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सुनिहिं सोच पाहुन बड़ नेदता । तसि पूजा चाहिअ जस देवता ॥^३

(९) सन्त-असन्त—भक्तिकाल की अन्य काव्यधारकों के समान रामकाव्य-धारा में भी सन्तो तथा असन्तों के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा गया है । कारण यह कि जब तक मनुष्य असन्त या दुर्जन से सन्त या सज्जन नहीं बन जाता तब तक वह भक्तिमार्ग

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३८६

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २७४

३. „ „ „ २३६, रामचन्द्रिका, प्रकाश ७।७ इत्यादि ।

४. „ „ „ ३४६

में एक भी पग नहीं बढ़ा सकता । रामकाव्य के अनुसार रामभक्त विषय-विरक्त, निर्मल-चरित्र, गुण-समन्वित, समानचित्त, परदोषाच्छादक, सहानुभूतिशील, काम-क्रोधादि रहित, दयालु, सरल, क्षमाशील, शान्तचित्त और मधुरभाषी व्यक्ति सन्त कहाते हैं ।^१ इनके विपरीत जो लोग राम-विमुख व अकारणद्वेषी, परापकरी, दोषदर्शी, काम-क्रोधादि दुर्गुणों से दूषित, पापों और अवगुणों से पूर्ण, ईर्ष्यालु, निर्दय, कपटी और कठोरभाषी होते हैं, उन्हें असन्त कहा गया है ।^२ इन सन्तों तथा असन्तों के सम्बन्ध में अनेक नीतियों का उल्लेख रामकाव्य में किया गया है; जैसे, असज्जनों का सम्पर्क होने पर दुष्ट तो सज्जनों में परिणत हो जाते हैं परन्तु सज्जन पूर्ववत् सज्जन ही बने रहते हैं, सज्जनों को भी अति सरल न बनना चाहिए, दुष्टों की कृपा भी हानिप्रद होती है, दुष्ट से न प्रेम करना चाहिए न वैर, स्वार्थसिद्धि के लिए दुष्ट जन परोपकार करने में संकोच नहीं करते, आदि । एतद्विषयक कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

सज्जन—

साधु चरित सुभ सरिस कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥

जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । बंदनीय जेहि जग जस पावा ॥

बंदउँ संत समान-चित्त, हित अनहित नहि कोइ ।

अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोइ ॥^३

दुर्जन—

परहित-हानि लाभ जिन करें । उजरें हरष बिषाद बसेरें ॥

हरिहर जस राकेस राहु से । पर अकाज भट सहसबाहु से ॥

जे परदोष लखहि सहसाखी । परहित घृत जिनके मन माखी ॥

तेज कृसानु रोष महिषेसा । अध-अवगुन-धन धनी धनेसा ॥^४

सज्जन-दुर्जन-संसर्ग—

सठ सुधरहि सत संगत पाई । पारस परस कुवातु सुहाई ॥

विधिधस मुजन कुसंगत परहीं । फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥^५

(१०) मित्र-शत्रु—सीतापहरण के पश्चात् श्रीराम ने सुग्रीवादि मित्रों की सहायता से ही प्रबल शत्रु रावण पर विजय-लाभ किया था । इस प्रसंग में रामकाव्य के प्रणेताओं को सुमित्र, कुमित्र आदि के विषय में लिखने का अवसर प्राप्त हो गया । सुग्रीव को सान्त्वना देते समय श्रीराम ने मित्र और कुमित्र के लक्षण बताए थे । उनके अनुसार सच्चा

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३६, ६१७

२. " " " ३७, ६१८

३. " " " ३५-३६

४. " " " ३७

५. " " " ३६

मित्र वही है जो मित्र के दुःख से दुःखी हो, जो अपने भारी दुःख को तुच्छ और मित्र के तनिक से दुःख को भी घोर समझे, जो कुमार्ग से बचा कर सुमार्ग पर प्रवर्तित करे तथा मित्र के दोषों को छिपा कर गुणों को प्रकट करे, जो देने-लेने में संकोच न करे और यथाशक्ति सहायता में तत्पर रहे। परन्तु जो मुँह पर तो मधुरभाषी हो और पीछे कुटिल, ऐसे कपटी मित्र का त्याग ही श्रेयस्कर है।^१ तुलसीदास ने मित्र का एक अनिवार्य लक्षण यों दोहाबद्ध किया है—

मित्रक अवगुण मित्र को, पर यह भाषत नाहि ।

रूप छाँह जिमि आपनी, राखत आपहि माहि ॥^२

शत्रु के सम्बन्ध में इन काव्यों की नीति पालि के नीति-काव्य के समान उदार न हो कर व्यावहारिक है। शत्रु पर विश्वास करना अनुचित है, शत्रु की अधीनता से तो मृत्यु ही हितकर है, जो मधु खिलाने से ही शत्रु का नाश सम्भव हो तो विष दे कर मारने की आवश्यकता नहीं, मित्र का कोप भी सुखद होता है और शत्रु की मृदुलता भी दुःखद आदि व्यावहारिक नीतियों का उल्लेख रामकाव्य में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। जैसे, मंथरा के कपटजाल में फँसी हुई कँकेयी, कौशल्या को शत्रु मान कर कहती है—

अरि बस देउ जियावत जाही । मरनु नीक तेहि जीवन चाही ॥^३

कोमलता से कार्य सम्पन्न हो सके तो कठोरता का प्रयोग अनावश्यक है—

जो मधु दीन्हें ते मरे, माहुर देउ न ताउ ।

जग जिति हारे परसुघर, हारि जिते रघुराउ ॥^४

११. स्वामी-सेवक—रामकाव्य में स्वामी और सेवक का वही सम्बंध बताया गया है जो शरीर में मुख तथा अन्य अंगों का है। जब नेत्र किसी सुन्दर खाद्य पदार्थ को दिखाते हैं तो मनुष्य पाँवों से उसकी ओर अग्रसर होकर हाथ से उसे उठा मुख में डाल लेता है। मुख उसे अपने पास ही नहीं रख लेता, रस बना कर सभी अंगों तक पहुँचा देता है। इसी प्रकार सेवकों द्वारा उपार्जित धन स्वामी के पास जा पहुँचता है और वह उस से सब सेवकों का पालन-पोषण करता है। इस अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को रामकाव्य में अनेकत्र प्रदर्शित किया गया है। जैसे—

सेवक कर पद नयन से, सुख सो साहिब होइ ।

‘तुलसी’ प्रीति कि रीति लुनि, तुर्कवि सराहहि सोइ ॥^५

सेवक भोजन का ही भूखा नहीं होता, संमान का भी इच्छुक होता है। इसीलिए

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४४६ और ५०

२. तुलसी सतसई, पृष्ठ २६२। २३

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २४७

४. तुलसी सतसई, पृष्ठ २६६। ११३

५. रामचरित मानस गुटका, पृष्ठ ३६३

स्वामी का कर्तव्य यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि वह सेवकों का समुचित संमान करे—

प्रभु अपने नीचहु आदरहीं । अग्नि धूम गिरि सिर तितु धरहीं ॥^१

संस्कृत के नीतिकाव्यों के^२ समान रामकाव्य भी सेवाधर्म को अति कठिन तथा कैलाश से भी दुर्धर मानता है। 'सेवा धर्म कठिन जग जाना' तथा 'हरगिरि तें गुरु सेवक घरमू' आदि उक्तियाँ उक्त आशय की समर्थक हैं। इस कठिनता का कारण है स्वामी तथा सेवक के स्वार्थों का सहज विरोध। इस विरोध की विद्यमानता में भी जो सेवक स्वार्थ को संमर्दित कर स्वामिकाय को अधिमान देता है वही सेवक प्रशस्त है। स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और जीवन तक को तिलांजलि दे देना ही रामकाव्य के अनुसार सेवक का कर्तव्य है—

सहज सनेह स्वामि सेवकाई । स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।

अग्यासुसम न सुसाहिब सेवा । सो प्रसादु जन पावै देवा ॥^३ (तुलसीदास)

सेवक को यह बात भी विस्मृत न करनी चाहिए कि उस की रहत-सहन स्वामी से सदा हलकी ही होनी चाहिए। ऊपर कह चुके हैं कि अग्रज स्वामी है और अनुज सेवक। इसीलिए जब श्रीराम वन को पैदल गये थे तो भरत ने चित्रकूट जाते समय किसी वाहन का प्रयोग न किया था। सेवकों की प्रार्थना पर उन्होंने यह उत्तर दिया था—

राम पदादेहु पायं सिधाए । हम कहैं रथ गज बाजि बनाए ।

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा । सब तैं सेवक धरम कठोरा^४ ॥

१२. विद्वान् और मूर्ख—विरंचि की रचना सम-रूप नहीं है। उसमें गुणी और निर्गुण, विद्वान् और मूर्ख सभी पाए जाते हैं, परन्तु मूर्खों की अपेक्षा विद्वान् थोड़े हैं। मूर्खों की इस बहुलता के लिए जानकीजी की जननी सुनयना विधि की बुद्धि ही को बुरा-भला कहती हैं—

सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल, सब करतूत कराल ।

जहैं तहैं काक उलूक बक, मानस सकल मराल ॥^५ (तुलसीदास)

आवश्यक नहीं कि जगत् में गुणी और विद्वान् का आदर ही हो। अनेक बार मूर्खों द्वारा विद्वानों की अपेक्षा तथा मूर्खों का संमान भी किया जाता है। परन्तु इस विपर्यय से विद्वान् के मूल्य में कमी आती है—

निज गुण घटत न नाग-नग, हरषि न पहिरत कोल ।

गुंजा प्रभु भूषण धरे, ताते बढ़े न मोल ॥^६ (तुलसीदास)

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३८२

२. सेवाधर्म : परमगहनो योगिनामप्यगन्धः—(शतकत्रयम् पृष्ठ २७।४७)

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३६० ४. „ „ „ ३४१

५. „ „ „ ३८०

६. मुलसी सतसई, पृष्ठ २२४।८

कोविद- विषयक कई अन्य नीतियों का भी उल्लेख रामकाव्य में देखा जाता है; जैसे, यदि कोई व्यक्ति सुनीति से सुपरिचित होता हुआ भी कुनीति में रत रहता है तो उसे उपदेश देना निष्फल है, प्रायः सुख देने वाले गुणी व्यक्ति से यदि संयोगवश कभी दोष-प्राप्ति हो भी जाए तो उस गुणी का परित्याग अनुचित है ।^१

प्रायः विद्या आदि सद्गुणों से शून्य व्यक्ति मूर्ख कहलाता है परन्तु मूर्खशिरोमणि व्यक्ति तीन होते हैं । प्रथम, आग लगने पर कूथ्राँ खोदने वाला, द्वितीय, फल की इच्छा रखने पर भी वबूल लगाने वाला, और तृतीय, समय के पूर्व ही खेती को काटने वाला—

कूप खनहि मन्दिर जरत, तारहि धारि बबूर ।

बोये लुन चह समय बिन, कुमति शिरोमणि कूर ॥^२

सागान्य मूर्खों को तो कुछ-न-कुछ समझाना भी सम्भव है परन्तु महामूर्खों के लिए विधि की चतुराई तथा कृष्ण का कौशल^३ भी किसी काम का नहीं—

फूलइ फरइ न बेंत, जदपि सुधा बरषाहि जलद ।

मूरख हृदये न चेत, जौ गुर मिलहि बिरंचि सम ॥^४

१३. नारी—रामकाव्य में श्रेष्ठ और गर्हित दोनों प्रकार के नारी-पात्र दिखाई देते हैं । कौशल्या, सुमित्रा, सीता, अनगूया, और मन्दोदरी यदि उत्तम नारियाँ हैं तो ताड़का, शूर्पणखा, मन्थरा और कैकेयी अधम । यह कुछ आश्चर्यजनक-सी बात है कि यद्यपि अधिकता उत्तम नारी-पात्रों की दृष्टगत होती है तथापि सामान्य रूप से समाज में पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्थान हीन ही दिखाया गया है । स्तुतिपक्ष में पतिव्रता नारी को असाधारण नारी कहा गया है तथा स्त्री-मात्र के हत्यारे को दुःखों का भागी घोषित किया गया है । सीता को लोटाने के लिए मन्दोदरी रावण से आग्रह करती हुई कहती है—

संधि करो बिग्रह करो सीता को तो देह ।

गनो न पिय देहीन में पतिव्रता की देह ॥^५

जब हनुमान् मशक-सा सूक्ष्म आकार धारण कर लंका में गुप्त रूप से प्रविष्ट होने लगे तब लंका की रक्षिका लंका नाम की राक्षसी से उनका इस प्रकार संवाद हुआ—

(हनुमान्) हम बानर हैं रघुनाथ पठाये ।

तिनकी तरुणी अबलोकन आये ॥

(लंका) हति मोहि महामति भीतर जंये ।

१. तुलसी सतसई, पृष्ठ २४५।२८, २५८।८६

२. " " २३५।३२

३. " , २४४।५३

४. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ५१५

५. रामचन्द्रिका, प्रकाश. १८, पद्य १७

(हनुमान) तरुणीहि हते कब लों सुख पये ॥^१

परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यह स्त्री-वध का प्रतिषेध तभी तक है जब तक वह विप्र-विद्रोहिणी नहीं बनती, द्विज-द्वेष करने पर वह भी दयाहं नहीं रहती^२ ।

निन्दा-पक्ष स्तुति-पक्ष की अपेक्षा अधिक व्यापक और उग्र है । इस में स्त्री को अज्ञ, शास्त्रानधिकारिणी, कुटिल, साहसी, दुर्बोधस्वभावा, दुःखों तथा अवगुणों की खान, सहज अपावन, अतिचंचल, अधम ते अधम, स्वतन्त्रता से बिगड़ने वाली, भीरु, ताड़नाधिकारिणी, अविश्वसनीय तथा बंधन-रूप कहा गया है । यथा—

(क) कैकेयी की मंथरा को डाँट—

काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि ।

तिय दिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि ॥^३

(ख) कैकेयी की करतूत पर पीर जनों का मत—

निज प्रतिबिम्बु बरकु गहि जाई । जानि न जाइ नारि गति भाई ॥

काह न पावकु जाति लफ, का न समुद्र समाइ ।

जा न करै अवला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ ॥^४

(ग) जननी के गर्हित कृत्य से लज्जित भरत का मत—

बिधिहूँ न नारि हृदय गति जानी । सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥^५

(घ) शूर्पणखा की कामुकता के विषय में वाकभुशुण्डि की गरुड़ के प्रति

उक्ति—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी ।

होइ विकल सक मनहि न रोकी । जिमि रविमनि द्रव रविहि दिलोकी ॥^६

(ङ) शबरी का श्रीराम के प्रति स्त्री की अधमता के विषय में कथन—

अधम ते अधम अधम अति नारी । तिन्ह में मैं मतिमंद अधारी ॥^७

(च) श्रीराम का नारद के सम्मुख स्त्री-स्वरूप का वर्णन—

काम क्रोध लोभादि मव प्रबल मोह के धारि ।

तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश १३, पृष्ठ ४३

२. „ „ ३ „ ६

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २४४

४. „ „ २६१

५. „ „ ३२०

६. „ „ ४१६

७. „ „ ४३४

अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि ।

ताते कोन्ह निवारन मुनि में यह जिय जानि ॥^१

(छ) क्रुद्ध धनुर्धर राम से त्रस्त सागर की उक्ति—

ढोल गंवार सूद पशु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ॥^२

(ज) सीता के प्रत्यर्पण की प्रार्थिनी मन्दोदरी के प्रति रावण के वचन—

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।

साहस अनृत चपलता माया । भय अविवेक असौच अदाया ॥^३

(झ) विरक्त राम का स्त्री-विषयक विचार—

जहाँ भामिनी भोग तहँ, बिन भामिनि कहँ भोग ।

भामिनि छूटे जग छुटे, जग छूटे सुख योग ॥^४

इस प्रकार की उक्तियों के सम्बन्ध में कई आलोचकों का मत है कि इन्हें राम-काव्य के प्रणेताओं का मत कहना भूल है क्योंकि ये तो विशेष अवसरों पर अपराधी व्यक्तियों के प्रति कही गई कुछ मनुष्यों की उक्तियाँ हैं। ऐसे अवसरों पर प्रायः क्रुद्ध व्यक्ति अपने क्रोध को अपराधी व्यक्ति तक ही सामित नहीं रखता, आवेग-वश उसकी समग्र जाति को ही दूषित ठहरा देता है। यथा, उपर्युक्त क, ख, ग, घ, उद्धरणों में अपराधिनी तो थीं मन्थरा, कैकेयी और शूर्पणखा परन्तु इनके कुकृत्यों के कारण कलंकित करदी गई सम्पूर्ण नारी-जाति। माना कि क्रोधी व्यक्ति कभी-कभी दोषी की सम्पूर्ण जाति को ही दूषित ठहरा देता है, परन्तु रामकाव्य में ऐसे कथन भी कम नहीं हैं जिनमें सहज परिस्थितियों में स्त्री-मात्र की अवमानना दृष्टिगत होती है।

उदाहरणार्थ उपर्युक्त ड, च और छ उद्धरणों में सामान्य परिस्थितियों में नारी को शबरी अधम से अधम, राम मायारूपिणी और सर्वदुखों की खान, तथा समुद्र पशुवत् प्रताड़न की अधिकारिणी कहता है। उक्त प्रसंगों में न तो किसी नारी ने कोई अपराध किया था और न किसी ने क्रोधावेश में ही उक्त शब्द कहे। वस्तुतः बात यह है कि सहस्रों वर्षों से भारत में स्त्री का सामाजिक स्तर अवनत होता आया था। राम-काव्य के रचयिता तत्कालीन संस्कृत-साहित्य और समकालीन स्त्री की दलितावस्था से इतने अधिक प्रभावित थे कि उनकी लेखनी से स्त्री-सम्बन्धी उत्कृष्ट उद्गार निस्सृत न हो सके। उनकी नारी-निन्दा-विषयक अनेक उक्तियाँ तो प्राचीन संस्कृत श्लोकों के अनुवाद-सी ही हैं। जैसे—

अनृत साहस माया मूर्खतित्वमलोभता ।

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४४०-४१

२. " " ५०१

३. " " ५१५

४. रामचन्द्रिका, प्रकाश २४, पद्य १४

अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ।^१

चाणक्य ने उपर्युक्त श्लोक में स्त्रियों के ये सात स्वाभाविक दोष परिगणित किये हैं—अनृत, साहस, माया, मूर्खत्व, अतिलोभ, अशौच और निर्दयता। तुलसी-कृत उपर्युक्त 'ज' उद्धरण निःसन्देह इस श्लोक का अनुवाद-सा है। अन्तर इतना ही है कि अतिलोभता के स्थान पर 'चपलता' और 'भय' दो दुर्गुण रख दिये गये हैं और इस प्रकार दोषों की संख्या में एक की वृद्धि भी करदी गई है। अब तनिक 'छ' उद्धरण की तुलना गर्गसंहिता के अधोवर्ती श्लोक से कीजिए—

दुर्जनाः शिल्पिनो दासा दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः ।

ताडिता मारद्वं यान्ति, नन्ते सत्कारभाजिनः ॥^२

अर्थात् दुर्जन, शिल्पी, दास, ढोल और दुष्ट स्त्रियाँ ताड़ना से ही सीधी होती हैं, ये सत्कार के योग्य नहीं हैं। गोस्वामी जी ने चौपाई में 'शिल्पी' के स्थान पर 'पटु' और 'दुष्ट स्त्री' के स्थान पर 'नारी' कर दिया है।

जहाँ उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ये कवि पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य से प्रभावित थे वहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि राम-काव्य भक्तिकाव्य है और भक्ति-मार्ग में स्त्रियों को प्रायः बाधक ही माना गया है। इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि स्त्रियों की अवमानना में समस्त दोष ओधी पात्रों का ही नहीं, पुरानी परम्परा का भी है जिससे ऊपर उठने में ये कवि परिस्थिति-वश अशक्त थे।

१४ संगति—सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य को संगति सहज ही रुचिकर होती है। अविवेकी मनुष्य संगति के भारी प्रभाव से अनभिज्ञ होने के कारण जैसी-तैसी संगति में पड़ कर भी पहले सुख-सा ही अनुभव करता है। परन्तु शीघ्र ही उसे सुसंगति के सुफल तथा कुसंगति के दुष्परिणामों का ज्ञान हो जाता है। भक्ति-मार्ग पर अग्रसर होने के इच्छुकों के लिए तो कुसंगति का परित्याग और सत्संगति का प्रश्रय अनिवार्य है। इसी कारण रामकाव्य में सुसंगति-कुसंगति के शुभाशुभ फलों पर प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। उदाहरणार्थ, गोस्वामी जी का कथन है—

गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा । कीर्त्तहि मिलइ नीच जल संग ॥

साधु असाधु सबन सुकसारी । सुमरहि राम देहि गनि गारी ॥

ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग ।

होहि कुवस्तु सुवस्तु जग, लखिहि सुलच्छन लोग ॥^३

स्वर्ग तथा अपवर्ग के सुख भारतीय संस्कृति के अनुसार अप्रतिम माने जाते हैं और शास्त्रों के विधि-निषेध मानव को उन्हीं की प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित करते हैं।

१. चाणक्य नीति दर्पण, पृष्ठ ६

२. बिमलकुमार जैन: तुलसीदास और उनका साहित्य, पृष्ठ १२७

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २६

परन्तु गोस्वामीजी के मत में सत्संग का क्षण भर का सुख भी स्वर्गापवर्ग के शाश्वत सुखों को मात कर देता है—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिअ तुला एक अंग ।

तुल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ॥^१

१५. शरणागत-वत्सलता—राम-काव्य में शरणागत-वत्सलता का उल्लेखनीय महत्त्व है। भगवान् विष्णु या उनके अवतारों ने ध्रुव, प्रह्लाद, अजामिल, गणिका, ग्राह आदि अनेक शरणागत पतितों का उद्धार किया। श्रीराम ने भी अहल्या, शबरी, विभीषण आदि विपन्न शरणागतों की सहर्ष रक्षा की। जो मनुष्य शरणागत की रक्षा में संकोच करता है, उस पामर का तो मुख-दर्शन भी पाप है—

सरनागत कहुं जे तजहि, निज अनहित अनुमानि ।

ते नर पांवर पापमय, तिन्हहि विलोकत हानि ॥^२ (तुलसीदास)

केशवदास के मत में तो उस भीत-व्रस्त व्यक्ति को शरण न देने से भी महा-पाप लगता है, जिस पापी ने अपने माता-पिता तथा वंश की हत्या कर दी हो। वानर-कटक में शरणार्थी विभीषण के आगमन पर मेनापति नील कहते हैं—

सांचहु जो यह है शरनागत । राखिय राजिवलोचन भो मत ।

भीत न राखिय तो अति पातक । होइ जु मातु पिता कुल घातक ॥^३

१६. फुटकल व्यक्ति—व्यक्ति समाज का अंग है। समाज का स्वास्थ्य वैयक्तिक सच्चरित्र तथा कर्तव्य-पालन पर निर्भर है। जो मनुष्य अपने कर्तव्य-पालन में दत्त-चित रहता है, वह जीवितावस्था में यश तथा निधन के पश्चात् कीर्ति का भागी बनता है। संसार में उम मनुष्य का तो जीवन-मरण प्रशस्य है जो कर्तव्य-परायण है और उसका शोच्य जो कर्तव्य-विमुख है। राम-काव्य के अनुसार वेद-हीन, स्वधर्म-त्यागी तथा विषयमग्न विप्र, प्रजा को प्राणवत् प्रिय न समझने वाले तथा राजनीति से शून्य राजा (क्षत्रिय), अतिथि-सेवा की भावना से रहित कृष्ण और धनी वैश्य, वाचाल, संमानेच्छुक पण्डित-म्मन्य और विप्रावमानी शूद्र, कुटिल, कलहप्रिय, स्वच्छंद-विहारिणी पति-वंचिका नारी, गुरु की आज्ञा का अतिक्रमण करने वाला तथा ब्रह्मचर्य को विलुप्त करने वाला ब्रह्मचारी, मोहवश गार्हस्थ्य-धर्मों की उपेक्षा करने वाला गृहस्थ, विवेक और वैराग्य से विहीन तथा जगत् के प्रपंच में लीन संन्यासी, (तप का त्याग कर भोगों में रुचि रखने वाले वानप्रस्थ), पिशुन, निष्कारण क्रोधी, माता-पिता, गुरु तथा बन्धुओं के विरोधी, निर्दय, तनुपोषक, परापकारी तथा नास्तिक लोग शोचनीय हैं।^४ शस्त्रधारी मर्मज्ञ, स्वामी, दुष्ट,

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४७१

२. रामचरित मानस, गुटका, ४६२

३. रामचन्द्रिका, प्रकाश १५, पद्य २१

४. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३२५

घनाढ्य, वैद, बन्दीजन, कवि और पाचक इन नौ व्यक्तियों से बँर रखने वालों का कल्याण नहीं होता;^१ दुःखित व्यक्तियों के दोष उपेक्ष्य होते हैं,^२ इत्यादि। कई अन्य सुन्दर सामाजिक नीतियों का उल्लेख भी यत्र-तत्र किया गया है।

आर्थिक नीति

रामकाव्य उच्चवर्गीय धार्मिक गृहस्थों का काव्य है, विरक्त साधु-सन्तों का नहीं। यही कारण है कि इस में धन की उपयोगिता को तो स्वीकृत किया गया है परन्तु उसे इतना अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया गया कि जीवन में उसका स्थान प्रधान हो जाय और वह मनुष्य को राम से विमुख कर दे। सुखी गृहस्थी के लिए धन की अनिवार्यता तथा राम-राज्य में प्रजा की सम्पन्नता का तुलसीदास जी ने यों उल्लेख किया है—

जल संकोच विकल भई सीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धन होना ॥^३

नहीं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नाहि कोउ अबुध न लच्छन होना ॥^४

आती हुई सम्पत्ति का स्वागत करना ही उचित है, इस नीति का संकेत हृदयराम की निम्नांकित उक्ति से मिलता है—

रावन सु माई लंक हेम की बनाई जिन,

धन हि में आई निधि फेरो जिन आबती ॥^५

परन्तु जिस संपत्ति के आने पर मनुष्य राम से ही विमुख हो जाय वह तो कीड़ी के काम की भी नहीं। गोस्वामी जी का मत है—

भूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मब-अंभु चुचाते।

तोखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गोनहुं तें बड़ि जाते ॥

भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खरे न समाते।

ऐसे भए तो कहा 'तुलसी' जु पे जानकीनाथ के रंग न राते ॥^६

धन सुखदायक अवश्य है परन्तु जब मनुष्य के मन में लोभ तीव्र हो उठता है तब अज्ञानी मानव धन-जन्य सुखों की उपेक्षा कर धनसंग्रह में रत हो जाता है। ऐसी दशा में मनःशान्ति, जो संपत्ति से अधिक मूल्यवती है, लुप्त हो जाती है। इसलिए राम-काव्य में लोभ की निन्दा और सन्तोष की प्रशंसा अनेक स्थलों पर पर की

१. रामचरित मानस, गुटका, पृ० ४२६

२. " " " ३२८, ३४१

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४५६

४. " " " ६०८

५. हृदयरामः हनुमन्नाटक, पृष्ठ ४५१७५

६. तुलसीग्रन्थावली, खण्ड २, कवितावली, पृष्ठ १७५।४४

गई है। यथा—

कोड विल्लाम कि पाब, तात सहज संतोष बिन ?

चले रु जल बिनु नाव, कोटि जतन पवि पवि सरिय ?^१ (तुलसीदास)

घन विभिन्न व्यवसायों से भी उपलब्ध होता है तथा अपहरण, भिक्षा, छूत, ऋणादि साधनों से भी। मठपति के व्यवसाय की केशवदास ने अत्युग्र निन्दा की है क्योंकि मठपति धर्म-कर्म-विहीन होकर मुपत का माल उड़ाते थे। वे अपना लोक-पर-लोक तो बिगाड़ते ही थे, जो उनका स्वर्ण भी कर लेता था, उसके भी पुण्यों को नष्ट कर देते थे।^२

रामकाव्य में पराये घन के अपहरण का प्रबल प्रतिषेध पाया जाता है। उसे हलाहल के समान प्राणापहारी कहा गया है तथा अनुज्ञा बिना परद्रव्य लेने की मनाही की गई है। जैसे—

जननी सम जानहि पर-नारी। धनु पराव विष तें विष भारी ॥^३ (तुलसीदास)

मूल्यवान् द्रव्यों का अपहरण तो दूर रहा, मिथिलेश-वाटिका के पुष्प भी अवधेश-कुमार मालियों की अनुज्ञा बिना नहीं लेते—

कंसे कहे बिना फूल चुनें मिथिलेश की वाटिका के मनहारन।

वस्तु बिरानी को पूछे बिना रघुराज जू लेब न वेद उचारन ॥^४

चोरी और डाके की अपेक्षा तो भिक्षावृत्ति ही अच्छी होती है क्योंकि इसमें मनुष्य परद्रव्य को छिप या छीन कर नहीं, मांग कर लेता है। यदि दैव की प्रतिकूलता से किसी को यह वृत्ति अपनानी ही पड़े तो इसमें छल-कपट से काम न लेकर, सहज भाव से ही मांगना श्रेयस्कर कहा गया है—

बिन प्रपंच लखु भोख भलि, नहि फल किये कलेश।

बावन-बलि सों लीन छल, दीन सर्वाहि उपदेश ॥^५

विकट परिस्थितियों के कारण कभी-कभी मनुष्य को ऋण लेने पर विवश होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को कम-से-कम व्याज पर ऋण लेने का यत्न करना चाहिए क्योंकि मार्ग तथा दूर की खेती, अत्यधिक अनुराग, बड़े मनुष्यों से बैर और अधिक व्याज का ऋण अत्यन्त दुःखदायी होता है।^६ छूतक्रीडा द्वारा घनोपार्जन तथा

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ६४६

२. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३४, पद्य २५

३. रामचरितमानस, गुटका, पृष्ठ ३०३

४. संक्षिप्त रामस्वयंवर, पृष्ठ ६५-६६

५. तुलसी सतसई, पृ० २४२।४६

६. " " " २६७।११६

मनोरंजन का निषेध भी रामकाव्य में किया गया है।^१

रामकाव्य में धर्म और दान-पुण्य का धात्र से विशेष सम्बन्ध निर्दिष्ट किया गया है। धर्मशील मनुष्य के पास सम्पत्ति वैसे ही जा पहुँचती है जैसे समुद्र के समीप सरिता और प्राप्त वही होता है, जो दिया जाता है—

(क) जिमि सरिता सागर महं जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥

तिमि सुख संपति बिनहि बोलाये। धरमशील पहि जाहि सुमाये॥^२

(ख) करि कुरूप विधि परबस कौन्हा। बवा सो लुनिघ सहिघ जो बीन्हा॥^३

यह तो हुई धात्र-सम्बन्धी नीति। व्यय-विषयक नीतियाँ भी रामकाव्य में अनेक दिखाई देती हैं; जैसे—धात्र के अनुसार ही व्यय करने वाला व्यक्ति समर्थ, सुमति, सुकृती, साधु और सुजान कहलाता है,^४ धनो को कृपण और अभिमानी न होकर धानी सम्पदा का दान-पुण्य में सदुपयोग करना चाहिए।^५

दान-पुण्य करने की प्रेरणा तो सभी नीति-काव्यों में पाई जाती है परन्तु दान के भेद-प्रभेदों तथा दान-पात्र व्यक्तियों का जितना विशद वर्णन केशवदास ने रामचन्द्रिका में किया है उतना नीति-काव्यों में हमारे देखने में नहीं आया।^६

केशवदास ने दान के निम्नलिखित बारह भेदों का उल्लेख किया है—१-सात्त्विक २-राजस, ३-तामस, ४-उत्तम, ५-मध्यम, ६-प्रथम, ७-नित्य, ८-नैमित्तिक, ९-सकाम, १०-निष्काम, ११-दक्षिण, १२-वाम।

उक्त द्वादशविध दानों के जो लक्षण केशवदास ने दिये हैं, उनके आधार पर इन्हें पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) विधिमूलक दान

(ख) धाममूलक दान

(ग) कालमूलक दान

(घ) फलमूलक दान

(ङ) धर्ममूलक दान

(क) विधिमूलक दान—उपर्युक्त सात्त्विक, राजस और तामस दान को विधिमूलक इसलिए कहा जा सकता है कि इनके अनुष्ठान में शास्त्र की विधि का विशेष ध्यान रखा जाता है। जैसे, सात्त्विक दान वही दान कहाता है जिसमें सपत्नीक दाता

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३६, पद्य ३३६

२. तुलसी सूक्तिसुधा, पृ० ४३५

३. रामचरितमानस, गुटका, पृ० २४५

४. तुलसी सतसई, पृ० २३३।२४

५. " " " २६२।१०२

६. रामचन्द्रिका, प्रकाश २१, पद्य १-१४

ब्राह्मण को विष्णु मान कर, हाथ में कुश लेकर, वेद-मन्त्र तथा गोत्र का उच्चारण करता हुआ सुवर्ण के सहित दान देता है। राजस दान में दाता ब्राह्मण के कारण दूसरे के हाथ से ब्राह्मण को दान दिलाता है और तामस दान में तो शास्त्रीय विधि की एकदम उपेक्षा की जाती है।^१

(ख) धाम-मूलक दान—उपरिलिखित उत्तम, मध्यम और अधम दान को धाम-मूलक इस कारण कहा जा सकता है कि इन में दान देने के स्थान का महत्त्व अधिक प्रदर्शित किया गया है। ब्राह्मण के घर में जाकर, अनेक प्रकार से उसका पूजन करके जो प्रचुर दान दिया जाता है, वह उत्तम दान है। जो दान ब्राह्मण को अपने घर में बुलाकर दिया जाता है उसे मध्यम और जो गुणी के माँगने पर दिया जा, यउसे अधम दान कहा गया है।^२ कदाचित् यह कहना अनावश्यक होगा कि उत्तम और मध्यम दान तो याचना के बिना ही दिये जाते हैं और अधम दान दानी के घर पर ही।

(ग) कालमूलक दान—नित्य और नैमित्तिक दान इस वर्ग के अन्तर्गत निहित किये जा सकते हैं क्योंकि दोनों का सम्बन्ध काल से है। प्रतिदिन दिए जाने वाले दान नित्य और अमावस्या, पूर्णिमा, जन्मदिन आदि पर दिये जाने वाले दुान नैमित्तिक कहे गये हैं।^३

(घ) फलमूलक दान—सकाम तथा निष्काम दान को इस कारण फलमूलक कहा जा सकता है कि इनका सम्बन्ध फल की प्राप्ति या अप्राप्ति की भावना से है। रोगमुक्ति, पुत्र-प्राप्ति आदि किसी विशेष कामना को मन में रखते हुए जो दान दिया जाता है वह सकाम और जो केवल 'रामनिमित्त' अर्थात् कर्तव्य-भावना से किया जाए वह निष्काम कहा गया है।^४

(ङ) धर्ममूलक दान—दक्षिण तथा वाम दान को इस वर्ग में रखने का कारण यह है कि इनमें धर्म अर्थात् परोपकार की भावना का प्राधान्य है। जो दान बापी, कूप, तड़ाग आदि परोपकार के कार्यों में दिया जाता है वह दक्षिण और जो धर्मविरुद्ध कार्यों के लिए दिया जाता है वह वाम कहलाता है।^५

स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि जो दान श्रद्धापूर्वक, शास्त्रीय विधि के अनुसार, निष्काम भावना से दिये जाते हैं वे सुदान हैं और शेष कुदान। सुदान देने वालों की गणना केशव ने उत्तम जनों में की है और कुदान देने वालों के मुख-दर्शन तक का निषेध किया है। केशवदास के मत में तो अन्य धर्म-कृत्यों को छोड़कर दान-मात्र

. रामचन्द्रिका प्रकाश, २१, पद्य ३-५

२.	"	"	"	६-७
३.	"	"	"	८
४.	"	"	"	८
५.	"	"	"	११

देने वाला व्यक्ति भी प्रभु को अपने अधीन कर लेता है ।^१

हाथी, घोड़ा, सुवर्ण, रजत, रत्न आदि अनेक मूल्यवान् द्रव्य दान में दिये जा सकते हैं परन्तु भूमिदान में वे सभी ऐसे अन्तर्भूत हो जाते हैं जैसे हाथी के पाँव में सब का पाँव—

केशव दान अनन्त हैं, बनें न काहूँ देत ।

यहै जानि भुवि सूप सब, भूमिदान ही देत ॥^२

दान के अधिकारियों में केशवदास ने विप्रों, और स्वयं सनाढ्य होने तथा सनाढ्यों के तपस्वी होने के कारण,^३ सनाढ्यों को विशेष महत्त्व दिया है । दान के समान-रूप से अधिकारियों के क्रम के सम्बन्ध में भी केशवदास ने एक बहुत बढ़िया बात कही है । वह यह है कि सर्वप्रथम तो अपने पर आश्रित जनों को दान देना चाहिए, तत्पश्चात् क्रमशः अपने नगर और देश के वासियों को तथा अन्त में विदेशीय जनों को । इस में सन्देह नहीं कि यह क्रम सर्वथा आदर्श न होने पर भी स्वाभाविक है—

पहिले निजवर्तिन देहु अर्बे । पुनि पार्वहि नागर लोग सबे ।

पुनि देहु सबे निज देशिन को । उबरो धन देहु विदेशिन को ।^४

इतर-प्राणि-सम्बन्धी नीति

रामकाव्य में सामान्य-रूप से पशु-पक्षियों के प्रति दया और उदारता के व्यवहार की शिक्षा दी गई है । भक्त गजराज को ग्राह-ग्रस्त देखकर स्वयं भगवान् उसके रक्षार्थ दौड़ पड़े ।^५ रामराज्य में निरपराध कुत्ते को पीटने वाला विप्र दण्ड्य ठहराया गया ।^६ ऐसा होते हुए भी कुक्कुर, वानर आदि प्राणियों को अपवित्र माना गया है । जब विप्र से प्रताड़ित कुत्ते को लक्ष्मण ने रामचन्द्रजी की धर्मसभा में अपना दुःख निवेदन करने को कहा तो उसने उत्तर दिया कि देवता, राजा और मनुष्य के घर तथा अन्य पवित्र स्थानों पर कुत्तिसत प्राणी को बिना बुलाए न जाना चाहिए ।^७ हनुमान् विभीषण को श्रीराम की भक्त-वत्सलता का विश्वास दिलाते हुए वानर-जाति की

१. रामचन्द्रिका प्रकाश २१, पद्य १२

२. " " " " १३

३. सन = तप, आढ्य = सम्पन्न, अतः सनाढ्य = तपोधन

४. रामचन्द्रिका, प्रकाश, २, पद्य ६

५. तुलसी ग्रन्थावली, खण्ड २, कवितावली, १७० । १८

६. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३४, पद्य २—१५

७. " " " " ५

अपवित्रता का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

प्रात लेइ जो नाम हमारा । तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ।^१ (तुलसीदास)

रामकाव्य खान-पान में भक्ष्याभक्ष्य का विचार करने की प्रेरणा करता है और उन लोगों को निन्द्य मानता है जो मांस, सुरा आदि का सेवन करते हैं—

अनुभ बेष भूषन धरे, मच्छामच्छ जे खाहि ।

तेइ जोगी तेइ तिहु नर, पूष्य ते कलिबुग माहि ॥^२

चोर चतुर, बटमार भट, प्रभु प्रिय भरुआ भण्ड ।

सबमझी परमारथी, कलि सुपथ पाखण्ड ॥^३ (तुलसीदास)

प्राणियों के प्रति उक्त दया-भावना की विद्यमानता में भी राजाओं और राज-कुमारों के आखेट की निन्दा दिखाई नहीं देती । कदाचित् ये कवि क्षत्रियों में अत्यधिक दया-भाव का संचार अनावश्यक समझते थे । जिन लोगों को युद्ध में शत्रुओं का निर्मम संहार करना हो उन्हें अत्यन्त दयालु बनाना इनकी दृष्टि में उचित न था । दशरथ ने यौवनावस्था में श्रवणकुमार को वन्य द्विरद मानकर ही शब्द-वेधी बाण चलाया था । बहिन के अपमान से क्रुद्ध खर-दूषण ने जब अपने मन्त्री को श्रीराम के पास यह संदेश देकर भेजा कि सीता को हमें सौंपकर सकुशल घर चले जाओ तब राम मुस्कराकर बोले—

हम छत्री मृगया बन करहीं । तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं ।^४ (तुलसीदास)

यह मृगया खल-रूप मृगों की ही नहीं, प्राकृत मृगों की भी होती थी । इस घटना के कुछ ही काल बाद जब मारीच सुवर्ण-मृग का रूप धारण कर पंचवटी में जा पहुँचा और सीताजी ने उसके सुन्दर अजिन पर मुग्ध होकर पति को उसका वध करने की प्रेरणा की, तब श्रीराम भी प्रिया को प्रसन्न करने के लिए मृग के वधार्थ उद्यत हो गए—

मृग बिलोकि कटि परिकर बांधा । करतल चाप हचिर सर साँधा ॥^५

(तुलसीदास)

जब विश्वामित्र जी ने विघ्नकारी राक्षसों के विनाश के लिए दशरथ से राम की याचना की तब दशरथ राम को साथ भेजने में ननु-नच करने लगे । इस पर विश्वामित्र बोले कि राजकुमार जिन हाथों से सामान्य लक्ष्य-वेध किया करते हैं, उन्हीं से वाराह, व्याघ्र और सिंहों का भी संहार कर देते हैं । केशवदास का

१. रामचरितमानस, गुटका, पृष्ठ ४७२

२. " " " ६५२

३. तुलसी सतसई, पृष्ठ २४७ । ६२

४. रामचरितमानस, गुटका, पृष्ठ ४८१

५. " " " ४२७

कथन है—

जिन हाथन हठि हरषि हनत हरनीरिपु-नन्दन ।
तिन न करत संहार कहा सबभक्त गयन्वन ?
जिन बेधत सुख लक्ष लक्ष नृप कुंवर कुंवर मनि ।
तिन बानन बाराह बाघ भारत नहि सिहनि ।
नृपनाथ-नाथ वशरथ यह अकथ कथा नहि मानिये ।
मृगराज राजकुलकमल कहं बालक वृद्ध, न जानिये ?^१

इसी प्रकार जब परशुराम श्रीराम पर क्रुद्ध होने लगे तब लक्ष्मण ने कहा कि हमने कितने ही घनुष शिकार के समय तोड़ डाले हैं पर किसी ने आपके तुल्य क्रोध नहीं किया। रघुराज सिंह कहते हैं—

केते तोरि डारे घनु खेलत सिकारन में,
कबहुँ न कीन ऐसो कोप और छोरे ते ।
रघुराज राजन की रीति नहि जानौ विप्र,
करो कहं जाय तप जानौ कहे थोरे ते ॥^२

रामकाव्य में जो सम्मान गौ का है, वह किसी अन्य प्राणी का नहीं। उसे ब्राह्मण और गुरु के समान ही पूज्य-पोष्य और अघ्न्य माना गया है। गोहत्या को ब्रह्महत्या के तुल्य महापाप कहा गया है। भगवान् भी गौओं के रक्षार्थ अवतार लेते हैं और श्रीराम ने गो-विप्रों के त्राणार्थ ताड़का का वध किया था। गोरक्षा के लिए संकट सहन करने की प्रेरणा भी की गई है तथा गोरक्षा से मुख मोड़ने वाले को नरक का भागी बताया गया है। गोस्वामीजी की उक्ति है—

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटाह जगजाल ॥^३

‘रामचन्द्रिका’ में जब हनुमान् अंगद को सीता की खोज में कुछ आलस्य करते देखकर ‘कृतघ्न’ कहता है तब अंगद उसे लज्जित करने के लिए यह कहता है कि तुम नरक के भागी हो क्योंकि जो व्यक्ति विपन्न धेनु, विप्र तथा स्त्री की रक्षा नहीं करता और चोर को दण्ड नहीं देता वह नरकगामी होता है—

आरत पुकारत हो राम-राम बार बार,
लौन्हों न छँडाय तुम सीता अति भीति मानि ।

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश २, पद्य १८

२. संक्षिप्त रामस्वयंवर, पृष्ठ १६४। २०६

३. रामचरितमानस, गुटका, पृष्ठ, २८५।६३

गाय द्विराज तिय काज न पुकार लागे,

नोगबे नरक घोर घोर की अमयदानि ॥^१ (केशवदास)

प्राणि-विषयक उक्त नीतियों के अतिरिक्त कई अन्य रोचक बातों का उल्लेख श्री रामकाव्य में इषर-उषर बाया जाता है, जैसे, वानर की अपनी पूछ पर विशेष ममता होती है, अपना हित तो पशु-पक्षी भी पहचानते हैं; बानर-रीछ आदि का नृत्य तथा शुक आदि का पाठ शिक्षकों के अधीन होता है, इत्यादि ।^२

मिश्रित नीति

रामकाव्य की मिश्रित नीति निम्नलिखित वर्गों में विभाज्य है—१. दैव, २. पुरुषार्थ, ३. संसार, ४. परलोक, ५. स्थान, ६. समय, ७. कलियुग, ८. शकुन और ज्योतिष ९. धर्म, १०. राजनीति, ११. फुटकल ।

१. दैव—रामकाव्य का अध्ययन करते हुए ऐसे लगता है कि मनुष्य दैव के हाथ की कठपुतली-मात्र है । विधाता वाम हो तो मनुष्य विवश हो जाता है । वह कितना ही उद्योग करे, ललाट की रेखा न मिटाए मिटती है, न धोए धुलती है । भाग्य के सम्मुख यह नत-मस्तकता वैसे तो भारतीय वाङ्मय में चिरकाल से चली आती है परन्तु हिन्दी के रामकाव्य में वह विशेष रूप से मुखर हो गई है । वस्तुतः रामकथा में भाग्य का प्रबल हाथ अत्यन्त स्पष्ट रूप से पाठक के सम्मुख उपस्थित होता है । कौशल्या और दशरथ ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन पर आसीन देखने के स्वप्न देख रहे थे और सीता तथा राम सिंहासनारूढ़ होने के । परन्तु दैव की करनी के सम्मुख किसी की दाल न गली । राम बनवासी हुए परन्तु वहाँ भी सुख कहाँ । दैव ने प्रबलतर प्रहार किया । ऐसी ही परिस्थितियों से रामकाव्य के प्रणेता दैव के गुणगान में लीन हो गये । सूरदास के शब्दों में श्री राम लक्ष्मण को प्रबोधित करते हैं—

यह भाबी कछु और काज है को जो याको मेटनहारो ।

या को कहा परेखो निरखो मधु छीलर सरितापति खारो ॥^३

और जब पति के वनवास का समाचार सुन कर सीता के नयनों से अश्रुधारा बह निकली तब, हृदयराम की शब्दावली में, श्रीराम उसे यों सान्त्वना देने लगे—

काहे को रोवत है सुन सुन्दरि अं कछु अंक लिखे न मिटाही ।

सामु को सेव भल करियो और हों हू चल्पी हों बिबा को तहाँ ही ॥^४

दैव की इस प्रकार की कठोर करतूतों से दुःखित होकर कई स्थलों पर उसकी

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश १३, पद्य ३६

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४८२, २४७, ३८६

३. सूर रामचरितावली, पृ० ३३

४. हृदयराम, हनुमन्नाटक, पृ० २५

मन्दबुद्धि की निन्दा भी की गई है ।^१

पुरुषार्थ—रामकाव्य की कथा क्षत्रियों के जीवन-चरित से सम्बद्ध है । इसलिए इसका भाष्यवाद सन्तों के नीतिकाव्य से कुछ निर्वन है । इसमें कहीं-कहीं भाष्य की अपेक्षा कर्म की प्रधानता लक्षित होती है और 'देव-देव' की रट लगाने वालों को भीर तथा झालसी और भाष्यवादी राजा को अशोभन कहा गया है । जैसे—

कादर मन कहूँ एक अधारा । देव देव झालसी पुकारा ॥^२ (तुलसीदास)

सूम सर्वभक्षी देववादी जो कुवादी जड़,

अपयशी ऐसी भूमि भूपति न सोहिये ॥^३

प्रायः तो यही विश्वास प्रचलित था कि ईश्वर जीवों को उनके कर्मानुसार ही फल देते हैं परन्तु ये कवि इस बात को भी प्रत्यक्ष देखते थे कि एक के कर्म का फल दूसरे को प्राप्त हो जाता है । ऐसी अवस्था में ये ईश्वर की गति को अबोध तथा मानवीय बुद्धि को सीम मानकर सन्तोष कर लेते थे । कैंकेयी को वर देने के पश्चात् दथरथ राम को प्रबोधित करते हुए कहते हैं—

सुम अरु असुम करम अनुहारी । ईसु बेइ फलु हवय विचारी ।

करइ जो करम पाव फल सोई । निगम नीति असि कह सहु कोई ॥

धौह कर अपराधु कोउ, और पाव फल भोगु ।

अति विचित्र भगवंत गति, को जग जाने जोगु ॥^४ (तुलसीदास)

इस प्रकार की उक्तियों के अवलोकन से ऐसे लगता है कि ये कवि न तो वेद-शास्त्र के 'कर्मानुसार फल' के सिद्धान्त को मिरया कहने का साहस रखते थे और न ही कभी-कभी उससे विरुद्ध दिखाई देने वाली लोकगति को ही झूठला सकते थे ।

३. संसार—इन कवियों का संसार-सम्बन्धी दृष्टिकोण सन्तों के समान ही है; अर्थात् यह संसार स्वप्न है, निस्सार है, झूठा है, मायारूप है और इन्द्रजाल है । इसके व्यवहार झूठे तथा मोहमूलक हैं; यह एक सागर है जिसे पार करने के लिए मनुष्य को शीघ्र ही सजग होना चाहिए—

मैं तोहि अब जान्यो संसार ।

देखत ही कमनीय, कछु नाहिन पुनि किये बिचार ।

ज्यों कदलीतरु-मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार ॥^५ (तुलसीदास)

इस निस्सार संसार में भी जहाँ तक संभव हो शुभ कार्य करना उचित है क्योंकि—

१. रामचरितमानस, गुटका, पृ० ३८०

२. " " " ४६६

३. रामचन्द्रिका, प्रकाश १८, पृष्ठ १०

४. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २७६-७७

५. विनयपत्रिका, पृष्ठ ३०२

कि अन्त में भले का भला ही होता है—

कीन्ह कृपालु बड़े नतपालु गए खल खेचर खीस खलाई ।

ठीक प्रतीत कहैं 'तुलसी' जग होई भले को भलाई भलाई ॥^१

परलोक—इह लोक को मिथ्या मानने वाले इन कवियों का ध्यान स्वर्ग और अपवर्ग पर यदि अधिक केन्द्रित रहता है, तो कोई विस्मय नहीं। प्राणी काल, गुण, कर्म और स्वभाव से प्रेरित होकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है और नानाविध दुःख भोगता है। उसका परम कर्तव्य यही बताया गया है कि रामभक्ति आदि साधनों द्वारा परलोक सुधारे।^२

स्थान—इन काव्यों में गंगा, यमुना, सरस्वती, सरयू आदि सरिताओं की महिमा का गान मुक्त कण्ठ से किया गया है। उनके पुनीत नीर के दर्शन और पान से तथा उनमें स्नान करने से त्रिविध ताप ही नष्ट नहीं होते, जन्म-जन्मान्तरों के पाप भी दूर हो जाते हैं। अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग, काशी, रामेश्वर, मिथिला, भरतकूप, सीता-वट आदि अनेक स्थानों का महत्त्व और पावनत्व अनेकत्र प्रदर्शित किया गया है। जिस भी स्थल पर इनके आराध्य सीता-राम के चरण पड़े, वही पुनीत, पावन और देवताओं का ईर्ष्यास्पद बन गया—

जहँ जहँ राम चरन चलि जाहीं । तिन्ह समान अमरावती नाहीं ॥^३

को कहि सकइ प्रयाग प्रमाऊ । कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ ॥^४ (तुलसीदास)

उक्त नदियों तथा तीर्थों की पावनता का उल्लेख तो कई स्थलों पर उपलब्ध होता है, कहीं-कहीं इस समग्र भारत भूमि की महिमा भी वर्णित है। यथा—

यह भरत खण्ड समीप सुरसरि, थल भलो संगति भली ।

तब कुमति कायर ! कलप-बल्ली चहति है द्विष फल फली ॥^५

यद्यपि रामकाव्य में वनवास के मुख और दुःख दोनों का ही उल्लेख पाया जाता है तथापि सुखों की अपेक्षा दुःखों का वर्णन अधिक है। कंकियों के मुख से अपने पिता की विकलता का कारण जानकर श्रीराम ने वनवास की जो प्रशंसा की थी उससे वास्तविकता की अपेक्षा श्रीराम की मुशीलता अधिक व्यक्त होती है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर ।

तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥^६ (तुलसीदास)

१. तुलसी ग्रन्थावली, खंड २, कवितावली, पृष्ठ १६३

२. तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३१६

३. राम चरित मानस, गुटका, पृष्ठ २६४

४. " " " २६१

५. विनय पत्रिका, पृष्ठ २१३

६. रामचरितमानस, गुटका पृष्ठ २५८।४१

निस्सन्देह वन-पर्वतों में ऋषि-मुनियों की सत्संगति करने और रमणीय प्राकृतिक शोभा देखने का अवसर मिलता है परन्तु वहाँ के कंटकाकीर्ण और विषम मार्ग, गर्मी-सर्दी और भाँधो-पानी, सिंह, गज आदि हिंस्र जीव, नर-भक्षक राक्षस और खान-पान तथा निवास-स्थान सम्बन्धी असुविधाएँ कहीं अधिक दुःखप्रद हैं ।^१ मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के घर में बिना बुलाए जाने में भी हानि नहीं परन्तु यदि ये भी जाने पर बुरा मानें तो न जाना ही श्रेयस्कर है ।^२ वस्तु की जो शोभा उचित स्थान पर होती है वह अन्यत्र नहीं—

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ।

नृप किरोट तरुनी तनु पाई । लहहि सकल सोभा अधिकाई ॥^३

समय—स्थान के समान ही समय-सम्बन्धी नीतियों की भी रामकाव्य में कमी नहीं; जैसे, प्रतिकूल समय में स्वार्थसाधक चाल चलनी चाहिए; पुरुष की परीक्षा विषम समय में ही होती है; धैर्य, धर्म, मित्र और पत्नी की कसौटी विपत्काल है; बुरे दिनों में मित्र भी शत्रु हो जाते हैं; समय पर चूकने से पश्चात्ताप करना ही पड़ता है, आदि । परन्तु विशेषतः उल्लेख्य है समय का राजा से सम्बन्ध, जिसमें राजा के भले-बुरे होने के कारण समय को ही भला-बुरा कहा गया है—

यथा अमल पावन पवन, पाय कुसंग सुसंग ।

कहिय सुवास कुबास तिमि, काल महोस प्रसंग ॥^४

कलियुग—भारतीय वाङ्मय में कलि को कुत्सित काल माना गया है । प्रचलित परम्परा के अनुसार रामकाव्य के रचयिताओं ने भी सामाजिक विषमता के वास्तविक कारण खोजने का यत्न न कर कलि को कलंकित कर ही सन्तोष कर लिया है । यदि स्त्री-पुरुष पाप-परायण हो गये हैं, वर्णाश्रम-मर्यादा भग्न हो गई है, सद्गुणों का लोप हो चुका है, शासक मूर्ख और क्रूर हैं, तीर्थों और देवालयों में पाप-लीलाएँ होती हैं, अनेक मिथ्या मतमतांतर प्रचलित हो गये हैं, सती स्त्रियों का बहिष्कार और कुलटाओं का सत्कार किया जाता है, वेद-पुराण आदि का अपमान करने वाले लोग संत समझे जाते हैं तो यह दोष कलि का ही है ।^५ अधिक क्या कहें, कलि ने मनुष्यों को इतना दुश्चरित्र बना दिया है कि दहित और पुत्री तक का भी विवेक नहीं रहा—

कलिकाल बिहाल किए मनुजा । नहि मानस बबो अनुजा तनुजा ॥^६

१. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २६६
२. तुलसी सूक्ति सुधा, पृष्ठ ३६६
३. तुलसी रत्नावली, पृष्ठ ५
४. तुलसी सतसई, पृष्ठ २५०।७०
५. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ६५१-५४
६. " " " " ६५४

समाज की इस अव्यवस्था को देखते हुए भी गोस्वामी जी, अपने सन्त-स्वभाव के कारण, किसी को बुरा न कह राम से ही रक्षा की प्रार्थना करते हैं—

कासों कीजं रोष ? दोष दीजं काहि ? पाहि राम,

कियो कलिकाल कुलि खलखल हो ।^१

परन्तु सौजन्य के अवतार गोस्वामी जी को पाप-मूल कलियुग को भी दोषी ठहराते हुए संकोच होता है। यही नहीं उन्होंने तो सत्ययुग, त्रेता और द्वापर की अपेक्षा भी, जिनमें कलियुग की अपेक्षा धर्म की अधिकता मानी जाती है, कलियुग को श्रेष्ठ कहा है। कारण, सत्ययुग में लोग योग और ज्ञान-ध्यान द्वारा, त्रेता में विविध यज्ञों और निष्काम कर्मों द्वारा, द्वापर में रघुपति की पद-पूजा द्वारा भवसागर के संतरण में समर्थ होते हैं परन्तु कलियुग में केवल राम के गुणगान से निर्वाण-लाभ कर लेते हैं—

कलि जुग सम जुग भ्रान नहि, जो नर कर विस्वास ।

गाइ राम गुनगन विमल, सब तर बिनिहि प्रयास ॥^२

अधम माने जाने वाले युग को उत्तम सिद्ध कर देना सचमुच गोस्वामी जी की ही कल्पना का काम है।

८. शकुन और ज्योतिष—राम-कवियों का शुभाशुभ शकुनों तथा फलित ज्योतिष पर पूर्ण विश्वास था। केशवदास के मत में सीता स्वयंवर में सफलता की सूचना श्रीराम को तभी मिल गई थी जब उनके मिथिला-प्रवेश करते ही सूर्य का उदय हुआ था।^४ दक्षिण ग्रंथ का स्फुरण पुरुषों के लिए शुभ तथा स्त्रियों के लिए अशुभ माना गया है। जब जनक की वाटिका में श्रीराम का दक्षिण बाहु और नेत्र फड़कने लगता है, तब वे रघुराजसिंह के शब्दों में, लक्ष्मण से इस प्रकार कहते हैं—

या छन बच्छिन बाहु विलोचन बयों फरकं कछु जानि न जाता ।

कीन्हो विचार मनं बहु बारन सो सब कारन जान विधाता ॥^५

उनके दक्षिण ग्रंथ के स्फुरण के बाद तो उन्हें सीता-सी साध्वी-सुन्दरी स्त्री की प्राप्ति हुई परन्तु कैकेयी की दक्षिण आँख के स्फुरण तथा कुस्वप्न-दर्शन से उसे भावी अनिष्ट की सूचना मिली।^६ बाईं और नीलकण्ठ पक्षी का दर्शन, दाईं और कीर्ण का तथा किसी भी ओर नेबले का दिखाई देना और सामने से बच्चों वाली स्त्रियों का सजल घट भरकर लाना शुभ माना गया है। श्री राम की बरात के प्रस्थान के अव-

१. तुलसी ग्रन्थावली, खण्ड २, कवितावली, पृष्ठ १८६। ६८

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ६५५

३. " " " "

४. रामचन्द्रिका, प्रकाश, ५, पद्य ८

५. संक्षिप्त राम स्वयंवर, पृष्ठ ६८। ५५०

६. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २४७

सर पर यही शुभ शकुन हुए थे ।^१ इनके विपरीत गधों का रेंकना, गीदड़ों का चिल्लाना, कुत्तों का भौंकना, तारों का टूटना तथा अमावस्या के बिना ही सूर्य-ग्रहण आदि अमा-गलिक माने जाते हैं । रावण की मृत्यु के पूर्व ऐसे ही अपशकुन प्रकट हुए थे ।^२ अप-शकुनों से सूचित अमंगलों के निवारणार्थ दान-पुण्य करने, ब्राह्मणों को भोजन खिलाने तथा देवार्चन आदि का भी उल्लेख मिलता है । रामादि के वनवास और पिता के परलोकवास पर जब भरत को कुस्वप्न दिखाई देने लगे तो उन्होंने इन्हीं साधनों का आश्रय लिया था ।^३

ग्रह-नक्षत्रों के शुभाशुभ प्रभाव को विचार कर काम करने का उल्लेख राम-काव्यों में अनेक स्थलों पर दिखाई देता है । चतुर्थी के चन्द्रमा का दर्शन अनिष्टकारक है, नामकरण, अन्नप्राशन, विवाहादि संस्कारों का अनुष्ठान शुभ मुहूर्तों में ही करना उचित है, इत्यादि अनेक बातों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख रामकाव्यों में दृष्टिगत होता है ।^४

६. धर्म—रामकाव्य धर्म-प्राण क्षत्रिय राजा श्रीराम का चरित्र है जो अखण्ड, अनादि, अनन्त भगवान् ही थे और धराधाम पर अधर्म को ध्वस्त करने के लिए ही अव-तीर्ण हुए थे । इसलिए रामकाव्यों में ईश्वर-विश्वास, वेदशास्त्र के प्रति अगाध श्रद्धा, वेद-विरोधी पंथों की निन्दा आदि कई स्थलों पर दिखाई देती है । परन्तु इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय रामभक्ति और रामगुणगान है जिनके बिना मनुष्य के सब गुण ही नहीं जीवन हा निष्फल माना गया है—

लोकहुँ वेद विवित कवि कहहीं । राम विमुख थलु नरक न लहहीं ।^५

हिम ते अनल प्रगट बर होई । विमुख राम सुख पाव न कोई ॥^६

१०. राजनीति—राज-सम्बन्धी काव्य होने के कारण रामकाव्य में राजनीति की मात्रा प्रचुर है, परन्तु उसका विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय नहीं । राम-काव्यों में त्रिविध राजा और कर, चतुर्विध मन्त्री और मन्त्र, दूत की अवध्यता, राजा की जितेन्द्रियता और विनयशीलता, युद्ध में शत्रु पर दया न करना और कपट का भी प्रयोग कर लेना, प्रजा को सुखी रखने का पूर्ण उद्योग करना आदि विषयों की चर्चा अनेक स्थानों

१. रामचरित मानस, गुटका, पृ० १६६

२. " " " " ५७३

३. " " " " ३१७

४. " " " " २४३; तुलसी सूक्तिसुधा, पृष्ठ ४०३, संक्षिप्त राम-

स्वयंवर, ३२, ३८; रामचन्द्रिका, प्रकाश, ६, पद्य २

५. रामचरितमानस, गुटका, पृ० ३६६

६. तुलसी सूक्तिसुधा, पृष्ठ ४३३ । ४६

पर की गई है।^१ राजा के प्रति प्रजा के कर्तव्यों का उल्लेख भी रामकाव्य में पर्याप्त है; जैसे, राजा की सेवा से सम्मान की प्राप्ति होती है और दास की सेवा से उहास की; नरेश के वचनों का कभी उल्लंघन न करना चाहिए, इत्यादि।^२

१३ फुटकल—उक्त मुष्ट विषयों के प्रतिरिक्त अनेक अन्य नीति-विषयों का भी उल्लेख रामकाव्यों में छिटपुट रूप से प्रसंगवश किया गया है; जैसे, अल्पाकार वस्तु भी महाबली होती है; कारण से कार्य कठिन होता है; स्वार्थ-साधक अपवित्र वस्तु भी पवित्र प्रतीत होती है; कलह को तुच्छ न समझो; विग्रह की अपेक्षा विवेक और विजय से पराजय भली; जल, अग्नि, प्रभु और पवन समदर्शी हैं, इत्यादि। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

हित पुनीत स्वारथ सबहि, अहित अशुचि बिन चाड़।

निज मुख माणिक सम बसन, भूमि परत भी हाड़ ॥^३

कारन तें कारजु कठिन, होइ बोलु नहि मोर।

कुलिस अस्थिते उपल तें, लोह कराल कठोर ॥^४ (तुलसीदास)

रामकाव्य पर एक दृष्टि

नवीन विषय—उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट है कि रामकाव्य पूर्ववर्ती हिन्दी के नीतिकार्य का चवित-चर्वण मात्र नहीं। उसमें ऐसी अनेक नीतियों का भी प्रतिपादन किया गया है जो हिन्दी में पूर्ववर्ती कृतियों में अलभ्य या दुर्लभ हैं; जैसे—बाल्य और यौवन के दुःख, वृद्धों की मृत्यु पर क्रन्दन का अनौचित्य, क्रोध में मौन भला, बला और अबला विद्याएँ, सम्बन्धियों के कर्तव्यों का सविस्तर वर्णन, अनपत्यता की अपेक्षा पुत्री तथा जामाता का होना अच्छा, सगी माता से भी सौतेली का अधिक सम्मान, कन्या का पितृगृह-विस्मरण असम्भव, एकपत्नीव्रत, चतुर्विध पतिव्रताएँ, विधवाओं के कर्तव्य, सेवक की संमान्यता, मठपति की निन्दा, कम व्याज पर ऋण, दान, दानी और दानपात्रों के विभिन्न भेद, अन्यकृत कर्म का अन्य को फल, भारत-महत्त्व, वनवास के दुःख, शासक में समय को परिवर्तित करने का सामर्थ्य, कलियुग की प्रशंसा आदि।

प्राचीन विषय—हिन्दी का रामकाव्य हिन्दी-कवियों की मौलिक कृति नहीं है। वह संस्कृत की वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक आदि काव्य-ग्रन्थों और धर्म-ग्रन्थों के आधार पर प्रणीत है। इसलिए उसमें दृश्यमान नीति की दो

१. रामचन्द्रिका, सत्रहवाँ प्रकाश, पृष्ठ ३६०-३६४ ॥ रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २७३ ॥ तुलसी-रत्नावली, पृष्ठ ६२ आदि

२. रामचन्द्रिका, प्रकाश ११।३८; वही, प्रकाश, १०।३४

३. तुलसी सतसई, पृष्ठ २२४।३

४. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ३२६॥१७६

द्वाराएँ स्पष्ट रूप से लक्षित होती हैं—(क) रामकथा-सम्बन्धी नीति, (ख) धर्म-शास्त्रीय नीति ।

रामकथा-सम्बन्धी नीति

माता-पिता के प्रति अगाध श्रद्धा, उनकी आज्ञाओं का प्राण-परण से पालन, सत्य-सन्धत्व, पतिव्रत और पत्नीव्रत धर्म की रक्षा, भाइयों के प्रति अगाध अनुराग और उनके हित के लिए अपूर्व त्याग, सास-ससुर की पूजा, बहुओं से स्नेह, वनबास के दुःख, सन्मित्रों के लक्षण और कर्तव्य, शरणागत की रक्षा, रामकथा और रामनाम का माहात्म्य, राजनीति आदि विषयों का रामकथा से सम्बन्ध इतना स्पष्ट है कि उसका विवरण देना अनावश्यक है । वस्तुतः रामकाव्यों की रचना रामकथा के व्याज से पाठकों को इन्हीं नीतियों का उपदेश देने के लिए की गई है ।

धर्मशास्त्रीय नीति

रामकाव्यों के रचयिता प्रायः कुलीन ब्राह्मण थे जो वेद-पुराणादि धर्म-ग्रन्थों तथा भारतीय परम्पराओं से पूर्णतया परिचित थे । ये कर्ीर आदि सन्तों के समान क्रान्तिकारी सुधारक न थे अपितु प्रचलित विश्वासों तथा रूढ़ियों में थोड़ा रखते थे । यही कारण है कि इन काव्यों में नदियों, तीर्थों, पण्य-स्थलों, विप्रों, गुरुओं और गोशों के प्रति अगाध आस्था दिखाई देती है । वर्णाश्रम के भेद-भाव को मिटाने का निर्गुणिया भक्तों ने तो पूरा प्रयास किया था परन्तु इन्होंने उसे पुनः प्रचलित करने का भरसक उद्योग किया । विधर्मियों और तथाकथित हीन जातियों के प्रति भी प्रायः इस काव्य में वह उदारता दृष्टिगत नहीं होती, जिसे हम सन्तकाव्यों तथा सूफीकाव्यों में देख चुके हैं । इसका एक कारण तो पूर्ववर्त्ती संस्कृत-शास्त्र हैं, जिनमें वर्ण-व्यवस्था कर्मशः विकृत होकर उच्चावच जाति-पाति का रूप धारण कर चुकी थी और दूसरा, मुसलमानों का हिन्दुओं से सहज द्वेष, गोहत्या आदि ।

पूर्ववर्त्ती साहित्य का प्रभाव—रामकाव्यों के प्रणोता अधिकतर सन्त कवियों के समान निरक्षर तथा विद्या-विरोधी न थे । इनकी रचनाओं के अवलोकन से विदित होता है कि इन्होंने रामायण, महाभारत, पुराण, चाणक्य-नीति, हितोपदेश, प्रसन्न-राधव आदि रामकथा तथा नीति से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का पारायण किया हुआ था । निस्सन्देह इनके भावों और भाषा पर पूर्ववर्त्ती कृतियों का कहीं-कहीं प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है परन्तु अक्षरशः अनुवाद करने की इनमें प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती । ऐसे लगता है कि प्राचीन ग्रन्थों के भाव लेकर इन्होंने उसे यथामति विकसित करने का उद्योग किया है । निम्नांकित पद्यों की तुलना से हमारे कथन की पुष्टि

होती है—

(क) दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।

स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥^१ (वाल्मीकि)

दुःशीलो दुर्भंगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोपि वा ।

पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेऽप्युभिरपातको ॥^२ (भागवत)

वाल्मीकि तथा भागवतकार का आशय यह है कि आर्य नारियाँ दुःशील, कामी, निधन, वृद्ध, मूर्ख और रोगी पति को भी देव-तुल्य मानती हैं और उनका परित्याग नहीं करती । जिस भाव को धारण करने के लिए संस्कृत के कवियों ने सामान्य प्रेरणा की थी, उसी के लिए तुलसीदास नरक का त्रास दिखाते हुए कहते हैं—

वृद्ध रोगबस जड़ धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥

ऐसेहु पति कर किए अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥^३

(ख) गीताकार ने प्रतिष्ठित मनुष्य के लिए अपमान को मृत्यु से बढ़कर दुःखद कहा है परन्तु गोस्वामीजी उसे करोड़ निधनों के समान संतापजनक कहते हैं—

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।^४

संभावित कहुं अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥^५

वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियः सदा ।

शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥^६ (नारायण पंडित)

अर्थात् जिस राजा के वैद्य, गुरु और मंत्री हाँ में हाँ मिलाने वाले होते हैं, वह जीवन, धर्म तथा राज्यश्री से शीघ्र ही वंचित हो जाता है । गोस्वामी जी ने इसी पद्य के आशय को राजा तक ही सीमित न रखकर सर्वोपयोगी बना दिया है—

सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आसु ।

राजधर्म तनु तीन कर, होइ बेगि ही नासु ॥^७

परिस्थितियों का प्रभाव—रामकाव्यों की नीति पर संस्कृत के राम-काव्यों तथा नीतिकाव्यों का ही प्रभाव नहीं पड़ा, तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव ही पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है । यद्यपि मुगल-शासन पठान-शासन की अपेक्षा उदार था तथापि युद्ध की दुन्दुभि प्रायः बजती ही रहती थी और साम, दाम आदि उपायों की

१. वाल्मीकि रामायण, पृष्ठ ३४२।२५

३. श्रीमद् भागवत महापुराण (गीताप्रेस, गोरखपुर) खण्ड २, पृष्ठ ३०३

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४०६

४. भगवद्गीता, अध्याय, २।३४ ॥

५. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २८५

६. हितोपदेश (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४६ ई०) पृष्ठ १६८

७. तुलसी साहित्य रत्नाकर, पृष्ठ, ३११

अपेक्षा दंड का ही अधिक प्रयोग किया जाता था—

गौंड गँवार नृपाल कलि, यवन सहा महिपाल ।

साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल ॥^१

जनता की आर्थिक अवस्था भी विशेष अच्छी न थी । बेरोज़गारी के कारण लोग दुःखित थे । अकबर और जहांगीर के शासन-काल में भी ऐसे अकाल पड़े थे कि लोग जठराग्नि को शान्त करने के लिए अपनी सन्तान के भक्षण पर विवश हो गये थे । गोस्वामी जी ने इस दुरवस्था का उल्लेख अनेक पद्यों में किया है । यथा—

(क) कलि बारह बार दुकाल परें, बिन अन्न दुखो सब लोग मरें ।^२

(ख) खेतो न किसान को भिखारी को न भोख, बलि,

बनिक को बनज न चाकर को चाकरी ।

जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,

कहें एक एकन सौं, 'कहाँ जाई, का करो' ॥^३

रामकवि धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से भी असंतुष्ट थे क्योंकि सिद्ध, योगी, सन्त आदि अपने-अपने मतमतान्तरों का प्रचार कर जनता को वेदपुराणों से विमुख कर रहे थे । प्राचीन वर्णाश्रम मर्यादा का उल्लंघन हो रहा था और पाखण्डी लोग नख और जटा बढ़ाकर जन-वंचना कर रहे थे । गोस्वामी जी के लिए यह दशा असह्य थी । अतएव उनकी वाणी यों मुखर हो उठी—

वेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है ।

काल कराल, नृपाल कृपाल न, राज समाज बढ़ो ई छली है ॥

वर्न-विभाग न आश्रम धर्म, दुनो दुख दोष दरिद्र दली है ।

स्वारथ को परमारथ को कलि राप को नाम-प्रताप दली है ॥^४

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान ।

भगति निरूपहि भगत कलि निर्दहि वेद पुरान ॥^५

यद्यपि कलिकाल के वैषम्य के विषय में तो पुराणों तथा-नीति काव्यों के लेखकों ने भी अपने-अपने विचार व्यक्त किये थे तथापि तुलसीदास जी ने यवन शासक, साखी, सबदी, दोहरा, सिद्ध, योगी आदि का जो उल्लेख कलि-वर्णन के प्रसंग में किया है, वह परंपरा का निर्वाह-मात्र न होकर परिस्थितियों से प्रेरित ही माना जायगा ।

१. तुलसी सतसई, पृष्ठ २४७।६३॥

२. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ६५४ ॥

४. तुलसी ग्रंथावली, खंड २, कवितावली, पृष्ठ १८५।६७ ॥

३. " " " " " " १८४।८५॥

५. बोहावली, पृष्ठ १६० । ५५४

कलापक्ष—रामकाव्य के रचयिता कोरे भक्त नहीं थे, साहित्य के मर्मज्ञ और कला-कुशल कवि भी थे। यही कारण है कि इनकी कृतियों में जो नीति रचना दृष्टि-गोचर होती है वह प्रायः पद्यमात्र नहीं है, साहित्यिक सौष्ठव से समन्वित है। उसमें प्रायः सभी रसों तथा भावों की अच्छी व्यंजना हुई है। ब्रज और अवधी दोनों ही भाषाओं का इन काव्यों में व्यवहार किया गया है और प्रायः भाषा सुव्यवस्थित तथा प्रसाद-पूर्ण है। तुलसीदास, केशवदास, हृदयराम आदि की अपेक्षा रसिक सम्प्रदाय के कवियों में फारसी, अरबी आदि के शब्दों का पुट अधिक है। दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित तथा सबैया छन्दों में नीति का प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है। प्रायः तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, आत्माभिव्यंजक, प्रश्नोत्तर, पद, संवादादात्मक, शब्दावर्तक व दार्शनिक उपमानों की शैली का अधिक व्यवहार किया गया है। अधिकतर शैलियों के उदाहरण ऊपर आ ही चुके हैं। नैतिक व दार्शनिक उपमानों की शैली के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) नैतिक उपमान —

खोजत कतहुँ मिलइ नहि धूरी । करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी ॥

ससि संपन्न सोहु महि कंसी । उपकारी कं संपति जंसी ॥^१

(ख) दार्शनिक उपमान —

श्रद्धा बिना धर्म नहि कोई । बिनु महि गंध कि पावइ कोई ॥

सोल कि मिल बिन बुध सेवकाई । जिमि बिनु तेज न रूप गोसाई ॥^२

वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी का प्रधान गुण गंध, जल का रस, अग्नि का तेज, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द माना गया है। गोस्वामी जी ने अपने कथन की पुष्टि के लिए वही से उपमान ग्रहण किये हैं। अलंकारों की दृष्टि से भी यह नीति-काव्य महत्त्वपूर्ण है। अधिकतर पद्य एक या दूसरे अलंकार से सुभूषित हैं। उपमा, रूपक, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रासादि अलंकारों के उदाहरण स्थल-स्थल पर उपलब्ध होते हैं। ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुणों का यथास्थान प्रयोग दिखाई देता है। आलोचित कवियों में अर्थों की अपेक्षा केशवदास के नीति-पद्यों में सरसता कम है। कहीं-कहीं अनधिकारी के मुख से किया गया नीति-कथन भी बुरी तरह से खटकता है। जैसे श्रीराम के प्रासाद में वसिष्ठ जी के आगमन पर श्रीराम का यह कथन—

सेवक सदन स्वामि आगमनू । मंगल मूल अमंगल वमनू ।

तदपि उचित जनु बोलि सप्रोति । पठइअ काज, नाथ असि नीति ॥^३

कहा जा सकता है कि श्रीराम साक्षात् भगवान् थे, अवतार थे, अतएव वसिष्ठ

१. रामचरितमानस, गुटका, पृष्ठ, ४५५

२. रामचरितमानस, गुटका, पृष्ठ ६४६-४७ ॥

३. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ २४२ ॥

जी को भी उपदेश देने के योग्य थे परन्तु विस्मरण न करना चाहिए कि जब वे नरलीला कर रहे थे तब उनका मानवोचित व्यवहार ही श्लाघ्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'रामचन्द्रिका' में श्रीराम ने वनगमन के समय कौशल्या जी को सधवा और विधवा के कर्तव्यों का जो उपदेश दिया वह भी पुत्र द्वारा माता के प्रति उपदेश होने के कारण शोभा नहीं देता।^१

राम-काव्य के अन्तर्वर्ती नीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएं

- १—इस काव्य में सत्य-वचन, प्रतिज्ञा-पालन और राम-नाम के जाप पर विशेष बल दिया गया है।
- २—वेद-शास्त्र तथा पुराणों के महत्त्व का वर्णन बहुत अधिक है।
- ३—माता-पिता, पातिव्रत, पत्नीव्रत, भ्रातृप्रेम, बहू द्वारा सास-ससुर की सेवा आदि पारिवारिक कर्तव्यों की प्रेरणा प्रचुरता से की गई है।
- ४—जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, जाति-पाति के भेद-भाव की रक्षा पर बल दिया गया है।
- ५—सन्मैत्री, शरणागत-रक्षा, विप्र, गुरु और गौ की पूजा को विशेष महत्त्व दिया गया है।
- ६—वनवास के दुःख, तीर्थादि की पावनता, राजनीति, धर्म और आध्यात्मिकता की चर्चा बहुत अधिक है।
- ७—यह काव्य प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों रूपों में प्राप्त होता है, परन्तु अधिकता प्रबन्धात्मक काव्यों की है।
- ८—ब्रज-भाषा और अवधी दोनों में काव्य-रचना हुई है।
- ९—साहित्यिक गुणों की दृष्टि से भी यह काव्य महत्त्व-पूर्ण है।
- १०—यद्यपि इसमें सामाजिक अन्ति की विशेष भावना लक्षित नहीं होती तथापि पारिवारिक जीवन को स्वर्गमय बनाने के लिए यह काव्य अद्वितीय है।

(घ) कृष्णकाव्य में नीतितत्त्व

हिन्दी के मध्यकालीन काव्य-साहित्य में कृष्णकाव्य का विशिष्ट स्थान है। जब सैकड़ों वर्षों के विदेशीय शासन के कारण हिन्दू जाति पादाक्रान्त, निरुत्साह और मृतप्राय हो चुकी थी तब उनके शुष्क जीवन में आनन्द और उल्लास की मधुर धारा को कृष्णकाव्य ने प्रवाहित किया। कृष्ण-भक्ति के प्रचारक निम्बार्क, वल्लभ, राधा-वल्लभीय, हरिदासी आदि सम्प्रदायों के आचार्यों तथा अनुयायियों ने जिस विशाल और माधुर्यपूर्ण काव्य की सृष्टि की, उससे निस्सन्देह हिन्दी की गरिमा में वृद्धि हुई। सूरदास,

नन्ददास, परमानन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों ने तथा हरिदास, हित हरिवंश, व्यास, मीराबाई, रसखान, नरोत्तमदास, वृन्दावनदास, किशोरदास आदि अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने जिस ललित और माधुर्यपूर्ण काव्य की रचना की है वह किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। इन काव्यों में जहाँ जगावनी, कलेऊ, शृंगार, मंथन, छाक, भोजन, सन्ध्या (ब्रज-आवनी), ब्यारू (रात्रि-भोजन), शयन, मान, पोढबो, सुरतान्त, खण्डिता, बाल-लीला, उराहनो आदि श्री कृष्ण के नित्य भ्रम का सविस्तार और सरस उल्लेख किया गया है, वहाँ जन्माष्टमी, पलना, राधाष्टमी, रास, हटरी, गोवर्द्धन-धारण, भाई-दूज, गोपाष्टमी, वसन्त, वर्षा, शरद्, रक्षाबन्धन, रथ, हिंडोरा, स्नानयात्रा, ब्रज, वृन्दावन आदि पर्वों, ऋतुओं और पुण्यस्थलों का भी सुमधुर वर्णन पाया जाता है। रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण और अनुरागमूर्ति श्री राधा जी की लीलाओं से सम्बन्धित कृष्णकाव्य कृष्ण-प्रेमियों तथा साहित्य-रसिकों के लिए निस्सन्देह रस-सागर के समान है परन्तु हमारे विषय की दृष्टि से यह विशेष महत्त्व नहीं रखता। कारण, ये कवि पाठकों को कर्तव्य की शिक्षा देने के उद्देश्य से नहीं उन्हें राधाकृष्ण के प्रेम में मग्न करने के उद्देश्य से ही काव्य-रचना करते थे। यही कारण है कि प्रायः इन की कृतियों में नीति और व्यवहार के उपदेश स्पष्टरूप में कहीं दिखाई नहीं देते। फिर भी कहीं-कहीं कुछ पंक्तियाँ प्रसंगवश आ ही जाती हैं, जिनसे इन कवियों की नीति की कुछ झलक उपलब्ध हो जाती है। विवशतः हमें प्रतिपाद्य विषय के विवेचन के लिए उन्हीं तक सीमित रहना पड़ता है।

१. वैयक्तिक नीति

(क) शारीरिक नीति — यद्यपि इन कवियों ने अपने इष्ट देवी-देव श्रीराधा और श्रीकृष्ण के नख-शिख के सौन्दर्य के वर्णन में कोई कोर-कसर नहीं रहने दी, तथापि पाठकों के लिए इनका शरीर-सम्बन्धी उपदेश प्रायः अन्य भक्त कवियों के समान ही है। देह मिथ्या है, जीवन की अवधि अल्प है, इसलिए न इस शरीर पर गर्व करना उचित है और न इसे विषय-भोगों में नष्ट करना वांछनीय। इसकी सार्थकता हरिभजन में ही है और वास्तविक सुख की उपलब्धि शरीराभिमान के परित्याग से ही सम्भव है। सूरदास जी का कथन है—

(क) मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।

मिथ्या है यह वेह कहौ क्यों हरि बिसराया ॥^१

(ख) तन अभिमान जासु नसि जाइ। सो नर रहे सदा सुख पाइ।

और जो ऐसी जाने नाहि। रहे सो सदा काल भय माहि ॥^२

१. सं० नंद दुलारे बाजपेयी: सूरसागर (ना० प्र० सभा० काशी, २००५ वि०), पृष्ठ ४३० ॥

२. सं० नंद दुलारे बाजपेयी: सूरसागर (ना० प्र० सभा० काशी, २००५ वि०) पृष्ठ १३२ ॥

शरीर की इस उपेक्षा के होते हुए भी कहीं-कहीं इसकी प्रशंसा भी दृष्टिगत हो जाती है, क्योंकि अन्ततः यह मानवीय शरीर ही है जिसके द्वारा मनुष्य प्रभु-प्राप्ति में समर्थ हो सकता है किसी अन्य योनि के शरीर द्वारा नहीं—

नहिं एसो जनम बारं बार ।

का जानूँ कछु पुण्य प्रगटे, मानुसा अवतार ॥^१

उक्त शारोरिक नीतियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी नीतियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं; जैसे, मनुष्य अकेला खेल कर सुखी नहीं होता, आलस्य से बचाव के लिए आधा-पेट भोजन करना उचित, इत्यादि—

(क) एकाकी जस खेलत कोई । खेलत ताहि कछु न सुख होई ॥^२

(ख) अरु भोजन सो इहि विधि करे । आधौ उदर अन्न सौं भरे ।

आधे में जलवायु समाये । तब तिहि आलस कबहुँ न आवे ॥^३

वाणीविषयक नीति में ये कवि राधा और कृष्ण के ही नाम के जप की प्रेरणा नहीं करते, बल्लभ, विठ्ठल, हरिदास आदि साम्प्रदायिक आचार्यों के नाम के जाप को भी बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं ।^४ छोटा मुंह बड़ी बात अनुचित है, अमृतभाषण हित-कर नहीं होता, निन्दक को निन्दा करने में आनन्द आता है आदि वाग्विषयक सामान्य नीति के अतिरिक्त कुछ दुर्लभ नीतियाँ भी इधर-उधर उपदिष्ट हैं; जैसे— रसिकों की गाली भी भली होती है, मधुर वाक् के साथ हृदय की मृदुलता भी आवश्यक है, इत्यादि

मुख मीठी बातें कहै, हिरदं निपट कठोर ।

‘व्यास’ कहौ क्यों पाय है, नागर नंद फिसोर ॥

व्यास बड़ाई और की मेरे मन धिक्कार ।

रसिकन की गारी भली यह मेरी सिंगार ॥^५

इन काव्यों में शरीर के अन्य अंगों की सार्थकता भी इसी बात में बताई गई है कि वे आराध्य देव के सम्पर्क में रहें । इस विषय में व्यास जी का एक पद द्रष्टव्य है राग सारंग—

सुनि धिनती मेरी तू रसना, राधावल्लभ गाइ ।

सुनि मुख सदन वदन मेरे तू, प्रीति प्रसादहि पाइ ।

सुनि दुखमोचन मेरे लोचन, जुगलकिशोर दिखाइ ॥

१. सं० परशुराम चतुर्वेदी : सारंगजाई की पदावली, (हिं० सा० सं० प्रयाग, २०११), पृष्ठ १५८ । १६५ ॥

२. सं० बजरत्नदास : नंद दास ग्रंथावली, भाषा दशम स्कंध, पृष्ठ २६६ ॥

३. सूरसागर, पृष्ठ १३४ ॥

४. ‘छोत स्वामी’ (विद्याविभाग कांकरोली, २०१२ वि०), पृष्ठ ७४, ७८ ॥

५. ध्यासवाणी, (प्र० राधाकिशोर, वृन्दावन, १९६४ वि०), व्यास जी की साखी, बोहा ७२, १०३ ॥

मुनिहि श्रयन रति-भवन किशोरहि, गावत नेकु सुनाइ ।

मुनि नासा तूं चारु चरण पंकज की बास सुघाइ ॥^१ इत्यादि

(ख) मानसिक नीति—इन काव्यों में वेद-शास्त्र और विद्या के लिए सामान्य रूप से श्रद्धा विद्यमान है ।^२ विभिन्न संस्कारों के अवसर पर द्विजगण वेदपाठ करते हैं और दान पुण्य भी वेदविधि के अनुसार किया जाता है । आर्यग्रन्थों के श्रवण की प्रेरणा भी की गई है ।^३ परन्तु यह सब कुछ तभी तक ठीक है जब तक विद्या और ग्रंथ श्याम भजन में सहायक हों । यदि वेद और विद्या से उक्त साध्य की सिद्धि न हो तो पाठक भारवाही खर है और श्रुति आदि ग्रन्थ भार रूप हैं—

‘व्यास’ न कथनी काम की, करनी है इक सार ।

भक्ति बिना पंडित वृथा, ज्यों खर चंदन भार ॥^४

‘किसोर दास’ पंडित पसू, लदे फिरत श्रुति भार ।

कहत अवर करनी कछु, काम क्रोध अहंकार ॥^५

ध्यान देने की बात है कि इन काव्यों में भागवद्गीता और श्रीमद्भागवत पुराण को वेदों से भी उत्कृष्ट माना गया है । कारण यह कि भगवद् गीता स्वयं श्री कृष्ण जी का दिव्योपदेश है और भागवत पुराण कृष्णप्रेम और कृष्णलीला का आकरग्रंथ—

धनि सुक मुनि भागवत बखान्यौ ।

जो रस रास रंग हरि कीन्ह्यो, बेद नहीं ठहरान्यौ ॥^६

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने भापा-विशेष पर भावों के गौरव को ही अधिमान दिया है, उसी प्रकार इन कवियों ने भी उस भापा की प्रशंसा की है जिस में कृष्ण-कीर्तन हो और उसकी निन्दा जो कृष्ण भक्ति से रहित—

(क) का भाखा का संसंकित, जिभव चाहिए साच ।

काम जो आवैं कामरी, का लैं करिय कमाच ॥^७ (तुलसीदास)

(ख) ताकूं गनिये प्राकृति बानी ।

जामधि नित्य निकुंजबिहारी कीरति तनक न आनी ॥

भापा निदि संसकृत बंदित वनि पंडित अभिमानी ।

दिन विवेक मरम न पावत सठ हठता बसि अग्र्यानी ॥^८

१. व्यासवाणी, पृष्ठ ५६ ॥

(महन्त किशोरदास)

२. सूरसागर, पृष्ठ ६११ ॥

३. चाचा वृन्दावनदासः विवेकपत्रिका बेली (वृन्दावन, २००६ वि०), पृष्ठ २।१६ ॥

४. व्यासवाणी, व्यास जी की साखी, पृष्ठ १५२।१० ॥

५. ‘सिद्धान्त रत्नाकर, में सिद्धान्त रत्नाकर, पृष्ठ ३६।४२० ॥

६. सूरसागर, पृष्ठ ६६२ ॥

७. तुलसी सतसई (कलकत्ता, १८६७ ई०), पृष्ठ ४१०।१२५ ॥

८. ‘सिद्धान्त रत्नाकर’ में ‘सिद्धान्त सार संग्रह’ पृष्ठ ११८।३६ ॥

कवि की सरस वाणी की स्तुति भी इन काव्यों में कहीं-कहीं दिखाई दे जाती है। नन्ददास ने उसे तरुणी के कटाक्ष के समान वेधक बताते हुए यहाँ तक कह दिया है कि जिसके हृदय को सुकवि की वाणी नहीं छू सकती उसे अर्जुन के बाण भी नहीं बँध सकते—

कवि-अच्छर अरु तरुनि-कटाछे । ए दोउ सुलग लगें हिय आछे ।

जो हिय अच्छर रस नहि भिदे । सो हिय अर्जुन-वान न छिदे ॥^१

इसी प्रकार, अभ्यास के अभाव में वेदज्ञान का अभाव, श्रुति, स्मृति, पुरान और कुरान का सार प्रेम, वेद और विप्र की निन्दा त्याज्य आदि मानसिक नीतियों के भी उल्लेख यत्र-तत्र दिखाई देते हैं।^२

(ग) आत्मिक नीति—इस क्षेत्र में कृष्णकाव्य की नीति अन्य भक्तों के तुल्य ही है। काम, क्रोध आदि विकारों की निन्दा तथा स्वभाव की अपरिवर्तनीयता का उल्लेख प्रायः सभी कवियों की वाणी में मिलता है। वैसे तो भगवान् को दुष्टों के दर्प का दलनकर्ता कहा गया है परन्तु नन्ददास ने गुणी व्यक्ति के सीमित दर्प को सह्य कहा है। श्रीकृष्ण को रूप, गुण और प्रेम से बशीभूत करने वाली गोपांगनाओं के गर्व को नन्ददास इन शब्दों में उचित ठहराते हैं—

रूप भरौं गुन भरौं भरौं पुनि परम प्रेम रस ।

क्यों न करें अभिमान कान्हू भगवान किए बस ॥

जहँ नदि नीर गँभीर तहाँ भल भँवरी परई ।

छिल छिल सलिल न परै परै तो छवि नहिं करई ॥^३

२. पारिवारिक नीति—भक्ति-काव्य होने के कारण कृष्ण-काव्य की दृष्टि प्रभु पर ही अधिक केन्द्रित है। यही कारण है कि इस में सम्बन्धियों को भूठे, दारा को दुःख-रूप और पुत्र को शत्रु-रूप^४ कह कर माता, पिता, सुत, स्त्री, धाम और धन को हेय कहा गया है—

मात पिता सुत चांम धाम धन त्यागि रे ।

सोवत कहा गवार ऊठि अब जागि रे ॥

सिर परि साधे तीर षरो सठ काल रे ।

हरि हा 'दास किसोर, भये बिन अन्त दिहाल रे ॥^५

१. 'नन्ददास ग्रंथावली' में 'रूपमंजरी', पृष्ठ ११८ ॥

२. नन्ददास ग्रंथावली, पृष्ठ २८६। रसखानि (प्र० वाणीबितान, बनारस) पृष्ठ ७६।१३ ॥

३. 'नन्ददास ग्रंथावली' में रासपंचाध्यायी, पृष्ठ १३।१०२-१०३ ॥

४. परशुराम सागर (प्र० उदय कार्यालय, उदयपुर), पृष्ठ १३६।१३८१, सूरसागर, १२३।३७२ ॥

५. 'सिद्धान्त रत्नाकर' में उपदेस आनंद सत, पृष्ठ २४८।१० ॥

जिन्हें हम लोग सगा-सम्बन्धी समझे बैठे हैं वे तो हैं झूठे, तब सच्चे और सगे सम्बन्धी कौन हैं ? केवल दो—कृष्ण और उनके भक्त—और उन्हीं से प्रेम करना हितकर कहा गया है—

राग सारंग व धनाश्री

सोई घर घरनी सोई सुत गुरु हित

जिनके रसिक नैनन के तारे ।

सोई 'व्यास' सोई दास त्रास तजि हरि भजि,

रास विखावे सोई प्राण हमारे ॥ ^१

जो सम्बन्धी शाक्त हो उससे भेंट करने तक का नियम किया गया है,^२ सम्पर्क स्थिर रखने की तो बात ही क्या ! सम्बन्धियों के प्रति उक्त दृष्टिकोण के रहते हुए भी उनके व्यवहार से सम्बन्धित कई उत्तम बातों का उल्लेख इन काव्यों में प्रसंगवश किया है; जैसे, पिता की दृष्टि पुत्र के अन्याय कृत्यों पर नहीं पड़ती, भक्त पिता का पुत्र भक्त नहीं होता, पुत्र के कारण पिता प्रभु से पराङ्मुख रहता है परन्तु पुत्र ही उसके मुख को दग्ध करता है, एक परोपकारी और कुल-रक्षक पुत्र लाखों कुपुत्रों से उत्तम है, माता-पिता की सेवा से विमुख पुत्रका नामलेवा तक नहीं बचता, कुल को कलंकित करने वाली कन्या का कुक्षि में ही कालग्रस्त होना हितकर है, पति-द्वारा पत्नी का परित्याग निश्च है, पत्नी को प्रत्येक प्रकार से पति को प्रसन्न रखना चाहिए, उसे पति-गृह के रूखे-मूखे भोजन को भी बढ़िया समझना चाहिए, पति का पत्र पड़ोसिन से न सुनना चाहिए तथा पर-गृहाटन की टेढ़ का परित्याग करना चाहिए । यथा—

(क) सुत फलत्र दुर्वचन जो भाये । तिन्हें मोहबस मन नहिं राखे ॥

जो वं वचन और कोउ कहै । तिन को सुनि के सहि नहिं रहै ॥

पुत्र अन्याइ करे बहुतेरे । पिता एक अवगुन नहिं हेरे ॥^३ (मूरदास)

(ख) भक्त न भयो भक्त को पूत ।

उग्रसेन के कंस, बलि के बानासुर जम ऊत ।

भीष्म के रुक्म, विभीषन के घर भयो कपूत ॥

होइ भक्त के साकत जानियों अन्य काहू को पूत ।

ब्रह्मा के नारद, व्यास के बिदुर और शुक्र अवधूत ॥ ^४ (व्यास)

(ग) झूठा पाट पटवरा रे झूठा दिखणी चीर ।

सांची पियाजी री गूदड़ी रे जामे निरमल रहे शरीर ।

१. व्यासवाणी, पृष्ठ ११८।२२५।

२. " " पृष्ठ १६६।१३६-३७ ॥

३. सूरसागर, पृष्ठ १५४ ॥

४. व्यासवाणी, पृष्ठ ७८।१४३ ॥

छप्पन भोग बुहाइ दे हे, इन भोगनि में दाग ।

लूण अलूणो ही भलो हे, अपणो पिया जी को साग ॥ ^१ (मीराबाई)

इन काव्यों में पातिव्रत की प्रशंसा प्रचुर मात्रा में पाई जाती है परन्तु जब चुनाव कृष्णप्रेम और पतिप्रेम में करना होता है तब गोपियाँ पति-प्रेम को ही नहीं, पुत्र-प्रेम, लोक-लाज और कुल-मर्यादा सभी को ऐसे बहा देती हैं जैसे सावन-भादों की-सरिताएँ कूल-किनारों को—

(क) मैं तो प्रीति स्याम सों कीनी ।

कोउ निंदो कोउ बंदो अब तो यह घर दोनी ।

जो पतिव्रत तो या ढोटा सों इन्हें समर्प्यो देह ।

जो व्यभिचार तो नंद नंदन सों बाढ़्यो अधिक स्नेह ॥ ^२ (परमानंद दास)

(ख) गई सोरह सहस हरि पै, छाड़ि सुत-पति नेह ।

एक राखी रोकि कं पति, सो गई तजि बेह ॥ ^३ (सूरदास)

३. सामाजिक नीति—कृष्ण-काव्य में सामाजिक नीति से संबंधित जिन विषयों का समावेश हुआ है उन में मुख्य विषय निम्नलिखित हैं—

(क) प्रेम

(ज) सन्त-भक्त

(ख) स्त्री

(झ) सज्जन-दुर्जन

(ग) पर नारी

(ञ) गुरु-शिष्य

(घ) गरिका

(ट) विद्वान्-मूर्ख

(ङ) वर्णाश्रम

(ठ) पाखण्डी

(च) जाति-कुल

(ड) फुटकल ।

(छ) संगति

(क) प्रेम—प्रेम कृष्ण-काव्य का प्रमुख विषय है । नन्द, यशोदा, गोप, गोपियाँ, राधा, ग्वाल-वाल सब कृष्ण से प्रेम करते हैं और कृष्ण उनसे । किसी का प्रेम वात्सल्यमय, किसी का शृंगारमय और किसी का सख्यमय । प्रधानता शृंगारमयप्रेम की ही लक्षित होती है । प्रेम के सम्बन्ध में जिन नीतियों का उल्लेख कृष्ण-काव्य में दृष्टिगोचर होता है, उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध शृंगारिक प्रेम से है । विवेचन के सौकर्य के लिए कृष्ण-काव्य की प्रेम-सम्बन्धी नीति को निम्नांकित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१. प्रेम के प्रकार

२. यौवन और प्रेम

१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १०२-३ ॥

२. परमानंद सागर, पृष्ठ १५६ ॥

३. सूरसागर, पृष्ठ ६०८ ॥

३. प्रेम और वियोग

४. प्रेमी और प्रियतम ।

१. प्रेम के प्रकार—इन काव्यों में प्रेम के दो प्रकार कहे गये हैं—(क) विशुद्ध (ख) वासना-मूलक ।

(क) विशुद्ध प्रेम—विशुद्ध प्रेम एकांगी, निष्कारण, एक-रस होता है और प्रियतम को ही जीवन-सर्वस्व समझता है । वह हरि-रूप और प्रभु के समान अकथ्य होता है । उसमें काम-वासना, विषय-रस या दाम्पत्य-सुख का लेश-मात्र भी नहीं होता । ऐसे ही प्रेम के विषय में रसखान का कथन है—

वंपति-सुख और विषय रस, पूजा निष्ठा ध्यान ।

इन तें परे बखानिये, सुद्ध प्रेम रसखान ॥

इक अंगी बिनु कारनिहि, इक रस सदा समान ।

गने प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान ॥ १

जो प्रेम पुत्र, कलत्र, मित्र और सम्बन्धियों के प्रति होता है, रसखान उसे प्रेम की संज्ञा से सुभूषित नहीं करना चाहते । उनकी दृष्टि में तो वह सहज स्नेह-मात्र है, शुद्ध प्रेम नहीं—

मित्र कलत्र सुबन्धु सुत, इन में सहज स्नेह ।

सुद्ध प्रेम इन में नहीं, अकथ्य कथा सविसेह ॥ २

(ख) वासना-मूलक प्रेम—वासना-मूलक प्रेम में प्रेमी प्रियतम के प्रति मन में प्रेम-भावना रखकर ही संतुष्ट नहीं रह सकता । वह अपने नयनों की सफलता प्रियतम का रूप देखने में, करणों की सार्थकता उसकी वाणी और यश के श्रवण में तथा करों की कृतार्थता उसके शरीर के संस्पर्श में समझता है । वह हृदयों के मिलाप से ही आह्लादित नहीं होता, दैहिक सायुज्य की भी आकांक्षा करता है । रसखान इस प्रेम के विषय में यों कहते हैं—

दो मन इक होते गुन्धौ, पै वह प्रेम न आहि ।

होइ जबै द्वं तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि ॥ ३

प्रेम विशुद्ध हो या वासना-मूलक, होता वह बन्धन-रूप ही है और बन्धन भी इतना सुदृढ़ कि उससे मुक्त होना दुष्कर होता है । यदि प्रियतम के हृदय में भी प्रेम अंकुरित हो गया और कोई अड़चन दोनों के मिलन में बाधक न हुई तो दोनों का जीवन धन्य हो जाता है । यदि किसी कारण-वश संयोग असम्भव हो तो प्रेमियों के लिए जीवन भार-रूप हो जाता है । वे उस प्रेम को रूई में लिपटी चिनगारी के समान छिपाने में असमर्थ रहते हैं और लोकोपहास के लक्ष्य बन जाते हैं—

१. सं० विद्वनाथ प्रसाद मिश्र: 'रसखानि' में 'प्रेमदाटिका,' पृष्ठ ७६।१६, २१ ॥

२. वही, पृष्ठ ७६।२० ॥

३. वही पृष्ठ ७८।३४ ॥

नागरि, छाडि दै चतुराई ।

अन्तर गति की प्रीति परस्पर नाहिन दुरित दुराई ॥^१ (चतुर्भुजदास)

२. यौवन और प्रेम—कृष्ण-काव्य में यौवन और प्रेम के सम्बन्ध में अनेक नीतियों का उल्लेख किया गया है; जैसे, बाल्यकाल के अत्यय पर मनुष्यों में प्रेमोदय स्वाभाविक है; तारुण्य सदा स्थिर नहीं रहता, इस लिए तरुण्य में प्रेम करना ही चाहिए; युवतियों को योग, ज्ञानादि का उपदेश देना अनुचित है; यौवन ही भोग-विलास का उचित समय है, इत्यादि । यथा—

ऊधौ कहा कथन विपरीत ।

जुवतिन जोग सिखावन आए, यह तो उलटी रीति ।

पाहन तरं काठ जो बूड़ै, तौ हम मानै नीति ।

‘सूर’ स्यास प्रति अंग माधुरी रही गोपिका जीति ॥^२

३. प्रेम और वियोग—संयोग की दशा में प्रेमी प्रेम-जन्य सुखों की अनुभूति में इतने रत रहते हैं कि उन्हें संयोग-सम्बन्धी नीति के उद्गार प्रकट करने की सुध ही नहीं होती । परन्तु वियोग में अवस्था सर्वथा विपरीत होती है । वियोगजन्य व्याकुलता स्वयमेव उनके हृदय से वियोग-विषयक उद्गारों को निस्सृत करती है । यही कारण है कि प्रेम-काव्यों में वियोगवर्णन की जितनी प्रचुरता और प्रभविष्णुता रहती है, उतनी संयोग-वर्णन की नहीं । कृष्ण काव्य में वियोग को दुःखप्रद भी कहा गया है और सुख-प्रद भी, परन्तु उसकी सुखप्रदता की अपेक्षा दुःखप्रदता का वर्णन बहुत अधिक है । इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग में दुःख की अनुभूति तो स्वाभाविक है क्योंकि उस दशा में हम उस सुख से वंचित रह जाते हैं जो हमें उसके सान्निध्य की अवस्था में प्राप्त था । परन्तु वियोग को सुखदायक कहना कुछ विस्मयावह अवश्य है । कृष्ण काव्य के रचयिता उसके लिए निम्नांकित हेतु प्रस्तुत करते हैं—

मधुर वस्तु ज्यों खात निरन्तर सुख तौ भारी ।

दोचि-जोचि कटु अम्ल तिष्ठत अतिसय रचिकारी ॥

ज्यों पुट-पुट के दिए निपट ही रत्ताह परं रंग ।

तैसे हि रंचक विरह प्रेम के पुंज बढ़त अंग ॥^३ (नंद दास)

यदि प्रेमी सच्चा हो और विरह की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो तो प्रेमी की दशा ऐसी हो जाती है कि उसे सब कहीं प्रियतम प्रत्यक्ष-सा दृष्टिगोचर होता है । ऐसी अवस्था का उल्लेख नन्ददास इस प्रकार करते हैं—

१. ‘चतुर्भुजदास’ पृष्ठ १४६ ॥

२. सं० भगवान दीनः सूरपचरित (प्रयाग, स० २००५), अमरगीत, पद ५२ ॥

३. ‘नन्ददास ग्रंथादली’ में रासपंचादशी, पृष्ठ १४१-२ ॥

हैं जानों पिय-मिलन ते, बिरह अधिक सुख होय ।

मिलते मिलिये एक सौ, बिछरें सब ठाँ होय ॥^१ (नंददास)

वियोगजन्य वेदना से सम्बन्धित अनेक नीतियों की चर्चा कृष्णकाव्य में की गई है। जैसे, वियोग में असह्य पीड़ा का होना स्वाभाविक है, इसलिए प्रेमियों को सचेत होकर ही प्रेम-पथ पर पग रखना चाहिए; प्रेमी उस पीड़ा को वास्तविक रूप में व्यक्त करने में वैसे ही विफल रहता है जैसे अबोध शिशु अपनी शारीरिक व्यथा को प्रकट करने में; बिरह की विकट वेदना को प्रेमी ही अनुभव कर सकते हैं सामान्य जन नहीं; वियोग-रूपी रोग का उपचार श्रोत्रियों से सम्भव नहीं, वह रोग तो प्रियतम के दर्शन-मिलन से ही नष्ट होता है; वियोगी जड़ और चेतन में विवेक करने में भी असमर्थ हो जाता है, इत्यादि। यथा—

(क) 'परमानन्द' प्रभु पीर प्रेम की, काहू तों नहि कहिए ।

जैसे कथा मूक बालक की अपने तन मन सहिए ॥^२

(ख) दरद की मारी बन-बन डोलूं, बंद मित्या नहि कोइ ।

'मीरा' की प्रभु पीर मिटेगी, जब बंद सांवलिया होइ ॥^३

४. प्रेमी और प्रियतम—प्रेमी के विषय में इन कवियों का विचार यह है कि उसकी विवेक-शक्ति क्षीण हो जाती है। प्रेमी जिस पर अनुरक्त हो जाता है, उसके विषय में यह नहीं सोचता कि वह सम्पन्न है या दरिद्र, मुरूप है या कुरूप, कुलीन है या अंत्यज, सधर्मी है या विधर्मी। प्रेम प्रेमी के हृदय की आँखों पर ऐसा चश्मा चढ़ा देता है कि उसे प्रियतम सबसे अधिक सुन्दर, गरी और कुलीन प्रतीत होने लगता है।

यही बात श्री कृष्ण के सम्बन्ध में भी सच है। उद्धव ने बिरहिणी गोपांगनाओं को ज्ञान, योग और परमार्थ के उपदेश देकर उन्हें कृष्ण-प्रेम से विमुख और सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, परमेश्वर के प्रति उन्मुख करने का उद्योग किया। परन्तु गोपियों ने—

'इशक नाजुक-मिजाज है बेहद। अकल का बोझ उठा नहीं सकता'

के अनुसार निम्नलिखित उत्तर दिया—

ऊधौ मन माने की बात ।

दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल, विष कीरा विष खात ।

ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सौं लपटात ।

'सूरदास' जादौ मन जासौं सोई ताहि मुहात ॥^४

प्रेमी विवेक से ही वंचित नहीं हो जाता, निर्भय और निर्लज्ज भी बन जाता

१. 'नंददास ग्रंथावली' में रूग्मंजरी, पृष्ठ १३६।४४६॥

२. 'परमानंद सागर' पृष्ठ १५१ ॥

३. मीरा बाई की पदावली, पृष्ठ १२० ॥

४. सूरसागर, पृष्ठ १५६८ ॥

है।^१ किसी से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करते समय प्राणों के संकट की सम्भावना होती है, परिवार तथा समाज के लोग निन्दा भी करते हैं और नरक में असह्य कष्टों के सहने की भी आशंका होती है। परन्तु, प्रेमी इन सबकी ओर-आँखें मूंद लेता है—

लोकबेद-मरजाद सब लाज काज संदेह ।

देत बहाए प्रेम करि, बिधि निषेध को नेह ॥^२ (रसखान)

और मीराबाई, तो ऐसी 'प्रेम-दिवाणी' हो चुकी हैं कि न निर्वासन से भात होती हैं न विषपान से त्रस्त और न सर्पदंश से शंकित—

राएँ भेज्या जहर पियाला, इमिरत करि पी जाणा ।

डबिया में भेज्या ज भुजंगम, सालिगराम करि जाणा ।

मीरां तो अब प्रेम दिवाणी, सांवलिया बर पाणा ॥^३

इनके अतिरिक्त कृष्ण काव्य में प्रेम-विषयक और भी कई नीतियाँ निर्दिष्ट हैं, जैसे, प्रियतम के प्रति कृता उचित नहीं, प्रेम प्रसंग को गुप्त रखना ही उचित है, प्रेम एक ही व्यक्ति से करना चाहिए, प्रियतम को वियोग दुःख देना बुरा है, प्रेम में प्राणों पर खेल जाने से मनुष्य अमर हो जाता है, इत्यादि।^४

प्रियतम के सम्बन्ध में मुख्य नीति यह है कि वह पास-पड़ोस में ही रहने वाला हो, जिससे कि उसके प्रवास के कारण प्रेमी को वियोगव्यथा से विह्वल न होना पड़े। योगी तो घुमक्कड़ व्यक्ति होते हैं, उनसे प्रेम करने वाले को सुख कहां।^५ प्रायः प्रेमी को रिझाने के लिए प्रिय शृंगार-प्रसाधन आदि किया करते हैं। परन्तु परमानन्द दास जी के मत में सच्चे स्नेह की स्थिति में शृंगार की आवश्यकता नहीं होती।^६

(ख) स्त्री—यद्यपि राधा और कृष्ण के भक्त ये कवि राधा जी को अपनी आराध्या मानते हैं तथा कृष्णानुरागिणी गोपियों की प्रचुर प्रशंसा करते हैं तथापि सामान्य रूप से स्त्री के प्रति सम्मान-भावना का होना तो दूर रहा, सन्त-कवियों के समान ही उसकी निन्दा करते हैं, उसे नागिन के सदृश डसने वाली और बाधिन के तुल्य हड़पने वाली कहते हैं। इनका मत है कि स्त्री और बालक को मुँह लगाना हित-कर नहीं और जो पुरुष कामिनी के वशीभूत हो जाता है वह नरकगामी होता है। इस

१. 'कामानुरागां न भयं न लज्जा' (संस्कृत आभाणक) ।

२. 'रसखानि' में प्रेमवाटिका, पृष्ठ ७५।८ ॥

३. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ ११०।४३ ॥

४. 'चतुर्भुजदास' पृष्ठ १२७, 'सूर पंचरत्न' में अमरगीत, पद ४, 'चतुर्भुजदास' पृष्ठ १२७।२४४,

मीरा की पदावली, पृष्ठ ११६।६१, 'रसखानि' में प्रेमवाटिका, पृष्ठ ७७।२६ ॥

५. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ ११५।६६ ॥

६. 'परमानन्द दास' पृष्ठ १८७।५५१॥

निन्दा का कारण यही प्रतीत होता है कि अधिकतर पुरुष कामिनी के प्रेम में इतनी बुरी तरह आबद्ध हो जाते हैं कि भगवान् को एकदम भूल ही जाते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

(क) मो सों बात सुनहु ब्रज नारी ।

इक उपखान चलत त्रिभुवन में, तुन सों कहौं उधारी ॥

कबहुँ बालक मुँह न दीजिये, मुँह न दीजिये नारी ।

जोइ मन करे सोइ करि डारें, मूँड़ चढ़त हें भारी ॥^१ (सूरसागर)

(ख) नारि नागिन बाधिनी, ना कीजैं विदवास ।

जो बाकी संगत करे, अंत जु होय विनास ॥^२ (व्यास)

कुशल यही है कि इन कवियों ने इस नागिन-बाधिन को वाण का लक्ष्य बना डालने की प्रेरणा नहीं की। जब कंस को आकाशवाणी से ज्ञात हुआ कि देवकी का आठवाँ पुत्र उसका घातक होगा, तब वह खड्ग से उसका वध करने पर उद्यत हो गया। उस समय वसुदेव ने यह कह कर पत्नी की प्राण-रक्षा की कि स्त्री-संहार से राजाओं का अपयश होता है—

केश पकरि देवकि महि लीन्हों । नहिं कछु कानि बहिनि की कीन्हों ।

तब वसुदेव दीन ह्वै कहही । तिय वध नहीं भूप यश लहही ॥^३

(ग) पर नारी—यद्यपि कृष्ण-काव्य का वातावरण दाम्पत्य पवित्रता की विशेष प्रेरणा प्रदान नहीं करता तथापि इसमें कई स्थलों पर परदाराभिगमन के दोष प्रदर्शित कर उसका प्रबल निषेध किया गया है। सूरदास ने सूरसागर के षष्ठ स्कन्ध में शची-नहुष और अहल्या-इन्द्र की कथाओं द्वारा उसकी प्रेरणा की है। इस घोर पाप के कारण मनुष्य जीते-जी नारकीय कष्ट भोगता तथा मर कर अधम योनियों में दारुण यातनाएँ सहता है।^४ व्यास जी के मत में तो पर नारी वह विषैली नागिन है जिसके डसे का कोई मंत्र नहीं। व्यभिचारी पुरुष उससे एकान्त में सहवास करता है परन्तु उसका यह अनैतिक कार्य गुप्त नहीं रहता। वह गुप्त रूप से खाए हुए लशुन के समान सब पर प्रकट हो जाता है—

व्यास पराई कामिनी कारी नागिन जान ।

सूँघत ही मरि जायगो, गरुड़ मन्त्र नहिं मान ॥

व्यास पराई कामिनी लहसनि कैसी बानि ।

भोतर खाई चोरि के बाहिर प्रकटी आनि ॥^५

१. सूरसागर, पृष्ठ ७८६ ॥

२. 'व्यासवाणी' में व्यास जी की साखी, पृष्ठ १६६।१४२ ॥

३. ब्रजवासीदास, ब्रजविलास, पृष्ठ १३ ॥

४. सूरसागर, पृष्ठ १६१ ॥

५. व्यासवाणी में व्यास जी की साखी, पृष्ठ १५३।१८-१९ ॥

कृष्ण काव्य में पर-नारी से प्रेम करने वालों को यह चेतावनी भी दी गई है कि उसका प्रेम सच्चा नहीं होता, लोभ-जनित होता है। ज्यों ही वह देखती है कि उसका प्रेमी पुरुष दरिद्र हो गया है, त्यों ही उसे त्याग देती है—

मेघनि बिषैं अलप जल परें । तड़ि भई अलुप नेह परिहरें ॥

ज्यों लंपट जुवती जग माहीं । निधन भये पुरुषहिं तजि जाहीं ॥^१

(घ) गरिबा—वेश्यागमन-रूपी अनैतिक कार्य से बचने की चेतावनी भारतीय नीतिकार चिरकाल से देते चले आये हैं। कृष्ण-काव्य में भी इसे तुरन्त शाश्वतिक नरक में धकेलने वाला कार्य कहा गया है। कदाचित् जैन लेखकों से सप्त-व्यसन का विचार लेकर स्वामी रसिकदेव जी ने उनके अन्तर्गत वेश्यागमन का निषेध किया है—

सात बिसन सुनों अब और । नरक देव कौं ये सिर मौर ।

गनिका चोरी आषेडि जे पेलें । पर दारा मद नरकनि पेलें ॥

धुंधमार विरचा-रति दिनसे । परे नरक अजहूँ नहिं निकसे ॥^२

(ङ) वर्णाश्रम—यद्यपि कृष्णकाव्य में विप्रों के आशीर्वाद की मांगलिकता, चातुर्वर्ण्य के कर्तव्य, विप्रों के हितार्थ भगवान् का अवतरण आदि विषयों के उल्लेख कहीं-कहीं मिलते हैं^३ तथापि कृष्ण-भक्ति के मार्ग में वर्णाश्रम-धर्मों को बंधन-रूप ही कहा गया है। कारण, कर्ममार्ग पर अग्रसर होने वाले लोग प्रायः भक्ति से शून्य ही रह जाते हैं—

पुनि काल तकें बहु जोग । भवित न जानत कर्मठ लोग ।

वर्णाश्रम के जे सब धर्म । ते सब कहिये बंधन कर्म ॥^४ (स्वामी रसिक देव)

विप्र न शूद्र कौन कुल कात । सुनहु रसिक हरिबंश धिलास ॥^५ (सेवक)

कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अष्टछाप के भक्त कवियों में कृष्णदास, कुम्भन दास और चतुर्भुज दास जन्म से शूद्र होते हुए भी कृष्णभक्तों में अत्यन्त सम्मानित थे ।

(च) जाति कुल—कृष्णकाव्य में वर्णाश्रम के समान ही जाति और कुल की दृष्टि से भी किसी को ऊँच या नीच नहीं माना गया। कृष्ण का चण्डाल भक्त भी मोक्षभागी बन सकता है और अभिमानी कुलीन भी पार नहीं उतर सकता। भगवान् कृष्ण ने भक्तवर विदुर के घर भोजन करने में कोई संकोच नहीं किया। इसलिए जाति-

१. नंददास ग्रंथावली, भाषा दशम स्कन्ध, पृष्ठ २९० ॥

२. सिद्धान्त रत्नाकर में भक्ति सिद्धान्त मणि, पृष्ठ ५४२, ४६ ॥

३. ब्रजविलास, पृष्ठ ५१। सुदामा चरित, पृष्ठ २९१२ ॥

४. सिद्धान्त रत्नाकर में भक्तिसिद्धान्त मणि, पृष्ठ ३१७ ॥

५. 'श्री हितामृत सिंधु' में 'सेवकवाणी' पृष्ठ ८३ ॥

कुल के अभिमान का परित्याग करके भक्ति करने वाला व्यक्ति ही श्रेष्ठ है। ये लोग तो चमार-जातीय रंदास पर करोड़ों विप्रों को सहर्ष न्योछावर करने को उद्यत हैं—

‘व्यास’ स्वपच बहु तरि गए एक नाम लवलीन ।

चढ़े नाव अभिमान की बूड़े कोटि कुलीन ॥^१ (व्यास जी)

काहू के कुल तन न बिचारत ।

अविगत की गति कहि न परत है, व्याध अजामिल तारत ।

कौन जाति अरु पांति विदुर की, ताही के पग धारत ।

भोजन करत मांगि घर उसके, राज मान-मद टारत ॥^२ (सूरदास)

(छ) संगति—सत्संगति की प्रशंसा और कुसंगति की निन्दा तो प्रसंगवश कई स्थलों पर की गई है परन्तु ‘साक्त’ (शाक्त) की संगति का तो व्यास, मीरा, सेवक आदि अनेक कवियों ने कई स्थानों पर घोर निषेध किया है। कारण वे लोग माँस-मदिरा आदि का सेवन करते थे, मृत मनुष्य का माँस और मल तक खा जाते थे तथा माता-बहिन आदि निकटतम सम्बन्धिनियों से भी मैथुन करने में संकोच न करते थे। मीरां बाई कहती हैं—

साधु जन नो संग जो करिये, चढ़े ते चौगुणो रंग रे ।

साकट जनन तो संग न करिये, पड़े भजन में भंग रे ॥^३

साक्त सगौ न भेटिये इन्द्र कुबेर समान ।

सुन्दर गनिका गुन भरी परसत तनु की हान ॥^४ (व्यास जी)

सन्त-भक्त—भक्तिकाव्य की अन्य धाराओं के समान कृष्ण-काव्य में भी सन्तों और भक्तों के महत्त्व का अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है। कारण, वे भगवान् के भक्त तथा अत्यन्त निर्मल चरित्र के धनी होते हैं। उनकी संगति के फल-स्वरूप पापी जन भी वैसे ही तर जाते हैं जैसे पाषाण की संगति से लोहा। कृष्ण-काव्य में सन्तों की वन्दना करने की, उन्हें सुखी रखने की, उनके पास रिक्त-हस्त न जाने की और उनकी जूठन तक खाने की प्रेरणा की गई है। सूरदास जी सन्तों के आतिथ्य को करोड़ों तीर्थों में स्नान के समान पुण्य-जनक कहते हैं—

जा दिन सन्त पाहुने आवत ।

तीरथ कोटि सनान करं फल जैसो दरसन पावत ॥^५

परमानन्ददास जी ने निदक के नाश और सन्तों को सुख देने के विषय में इस प्रकार कहा है—

१. व्यासवाली में व्यास जी की साखी, पृष्ठ १५१।७; और भी देखें अष्टम दोहा

२. सूरसागर, पृष्ठ ४।१२

३. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १०६।३३

४. व्यासवाली में व्यास जी की साखी, पृष्ठ १६६।१३८

५. सूरसागर, पृष्ठ १२०

निंदक भारिये आस न कीजें ।

यहै धर्म नित प्रति स्तुति गावें सन्तन को सुख दीजें ॥^१

(भ) सज्जन-दुर्जन—सज्जनों और दुर्जनों के सम्बन्ध में प्रायः सामान्य नीतियों का ही उल्लेख हुआ है। जैसे, सज्जन तो सम्पत्ति प्राप्त कर नम्रता धारण करते हैं और दुर्जन दृप्त हो जाते हैं। सज्जन तो कल्याण के कारण परोपकार के लिए प्राणों तक का परित्याग कर देते हैं और दुर्जन दूसरों को निष्कारण ही कलंकित करते रहते हैं। वर्षा वर्णन के प्रसंग में नंददास कहते हैं—

प्रेरे पवन सु जीवन वरषे । सब के दुःख करषे मन हरषे ॥

जैसे करन पुरुष पर हेत । अपने प्यारे प्रानन देत ॥^२

(ज) गुरु-शिष्य—भक्ति-काव्य की अन्य धाराओं के समान कृष्ण-काव्य में गुरु के प्रति अगाध भक्ति दिखाई देती है। श्री बल्लभाचार्य, गोसांई विठ्ठलनाथ, स्वामी हरिदास आदि आचार्यों के नाम की वैसे ही जपने की प्रेरणा की गई है जैसे श्री राधा और श्री कृष्ण के नाम की। यहाँ तक कि आचार्यों को श्री कृष्णका अवतार तक मान लिया गया है। यथा, छीतस्वामी जी की उक्ति है—

श्री विठ्ठल प्रगटे ब्रजनाथ ।

नंद नंदन कलियुग में आए निज जन किए सनाथ ॥

तब के वेदपथ छाड़ि रास निस नाना भौंति बताए ।

अब के स्त्री-सूत्रादिक सब कों ब्रह्म सम्बन्ध कराए ॥^३

इस असीम श्रद्धा का कारण यह विश्वास है कि सगुरा व्यक्तित्व ब्रह्ममृत के पान का अधिकारी होता है, निगुरा नहीं—

सरा सूरु अमृत पीछे, निगुरा प्यासा जाती ।

मगन भया मेरा मन सुख नें, गोविंद का गुण गाती ॥^४ (मीराबाई)

महाराज मनु ने धर्म के जिज्ञासुओं के लिए भगवती श्रुति को परम प्रमाण माना था^५, परन्तु हित हरिवंश जी के शिष्य सेवक जी के मन में गुरु का पद निर्गुण, सगुण, देव, वेद, तीर्थ, तप, ज्ञान, ध्यान आदि सभी उपास्यों और साधनों से उच्च है—

कर्म धर्म कोउ करहु वेद विधि कोउ बहुविधि देवतन उपासी ।

कोउ तीरथ तप ज्ञान ध्यान व्रत अरु कोउ निर्गुण ब्रह्म उपासी ॥

१. परमानंद सागर, पृष्ठ १६७

२. नंददास ग्रन्थावली, पृष्ठ २८६

३. 'छीतास्वामी' पृष्ठ ११

४. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५६

५. धर्म जिज्ञासुमानानां प्रमाणं परमं श्रुति : । (मनुस्मृति २।१३)

कोउ यम नेम करत अपनी रुचि, कोउ अवतार कवम्ब उपासी ।

मन क्रम बचन त्रिशुद्ध सकल मत, हम श्रीहित हरि बंश उपासी ॥^१

जो गुरु जितेन्द्रिय और विषय-स्वादों से ऊपर उठा हुआ है वही शिष्यों को सँवार सकता है, शेष तो पत्थर की नाव में लोहा भर कर पार उतारना चाहते हैं ।^२

शिष्य—शिष्य तीन प्रकार के कहे गये हैं—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम । जो शिष्य शास्त्र के दण्ड से त्रस्त हो कर गुरु की सेवा करता है, श्रद्धा-भक्ति से नहीं, वह कनिष्ठ शिष्य है । मध्यम शिष्य वह कहाता है जो गुरु के स्वभाव को समझे बिना तन, मन, धन से प्रेमपूर्वक सेवा करता है । उत्तम शिष्य अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त कर गुरु के स्वभावानुसार आचरण करता है ।^३

जो शिष्य उत्तम प्रकार का हो गुरु भी उससे किसी बात को गुप्त नहीं रखता ।^४ जो शिष्य गुरु से लाभ ही उठाने के इच्छुक हों और उसकी मुख-सुविधा की ओर तनिक भी ध्यान न देने हों, उनका चित्र व्यास जी ने एक पद में यों खींचा है—

गुरुहि न मानत चेली चेला ।

गुरु रोटी पानी सों घूँटत, ये दुध पीवें कुकरेला ॥

शिष्यन के सौने के बासन, गुरु कं कुँडी कुँडेला ।

चौर चिकनियन कौ बहु आदर, गुरु को ठेली-ठेला ॥

शिष्य तो माँखीचूसा सुनियत, गुरु पुनि खाल उचेली ।

वह कायर यह कृपन हठीलौ, ईंट मारि दिखरावतु भेला ।

कृष्ण कृपा बिनु विवि असमंजस, बुखसागर में झेली-झेला ।

'व्यास' आस जे करत शिष्य की, तिनतें भले भँडेला ॥^५

(ट) विद्वान् और मूर्ख—प्रेम-भक्ति के इस काव्य में विद्वानों की प्रशंसा से सम्बन्धित अधिक रचना न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं । मूर्खों के विषय में नीति की जो उक्तियाँ इधर-उधर दिखाई देती हैं, उन्हीं से अविद्या-नाश की प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है । नंददास जी के दो पद्य द्रष्टव्य हैं—

(क) जाको जहँ अधिकार न कोई । निकटहि वस्तु दूरि है सोई ।

मीन कनल के डिग ही रहै । रूप रंग रस मधुलिह लहै ॥^६

१. 'हितामृत सिन्धु' में सेवक बाणी, पृष्ठ १०६।१

२. सिद्धान्त रत्नाकर में भक्ति सिद्धान्त मणि, पृष्ठ २।७

३. सिद्धान्त रत्नाकर में भक्ति सिद्धान्त मणि, पृष्ठ २।१२

४. नंददास ग्रंथावली, पृष्ठ २६४

५. व्यासवाणी, पृष्ठ १२३।२३५

६. नंददास ग्रंथावली, रसमंजरी, पृष्ठ १६१

(ख) जो कोऊ मति मंद चंद पै धूरि उड़ावं ।

उलटि हगनि जब परे मूढ़ कों तब सुधि आवै ॥^१

(ग) पाखंडी—प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी को, अन्य सम्प्रदायों के अनुगामियों से भेद स्पष्ट करने के लिए, छापा, तिलक, माला, कंठी, यज्ञोपवीत आदि कुछ बाह्य चिह्न भी धारण करने ही पड़ते हैं। साधारण जन जहाँ उन बाह्य चिह्नों द्वारा उनके सम्प्रदायादि से परिचित हो जाते हैं, वहाँ उनकी धार्मिकता से प्रभावित हो कर कुछ सेवा-शुश्रूषा भी करने लगते हैं। उनके आदर-सम्मान को देखकर कुछ पाखंडी लोग भी धन व प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए वैसे ही बाह्य चिह्न धारण कर सीधी-सादी जनता की वंचना करते हैं। ऐसे कापटिक लोगों की निन्दा भी कृष्ण-काव्य में दिखाई देती है। इसी विषय में महन्त किशोरदास जी का एक कवित्त द्रष्टव्य है—

द्वादस तिलक चित्रकार लौ बनावत है,

कंठ विषे माल समे पाय कें नषत है ।

अनविधि आचार अनाचार की अनेक विधि,

पुत्रवधू पुत्रिन के गात कूं लषत है ।

शेष धरे भक्तन को जक्तन कूं दगा देत,

भक्ति भगाय देषि भक्तनि तषत है ।

माता पिता कूटि गुरु साधन को लूटि,

सेव्य धर्मनि तैं टूटि विप्र मांस को भषत है ॥^२

(ङ) फुटकल नीति—उक्त मुख्य सामाजिक नीतियों के अतिरिक्त कई अन्य फुटकल सामाजिक नीतियों का उल्लेख भी इधर-उधर किया गया है। जैसे—मनुष्य की सेवा से प्राप्त सुख अस्थायी हैं, भगवत्सेवा से जन्य सुख स्थायी, सुप्त मनुष्य की हत्या अनुचित है, होली में सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन हो ही जाता है, परोपकारी से प्रेम करना चाहिए, सब लोग एवम्य के साथी हैं, प्रायः लोग कुबुद्धि, कुकर्मी और भगवन्निन्दक होते हैं, यथायोग्य व्यवहार ही उचित है, इत्यादि।^३

आर्थिक नीति—कामिनी के समान कांचन भी प्रायः कृष्ण कवियों की कुत्सा का ही विषय रहा है क्योंकि प्रेमपथ में यह भी उतना ही भारी विघ्न माना गया है जितना नारी। प्रायः पुरुषों का समस्त जीवन इन दोनों के चक्कर में ऐसी बुरी तरह पड़ा रहता है कि उन्हें परलोक-शुधार की सुध ही नहीं रहती। भक्त कवियों की दृष्टि स्वभावतः लोक की अपेक्षा परलोक पर अधिक केन्द्रित रहती है, इसलिए उन्होंने सम्पदा

१. नंददास ग्रंथावली, रसमंजरली, पृष्ठ २११

२. 'सिद्धान्त रत्नाकर' में फुटकर कवित्त, पृष्ठ २७६।४६

३. सूरसागर, पृष्ठ १६३, वही, पृष्ठ ४६६, 'चतुर्भुजदास', पृष्ठ १६, व्यासवाणी, पृष्ठ १४३।२२, मीराबाई की पदावली १४८।१६०, सिद्धान्त रत्नाकर में सिद्धान्त सरोवर, पृष्ठ ३४।३६२

को अपनी समझने वालों को तस्कर तक कह दिया है—

(क) जाके मन बसै काम कामिनि धन ।

तार्क स्वप्न हूं नहिं सम्भव आनन्दकन्द स्याम-धन ।^१ (व्यास)

(ख) हरिहि अपि जे फिरि संकल्पें । जम के द्वार बंधे ते कपें ।

हरि के चोर भये ते प्रानी । जिनि माया अपनी करि जानी ॥^२

(स्वामी रसिकदेव)

माया को अपनी न मानना ही उचित है तथापि इसकी नितान्त उपेक्षा असम्भव है । साधु-सन्त, भक्त और वैरागियों की बात अलग है, सामान्य गृहस्थ का जीवन सम्पदा के बिना कभी सुखी नहीं हो सकता, इस बात को इन कवियों को भी अप्रत्यक्ष रूप से मानना पड़ा है । जैसे, तुलसीदास जी ने किष्किन्धा-काण्ड में कहा था कि—

जल संकोच विकल भइ मीना । अबुध कुटुंबी जिमि धनहीना ।^३

वैसे ही नन्ददास को भी स्वीकृत करना पड़ा—

तुच्छ सलिल के पुनि ये मीन । सरद ताप तपि भये जु दीन ।

कृपन बरिद्र कुटुम्बी जैसे । अजितेन्द्रिय दुख भरत हैं तैसे ॥^४

यद्यपि इस प्रकार धन की आवश्यकता की ओर इन्होंने संकेत तो कर दिया है तथापि धन के महत्त्व पर वह बल कहीं भी नहीं दिखाई देता जो संस्कृत के नीति-काव्यों में दिया गया है । इन्होंने तो लोभ की निन्दा और संतोष की स्तुति ही अधिक की है । व्यास जी ने लोभी व्यक्ति का जैसा चित्र निम्नांकित पद में प्रस्तुत किया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । सचमुच ही तृष्णाभिभूत मनुष्य की दशा बगूले के पत्र, फूस के धूम, नदी के तृण तथा गणिका और कुक्कुर के समान ही होती है—

लोभी बगरूरे कौ सौ पात ।

सात छानि को फूस धूम सौ का के नैन समात ॥

पावस सलिता के तिनका ज्यों, चलत न कहैं खटात ।

दामनि लगि गनिका लौं, निसि दिन सब के हाथ बिकात ॥

निलज्जन सकुच नहिं घर माहीं, सब ही सों सतरात ।

भड़िहा कूकर लौं, कारो मारत हैं किकियात ॥^५

गृहस्थ के लिए वित्तोपार्जन ही नहीं, धनसंग्रह भी अनिवार्य होता है ।

अधिकतर लोग इन बातों के लिए पग-पग पर याचना, कृपणता, अनृत्न, कपट, पाखंड

१. व्यासवाणी, पृष्ठ १२३।२३६

१. सिद्धान्त रत्नाकर में अजित सिद्धान्त मणि, पृष्ठ ६।५५

२. राम चरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४५६

४. नन्ददास ग्रंथावली, पृष्ठ २६१

५. व्यासवाणी, पृष्ठ १३८

आदि का आश्रय लेते हैं और पर-धन को भी हथियाने में संकोच नहीं करते। आत्मा को कुचलने वाले इन कार्यों को कृष्ण-कवियों ने बहुत बुरा-भला कहा है। सूरदास जी का एक पद है—

जग में जीवत ही कौ नातौ ।
मैं मेरी कबहूँ नहिं कीजं, कीजं पंच-मुहातौ ॥
साँच-झूठ करि माया जोरी, आपुन रूखो खातौ ।
'सूरदास' कछु थिर न रहैगौ, जो आपो तो जातौ ॥^१

महन्त किशोरदास भी इस विषय में सूरदास जी से सर्वथा सहमत हैं—

करि छल बल बहो पाप आप कूँ झेलि रे ।
ल्यायो दवि कमाय धर्म कूँ पेलि रे ॥
तार्त किये कुकर्म विषे रस पागि रे ।
हरि हूँ 'दास किसोर' भये विन पमं अभागि रे ॥^२

धन की निन्दा के उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त एक अन्य कारण है धनजन्य मद। श्रेष्ठ लोग तो धन प्राप्तकर नष्ट बन जाते हैं परन्तु अधिकतर लोग धनागम की दशा में ऐसे दृप्त और मत्त हो जाते हैं कि भूमि पर पाँव नहीं रखते और विविध विनाशकारी व्यसनों में फँसकर अपना और दूसरों का भी नाश कर बैठते हैं। धन के इस कुपरिणाम से भी कृष्ण-कवियों ने पाठकों को सचेत करने का उद्योग किया है। नंददास ने सज्जन व दुर्जन दोनों पर धन के प्रभाव का यों वर्णन किया है—

(क) मीठी धुनि सुनि अस मन आवै । सैन मनोँ चटसार पढ़ावै ।
फलन के भार नमित द्रुम ऐसे । संपति पाय बड़े जन जैसे ॥^३
(ख) पाछे सुष्क हुतीं जो सरिता । उत्पथ चलीं बहुत जल भरिता ।
अजितेन्द्रिय नर ज्यौ इतराइ । देह गेह धन संपति पाइ ॥^४

उपजित तथा संगृहीत धन को अपने ही खान-पान में व्यय करना उचित नहीं। विवेकी मनुष्य का कर्तव्य है कि उसका परोपकार के कार्यों में भी सदुपयोग करे। मीराबाई के मत में तो दान-पुण्य में व्यय किया हुआ ही धन परत्र सहायक होता है, दूसरा नहीं—

जग में जीवराण थोड़ा, राम कुरा कह रे जंजार ।
कइरे खाइयो, कइ रे खरचियो, कइ रे कियो उपकार ।
दिया लिया तेरे संग चलेगा, और नहीं तेरी लार ॥^५

१. सूरसागर, पृष्ठ ६६।३०२
२. 'सिद्धान्त रत्नाकर' में 'उपदेश आनन्द सत' पृष्ठ २४६।१७
३. नंददास ग्रंथावली, रूपमंजरी, पृष्ठ ११६
४. " 'भाषावशम स्कन्ध' पृष्ठ २८६
५. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५६।१६६

इतर प्राणि-सम्बन्धी नीति— जीवदया वैष्णवों का प्रमुख सिद्धान्त है और कृष्णकाव्य वैष्णवकाव्य है, इसलिए इसमें प्राणियों के प्रति करुणा रखने की शिक्षा अनेक स्थलों पर दी गई है। इनके मत में कोई व्यक्ति दया-भावना के बिना हरि को प्राप्त नहीं कर सकता—

(क) 'परशुराम' के पंथ में जीव दया-विस्तार।

पर की पीड़ा जाएगी, जाणें पर उपकार ॥^१

(ख) दया दीनता दास भाव बिनु 'व्यास' न हरि पहिचान्यौ ॥^२

जहाँ जीवदया प्रमुख महत्त्व रखती हो, वहाँ मांसभक्षण, आखेट आदि का निषेध स्वाभाविक है क्योंकि मांस की प्राप्ति तथा आखेट प्राणिवध के बिना असंभव हैं। मुसलमान लोग हलाल मांस खाते हैं और हिन्दू-सिख भटका। इन कवियों की दृष्टि में भटका हो या हलाल, दोनों ही हराम अर्थात् त्याज्य हैं। मांसभक्षक तो नरक में ही जायगा, स्वर्ग में नहीं क्योंकि, दूसरों के प्राण लेने वाला स्वर्गीय सुखों का अधिकारी कैसे बन सकता है। परशुराम जी का कथन है—

खाय न मारे जीव को, तजै हराम हलाल।

'परसा' दोजख परहरे विहित मिले बर हाल ॥

खायो जो मुरदार कर, सो हलाल क्यों होय।

'परसा' कर्म हराम कर, गये बहिस्तहि खोय ॥^३

अन्य प्राणी तो कृपा के पात्र हैं परन्तु गो प्रेम की। उसके लिए तो भगवान् बैकुण्ठ के सुखों का परित्याग कर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं—

अविनि-असुर अति प्रबल मुनीजन-कर्म छुड़ाए।

गऊ सन्तन के हेत देह धरि ब्रज में आए ॥^४

जब प्रभु स्वयं पृथ्वी पर आ पहुँचे तो गीशों की देख-रेख में क्यों कसर रहे ! वे उन के मुख पर लगी धूल को पीत पट से प्रेमपूर्वक पोंछते हैं, सींगों को स्वर्णादि से सुभूषित करते हैं, गले में हार डालते और घंटा लटकाते हैं तथा पाँव में नूपर पहनाते हैं।^५ वे उन्हें प्रेमपूर्वक चराने को वन में ले जाते हैं और मुरली की मधुर ध्वनि से उन्हें प्रसन्न करते हैं। सार यह कि कृष्णकाव्य में गो एक पशु नहीं प्रतीत होती सच-मुच माता-सी दिखाई देती है।

सिंह, शूकर, कुक्कर आदि प्राणियों से सम्बन्धित भी कई नीतियों की चर्चा कृष्णकाव्य में की गई है, जैसे, सुप्त सिंह को कभी मत जगाइए, सिंह के शावक तृण-

१. परशुराम सागर, पृष्ठ २०१।२१२१

२. व्यासवाणी, पृष्ठ १३१।२४६

३. परशुराम सागर, पृष्ठ १६६।२०६६-६७

४. 'कुंभनदास' पृष्ठ १४

५. चतुर्भुजदास' पृष्ठ १२०, 'परमानंदसागर' पृष्ठ ८१

भक्षण नहीं किया करते, मनुष्य को न शूकर के सम कामी और न कुक्कर के तुल्य लोभी होना चाहिए। मथुरा-गमन के प्रसंग में नारद कंस को कहते हैं—

समाचार सब नारद भाखें, सावधान रिपु कीनो।

सोवत सिंह जगायो पापी, सन्तन को बुख दीनो ॥^१

मिश्रित नीति—उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त कृष्णकाव्य में जिन अन्य मुख्य विषयों के सम्बन्ध में नीतिवचन दृष्टिगोचर होते हैं, वे ये हैं—(क) संसार (ख) माया (ग) भाग्य, कर्मफल (घ) देश, नदी, तीर्थ (ङ) काल (च) कलिकाल (छ) ज्योतिष, शकुन (ज) जन्म-साफल्य (झ) पुनर्जन्म, मुक्ति (ञ) धर्म, पंथ।

(क) **संसार**—कृष्णकाव्य में संसार को मिथ्या कहा गया है। उसके वास्तविक प्रतीत होने का कारण प्रभु की माया है, जिसके कारण हम उसके सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ रह जाते हैं। जैसे शुक सेमल वृक्ष के आपातमणीय पुष्पों को देख उसकी ओर फल की आशा से उड़कर जाते हैं, परन्तु उनकी निस्सारता के कारण निराश लौट आते हैं ऐसे ही अज्ञानी जन इस मिथ्या संसार के सुखों की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु अन्ततः उन्हें पश्चात्ताप ही करना पड़ता है। यह नश्वर संसार उस मण्डी के समान है जो रात को उठ जाती है। इसमें तो राजाओं को भी सुख नहीं, सामान्य जनों का तो कहना ही क्या। यह एक अथाह, अपार सागर है जिसमें मनुष्य तब तक गोते खाते रहते हैं जब तक सद्गुरु-रूपी केवट उन पर कृपा नहीं करता। यथा—

(क) मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।

मिथ्या है यह देह कहौ क्यों हरि बिसराया ॥^२ (सूरदास)

(ख) 'व्यास' न सुख संसार में, जो सिर छत्र फिरात।

रैन घनौ घन देखियत, भोर नहीं ठहरात ॥^३ (व्यास जी)

(ग) सत की नाव खेवटिया सतगुर, भवसागर तरि आयौ।

'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, हरखि हरखि जस गायौ ॥^४

अधिकतर तो संसार का चित्र ऐसा ही निराशामय चित्रित किया गया है परन्तु कहीं-कहीं यह कहकर सान्त्वना देने का भी यत्न किया गया है कि जिस संसार में रहकर ही मनुष्य प्रभु-प्राप्ति में समर्थ होता है उसे मिथ्या कहना अनुचित है—

सो जग बय मिथ्या कहि जाइ। जहाँ तरै तुम्हरे गुन गाइ।

प्रेम भक्ति बिनु मुदित न होइ। नाथ कृपा करि दीजै सोइ ॥^५ (सूरदास)

परन्तु स्मरण रखना होगा कि ऐसी विरल उदितियों से उतनी ही सान्त्वना

१. 'परमानन्द सागर' पृष्ठ १६२

२. सूरसागर, पृष्ठ ४३०

३. व्यासदासी, व्यास जी की साखी, पृष्ठ १६५।१२५

४. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १४७।१५७

५. सूरसागर, पृष्ठ १७१२

प्राप्त होती है जितनी सावन की अमावस्या की रात्रि में खद्योतों की झलक से ।

(ख) माया—माया का इन काव्यों में प्रचुरता से वर्णन किया गया है । वह भगवान् की ऐसी शक्ति है जो अज्ञानी मनुष्यों को पापों में ऐसे ही प्रवर्तित करती है जैसे कामुक जनों को दूतियाँ । उसे मोहिनी, भुजिनी, नटिनी आदि उपाधियों से कोसा गया है । ऐसी प्रबल अनिष्टकारिणी शक्ति से बचाव का एक-मात्र साधन है भक्ति । भक्ति-हीन मनुष्य उसके चंगुल से मुक्त होने में असमर्थ रहते हैं, और काम, क्रोध आदि व्यसनों में पड़कर जीवन को चौपट कर बैठते हैं । यथा—

माया नटी लकुटि कर लीन्हे, कोटिक नाच नचावै ।

दर-दर लोभ लाग लिये डोलति, नाना स्वांग बनावै ॥

महा मोहिनी मोहि आत्मा अपमारगहि लगावै ।

ज्यों दूती परवधू भोरि कं लं पर पुरुष दिखावै ॥^१ (सूरदास)

(ग) भाग्य, कर्मफल—कृष्णकाव्य में भाग्य-रेखा की अक्षुण्णता और कर्मफल की अनिवार्यता पर जितना बल दिया गया है, उसका सहस्रांश भी उद्योग की प्रशंशा पर नहीं । निस्संदेह कहीं-कहीं ऐसा भी लिखा मिलता है कि अज्ञान से किये हुए कर्म का फल भी मिलता ही है, सुख और दुःख कर्मों के अनुसार होते हैं, निष्काम कर्म करने चाहिए, इत्यादि, तथापि विधि के लिखे श्रंकों पर जितनी आस्था दिखाई देती है, उतनी अपने बल, पुरुषार्थ और उद्योग पर नहीं । भाग्य के बिना भोजन और वस्त्र तक भी नहीं प्राप्त होते और जो होनहार है वह हुए बिना टल भी नहीं सकती ।

(क) भावी काहू सौं न टरै ।

कहै वह राहु कहां वह रवि ससि, आनि संजोग परै ।

मुनि वसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी, रवि पचि लगन धरै ।

तात मरन, सिय हरन, राम बन-बपु धरि बिपति परै ॥^२ (सूरदास)

(ख) अपना कीया बुर कर, हरि का कीया देख ।

मिटे न काहू के किये, 'परशुराम' हरि-लेख ॥^३ (परशुराम)

(ग) सुन्दर नारी ताहि बिवाहै, असन बसन बहु विधि सो चाहै ।

बिना भाग सो कहां तैं आवैं । तब वह यन में बहु दुख पावैं ॥^४ (सूरदास)

(घ) देश—जैसे रामकाव्य में अयोध्या, चित्रकूट, जनकपुरी आदि नगरों और गंगा, सरयू आदि सरिताओं की महिमा का प्रचुर वर्णन मिलता है, वैसे ही कृष्णकाव्य में श्री कृष्ण और श्री राधा की जन्मभूमि और लीला-भूमि होने के कारण ब्रज, मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, गोवर्द्धन, वरसाना, यमुना आदि का महत्त्व गान अत्य-

१. सूरदास पृष्ठ १५

२. सूरसागर, पृष्ठ ८५।२६४

३. परशुराम सागर, पृष्ठ १६।१८७

४. सूरसागर, पृष्ठ १३६

धिक है। कृष्णभक्तों को ये स्थल बैकुण्ठ से भी अधिक मनोरम प्रतीत होते हैं। उदा-हरणार्थ, गोविन्दस्वामी का यह पद देखिए—

कहा करें बैकुण्ठे जाइ ।

जहाँ नहीं बंसोवट जमुना गिरि गोवर्द्धन नंद की गाँइ ॥

जहाँ नहीं ए कुंज लता द्रुम मंद सुगंध बाजत नहि वाइ ।

कोकिल मोर हंस नहि कूजत ताकी बसिबो काहि सुहाइ ॥^१

और भक्तवर व्यास जी को तो वृन्दावनवासी स्वपच की जूठन और कहीं के वासी विप्र के मिष्टान्न से भी मधुर मालूम होती है—

‘व्यास’ मिठाई विप्र की ता में लागे आग ।

वृन्दावन के स्वपच की जूठन खंघे माँग ॥^२

इसके विपरीत वे नगर जहाँ अपार ऐश्वर्य के कारण आठों याम नाच-रंग और चहल-पहल बनी रहती थी, भक्ति-साधना में विघ्न-रूप होनेके कारण, इनको फूटी आँख न भाते थे। सम्राट् अकबर के आमंत्रण पर कुम्भनदास सीकरी में चले तो गए परन्तु उससे इनके मन में जो ग्लानि हुई उसका अनुमान निम्नांकित पद से सहज ही हो सकता है—

भक्त की कहा सीकरी काम ?

आवत जात पन्हैयां टूटी विसरि गयो हरि-नाम ॥

जाकों मुख देखत दुख उपजै ताकीं करनी परी प्रनाम ।

‘कुम्भन दास’ लाल गिरिघर बिदु यह सब झूठी धाम ॥^३

काल—काल शब्द प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, मृत्यु और समय। मृत्यु को संमुख देखकर बड़े-बड़े मनस्वी भी कंपित हो उठते हैं और प्राण-रक्षा के लिए लाखों की संपदा देने को तैयार हो जाते हैं, परन्तु बली काल से आज तक न कोई प्राणी बचा और न बचेगा। मृत्यु की इस अनिवार्यता को दिखाते हुए सब देशों और कालों के भक्तों ने मूढ़ लोगों को नीति-पथ पर अग्रसर करने का यत्न किया है। कृष्ण-काव्य में भी काल की बलवत्ता दिखाते हुए मनुष्य को सत्पथगामी बनाने का यत्न किया गया है और साथ ही यह भी बता दिया है कि सद्गुरु की कृपा से ही कालभय का निवारण हो सकता है—

(क) काल बली तैं सब जग कांध्यौ ब्रह्मादिक हूं रोए ।

‘सूर’ अथम की कहौ कौन गति, उदर भरे, परि सोए ॥^४

१. ‘गोविन्दस्वामी’, पृष्ठ २१५

२. व्यासवारी, व्यास जी की साली, पृष्ठ १६६।१३३

३. ‘कुम्भनदास’, पृष्ठ १२७

४. सूरसागर, पृष्ठ १८।५२

(ख) बोबत बबुर, दाख फल चाहत, जीवत है फल लागे ।

‘सूरदास’ तुम राम न भजिकै, फिरत काल संग लागे ॥^१

(ग) ‘परसा’ पाचर काल की, तूटी देही मांहि ।

सतगुरु बिना न नीसरे, सालें माहों मांहि ॥^२

समय वा अवसर के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर नीति-वचन कृष्ण-काव्य में दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ, समय पर की गई तनिक-सी सहायता से जो कार्य सिद्ध होता है, वही अवसर चूक जाने पर बहुत साहाय्य से भी सम्पन्न नहीं होता। व्यास जी का वचन है—

एक चुरू जल प्यासो जीवें, यों राखें कौ मान ।

पाछें सुधा सिन्धु कहा कीजें, छूटि गये जे प्रान ॥^३

कलिकाल—देश और जाति में प्रचलित पाप, अन्याय, अत्याचार आदि के लिए पापी, अन्यायी, अत्याचारी आदि को दोषी न ठहरा कर कलि-काल को ही कलंकित करने की प्रथा इस देश में चिरकाल से चली आती है। यदि यवन-शासन के कारण हिन्दू सताए जाते थे, गोएँ काटी जाती थीं और मंदिर विध्वस्त किए जाते थे तो इनका कारण भी कलिकाल ही माना जाता था। यदि लोग वेदविधियों का उल्लंघन करते और पुत्र पिता का तो इनका दोष भी कलि के ही माथे मड़ा जाता था—

पूत न कह्यो पिता कौ मानत, करत आपनों भायौ ।

बेटो बेचत संक न मानत दिन-दिन मोल बढ़ायौ ।

याही तैं बरिषा मंद होत है, पुन्य तैं पाप सवायौ ।

इतनों दुःख सहिवे के काजें काहे को ‘व्यास’ जियायौ ॥^४ (व्यास जी)

इन कवियों में यह विचार भी पाया जाता है कि कलि-मल का नाश करने के लिए ही भगवान् कृष्ण और सम्प्रदायों के आचार्यों ने जन्म लिया है।^५

(छ) ज्योतिष, शकुन—इन कवियों का शुभाशुभ लगन, मुहूर्त, ग्रह, नक्षत्र, शकुन आदि में विश्वास तो है परन्तु बहुत अधिक नहीं। कारण यह कि ये लोग श्री कृष्ण पर इतना अधिक विश्वास रखते हैं कि उनकी कृपा-दृष्टि कूर ग्रहों और अप-शकुनों के कुप्रभाव को मिटा देती है। इनकी यह भी आस्था है कि यदि कृष्ण की दृष्टि वाम हो तो शुभ ग्रह और सुशकुन भी हमारा हित नहीं कर सकते। उपर्युक्त कथन के समर्थन में दो पद्य प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. सूरसागर, पृष्ठ २१।६१

२. परशुराम सागर, पृष्ठ १२२।१२२३

३. व्यासवाणी, पृष्ठ १५।२४

४. व्यासवाणी, पृष्ठ १२२।२३३

५. सूरसागर, पृष्ठ १४।४१, हितामृत सिंघु, सेवकवाणी, पृष्ठ ७६, ७७,

(क) गोपाल के वेध करन को कीजें ।

गुरु बल तिथि बल नच्छत्र वार बलि सुभ घरी विचार लीजें ।^१ (परमानंद दास)

(ख) भानु दशम जनम्म निशापति मंगल बुद्ध शिवस्थल लीके ।

जो गुरु होय घरम्म भवन्न के तौ भृगुनंद सुमंद नवी के ॥

तीसरो केतु समेत बिधु प्रस तौ हरिवंश मन क्रम फीके ।

गोविंद छांडि भ्रमंत दिशों दिश तौ करहाँहि कहा नवग्रह नाके ।^२ (हितहरिवंश)

(ज) जन्म-साफल्य—कृष्ण-कवियों की दृष्टि में मानव-जीवन की सफलता प्रभूत धन-सम्पत्ति या सुख-सामग्री एकत्र करने में नहीं बल्कि हरि-भजन, गुरु-सेवा, ब्रज-वास, भागवतश्रवण, भक्त-चरण-क्षालन और राधाकृष्ण की प्रतिमा के सम्मुख प्रेममग्न होकर नृत्य करने में है। प्रायः हमारे यहाँ पदार्थचतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की प्राप्ति को ही जीवन-लक्ष्य माना गया है परन्तु श्री कृष्ण के प्रेमियों को ये पदार्थ भी तुच्छ प्रतीत होते हैं। व्यास जी के मत में तो ये पदार्थ राधा-कृष्ण के सम्मुख पानी भरते हैं—

श्री वृन्दादन के राजा दोऊ स्याम राधिक रानी ।

तीन पदार्थ करत मँजूरी, मुक्ति भरत जहँ पानी ॥^३

(झ) पुनर्जन्म, मुक्ति—अधिकतर भारतीय सम्प्रदायों के अनुसार इन कवियों का पुनर्जन्म में विश्वास है। ये मानते हैं कि जीव चौरासी लाख योनियों में चक्कर काट-कर फिर कहीं मनुष्य की दुर्लभ देह प्राप्त करता है। परन्तु बार-बार इस अमूल्य काया की प्राप्ति की कामना इसमें नहीं दिखाई देती। वे एक ही बार प्राप्त इस सुअवसर से लाभ उठाकर संसार-सागर से पार उतरना चाहते हैं। संसार और काया को मिथ्या मानने वालों में इन वस्तुओं के प्रति शाश्वत आकर्षण हो भी कैसे सकता है। मोक्ष में भी इन कवियों का विश्वास है परन्तु उसे वे प्रायः अन्य सम्प्रदाय वालों के लिए ही रहने देते हैं और आप निकुंजविहारी के लीलादर्शन में ही उससे भी उच्च कोटि का सुख प्राप्त करने के इच्छुक हैं। इस सुख के लिए वे अनेक जन्म धारण करने को भी उद्यत न।

(क) लख चौरासी जोनि भरमि कं , फिरि याही घन दीनौ ।

‘सूरदास’ भगवंत भजन दिनु ज्यों अंजलि-जल छीनौ ॥^४

(ख) अहो विधना ! तो पैं अँचरा पसारि मांगों,

जदमु-जनमु दीजें याही ब्रज बसिदो ।

१. परमानंद सागर, पृष्ठ १८

२. हितामृत सिंधु, पृष्ठ ३।१

३. व्यासवाणी, पृष्ठ ३७।६४

४. सूरसागर, पृष्ठ २२।६५ (और भी देखें, पृष्ठ ६८।२०५)

अहीर की जाति, समीप नंद-घर,
घरी-घरी घनस्याम हेरि-हेरि हंसिबो ॥^१ (छीतस्वामी)

(ज) धर्म, पंथ—भागवत धर्म के अनुयायी इन कृष्ण-कवियों में धर्म के प्रति आस्था का होना स्याभाविक ही है। श्री कृष्ण के जातकर्म, नामकरण, अन्न-प्राशन, यज्ञोपवीत आदि धार्मिक संस्कारों का उल्लेख तो इन काव्यों में बराबर मिलता है, परन्तु रामकाव्य की-सी उदारता प्रायः इन काव्यों में दिखाई नहीं देती। प्रायः अपने सम्प्रदाय की तुलना में अन्य सम्प्रदायों को हीन ही समझा जाता है—

(क) सेवा-रीति बताई विधि सों, अपने मन की परम अनूप।
'छीत स्वामी' श्री बिट्ठल आगे और पंथ जैसे जल कूप ॥^२

सेवक जी ने हरिवंश के अनुयायियों को तो पाके धर्मी कहा है और दूसरों को काचे धर्मी।^३ गणेशपूजकों की तो मृत्यु की कामना तक की गई है।^४ इस संकीर्णता के रहते हुए भी कभी-कभी कोई भक्त कुछ उदारता का प्रदर्शन कर ही देता है—

अपने अपने मत लगे, वाद मचावत सौर।

ज्यों त्यों सब को सेवनें, एक नंद किसोर ॥^५ (व्यास जी)

कृष्णकाव्य पर एक दृष्टि

नवीन विषय—पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि कृष्णकाव्य मुख्यतः कृष्ण-भक्ति से सम्बन्ध रखता हुआ भी नीतिकाव्य के विचार से नितान्त उपेक्ष्य नहीं है। यह भी विद्वस्त रूप से कहा जा सकता है कि उसमें नीति-सम्बन्धी कई ऐसी बातों का उल्लेख किया गया है जो पिष्ट-पेषण मात्र नहीं है। कई बातें ऐसी हैं जिनकी शर्चा पूर्ववर्ती हिन्दी नीतिकाव्यों में दुर्लभ है, जैसे—एकाकी ऋडा से प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती, रसिकों की गाली भी भली, वाङ्माधुर्य के साथ मनोमार्दव भी आवश्यक है, गीता और भागवत का पद श्रुति से भी उत्कृष्ट है, गुणी व्यक्ति का अल्प दर्प सह्य है, पिता की दृष्टि सन्तान के अन्याय्य कृत्यों पर नहीं पड़ती, पति का पत्र पड़ोसिन से न सुनना चाहिए, राधा, कृष्ण और गुरुओं के नाम का जप करना चाहिए, कृष्णप्रेम के लिए शास्त्र, परिवार और समाज की मर्यादाएँ भग्न होती हों तो कोई चिन्ता नहीं युवतियों को ज्ञानयोग का उपदेश देना अनुचित है, निंदक हन्तव्य है, विविध शिष्य, सन्तों की जूठन भी भक्ष्य है, होली में मर्यादोल्लंघन उपेक्ष्य है, सम्पत्ति को स्वकीय समझने वाला तस्कर है, वृन्दावन के चाण्डाल की जूठन अन्य कहीं के विप्र के मिष्टान्न

१. 'छीतस्वामी', पृष्ठ ५१ (और देखें रसखानि, पृष्ठ ३११)

२. 'छीतस्वामी', पृष्ठ ११०। (और देखें सिद्धान्त रत्नाकर, सर्वया पचीसी, पद्य १७)

३. हितामृत सिंधु, पृष्ठ १२६, १३३

४. व्यासवाणी, पृष्ठ ८०।१४६

५. व्यासवाणी, पृष्ठ १५८।६३

से अच्छी है, मुक्ति की अपेक्षा जन्म-जन्मान्तर में कृष्णलीला-दर्शन भेष्ट है, इत्यादि ।

पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव—कृष्णकाव्य पर पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव मुख्यतः दो वर्गों में विभाज्य है—(क) संस्कृत-साहित्य का प्रभाव, और (ख) हिन्दी साहित्य का प्रभाव ।

(क) **संस्कृत-साहित्य का प्रभाव**—कृष्णकाव्य पर श्रीमद् भागवत पुराण का प्रभाव सब से अधिक पड़ा है । जहाँ सूरदास ने उक्त पुराण के आधार पर सूरसागर का प्रणयन किया है वहाँ नंददास ने उसी के दशम स्कन्ध का ब्रजभाषा काव्य में अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है । मेघदूत, भर्तृहरि-कृत नीतिशतक आदि काव्यों का प्रभाव भी कहीं-कहीं लक्षित होता है । जैसे—

(१) भवन्ति न आस्तरयः फलोद्गमनं न वाम्बुभिर्बूरदिलम्बिनो घनाः ।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥^१

(भर्तृहरि)

फलन के भार नभित द्रुम ऐसे । संपति पाय बड़े जन जैसे ।^२ (नंददास)

भर्तृहरि के उपर्युक्त श्लोक का आशय यह है कि जैसे फल लगने पर वृक्ष, जल-पूर्ण होने पर मेघ और सम्पन्न होने पर सज्जन विनम्र हो जाते हैं, वैसे ही परोपकारी लोग स्वभावतः विनीत होते हैं । नन्ददास ने श्लोक के प्रथम तथा तृतीय चरण को तो ग्रहण कर लिया है और शेष दो का परित्याग कर दिया है ।

(२) 'मेघदूत' में जब विरहानुर यक्ष विवेकहीन होकर जड़ मेघ द्वारा ही प्रियतमा के पास सन्देश भेजने को उत्सुक हो गया तब कालिदास ने उसके इस विवेक-रहित कार्य का समर्थन नीति की निम्नांकित उक्ति द्वारा किया —

कामार्ता हि प्रकृतिः कृपणाश्चेतनाश्चेतनेषु ।^३

अर्थात् मदन-पीड़ित मनुष्य जड़ और चेतन में विवेक करने की शक्ति से वंचित हो जाते हैं । इसी नीति का उल्लेख नंददास ने 'रासपंचाध्यायी' के प्रसंग में किया है जिसमें गोपियों को गर्वित देखकर श्री कृष्ण अन्तर्हित हो गये और गोपियों विरह-व्यथित होकर प्रियतम का पता वृक्षों और बल्लियों से पूछने लगीं—

ह्वं गई विरह बिकल तब बूझत द्रुम बेली-वन ।

को जड़ को चेतन्य कछु न जानत बिरही जन ॥^४

(३) श्रीमद् भागवत् में पातिव्रत की प्रशंसा निम्नांकित पद्यों में की गई है—

१. शतक-त्रयम्, पृष्ठ ३५।६१

२. नंददास ग्रंथावली, रूपमंजरी, पृष्ठ ११६

३. कालिदासः मेघदूत, पद्य ५

४. नंददास ग्रंथावली, रासपंचाध्यायी, पृष्ठ १४

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा ।

पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेऽप्युभिरपातको ॥

अस्वार्थमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।

जुगुप्सितं च सर्वत्र श्रौपत्यं कुलस्त्रियाः ॥^१

“उत्तम लोक प्राप्त करने की इच्छुक स्त्रियों को पापी के सिवा किसी भी प्रकार के पति का परित्याग न करना चाहिए, चाहे पति दुःशील, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो । कुलीन स्त्री के लिए जाराभिगमन स्वर्गनाशक, अपकीर्ति-जनक, तुच्छ, दुःखदायक, भयंकर और धृणा-जनक होता है ।”

भागवत की इसी नीति को सूरदास जी ने निम्नलिखित चरणों में व्यक्त किया है—

विरध अरु बिन भागहूं कौ, पतित जो पति होइ ।

जऊ मूरख होइ रोगी तजै नाहीं जोइ ॥

तजि भरतार और जो भजियै, सो कुलीन नहि कोइ ।

मरै नरक, जीवत या जग भैं, भलौ कहै नहि कोइ ॥^२

(४) याचकता गौरव-नाशिनी है, इस नीति का उल्लेख, बलि-वामन की प्रसिद्ध कथा की ओर संकेत करते हुए ‘प्रसंगरत्नावलि’ में निम्नवर्ती पद्य में किया गया है—

तावन्नहतां सहती याचत्किमपि न याच्यते लोकम् ।

बलिमनुयाचन-समये श्रीपतिरपि वामनो जातः ॥^३ (पट्टपभट्ट)

भक्तवर व्यास जी ने इसी आशय को निम्नांकित दोहे में स्पष्ट किया है—

‘व्यास प्राप्त करि भागिनी हरिह हरिबौ होय ।

बाधन हूँ बलि के गये यह जानत सब कोय ॥^४

उपर्युक्त विवरण से हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि कृष्णकाव्य में विद्यमान नीति की उक्तियां भाव और भाषा दोनों दृष्टि से संस्कृत-साहित्य की अंशतः ऋणी हैं ।

हिन्दी-साहित्य का प्रभाव—संस्कृत-साहित्य के समान ही, कृष्णकाव्य हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य से भी प्रभावित लक्षित होता है । इस क्षेत्र में इस काव्य पर कबीरदास, तुलसीदास का प्रभाव अन्य हिन्दी कवियों की अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है । भाव-क्षेत्र में ही नहीं, भाषा क्षेत्र में भी यह प्रभाव इतना अधिक है कि कहीं-कहीं

१. श्रीमद् भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय २६।२५, २६

२. सूरसागर, पृष्ठ ६११ । पद १०१६, १०१७

३. सुभाषित रत्नाकर, पृष्ठ ६६।७

४. व्यासवाणी, पृष्ठ १५५।३७

तो कृष्णकाव्य की उक्तियां पूर्ववर्ती कवियों के पद्यों का रूपांतर-मात्र प्रतीत होती हैं। जैसे, कर्मगति के विषय में कबीर का एक पद इस प्रकार है—

(क) करम गति टारे नाहि टरी ।

मुनि बसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी ॥

सीता हरन मरन दशरथ को वन में विपति परी ।

नीच हाथ हरिचन्द्र बिकाने बलि पाताल धरी ।

पांडव जिनके आयु सारथी तिन पर विपति परी ।

राहु केतु औ भानु चंद्रमा बिधि संजोग परी ।

कहत कबीर सुनो भई साधो होनी होके रही ॥^१ (कबीर)

उपर्युक्त पद के आधार पर मीराबाई और सूरदास ने भी पद-रचना की है—

करम गति टारे नाहि टरे ।

सतबादी हहिचन्द से राजा (सो तो) नीच घर नीर भरे ।

पांच पांडु अरु सती द्रोपदी, हाड़ हिमालं गरे ॥^२ (मीराबाई)

भावो काहू सौं न टरे ।

कहं वह राहु कहाँ बं रवि ससि आनि संजोग परं ॥

मुनि बसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी, रचि-पचि लगन धरं ॥

तात-मरन सिय-हरन राम बन-बपु धरि बिपति भरं ।

हरिचन्द सो को जग दाता सो घर नीच भरं ।

‘सूरदास’ प्रभु रची सु ह्वं है को करि सोच मरं ॥^३

उपर्युक्त तीनों पदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें वण्यं विषय की ही समानता नहीं है, उदाहरण भी लगभग समान हैं और शब्दावली में भी साम्य है ही ।

(ख) साक्षत ब्रामण मति मिलै, बैसनों मिलै चंडाल ।

अंकमाल दे भेटिये मानों मिले गोपाल ॥^४ (कबीर)

साक्षत-ब्रामन जिन मिलौ, वैष्णव मिलि चण्डाल ।

जाहि मिलै सुख पाइये, मनो मिले गोपाल ॥^५ (व्यास)

उपर्युक्त दोहों में ब्राह्मण शाक्त की अपेक्षा चंडाल वैष्णव को श्रेष्ठ कहा गया है। व्यास जी भाव के लिए ही कबीर जी के आभागी नहीं हैं, अपने दोहे के तीन चरणों की शब्दावली के लिए भी कबीर जी के ऋणी हैं ।

१. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ १७५

२. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५६

३. सूरसागर, पृष्ठ ८५।२६४

४. कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ५४

५. व्यास-वाणी, पृष्ठ १६६।१३६

(ग) गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड में ऐसे अनेक पद्यों की रचना की है जिन का आशय यह है कि चाहे मनुष्य संसार की सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से सम्पन्न हो तो भी उसका जीवन तब तक सफल नहीं माना जा सकता जब तक उसके हृदय में सच्ची रामभक्ति का संचार न हो। उनमें से कुछ सर्वेयों के अन्तिम चरण 'ऐसे भये तो कहा तुलसी' इस शब्दावली से आरम्भ होते हैं। कृष्ण-भक्त महन्त किशोरदास जी ने अपनी सम्पूर्ण 'सर्वैया-पचीसी' की रचना इसी शैली में की है और वर्ण्य विषय भी प्रायः वही है। जैसे—

झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मद अंबु चुचाते ।
 तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहुं तें बढ़ि जाते ॥
 भीतर चन्द्रमुखी अबलोकति, बाहर भूप खरे न समते ।
 ऐसे भए तो कहा तुलसी, जुपं जानकी-नाथ के रंग न राते ॥^१

(तुलसीदास)

डंड धरं कर मांहि प्रचंड सुवानं कृसानं समानं सवारी ।
 मानंत आनं अमानं नरिन्द्र महा दनु देव भरे कर भारी ॥
 मत मतंग करिन्द्र तुरंग रहै सुष संग अभंग सँभारी ।
 ऐसे भये तौ कहा हरिदास लषे नहीं नित्य 'किसोर' बिहारी ॥^२
 (किशोरदास)

परिस्थितियों का प्रभाव—कृष्णकाव्य में जो थोड़ी-बहुत नीति दिखाई देती है, उस पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव भी कहीं-कहीं दिखाई देता है। एक ओर तो जैन लोग थे जो जगत्कर्ता ईश्वर में विश्वास ही न रखते थे और कठोर संयम के पक्षपाती थे। वे केशलुंचन, उग्र तप, अत्यधिक जीवदया, दिवा-भोजन आदि कृत्यों को अत्यधिक महत्त्व देते थे और उस भक्ति-रस से सर्वथा रहित थे जिसमें कृष्णभक्त अपने जीवन को सार्थक समझते थे। इसलिए इन कवियों ने जैनों को उक्त व्यवहारों के लिए आड़े हाथों लिया है। यथा—

लुंचित केस कलेस कलेवर काल करंम किये अधिकारी ।
 रक्षक जीव अनछ्यक ईश्वर वासर भोजन अल्प क्षुधारी ॥
 इंद्रिनि जीति अतीत पराहद धाम सकांमन तें मति टारी ।
 ऐसे भये तौ कहा हरिदास लषे नहीं नित्य 'किसोर' बिहारी ॥^३

दूसरी ओर योगपंथी लोग अपने मत का प्रचार करने में मग्न थे। वे जटाएँ

१. तुलसी ग्रंथावली, खंड २, कवितावली, पृष्ठ १७५।४४

२. 'सिद्धान्त रत्नाकर' में 'सर्वैया पचीसी', पृष्ठ २६३।१२ (सर्वैया पचीसी' के सभी पद्यों में महंत किशोरदास ने शब्दावश आचार्य हरिदास की छाप लगाई है।)

३. वही, वही पृष्ठ २६२।८

रखते, नख और रोम बढ़ाते, कान फड़वाते, भस्म रमाते, प्राण-संयम करते और यौगिक क्रियाओं के प्रति लोगों को उन्मुख करते थे। परन्तु कृष्णभक्तों को ये सब क्रियाएँ कृष्णदर्शन के बिना जंजाल दिखाई देती थीं।

मुनि कै उपदेस सुदेस भये यों भेष दिसा त्यों आसन मारी ।

सीस जटा जुग कौन फटा नष रोम अर्घंडित स्यंभु अकारी ॥

बाहु उठाय बिभूति रमाय समाधि लगाय सुपौन प्रचारी ।

ऐसे भये तौ कहा हरिदास लषे नहीं नित्य 'किसोर' बिहारी ॥^१

परसुराम जी ने भी इस मार्ग को विकट घाटी के तुल्य दुरारोह और कृष्ण-प्रेम के मार्ग को विमान के समान तुरन्त आसमान पर पहुँचाने वाला कहा है—

त्रिकुट कोट घाटी विकट, शून्य न चढ़ई प्राण ।

परसा पंथ न चालई, पायो प्रेम-विमाण ॥^२

तीसरे, मुसलमान लोग थे जिनके मुल्ला, काजी आदि खुदा, बहिश्त, दोजख, कुरान आदि के सम्बन्ध में बहुत-कुछ बातें करते थे परन्तु रसना की लोलुपता की शान्ति के लिए निरीह प्राणियों का निर्दयतापूर्वक वध करने में रत्ती भर भी संकोच न करते थे। इतना ही नहीं, विधर्मियों के प्रति अन्याय तथा उनके पूजास्थानों के विध्वंस करने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। ये सब कार्य कृष्णभक्तों की दृष्टि में कुत्सित और हेय थे, इसीलिए उन्होंने इसका निस्संकोच खण्डन किया। जैसे—

आपण मारे हक कहे, करता हती हराम ।

'परसा' स्वारथि जीभ के, बूढ़ि मुए बेकाम ॥

करतें करदी डारि दे, सबदां करे हलाल ।

'परसा' दरगह दीन की, बिहिशत लहं दर हाल ॥^३

अनेक साधु-संन्यासी घर-बार के परित्याग मात्र को ही कल्याण का साधक समझ कर परिभ्रमण में निरत रहते थे। इन कवियों के मत में वे, कृष्णविमुख होने के कारण, सीधे ही यमलोक के मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे—

संन्यासी सूधे चलें, जाणि बूझि जम-लोक ।

भगति विमुख पसु 'परसुरा', सके न काहू रोक ॥^४

इन कवियों की रचनाओं में जहाँ-जहाँ कलि-काल का वर्णन किया गया है, वहाँ वहाँ भी तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। भक्तवर व्यास जी की निम्नलिखित पंक्तियों में तत्कालीन सामाजिक दशा का अच्छा चित्र प्रस्तुत

१. वही, पृष्ठ २६२।७ ।

२. परशुराम सागर, पृष्ठ १००।१६७

३. वही, पृष्ठ, १५६।१६०८, १५७।१६१५

४. वही, पृष्ठ १६३।१६८२

किया गया है—

धर्म दुयौं कलि बई दिखाई ।
 धन भयौ मोत, धर्म भयौ बँरी, पतितन सौं हितवाई ।
 जोगी जपी तपी संन्यासी ब्रत छाँड़्यो अकुलाई ॥
 देखत सन्त भयानक लागत, भावत समुर जमाई ।
 दान लंग कों बड़े तामसी, मचलनि कों बँभनाई ।
 सरन मरन कों बड़े तामसी, वारों कोटि कसाई ॥
 उपदेसन कों गुरु गुसाई, आचरणे अधमाई ॥^१ (व्यास)

कला-पक्ष

(क) रस, भाव—कृष्णकाव्य के अधिकतर रचयिता अच्छे कवि थे। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ प्रायः सरस और भावपूर्ण हैं तथा उनमें प्रसंगवश सन्नि-विष्ट नीति के अंग भी रसों और भावों से शून्य नहीं हैं। जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है उनके नीति वचनों में अन्त और शृंगार रस की बहुलता है। हास्य, वीर, वात्सल्य, बीभत्सादि रसों की भी व्यंजना 'कहीं कहीं' हुई है; जैसे—

बूचिहि खुभी, आँधरिहि काजर, नकटी पहिरै बेसरि ।
 मुंडली पाटी पारन चाहै, कोढ़ी अंगहि केसरि ॥
 बहिरो सों पति मता करे सो उतर कौन पं पावै ।
 ऐसो न्याव है ता को ऊधो जो हमें जोग सिलावै ॥^२ (हास्य रस)
 भाजि न जाई देखि करि, रण आवत अरि पूर ।
 'परसु राम' छाँड़े नहीं, जहँ पग मंडे सूर ॥^३ (युद्धवीर)
 जसुमति कान्हि यहै सिखावति ।

सुनहु स्याम, अब बड़े भये तुम, कहि स्तन-पान छुड़ावति ॥
 ब्रज-लरिका तोहि पीवत देखत, हँसत लाज नहि आवति ॥^४ (वात्सल्य रस)
 जिहि कुल उपज्यौ पूत कपूत ।

ताको बंस नास ह्वै जेहि जिहि गिषयो जम दूत ॥
 जो सु पितरिहि विरोधे सोई है सबहिन को मूत ॥^५ (बीभत्स रस)

भावों के अन्तर्गत प्रभुभक्ति, गुरुभक्ति, मति, श्रोतुक्व, धृति, उदारता, दया, पातिव्रत, निर्भयता, नम्रता, व्रजप्रेम, गोप्रेम आदि की अच्छी व्यंजना हुई है।

१. व्यासवाणी, पृष्ठ १२२।२३२
२. सं० भगवान दीन : सूरपंचरत्न, पृष्ठ ८।१२
३. परशुराम सागर, पृष्ठ ४३।४२८
४. सूरसागर, पृष्ठ ३३६।८४०
५. व्यासवाणी, पृष्ठ ७५।१३७

(ख) भाषा—इस काव्य की रचना प्रायः ब्रजभाषा में की गई है। परशुराम और मीराँवाई की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव पर्याप्त लक्षित होता है। परमानन्द दास ने कहीं-कहीं खड़ी बोली का भी प्रयोग किया है।^१ चतुर्भुजदास और सेवक के कुछ पदों की भाषा संस्कृत-बहुल है।^२ सेवक की वाणी में धरम्म, प्रगट्ट, निपट्ट, प्रवृत्ति, जुगति आदि शब्दों में द्वित्वाक्षरों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। गोविन्दस्वामी के एकाध पद की भाषा को देवनागरी में लिखी उर्दू कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।^३ अन्य कवियों की अपेक्षा परशुराम की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है; जैसे—बंदगी, गरीबनिवाज, बेदरद, खुदाय, मसीति, दोजख, मुरदा, बहिस्त, हक्क, हलाल, काजी, नमाज आदि। छन्दों को अविकल रखने के विचार से कहीं-कहीं शब्दों के रूप विकृत भी कर दिये गए हैं; जैसे, परशुराम जी ने 'नारायण', 'तारायण', और 'समान' के स्थान पर 'नारायेण', 'तारायेण' और 'सामान' लिख दिया है।^४

(ग) परसा जो नर मन मुखी, चाले स्वान सुभाइ ।

सिंहासन बैठाइये, चाकी-चाट न जाइ ॥^५ (परशुराम)

(ख) जाकी बानि परी सखि जंसी, सो तिहि टेक रह्यो ॥^६ (सूरदास)

(ग) सूघे होत न स्वान पूछ ज्यो, पच्चि-पच्चि बंद मरे ॥^७ (सूरदास)

(घ) जा केँ कंटक चुभ्यो न होइ । का जाने पर पीरहि सोइ ॥^८ (नन्द दास)

छंद—अधिकतर कृष्णकाव्य की रचना गेय मुक्तकों के रूप में की गई है जिन पर उनके रचयिताओं ने राग-रागिनियों के नाम का भी उल्लेख किया है। परशुराम, सूरदास, नंददास, किशोरदास, ब्रजवासीदास, रसखान, आदि ने पर्याप्त रचना दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, कुंडलिया, अरिल्ल आदि छन्दों में भी की है। पदों की अपेक्षा दोहा, कवित्त, सवैया, अरिल्लादि छन्दों में नीति की मात्रा अधिक है।

शैली—इन काव्यों में तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, शब्दावर्तक और आत्मा-भिव्यंजक शैलियों का प्रयोग अधिक किया गया है और अन्यापदेशात्मक तथा नैतिक उपमानों की शैली का कम। गोविन्द स्वामी जी ने तिथिशैली में भी कुछ रचना की

१. परमानन्द सागर, पृष्ठ १३।३७

२. 'चतुर्भुजदास', पृष्ठ १६८, 'कुम्भनदास', पृष्ठ ६३, हितामृतसिंधु पृष्ठ ६८।३-४

३. गोविन्द स्वामी, पद ३०२

४. परशुराम सागर, पृष्ठ १७।१६३, १६४

५. वही, पृष्ठ २२।२१५

६. सूरसागर, पृष्ठ १०३।१२६३२

७. वही, पृष्ठ १५।१०।४३४८

८. नंददास ग्रंथावली, पृष्ठ २५२

है। चौरासी लाख योनियों के दारुण दुःखों से त्राण के लिए हितहरिवंश जी ने 'हित-चौरासी' की रचना की है। हरिदासी महन्त किशोरदास ने 'शतक' और 'पच्चीसी' की शैली में भी काव्य लिखे।

अङ्कार—सुकवि होने के कारण कृष्ण-कवियों ने नीति के पद्य-मात्र नहीं रचे, उन्हें भाव-पूर्ण बनाने के अतिरिक्त अलङ्कृत करने का भी उद्योग किया है। इन के नीति-विषयक अंशों में शब्द, अर्थ और उभय सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग लक्षित होता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, दीप्ता और लाटानुप्रास का तथा अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है। अर्थालंकारों में जो अप्रस्तुत-योजना की गई है, वह संस्कृत-काव्यों से पर्याप्त प्रभावित है।

गुण—कृष्णकाव्य प्रसाद तथा माधुर्य गुण से अतिप्रोत है परन्तु ओज गुण की उसमें न्यूनता है। कवियों ने कर्कश-शब्दों के परित्याग और मधुर पदावली के चुनाव में विशेष सतर्कता से काम लिया है। यदि यह कहें कि माधुर्य की दृष्टि से कृष्णकाव्य समग्र भक्तिकाव्य में अनुपम है तो अनुचित न होगा।

दोष—यद्यपि कृष्णकाव्यों में भी अन्य काव्यों के समान, हतवृत्तत्व, शब्दविकार, प्रसादाभाव आदि कई शास्त्रीय दोष कहीं-कहीं विद्यमान हैं तथापि नीतिकाव्य की दृष्टि से वे उपेक्ष्य हैं। नीतिके विचार से इस काव्य की सबसे अधिक आक्षेपणीय बात है—पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन। गार्हस्थ्य-जीवन की पवित्रता सामाजिक जीवन की नींव है और जहाँ वह भग्न हुई वहाँ सामाजिक जीवन का भयन डगमगाने लगा। राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का जो उदग्र शृंगारिक वर्णन अधिकतर कृष्ण-कवियों ने किया है, वह पारिवारिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर नहीं कहा जा सकता। पुरुषार्थ पर विशेष बल का अभाव, भवितव्यता पर अत्यधिक निर्भरता, ईश्वर, माया और कलियुग की शक्तियों के सम्मुख मनुष्य की विवशता, स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करने की क्षमता का अभाव, प्रेमातिरिक्त नीतियों के उल्लेख की कमी आदि दोष भी ऐसे हैं जिनकी ओर अनायास ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है।

रामकाव्य और कृष्णकाव्य—यद्यपि रामकाव्य और कृष्णकाव्य एक ही सगुण-भक्ति की दो शाखाएँ मात्र हैं तथापि इन की नीति में कुछ भेद है जिन पर पाठक की दृष्टि अनायास ही जा पड़ती है। प्रथम बात तो यह कि रामकाव्य में नीति की मात्रा कृष्णकाव्य की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस मात्रा-भेद का कारण है उन-उन काव्यों के रचयिताओं के दृष्टिकोण का भेद। रामकाव्यों का लक्ष्य था श्रीरामादि के आदर्श चरित को प्रस्तुत कर पाठकों को रामायण के श्रेष्ठ पात्रों के समान आदर्श जीवन धारण करने की प्रेरणा करना। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे रामकथा के प्रसंग में स्थान-स्थान पर नाति के पद्यों का समावेश निःसंकोच कर देते थे। कृष्ण-

कवियों का उद्देश्य ही भिन्न था। उन्हें समाज को भ्रादृशोन्मुख करने की चिन्ता न थी। वे तो अपने प्रियतम और उनकी प्रियतमा के नाम के जप और उनकी लीलाओं के गान में ही इतने निरत थे कि परिवार और समाज उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व ही न रखते थे। उनका कथन तो यह था कि जैसे गोपियाँ वेदशास्त्र के विधि-निषेध, परिवार के बंधन और समाज के उपहास की चिन्ता छोड़कर कृष्णप्रेम में मग्न हो गई थीं, उसी प्रकार प्रत्येक सनुष्य को हो जाना चाहिए। यही कारण कि इन काव्यों में नीति की बातें प्रत्यक्ष रूप से बहुत ही कम पाई जाती हैं।

वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में शारीरिक और आत्मिक नीतियाँ तो प्रायः दोनों शास्त्राग्रों की समान ही हैं परन्तु मानसिक नीति में अंतर दिखाई देता है। वेद, शास्त्र, पुराण और विद्या के प्रति जितनी प्रगाढ़ श्रद्धा रामकाव्य में दिखाई देती है, उतनी कृष्णकाव्य में नहीं। इसके विपरीत जितनी निष्ठा कृष्णकवियों की भगवद्गीता और श्रमद्भागवत पुराण में लक्षित होती है उतनी वेदशास्त्रादि में नहीं। संक्षेप में इसका कारण यही है कि रामकवि तो वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाए रखकर सामाजिक मर्यादाओं के पालन पर विशेष बल देते थे और कृष्ण-कवि कृष्ण और उनकी लीलाओं के प्रति ही जनता में प्रेम का प्रसार करना चाहते थे। चूँकि गीता में श्रीकृष्ण के उपदेश हैं और भागवत में उनका लीला-गान, अतएव यही ग्रंथ कृष्ण-कवियों की दृष्टि में श्रुति-स्मृति से भी प्रधान बना दिये गए हैं।

पारिवारिक नीति में भी दोनों काव्यधाराओं का अन्तर स्पष्ट है। माता, पिता, पुत्र, भाई, पति, पत्नी आदि के कर्तव्यों का जितना विशद और विस्तृत वर्णन राम-कवियों ने किया है उतना कृष्णकवियों ने नहीं। यद्यपि पारिवारिक सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को तत्त्वतः दोनों ही कवियों ने मिथ्या कहा है तथापि व्यवहार में सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्यपालन पर जितना बल रामकाव्य में लक्षित होता है, उसका शतांश भी कृष्णकाव्य में नहीं। यदि यह भी कह दिया जाए कि उनमें कृष्णप्रेम के कारण निकट सम्बन्धियों की अवहेलना तक की प्रेरणा की गई है, तो कदाचित् अनुचित न होगा।

सामाजिक नीति के क्षेत्र में यद्यपि विप्रों की वन्दनीयता दोनों ही धाराओं में समान रूप से विद्यमान है तथापि वर्णाश्रम के कर्तव्यों के यथाविधि पालन और ऊँच-नीच जातियों के अन्तर पर जो बल रामकाव्यों में लक्षित होता है, उसका कृष्णकाव्यों में अभाव है। कृष्णकवियों के मत में तो कृष्णभक्त चांडाल भी श्रेष्ठ पद का अधिकारी है। यद्यपि ये कवि कबीरादि सन्तों के समान वर्णव्यवस्था और जात-पात का उग्र खंडन तो नहीं करते तथापि श्री कृष्ण की शरण में आ जाने वाले विधर्मियों, शूद्रों और अन्त्यजों तक से प्रेम करने में संकोच नहीं करते। चूँकि कृष्णकाव्य का एक मुख्य विषय राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण का प्रेम है, अतएव उसमें स्त्री-पुरुष के प्रेम से सम्बन्धित नीतियों का वर्णन इतना अधिक है जितना कि रामकाव्य में नहीं।

गृहस्थों के लिए धन की अनिवार्यता को दोनों धाराओं के कवियों ने दबी जबान से स्वीकार किया है परन्तु उसे विशेष महत्त्व किसी भी धारा के कवि ने नहीं दिया। संतोष और दान-पुण्य करने की जितनी प्रेरणा इन काव्यों में की गई है, उतनी धनो-पार्जन और धनसंग्रह की नहीं। आश्चर्य की बात है कि इनके आराध्य तो श्री के प्रति हैं और खूब ठाट-बाट से रहते हैं परन्तु ये भक्त धन को विघ्न रूप मानते हैं। कारण इसका यह है कि सभी भक्त विदेह के समान सम्पत्ति के मध्य में रहकर भक्ति नहीं कर सकते। जिसे धन का चस्का लग जाता है वह भगवान् को भूल ही जाता है। तो भी इतना तो कह ही सकते हैं कि अर्थ-सम्बन्धी जितनी अधिक नीतियों का उल्लेख राजा राम के चरितगायकों ने किया है, उतनी का बालकृष्ण और गोपीवल्लभ के लीला-गायकों ने नहीं।

इतर प्राणियों के प्रति दया की भावना रामकाव्य की अपेक्षा कृष्णकाव्य में अधिक है। जहाँ रामकवि दशरथ, रामादि के आखेट-वर्णन में जीवदया का प्रदन नहीं उठाते, वहाँ कृष्ण कवियों ने जैन कवियों के समान, उसे निन्द्य कर्म कहा है। गौ की अवध्यता और पूज्यता का वर्णन दोनों काव्यों में समान है परन्तु उसकी जितनी अधिक सेवा-शुश्रूषा कृष्णकाव्य में लक्षित होती है, उतनी रामकाव्य में नहीं। गोपाल कृष्ण से सम्बन्धित काव्य में गौ की यह प्रतिष्ठा स्वाभाविक ही है।

मिश्रित नीति के क्षेत्र में संसार, माया, भाग्य, पुनर्जन्म, आराध्य-भक्ति आदि के विषय में दोनों धाराओं की नीति एक-सी ही है। राम के उपासक कवि जहाँ अयोध्या, चित्रकूट, सरयू आदि की महिमा का वर्णन अधिक करते हैं, वहाँ कृष्ण के प्रेमी यमुना, मथुरा, वृन्दावन आदि का। अपने-अपने आराध्य से सम्बन्धित होने के कारण उन-उन स्थानों के प्रति प्रेम की अधिकता स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त रामकाव्य में अन्य सम्प्रदायों के प्रति जितनी उदारता पाई जाती है, उतनी कृष्ण-काव्यों में नहीं, यह ऊपर कह ही चुके हैं।

कला की दृष्टि से भेद—वर्ण्य-विषय की उपर्युक्त विभिन्नताओं के अतिरिक्त कला की दृष्टि से भी दोनों काव्यों में कुछ भेद है। रामकाव्य मुख्यतः अवधी और ब्रज-भाषा दोनों भाषाओं में रचित है और कृष्ण-काव्य ब्रज-भाषा में ही। राम-कवियों ने अपनी अधिकतर रचनाएँ प्रबन्ध-काव्यों के रूप में लिखी हैं और कृष्ण-कवियों ने प्रायः मुक्तक-रूप में। यद्यपि कृष्ण-कवियों ने अपनी मुक्तक रचनाएँ दोहा, कवित्त, सवैया आदि छन्दों में भी लिखी हैं, तथापि प्राधान्य पदों का है जो विभिन्न राग-रागिनियों में गेय हैं। इसका कारण यह है कि कृष्ण कवि-प्रायः अपने पदों की रचना मन्दिरों में आराध्य की मूर्ति के सम्मुख गाने के लिए किया करते थे। राम-काव्यों में सभी रसों और भावों की व्यञ्जना हुई है परन्तु कृष्ण-काव्य में शान्त, शृंगार और वात्सल्य ही मुख्य हैं। रसों की विविधता की दृष्टि से तो राम-काव्य ही उत्कृष्ट माना जाएगा परन्तु शृंगार और वात्सल्य की जो सुमधुर धारा कृष्ण-काव्य में प्रवाहित हुई है उसकी राम-काव्य में

कमी है। दोनों ही काव्य विविध अलंकारों से सुभूषित और प्रसाद गुण से युक्त हैं परन्तु यह भी स्पष्ट है कि न राम-काव्य में कृष्ण-काव्य का-सा माधुर्य है और न कृष्ण-काव्य में राम काव्य का-सा श्रोज।

अन्त में सार रूप से कह सकते हैं कि प्रेम-विषयक नीति और सरसता में तो राम-काव्य, कृष्ण-काव्य के समकक्ष नहीं कहा जा सकता, परन्तु नीति की विविधता, व्यापकता और उपयोगिता की दृष्टि से जो महत्त्व राम-काव्य का है, उसकी समता कृष्ण-काव्य कदापि नहीं कर सकता।

कृष्ण-कवियों के नीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ

१. इस काव्य में प्रेम-सम्बन्धी तथा आत्मिक नीति की प्रचुरता है परन्तु अन्य नीति-विषय प्रायः उपेक्षित हैं।

२. श्रीकृष्ण और श्री राधा के नाम के ज़ेप पर बहुत बल दिया गया है।

३. कृष्ण-प्रेम की तुलना में वैदिक और लौकिक मर्यादाएँ त्याज्य मानी गई हैं।

४. वेदों और शास्त्रों की अपेक्षा भगवद्गीता और भागवत-पुराण को अधिक महत्त्व दिया गया है।

५. पारिवारिक कर्तव्यों के निर्देश तो प्रायः नहीं दिखाई देने, उल्टा कृष्ण-प्रेम की तुलना में उन्हें त्याज्य कहा गया है।

६. कृष्ण-प्रेम से ही महत्त्व-प्राप्ति होती है, वरुण, जाति, कुल आदि के गौरव मिथ्या हैं।

७. आचार्य और गुरु कृष्ण के अवतार हैं, और उनके नाम भी श्री कृष्ण के समान जपने योग्य हैं।

८. धन की, विशेष रूप से पापोपाजित धन की, विशेष निन्दा की गई है।

९. गरोराजा तथा अन्य सम्प्रदायों की अवहेलना की गई है।

१०. यमुना, ब्रज, वृन्दावनादि कृष्ण-सम्बन्धी स्थानों की महिमा का विशेष वर्णन किया गया है।

११. श्रीकृष्ण के सुखमय जीवन का वर्णन तो खूब किया गया है परन्तु लोगों के लिए सांसारिक सुखों को हेय कहा गया है।

१२. अधिकतर रचनाएँ सरस व भावपूर्ण हैं तथा ब्रजभाषा में की गई हैं।

१३. प्रबन्धात्मक-रचनाओं की अपेक्षा मुक्तकों का प्रयोग बहुत अधिक है। मुक्तकों में भी पदों की ही प्रचुरता है।

१४. सांसारिक जीवन को सफल बनाने वाली नीति की कमी के कारण, भक्तों के लिए मनोमोहक होता हुआ भी, कृष्ण-काव्य सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

पंचम अध्याय

रीतिकाल का नीति-काव्य (सं० १७००-१९०० वि०)

हमारे आलोच्य काल (सं० १०५०-१९००) में नीतिकाव्य की दृष्टि से जो महत्त्व रीतिकाल का है, वह न आदिकाल का है, न भक्तिकाल का। जैसा कि हम देख चुके हैं, आदिकाल में हिन्दी की एक भी काव्य-कृति ऐसी उपलब्ध नहीं होती जिसका एकमात्र या प्रधान विषय नीति हो। भक्तिकाल, निस्सन्देह आदिकाल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें तुलसीदास, देवीदास, बनारसीदास, रहीम, गंग आदि सुकवियों ने नीति-विषयक तथा नीति-बहुल मौलिक और अनुवादात्मक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। परन्तु रीतिकाल, अवधि को दृष्टि से भक्तिकाल की अपेक्षा दो-तिहाई से कम होता हुआ भी, नीतिकाव्य की दृष्टि से उसकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि—

१. इस काल की कृतियों में ऐहिकता अधिक है और यह बात नीतिकाव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

२. रीतिकालीन प्रमुख कवियों की संख्या भक्तिकालीन की अपेक्षा बहुत अधिक है।

३. रीतिकालीन कवियों की रचनाएँ संख्या में अधिक हैं और आकार में बड़ी।

४. इन रचनाओं के विषय अधिक व्यापक तथा विविधतापूर्ण हैं।

५. कवित्व की दृष्टि से भी ये रचनाएँ अधिक उत्कृष्ट हैं।

६. अनूदित कृतियों की संख्या भी अधिक है।

७. नीतिपद्यों के संग्रह भी प्रस्तुत किये गये जिनका भक्तिकाल में अभाव था।

८. नीति के फुटकर कवि भी भक्तिकाल की अपेक्षा अधिक हुए।

रीतिकालीन नीतिकाव्यकार पाँच वर्गों में विभाज्य हैं। प्रथम वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने विभिन्न नीति विषयों पर स्वतन्त्र मौलिक काव्यों की रचना की। द्वितीय वर्ग में वे गणनीय हैं, जिन्होंने प्राचीन नीतिकाव्यों के अनुवाद-मात्र किये। तृतीय वर्ग शृङ्गारी कवियों का है, जिनकी रचनाओं में नीति का उल्लेख प्रसंगवश ही हुआ है। चतुर्थ वर्ग के अंतर्गत उन कवियों या काव्य-रसिकों को रखा जा सकता है, जिन्होंने अपने संग्रहों में विभिन्न कवियों की नीति-विषयक सूक्तियों को भी स्थान दिया। पंचम वर्ग उन फुटकर नीतिकवियों का है, जिन्होंने सामान्य नीतिकाव्य या स्फुट नीतिपद्यों का प्रणयन किया। इस प्रकार रीतिकालीन नीतिकवियों तथा उनकी रचनाओं का

अध्ययन निम्नांकित वर्गों में सुगमता पूर्वक किया जा सकता है—

(१) प्रमुख नीतिकवि, (२) अनुवादक कवि, (३) शृङ्गारिक कवियों के काव्य में नीतितत्त्व, (४) संग्रह-ग्रन्थों में नीतिकाव्य, (५) परिशिष्ट—फुटकर नीतिकवि ।

१. प्रमुख नीतिकवि

रीतिकालीन प्रमुख नीतिकवियों की संख्या तीन दर्जन के लगभग है । उनमें से एक-तिहाई के लगभग कवि जैन मुनि और गृहस्थ हैं जिन्होंने अपने प्रख्यात विद्या-प्रेम के कारण अनेक प्रकार की नीति-रचनाएँ प्रस्तुत कीं । भगवतीदास, जसराज, लक्ष्मी-वल्लभ, धर्मसिंह आदि ने दोहा, सर्वैया, कवित्त, छप्पय, कुण्डलिया आदि छन्दों में सुन्दर पच्चीसी, बत्तीसी, बावनी आदि की रचना की । जिनरंग सूरि ने 'बहत्तरी' का प्रणयन किया तो भूधरदास ने 'शतक' का, ज्ञानसार जी ने अष्टोत्तरियों (१०८ पद्यों की रचनाओं) का निर्माण किया तो बुधजन ने सतसई का । इनकी कृतियाँ मुक्तक पद्यों, कथाओं, संवादों और अन्योक्तियों के रूप में दिखाई देती हैं । इन कृतियों में मद्य, मांस, सुरा, लूत, व्यभिचार, वेश्यादि व्यसनों का खण्डन तो है ही, स्वास्थ्य के साधन, विद्या-प्राप्ति के उपाय, पाँच माताएँ, पाँच पिता, आत्म-हित के लिए 'धन, दारा, परिवार' का त्याग, धन का महत्त्व आदि व्यावहारिक विषयों का भी उल्लेख पाया जाता है । अन्य कवियों में से वृन्द अपनी सतसई, गिरिधर अपनी कुण्डलियों, दीनदयाल अपनी अन्यनोक्तियों तथा घाघ और भड्डरी अपनी कृषि तथा ज्योतिष-सम्बन्धी कहावतों के कारण प्रख्यात ही हैं । परन्तु रीतिकालीन नीतिकाव्य इन्हीं तक सीमित नहीं है । इसी काल में सुखदेव ने अपने दीर्घकालीन वारिण्य-विषयक अनुभवों को 'वारिण्य-नीति' में उपनिबद्ध किया । देवीदास ने प्रेम के स्वरूप तथा प्रकारों पर 'प्रेम रत्नाकर' का प्रणयन किया । रघुराज ने 'सभासार नाटक' में शिष्य-गुरु के संवाद-रूप में तत्कालीन समाज के अंगभूत विविध व्यक्तियों धूर्त, गुण्डा, चिकनिया, गुप्तदुष्ट, महादुष्ट, प्रगट दुष्ट आदि का रोचक वर्णन किया है । इसी प्रकार की, परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण रचना गुपालकृत 'दंपति-वाक्य-विलास' है जिसमें विविध व्यवसायों के गुण-दोषों का सविस्तार उल्लेख है । तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिए ये दोनों ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं । चाचा हित वृन्दावनदास ने अपनी 'कलिचरित्र वेली' में संयुक्त-परिवार-प्रथा के गुणों तथा उद्बुद्ध बहू का अच्छा चित्र खींचा है । इसी प्रकार मूर्खभेद, स्त्री-चांचल्य, दाता और शूर, दुष्ट-गंजन आदि विषयों पर भी अच्छी रचनाएँ की गईं । परन्तु सबसे उच्च स्थान राजस्थान के महाकवि बांकीदास का है, जिन्होंने वचन-विवेक, पिशुनता, वीरता, कायरता, वैश्य, वैश्यावृत्ति, कुकवि, दाता, कृपण, सन्तोष, मोह आदि विषयों पर उन्नीस सरस नीति कृतियों की रचना की । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू और जैन दोनों ने ही नीतिकाव्य के निर्माण में जो योग दिया, वह वस्तुतः स्तुत्य है । इनके नीतिकाव्य की समीक्षा

करने के पूर्व इनकी जीवनियों तथा कृतियों का कुछ विस्तृत अध्ययन आवश्यक है।

१. जसराज (जिन हर्ष)

जसराज खरतरगच्छ के शान्ति हर्ष के शिष्य थे। इनका प्रारम्भिक जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ और बाद का पाटण (गुजरात) में। इन्होंने सं० १७०४ से १७६३ वि० तक राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं में लगभग एक सौ पुस्तकों की रचना की। इनकी कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) चन्दन मलयागिरि चौपाई (२) विद्याविलास रास; (३) मंगल कलस चौपाई; (४) मत्स्योदर राज; (५) खापरा चोर चौपाई; (६) मातृका बावनी या जसराज बावनी; (७) कवित्त बावनी; (८) उपदेश बत्तीसी।

१. उपदेश बत्तीसी—इस कृति का रचना-काल सं० १७१३ है और लिपिकाल सं० १८१०।३६ इकतीसा सवैयाँ अर्थात् कवित्तों में रचित इस काव्य की हस्तलिखित प्रति हमने बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में देखी। मुनि जी ने इस बत्तीसी में काया-स्वरूप, माया-त्याग, श्रोध-दूषण, मान-दूषण, हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, तपमहत्त्व, दान, शील आदि विषयों पर भावपूर्ण रचना की है। बत्तीसी के पद्यों में छाप 'जसराज' की नहीं, 'जिनहर्ष' की दृष्टिगत होती है। मानदूषण-विषयक कवित्त इस प्रकार है—

अधम न करि मान मान किय होहि हानि,
मानि मेरी सोष मानि सुखप्राही मानि रे।
मान तें रावण राजि लंका सौ गयो बंकाज
कियो है अक्काज लाज गई सब आनि रे।
दुर्योधन मान करि हारी सब धर अरि
मान तें गयो है भुंज चातुरी री धानि रे।
कहै जिन हर्ष मान, मन में न आणि मान
आणितो दशानभद्र जैसे मान आणि रे ॥^१

२. मातृका बावनी^२—इस बावनी की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर में देखने को मिली। प्रति का द्वितीय पत्र लुप्त है, शेष १, ३, ४ पत्र विद्यमान हैं। ५७ पद्यों की यह बानी सवैया छन्द में है जिसे लिपिकार मु० गुलाल विजय ने 'कवित' लिखा है। बावनी के अन्तिम पद्य से विदित होता है कि इसकी रचना सं० १७३८ में की गई थी। भाग्य, उद्यम, दान, भूख, पर-दुःख का अज्ञान आदि विषयों पर कवि ने राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में इस बावनी का वर्णमाला क्रम से प्रणयन किया है। रचना के कई पद्य भाव और भाषा की दृष्टि से सुन्दर हैं। जैसे—

१. उपदेश बत्तीसी, पत्र १।८

२. अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, प्रति सं० ८००३

ऋद्धि लही अरु दान दीज नहीं तो कहा ऋद्धि लही न लही हैं ।

गाली सहों अरु काल सह्यो नहीं तो कहा गाल सहों न लही हैं ॥

देह दहों अरु नेह दह्यो नहीं तो कहा देह दहों न दहों हैं ।

प्रीति रहों अस प्रेम रह्यो नहीं तो कहा प्रीति रही न रही हैं ॥^१

इस बावनी पर पूर्ववर्ती जैन तथा जैनेतर नीतिकाव्यों का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है । कहीं-कहीं तो मुनि जी ने सोमप्रभाचार्य के अनेक पद्यों से भाव ग्रहण कर अपने पद्यों की रचना की है जैसे—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते,

पीयूषेण प्रदरकरिणं वाहयत्येषभारम् ।

चिन्तारत्नं विकिरति कराः वायसोड्डायनार्थं

यो दुष्प्रापं गमयति मुधा मर्त्य जन्म प्रसक्तः ॥

ते धत्तूरतं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं,

चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्त्रीकुर्वते ते जडाः ।

विक्रीय द्विरवं गिरीन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते राक्षसं,

ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया ॥^२ (सोमप्रभाचार्य)

इंधन चंदन काठ करे मुर दृक्ष उपारि धत्तूरन बोले ।

सोदन याल भरे रज ते मुधा रस सुकर पाज ही धोये ॥

हस्ती महामद मस्त मनोहर भार चहाइ के ताइ जिनोये ।

मूढ प्रमाद गयो जसरराज न धर्म करे नर सोभत पोये ॥^३

उपर्युक्त संस्कृत-पद्यों में मनुष्य-जन्म को व्यर्थ खोने तथा धर्म को त्याग कर विषयासक्त होने वाले मनुष्यों की सूक्ष्मता व्यक्त करने के लिए सात दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें से 'इंधन चंदन काठ करे' के बिना चारों दृष्टान्त संस्कृत-पद्यों से ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं । फिर भी मुनि जी की इस रचना के विषय में यह निस्संकोच कहा जा सकता है यह सामान्य वाक्यों की अपेक्षा अधिक ऐहिक तथा सुन्दर है ।

१. मातृका बावनी, पद्य १२

२. बनारसी विलास, पृष्ठ १८, १९ पर, सूक्ति मुक्तावली, पद्य ५, ६,

अर्थ—'जो प्रमादी मानव दुष्प्राप्य मनुष्य जन्म को व्यर्थ गँवाता है वह मानो सुवर्ण के थाल में धूल डालता है, अमृत से पाँव पखारता है, श्रेष्ठ हाथी पर इंधन ढोता है और कव्वे उड़ाने के लिए चिन्तामणियों को फेंकता है । जो नीच लोग भोगों की आशा से धर्म का परित्याग करते हैं वे कल्पद्रुम का उन्मूलन कर धत्तूरे का पौधा लगाते हैं, चिन्तामणि को फेंककर काच-खण्ड ग्रहण करते हैं तथा हाथी बेचकर गधा खरीदते हैं ॥

३. मातृका बावनी : पुरातत्त्व मंदिर जयपुर, क्रमांक २०१८, पत्र ११८

३. कवित्त बावनी — इस बावनी की प्रति जयपुर के पुगतत्व मंदिर में देखने का अवसर मिला ।^१ काव्य का रचना-काल सं० १७४८ है और प्रति का लिपिकाल सं० १८५७ । प्रति पूर्ण है और दस पत्रों पर लेखबद्ध है । गुजराती-मिश्रित राजस्थानी-भाषा में रचित यह कवित्त बावनी छप्प छन्द में ही है । काव्यत्व की दृष्टि से रचना सामान्य है । जैसे —

घणां करें हंकार, घणा मन गंधर राषे ।

घणा कपट कैं लचें, घणा अविचार्यो माषे ॥

घणा नीच संगती, घणा नर हट्ट हरांभी ।

घणा आप इदारथी, घणा ओधी तें कांभी ॥

निलज निपर नीगुण घणा कागत गियरें जिहां तिहां ।

जिन हर्ष हंस जीम घोडला सजन दितें कीहां कीहां ॥^२

अन्त में कह सकते हैं कि 'मातृका बावनी' के लिए हिन्दी-संसार मुनि जी का विशेष आभारी है ।

२. सुखदेव

सुखदेव व्यापारी भी थे और कवि भी । वाणिज्य-विषयक साठ वर्षों के सुदीर्घ अनुभव के आधार पर इन्होंने सं० १७१७ में 'वाणिज्य नीति' की रचना की—

सत्रह सौ सत्रह बरस, संवत्सर कौ नाम ।

कविता कहि सुख देव सुत लेखक मायाराम ॥^३

पुस्तक में कुल ३४८ पद्य हैं जो दोहा, सोरठा, चौपही (चौपई), कवित्त, सवैया, अरिल्ल, कुंडलिया आदि छन्दों में निबद्ध हैं । पुस्तक अनेक प्रकरणों में विभाजित है, जैसे—तिली लंबे को विचार, नौन लंबे को विचार, उधार देवे को विचार आदि । व्यापारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए तो पुस्तक की उपयोगिता निर्विवाद है, सामान्य जनों के काम की कई बातें भी रोचक रीति से कही गई हैं ।^४ उधार-विषयक निम्नवर्ती कवित्त से पुस्तक के कवित्व का अनुमान किया जा सकता है—

कौ न गयो लोभ लोभ लालच गमावें सब,

सब ही कहत हाथ हाथ कैं न पाइये ।

दरब जाइ बैर होइ कारज नसाइ सब,

बार-बार ताके गृह जेये आरु आइये ॥

सांकरै सहाय किय गुन थर मिट गयो,

तां को लाभ खोटी खरी कहिये कहाइये ।

१. प्रति का क्रमांक २०८५, आकार ८ $\frac{१}{२}$ " × ४ $\frac{१}{२}$ "

२. कवित्त बावनी, पत्र ४।२१

३. सुखदेव: वाणिज्य नीति (प्र० आधुनिक प्रेस, दतिया १९५२ ई०), पृ० ६३।३४८

बानियो सयानौ जात मानियो हमारी बात,
दोजं न उधार जलधार में बहाइये ॥^१

३. हेमराज

जैनों में हेमराज नाम के कई हिन्दी-कवि हो चुके हैं। प्रथम, मुनि हेमराज जिनकी, सं० १६६५ में प्रणीत, 'अक्षर वावनी' का संकेत भक्ति-काल के परिशिष्ट में किया गया है। द्वितीय, आगरा-निवासी पांडे हेमराज जिनका समय विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का चतुर्थ पाद तथा अठारहवीं का प्रथम पाद था। ये प्रवचन-सार टीका आदि टीकाओं के कारण प्रसिद्ध हैं। तृतीय, प्रस्तुत हेमराज जो सांगानेर के निवासी थे और जिन्होंने कांमागढ़ में सं० १७२५ में 'उपदेश शतक' की रचना की थी—

उतनी सांगानेरि कौ, अब कांमागढ़ वास ।

तहां हेम दोहा रचै, स्व-पर-बुद्धि-परकास ॥

सतरह सै र पचीस कौ, बरतै संवत सार ।

कातिग सुदि तिथि पंचमी, पूरन भयो विचार ॥^२

'उपदेश शतक' की हस्तलिखित प्रति हमने जयपुर के बधीचन्द्र जैन के मंदिर में देखी थी।^३ १०१ पद्यों के इस शतक में अधिकतर तो दोहे ही हैं, कुछ एक सोःठे। मन-मरकट, इंद्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य महत्त्व, दान न देने का कटु परिणाम, जन्म, विवाह तथा मरण में समानता, दुर्जन, मूढ़ आदि विषयों पर इस शतक में नीति-रचना की गई है। अधिकतर दोहों में दृष्टान्त तो पुराने ही हैं परन्तु अनेक दोहे भाव-पूर्ण तथा साहित्यिक गुणों से युक्त हैं। जैसे—

फटे वसन तनहूं लट्यौ, धरि-धरि मांगत भीख ।

बिना दिये कौ फल यहै, देत फिरत यह सीख ॥

मिले लोग बाजा बजे, पान गुलाल फुलेल ।

जनम-मरण अह ब्याह सै, है समान सौ खेल ॥

करत प्रगट बुरजन सदा, दोष करत उपगार ।

मधुर सचिक्कण पोष तै, करत मार ज्यों मार ॥

मोह बधक भव बनि बसै, बाम वागुरा जानि ।

रहै अटक छूटै नहीं, मृग नर मूढ बखानि ॥^४

१. सुखदेव : वाणिज्य नीति (प्र० आधुनिक प्रेस, दतिया १९५२ ई०), पृष्ठ ३६।२१५

२. उपदेश शतक, पद्य ६८, १००

३. उक्त प्रति गुटका सं० ६३६ में संकलित है और पत्रों का आकार ६"×६" है

४. उपदेश शतक, दोहा सं० ३१, ३६, ४३, ६०

४. भैया भगवती दास

लाल जी के पुत्र भगवती दास आगरा के निवासी थे और औरंगजेब के सम-कालीन । ये एक अध्यात्मी कुशल कवि थे जिनकी ६७ रचनाएँ 'ब्रह्म विलास' में संगृहीत हैं । यद्यपि इनकी अधिकतर रचनाओं में भी कुछ-न-कुछ नीति है तथापि पंचेन्द्रिय-संवाद, दृष्टान्त-पच्चीसी, मन-बत्तीसी, बाईस परीक्षा और फुटकल पद्यों में नीतिकाव्य की प्रचुरता लक्षित होती है ।

१. पंचेन्द्रिय-संवाद—संवत् १७५१ में रचित १५२ पद्यों के इस संवादात्मक काव्य में प्रत्येक इन्द्रिय अपने को दूसरों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का यत्न करती है; परन्तु अंत में मन को राजा तथा सब इन्द्रियों को उसका सेवक निर्णीत किया गया है । इसमें दोहा, सोरठा, ढाल तथा रागों का प्रयोग हुआ है । विशेष कवित्वगुण के अभाव में भी रचना, संवाद की रोचकता के कारण, अच्छी है । जैसे—

नाक— नाक रहे तें सब रह्यौ, नाक गये सब जाय ।

नाक बराबर जगत में, और न बड़ौ कहाय ॥

नाक राखण सीता सती, अगनी कुण्ड में पंठी रे ।

सिंहासन देवन रच्यो, तिहि ऊपर जा बंठी रे ॥^२

कान— तेरी छोक सुनें जिते, करं न उत्तम काज ।

मूँवे तुह दुगन्ध में, तऊ न आवे लाज ॥

सातों सुर को गायबो, अद्भुत सुखमय स्वाद ।

इन कानन कर परखिये, मोठे-मोठे नाद ॥^३

२. दृष्टान्त-पच्चीसी—२६ दोहों की इस कृति का रचना-काल संवत् १७५२ है । दोहों में अहिंसा, दान, शील, अपरिग्रह आदि के महत्त्व को सुन्दर दृष्टान्तों द्वारा हृदयंगम कराया गया है । पंचेन्द्रिय-संवाद की अपेक्षा यह रचना अधिक साहित्यिक है । कुछ दोहे लीजिए—

जिय हिंसा जग में बुरी, हिंसा फल बुल देत ।

मकरी मौखी भक्ष्यती, ताहि चिरी भल लेत ॥

दक्षन के हित दक्ष सों, शठ के शठ सों प्रीत ।

अलि अम्बुज पे देखिये, दर्दुर कदम-भीत ॥^४

३. मन-बत्तीसी—कृति का विषय नामानुसार है । ३४ पद्यों की इस पुस्तिका में क्रमशः २७ दोहे, २ अरिल्ल, ४ चौपाइयाँ और एक चौपई छंद है । इसमें मन की

१. प्रकाशक, जैन बुक डिपो, मंगलवार पेठ, शोलापुर, सन् १९२६ ई०

२. ब्रह्मविलास, पंचेन्द्रिय संवाद, पृष्ठ २४०

३. ब्रह्मविलास, पंचेन्द्रिय संवाद, पृष्ठ २४१

४. " , दृष्टान्त पच्चीसी, पृष्ठ २५६।४, २६१।२२

बलवत्ता, वेगवत्ता आदि का वर्णन करने के अनन्तर आठ पंसेरी वाले (मन) को वश में करने की प्रेरणा की गई है। अधिकतर पद्य तो इतिवृत्तात्मक ही हैं, कुछ एक का शब्द-चमत्कार अवश्य आकर्षक है। जैसे—

दोहा—विष भक्षण तैं दुख बढ़ै, जानै सब संसार ।

तबहू मन समझै नहीं, विषयन सेती प्यार ॥^१

अरिल्ल—कहा मुँडायें मूँड़ बसे कहा मट्ट का ।

कहा नहाये गंग नदी के लट्ठ का ॥

कहा कथा के सुने वचन के पट्ठ का ।

जो बस नाही तोहि पसेरी अट्ठ का ॥^२

४. बाईस परीक्षा—कबीर आदि सन्तों ने सच्चे साधुओं की स्तुति तथा पाखंडी साधुओं की निन्दा में अनेक पद्य रचे हैं। प्रस्तुत रचना भी कुछ उसी कोटि की है और दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इसमें उन्हीं साधुओं को सच्चा कहा गया है जो धूप, शीत, तृषा, क्षुधा आदि सहने में समर्थ होते हैं तथा स्त्री के आकर्षण, मानापमान आदि से दूर रहते हैं। द्वितीय, जहाँ गृहस्थों को तपोमय, संयम-पूर्ण जीवन की शिक्षा स्वभावतः प्राप्त हो जाती है, वहाँ सच्चे साधुओं की सेवा व संगति की भी प्रेरणा मिलती है। उदाहरण के लिए एक कवित्त दिया जाता है—

स्त्री-परीषह—नारी के निहारत विचार सब भूल जायें,

नारी के निहारे परिणाम फिरे जात हैं ।

नारी के निहारत अज्ञान भाव आय भ्रम,

नारी के निहारत ही शील गुण धात हैं ॥

नारी के निहारत न शूर वीर धीर धरं,

लोहन के भारे जे अडिग ठहरात हैं ।

ऐसी नारी नागिन के नैन को निमेष जीत,

भये हैं अजीत मुनि जगत् बिल्यात हैं ॥^३

५. फुटकल पद्य—भगवती दास के स्फुट पद्यों में भी पर्याप्त नीति-वर्णन है। निदर्शन के रूप में निम्नलिखित पद्य देखिए जिसमें एक गीदड़, कुत्ते को उस मनुष्य के शव का मांस खाने से वजित करता है जिसने जीवन में सत्कर्म नहीं किये।

छप्पय—शीश गर्व नहिं नम्यो, कान नहिं सुनै बंन सत ।

नैन न निरखै साधु, बंन तैं कहै न शिवपति ।

कर तैं दान न दीन, हृदय कछु दया न कीनी ।

पेट भयो करि पाप, पीठ परतिय नहिं दीनी ॥

१-२. " , मन बत्तीसी, पृष्ठ २६३।१७, २६४।२६

३. जनार्णवः प्र० चन्द्राबन, इटावा, सन् १९१२ ई०, बाईस परीक्षा, पद्य १६

चरन चले नाहि तीर्थ कहूँ, तिहि शरीर कहा कीजिये ।

इमि कहै श्याल रे श्यान यह निद, निद्रुष्ट न लीजिये ॥^१

अन्त में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि भैया भगवती दास जी की रचनाएँ, व्यावहारिक नीति की कुछ कमी के रहते हुए भी, आदर्शात्मक नीति के सुन्दर प्रतिपादन के कारण ग्राह्य हैं ।

५. लक्ष्मीवल्लभ

कवि परिचय : लक्ष्मीवल्लभ जी का विशेष वृत्त उपलब्ध नहीं हुआ । इनकी सर्वप्रथम कृति 'कुमार सम्भव वृत्ति' का रचना-काल सं० १७२१ है । इनके जन्म-नाम (हेमराज) से अनुमान किया जाता है कि ये किसी उच्च वंश में उत्पन्न हुए होंगे । इनके गुरु लक्ष्मीकीर्ति ने दीक्षा के समय इनका नाम लक्ष्मीवल्लभ रखा । विक्रम की अठारहवीं शती के खरतरगच्छीम जैन विद्वानों में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है । सैद्धांतिक विषयों के अतिरिक्त ये काव्य, व्याकरण, छन्द, वैद्यक आदि विषयों के भी अच्छे विद्वान् थे । संस्कृत, हिन्दी तथा राजस्थानी भाषाओं पर तो इनका अच्छा अधिकार था ही, सिन्धी में भी इनके तीन स्तोत्र प्राप्त होते हैं । इन्होंने अ ना अन्तिम ग्रंथ सं० १७४७ में हिसार में रचा । अतः इनका परनोरवास सं० १७४७ वा उसके पश्चात् हुआ होगा । कविता में यह अपनी छाप राज, कविराज, राजकवि और वल्लभ रखते थे ।

साहित्यिक परिचय—इनकी समग्र रचनाएँ ७८ हैं जो संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी तथा सिन्धी भाषाओं में लिखित हैं । इनके हिन्दी-ग्रंथ निम्नांकित हैं—

- | | |
|-----------------------------|----------------------|
| १. कालज्ञान वैद्यक भाषा बंध | २. नवतत्त्व भाषा बंध |
| ३. भावना विलास | ४. चौबीस जिन सवैया |
| ५. चौबीसी | ६. दूहा बावनी |
| ७. सवैया | ८. उपदेश बावनी |

उक्त आठ हिन्दी-ग्रंथों में से हमारे प्रतिपाद्य विषय से दो ही ग्रंथ सम्बन्ध रखते हैं—(१) दूहा बावनी (२) सवैया बावनी । यद्यपि उपर्युक्त दोनों कृतियों के रचना-संवत् ज्ञात नहीं तथापि दोनों काव्यों की तुलना पर दूहा बावनी, सवैया बावनी से पहले की रचना प्रतीत होती है । सवैया बावनी का प्रणयन सं० १७३८ के पूर्व हो चुका था, इसलिए इन दोनों काव्यों को सं० १७२१-३८ के बीच की रचनाएँ मानना होगा ।^२

१. ब्रह्मविलास, फुटकल पद्य, पृष्ठ २७५।१०

२. लक्ष्मीवल्लभ के सविस्तर परिचय के लिए देखिए—'राजस्थानी', भाग २ (प्र० राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता) में अगरचंद नाहट का 'राजस्थानी भाषा के दो महाकवि' शीर्षक निबंध ।

दूहा बावनी^१—इस काव्य की जो प्रतिलिपि श्री अग्रचंद नाहटा के यहाँ है, उसे मुनि हीरानंद ने सं० १७४१ में लिपिबद्ध किया था ।^२ कवि ने इस काव्य की रचना अपनी तथा दूसरों की शिक्षा के लिए की थी—

दूहा बावनी करी, आत्म परहित काज ।

पढ़त गुणत वाचत लिखत, नर होवत कविराज ॥^३

चूँकि यह कोई साहित्य-शास्त्र नहीं, इसलिए उपर्युक्त दोहे, में 'कविराज' शब्द का अर्थ अत्यन्त चतुर या बुद्धिमान् ही उपादेय है, 'कविश्रेष्ठ' नहीं । इस रचना में कुल ५८ दोहे हैं जिनमें नीति अधिक है, अध्यात्म कम । कुछ दोहे तो किसी भी प्रकार के चमत्कार से सम्बन्धित न होने के कारण पद्यमात्र ही कहे जाएंगे परन्तु अनेक दोहे साहित्यिक छटा से युक्त होने के कारण सूक्ति या काव्य के क्षेत्र में गणनीय हैं । जैसे—

गरजत तउ लुं गज घटा, करि करि अधिकउ गाज ।

जउ लुं आरस मोरिकं, ऊठत न मृगराज ॥^४

तउ लुं 'राज' न होइ है, गुण-माणिक की ओप ।

खल जीहा खरसाण परि, चढ़ै न जउ लुं चोप ॥^५

सवैया बावनी—इस काव्य की एक प्रति तो बीकानेर के अभय जैन ग्रंथागार में विद्यमान है और एक जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में । सामग्री की दृष्टि से दोनों प्रतियाँ समान हैं परन्तु पुरातत्त्व मंदिर के कार्यालय के रजिस्टर में इस बावनी के कर्ता का नाम 'राजसी' (राजसिंह) लिखा हुआ है जो सम्भवतः सवैया में 'राज' या 'कवि-राज' को देखकर लिख डाला गया है । वस्तुतः यह बावनी राजसिंह की नहीं लक्ष्मी-वल्लभ-रचित ही है । इस बावनी की पद्य संख्या भी 'दूहा बावनी' के समान ५८ ही है जिनमें प्रथम पाँच पद्य मंगलाचरणात्मक हैं । शेष में अध्यात्म की अपेक्षा नीति का बाहुल्य है । कई पद्यों के अंतिम चरण की शब्दावली ('सोई बड़ो जा की गांठ रुपैया', 'आसा मार्या पै आस न मारी,' आदि) से ऐसा अनुमान होता है जैसे कि वे समस्या-पूर्ति के लिए रचे गये हों । नीति के विषयों में तो विशेष नवीनता नहीं परन्तु भाव और भाषा की रचना की दृष्टि से सुन्दरता में सन्देह नहीं । निम्नोद्धृत पद्यों में हास्य और ओज दर्शनीय हैं—

१. 'दूहा बावनी' की हस्तलिखित प्रति बीकानेर में अभय जैन ग्रंथालयों में सुरक्षित है ।

२. इति श्री उपाध्याय श्री लक्ष्मीवल्लभ गरिण कृत दूहा बावनी संपूर्णम् । संवत् १७४१ वर्ष पोष सुदी १, लिखित हीरानंद मुनि ॥ (वही, पुष्पिका)

३-५. दूहा बावनी, दोहा ५८, २४, ३८

गृह कलह—कहा भोजन आज तो खारो भयो, अघिको तुम लौन धुं काहे कु डारो ।
 बात सुनै तैं सुनि ह्वै लगी, हम नाहिं करै तुम्हहीं जस बारो ॥
 धिग् पापन तूं हम सुं ज कहै, धिग पापी है तूं तेरो बाप हत्यारो ।
 राज कहै कलहो दिन को तिन तो गृह को मुह कीजयं कारो ॥^१

प्राचीन कवियों का प्रभाव—यों तो लक्ष्मीवल्लभ जी की दोनों ही बावनियों पर संस्कृत के नीति-काव्य का प्रभाव लक्षित होता है परन्तु “दूहा बावनी” तो भाव और भाषा की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य की अत्यधिक श्रेणी है। जैसे—

अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
 वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥^२ (शंकराचार्य)
 अंगं गलितं सिरं सबं पलितं, भयं दंतं को अंतं ।
 तोड वृद्धं करि दंडं गहि, आसाधरत अन्तं ॥^३ (लक्ष्मीवल्लभ)

अन्त में दोनों बावनियों की तुलना से यह निस्संकोच कह सकते हैं कि “दूहा बावनी” की सामान्यता को “सवैया बावनी” की सरसता ने आच्छादित कर लिया है। कुल मिलाकर, हिन्दी-प्रेमी चिरकाल तक मुनिजी के आभारी रहेंगे।

६. वृन्द

वृन्द का जन्म शाकद्वीपीय ब्राह्मण-कवि रूप जी और कौशल्या के घर में मेड़ता (राजस्थान) में सं० १७०० वि० में हुआ। काशी में तारा जी नामक विद्वान् से विद्याध्ययन करने के बाद जब ये मेड़ते लौटे तब जोधपुर-नरेश महाराजा जसवन्त-सिंह ने इन्हें कुछ भूमि समर्पित कर सम्मानित किया। महाराज के मित्र नवाब मुहम्मद खान के द्वारा ये श्रीरंगजेब की सभा में जा पहुँचे और अपनी योग्यता के बल पर दर-बारी कवि तथा सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम (बहादुरशाह) और पौत्र अलीमुद्दौल्लाह के शिक्षक नियुक्त हुए। किशनगढ़-नरेश महाराजा राजसिंह ने सं० १७६४ में इन्हें बहादुरशाह से माँग लिया और जागीर प्रदान की। सं० १७५० में वहीं वृन्द का स्वर्ण-वास हुआ और वहीं इन के वंशज आज भी विद्यमान हैं। वृन्द ने छोटे-बड़े ग्यारह ग्रंथों का प्रणयन किया। वृन्द विनोद सतसई (दृष्टान्त सतसई), यमक सतसई, भाव पंचाशिका, शृंगार शिक्षा, वचनिका और सत्य-स्वरूप इनके बड़े ग्रंथ हैं तथा पवन-पचीसी, समेत सिलर छंद, हितोपदेशाष्टक, भारत कथा और हितोपदेश संधि छोटे।

वृन्द विनोद सतसई—वृन्द की कीर्ति मुख्यतः इसी ग्रंथ पर अवलम्बित है। इस

१. वही, दूहा २३

२. शंकराचार्य : चरपटपंजरिका स्तोत्रम्, पद्य ६॥

३. दूहा बावनी, दूहा २०॥

सतसई का प्रारम्भ वृन्द ने ढाका नगर में सं० १७६१ में^१ अजीमुद्दौल्लाह के मनोविनोद तथा शिक्षा के लिए किया था।^२ दोहों की संख्या ७०५ से ७१३ तक प्राप्त होती है। सतसई के अध्ययन से वृन्द की व्यापक पैनी दृष्टि का सम्यक् परिचय मिल जाता है। इतर-प्राणि-विषयक नीति के सिवा शेष सभी नीतियों पर वृन्द ने प्रचुर और सुन्दर लिखा है। चूंकि इनके जीवन का अधिकांश समय राज दरबारों में व्यतीत हुआ, इसलिए पशु-पक्षियों के प्रति-व्यवहार के वर्णन की उपेक्षा अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। सतसई की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें प्रायः उन्हीं विषयों का उल्लेख नहीं है जिन पर प्रायः नीतिकार लिखा करते हैं, ऐसी अनेक बातों की भी चर्चा है जिनका वर्णन प्रायः उपेक्षित रहता है। नीचे हम प्रायः ऐसी ही असामान्य बातों का दिग्दर्शन कराते हैं।

वैयक्तिक नीति—शारीरिक नीति के क्षेत्र में वृन्द ने दो बातों पर विशेष बल दिया है—बल और वाणी। कारण भी दुरुह नहीं है। वृन्द ने अनुभव किया कि बलवान् व्यक्ति जंसे-तंसे अपना कार्य सिद्ध कर ही लेता है, निर्बल का गुण भी उसके लिए दुःख-प्रद सिद्ध होता है, और, मनुष्य ही नहीं विधाता भी दुर्बल-घातक दिखाई देता है। इसलिए मनुष्य को सबल बनना चाहिए—

जोरावर कौं होति है सब के सिर पर राह।

हरि रुक्मनि हरि तैं गयौ, देखत रहे सिपाह ॥^३

होत अधिक गुन निबल पे उपजत बर निदान।

मृग मृगमद चमरी चमर लेत बुष्ट हत प्रान ॥^४

हरत बंबहु निबल अरु दुरबल ही के प्रान।

बाघ सिंह को छांड़ि कं, देत छाग बलिदान ॥^५ (वृन्द)

परन्तु बल के दुरुपयोग से होने वाली हानियों से भी वृन्द अपरिचित न थे। उन्होंने शक्ति से बढ़कर कार्य करने का भी निषेध^६ और उसके दुरुपयोग से सम्भाव्य विनाश^७ के प्रति भी सचेत किया है।

सत्यवचन, मधुर भाषण, प्रतिज्ञा-पालन, अवसरोचित कथन आदि के अतिरिक्त वृन्द ने थोड़ा झूठ भी बोलने की, झूठ को सत्यवत् कहने की, कभी-कभी यथार्थ को भी न कहने की, हाथ से बिगड़ी को वाणी-द्वारा सँवारने की, ज्ञात विषय पर ही मुख खोलने की तथा खत से गुप्त बात न कहने की भी प्रेरणा की है। इनमें से कई विषयों

१. संवत ससि रस बार ससि कातिक सुदि ससि बार।

सततं ढाका सहर में उपज्यौ इहै विचार ॥

सं० श्यामसुन्दर दास : सतसई सप्तक, वृन्द सतसई पृ० ३४१।७०६

२. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २२१

३-७. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ५६८, ५६८, १७८, २५१, १३३

का धर्मशास्त्र से विरोध स्पष्ट ही है और इनकी प्रेरणा करने वाले कवियों पर सदा-चारी और धार्मिक जन उँगली उठा सकते हैं। परन्तु वृन्द न धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे न सदाचार का। उन्हें तो लोक-व्यवहार की चर्चा करनी थी और वह उन्होंने निर्भीकता पूर्वक कर दी—

भूठ बिना फीकी लगै, अधिक भूठ दुख भौन।

भूठ तितौ ही बोलिये, ज्यों आटे में लौन ॥^१

बार बिगरी सुघरं वचहि जसैं बनिक बिसेख।

होंग मिरच जीरो कहै, हग मर जर लिख लेख ॥^२

विद्या और बुद्धि के विषय में वृन्द का दृष्टिकोण सन्तों तथा सूफी स्फुट-काव्यों के रचयिताओं से सर्वथा भिन्न था। जहाँ सन्त-साधु पोथी-पत्रे और पाण्डित्य के निन्दक थे वहाँ वृन्द सर्वथा प्रशंसक। वृन्द को विपुल धन-मान की प्राप्ति विद्या द्वारा ही हुई थी और लोक में भी विद्या की गौरव-प्रदता प्रकट थी। इसलिए अन्य कवियों के समान विद्या का गुणगान तो उन्होंने किया ही परन्तु इतने मात्र से ही वे संतुष्ट न हो गये। उन्होंने सतसई के अनेक दोहों में उद्यम और विद्या, गुरु-भक्ति और विद्या, अभ्यास और विद्या, बुद्धि-बल और उद्यम के योग से कार्य की सिद्धि, गुरुमुख से अधीत विषय का महत्त्व, बुद्धिबली की शत्रु से निर्भयता, पुराणाश्रवण-प्रशंसा आदि अनेक विषयों का उल्लेख किया है —

विद्या गुरु की भक्ति सों, कैं कोन्है अभ्यास।

सील द्रोण के बिन कहै, सीख्यो बानबिलास ॥^३

जाकों बुधिबल होत है, ताहि न रिपु कौ त्रास।

धन बूढ़ें कह करि सकैं, सिर पर छतना जासु ॥^४

संसार में प्रायः मूढ़ों के पास धन की प्रचुरता दिखाई देती है और विद्वानों के पास कमी। यह विषमता देखकर कई बार पण्डितों के मन भी विद्या-प्राप्ति के प्रति विद्रोही हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर वृन्द का यह दोहा उस अशान्ति को नष्ट करने के लिए रामबाण सिद्ध होता है—

जनि पण्डित विद्या तजहु धन मूरख अवरेख।

कुलजा सील न परिहरें कुलटा भूषित देख ॥^५

आत्मिक नीति के क्षेत्र में यद्यपि वृन्द ने नम्रता, दया, क्षमा आदि सात्त्विक गुणों का कहीं-कहीं उल्लेख किया है, तथापि राजकीय वातावरण के कारण, ये इनके प्रधान विषय नहीं हैं। इस क्षेत्र में इन्होंने धन से गुणों का महत्त्व, गुण से मान, गुण और वेश, एक ही गुण से यश की प्राप्ति, पिशुन और गुण, तेजस्विता, साहस, परा-

१-२. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ४०२, २०६

३-४. वही, दोहा २६३, ४३०

५. वही, दोहा ११६

क्रम आदि की प्रशंसा, निस्तेज की अवज्ञा, आत्मविश्वास, उद्यम, अनेक निकम्मों से एक कर्मठ की श्रेष्ठता आदि राजस विषयों का जगह-जगह उल्लेख किया है; जैसे—

होत बहुत धन होत तउ, गुन जुत भए उदोत ।

नेह भयों दोषक तऊ, गुन बिनु जोति न होत ॥^१

चलै जु पंथ पिपीलिका, समुद पार है जाय ।

जो न चलै तौ गरड़ हू, पेंड़हु चलै न पाय ॥^२

बिना तेज के पुरुष की, अवसि अवज्ञा होय ।

आगि बुझै ज्यों राखि कौं, आनि छुवै सब कोय ॥^३

पारिवारिक नीति—सुपुत्र, कुपुत्र, साध्वी, कुलटा, घर की फूट आदि सामान्य विषयों के अतिरिक्त वृन्द ने दुःखदायक अपना भी दुरा, सुखदायक बेगाना भी अच्छा^४, माता-पिता तथा वंश का संतति पर प्रभाव^५ आदि विषयों पर भी सूक्तिवाँ कहीं हैं—

को चाहे अपने तऊ जा संग लहिदै पीर ।

जैसे रोग सरीर तैं उपजत दहत सरीर ॥^६

सामाजिक नीति—इनकी सामाजिक नीति का विस्तार आश्चर्यजनक है । सज्जन-दुर्जन, ओछे-बड़े, सुसंग-कुसंग, मूढ़-विद्वान्, स्वामि-सेवक आदि प्रचलित विषयों के अतिरिक्त इन्होंने वंश से गुण की श्रेष्ठता, वीरों की प्रशंसा, स्वभावों की विभिन्नता, सरल-कुटिल में मेल नहीं, सब सयाने एक मत, शत्रु से छल-बल करने का औचित्य, सबल को मित्र बनाने में हित, अति परिचय से हानि, जगत की उलटी रीति, जगत की भेड़-चाल, बुरे से भी कभी भले की सम्भावना, बलवान् की निर्बल से सहज शत्रुता, स्त्री-बुद्धि की निन्दा, स्त्रियों का अयोग्य जनों से प्रेम, स्वामि-वृद्धि से सेवक-वृद्धि, सबकी सदोषता, सबल के बूते निर्बल का गर्व, चतुर्विध व्यक्तियों के लक्षण, पुरुष की चतुर्विध परीक्षा, लोक-संग्रह, ब्राह्मण और गुरुजनों से हार मानना ही अच्छा, तुल्य-बल वा अधिक-बल वाले से ही कलह की श्रेष्ठता, लोकापवाद का भय, छोटी से बड़ों की शोभा-वृद्धि आदि सैकड़ों सामाजिक नीतियों का बहुत सुन्दरता से प्रतिपादन किया है । जैसे—

छल बल समय विचारि कैं, अरि हनिए अनयास ।

कियो अकेले द्रोण-सुत निसि पांडव-कुल नात ॥^७

या जग की विपरीति गति समझी देखि सुभाव ।

कहैं जनार्दन कृष्ण कौं, हर को शंकर नांव ॥^८

ओछी मति युवतीन की, कहैं द्विवेक भुलाय ।

दशरथ रानी के बचन, बन पठए रघुराय ॥^९

होत बुरे हूं तैं भलो काहू सम प्रकास ।

अधिक मास तैं ज्यों मिट्यो पांडव फिर बनवास ॥^{१०}

तात्पर्य यह कि इन्होंने समाज का यथा-तथ्य चित्रण किया और ऐसा व्यवहार करने की प्रेरणा की जिससे अपने अभीष्ट की सिद्धि हो। समाज में बड़े और छोटे रहते ही हैं और प्रायः बड़े लोग धन, पद आदि के बल पर मनमानी कर देते हैं। छोटे लोग उनकी उच्छृङ्खलता देखकर भी चुप रहते हैं और उन पर उँगली उठाने का साहस नहीं करते। राजाश्रित रहने वाले वृन्द को इस विषय में इससे अधिक कहने का साहस न हो सका—

बड़े कहैं सो कीजिए, करें सो करिये नाहिं।

हर ज्यों पंचन में फिरें, और जो विकल कहाहिं ॥^१

आर्थिक नीति—वृन्द ने धन का महत्त्व, लक्ष्मी की चंचलता, दान, सन्तोष आदि सामान्य विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक उपयोगी बातों का भी उल्लेख किया है; जैसे धन का सदुपयोग,^२ आय के अनुसार व्यय,^३ जोड़ता और है और खाता और,^४ निर्धन का दान-विषयक असामर्थ्य तथा सधन के दान की सीमा,^५ कृपण का धन,^६ बड़ों की समृद्धि से आश्रितों को हर्ष,^७ धन से गुणों की श्रेष्ठता,^८ जूए से सुख-संपदा का नाश,^९ याचक का समाज में लाघव,^{१०} धन-मूलक भय^{११} आदि। उक्त शीर्षकों से सिद्ध होता है कि वृन्द का धन-विषयक दृष्टिकोण स्वस्थ था। उन्होंने धन के उचित सीमा में भोग की अनेक प्रशंसा की और कृपणवत् संग्रह की गयी। परन्तु इस विषय में खटकने वाली बात यह है कि वित्तोपार्जन में जो महत्त्व उद्यम को देना चाहिए था उसकी वृन्द में कमी दिखाई देती है। वृन्द के विचार में दरिद्रता का लेख अमिट है, अभाग्य-शाली को भाग्यवान् बनाने में देवता भी असमर्थ हैं, प्राप्तव्य मिलकर ही रहता^{१२} है और मिलता भी हर एक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार ही है। यथा—

धन सँच्यो किहि काम के, खाउ खरच हरि प्रीति।^{१३}

बँध्यो गंधीलौ कूप जल, कड़ बड़ इहिं रीति ॥

काहू सों नाहीं मिटै, अपरापत के अंक।

बसत ईस के सीस तउ, भयो न पूर्न मयंक ॥^{१४}

जिहि जेतो उनमान तिहि, तेतौ रिजक मिलाय।

कन कीड़ी, कूकर टुकर, मन भर हाथी खाय ॥^{१५}

जब धन के बिना जीवन असम्भव है तो उसे प्राप्त करने के लिए कभी-कभी अनुचित मार्ग भी अपनाना ही पड़ता है—

जासों निबहै जीविका, करिए सो अम्यास।

बेस्था पाले सील तो, कैसें पूरे आस ॥^{१६}

मिश्रित नीति—वृन्द के विप्र होने के कारण सतसई में ईश्वर, देवता, धर्म आदि विषयों का तथा राज-कवि होने के कारण राजनीतिक विषयों का उल्लेख तो

१-१६. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा १६४, १४७, १६, १८७ ३६७, ४७५,

७०१, २५६, ६००, ६४७, ५०१, ५१८, १४७, ३०४, ५०४, ७०

स्वाभाविक ही है परन्तु कुशल यही है कि इन विषयों की चर्चा अधिक नहीं। समय की बलवत्ता, समय से पूर्व ही विपदा के प्रतिकारार्थ तैयार रहना, समय के अनुसार रुचि में परिवर्तन, समय-समय पर सब का आदर-अनादर, समय के हेर-फेर से ही दुःख-सुख की प्राप्ति, बुरे समय में बुद्धि की विपरीतता आदि समय-सम्बन्धी अनेक नीतियों का वृन्द ने विशद वर्णन किया है। यद्यपि उद्यम की प्रशंसा तो अनेक दोहों में वर्णित है, तथापि ऐसे लगता है कि मनुष्य समय के समक्ष सर्वथा विवश हो जाता है। काल को अपने अनुकूल बनाने का सामर्थ्य मानव में नहीं है, चुप-चाप सिर झुका देने में ही उसे अपना कल्याण निहित दिखाई देता है।

आवत समें विपत्ति के, भिन्न शत्रु हर्ष जाय।

बुहत होत बछ बँधन कौं, थंभ मातु कौ पाय ॥^१

अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु का महत्त्व और सौन्दर्य, विपत्ति-जनक स्थान पर जाने का निषेध आदि अनेक स्थान-सम्बन्धी विषयों का उल्लेख भी वृन्द ने किया है—

करिये तहँ पैसार जहँ, जो जानियँ निसार।

चक्रव्यूह अभिमन्यु को, सुन्यो सबनि संसार ॥^२

वृन्द ने पुरुषार्थ की प्रशंसा अनेकत्र की है, परन्तु उन्हें ऐसे लगता है कि जब दैव प्रतिकूल हो तो सब पुरुषार्थ अकारण हो जाता है। पूर्वकृत कर्मों का परिणाम इतना प्रबल होता है कि इस जन्म के सब उद्योग निष्फल हो जाते हैं। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति ही सुख और अप्राप्ति ही दुःख है, जिस वस्तु से बहुत डरो, वह होकर ही रहती है, एक ही वस्तु किसी के लिए लाभदायक और किसी के लिए हानिकारक आदि अनेक मिश्रित विषयों की चर्चा सतसई में मिलती है।

वृन्द सतसई पर एक दृष्टि—इस सतसई का सबसे बड़ा गुण है—विशुद्ध नीति की प्रचुरता। नीति की कई कृतियों में अध्यात्म, धर्म, उपदेश का प्रायः इतना प्राबल्य रहता है कि उन्हें नीति-काव्य कहने में स्वभावतः संकोच होता है। परन्तु इस सतसई को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि हमें धर्म की इतनी चिन्ता नहीं जितनी लोक की। हम किसी आदर्श-समाज या देवलोक में जीवन-यापन नहीं कर रहे हैं, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति धर्मात्मा, सच्चा और परोपकारी है। हम तो उस समाज में रहते हैं जिसमें लोगों को परोपकार की अपेक्षा स्वार्थ की, धर्म की अपेक्षा धन की, परलोक की अपेक्षा लोक की चिन्ता अधिक है। जब वातावरण ही स्वार्थ-पूर्ण है तब हमीं पूर्ण धर्मात्मा बनकर कैसे सफल जीवन व्यतीत कर सकते हैं? इसीलिए वृन्द प्रायः धर्म की उपेक्षा कर व्यावहारिक बातें कहते हैं। जैसे—

जो जैसी तिहँ तँसिये, करियँ नीति-प्रकास।

काठ कठिन भेदें भ्रमर, मृदु अरविन्द निवास ॥^३

१-३. सतसई लप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ४८४, ६३१, ६८६,

सुख दिखाय दुख दीजिये, खल सों लरिये नाहि ।

जो गुर देने ही मरे, क्यों धिष दीजे ताहि ॥^१

जा मैं हित सो कीजिये फोऊ कही हजार ।

छल बल साथि बिजे करी, पारथ भारथ वार ॥^२

उक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि वृन्द के हृदय में उच्च आदर्शों के लिए कोई भी स्थान नहीं है, वे नैतिक-अनैतिक सभी साधनों से स्वायत्त-सिद्धि की ही प्रेरणा करते हैं। वस्तुतः सतसई में आदर्श-स्थापक पद्यों का भी अभाव नहीं है, यद्यपि अधिकता व्यावहारिक नीति की है—

न्याय चलत बिगरे कछू, तो न करो अपसोस ।

घार परत जो राजपथ तो न देत कोउ दोस ॥^३

सार यह कि वृन्द आदर्श का वस्तुतः निरादर तो नहीं करना चाहते परन्तु सामान्य जनता आदर्शवादी बनकर कष्ट सहने में अक्षम होती है और वृन्द उसी के काम की बातों का उल्लेख करते हैं।

सतसई की दूसरी विशेषता है— सुन्दर दृष्टान्त। यह तो नहीं कह सकते कि वृन्द ने प्रत्येक नैतिक तथ्य के समर्थन में कोई-न-कोई दृष्टान्त प्रस्तुत किया ही है तथापि यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उनके प्रायः सभी दोहे सुन्दर दृष्टान्तों से समन्वित हैं। सफल नीति-कवि अपने प्रतिपाद्य विषयों को मनोहर उदाहरणों द्वारा पाठकों के हृदयंगम करने का उद्योग किया ही करते हैं और इस दृष्टि से वृन्द हिन्दी के अग्रगण्य कवियों में स्थान पाने के अधिकारी हैं। धर्मभ्रंशकार तो विना पूछे कुछ बताने का निषेध करते ही रह गये परन्तु वृन्द ने उनके विपरीत कहकर भी अपनी बात को सुन्दर दृष्टान्त से समर्थित कर हमें प्रभावित कर ही दिया है—

बिन पूछे ही कहत हैं, सज्जन हित के वैन ।

भले बुरे कौं कहत हैं, ज्यों लमचर गत रैन ॥^४

पौराणिक तथा ऐतिहासिक संकेत इस सतसई की तीसरी विशेषता हैं। वृन्द ने अपनी नैतिक उक्तियों के समर्थन में तत्कालीन जीवन से ही दृष्टान्त नहीं दिये, रामायण, महाभारत पुराणादि की कथाओं से भी इतने अधिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं कि पाठक का ध्यान हठात् उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। विभिन्न नीतियों के समर्थन में वृन्द ने अर्जुन और कृष्ण, मीनाक और उदधि, युधिष्ठिर और नल, भीम और कीचक, अर्जुन और विराट्, पृथ्वी, राम और विभीषण, कृष्ण और सुदामा, आदि की दजनों प्राचीन घटनाओं का यथास्थान जो उल्लेख किया है, उससे सिद्ध होता है

१-२. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ३११, ५७६

३. सप्त सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ ३१८।४११

४. मनु स्मृति, अध्याय २।११०

५. सतराई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ३६७

कि उन्होंने इतिहास-पुराणों का मंथन ही नहीं किया था, उनकी अनेक कथाएँ उन्हें सुन्ना भी थीं और आवश्यकतानुसार क्रीतदासी के समान तुरन्त उपस्थित हो जाती थीं। जैसे—

बड़े बिपत में हूँ करें भले बिराने काम ।

किय बिराट तनु की बिजय, अर्जुन करि संग्राम ॥^१

वृन्द की चतुर्थ विशेषता है—सूक्ष्म निरीक्षण। वैसे तो इस गुण के अभाव में कवि होना ही असम्भव है परन्तु जिसमें यह गुण जितनी अधिक मात्रा में विद्यमान हो उसकी कविता में उतनी ही सजीवता आ जाती है। जैसे—

पिय के बिछुरे दिरह बस मन न कहूँ ठहरात ।

घरनि गिरतु बीचहि फिरतु पथों भँभूरे पात ॥^२

स्वच्छ-सरल भाषा इस सतसई की पाँचवीं विशेषता है। वृन्द ने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए न कहीं भाषा को दुरुह बनाया है, न कूट पद्यों की रचना की है। सहज सुबोध भाषा के कारण ही इस सतसई के संकटों दोहे अशिक्षित ग्रामीणों तक को कण्ठस्थ हैं।

इस सतसई की छठी विशेषता है—रुढ़ियों तथा लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग। अनेक रुढ़ियों और कहावतों का वृन्द ने ऐसा सुरुचिपूर्ण प्रयोग किया है कि वे अस्वाभाविक और ठूँसी हुई नहीं लगतीं। यह भी असम्भव नहीं है कि वृन्द के द्वारा प्रयुक्त अनेक सूक्तियाँ ही रुढ़ियों के रूप में प्रचलित हो गई हों। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

आप बुरे जग है बुरो, भले भलो जग जानि ।

तजत बहेरा छाँह सब, गहत आम की आनि ॥^३

एक भेष के आसरे जाति बरन छिप जात ।

ज्यों हाथी के पांव में सब को पांव समात ॥^४

सतसई की सातवीं विशेषता है—सुन्दर कल्पनाएँ। वैसे तो प्रत्येक मौलिक दृष्टान्त^५ से कवि की कल्पना-कुशलता का कुछ-न-कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है परन्तु कहीं-कहीं तो कल्पनाएँ इतनी उत्तम हैं कि हृदय हर लेती हैं। मीनभक्षक लोग जानते ही हैं कि मछली खाने के बाद खूब प्यास लगती है। इस तथ्य पर वृन्द की उद्भावना देखिये—

प्रेमी प्रीत न छाँड़हीं, होत न प्रन तें होन ।

मरं परे हूँ उदर में जल चाहत है मीन ॥^६

एक अन्य दोहे में कहावत और कल्पना का सुन्दर मिश्रण देखिए—

१-२. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ ३१२।३३५, ३३३।५६७

३-६. वही,

दोहा ४३, १५१, ६५२ ४४१

यह कहवत जैसो करे तैसी पावें लोय ।

औरन कौं आंधे करे आंधी कहियत सोय ॥^१

रस और भाव—यद्यपि रस-परिपाक के विचार से वृन्द सतसई विशेष महत्त्व-पूर्ण नहीं है तथापि इस में ऐसे दोहे बहुत-ही थोड़े हैं जिन्हें पद्यमात्र कहा जा सके । अधिकतर दोहे भावपूर्ण तथा सहृदय पाठकों के मन में संतोष, सहिष्णुता, नम्रता, मय, उद्यम, क्रोध, उत्साह आदि भावों के संचार में समर्थ हैं । जैसे—

जिय संतोष विचारिये, होय जु लिख्यो नसीब ।

खल गुर काच कथीर सौं, मानत रली गरीब ॥^२ (सन्तोष)

नीति अनीति बड़े सहैं, रिस भरि देत न गारि ।

भृगु उर दीनी लात की, कीनी हरि हनुहारि ॥^३ (क्षमा)

लोकन के अपवाद को डर करिये दिन रैन ।

रघुपति सीता परिहरी, सुनत रजक के बैन ॥^४ (भय)

चलें जो पंथ पपीलिका, समुद पार ह्वं जाय ।

जौ न चलें तौ गरड़ हू, पंडुहु चलें न पाय ॥^५ (उद्यम)

जोरावर की होति है, सयके सिर पर राह ।

हरि रघुमनि हरि लें गयो, देखत रहे सिपाह ॥^६ (उत्साह)

भाषा—वृन्द सतसई की भाषा की सुबोधता और स्वच्छता तथा उसमें रुढ़ियों और लोकोक्तियों के सुप्रयोग के सम्बन्ध में पीछे कह ही चुके हैं । इन की भाषा का एक अन्य प्रशस्य गुण है—समाहार-शक्ति । यह गुण इन में बिहारी जितना तो लक्षित नहीं होता फिर भी इसकी झलक इनके अनेक दोहों में स्पष्ट दिखाई देती है—

भले-भले बिधिना रचे पैं सदोष सब कौन ।

कामधेनु पसु कठिन मनि दधि खारौ ससि छोन ॥^७

सतसई की भाषा व्रज है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द भी पर्याप्त हैं । फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्द हैं तो सही परन्तु थोड़े और उनका प्रयोग भी प्रायः तद्भव रूप में किया गया है, जैसे—खुस्याल (खुशहाल), अपसोस, (अफ़सोस) । कहीं-कहीं तत्सम रूप में प्रयुक्त तहकीक, हिमायत आदि भारी-भारी विदेशी शब्द खटकते हैं । इसी प्रकार एकाध स्थल पर संस्कृत का सविभक्ति पद, और वह भी विदेशी शब्द के साहचर्य में, विचित्र सा लगता है—

प्रभु सौं बात दुरी न तउ करिये अरज मुखेन ।

रघुमनि आवुरता लिखी हरि कहा जानत हेन ॥^८

अन्त्यानुप्रास तथा छन्दगति को अविकल रखने के लिए एकाध स्थल पर शब्दों

को विकृत भी किया गया है, जैसे—‘वचन’ को ‘वचनन’ और ‘तनुज’ को ‘तनु’ ।^१

सतसई के अधिकतर दोहों में अभिधा का ही प्रयोग दिखाई देता है। लक्षणा और व्यंजना व्यवहृत तो हुई हैं परन्तु बहुत-ही कम। जैसे—

ज्यों-ज्यों छुटै अयानपन त्यों-त्यों प्रेम प्रकास ।

जैसे केरी आँव की पकरत पकें मिठास ॥^२ (लक्षणा)

इन को मानुष जन्म बै कहा कियो भगवान ।

सुन्दर मुख बोल न सकें, बै न सकें धनवान ॥^३ (व्यंजना)

यहाँ प्रथम दोहे में ‘मिठास पकड़ना’ का लक्ष्यार्थ है माधुर्य से प्रपूर्ण होना तथा द्वितीय दोहे में व्यंग्यार्थ यह है कि विद्या के बिना सौन्दर्य तथा दान के बिना धन व्यर्थ है।

विधान और छन्द—सतसई की रचना मुक्तक दोहों में की गई है। कवि ने दोहों को छन्द-शास्त्र की दृष्टि से निर्दोष बनाने का पूर्ण उद्योग किया है और इस बात में उसे सफलता भी मिली है। यद्यपि कहीं-कहीं एक ही विषय पर कवि ने एकाधिक दोहों की रचना की है तथापि अर्थ की दृष्टि से कोई भी दोहा दूसरे पर निर्भर नहीं है।^४

शैली—सतसई में मुख्यतः दृष्टान्त-शैली का प्रयोग किया गया है। दोहे के प्रथम दल में कवि नैतिक तथ्य का उल्लेख करता है और दूसरे दल में अत्यन्त उपयुक्त दृष्टान्त द्वारा उसका समर्थन। उसके बाद ऐतिहासिक शैली का पर्याय आता है। उपदेशात्मक शैली का भी कुछ इने-गिने दोहों में प्रयोग किया गया है। ऊपर उद्धृत दोहों में ये शैलियाँ सहज ही देखी जा सकती हैं।

अलंकार—अलंकारों की दृष्टि से भी सतसई महत्त्वपूर्ण है। प्रायः प्रत्येक पद्य एक या दूसरे अलंकार से अलंकृत है। यों तो तीनों प्रकार के अलंकार इसकी शोभा-वृद्धि कर रहे हैं परन्तु शब्दालंकार की अपेक्षा शेष दो का प्रयोग अधिक है।

(क) शब्दालंकारों में अनुप्रास, लाटानुप्रास, वीप्सा और यमक का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। जैसे—

मोह महातम रहनु है जौ लौं ज्ञान न होत ॥^५ (छेकानुप्रास)

मात-पिता के पक्ष के पुरुषहि प्रगट प्रभाव ॥^६ (वृत्त्यनुप्रास)

नैन सहाई ज्यों पलक देह सहाई हाथ ॥^७ (लाटानुप्रास)

जहाँ सनेही तहाँ रहत भ्रमत-भ्रष्ट भन आय ॥^८ (वीप्सा)

जौ पै जौ को रोपिये कबहुँ सालि न होय ॥^९ (यमक)

(ख) अर्थालंकारों में प्राधान्य दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास का है। इनकी प्रधानता का कारण यह है कि कवि ने प्रतिपाद्य नैतिक तथ्यों को इनकी सहायता से पुष्ट तथा समर्थित कर हृदयंगम कराने का उद्योग किया है। कारणमाला तथा सार

१ ६. सतसई सप्तक, बृन्द सतसई, दोहा ३५६, ६५६, ६४२, ३०१-२०२ तथा १६२-१६४, ४२७, ६६६, ६५३, ६५६, ५७५

नामक शृंखलामूलक अलंकारों में भी वृन्द की विशेष रचि लक्षित होती है। उपमा, उत्प्रेक्षा, परिवृत्ति, विशेषोक्ति, निरुक्ति आदि अलंकार भी छिटपुट रूप से प्रयुक्त किये गए हैं। जैसे—

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।

रसरी आवत जात तैं सिल पर परत निसान^१ ॥ (दृष्टान्त)

काहू फौ हँसिये नहीं, हँसी कलह कौ मूल ।

हाँसी ही तैं ह्वं गयो कुल कौरव निरमूल ॥^२ (अर्थान्तरन्यास)

बढ़ेन की संपति सब, लघु बिलसंत अनंत ।

दधि जल धन, धन जल धरा, धर जल जग बिलसंत ॥^३ (कारणमाला)

एक-एक को शत्रु है जो जातैं बलवन्त ।

जलहि अनल अनलहि पवन सरप जु पवन भखंत ॥^४ (सार)

(ग) उभयालंकार—उभयालंकारों में से संकर की अपेक्षा संसृष्टि अधिक लक्षित होती है। अधिकतर पद्यों में दृष्टान्त वा अर्थान्तरन्यास तो है ही, एकाध अलंकार और भी आ ही जाता है, इसलिए उभयालंकार भी प्रचुर हैं। जैसे—

तून हू तैं शरू तूल तैं, हरबौ जाचक आहि ।

जानतु है कछु मांगिहै, पवन उड़ावत नाहि ॥^५

दोहे में अनुप्रास, व्यतिरेक और उत्प्रेक्षा के मिश्रण से शब्दार्थालंकार की संसृष्टि है।

गुण—सतसई में प्रसाद, माधुर्य और भोज तीनों ही गुण पाए जाते हैं। प्रसाद प्रधान है। माधुर्य पर्याप्त है और भोज न्यून है।

दोष—वृन्द ने काशी में अन्य विषयों के साथ ही काव्यकला का भी विधिवत् अध्ययन किया था इसलिए उन्होंने इसे निर्दोष बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। फिर भी कुछ इने-गिने दोहों में खटकने वाली बातें भी विद्यमान हैं। जैसे—

खल जन सौं कहियँ नहीं गूढ़ कबहुँ करि मेल ।

यों फँलें जग माहि ज्यों जल पर बूंद कि तैल ॥^६

दोहे में 'बूंद कि तैल' स्थान पर 'तेल की बूंद' होना चाहिए। क्रमविरुद्ध होने से दोहा 'अक्रमत्व' दोष से दूषित है।

भले-बुरे गुर जन बचन, लोपत कब न धीर ।

राज-काज को छाँड़ि कै, चले धिपिन रघुदीर ॥^७

गुरु बच जोग अजोगहु करिए भ्रम बिसराय ।

राम राज-सुख छाँड़ि कै बनवासी भए जाय ॥^८

उक्त दोहों में प्रतिपाद्य विषय की पुनरुक्ति की अपेक्षा दृष्टान्त की पुनरुक्ति

१-८. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ३१०, ५७४, ७०१, ५६४, ६४८, १४१, ६३७, ६६७

कहीं अधिक चुभती है। दो-चार स्थलों पर दृष्टान्त अश्लील और सुरुचि के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं—

होंग-मिरच जोरी कहै हग मर जर लिख लेत ।^१

ज्यों तिय भूषन लाज है, निलज सुरत की बेर ॥^२

सो सोभा पावै नहीं जार गर्भ जुत नारि ॥^३

एकाध स्थल पर हतवृत्तत्व दोष भी आ ही गया है—

बढ़ेन की संपति सबै लघु बिलसंत अनन्त ।^४

दोहे के प्रथम चरण के आरम्भ में जगण की विद्यमानता ने गति को दूषित कर दिया है।

वृन्द और पूर्ववर्ती कवि—वृन्द-सतसई के अध्ययन से सिद्ध होता है कि यद्यपि कवि ने अनेक नवीन विषयों तथा दृष्टान्तों को अपनी रचना में निबद्ध किया है तथापि उनके दर्जनों दोहे पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से प्रभावित हैं। यह कहना तो कठिन है कि उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का भी अध्ययन किया था या नहीं परन्तु उनके संस्कृत और हिन्दी-ज्ञान के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं है। उनका जीवन-वृत्त तथा रचनाएँ इस कथन का समर्थन करती हैं। इन पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव को दो भागों में अनायास विभक्त कर सकते हैं—

(क) संस्कृत-कवियों का प्रभाव (ख) हिन्दी-कवियों का प्रभाव

(क) संस्कृत कवियों का प्रभाव—यह तो ऊपर कह ही चुके हैं कि वृन्द ने वर्ण्य विषयों को पुष्ट करने के लिए रामायण, महाभारत और पुराणों की घटनाओं का आश्रय लिया है। उनके अतिरिक्त, जैसा कि निम्नलिखित पद्यों से सिद्ध होता है, वृन्द को चारणव्य-नीति, हितोपदेश, भर्तृ-कृत नीतिशतक तथा संग्रह-ग्रन्थों का भी ऋणी मानना ही होगा।

यह ऋण भी त्रिविध है—

१. संस्कृत-पद्य का अक्षरशः अनुवाद,

२. संस्कृत-पद्य का विस्तार,

३. संस्कृत-पद्य का संक्षेप।

१. संस्कृत का अक्षरशः अनुवाद

नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।

छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥^५ (चारणव्य)

अति ही सरल न हूँजिये, देखौ ज्यों वन राय ।

सीधे-सीधे छेदिये, बाँको तर बच जाय ॥^६ (वृन्द)

१-४. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा २०६, ६४५ ५२६, ७०१

५. चारणव्य नीति, पृष्ठ ३२।१२

६. सतसई सप्तक, पृष्ठ २६६।१५६

वृन्द ने अपने दोहे में चाणक्य-नीति के पद्य का अविकल अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है। भाव ही समान नहीं है, उनका अभिव्यक्ति-क्रम भी समान है।

१. संस्कृत-पद्य का विस्तार

माता शत्रुः पिता बंदी येन बाधो न पाठितः ।

न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा ॥^१ (नारायण पण्डित)

चतुर सभा में फूर नर सोभा पावत नाहिं ।

जैसे वक सोभित नहीं, हंस मंडली माहिं ॥^२ (वृन्द)

हितोपदेश के रचयिता ने तो पुत्र को शिक्षित न करने वाले माता-पिता को शत्रु कहा है क्योंकि वह अज्ञ वालक सभा में वैसा ही शोभा-हीन होता है जैसा हंसों में बगुला। वृन्द ने इस पद्य के केवल उत्तरार्द्ध को—दृष्टान्तमात्र को—विस्तृत कर पूरा दोहा बना डाला है। अब शिक्षा का दायित्व माता-पिता पर ही नहीं रहा, प्रत्येक के अपने कंधों पर भी आ पड़ा है।

३. संस्कृत-पद्य का संक्षेप

भग्नाशस्य करण्डपिण्डतनोर्भानेन्द्रियस्य क्षुधा,

कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।

तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तंनव यातः पथा,

स्वस्थास्तिष्ठत देवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम् ॥^३ (भर्तृहरि)

दुख-मुख दीवं कौं दई है आतुर इहिं ठाट ।

अहि-करंड सूसा पर्यौ भखि निकस्यो उहिं बाट ॥^४

दोनों पद्यों में देव की बलवत्ता तथा संतोष की महत्ता ही प्रतिपादित है। जो दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है वह भी एक ही है। परन्तु वृन्द ने, दोहे की अल्पाकारता से विवश होकर, भर्तृहरि के पद्य में वर्णित सर्प की दुर्बलता, निराशा तथा चूहे के उद्योग का उल्लेख न कर संस्कृत-पद्य का हिन्दी-संक्षेप प्रस्तुत किया है। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वृन्द सदा और सर्वत्र संस्कृत के पद्यों का अक्षरशः

१. हितोपदेश पृष्ठ ८।३८

२. सतसई सप्तक, पृष्ठ ३०४।२३१

३. शतकत्रयम्, पृष्ठ ४६।८२

अर्थ—एक सर्प पिटारे के नीचे बंध हो जाने के कारण अत्यंत निराश और भूख से दुर्बल पड़ा था। रात्रि को एक चूहा उस पिटारे में छिद्र कर स्वयमेव उसके मुँह में जा पड़ा। चूहे के मांस से तृप्त होकर साँप उसी भाग से बाहर निकल गया। हे मनुष्यो, संतोषपूर्वक बैठे रहो क्योंकि वृद्धि या क्षय का मुख्य कारण देव ही है।

४. सतसई सप्तक, पृष्ठ ३१४।३६१

अनुवाद ही प्रस्तुत नहीं करते अपनी कल्पना की सहायता से मूल पद्यों का संक्षेप या विस्तार भी कर लेते हैं, उनमें कुछ मौलिकता लाने का भी उद्योग करते हैं।

(ख) हिन्दी-कवियों का प्रभाव — जैसे वृन्द संस्कृत के कवियों से प्रभावित हुए हैं, वैसे ही हिन्दी के कवियों से भी। सूरदास, तुलसीदास, रहीम, विहारी आदि की रचनाओं का प्रभाव इनके अनेक दोहों पर स्पष्ट लक्षित होता है। जैसे—

(क) ऊधो, मन माने की बात ।

दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल बिस कीरा बिस खात ।

‘सूरदास’ जा को मन जासों सोई ताहि सुहात ॥^१

सूरदास के इस पद के आशय को वृन्द ने जिन अनेक दोहों में व्यक्त किया है उनमें से कुछ एक में भाव साम्य के अतिरिक्त दृष्टान्त-साम्य तथा भाषा-साम्य भी लक्षित होता है, जैसे—

जो जा कौं प्यारी लगै, सो तिहिं करत बखान ।

जैसें विष को विषभखी, मानत अमृत समान ॥^२ (दृष्टान्त साम्य)

जा कौं जा सों मन लग्यौ सो तिहिं आव दाय ।

भाल भस्म विष मुंड शिव, तौऊ शिवा सहाय ॥^३ (भाषा साम्य)

(ख) ‘का वर्षा जब कधी सुखाने । समय चूकि पुनि का पछताने ।^४ (तुलसीदास)
दीबो अवसर को भली, जालौं सुघरें काम ।

खेती सूखै बरिसबौ, धन को कौने काम ॥^५ (वृन्द)

वृन्द ने दृष्टान्त को तो यथावत् रहने दिया है परंतु भाव-क्षेत्र को संकुचित कर दिया है। गोस्वामी जी की अर्द्धाली तो प्रत्येक कार्य में समय का ध्यान रखने का निर्देश करती है परंतु दोहा दान के विषय में ही सावधान करता है।

(ग) छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटेन को उत्पात ।

का ‘रहीम’ हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥^६ (रहीम)

नीति अनोति बड़े सहै, रिस भरि देत न गारि ।

भृगु उर दीनी लात की, कीनी हरि मनुहारि ॥^७ (वृन्द)

भाव, दृष्टान्त तथा भाषा का प्रभाव तो स्पष्ट ही है, परन्तु द्वितीय दोहे के चतुर्थ चरण से हरि का जो गौरव व्यक्त होता है, उसका श्रेय वृन्द को ही है।

१. सूरसागर, खंड २, पृष्ठ १५६८

२-३. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ २८७।७, २६४।६०

४. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ २८७

५. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ २८८।१८

६. कथिता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ३४०।१२४

७. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ ३३७।६६१

(ग) जपमाला छापें तिलक, सरं न एको कामु ।

मन कांचे नांचे वृथा, सांचे रांचे रामु ॥^१ (बिहारी)

उदर भरन के कारन प्राणी करत इलाज ।

नांचे बांचे रन भिरं, रांचे काज अकाज ॥^२ (वृन्द)

दोनों दोहों का भाववैषम्य तो स्पष्ट ही है परन्तु इस बात का प्रत्याख्यान करना सरल नहीं कि वृन्द के द्वितीय दल की भाषा बिहारी से प्रभावित है ।

उपर्युक्त विवेचन से जहाँ यह स्पष्ट है कि वृन्द भाव, भाषा और दृष्टान्त के क्षेत्रों में पूर्ववर्ती कवियों के कुछ ग्रंथ तक ऋणी हैं, वहाँ यह भी निर्विवाद है कि उन्होंने इस प्रकार के दोहों में अन्धवत् अनुकरण नहीं किया, कुछ नवीनता लाने का भी उद्योग किया है ।

अन्त में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि वृन्द सतसई विशेष सरसता के अभाव में भी व्यावहारिक नीति की प्रचुरता, सुन्दर दृष्टान्त, सूक्ष्म निरीक्षण, लोकोक्तियों के प्रयोग, मनोरम कल्पना तथा मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण हिन्दी के नीतिकाव्यों में प्रमुख स्थान रखती है । यही कारण है कि लोकप्रियता की दृष्टि से बिहारी-सतसई के बाद इसी का नाम लिया जाता है ।

‘हितोपदेश’ नाम से युक्त होने के कारण वृन्द की दो अन्य कृतियाँ—‘हितोपदेशाष्टक’ और ‘हितोपदेश संधि’—नीतिकाव्य का आभास देती हैं । परन्तु इनमें से प्रथम शान्त रस की रचना है और द्वितीय संस्कृत के ‘हितोपदेश’ की चतुर्थ कथा का पद्यानुवाद-मात्र । अतः इनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है ।

७. धर्मसिंह

जीवनी—इनका वंश, माता-पिता, जन्मस्थान तथा जन्मतिथि अभी तक विदित नहीं हुई । बीकानेर के कृपाचंद सूरि के ज्ञानभंडार में इनकी ‘श्रेणिक चौपई’ की जो प्रति सुरक्षित है उससे इनका जन्म संवत् १७०० में प्रमाणित होता है । रचनाओं में राजस्थानी के बाहुल्य से इनके राजस्थान निवासी होने तथा धर्मसिंह नाम से कुलीन होने का भी अनुमान किया गया है ^३ इन्होंने १३ वर्ष की अवस्था में श्री जिनरत्न सूरि से जैन-दीक्षा ग्रहण की और धर्मसिंह से धर्मवर्धन कहलाने लगे । विजयहर्ष जी से इन्होंने जैन आगम, व्याकरण, न्याय, वैद्यक आदि विषयों का अध्ययन किया । राजस्थानी के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था । ‘षड्भाषामय पाश्र्वं जिन-स्तवन’ से इनके मागधी, पेशाची, शौरसेनी,

१. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ६३।१४१

२. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ ३३०।५५६

३. ‘राजस्थान’ वर्ष २, अंक २ (भाद्रपद १९६३ वि०) में श्री अग्ररचंद नाहटा का ‘राजस्थानी साहित्य और जैन कवि धर्मवर्धन’ शीर्षक निबन्ध देखिये ।

चूलिका पंशाची अपभ्रंश और सिन्धी भाषाओं से सुपरिचित होने का पता चलता है। ये जीवन-भर धर्म प्रचार तथा साहित्य-सर्जन में संलग्न रहे। बीकानेर के महाराज अनूपसिंह तथा सुजाणसिंह, जैसलमेर के रावल अमरसिंह, जोधपुर के महाराज जसवंत-सिंह तथा इतिहास-प्रसिद्ध शिवा जी और दुर्गादास इनके प्रशंसक थे। बीकानेरनरेश ने सं० १७७६ में एक पत्र में इनकी इस प्रकार प्रशंसा की—

‘सब गुण ज्ञान विशेष विराजै, कविगण ऊपरि घन ज्यूं गाजै ।

धर्मसिंह धरणीतल माहि, पंडित योग्य प्रणति दल ताहि ॥’

८०-८१ वर्ष के वय में इनका देह-पात हुआ ।

कृति-परिचय—धर्मसिंह जी के २३ छोटे-मोटे ग्रंथ^१ उपलब्ध हुए हैं जिनमें से नीति के ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

१. गुरु-शिष्य दृष्टान्त छत्तीसी

४. प्रास्ताविक कुंडलिया बावनी

२. विशेष छत्तीसी

५. छप्पय बावनी

३. धर्म बावनी

६. स्फुट पद्य ।

उक्त छह रचनाओं में से प्रथम तथा द्वितीय हमें प्राप्त नहीं हो सकीं, शेष चार का विवरण इस प्रकार है ।

धर्म बावनी—इस बावनी की रचना धर्मसिंह ने बीकानेर-राज्य के रिनी नगर में संवत् १७५२ में की थी—

‘.....सौत सतरे पचीस कातो बदि नौमि दोस,

बार है बिमल चंद आनंद वधावनी ।

नैर रिनी कौं निरखि नित ही विजें हरष,

कीनी तहाँ धर्मसीह नाम धर्म बावनी’ ॥^३

प्रश्न होता है जब धर्मसिंह ने अपनी अन्य दो बावनियों के नाम उनमें व्यवहृत छन्दों के अनुसार ‘कुंडलिया बावनी’ और ‘छप्पय बावनी’ रखे तब इसका नाम, कवित्त तथा सर्वैया के प्रयोग के कारण, कवित्त या सर्वैया बावनी क्यों नहीं रखा। हमारे विचार में इसके दो कारण हैं। प्रथम, इसमें दानपुण्य आदि धर्मकृत्यों से ही जीवन की सफलता मानी गई है, उनके अभाव में विफलता। द्वितीय, जैसा कि ऊपर उद्धृत पद्यांश से सूचित होता है, उन्होंने इसका नाम अपने नाम पर रखना उचित समझा। प्रथम की अपेक्षा भी द्वितीय कारण प्रबल प्रतीत होता है क्योंकि कृति में धर्म की अपेक्षा नीति का प्राधान्य है और बाद्धक्य की अपेक्षा यौवन में साहित्य-सेवियों में अपने नाम

१. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २८०

२. धर्म बावनी की हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है ।

३. धर्म बावनी, पद्य ५७

को स्थायी रखने की कामना स्वाभाविक होती है। अस्तु।

धर्म-बावनी एक मुक्तक-रचना है जिसमें देवनागरी की वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से कवित्त तथा सर्वथा छन्दों में पद्य-रचना की गई है। इसमें कुल ५७ पद्य हैं। प्रथम पाँच पद्यों में जैन-लेखकों की प्रायिक प्रथा के अनुसार, देव, गुरु, सरस्वती, साधु आदि की वन्दना है। परवर्ती पद्यों में मुनि जी ने दया, क्षमा, क्रोध, मित्र आदि प्रचलित विषयों के अतिवृत्ति उग्र नारी, कुलटा, रीस (स्पर्धा), अनेक दोषों का एक मीठी वाणी से तिरोभाव, सब संदोष है अतः किसी का भी परिहास अनुचित है, स्वगुण-कथन की अनावश्यकता आदि विषयों पर भी सुन्दर रचना की है।

यह रचना प्रसादपूर्ण अलंकृत ब्रजभाषा में है, परन्तु इस पर राजस्थानी का प्रभाव भी यत्र-तत्र लक्षित होता है। रत्न, रुदन्त, दरपन्न आदि शब्दों में, चारणों का, परिपाटी के अनुसार, द्वित्व अक्षरों का प्रयोग भी दुर्लभ नहीं। शब्दचयन सुमधुर है तथा भाषा का प्रवाह प्रशंसनीय है। जैसे—

छोरि गरब जु आवत देखि कं आदर देइ कं आसन दीजं ।

प्रीति ही कं रख की मुख की मुख की दुख की मिलि बात कहीजं ॥

दूर रहैं नित मीठी हो मीठी चीज र चीठी तहाँ पठईजं ।

साच यहै ध्रमसीउ कहै भंया चाह करे ताकी चाकरी कीजं ॥^१

रचना में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। विदेशी भाषाओं के चीज, खुस्याल आदि कुछ ही शब्द दिखाई देते हैं और वे भी तद्भव रूप में। सुन्दर चुभती हुई कहावतों का सुप्रयोग इस रचना की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है। वे कहावतें दो प्रकार की दिखाई देती हैं—१. परम्परागत २. कविकृत। यथा—

१. परम्परागत कहावतें—

(क) देखण काज जुरे सब हो जन नाचन पंठी तो घूँघट कँसो ।^२

(ख) मीन र मेख कहैं ध्रम देख पं कर्म की रेख टरें नहीं टारी ॥^३

२. कविकृत

(क) मूरख को सीख दे कं यूँ ही बँन लोयो है ॥^४

(ख) देवं को है एक देव खँवे कुं खलक है ॥^५

सार यह कि भाव, भाषा, छन्द, अलंकार आदि सभी दृष्टियों से रचना प्रशंसनीय है।

कुंडलिया बावनी^६—इस बावनी में कुल ५७ कुंडलिया छन्द हैं। अन्तिम कुंडलिया से विदित होता है कि कवि ने इसकी रचना संवत् १७३४ में जोधपुर में की—

१-५. धर्म बावनी, पद्य २३: ४४, ४६, ४८, ३४

६. कुंडलिया बावनी की हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, में सुरक्षित है। पद्यसंख्या उसी प्रति के अनुसार दी गई है।

प्रस्ताविक प्रसिद्ध शहर जोधारा सलहीजें ।

सतरें सें चोतीस भले विवसे भाबीजें' ॥०००१

पद्यों की रचना 'धर्म-बावनी' के समान ही वर्णमाला के वर्णक्रम से की गई है । इसमें सप्त व्यसन तथा अन्य प्रसिद्ध विषयों के अतिरिक्त पड़ोस, आठ अघ, सात सुख-दुख, अन्न-स्वभाव, सुंभ (कृपण) की सम्पदा आदि पर भी पद्य मिलते हैं । रचना की भाषा राजस्थानी है परन्तु इसमें धर्म बावनी-सा साहित्यिक सौष्ठव दिखाई नहीं देता । अनेक छन्दों में मात्रा-संख्या के न्यूनाधिक होने से गति भी अविकल नहीं रही । यह बावनी 'धर्म-बावनी' के नौ वर्ष पश्चात् लिखी गई । इसलिए आशा तो यह की जाती थी कि रचना अधिक प्रौढ़ तथा सरस होगी परन्तु बात उलटी निकली । हमारे विचार में इसके दो कारण हैं । प्रथम, पहले मुनिवर का ध्यान काव्य-निर्माण पर था परन्तु बाद में लोक-कल्याण मुख्य लक्ष्य हो गया और काव्य-रचना गौण । द्वितीय, मुनिवर कवित्त-सर्वेया की रचना में जितने कुशल थे उतने अन्य छन्दों के निर्माण में नहीं । एक उदाहरण देखिये—

घट नीरोगी शुभ घरणि बलि नहीं रिए भय बात ।

सुपुत्र सुराज कटुम्ब सुख धर्मसीह कहै सात ॥

धर्मसीह कहै सात सात दुख जाय न सहणा ।

दोसं घर में दलिद लोक बलि भांग लहणा ॥

कुलहरि नारी कूपुत्र फिरण परदेस सगे फट ।

सब सौं दुख सातमों घरणी, बलि रोग रहै घट ॥ घट नीरोगी ०२

इन कुंडलियों के विषय में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है । हस्तलिखित प्रति में प्रत्येक कुंडलिया की समाप्ति के पश्चात्, मानो टेक के रूप में, कुंडलिया के प्रथम कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति की गई है । इससे यह अनुमान होता है कि कदाचित् कुंडलियाँ भी पदों के समान गाई जाती थीं ।

छप्पय बावनी—राजस्थानी भाषा में लिखित इस बावनी की रचना धर्मसिंह ने संवत् १७५३ में बीकानेर में की । इसमें नीति की बातें सामान्य छप्पयों में कही गई हैं । काव्य सौष्ठव की इसमें भी 'कुंडलिया बावनी' के समान ही कमी है ।

फुटकल पद्य—धर्मसिंह के फुटकल नीति-पद्यों में उक्त बावनी-युगल की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दरता दिखाई देती है और विषय भी अधिक व्यावहारिक हैं । यथा—

दूर तें पोसाकदार देखियत सिरदार,

देखि कं कुचोल चीर ह्वै है कोउ बपरा ।

सुन्दर सुवेश जाणें ताको सहु बंन मानें,

बोलें जो दरिद्री तो लबार कहै लपरा ।

१. कुंडलिया बावनी, पद्य ५७

२. कुंडलिया बावनी, पद्य २५

पीतांबर देख के समुद्र आप बिनी सुता,
 बीनौ बिष रुद्र कुं बिलोकी हाथ खपरा।
 धर्मसी कहै रे भीत ऐसी हैं संसार रीति
 एक नूर आदमी हजार नूर कपरा ॥^१

धर्मसिंह की जिन चार रचनाओं का परिचय ऊपर प्रस्तुत किया गया है उनके आधार पर सार रूप में यह कहा जा सकता है कि धर्मबावनी और फुटकल पद्य सुन्दर रचनाएँ हैं और शेष दो सामान्य। निस्संदेह हिन्दी-जगत् की जैन मुनि का कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होंने अपनी सरस रचनाओं से हिन्दी-साहित्य का संवर्धन किया।

८. जिनरंग सूरि

जैन मुनि जिनराज सूरि के शिष्य जिनरंग जी का दीक्षाग्रहण से पूर्व का नाम रंग विजय था। इन्होंने विक्रम की अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रबोध बावनी, सौभाग्य पंचमी चौपाई और रंग बहत्तरी (द्रुहाबंध बहत्तरी) की रचना की। अमुद्रित रंगबहत्तरी की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय^२ में मिली। कृति में बहत्तर दोहे हैं जो अध्यात्म तथा नीति का प्रतिपादन करते हैं। संतों की साखियों के समान प्रायः प्रत्येक दोहे में कवि की छाप जिनरंग' विद्यमान है। कृति में जगत् की माया, ममत्व-त्याग, ज्ञानी, कपटी और स्त्री का मन, धैर्य, प्रेमहीन मनुष्य की पशुतुल्यता, यशस्वी जीवन की ही प्रशंसनीयता, मानवीय प्रकृति की अपरिवर्तनशीलता, काँटे से भी बँर करना बुरा, भोजन, धन तथा रमणी से तृप्ति की असम्भवता आदि अनेक विषयों पर व्रजभाषा में दोहा-रचना की गई है। कहीं-कहीं राजस्थानी का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। रचना सामान्य कोटि की है परन्तु कुछ दोहे मौलिक तथा अच्छे हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

जिनरंग रोटी-मित्र को बीज रोटी घोड़।
 वचन मित्र को वचन दे, जीउ मित्र को जीउ ॥
 ससनही बंधन परं निसनेही कौ मोष।
 सिर के कच को बांधियं, नेह धर्या का दोष ॥
 साध रह्यां लाषां गयां, फिर कर लाषा होय।
 लाष रह्यां साषां गयां, लाष न लष्यं कोय ॥
 जिनरंग भीठी गरज है, अवर न भीठी कोय।
 जब निकसं है सीतला, रासभ आदर होय ॥^३

१. धर्मसिंह के फुटकल पद्य हस्तलिखित रूप में अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, में सुरक्षित हैं।
२. प्रति संख्या ८०७०, पत्र-संख्या २
३. प्रति संख्या ८०७०, दोहा संख्या १३, ३२, ४०, ५६

६. बालचंद

इन का दीक्षानाम विनयलाभ था और साहित्यिक उपनाम 'कविचंद'। ये खरतरगच्छ के उपाध्याय विनय प्रमोद पाठक के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में मौलिक और अनुवादात्मक दोनों ही प्रकार के ग्रंथों की रचना की। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

१. देवराज वच्छराज चौपाई (मुलतान, सं० १७३०)
२. सिंहासन बत्तीसी चौपाई (फलोधी, जोधपुर, सं० १७४८)
३. भर्तृशतक का हिन्दी पद्यमय अनुवाद
४. पार्व्व भवतामर (संस्कृत में, प्रकाशित है)
५. सर्वैया बावनी।

सर्वैया बावनी—सर्वैया बावनी की हस्तलिखित प्रति^१ के अध्ययन का अवसर बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में प्राप्त हुआ। प्रति पूर्ण है और चार पत्रों पर लिपिबद्ध है परन्तु उसके कई पन्ने खंडित हैं। काव्य का नाम 'सर्वैयाबावनी' है परन्तु उसमें कवित्त भी विद्यमान हैं। पद्यों की रचना बरगंमाला के अक्षर-क्रमानुसार की गई है। वर्ण्य-विषयों में तो विशेष नवीनता नहीं दिखाई देती परन्तु कवि की बरगंमाली अपनी है। भाषा मधुर, सानुप्रास तथा प्रवाहपूर्ण है और उसमें राजस्थानी के शब्द कहीं-कहीं ही दिखाई देते हैं। साधारणतः जैन मुनियों की रचनाओं में इतनी सरसता और मधुरता दिखाई नहीं देती जितनी इस बावनी में लक्षित होती है। अधिक क्या कहें, रचना हिन्दी नीतिकाव्य का एक रत्न है। एक पद्य द्रष्टव्य है—

फल फूल सुरूष सुगंध भले, तरु देषत ही जन नैन ठरें हैं।

एकन के फल फूल न होत तऊ नित सीतल छांह करें हैं।

जिनके फल फूल र छांह नहीं अरु पंथिन को धम नाहिं हरें हैं।

'कविचंद' कहै विषयना नर कूँ अरु ता तरु कुं रचि काहिं करें हैं।^२

२०. अक्षर अनन्य

अक्षर अनन्य का जन्म दतिया राज्य की सेंहुड़ा तहसील के रुहेरे ग्राम में, कायस्थ-कुल में, सम्भवतः १७१० वि० में हुआ था। वे योग और वेदान्त के विद्वान् थे तथा सेंहुड़ा-नरेश प्रथीचंद के मंत्री और गुरु। पं० रामचंद्र शुक्ल ने इनके पन्ना-नरपाल छत्रसाल के पास जाने तथा उनसे रूठकर जंगल में चले जाने की जो घटना लिखी है वह ठीक नहीं।^३ तथ्य यह है कि छत्रसाल ने इन्हें निमंत्रण तो भेजा था परन्तु वे वहाँ नहीं गये। हाँ, राजा प्रथीचंद से ही रूठकर जंगल में चले गये थे।

१. प्रति संख्या ८०८०

२. सर्वैया बावनी, पद्य ४४

३. रामचंद्र शुक्ल, हि० सा० ३०, २००६ वि०, पृष्ठ ६१

इन्होंने योग और वेदान्त पर कई ग्रंथ लिखे थे और दुर्गासप्तशती का हिन्दी पद्यों में अनुवाद किया था ।^१

इनके 'निर्धार शतक' में केवल १०८ दोहे हैं और प्रत्येक दोहे का चतुर्थ चरण 'कहि अनन्य निर्धार' है । पुस्तक में जहाँ धर्म, अध्यात्म, वेदान्त तथा ज्ञान की बातें हैं, वहाँ नीति की भी न्यूनता नहीं । साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व न रखती हुई भी रचना उपेक्ष्य नहीं है । दो दोहे देखिए—

नारी तज बन तप करे, तप तज करे जु नार ।

ए दोनों नरकाहि परे, कहि 'अनन्य' निर्धार ॥

नारी बिन गेही दुखी, ब्रह्म बिना परिवार ।

ग्यान बिना तपसी दुखी, कहि अनन्य निर्धार ॥^२

११. देवीदास

करोली के राजकवि देवीदास के सम्बन्ध में शिर्वांसह सेगर ने लिखा है कि ये बुंदेलखंड के निवासी थे और सं० १७१२ में उत्पन्न हुए थे । अनेक सुकाव्यों की रचना करने के बाद ये सं० १७४२ में करोली-नरेश रतनपालसिंह की सभा में चले गये और जीवनपर्यन्त वहीं रहे ।^३ इनकी तीन रचनाएं उपलब्ध हुई हैं—प्रेमरत्नाकर, दामोदर-लीला और राम-नीति ।^४ जयपुर के स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण जी के 'विद्याभूषण पुस्तकालय' में हमें 'प्रेमरत्नाकर' की हस्तलिखित प्रति^५ के अध्ययन का अवसर मिला । उक्त प्रति पुरोहित जी ने सं० १९८४ वि० में फुलस्केप आकार के २० पृष्ठों पर लिपिबद्ध कराई थी । काव्य की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि कवि ने इस काव्य की रचना महाराज कुंवर रतनपाल की प्रेरणा से की थी ।^६

'प्रेमरत्नाकर' केवल प्रेम-विषयक नीति का प्रतिपादन करने के लिए रचा गया है । कवि के अनुसार प्रेम मन की उस दशा का नाम है जिसमें प्राणी आत्मा तथा देह के सब नियम विस्मृत कर प्रियतम में मग्न हो जाता है । लक्ष्य करने की बात तो यह है कि कवि ने पारमार्थिक प्रेम के समान ही सांसारिक प्रेम को भी मोक्षप्रद कहा है—

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२, अंक १, वंशाख-आषाढ़, सं० २००४, पृष्ठ ३७-४१

२. ना० प्र० प०, वंशाख-आषाढ़ २००४, पृष्ठ ३८, ३९

३. शिर्वांसह सरोज, प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३६६

४. मोतीलाल नेहारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृष्ठ १६६

५. प्रेमरत्नाकर, प्रति संख्या १३५२ (१)

६. 'इति श्रीमन्महाराज कुंवर जुहुबंसावतंस श्री भया रतनपाल जूं बिरंजते प्रेमरत्नाकरे पंचमतारंगः ॥५॥ इति प्रेमरत्नाकर सम्पूर्ण । (वही, पुष्पिका)

संसारी परमार्थी द्विविधि को यह प्रेम ।

दुहं भौति कौं देतु है, महामुक्ति को छेम ॥^१

इस प्रकार स्पष्ट है कि सांसारिक प्रेम के विषय में इनका मत संतों तथा भक्तों के तो विरुद्ध है परन्तु सूफी कवियों से मिलता-जुलता है । गणपति तथा सरस्वती की प्रणति के पश्चात् कवि ने दूहा, कवित्त, सवैया, अरिल्ल आदि छन्दों में 'साधु का प्रेम परमेश्वर सों', 'सती का प्रेम पति सों' आदि शीर्षक देकर अनेक प्रेमियों की मनोदशा का सुन्दर चित्रण किया है । जहाँ कवि ने परम्परा के अनुसार चातक, चकोर, मीन, अमर आदि की मेघ, चंद्र, जल, गंध आदि के प्रति अनन्य अनुरक्ति की अभिव्यक्ति की है वहाँ कुछ ऐसे प्रेमियों का भी वर्णन किया है जिनकी चर्चा साहित्य में कदाचित्-कवचित् ही दिखाई देती है, जैसे 'मरकट को प्रेम मूठी सों,' 'मकरी को प्रेम बचा सों,' 'समुद्र को प्रेम बडवाग्नि सों,' 'सुगंध को प्रेम पवन सों' आदि । एक अन्य विशेषता यह है कि रीतिकालीन प्रेमविषयक रचना होने पर भी प्रेमरत्नाकर वासना के कदम से सवथा अस्पष्ट रहता हुआ निर्मल प्रेम के लिए स 'स्व के उत्सर्ग' की शिक्षा देता है ।

कवि का भाषा तथा अलंकारों पर अच्छा अधिकार है । अनुप्रासमयी और मधुर भाषा लिखने में कवि विशेष निपुण है । लक्षण तो प्रायः दोहों में उपन्यस्त हैं और उदाहरण बड़े छन्दों में । यद्यपि विषय प्रेम है तथापि व्यंजना-वृत्ति तथा कल्पना की कमी और वर्णनात्मकता का अधिकता के कारण रचना आशानुरूप सरस नहीं बन पड़ी । कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

परे सार की धार में, घायल भयो सुमार ।

कटे सोस हूँ सूर फँ मुप तै निकसै 'मार ॥^२

प्रेम समुद्र के मरजो (वा) कवित्त

साधु अरु सती सूर चातक चकोर मीन,

मधुप मराल पेम-पय ही के पीवा हैं ।

मरकट माकरी कुरंग कोर फारे नाग,

प्रेमपंथ अंधियार मँडिबे फौ दीबा हैं ।

'देवीदास' दादुर दसांव गोह सीप सुनूं

बुध-अंगी पारावत प्रेम छाह छीबा हैं ।

कमल सुगंध गाय पुरन पतंग आदि

प्रेम रतनाकर के एते मरजीवा हैं ॥^३

संग्रह-ग्रंथों में इनके नीति-विषयक सुन्दर स्फुट पद्य भी प्राप्त होते हैं और कहीं-कहीं तो वे भक्तिकालीन, शेखावटी के लूणकरण के मंत्री, देवीदास के पद्यों में घुल-मिल गये हैं । एक कवित्त द्रष्टव्य है—

१-३. वही, पृष्ठ २१११, ४१३५ २११४

ए रे गुली गुल पाइ चातुरी निपुण पाइ,
 कीजिये न मेलो मन काहूँ जो कछु करी ।
 बारन बिराने द्वार गये को यही सुभाव
 मान अपमान काहूँ रे करी कि जू करी ॥
 कूर और कवि चले जात हैं सभा के मध्य,
 तो सों तौ हटक 'देवीदास' पलटू करी ।
 दरबाजे गज ठाढ़े कूकरी सभा के मध्य
 कूकरी सो कूकरी औ तू करी सो तू करी ॥^१

१४. केशवदास जैन

ये कवि खरतरगच्छ के मुनि लावण्यरत्न जी के शिष्य थे और इनका दीक्षा-
 नाम कुशल सागर था । इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हैं—१. केशव बावनी २. वीरभान
 उदयभान रास । द्वितीय कृति की रचना सं० १७४५ वि० में नवां नगर में की गई थी,
 इसलिए इनका स्फुरण-काल १८वीं शती है । उक्त दो पुस्तकों में 'केशव बावनी'
 नीतिकाव्य है । इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में देखने का
 अवसर मिला ।^२ प्रति पूर्ण है और पांच पत्रों पर लिपिबद्ध है । ५७ पद्यों की इस कृति
 के अन्त में कवि ने रचना-संवत् १७३६ और निर्माण-स्थान 'पच्याष' गाँव का उल्लेख
 किया है—

बावन अक्षर जोर करी मया गाँउ पच्याष ही मैं भल भावें ।

सत्रर सोत छतीस को आवण शूद पांचुं भृगुवार कहावें ॥^३

पुस्तक में धर्म, दान, परोपकार, मूर्ख के लक्षण आदि अनेक विषयों का वर्णन
 तो है ही, भाग्य की अक्षय रेखा पर बहुत बल दिया गया है । आलंकारिक छटा की
 न्यूनता में भी सुन्दर भावों तथा प्रवाहपूर्ण भाषा के कारण यह कवित्त-सवैया-मयी
 रचना अच्छी बन पड़ी है । रचना का निदर्शन देखिए—

ईह कैं आउत है कौउ मांगण, होय न होय तोउ उस दीजें ।

आस नेरास न कीजीइ बल्लभ, दुल्लभ होई कैं कामहूँ कीजें ।

जीवन में उपगार करो जोउ , योदन गौ तब हाथ घसीजें ।

मानव को भय पाय के 'केशव', यों कबु राम दिलावें सो दीजें ॥^४

१३. गोपाल चानक

कवि परिचय—कवि गोपालदास के पिता का नाम गंगाराम था और पुत्र का

१. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ १२२

२. प्रति संख्या ८०४३

३-४. केशव बावनी, पत्र ५।५७, १।६

माखनलाल । गोपालदास और माखनलाल दोनों ही कवि रतनपुर (विलासपुर, मध्य प्रदेश) के राजा राजसिंह के चाणक थे । राजसिंह का शासनकाल सं० १७५६-७६ तक था अतएव गोपाल और माखन का काव्य-काल अठारहवीं शती विक्रमों का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है । पिता-पुत्र दोनों ने मिलकर भी कुछ 'यों' की रचना की । माखनलाल, पितृभक्ति के कारण, अपनी रचनाओं के अन्त में पिता का नाम ही निर्दिष्ट कर देते थे, इसलिए निर्विवाद रूप से यह कहना कि कौन ग्रंथ पिता का है और कौन पुत्र का, कठिन है । फिर भी, निम्नांकित काव्य गोपालदास-विरचित माने जाते हैं—१. वीरशतक २. कीर्तिशतक ३. पुण्यशतक ४. कर्मशतक ५. विनोदशतक ६. शृंगार शतक ।^१

कृति परिचय—उपयुक्त छह काव्यों में-से विनोदशतक का त्रिषय राधा-कृष्ण का प्रेमविनोद है और शृंगारशतक का नायिका-भेद, इसलिए इनकी चर्चा छोड़ शेष चार नीति-काव्यों का ही परिचय प्रस्तुत करना उचित होगा ।

१. वीर शतक—इस काव्य की पांडुलिपि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, में सुरक्षित है ।^२ काव्य पूर्ण है, परन्तु पद्य-संख्या केवल ३८ है । काव्य का आरम्भ कवि ने 'धनुकवान कर धारी' श्री राम की वन्दना से किया है । इसके बाद उसने आश्रय-दाता 'श्री हैहय-कुलकमलप्रकास भास्कर प्रताप राजा राजसिंह चूड़ामनि' की प्रशंसा की है । कवि ने तीन प्रकार के वीर-धर्मों का उल्लेख किया है—सात्त्विक, राजस और तामस । सात्त्विक वीर-धर्म का पालन करने वाले नरेश स्वर्ग-मुखों को, राजस धर्म के पालक ऐहिक भोगविलासों को और तामस-धर्म पर आचरण करने वाले नारकीय दुःखों को प्राप्त करते हैं । प्रायः वीर रस के चार भेद माने जाते हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर । परन्तु पं० जगन्नाथ ने सत्यवीर, पाण्डित्य-वीर, क्षमावीर और बलवीर को भी वीर रस के भेदों में परिगणित किया है । गोपाल चानक ने क्षमा-वीर तथा बलवीर को छोड़ शेष छह भेदों को स्वीकृत कर उनके उदाहरणों में ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख किया है । काव्य के अन्त में कवि ने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया है । वीर रस-प्रधान इस काव्य की भाषा प्रसाद-पूर्ण और ओजवी है । काव्य में कवित्व, छप्पय, दोहा और चौबोला छन्दों का व्यवहार किया गया है । अनेक पद्यों में 'लख खूब तमासा' वाक्यांश का प्रयोग पाया जाता है । एक उदाहरण लीजिए—

बंद के बजे तैं सूरवीर के सजें ते,

पर फौज के गजें तैं, तेगवाहे बल जूत हैं ।

१. कवि के विस्तृत परिचय के लिए दिसम्बर १९१४ की 'हितकारिणी' में पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय का निबन्ध देखिये ।

२. सभासंग्रह, प्रति-सं० ६६३।४७६

स्वामित सहेत जीत जीत कुण्ठेत लेत,
जोगिन अघावें नाचें भरोँ अवधूत हैं ।
भारे भुजबंडन के पंज-कुल मंडन के
कहत 'गोपाल कवि' कीरति अकूत हैं ।
धन्य राजा पंज धन्य धन्य वह वंस लाज
धन्य धन्य राजा धन्य धन्य राजपूत हैं ।^१

२. कीर्ति शतक— इस काव्य की पांडुलिपि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के सभा-संग्रह में देखने को मिली ।^२ नौ पत्रों की यह प्रति है तो पूर्ण परन्तु पद्य-संख्या केवल ८२ है । आरम्भ में नारायण, ब्रह्मा, शंकर का तथा विष्णु के राम, कृष्ण, नृसिंह आदि अवतारों का कीर्तिगान किया गया है । पुस्तक के पूर्वार्द्ध में कीर्तिमान् के जीवन की सफलता, कीर्ति की प्राप्ति तथा नाश के कारण, कीर्ति की अप्राप्ति के हेतु, कविकोविदों द्वारा वर्णित व्यक्तियों की ही कीर्ति की स्थिरता, धात्रधर्म की दुष्पाल्यता आदिक कीर्ति-सम्बन्धी विषयों पर काव्य-रचना की गई है । उत्तरार्द्ध में कीर्तिमान् राजाओं के लक्षण आदि का वर्णन है । कवि के मतानुसार कीर्ति के अभिलाषी नरेश में जो ३२ गुण होने चाहिए उनमें से कुछ ये हैं—कुलधर्म-पालन, शील, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, गुणग्राहकता, दारस्नेह, सारसंग्रह, अल्पाहार, इन्द्रियग्रय, गुरुभक्ति, दया, परदार-परित्याग, रहस्यगोपन आदि । कवि ने प्रसंगवश अमर कीर्ति के भागी ध्रुव, प्रह्लाद, सगर, भगीरथ, नल, हरिश्चन्द्र, राम, हनुमान आदि अनेक व्यक्तियों की चर्चा की है । काव्य में सर्वथा, कवित्त, दोहा और चौबोला छन्दों का प्रयोग किया गया है । चौबोला छन्दों में तुक या अन्त्यानुप्रास चारों चरणों में न होकर प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों में ही है । अनेक स्थलों पर कवि ने व्याख्यात्मक शैली का व्यवहार किया है, अर्थात् पहले, दोहे में प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख-मात्र कर बाद में उस पर सुन्दर कवित्त या सर्वथा लिखा है । 'पूब तमासा देषा' इस कृति के भी अनेक पद्यों में विद्यमान है । रचना अच्छी है । एक उदाहरण लीजिए—

कौन करे परमारथ को पथ स्वारथ पेट भरो पर सोयो ।
संगत ज्ञानविहीन कियो अति आगम बोज यहै फिरि बोयो ।
सौह कियो न उड़ै तुख-संपति राज मिले न निसादिन रोयो ।
कीरति की करनी न करै कछु मानुष जन्म अकारथ खोयो ॥^३

३. कर्मशतक— ६१ पद्यों के इस 'शतक' की हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, में विद्यमान है ।^४ प्रति पूर्ण है और प्रायः छप्पय चौबोला, कवित्त

१. बीरशतक, पद्य २

२. प्रति संख्या ६६०।४७६

३. कीर्तिशतक, पद्य ३०

४. सभासंग्रह, प्रति-संख्या ६६४।४७६

और दोहा छंदों में लिखित है। प्रारम्भिक पद्यों में कर्मों के महत्त्व का प्रतिपादन अवश्य है परन्तु कवि का मुख्य उद्देश्य पाठकों को काम, क्रोध आदि विकारों से हटाना है। यद्यपि कवि ने अनेकत्र भवितव्यता को कर्म के अधीन कहा है परन्तु कर्मों के महत्त्व पर इतना बल लक्षित नहीं होता जितना कर्मों के अनुसार बने हुए भाग्य की रेखाओं के अमिट होने पर।^१ प्राचीन परंपरा के अनुसार सत्ययुग आदि युगों का भी कर्मों से संबंध बताया गया है। अन्य युगों में तो सत्य प्रबल था, परन्तु वह क्रमशः क्षीण होता गया और इस कलियुग में तो अनृत का ही प्रधान्य हो गया है। सांग रूपकों का प्रयोग इस काव्य की एक उल्लेख्य विशेषता है। कलियुग में पाप राजा है, कामदेव सेनापति हैं, तरुणी-कटाक्ष बाण हैं, लोभ दीवान है, और चिन्ता रानियाँ हैं और निंदा तथा दुर्मति उसकी सखियाँ। आरम्भ में तथ्यनिरूपक शैली का प्रयोग करने के बाद कवि संवादात्मक शैली का आश्रय लेता है। कलियुग, काम, क्रोध आदि क्रमशः अपने महत्त्व का वर्णन करते हैं। कामादि से बचाने के लिए कवि ने जिन पद्यों में उनके स्वरूप का वर्णन किया है उन पर रीतिकाल का श्रृंगारिक प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इस प्रकार आरम्भ में कर्मों का महत्त्व तथा मध्य में पापों की प्रबलता दिखाकर कवि अन्त में सुकृतों की विजय का उल्लेख कर स्व रचना को समाप्त करता है। इस काव्य पर कृष्णमिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय नाटक के भावों तथा शैली का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। रचना सुन्दर है परन्तु व्यावहारिक की अपेक्षा उपदेशात्मक अधिक है। एक उदाहरण लीजिए—

मीन मृग हारे, दीन खंजन विचारे, देखि,
नैन कजरारें भारे भामिनि मतवारे हैं।
सुन्दर उरोज बिध सोने के सरोज मानो,
मोरचा मनोज महा मोह के मुहारे हैं।
वेध वेध डारे हाव-भावन के बानन सों,
बालन सो बाँचि कौन तपी तप धारे हैं।
चाहि चन्द आनन कों भूलि-भूलि ज्ञानन कों,
कहा करै ज्ञान दीत रागनि विचारे हैं ॥^२

४. पुण्यशतक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, में सुरक्षित इस 'शतक' की हस्तलिखित प्रति^३ पूर्ण है, परन्तु उसमें कुल पद्य केवल २७ है। प्रति पाँच पद्यों पर लिपिबद्ध है और उसमें त्रिशंगी, छप्पय, चौबाला, कवित्त तथा दोहा छन्दों का व्यवहार किया गया है। यज्ञ, दान, दया, क्षमा, परोपकार, सत्यभाषण आदि कार्यों को शास्त्रीय

१. कर्मशतक, पद्य ६

२. वही, पद्य ४४

३. सभासंग्रह, प्रति-संख्या ६६२।४७६

परिभाषा में पुण्य कहा जाता है। 'शतक' के आरम्भ में कवि ने पुण्याचरण के सुफल तथा पुण्यात्माओं के महत्त्व का वर्णन किया है। इसके बाद उस काल में दृश्यमान पापों के प्रचार तथा पुण्यों की क्षीणता पर खेद प्रकाशित किया गया है। प्राचीन काल के अनेक पुण्यात्मा नरेशों की महिमा का बखान करने के पश्चात् कवि समसामयिक भूपालों की उच्छृंखलता का वर्णन करता है और अंत में अपने आश्रयदाता के पुण्यमय शासन की स्तुति से ग्रंथ का पर्यवसान कर देता है। जैसा कि नाम से ही संकेत मिलता है, कवि का उद्देश्य पाठकों को, विशेषतः नरेशों को, अनीति के मार्ग से हटाकर पुण्य-पथ पर प्रवर्तित करना है। यही कारण है कि वह वेदानुकूल आचरण तथा नवधा भक्ति करने का उपदेश देना भी नहीं भूला है। भाषा स्वच्छ, सरल, मधुर प्रवाहपूर्ण है। एकाध स्थल पर तो वह रसखान की भाषा से प्रभावित दिखाई देती है।^१ "पूब तमासा लष्ये" और 'लष्ये खूब तमासा' वाक्यांशों का प्रयोग अनेकत्र दृष्टिगत होता है। कर्मशतक के समान इसमें भी विभिन्न गुणों का परस्पर संवाद पाया जाता है। रचना तो अच्छी है परन्तु इसमें नीति की अपेक्षा उपदेशात्मकता अधिक है।

पुन्य प्रबल जिहि होत दाहिनैं, ताहि हनत कैं कोई ।

तीन लोक पर अमल चलावैं, जो चाहै सो होई ।

दिन-दिन बढ़े घटे नहि कबहूँ, जो दिल में कोई रष्ये ।

पूबी करै षलक में अच्छा, खूब तमासा लष्ये ॥^२

समीक्षा—यद्यपि गोपाल चानक ने नीति के चार शतकों की रचना की है तथापि उन्हें जनता का नीति-कवि कहने का साहस नहीं होता। वे राजाश्रित कवि थे और इसीलिए कर्मशतक से सिवा सभी कृतियों के अध्ययन से ऐसा लगता है जैसे वे मुख्य रूप से राजाओं के लिए लिख रहे हैं, जनसाधारण के लिए नहीं। वीरता, कीर्ति तथा बड़े-बड़े पुण्य कार्यों का सम्बन्ध जितना शासक-वर्ग से होता है, उतना जन-सामान्य से नहीं। ऐसा होते हुए भी उनके काव्य वीर, कीर्तिमान् तथा पुण्यशील बनने की पवित्र प्रेरणा पाठक मात्र को प्रदान करते ही हैं। उनका कर्मशतक सर्वसाधारण के लिए अधिक उपयोगी लगता है परन्तु उसमें कर्मठता की वह प्रेरणा नहीं जो मानव में अपने को अपना भाग्यविधाता मानने का विश्वास जगाए। इस प्रकार गोपाल ने मुख्यतः चार विषयों पर रचना की—वीरता, कीर्ति, पुण्य और कर्म (भाग्य)। ये सभी विषय निस्संदेह नवीन नहीं हैं तथापि त्रिविध वीर धर्म, कीर्तिमान नृप के ३२ गुण आदि अनेक नवीन बातों का भी उल्लेख कवि ने किया है।

इनकी कृतियों में वीर तथा शान्त रस और दया, उदारता, क्षमा, धैर्य आदि भावों की व्यंजन सम्पत् हुई है। इन्होंने चारों काव्यों में स्वच्छ तथा मधुर व्रजभाषा

का प्रयोग किया है जिसमें फौज, तमासा, तेग आदि विदेशी शब्द अपने प्रचलित रूप में ही प्रयुक्त किये गए हैं। 'खूब तमासा' शब्दों का प्रयोग अनेकत्र दिखाई देता है।

विधान की दृष्टि से ये चारों काव्य मुक्तक हैं किन्तु जहाँ विभिन्न गुणों का परस्पर संवाद दिखाई देता है वहाँ निबन्ध की कुछ भलक दिखाई दे जाती है। सर्वाधिक खटकने वाली बात तो है इनकी शतक-संज्ञा। एक भी काव्य ऐसा नहीं है जिसमें पद्य-संख्या शत या कुछ अधिक हो। चार शतकों की कुल पद्य-संख्या २०८ है जिनमें से अधिकतम संख्या ८२ है और न्यूनतम २७। अनुमान है कि उन दिनों 'शतक' शब्द का प्रयोग, संग्रह-मात्र के अर्थ में भी कहीं-कहीं प्रचलित हो गया होगा और तदनुसार गोपाल चानक ने भी उक्त संग्रहों को 'शतक' संज्ञा दे दी होगी। इन काव्यों में मुख्य रूप से तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, संवादात्मक, ऐतिहासिक तथा व्याख्यात्मक शैलियों का प्रयोग ही अधिक हुआ है।

अलंकार-प्रयोग पर कवि का ध्यान नहीं है, फिर भी जो अलंकार स्वभावतः प्रयुक्त हुए हैं उनमें वृत्त्यनुप्रास, वीप्सा, उपमा और रूपक उल्लेख्य हैं। गुणों में प्रसाद तो सर्वत्र विद्यमान है और ओज तथा माधुर्य दोनों यथा-स्थान प्रयुक्त हुए हैं।

अन्त में कह सकते हैं कि गोपाल चानक ने उक्त चार सुन्दर 'शतको' द्वारा हिन्दी के नीति-काव्य की श्री-वृद्धि में स्तुत्य योग दिया है।

१४. रघुराम

रघुराम नागर कवि के 'सभासार नाटक' की हस्तलिखित प्रति^१ हमने दीकानेर में देखी। नाटक के आरम्भ में कवि ने जो आत्म-परिचय दिया है उससे विदित होता है कि वे गुजरात-प्रान्त के अहमदाबाद नगर के सारंगपुर मुहल्ले में निवास करते थे और उन्होंने सम्वत् १७५७ वि० में इस नाटक की, जिसे आधुनिक दृष्टि से काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा, रचना की—

सतरे सँ सत्तावन, चंद्र तीज गुरुवार।

पक्षि ऊजल ऊजल सुमति, कवि किय ग्रंथ विचार।^२

कवि ने नाटक के अंत में एक छप्पय द्वारा इसके श्रवण से होने वाले लाभों का जो उल्लेख किया है उससे रचना के तीन उद्देश्य सम्यक् स्पष्ट हो जाते हैं—हृदय के फाटक खुलना, बुद्धि-बल का विकास तथा पूर्ण ज्ञान का मन में संचार।

उक्त नाटक अखंडित रूप से विद्यमान है तथा १४ पत्रों पर लिपिबद्ध है। कुल पत्र ३२६ हैं जो कि मालिनी, छप्पय, चौपाई, दोहा, सोरठा और सवैया (कवित्त)

१. मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बंडल-सं० ७, प्रति-संख्या स १६८ (इनकी एक अन्य पुस्तक 'माधव विलास शतक' का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट, भाग १ (सं० १६८०) में किया गया है।)

२. वही, पत्र १, पद्य १३॥

छन्दों में निबद्ध हैं। उक्त प्रति के प्रतिलिपिकार रायसिंघ थे जिन्होंने संवत् १८४६ में लिखि गांव में नाटक को लिपिबद्ध किया।^१ हस्तलिखित प्रति में शब्दों के रूप इतने विकृत हैं तथा अक्षर-मात्राओं की संख्या इतनी न्यूनाधिक है कि उनसे रायसिंघ अत्यन्त सामान्य लिपिकार प्रतीत होते हैं; अस्तु।

नाटक के आदि में गरुड, शिव, विष्णु तथा सरस्वती की वन्दना की गई है। तत्पश्चात् कवि आत्म-परिचय प्रस्तुत कर सभा को प्रणाम करता है और शिष्य-गुरु के प्रश्नोत्तर रूप में नाटक की रचना करता है। शिष्य सारभूत वस्तु तथा उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। गुरु नरदेह को सार कहकर सत्संग को ही उसकी प्राप्ति का साधन बताता है। परन्तु, संसार में सत्पुरुष न्यून हैं और असत्पुरुष अधिक, इसलिए 'शिष्य वाक्य' से उनके लक्षणों के सम्बन्ध में शिष्य प्रश्न करता है और 'गुरु वाक्य' से गुरु उत्तर देता है। कपटी, गाफिल, सभा-चातुर, सभा-बिगाड़ आदि जिस व्यक्ति के भी लक्षण शिष्य पूछता है गुरु पहले प्रायः एक दोहे में उसका लक्षण बताता है और उसके तुरन्त ही बाद कवित्त आदि में उसका उदाहरण प्रस्तुत कर देता है। लक्षणात्मक छन्दों में कोई सरसता नहीं है परन्तु उदाहरण-रूप में प्रस्तुत पद्य सुन्दर हैं। इस प्रकार रीतिकाल में जो शैली प्रायः रीति-काव्यों के निर्माण में व्यवहृत की गई थी, उसी का प्रयोग इस नीति-काव्य में भी दिखाई देता है।

इस काव्य की एक उल्लेख्य विशेषता यह है कि इसमें आध्यात्मिकता की मात्रा अत्यल्प है। प्रथम ३०० पद्य नीति-विषयक हैं और अन्तिम केवल २६ पद्य अध्यात्म-विषयक। विविध व्यक्तियों के वर्णन के विचार से यह काव्य गुपाल कवि के 'दम्पति वाक्य विलास' से कुछ-कुछ साम्य रखता है। परन्तु, उसमें संवाद पति-पत्नी में होता है, इसमें गुरु-शिष्य में। उसमें प्रत्येक व्यवसाय के गुण पति बताता है तथा दोष पत्नी और इसमें गुरु ही शिष्य की जिज्ञासा शान्त करने के लिए अधिकतर दोषी व्यक्ति का स्वरूप चित्रित करता है जिससे लोग उन दोषों के परिहारार्थ सचेष्ट रहें। निम्नांकित कुछ विषयों से रघुराम की विषय-व्यापकता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है— गमखाय, उग्र दातार, लबार दातार, विवेकी दातार, कलि के दातार, शहरी मित्र, लड़ाक, शून्य-मस्तक, शून्यहृदय, कोतवाल, चुगल, लुंड, भूत, गुप्त दुष्ट, प्रगट दुष्ट, महादुष्ट, जाके पेट में बात न रहे, बड़े घर का ठीकरा, रोवती सूरत, घर में नारी प्रधान, गुण्डा, चिकनिया, कैंक्री (शराबी), खुशमस्करा, रांडिपुत्ता, साहिजादा आदि। उक्त सूची से स्पष्ट है कि रघुराम ने निज पर्यवेक्षण से ऐसे अनेक व्यक्तियों को नीति-काव्य के विषय-रूप में ग्रहण किया है जिनकी चर्चा प्राचीन संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों में प्राप्त नहीं होती।

१. इति श्री कवि रघुराम विरचित सभासार नाटिक संपूर्णम्। संवत् १८४६, चैत्र शुद्ध २ बुधौ, लिषतं रायसिंघ लिखिम् ॥

रघुराम की अधिकतर रचना सरस तथा भावपूर्ण है। चूँकि अधिकतर दुष्ट लोगों को परिहास का विषय बनाया गया है और उसी के द्वारा नीति की शिक्षाएँ व्यंजित की गई हैं, इसलिए हास्य रस की प्रधानता है। शान्त, वीर आदि रस भी छिटपुट रूप से झलक दिखा जाते हैं।

गुजराती होते हुए भी इन्होंने अपनी रचना सरल, सुबोध, प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा में की है, यद्यपि उस पर कहीं-कहीं स्थानीय प्रभाव भी लक्षित होता है। मुहावरों तथा विदेशी शब्दों आदि का प्रयोग बहुत कम दिखाई देता है। भाषा को अलंकृत करने के लिए अनुप्रास तथा वीरसा का और अर्थ को चमत्कृत करने के लिए उपमा तथा उत्प्रेक्षा का अधिक प्रश्रय लिया गया है। भाव-सौन्दर्य इतना अधिक है कि असंकारों के अधिक प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ी।

गुणों में से प्रसाद और माधुर्य का आधिक्य है। छन्द सम्बन्धी दोषों के लिए कवि इतना उत्तरदायी नहीं प्रतीत होता जितना लिपिकार।

सार यह कि 'सभासार' निस्सन्देह नीतिकाव्य की सुन्दर रचना है और उसके सौन्दर्य का प्रधान कारण है—हास्य रस में नीति की शिक्षाओं की व्यंजना। अब रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

शहरी मित्र के लक्षण

आसन बहोत बनाय कै, घात परायें वित्त।

मिलतें मन मिलिबल नहीं, वे कहि सहिरी भित्त ॥^१

उदाहरण

आप जिहाँ जाय तिहाँ आसन अपार करं,

मिलें कहूँ राह में तौ दीठ न मिलावेंगें।

जइयें घर ताकैं मांनु सोक पर्यो वाकैं,

कहो आए इहाँ काके कछू सौदा लें सिधावेंगें।

मेरे पिरा एक बडौ काज है बाजार मांभ,

चालीयें अपुन जाय फिर घर आवेंगें।

कर मनुहार ताहि उलटो संकोच पारि

प्यावत न बार ए दरस कब पावेंगें ॥^२

१५. किसन

किसन विक्रम की अठारहवीं शती के जैन कवि थे। इनकी 'किसन बावनी' नाम की हस्तलिखित कृति हमें बीकानेर के श्री मोतीचंद खज्जांची के संग्रह में देखने

१. सभासार नाटिक, पत्र ५। २०

२. वही, पत्र ५। २१

का अवसर प्राप्त हुआ।^१ कवि ने ग्रंथ का समाप्ति-काल सं० १७६३ की विजयदशमी लिखा है—

‘संमत सतरें स तसठें बिजेंदसमी की,

ग्रंथ की समाप्त भई है मनभावनी।’^२

इस प्रति की लिपिकार रत्नकंवरि नाम की जैन महिला थीं जिन्होंने इसे बालूचर में सं० १६५० में अपने गुरु किसनलाल के अध्ययन के लिए लिपिबद्ध किया।^३ किसन-बावनी की प्रति पूर्ण है और १७ पत्रों पर लिपिबद्ध है। इसमें केवल ६२ कवित्त हैं। रचना के अवलोकन से विदित होता है कि किसन भारतीय साहित्यिक परम्पराओं से ही सुपरिचित न थे, कुशल कवि भी थे। इन्होंने जैन-प्रिय विषयों का सुबोध, अलंकृत और मधुर भाषा में वर्णन किया है। विदेशी शब्दों और मुहावरों का भी इनकी रचना में अभाव नहीं है। रचना भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से अच्छी है। जैसे—

नागनि-सी बेनि फारी, जागुरा-सी पाटी पारी,

मांग ज समारी चोर गली टोय टरना।

तन-सर जा भों जल जोवन सु चष-भष

पिव कंबु भुज जु मृनाल मन हरना।

नासा सुफ, बंत दाहं, नाभि कूप, कटि सिंह

किसन सुकवि जंय रंभ-वंभ चरना

अहो मेरे मन मृग धोल देखि ग्यान-हृग

इहे वन छोरि काहू और ठौर चरना ॥^४

१६. भूधरदास

इनके सम्बन्ध में अभी तक इतना ही विदित हुआ है कि ये आगरा निवासी खंडेलवाल जैन थे और इन्होंने विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीन काव्यों की रचना की—१. पार्व्वाराण २. जैनशतक ३. पदसंग्रह। नीतिकाव्य की दृष्टि से इनका ‘जैन शतक’ ही उल्लेख्य है।

जैन शतक^५—यद्यपि ‘जैन शतक’ में १०७ पद्य होने का उल्लेख भी किया

१. प्रति सख्या, क २६१

२. किसन बावनी, पद्य ६२

३. ‘इति श्री किसन बावनी समाप्तं संमत् १६५० वर्षे मीती फाल्गुण बदि ६ दीने संपूर्ण (लिखतं बेलि रत्न कंवरि बालूचर मध्ये गुरु जी किसन लाल जि बांवनार्य बार रविवार (बही, पुष्पिका)

४. बही, पत्र ७।२७

५. भूधरदास : जैन शत, प्र० वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली, सं० २००७

गया है^१ तथापि दिल्ली से प्रकाशित संस्करण में पूरे एक शी पद्य हैं जो 'शतक' नाम को सार्थक करते हैं। इस काव्य के प्रथम सोलह तथा अंतिम बीस पद्यों में जैनो के तीर्थंकरों की स्तुति-वन्दना तथा जैनधर्म की श्रेष्ठता का वर्णन है। मध्यवर्ती ६४ पद्यों में जैन-नीति के ऐसे सरस-सुन्दर पद्य हैं जिनके अधिकांश को प्रत्येक धर्म का अनुयायी निस्संकोच ग्रहण कर सकता है। काव्य में छहों प्रकार की नीति का उल्लेख किया गया है। व्यक्तिगत नीति में शरीर की नश्वरता तथा मलिनता, देह की दुर्लभता, वार्द्धक्य में शरीर की निःशक्तता, मधुर भाषण, स्वाध्याय की प्रशंसा, धैर्य, विवेक, संयम आदि की श्लाघा तथा आत्मा, तृष्णा, काम, क्रोध आदि की निन्दा का वर्णन है। पारिवारिक सम्बन्धों को झूठा और स्वार्थपूर्ण बताया गया है तथा परदाराभिगमन का प्रबल निषेध किया गया है। सामाजिक नीति में गुरु-सेवा, सज्जन-दुर्जन, कुकवि, वेश्यागमन-निषेध, मित्रादिकों की स्वार्थपरायणता प्रभृति इने-गिने विषयों की ही चर्चा दिखाई देती है। आर्थिक नीति में अर्थ के महत्त्व का वर्णन नहीं है परन्तु जूआ और चोरी का निषेध तथा दान की प्रेरणा खूब की गई है। प्राणि-नीति में आखेट, पशु-बलि, मांस, मद्य आदि के सेवन का घोर विरोध किया गया है। मिश्रित नीति के अंतर्गत वैराग्य, समय का मूल्य, भवितव्य की अनिवार्यता, मृत्यु की अपरिहार्यता आदि के सुन्दर उपदेश हैं। इस प्रकार यद्यपि विषयों का अधिक विस्तार नहीं है तथापि मानव-व्यवहार से सम्बन्धित मुख्य-मुख्य सभी विषयों की ओर संकेत कर दिया गया है।

वर्ण्य-विषयों की दृष्टि से काव्य में कोई विशेषता नहीं है। जैन और जैनेतर संस्कृत-कवि इन विषयों पर पर्याप्त लिख चुके थे। भूधरदास निस्सन्देह उनसे प्रभावित हुए हैं। जैसे—

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्थं गतन्,
तस्यावस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिनिर्नायते
जीवे वारितरंगचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥^२ (भतृहरि)
तौ धरष आयु ताका लेखा करि देखा सद,
आधी तौ अकारण ही सोयत दिहाय रे ।

१. कामताप्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, (काशी, १९४७ ई०)

पृष्ठ १७४

२. अर्थ-अनुष्यों की आधु शी पद्य है, जिसमें से आधी तो रातों में ही प्यतीत हो जाती है। शेष आधी की भी आधी बचपन और दुढ़ापे में निकल जाती है। शेष समय रोग-विद्योग आदि से अन्य दुःखों में बीत जाता है। इसलिए, जल की लहरों के समान चंचल इस जीवन में प्राणियों को सुख कहाँ? (भतृहरि: दत्तकत्रयम् पृष्ठ १४४।४६)

आधी में अनेक रोग बालवृद्ध दशा भोग,
 और हू संयोग केते ऐसे बीत जायं रे ॥
 बाकी अब कहा रही ताहि तू विचार सही,
 कारज की बात यही नीक मन लाय रे ।
 खातिर में आवे तो खलासी कर इतने में,
 भावें फंसि फंद बीच दीनों समुझाय रे ॥^१ (भूषरदास)

उक्त पद्यों की तुलना से विदित होता है कि कवि ने अपने कवित्त के पूर्वार्द्ध में तो भर्तृहरि का भाव ग्रहण किया है परन्तु उत्तरार्द्ध में वह स्वतन्त्र पथ पर अग्रसर हुआ है । इसके विपरीत कुछ पद्यों में तो अनुवाद ही कर दिया गया है । जैसे, यज्ञिय पशुहिंसा के विरोध में सोमदेव ने लिखा है—

नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया ।
 संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हंतुं न युक्तं तव ॥
 स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो ।
 यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥^२
 भूषरदास ने उक्त पद्य का हिन्दी रूपांतर इस प्रकार किया है—

कहै पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि,
 होमत हुलाशन में कौन सी बड़ाई है ।
 स्वर्ग-सुख में न चहौं, 'देहु मुझे' यों न कहौं,
 घास खाय रहौं मेरे यही मन भाई है ॥
 जो तू यह जानत है वेद यों बखानत है,
 जग्य जलो जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है ।
 डारें क्यों न वीर यामें अपने कुटुंब ही कौं,
 मोहि जनि जारें जगदीश की दुहाई है ॥^३

उपर्युक्त पद्यों की तुलना इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि भूषर द्वारा अनूदित पद्य भी मौलिक रचना की सरसता से उपेत हैं । वस्तुतः वह सरसता

१. भूषरदास : जैन शतक, पृष्ठ १११२७

२. अर्थ— बलि का पशु यज्ञकर्ता से कहता है—“न मैं स्वर्ग सुखों के लिए जानागिब हूँ और न मैंने तुमसे किसी दस्तु की याचना की है । मैं तो सदा तिनके साकार भी संतुष्ट रहता हूँ, इसलिए तुम्हारे द्वारा मेरा वध उचित नहीं है । जिन प्राणियों को तुम यज्ञार्थ मार डालते हो यदि वे स्वर्ग में जाते हैं तो तुम अपने माता, पिता, पुत्रों तथा बन्धुओं को यज्ञ में बलि क्यों नहीं देते ? (सोमदेव : यशस्तिलक, जैनशतक, पृष्ठ १८ पर उद्धृत)

३. भूषरदास : जैनशतक, पृष्ठ १८१४७

और भावपूर्णता ही ऐसे गुरु हैं जिनसे भूषर-शतक का विशेष महत्त्व है। कुछ श्लो-
गिने दोहों को छोड़कर शेष सब पद्य पाठक को भावमग्न या रसलीन करने में समर्थ हैं।

जैनशतक की भाषा साफ-सुथरी और मधुर साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें कहीं-
कहीं यार, सलाह, माफिक, गाफिल, दगा आदि प्रचलित सुबोध विदेशी शब्द भी
दिखाई देते हैं। कुछ पद्यों में समप्य, थप्पे, रुच्चै, मुच्चै आदि प्राकृताभास शब्दों का भी
प्रयोग दिखाई देता है। कुछ एक रुढ़ियों तथा लोकोक्तियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं। जैसे —

अंध असूभन की अखियान में, भौंकत हैं रज राम बुहाई ।^१

‘रागी बिन रागी के विचार में दड़ौई भेद,

जैसे भटा पच काहू काहू को बयारें हैं ।^२

‘खेलत खेल खिलारि गयै,

रहि जाइ रुपी शतरंज की बाजी ॥^३

जैनशतक एक मुक्तक काव्य है जिसमें प्रायः तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, व्याख्या-
त्मक और ऐतिहासिक शैलियाँ व्यवहृत की गई हैं। एक पद्य^४ में ‘सप्तवार’ शैली
का भी प्रयोग किया गया है जिस का प्रयोग गोरखनाथ की वाणी में हम देख ही चुके
हैं। इस काव्य में ३१ तथा ३२ मात्राओं का स्वैया, दुमिल और मतगयंद स्वैया,
छप्पय (सिंहावलोकन), मनहरकवित्त, दोहा और सोरठा छन्दों का व्यवहार किया गया
है। दोहों तथा सोरठों की अपेक्षा कवित्त, स्वैया और छप्पय अधिक सरस हैं। अनुप्रास
तथा रूपाक ही कवि के प्रियतर अलंकार हैं। अन्य अलंकारों का प्रयोग विरल है।
प्रसाद तथा माधुर्य गुराँों से रचना प्रपूर्ण है।

व्यावहारिक नीति की न्यूनता के रहने हुए भी जैनशतक अपने सरस आदर्शा-
त्मक उपदेशों के कारण हिन्दी नीतिकाव्य में विशेष स्थान रखता है। एक उदाहरण
लीजिए—

राग उदै जग अंध भयो, सहजें कय लोगन लाज गंवाई ।

सीख बिना नर सीख रहे, बिलनदिक सेवन की सुघराई ॥

तापर और रचें रसकाव्य, कहा कहिये तिन की निठुराई ।

अंध असूभन की अखियान में भौंकत हैं रज, राम बुहाई ॥^५

घाघ

जीवनी — कन्नौज-निवासी दूवे ब्राह्मण घाघ का जन्म सन् १७५३ कहा जाता
है।^६ इनके पूर्वजों का तो कोई वृत्त प्राप्त नहीं है परन्तु इनकी आठवीं पीढ़ी के लोग
इनके बसाये हुए सराय घाघ या चौधरी सराय नाम के ग्राम में अब तक विद्यमान है।

१-४. भूषरदास, जैनशतक, पृष्ठ : २४।६४, ८।१८, १३।३२, १८।१६

५. वही, पृष्ठ २४।६४

६. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ४६६

यह गाँव कन्नीज रेलवे स्टेशन से पश्चिम की ओर केवल आध मील पर बसा हुआ है कुछ लोग इन्हें फ़नहपुर ज़िले के किसी ग्राम का और कुछ छपरे का निवासी बताते हैं। इन्हें छपरा-निवासी बताने वालों का कथन है कि घाघ की पुत्रवधू कन्नीज की थीं, कविता करती थीं और घाघ की बातों का खंडन भी कर देती थीं। इसीसे भँपकर वे कन्नीज में जा बसे थे। कहते हैं कि ज्योतिष-ज्ञान से इन्हें विदित हो गया था कि इनकी मृत्यु सरोवर में स्नान करने से होगी। इसलिए इन्होंने तालाब में नहाना ही त्याग दिया। परन्तु, एक दिन इन्हें कुछ मित्र वलात् तालाब में खींच ले गये और वहाँ की-ी खंभे में चोटी उलझ जाने से ये डूब गये। उस समय इनके मुख से यह पद्य निकला—

जानत रहा घाघ निर्वुद्धि । आवे काल बिनासे बुद्धि ॥^३

कृति-परिचय—घाघ की लोकोक्तियों से विदित होता है कि इन्हें कृषि, ज्योतिष और नीति का अच्छा ज्ञान था। यद्यपि उनकी अधिकतर रचना खेती-बाड़ी से सम्बन्धित है तथापि नीति-विषयों का एक सौ के लगभग जो लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे उनके गम्भीर अनुभव का भी खामा परिचय मिल जाता है। वे प्राचीन ग्रंथों से अनूदित प्रतीत नहीं होतीं कृष्ट कर्णकंठ-परम्परा से प्राप्त और कुछ कवि के आत्मानुभव पर आधारित प्रतीत होती हैं। उनमें अधिक साहित्यिक सौष्टव की खोज निष्फल है तथापि स्वास्थ्य, कौन भिलागी बन जायेंगे, किस काम में कितने व्यक्ति चाहिए, तीन निष्फल कार्य, चार मूर्ख, किन पाँच का नाश अवश्यभाव है, सर्वगमय गार्हस्थ्य, अभागिन मता, अभागिन नारी, पाँच मूर्ख जातियाँ, पेटू की मौत पर न रोये, बड़ा वही जो काज संवारे, कंसी खाट पर न सोये आदि विषयों पर स्वाभाविक रीति से जो कहावतें रची गई हैं वे उपेक्ष्य नहीं हैं। इनकी भाषा पर पूरबी प्रभाव अनेक स्थानों पर लक्षित होता है। दोहा चौपई, चौपाई आदि छंद प्रयुक्त किये गए हैं परन्तु दो-दो चरणों से भी काम चलाया गया है। अभिव्यक्ति के उत्कर्ष के अभाव के कारण भले ही वे सुपठित लोगों को महत्त्वपूर्ण न लगे, ग्रामीण जनता के कंठ और श्रोत्र का वे शताब्दियों तक शृंगार रही हैं और रहेंगी।

घाघ और लालचंद—लालचंद की 'छिनाल पचीसी' का परिचय हमने अन्यत्र दिया है। उसके एक पद्य से मिलता-जुलता केवल एक पद्य घाघ की लोकोक्तियों में संगृहीत है—

पर मुख देख अपरा मुख गोवं, मारग जाती लटकें जोवं ।

नाभि मंडल जो जिहँसि दिखावं, तौ छिनाल क्या ढोल बजावं ।^२ (लालचंद)

१. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ४६६

२. लालचंद : छिनालपचीसी, पृष्ठ १

परमुख देखि अपन मुख गोबै, चूरी कंकन बेसरि टोबै ।

आँचर टारि के पेट दिखावै, अब छिनारि का ढोल बजावै ॥^१ (घाघ)

उक्त दोनों पद्यों के प्रथम तथा चतुर्थ चरण भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से और तृतीय चरण भाव-मात्र की दृष्टि से समान है। द्वितीय चरण दोनों के भिन्न-भिन्न हैं। इतने अधिक साम्य के होते हुए इन्हें पृथक्-पृथक् कवियों की कृतियाँ मानना कठिन है। दोनों कवियों के काल भी अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। अनुमान से दोनों ही समसामयिक बताये गए हैं। ऐसी स्थिति में हमारा अनुमान यह है कि यह पद्य लालचंद का ही होगा क्योंकि उसी ने निहाली नाम की कुलटा के आचरण से प्रेरित होकर छिनाल पचीसी की रचना की थी। लालचंद निश्चय ही घाघ से उच्च कोटि के कवि थे, इसलिए उनका घाघ के पद्य से प्रेरणा पाकर 'छिनाल पचीसी' की रचना करना भी युक्तिसंगत नहीं लगता। इसलिए ऐसे लगता है कि लालचंद का ही पद्य लोक में विकृत रूप में प्रचलित होकर घाघ की कविता में आ घुसा है।

अस्तु, अब घाघ की कुछ लोकोक्तियाँ देखिये—

आठ कठौती मट्ठा पीवै, सोरह मकुनी खाय ।

उसके मरे न रोइये, घर का दरिदर जाय ॥^२

बांध बांस बिगहा बिया बारी बेटा बेल ।

ब्योहर बढ़ई बन बनुर बात सुनो यह छेल ॥

जो बकार बारह बसैं, सो पूरन गिरहस्त ।

औरन को सुख बें सवा, आप रहै अलमस्त ॥^३

१८. चाचा हित वृन्दावनदास

पुष्कर के गोड़ ब्राह्मण चाचा हित वृन्दावनदास (जन्म सं० १७६५) श्रीकृष्ण के परमभक्त थे और लोकप्रवाद के अनुसार एक लाख पदों तथा छन्दों के रचयिता। नीतिकाव्य की दृष्टि से इनकी 'कलिचरित्र बेली' एक अच्छी रचना है। इसकी समाप्ति सं० १८१२ की माघ कृष्ण नवमी को हुई थी—

बदि नौमीं तिथि माह, ठारह सैं बारह बरष ।

कलि के चरित अथाह, तिन में कृष्ण भजन सफल ॥^४

१. सं० श्रीकृष्ण शुक्ल : घाघ और भड्डरी की कहावतें (प्र० पुस्तक सदन, बनारस, पंचम संस्करण) पृ० १२।२३
२. वही पृष्ठ २०।६४
३. वही पृष्ठ २१।७१
४. हित वृन्दावनदास : कलिचरित्र बेली : (प्र० शिवलाल गोवर्धनदास, वृन्दावन, सं० २००६) पृष्ठ १५।१२५

चाचाजी ने स्वयं ही स्वीकृत किया है कि कलियुग के जिन धर्मों का व्यासजी ने महाभारत और श्रीमद्भागवत में वर्णन किया है, वे प्रकट दिखाई दे रहे हैं।^१ इससे विदित होता है कि वेली-रचना की प्रेरणा उन्हें उक्त ग्रंथों के अध्ययन तथा समकालीन परिस्थितियों के अवलोकन से प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ, वेली के निम्नलिखित पद्यों पर भागवत का प्रभाव सहज ही देखा जा सकता है—

(क) प्रजा हि लुब्धं राजन्यं निघृणं ईस्युधर्मभिः ।

आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् ॥

शाकमूलाभिषर्षीव्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ।

अनावृष्ट्या विनश्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः ॥^२

‘लोभी, निर्दय और डाकू राजा प्रजा की स्त्रियों और सम्पत्ति को अपहृत कर लेंगे, जिससे लोग वनपर्वतों में भाग जाएँगे और कंद-मूलादि से उदरपूर्ति करेंगे। वे वर्षा के न होने से अकाल और राज-करों के भार से नष्ट हो जाएँगे।’

नृप अन्यायी चोर, परजा को पालन तज्यौ ।

लंछि अनीति अफोर, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥

प्रजा कृपन कंगाल, अन्न बिनां दिस दिस फिर ।

पुनि पुनि परत अकाल, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥^३

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भागवत के द्वादश स्कन्ध के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में कलियुग के प्रभाव का निरूपण कर, तृतीय के अन्त में यह कहा गया है कि कलियुग का गुण यह है कि उसमें भगवन्नाम के कीर्तन-मात्र से मोक्ष हो जाता है, उसी प्रकार वेली के पहले १०२ सौरठों में कलि का प्रभाव निरूपित कर अंतिम कुछ सौरठों में उसका उपर्युक्त ही गुण वर्णित किया गया है।

वेली में कुल १३० सौरठे हैं। प्रथम १०२ सौरठों का चतुर्थ चरण ‘कलि प्रताप हरि कृपा बिनु’ है, परवर्ती १३ सौरठों का ‘यह कलिगुन संतन लियो’ और अंतिम १५ सौरठों का भिन्न-भिन्न। वैसे भी सभी प्रकार की नीति का निरूपण इस रचना में दिखाई देता है परन्तु पारिषदिक और सामाजिक नीति पर बल अधिक है। विवाह के पश्चात् सास, ससुर, देवर, जेठ, ननद आदि के विरुद्ध पत्नी का पति के कान भरना, पति का माता-पिता से रुष्ट होकर पृथक् रहना तथा सास-ससुर, साला-साली आदि

१. वही, पृष्ठ १४।१२४

२. श्रीमद्भागवत, (गीताप्रेस. गोरखपुर), १२।२।८-१०

३. कलि अरित्रवेली, पृष्ठ ११।६१-६२

इसी प्रकार वेली के पृष्ठ १०।७६, १३।१०६, ३।४, १४।११६ पर क्रमशः भागवत द्वितीय खंड के पृष्ठ ६०६।१४, ६२०।४२, ६१८।४२, ६१६।४८ का प्रभाव भी लक्षित होता है।

से प्रेम करना, पत्नी का निरंकुश होकर घर-घर भ्रमण, अधिक सन्तान की उत्पत्ति, उन्हें भूखे-नंगे देख दम्पती का दुःखित होना आदि बातों का रोचक चित्रण किया गया है। सामाजिक दशा का वर्णन भी बहुत सच्चा और सुन्दर हुआ है। लोग कपटी की वाणी पर विश्वास करते हैं और सत्यवादी को मारने दौड़ते हैं, ऊपर से मित्रवत् हैं परन्तु हृदय कपट से प्रपूर्ण है, दुष्टों का सम्मान तथा सज्जनों का अपमान होता है, चारों वर्ग कर्तव्यच्युत हो चुके हैं, वर्णसंकरों की बहुलता है और शूद्रवंशीयों की विरलता विप्र आखेट करते हैं और विधवाएँ शृंगार, कपट-तपस्वी बाजारों में समाधि लगाते हैं तो पंच अन्याय-परायण हैं, तनिक से पुण्य का बहुत ढिंढोरा पीटा जाता है इत्यादि संकड़ों अनुभूत बातों का उल्लेख किया गया है।

सीधी-सरल व्रजभाषा में रची हुई यह कृति उच्च कल्पनाओं के कारण न सही, सूक्ष्म पर्यवेक्षण के कारण रोचक बन पड़ी है। कुछ स्रोत देखिए—

जा कन्या के दान, निगम बयानत जग्य फल ।

ताहि हतत अग्यान, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥

डाढी जारौ जेठ, देवर स्याम बदन करौ ।

ससुर कौन बड़ सेठ, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥^१

इन्हीं की 'विवेकपत्रिका बेली' में भक्ति के प्रतिरिक्त नीति के भी कुछ भाव-पूर्ण दोहे दिखाई देते हैं। जैसे—

हंस पर्यौ लखि पीजरा, बगुला मारत चौंचि ।

रह्यौ चुप समय बिचारि कै, मानि भाग की खौंचि ॥

यौ लोभी गेष्टन घरत, नहि चीन्हत गुह इष्ट ।

उसे कामना सप नै, नीबू लगतु ज्यों मिष्ट ॥^२

१६. गिरिधर कविराय

कवि-परिचय—गिरिधर कविराय के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। शिवसिंह मंगर के अनुसार इनका जन्म सं० ७७० है। ये नाम से भाट अनुमित होते हैं। इनकी कुडलिया-रचना के विषय में यह रोचक किंवदन्ती प्रचलित है कि इनके पड़ोसी बड़ई ने एक ऐसा प्लग बनाया जिसके पावों पर लगे हुए पंख मनुष्य के उस पर लेटते ही स्वयमेव चलने लगते थे। राजा ने बड़ई को वैसे अनेक प्लग बनाने का आदेश दिया। बड़ई की गिरिधर से खटपट थी। उसने लकड़ी के लिए गिरिधर के आंगन वाले बेरी के वृक्ष को मांग लिया। गिरिधर की अनुनय-विनय को जब राजा ने स्वीकृत न किया तब सपत्नीक गिरिधर उस राज्य को

१. कलि चरित्र बेली, स्रोत ६५, ६६

२. विवेकपत्रिका बेली, (शिवलाल गोवर्धनदास, वृन्दावन, २००६ बि०), बोहा १३६, १४४

त्याग इधर-उधर भ्रमण करने लगे। कहते हैं, उसी पर्यटन-काल में दम्पती ने कुंडलिया-निर्माण किया और जिन कुंडलियों में 'साई' शब्द आया है, वे गिरिधर की पत्नी की रचना हैं।

काव्य-परिचय—इनकी रचनाएँ 'कुंडलिया' शीर्षक से प्रकाशित हो चुकी हैं।^१ कुल पद्य-संख्या पौने पाँच-सौ के लगभग है जिन में से माढ़े चार सौ के लगभग तो कुंडलिया हैं और शेष पद्य दोहा, सोरठा, कवित्त तथा छप्पय छन्दों में निबद्ध हैं। रचना तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में नीति की तथा द्वितीय में अध्यात्म की प्रधानता है। अध्यात्ममय तृतीय भाग परिशिष्ट-सा प्रतीत होता है। उसमें केवल १८ पद्य हैं— ८ दोहे, ३ कवित्त और ७ छप्पय, कुंडलि। एक भी नहीं है। हमें दो कारणों से इस भाग के गिरिधर-कृत होने में संदेह है। प्रथम, इसके किसी भी पद्य में गिरिधर की छाप नहीं है। दूसरा, इस भाग के एक कवित्त में 'देवीदास' की छाप है—

देवीदास कहैं जोई होनहार सोई ह्वै है,

मन में विचार रैन दिन अनुसर ले।^२

संभव है किसी लिफाकार ने कुछ अपने और कुछ दूसरों के अध्यात्मविषयक पद्य लेकर इसे 'अथ शिक्षा' के नाम से गिरिधर के पद्यों के अन्त में जोड़ दिया हो और वे उसी रूप में प्रकाशित कर दिये गए हों।

वर्ण्य-विषय—इनके काव्य-विषय सन्तों के नीति-काव्य के समान हैं परन्तु विशेषता यह है कि इनका काव्य में ऐहिकता की मात्रा सन्तों से अधिक है। वैयक्तिक नीति में गिरिधर ने शरीर को मलागार तथा प्रेम के अयोग्य कहा है^३ और रोग की दशा में औषध-सेवन की अपेक्षा गंगाजल के पान को विशेष महत्त्व दिया है—

तज के दवा हथीस की, पान करे गंगदार।

देहपात सों न डरै, पुनि दृढ़ करे विचार ॥^४

पोगत, सुग, अपीम, गाँजा चरस, भंग हुक्का आदि से अपने शरीर तथा बुद्धि के बल को विगाड़ने वालों की 'गिरिधर ने अनेक पद्यों में खूब खबर ली है। एक हुक्कानोश का शब्दाचित्र देखने योग्य है—

हुक्का से दुरमत गई, नियम धर्म गयो छूट।

दाम खर्च लियो तमाकू, गई हिये की फूट ॥

गई हिये की फूट, आग को घर-घर डोले।

जिस घर आग को जाय, सोई कुररातो बोले ॥

कह' गिरिधर कविराय' लगै जब यम की रुक्का।

प्राण जायंगे छूट सहाय होवै नहि हुक्का ॥^५

१. गिरिधर कविराय: कुंडलिया, बेंफटेडवर स्टीम प्रेस, बम्बई २००६ वि०

२-५. पृष्ठ १५५।१, १२७।३८०, १४।२७७, १३५।४०४

गिरिधर की रचना से स्पष्ट होता है कि वे संस्कृत, फारसी और हिन्दी भाषाओं से तथा वेदान्त, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयों से सुपण्डित थे। ऐसा होते हुए भी उन्होंने भाषा (हिन्दी), संस्कृत, अरबी, फारसी और अंग्रेजी भाषाओं में लिखे ग्रंथों की बातों को गपोड़ा कहा है—

गपोड़ा भाषा का कोई, अरु संस्कृत का कोय ।

कोई गपोड़ा पारसी, अंग्रेजी पुनि होय ॥

अंग्रेजी पुनि होय, गपोड़ा कोई अरबी ।

ब्रह्मज्ञान बिन विद्या सब ज्यों पाक में दरबी ॥

कह गिरिधर कविराय, बेग समझो कोई मोड़ा ।

जा करि आत्म लाभ, भला है तोई गपोड़ा ॥^१

इसका कारण यही समझना चाहिए कि ब्रह्मविद् मनुष्यों के लिए पुस्तकीय ज्ञान का महत्त्व नहीं रह जाता—

अधिक अधानो पुरुष भात कब खावें बासी ?^२

पारिवारिक नीति—पारिवारिक नीति के क्षेत्र में इन्होंने गार्हस्थ्य को भूमेला कहा है क्योंकि दिन-रात घृत, तैल, लवण आदि की चिन्ता से मनुष्य की विपुल बुद्धि भी नष्ट हो जाती है और मनुष्य आत्मचिन्तन को विस्मृत कर बैठता है।^३ बेटा, बेटी, भाई, पिता, श्वशुर आदि सब 'मतलब के यार' हैं। फिर भी इन्होंने विभीषण प्रह्लाद आदि के उदाहरणों द्वारा भ्रातृप्रेम तथा पिता-पुत्र में सामंजस्य स्थिर रखने की प्रेरणा की है।^४ विवाह के पश्चात् पुरुष का पत्नी से मोह, माता-पिता में भगड़ा, पितागृह को छोड़कर ससुराल में जा रहना आदि विषयों पर गिरिधर के पद्य गार्हस्थ्य-जीवन का एक वास्तविक परन्तु निश्चय पक्ष प्रस्तुत करते हैं।^५

सामाजिक नीति—गुरु के प्रति श्रद्धा, वर्णाश्रम तथा स्त्रियों की निन्दा, संगति का भला-बुरा प्रभाव, दुर्जन, अतिथि-मत्कार आदि विषयों के प्रति गिरिधर का दृष्टिकोण सन्तों का-सा ही है परन्तु यथायोग्य व्यवहार और खान-पान के समय जात-पात पूछ लेने की चर्चा उनसे विलक्षण है—

जो तुम को तोला भुके, तू भुक सेर पचीस

मरोर करे इक तस्सु भर, तू कीजे हाथ बईस ॥

कीजे हाथ बईस रीति व्यवहारिक ऐसी ।

जैसा-जैसा देव जगत में पूजा तैसी ॥

१-३. गिरिधर कविराय: कुंडलिया, पृष्ठ ४५।१२२, ६२।१७८, ६०।२६२

४. " " " , पृष्ठ ८८।२५७, ६।३

५. " " " , पृष्ठ ६।४, ७।६

कह गिरिधर कविराय रोते के संग रोते जो ।
हंसते संग हंस मिलो पुरुष हंस के बोले जो ॥^१

आर्थिक नीति—यद्यपि इन्होंने

‘तीनों’ मूल उपाधि की जर जोरू जामीन ।^२

कहकर भूमि और भार्या के समान धन की भी निन्दा ही की है तथापि कुछ पद्यों में गृहस्थ के ऋण की रक्षा के लिए धन को अनिवायं कहा है—

कौड़ी वाले साधु को, कौड़ी मिले न दाम ।

कौड़ी बिना गृहस्थ का, कौड़ी लेय न नाम ॥^३

गृहस्थ के लिए इन्होंने याचता को मृत्यु से भी बुरा कहा है परन्तु फकीर के लिए उसकी अनुज्ञा है । हाँ, फकीर को भी अन-जल की ही याचना करनी चाहिए, अन्य पदार्थों की नहीं ।

मिश्रित नीति—मिश्रित विषयों में गिरिधर ने आत्मा को परमात्मा से अभिन्न समझने तथा आत्मसाक्षात्कार पर बहुत बल दिया है । जीवन की नश्वरता, सुख-दुःख, कर्मफल आदि विषय सन्त-काव्य के तुल्य ही हैं । इस क्षेत्र में ‘मजब’ (मतान्धता) का अत्युग्र खण्डन इनकी अपनी विशेषता है । कारण यह कि मतान्ध व्यक्ति अपने मत के दोष तथा अन्य मत के गुण भी नहीं देख सकता । इसलिए गिरिधर ने ‘मजबी’ को कूकर से भी कुत्तित कहा है और उससे संग से ऐसे ही बचने को कहा है जैसे पागल कुत्ते से । उनके मत में पैगम्बर, पीर, श्रीलिया सब मजहब के कुत्ते हैं । मौला ही एक वास्तविक धर्म है ।^४ केदारनाथ-यात्रा के दुःख, सोटा, साक्षी, सिपाही आदि विषयों पर भी इन्होंने कौतुकपूर्ण पद्य रचे हैं ।

रस और भाव—इनकी रचना में सर्वाधिक खटकने वाली बात है कल्पना, रस और भाव की न्यूनता । इसीलिए इनके अधिकांश छन्दों को काव्य न कहकर पद्य मात्र मानना ही उचित प्रतीत होता है । हाँ, कुछ एक अन्योक्तियाँ अवश्य ऐसी हैं जो हृदय को प्रभावित करती ही हैं ।

भाषा—भाषा के विषय में इनका कोई विशेष सिद्धान्त नहीं लक्षित होता । यद्यपि इनकी रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं तथापि उसमें अरबी, फारसी, संस्कृत, पंजाबी आदि के शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग किया गया है । वैयाकृत और ज्ञानी कवि का ध्यान भावों पर था, भाषा पर नहीं । इसीलिए जहाँ अकलेख, अशोष्य, अदाह्य, सुखेन, वैयाकरण आदि संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग अनेकब दिलाई देता है वहाँ फनाह, बडकार, पिदर, बिरादर, फजीहत, दुरमत आदि फारसी-अरबी शब्दों का और घर दो,

१. गिरिधर कविराय: कुंडलिया, पृष्ठ ११०।३२६, ५८।१६५

२, ३. " " " , पृष्ठ ८१।१३४, ८५।२४५

४. " " " , पृष्ठ ११०-१११, २३६-२३७

कोल आदि पंजाबी शब्दों का। कुछ अध्यात्मिक पद्यों^१ में गिरिधर ने भाषा से ऐसी खिलवाड़ की है जिसे अदृष्टपूर्व ही कहना चाहिए। उनमें जहाँ अनुप्रास की बहुलता है वहाँ अनेक नवीन शब्द भी गढ़ लिये गए हैं। जैसे—

अकल मध्य में अकल हूँ, ना मैं अकल अनकल।

सकल मध्य में सकल हूँ, ना मैं सकल असकल ॥

ना मैं सकल असकल, जिस्म जिस्में अजिस्म।

इस्म मध्य में इस्मइस्म नाहिं अनिस्म ॥

कह गिरिधर कविराय नकल में नकल अनकल।

मेरे सन्मुख भई गुम्म हो जावे अकल ॥^२

फिर भी इनकी भाषा की एक विशेषता है स्पष्टता और इसीके कारण इनकी अनेक कुंडलियां लोगों को कंठस्थ हैं। प्रतिपाद्य विषयों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए इन्होंने लोकप्रचलित रूढ़ियों तथा कहावतों का प्रयोग बहुत अधिक किया है, जैसे—

‘कह गिरिधर कविराय बिलोधी काहे पानी।’

‘अंधरी पीसे पीसना, कूकर धंस-धंस खात।’

‘कह गिरिधर कविराय शुद्ध जिनका मन चंगा।

सो भोगत ब्रह्मानंद कठौती तिन को गंगा।’

‘हाथी मुख सों नीकस्यो, पूछ रही कुछ शेष।’

‘जो गुड देने से मरे, क्यों जहर दीजिये गन।’

‘भागे मुल्ला कहें तलफ, है मसीद तक दीड़ ॥^३

विधान तथा शैली—गिरिधर की समय-वचना मुक्तक रूप में ही है और उसमें तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक तथा आत्माभिव्यंजक शैलियों की प्रचुरता है। संवादात्मक, अन्यापदेशात्मक, ऐतिहासिक तथा व्याख्यात्मक शैलियां भी प्रयुक्त की गई हैं परन्तु कुछ एक ही पद्यों में। मन और माल तथा पेड़ और पौधों के संवाद सुन्दर हैं।^४

छंद—गिरिधर ने अपनी भावाभिव्यंजना के लिए जिन छन्दों को लिया है उनका निर्देश ऊपर कर दिया गया है। यहाँ इतना ही और कहना है कि इनके अनेक पद्यों में मात्राओं की सख्या भी ठीक नहीं है जिससे छन्द की गति में बाधा पड़ती है। कहीं-कहीं कुंडलियां आरम्भ तो एक शब्द से होती है और पर्यवसित उसके विकृत रूप

१. गिरिधर कविराय, कुंडलिया, पद्य ३५१-३५७

२. गिरिधर कविराय, कुंडलिया, पद्य ११८।३५४

३. गिरिधर कविराय, कुंडलिया, पद्य ६३, ११६, २७६, ३६८, ३७१, ३६७

४. गिरिधर कविराय, कुंडलिया, पद्य ३६०-६१, पद्य ८३-८४

से ।^१ एक पद्य में तो आदि और अन्त के दो-दो चरण दोहा के हैं और मध्यम दो चरण रोला के ।^२

अलंकार—गिरिधर का ध्यान न भाषा को अलंकृत करने की ओर था, न भावों को । इसलिए उनकी रचना में धनु गस, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की खोज व्यर्थ है । दृष्टान्तों के प्रयोग कहीं कहीं अवश्य हैं परन्तु वे भी प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि के लिए ही उपन्यस्त हैं, चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं । हाँ कुछ एक पद्यां में अन्योक्ति तथा निरुक्ति अलंकार अवश्य ही ध्यान आकर्षित कर लेते हैं । जैसे—

भंवर भटैया चाहु जनि, कांठ बहुत रस थोर ।

आश न पूजें बासरा, ता सों प्रीति न जोर ॥^३ (अन्योक्ति)

रोड़ रोड़के पाइये, रुपिया जिसका नाम ।

जब जाये फिर रोड़ये, इह सुख जिनको कान ।^४ (निरुक्ति)^१

गुण—गिरिधर की रचना में प्रसाद गुण प्रधान है और इसी कारण उनकी कुंडलियाँ लोकप्रिय बनी हुई हैं । ओज तथा माधुर्य की मात्रा अत्यन्त न्यून है । अनेक पद्य प्रहेलिका-से दिखाई देने हैं और उनमें प्रसाद की भी न्यूनता है ।

दोष—छन्द की गति को अविलल बनाने के लिए इन्होंने कहीं-कहीं शब्द को बहुत भद्दा रूप दे दिया है । जैसे—

तीनों मूल उपाधि की, जर जोरू जामीन ।^५

कहीं पर अनेक शब्द भरती के भी दिखाई देते हैं—

कह गिरिधर कविराय अरे यह सब घट तौलत ।

पाहुन निनिदिन चारि रहत सब ही के दोलत ॥^६

इसमें 'अरे यह सब घट तौलत' शब्दों का पूरे पद्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता पूरी करने को भर दिये गए हैं । कहीं-कहीं पर अश्ल लत्व दोष भी दिखाई देता है ।^७

संस्कृत-नीतिकाव्य का प्रभाव—यद्यपि इन्होंने ब्रह्मज्ञान के बिना सभी भाषाओं के साहित्य को गोड़ा कहा है तथापि व्यावहारिक क्षेत्र में ये भी उनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके । यह प्रभाव दो क्षेत्रों में लक्षित होता है—(१) भाव (२) भाषा ।

(क) भावों का प्रभाव—

दातं भोगो नाशस्ति लो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न वदति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भंगति ॥^८ (भर्तृहरि)

१-५. गिरिधर कविराय, कुंडलिया, पद्य ५०।१३८, १५।२६, १८।३६, ७२।२०७,

८१।२३४

६. गिरिधर कविराय, कुंडलिया, पद्य १४।२५

७. वही, पृष्ठ १०८।३२१

८. शतकत्रयम्, पृष्ठ २०।३४

इस आर्या को गिरिधर ने एक कुंडलिया में यों पल्लवित किया है—

खायो जाय जो खाय रे, दियो जाय सो देह ।

इन दोनों से जो बचै, सो तुम जानौ खेह ॥

सो तुम जानौ, खेह सिके (किसे ?) पुन काम न आवै ।

सर्व शोक को बीज पुनः पुनि तुम्हें लग्नावै ॥

कह गिरिधर कबिराय, चरन त्रै धन के गायी ।

दान भोग बिन नाश होत जो दियो न लायौ ॥^१

संस्कृत के समान फ़ारसी नीतिकारों का प्रभाव भी कहीं-कहीं स्पष्ट दिखाई देता है—

तीनों मूल उपाधि की, जर जोरु जानीन ।^२

(ख) भाषा का प्रभाव

(१) भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम् । (संस्कृत सुभाषित)

‘भा.य सर्वत्र फलत है न च विद्या पौरुष सरल ।’^३ (गिरिधर)

(२) ‘अश्वमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।’ (संस्कृत सुभाषित)

‘अश्वमेव भोक्तव्य है, कृत कर्म शुभाशुभ जोय ।’^३ (गिरिधर)

कहना न होगा कि उक्त भाषापरहरण की अपेक्षा भाषा का अपहरण अधिक खटकता है। कारण, नवीन कवि प्राचीनों से यत्किंचित् भाव संकेत लेकर उन्हें पल्लवित-पुष्पित किया ही करते हैं परन्तु भाव के साथ-साथ भाषा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लेना अधिक आपत्तिजनक माना जाता है। अस्तु, कुशल यही है कि यह अपहरण अधिक व्यापक नहीं है।

अन्त में इतना ही कथन अलं है कि यद्यपि हिन्दी के नीति के मुकुटियों में गिरिधर का नाम नहीं रखा जा सकता तथापि वे अपने सरल-स्पष्ट, व्यङ्ग्य-शिक्षक पद्यों के कारण अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं और रहेंगे।

२०. विनय भक्ति

कवि परिचय—जैन मुनि विनय भक्ति का पहला नाम वास्ता या वस्तपात्र था। ये खरतगच्छ के मुनिवर जिनभद्र सूरि की शाखा में थे और भक्तिभद्र के शिष्य थे। ये सं० १८८० वि० के लगभग विद्यमान थे। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—१. जिन-लाभ सूरि द्वावैत २. अन्वोक्ति बावनी। प्रथम ग्रन्थ में जिनलाभ सूरि का स्वधन है और दूसरे में नीति-विषयक अन्वोक्तियाँ।

१-२. गिरिधर, कुंडलिया पृष्ठ ४४।१२०, ८१।२३४

३. वही, “ ” ३६।१०२

४. गिरिधर कबिराय : कुंडलियाँ, पृष्ठ ४०।१०६

अन्योक्ति बावनी^१—वर्णमाला के अक्षरों के क्रमानुसार रचित इस बावनी में ६२ कवित्त-सवये हैं। आरम्भ में देवता, गुरु, माधु, शागदा आदि की वन्दना के कुछ पद्य हैं और उनके बाद साहित्य में प्रचलित देव, पशु, पक्षी, सागर, नदी, मारवाड़ आदि पदार्थों पर अन्योक्तियाँ हैं। विधाता और रामचन्द्र पर भी अन्योक्ति रचना की गई है। भावों की दृष्टि से कोई नवीनता न होने पर भी शैली और भाषा की सुन्दरता के कारण रचना अच्छी बन पड़ी है। उदाहरण-रूप में वास्तव्य देश और भूमि से सम्बन्धित दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

हंस कैसे होत, ऐसे बूझी काहूँ प्रान जब,
 दिखाउत बको भूले एक रंग रेख में ।
 बूझ देखी मैना तब कावर बतावै सैना
 बना कह्यँ लगँ फँना ऐसे तौ परेख में ॥
 ऐसे जिन देस दारे बसेवार लोग जाके
 काक घर बोकिला को कछु न विशेष में ।
 वंसें देस दसवँ तें भलो बनवास,
 परि कहै 'विनँ' मिलै सोउ जोउ लिख्यो लेख में ॥^२
 पहिले सरीर तेरी चीर लोह-सीरन सँ
 खोदत कुवाल दीप दगे उतपात के ।
 दई हरी तबी वई लई सो उखार चुंटा,
 कीच बीच डारि कीये कैसे रंग गात के ।
 ऐसे करें लोक हाल तो पैं तुं दयाल ह्वँ कँ,
 करत निहाल देत नाज जात-जात के
 कहै 'विनँ' घरा तेरे जे हैं उपगार गुन,
 गिने कैसेँ जात जैसे तारे सब रात के ॥^३

२१. योगिराज ज्ञानसार

जीवन परिचय—ज्ञानसार जी का जन्म बीकानेर के जांगल देश की राजधानी जांगलू से पाँच मील दूर जेगलेवास ग्राम में सं० १८०१ में हुआ। इनके पिता उदयचन्द्र घोसवाल जैन थे और माता जीवन देवी। ज्ञानसार जी का दीक्षाग्रहण से पूर्व का नाम नराण या नाराण (नारायण) था। संवत् १८१२ के दुर्भिक्ष में ये अपने ग्राम को त्याग कर बीकानेर में मुनि जिनलाल सूरि के पास पहुँचे और उन्होंने इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया। ये मुनिजी के साथ ६ वर्ष तक विचरणा करते हुए व्याकरण, काव्य, कोश, छन्द, अलंकार, भागम, प्रकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों का अध्य-

१. अन्योक्ति बावनी की प्रतिलिपि बीकानेर के अभय जैन प्रयालय में है।

२, ३ अन्योक्ति बावनी, पृ० ५८, ४५

यन करते रहे। संवत् १८२१ में पादरू ग्राम में जब इन्होंने दीक्षा-ग्रहण की तब इनका नाम ज्ञानसार रखा गया।

अध्ययन के पश्चात् इन्होंने जैनधर्म का प्रचार आरम्भ किया और देश में दूर-दूर तक यात्राएँ कीं। इनकी विद्वत्ता तथा निस्पृहता से राजस्थान के अनेक शासक प्रभावित थे। कला कौशल में भी ये निपुण थे और बहुत सुन्दर अक्षर लिखा करते थे। कवि नवल राम ने इनके विषय में लिखा है—

कर्म विश्वकर्मा सौ, हुन्नर हजार जाके,

बंदक में जान सब, ज्योतिष यंत्र मंत्र को।

इनकी मातृभाषा तो राजस्थानी थी परन्तु इन्हें गुजराती, ब्रजभाषा, मालेरी और सिंधी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था।

ग्रंथ परिचय—ज्ञानसार जी ने हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती में धर्म, दर्शन, भक्ति, छंद, आलोचना, नीति आदि अनेक विषयों पर साहित्य-रचना की। नीति पर इनके दो ही ग्रंथ हैं—संबोध अष्टोत्तरी तथा प्राम्ताविक अष्टोत्तरी। इनके अनिर्वक्त नं ति विषयक इनकी दो कुण्डलियां भी प्राप्त हैं एक 'जूए' पर और दूसरी 'पक्षी और मुनि' पर।

संबोध अष्टोत्तरी—मुगि जी ने इस काव्य का रचना-काल सं० १८५८ दिया है—

हृदयें उपजी रीझ, अट्टारं अट्ठावनें।

जेठ सुकल तिथि तीज, निरमी खरतर नारणा ॥^१

जिस हस्तलिखित प्रति से श्री अग्ररचंद नाहटा ने इसका सम्पादन 'ज्ञान ग्रंथावली' में किया है, उसे नागपुर-निवासी गोड़ ब्राह्मण काशीनाथ ने रतलाम में सं० १९४१ में लिखित किया था।^२ राजस्थानी भाषा की इस मुक्तक रचना में केवल १०८ सोंठे हैं जिनमें नीच से लाड़, धनगाड़, कांजूम, असार संसार, नद्वर-शरीर, भाग्यहीन जन, पूर्व-कृत पुण्य-पापों के परिणाम, स्वार्थमय स्नेह, खान-पान तथा मकान-संबंधी अनेक उपयोगी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। कुछ सोरठें निस्सन्देह सरस हैं परन्तु अधिकतर सोरठें कल्पना तथा राग-तत्त्व की न्यूनता के कारण सूक्ति-मात्र हैं। यथा—

१. अग्ररचंद नाहटा: ज्ञानसार ग्रंथावली, संबोध अष्टोत्तरी, पृष्ठ १८८। सं० १९१३ में बीकानेर में हमने 'ज्ञानसार ग्रंथावली' के प्रूफ देखे थे, पृष्ठ, पद्यादि की संख्या उन्हीं के अनुसार दी गई है।

२. इति श्री संबोध अष्टोत्तरी कृतिरीयं ज्ञानसारस्य संवत् १९४१ वर्ष मिते अष्टादश सुदि ७ रवि शुभं भवतु। लिपिकृतं ब्राह्मणेशोड़ काशीनाथ नैनमुख। नागपुर निवासी लिखतं नगर रतलाम मध्ये समाप्त क० ॥ (वही, संबोध अष्टोत्तरी, पुष्पिका)

कीड़ा परं कपाल, नासा ईलड नीसरं ।

कंठं फिर कंठमाल, नहीं पाप बिन नारणा ॥^१

सबला तणो सनेह, निबला सूं सोहे नहीं ।

जधिहर लोह जड़े ह, निंदे कुरण नहीं नारणा ॥^२

बसिये जिण रे वास, तिन सूं कदे न तोड़िये ।

अणवणिये आवास, नां रहि सकीजे नारणा ॥^३

प्रास्ताविक अष्टोत्तरी—हिन्दी भाषा में प्रणीत इस मुक्तक-काव्य का प्रणयन-काल मुनि जी ने संवत् १८८० दिया है—

सत्ता प्रवचनमाय दुग र्यो आकास समास ।

संवत आसू मास पुर विक्रम बस चौमास ॥^४

इसमें निःस्पृह नर की निडरता, पूर्वकृत कर्मकलाप की प्रवृत्तता, इच्छा से फल की अप्राप्ति तथा अनिच्छा से प्राप्ति, आयु की निश्चितता, गुण से गुणी की स्थािति का विस्तार, पराधीनता से जमीर की हत्या, विदीर्ण हृदय का मृदु वचन से उपचार, बड़ी बात बड़ों के ही पेट में पचती है, आदि नीति के अनेक विषयों का प्रभावशाली रीति से प्रतिपादन किया गया है । रचना की तीन बातों पर पाठक की दृष्टि अनायास जा पड़ती है—(क) स्थानीय प्रभाव (ख) आत्मानुभूति (ग) संस्कृत-साहित्य का प्रभाव ।

(क) स्थानीय प्रभाव—निम्नलिखित ढंग के दोहे एक राजस्थानी कवि ही लिख सकता है, दूसरा नहीं—

वरषा जल मर देस सब, ऐंचत अपनी ओर ।

जैसे टुटे पतंग की लूँटत सब जन ओर^५

पिंगल की कवितान में, डिंगल को न अमेज ।

तारिन में फवहूँ न हूबं, चंद किरन सौ तेज ॥^६

(ख) आत्मानुभूति—अस्सी वर्ष के वय तक पहुँचे हुए कवि को विशाल तथा गम्भीर सांसारिक अनुभव हो चुका था, इस बात का परिचय उनके अनेक दोहों से सहज ही हो जाता है । उन्हीं अनुभवों को मुनि जी ने नैतिक तथ्यों के समर्थन में बड़े रोचक ढंग से उपन्यस्त किया है । जैसे—

बिन चाहै सब ही मिलै, चाहै फल न मिलै ।

बालक नुख जोरावरी, माता भाता देत ॥^७

मन फाटे कूं मृदु वचन, कही करन उपचार ।

टूक-टूक कर जुड़न कूं, टांका देत सुनार ॥^८

१-३. वही, पृष्ठ १८१। ३६, १८८। १०२, १८६। ८८

४. वही, प्रास्ताविक अष्टोत्तरी, पृष्ठ २०१। १११॥ (सत्ता = १, प्रवचनमाय = ८, दुग = दो बार (८), आकास = ० (१८८० वि०) ।

५-८. वही, पृष्ठ १८६। ५, १६०। १०, १६०। १६, १६३। ४४

(ग) संस्कृत-साहित्य का प्रभाव—अन्य कवियों के समान जहाँ इन के अनेक दोहों में नीति की कई शिक्षाएँ तथा दृष्टान्त संस्कृत साहित्य से लिये गए हैं, वहाँ इन्होंने संस्कृत के अनेक लौकिक न्यायों—अंधगज न्याय, सुंदोपसुंद न्याय, अजाकृपाणी न्याय, आदि—का भी अपनी रचना में सफल प्रयोग किया है। निम्नांकित दोहों से उक्त कथन का समर्थन हो जायगा—

चाहत सोई मिलत तब या सम खुसी न और ।

मेहागम धुनि गरज सुनि ज्यों चित हरषत मोर ॥^१

कोई कछु कोई कछू, कहै आतमा राय ।

जिन मत बिन सब मत कथन अंध गयंदे न्याय ॥^२

कहना न होगा कि मेहागम पर भयूरनतन और विभिन्न व्यक्तियों के ज्ञान की अपूर्णाता का संकेत करने के लिए अन्धगज-न्याय का उल्लेख संस्कृत-साहित्य में नितान्त सुलभ है।

मुनि जी की इस अष्टोत्तरी की भाषा सरल, सुबोध व्रजभाषा है। उसमें कहीं-कहीं रेजगारी, दरजी, नफो (नफह), रकम आदि प्रचलित विदेशी शब्द भी प्रयुक्त किये गए हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी कहीं-कहीं दिखाई देता है और दोहों को अविकल बनाने के लिए एकाध स्थल पर शब्दों को विकृत भी किया गया है। जैसे—

लघु मुख मोटी बात तैं, नफौ न देख्यौ आँख ।

मरणोपकंठे आबहीं ज्यों चींटी के पाँख ॥^३

उक्त दोहे में 'मरणोपकंठे' के स्थान पर 'मरणोपकंठे' रूप दोहे में मात्रा-संख्या को शुद्ध रखने के लिए किया गया है और चींटी के पाँख लगना तथा लघु-मुख मोटी बात मुहावरे भी प्रयुक्त हुए हैं। शब्दालंकारों में वीप्सा का तथा अर्थालंकारों में दृष्टान्त और काव्यालिंग का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। निस्संदेह यह रचना संबोधाष्टोत्तरी की अपेक्षा साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

अन्त में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि उस युग में जब कि अधिकतर नीति-कवि बत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, बहत्तरी और शतक लिखकर ही संतुष्ट हो जाते थे योगिराज ने दो सुन्दर अष्टोत्तरियाँ लिखकर हिन्दी नीतिकाव्य की श्रीवृद्धि में स्तुत्य सहयोग दिया।

२२. नाथूराम (नाथिया)

इस कवि का जीवन-चरित्र अभी तक अधकार में है। बीकानेर में श्री अग्ररचंद नाहटा से इतना ही विदित हुआ कि इनका स्फुरण-काल सम्भवतः विक्रम की उन्नीसवीं

१, २. वही, प्रास्ताविक अष्टोत्तरी, पृष्ठ १६२।३१, १६७।७६

३. " " " , पृष्ठ १६४।५३

शती का पूर्वार्द्ध था। बीकानेर के श्री मोतीचंद खजानची के ग्रंथ-संग्रह में इनके दो नीति-काव्य देखने में आए — (१) सिछ्यासार (२) कुंडलिया।

सिछ्यासार^१—इस काव्य में कुल १५४ सोरठे हैं परन्तु प्रथम सोरठे के पूर्व लाल स्याही से 'दोहो' लिखा है, क्योंकि राजस्थानी में सोरठे को दोहो का भेद ही मानते हैं। सब सोरठों के अन्त में 'नाथिया' और काव्य के अन्त में 'श्री सिछ्यासार ग्रंथमर्थन नाथूराम कृत संपूर्ण' लिखा हुआ है। इनकी 'कुंडलिया' में 'नाथकी' शब्द विद्यमान है। इस से सिद्ध है कि नाथूराम काव्य में अपना नाम नाथिया या नाथ कवि लिखते थे। रचना का रंग-ढँग 'राजिया के सोरठे' के समान है और कुछ एक दोहों में तो आश्चर्यजनक समानता है। फिर भी जब तक नाथूराम के काल का निश्चित ज्ञान न हो यह कहना कठिन है कि कौन किस से प्रभावित है।

काली घणी कुरूप, कसतूरी कांटे तुलं ।

सक्कर बड़ी सुरूप, रोड़ा तूलं 'राजिया' ॥ (कृपागम)

काली निपट कुरूप, कसतूरी मौहगी बिकं ।

साकर निपट सरूप, तुलं न टांका नाथिया ॥ (नाथूराम)

घन के गुण-दोष, गुणों का महत्ता, मूलों की संगति, जूए से हानि आदि अनेक नीति-विषयों पर इनके सोरठे दिखाई देते हैं। कृति ङिगल में है और प्रसादयुक्त है। कुछ पद्यों पर संस्कृत की छाया स्पष्ट लक्षित होनी है। रचना इस प्रकार की है—

कारण गुण नह कोय, औगुण ही भरियो अनंत ।

हिक संपति घर होय, नमें सकल जग नाथिया ॥

घड़ियो सोबन घाट, जड़ियो घट जवाहर सुं ।

विए गुण को हर बाट, नीर न निकसं नाथिया ॥

भृकट लंगर मंजार, सिंघ सुवर सेहल मिली ।

मिलज्यौ भती मुरार, नाई मूरष नाथिया ॥^२

कुंडलिया^३—केवल सात कुंडलियों की इस कृति को राम नारायण ने पोष सुदी २, सं० १६४७ में लिपिबद्ध किया था। रचना व्रजभाषा में है, कहीं-कहीं ङिगल तथा फारसी-रबी के धिरदमन्द, जाहिर आदि शब्द भी प्रयुक्त किये गए हैं। कुंडलियों की भाषा प्रवाह और प्रसाद से पूर्ण है। जैसे—

लरका रबिये हटक में, नाहिं चाड़िये सीस ।

नित प्रति लाड लडाइयें विगरत विसवा बीस ॥

१. यह संपूर्ण काव्य मोतीचंद खजानची संग्रह (बीकानेर) के गुटका सं० क-३ (१६) के २३४-२४२ पत्रों पर लिखित है।

२. वही, पत्र २३५।६, २३५।७, २४२।१४४

३. कुंडलिया, मोतीचंद खजानची संग्रह (बीकानेर) के गुटका सं० क-३ (६) के २०५-२०६ पत्रों पर लिपिबद्ध है।

बिगरत बिसबा बीस, हाथ हुनर नहिं आवै ।
 सोभत सभा न बीष, ऊँच पद कबहुं न पावै ॥
 कहत नाथ कवि बात, होत वह वासी दर का ।
 कोर जतन हूं किये फेर सुधरत नहिं तरका ॥^१

२३. महाकवि गणपति भारती

कवि-परिचय—मधुरामल के पुत्र गणपति माधुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे और जयपुर-नरेश महाराजा सवाई प्रतापसिंह के सभाकवि थे । महाराज ने कुछ समय तक इनका शिष्यत्व स्वीकृत कर इन्हें एक गाँव, पालकी, पदवी तथा 'भारती' उपाधि से पुरस्कृत किया था । संवत् १८३५-६० के मध्य में इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ बनाए जिनमें कुछ मौलिक हैं, कुछ अनुदित और कुछ संकलित—१. भीष्मपर्व भाषा २. योग-वाशिष्ट सार ३. नयपञ्चीसी ४. विरहपञ्चीसी ५. प्रीतिमंजरी ६. अन्योक्ति काव्य ७. शृंगार हजारा ८. वीर हजारा ९. नवरस १०. अलंकार सुधानिधि ।^२

अन्योक्ति वर्णन—श्री मोतीलाल मेनारिया ने जिस ग्रन्थ को अन्योक्ति काव्य कहा है, सम्भवतः वह 'अन्योक्ति वर्णन' से अभिन्न है । 'अन्योक्ति वर्णन' की जो हस्त-लिखित प्रति^३ हमें जयपुर के विद्याभूषण पुस्तकालय में मिली उसे विद्याभूषण पुरोहित हरिनारायण जी बी० ए० की प्रेरणा से पं० गोपीचन्द शर्मा ने सं० १९९५ वि० में लिखा था । फुल स्केप आकार के साढ़े छह पृष्ठों पर लिपिबद्ध प्रति के अन्त में लिपिकार ने यह टिप्पणी दी है—

'इस अन्योक्ति के केवल इकतीस छंद मिले सो लिखे गए । ग्रन्थ अधूरा मिला । अन्त की ओर के पत्र नहीं मिले ।'

इस खंडित प्रति में केवल साढ़े तीस अन्योक्तियाँ हैं जिनमें सूर्य, चन्द्र, सिंह, गज आदि केवल एक दर्जन अप्रस्तुतों के द्वारा राजा तथा उसके सम्बन्ध में आने वाले अन्य व्यक्तियों के व्यवहार की सुन्दर रीति से व्यंजना की गई है । जहाँ कवि ने प्रत्येक पद्य में अपने नाम की छाप लगाई है वहाँ प्रत्येक अन्योक्ति के पश्चात् गद्य में, एकाक्ष पंक्ति में, अन्योक्ति का आशय भी स्पष्ट कर दिया है । कवित्त और सवैया छन्दों का ही प्रयोग दिखाई देता है परन्तु सवैया को भी कवित्त नाम से ही अभिहित किया गया है । रचना अनुप्रासमयी ब्रजभाषा में है जिसमें राजस्थानी के भी कुछ शब्द दिखाई देने हैं । कृति में प्रसाद, ओज तथा माधुर्य तीनों ही गुण विद्यमान हैं । आकार के विचार से रचना का प्राप्तांश छोटा ही है परन्तु गुण-दृष्टि से अच्छा है । यथा—

१. नाथिया: कुंडलिया, पत्र २०५।३

२. मोतीलाल मेनारिया: राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १५४-५५

३. अन्योक्ति वर्णन, विद्याभूषण पुस्तकालय, जयपुर, प्रति-क्रमांक १३६३

। सूर्यान्योक्तिर्यथा ॥

बीपक उजेरे भाँझ नेरें ही रह्यो हो छिपि
जिगनू प्रकास भास नैंक करि हों गयो ।
चन्द के प्रकास भाँझ आस तो रही ही नैंक,
घट बधि होत जानि मानि मृद सों छयो ।
भारती कहत भभरानों सो फिरत वयों व
आगें ही समाँझ देखि बीज विय को वयो ॥
भाजि न सकंगो कित जाय कं दुकंगो दौरि
एरे तम जानि अब भानु कौ उदय भयो ॥^१
॥इहाँ सूर्य करिकें उच्च नरेउं जानियें,
तम करिकें छोटे स्थान वारो जानियें ॥१॥

२४. स्यामदाम

बूंदी के पंडित लज्जाराम मेहता के भानजे पंडित रामजीवन नागर को पूर्वजों के ग्रंथ-संग्रह में से स्यामदास-कृत 'हित-उपदेश'^२ नामक ग्रंथ प्राप्त हुआ था । उसमें २६ पत्र है और प्रति-पृष्ठ सात पंक्ति याँ पुस्तक के आदि में ब्रह्मा, विष्णु तथा लक्ष्मी के सुन्दर रंगदार चित्र हैं । अक्षर अति सूक्ष्म तथा सुन्दर हैं । पत्रों का आकार ३" × २ $\frac{१}{४}$ " है परन्तु लिपिबद्ध भाग का २ $\frac{१}{४}$ " × १" । पुस्तक के दो पत्र लुप्त हैं । एक इक्कीसवाँ तथा दूसरा इति श्री' के बाद का । इसलिए कह नहीं सकते कि ११४ से १२० तक के दोहों में तथा 'इतिश्री' के बाद क्या सामग्री थी । ग्रंथ की समाप्ति के तुरह दोहों^३ में ग्रंथ-रचना का जो इतिहास दिया गया है, उससे धिद्धि होता है कि 'हित' के बादशाह आलम आलमगीर' ने ग्रंथलिखित बातें श्री शकर पन्त जो यामिनो (यादनी-फारसी ?) भाषा में बताई और उनके आश से स्यामदास^४ ने संवत् १८४४ के आघ मास में वसंत पंचमी को साम (सोम ?) वार इस ग्रंथ को गंगातीर-स्थित

१. अन्योक्ति वर्णन, पृष्ठ १११

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका के आदर्श संवत् १९८७ के अंक में (पृ० १६८— १७५) इस पुस्तक को औरंगजेब का हित-उपदेश कहा गया है परन्तु संवत् १८४४ में औरंगजेब शासन नहीं, द्वितीय शाह आलम (आलम, आलमगीर) का शासन था और सम्भवतः उन्हीं के उपदेशों को इस पुस्तक में लिपिबद्ध किया गया है । (श्रीरामशर्मा: मुगल एम्पायर इन इंडिया, खंड ३, बम्बई, १९४१ ई० पृष्ठ ६९६)

३. ना० प्र० पत्रिका (आवृत्ति १९८७ वि०) पृष्ठ १७०/१७१

४. स्यामदास या रीति तें, समुक्ति चलें जो संत । दोहा ८

५. एक आठ औ चार के आगे वेदहि जान । सो संवत् यह जानिए गनिके कर परमान (दोहा ९)॥

बकसर^१ गांव में, जहाँ रामरेख तीर्थ भी है, पूर्ण किया।

यह ग्रंथ साम्प्रदायिक बातों से मर्वथा मुक्त है और राजनीति, लोकाचार तथा धर्म की बातों से युक्त। जिस प्रकार विदुर नीति में संख्याक्रम से नीति उपदिष्ट है, उसी प्रकार इसमें भी दो बातें, तीन बातें आदि शीर्षक देकर उपादेय तथा हेय बातों का उल्लेख किया गया है। स्थाली-पुलाक-न्याय के अनुसार 'दो बात' शीर्षक के दो दोहे उद्धृत किये जाते हैं—

दोय वस्तु तें जगत में अति उत्तम फलु नाहि ।

निश्चय ईश्वर भाव पै दया जीव के ठाहि ॥

द्वै बातन तें अधम नर नाहीं जगत प्रसिद्धि ।

अहंकार भगवान तें जन अपकारी बुद्धि ॥^२

विषय के विचार से रचना उपादेय है परन्तु साहित्यिकता की दृष्टि से इसे काव्य न कहकर तुकबन्दी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

२५. कृपाराम बारहठ

खिड़िया शाखा के चारण कृपाराम का जन्म जगराम के घर में उन्नीसवीं शती विक्रम के पूर्वादि में खराही गाँव (जोधपुर राज्य) में हुआ था। ये सीकर के रावराजा लक्ष्मणसिंह के पास रहते थे, जिन्होंने इन्हें ढाणी गाँव जामीन में दिया था। कहने हैं इन्होंने 'चालक नेसी' नाटक और एक अलंकार-ग्रन्थ रचा था परन्तु ये दोनों अभी तक प्राप्त नहीं हुए। इनके बनाये हुए लगभग १७५ फुटकल सोरठे प्राप्त होते हैं जो 'राजिया के सोरठे'^३ नाम से प्रसिद्ध हैं।

राजिया के सोरठे अखिल भारतीय रावणा राजपूत महासभा, अजमेर, का मत है कि ये दोहे राजाराम चौहान (राजिया) के हैं जिन का जन्म सं० १=२५ के लगभग मारवाड़ के कुचामण ठिकाने के जुसरी गाँव में हुआ था। इसके विपरीत चारणों का मत यह है कि राजिया उक्त कृपाराम का नौकर था। जब १८५२ वि० में कृपाराम अत्यधिक रुग्ण और राजिया की सच्ची सेवा से स्वस्थ हुए तब उन्होंने प्रसन्न होकर राजिया को कहा—तुझे अमर कर दूंगा। कहते हैं, इसी उद्देश्य से कवि ने लगभग ५०० सोरठों की रचना की थी। उनमें से आज पौने दो सौ के लगभग ही उपलब्ध हैं और प्रत्येक सोरठे में राजिया को सम्बोधित किया गया है। श्री मोतीलाल

१. सो गंगा के तट बिसे, बकसर गाँव सुहाय ॥ दोहा १२

२. वही, पृष्ठ १७४. दोहा १, २

३. सं० जगदीश सिंह गहलोत : राजिया के सोरठे, प्र० हिन्दी साहित्य मन्दिर, घंटा-घर. जोधपुर १९२७ ई०

मेनारिया भी इन्हें कृपाराम की रचना मानते हैं।^१ हमारे विचार में ये सोरठे इतने भावपूर्ण तथा सुन्दर हैं कि इन्हें किसी सामान्य लेखक की कृति मानने में संकोच होता है, इसलिए इन्हें कृपाराम-कृत मानना ही उचित है।

लगभग एक शताब्दी तक ये सोरठे राजस्थानी जनता की जिह्वा पर रहे परन्तु पीछे १८८६ ई० में जोधपुर के पुरातत्त्व विभाग के कलक्टर कर्नल पी० डब्ल्यू० पौलेट ने इन्हें संगृहीत तथा अंग्रेजी में अनूदित किया। इन सोरठों में नीति तथा उपदेश की बातें डिंगल भाषा में बड़े मार्मिक ढंग से कही गई हैं। गुजराती, सिन्धी, ब्रजी, अरबी और फारसी भाषाओं के भी अनेक शब्द दिखाई देते हैं। रचना प्रसाद-पूर्ण है। कुछ उदाहरण लीजिये—

भूसा ने मंजार, हित कर बैठा हेकठा ।
सब जाणों संसार, रह न रहसी राजिया ॥^२
काली घरों कुरूप, कसतूरी कांटे तुलं ।
शक्कर बड़ी मुरूप, रोड़ा तुलं राजिया ॥^३
भाड़, जोख, भल्ल, भेल्ल, बारज में मेला बसे ।
इसकी भंवरो हेक, रस की जाणं राजिया ॥^४

२६. बाँकीदास

जीवन-परिचय—आशिया शाखा के चारण शक्तिदान के पौत्र तथा फतहसिंह के पुत्र बाँकीदास का जन्म पंच भद्रा ग्राम (जोधपुर राज्य) में संवत् १८२८ में हुआ था। पन्द्रह वर्ष के वय तक पिता से काव्य-शिक्षा ग्रहण करने के बाद इन्होंने जोधपुर में अनेक गुरुओं से काव्यशास्त्रों का अध्ययन किया—

‘बंक इतेयक गुरु किये, जितयक सर पर केस ।’

इनकी विद्वत्ता तथा गुरुओं से प्रभावित होकर जोधपुर-नरेश महाराज मानसिंह ने इन्हें जागीर प्रदान की और इनसे भाषा-साहित्य का अध्ययन भी करने लगे। महाराज ने इन्हें अपनी मुहर पर यह वरवै खुदवाने की अनुज्ञा दी हुई थी—

श्रीभन मानधरणिपति, बहुगुन रास ।

जिन भाषा गुरु कीनौ, बाँकी दास ॥

बाँकीदास संस्कृत, फारसी, ब्रज और डिंगल भाषाओं तथा इतिहास के विशेषज्ञ थे। इनकी धारणा-शक्ति विलक्षण थी। किसी पद्य को एक ही बार सुनकर तुरन्त सुना देते थे और दो बार सुनकर तो उलटा भी सुना सकते थे। ये निर्भीक, स्पष्टवादी, आत्मसंमानी और दानी थे। एक बार इन्होंने महाराज से स्पष्ट कह दिया

१. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य (प्रयाग, २००८ वि०)

पृ० २५६

२-४. राजिया के सोरठे, पृष्ठ २१।६१, ३२।१३६, १६।६८

था—‘ये आप के कुमार कुपुत्र निकलेगे और हमारा अपयश होगा, अतः इन्हें न पढ़ा-ऊँगा ।’ उदयपुर के महाराणा से निमन्त्रण पाकर इन्होंने महाराजा मानसिंह से कहा था—‘त्रिलोकी का राज्य मिलता हो तो भी आप जैसे स्वामी को त्याग कर नहीं जाना चाहता ।’ निस्सन्तान होने के कारण इन्होंने अपने भतीजे भारतदान को गोद लिया था । संवत् १८६० में ये स्वर्ण सिधारे ।

रचनाएँ—इनकी २६ पुस्तकें तथा कुछ स्फुट रचनाएँ बांकीदास-ग्रंथावली के तीन भागों में^१ प्रकाशित हो चुकी हैं । इनके अतिरिक्त इनके १३ ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं ।^२ इनके प्रकाशित ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

(१) सूर छत्तीसी; (२) सीहछत्तीसी; (३) वीरविनोद; (४) धवल पच्चीसी; (५) दातार बावनी; (६) नीति मंजी; (७) सुपह छत्तीसी; (८) बैसक वार्ता; (९) मावड़िया मिजाज; (१०) कृपण दर्पण; (११) मोह-मर्दन; (१२) चुगल मुख चपेटिका (१३) वैसवार्ता; (१४) कुकवि बत्तीसी; (१५) विदुर बत्तीसी; (१६) भुरजाल भूषण; (१७) गंगालहरी; (१८) जेहल जस जड़ाव; (१९) कायर बावनी; (२०) कमाल नखशिख; (२१) सुजस छत्तीसी; (२२) सन्तोष बावनी; (२३) सिद्धराज छत्तीसी; (२४) वचनविवेक पच्चीसी; (२५) कृपण छत्तीसी; (२६) हमरोट छत्तीसी; (२७) स्फुट-संग्रह ।

उक्त ग्रन्थों में से ७, १६, १७, १८, २०, २३, २६, २७ संख्यक आठ ग्रन्थ विविध-विषयक हैं, शेष १९ का सम्बन्ध नीति है ।

नीतिविषयक काव्यों का संक्षिप्त परिचय

१. **सूर छत्तीसी**—३८ दोहों का यह काव्य मुक्तक शैली में प्रणीत है । दोहों में वीरों की प्रशंसा, उनकी मोछ, अस्त्र-शस्त्र, कवच, युद्ध, वीरगति, वीरगति के अनन्तर विमानारोहण, अप्सराओं का आलिंगन, कायों की निन्दा आदि का ओजस्वी वर्णन है । वीरपत्नी की अपनी सखियों के प्रति गर्वोक्तियाँ भी बहुत सुन्दर हैं ।

१. बांकीदास ग्रंथावली, पहला भाग, ना० प्र० सभा०, काशी, सं० १९८१; दूसरा भाग, प्रकाशक, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग १९३१ ई०; तीसरा भाग, प्र०, ना० प्रा० सभा, काशी, १९३८ ई०

२. वे १३ ग्रन्थ ये हैं—१. कृष्णचन्द्र चन्द्रिका २. विरह चन्द्रिका ३. चतुष्कार चन्द्रिका ४. मान यशोमंडन ५. चन्द्रदूषण दर्पण ६. वंशाखवार्ता संग्रह ७. श्री वरवाररी कविता (श्री वरवार का कवित्त) ८. रस तथा अलंकार का ग्रंथ ९. वृत्त रत्नाकर भाषा वा व्याख्या १०. महाभारत छन्दोऽनुवाद ११. गीत वा छंदों का संग्रह १२. ऐतिहासिक वार्ता संग्रह १३. अन्तर्लपिका (बांकीदास ग्रंथावली, भाग, ३, भूमिका, पृष्ठ ३-५)

२. सीह छत्तीसी—सिंहों के पराक्रम के विषय पर लिखे गए इस मुक्तक-काव्य में ३८ दोहे हैं। केसरी के बाहुबल, निर्भीकता, एकाकिता, अप्रतिहत गति, गज-मर्दन आदि का अन्योक्ति शैली में अत्यन्त श्रोत्रस्वी वर्णन किया गया है।

३. धीर विनोद—७५ दोहों के इस मुक्तक काव्य की रचना बांकीदास ने वीरों के मन में आनन्द की वृद्धि करने के लिए की थी।^१ कवि अधिकतर दोहों में सिंह की वीरता, निर्भयता, युद्धप्रियता, अपने पराक्रम से जनित मृगेन्द्रता आदि का वर्णन करता है। युद्ध में वीरों के उल्लास, कवच, शत्रु संहार तथा शल्यचिकित्सकों के सत्कार का भी उल्लेख है। अन्योक्ति शैली का प्राधान्य है।

४. धवल पच्चीसी—इस काव्य की रचना कवि ने सं० १८८३ में की थी।^२ ३४ दोहों की इस मुक्तक-रचना में धवल अर्थात् श्वेत शैल के अनेक गुणों का बखान किया गया है। वह अपने सुख की चिन्ता न कर असीम भार उठाता तथा भारी गाड़ी को खींचता है। वह धर्म का अवतार है, गिव का वाहन है, कामधेनु का वंशज है। काव्य में धवल के मिथ से उस सेवक का गुणगान है जो अपने सुख-दुःख से विमुख होकर स्वामी को सुखी करने में लीन रहता है।

५. दातार बावनी—५३ दोहों की इस मुक्तक-रचना में दानी मानव की महिमा वर्णित है। इसमें दान के अनुसार यश का विस्तार, दान के देश में ही निवास का औचित्य, दाता ही माता-पिता और देवता है, सूर्योदय पर दाता के मुखदर्शन से दुःखदहन, बड़े दानों से ही याचना उचित है, आदि विषयों का सविस्तर वर्णन किया गया है।

६. नीति मंजरी—३६ पद्यों के इस काव्य में २७ दोहे, १० सोरठे, १ 'बड़ो दुहो' और १ 'दोहो तुँवोरो' है।^३ इस काव्य में शत्रु से सदा सावधान रहने, उस पर विश्वास न करने और उसका जैसे-तैसे सवश संहार करने की प्रेरणा की गई है।

७. बंसक वार्ता—इस मुक्तक काव्य में केवल ५६ पद्य हैं—५८ दोहे और एक सोरठा। चिरकाल से प्रचलित वेश्यावृत्ति की कुप्रथा से होने वाली मान, धन,

१. वीरों काज बरणाविधौ, बांके धीर-विनोद ।

बषसी सुणिद्यां दाचियां, मन में धीरां गोद ॥ (बही, भाग १, पृष्ठ ३६।७५)

२. अट्टारै तैयासियै चेतमास नम स्याम ।

रूपक बंक बरणाविधौ, धवल पच्चीसी नाम ॥ (बांकीदास ग्रंथावली, भाग १, पृ० ४५।३४)

३. 'बड़ो दुहो' में प्रथम अठ्ठाली सोरठे की और द्वितीय, दोहे की होती है। प्रथम और चतुर्थ चरणों में तुक-साम्य होता है। 'दोहो तुँवोरो' में प्रथम अठ्ठाली दोहे की और द्वितीय सोरठे की होती है। द्वितीय तथा तृतीय चरण में अन्त्यानुप्रास रहता है।

स्वास्थ्य आदि की हानि का बड़ा ही चुभता हुआ वरान कवि ने किया है। सतीत्व की महिमा का बरान करते हुए कवि ने वेश्यागामी-पुरुषों की खब खबर ली है।

८. मावड़िया मिजाज—जो पुरुष पुरुषत्व को विस्मृत कर सदा घर में माता या किसी अन्य स्त्री के समीप रहने के कारण स्त्री-स्वभाव वाले बन जाते हैं उन्हें मावड़िया कहा जाता है। कवि ने मुक्तक काव्य के ८८ दोहों में उन्हीं कापुरुषों का उग्र उपहास किया है जिससे वे जनानेपन को छोड़ फिर से पुरुषत्व को धारण कर जीवन का सदुपयोग करें।

९. कृपण-दर्पण—धन का सदुपयोग न करने वाले लोग कृपण कहे जाते हैं। जो धनवान् न अच्छा खाते-पीते हैं, न पहनते-ओढ़ते हैं, जो अतिथि को देख द्वार बन्द कर लेते हैं, जो भिक्षुओं से भी धन छीनने में संकोच नहीं करते, जिन्हें 'देना' शब्द से ही द्वेष है, उन कंजूसों-मक्खीचूसों को उनका कलंकित मुख दिखाने के लिए ही बांकीदास ने इस पुस्तक के हास्यव्यंग्यमय मर्मस्पर्शी ४५ दोहों की रचना की है।

१०. मोहमर्दन—विवेक के अभाव के कारण मनुष्य संसार को स्थिर, शरीर को शाश्वत और सम्बन्धियों को सच्चा मानकर जगत् में मनमानी करता रहता है। कवि ने ऐसे लोगों के मोह के मर्दनार्थ तथा प्रभु-भक्ति, जीवदया, काल की अपरिहार्यता आदि विषयों के प्रतिपादन के लिए इस मुक्तक काव्य के ३९ पद्य रचे हैं। पुस्तक में ३८ दोहे हैं और एक सोरठा।

११. चुगल मुख चपेटिका—पिशुन लोग राजाओं आदि के पास रहकर सकारण या अकारण ही उनके कान भरा करते हैं। कान के कच्चे लोग ऐसे नराधमों की बातों से प्रभावित होकर सज्जनों के विरुद्ध हो जाते हैं जिससे समाज की हानि होती है। ऐसे दुष्ट चुगलखोरों के लिए यह पुस्तक एक चपत है। कृति का नाम तो 'बावनी' नहीं परन्तु हैं इसमें बावन ही दोहे। एक-एक दोहा समझदार पिशुनों के लिए चपत से कम नहीं है।

१२. बँस-वार्ता—यह एक निंदा-काव्य है जो लोभी, कपटी, अधर्मी, धरोहर हज़म कर जाने वाले, हलके बाट रखने वाले, कम तोलने वाले, पारद-पूरुण खोखली ढण्डी रखने वाले, पलड़ों में मोम चिपकाने वाले, अधिक मोल लेने वाले व्यापारियों के उपहासार्थ रचा गया है। ७७ दोहों के इस मुक्तक काव्य में मधुर व्यंग्य और उग्र कटूक्तियाँ दोनों ही विद्यमान हैं।

१३. कुकवि बत्तीसी—इस मुक्तक-रचना में केवल ३९ दोहे हैं जो उन तुक्कड़ों की हँसी उड़ाने के लिए लिखे गये हैं जो छन्द, रस, अलंकार आदि काव्य के विविध उपकरणों से परिचित न होकर भी महाकवियों से ईर्ष्या करते हैं और प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए जैसी-तैसी रचना किये बिना रह ही नहीं सकते। कहीं-कहीं पर कवि ने काव्य का कुपाठ करने वालों पर भी छोटे कसे हैं।

१४. बिबुर बत्तीसी—३६ दोहों के इस मुक्तक काव्य में कवि ने दासी-पुत्रों

के लक्षण, स्वभाव, व्यवहार, रहन-सहन आदि का हास्यव्यंग्यमय चित्रण और उनकी संगति से उत्पन्न होने वाले दोषों का उल्लेख किया है।

१५. कायर बावनी—५४ दोहों के इस मुक्तक काव्य का रचना-काल कवि ने सं० १८७१ दिया है।^१ राजाओं का वाग्गतविक हित तो विद्वानों, शूरवीरों आदि से होता है परन्तु कई चाटुकार कायर राजाओं की सभाओं और सेनाओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस काव्य में जहाँ उन कायरों के स्वभाव आदि का उल्लेख है, वहाँ राजाओं को भी प्रेरणा की गई है कि वे विपद में पीठ दिखा जाने वाले कायरों को अपनी सभा, सेना आदि में स्थान न दें। इस में युद्ध से भागकर घर में आने वाले कायर और उसकी पत्नी का संवाद बहुत ही रोचक है।

१६. सुजस छत्तीसी—यश जीवन है और अपयश मृत्यु। यश की प्राप्ति वीरता, दानशीलता तथा सुकृत्यों से होती है। इन्हीं विषयों पर कवि ने इस छत्तीसी के ३८ पद्यों की रचना की है जिनमें ३४ दोहे हैं तथा ४ सोरठे। दृष्टान्त रूप में जहाँ देश-विदेश के उदार जनों का नामोल्लेख हुआ है वहाँ अपने वर्ण को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए रोचक तथा भयानक बातों का भी उल्लेख किया गया है।

१७. संतोष बावनी—इस कृति की रचना कवि ने सं० १८७८ में की थी।^२ इस बावनी के ५५ पद्यों में से ४६ दोहे हैं और ९ सोरठे। संतोष का महत्त्व तथा लोभ की निन्दा ही इस रचना का उद्देश्य है। इसमें संतोष की उपयोगिता निवृत्तिमार्गी लोगों के लिए ही नहीं, प्रवृत्तिमार्गियों के लिए भी, सम्यक् दिखाई गई है।

१८. वचनविवेक पच्चीसी—इस रचना में कुल २८ पद्य हैं—२६ दोहे और २ सोरठे। रचना का उद्देश्य वाणी के सुप्रयोग की शिक्षा देना है। अशुभ, असभ्य और कटुभाषण से होने वाली हानियों तथा शुभ, सभ्य और मधुर वाणी से जन्य लाभों का सम्यक् निरूपण किया गया है। दोहों के अनेक खंड लोकोक्तियों जैसा चुभीलापन लिये हुए हैं।

१९. कृपण पच्चीसी^३—२९ पद्यों की इस कृति में एक सोरठा है और शेष

१. एकोत्तरं अठार सं, सांघण दुतियक स्वेत।

बांकी प्रंथ बरणाविन्दो, कायर कुजस निकेत ॥ (बांकीदास ग्रन्थावली, भाग ३, पृष्ठ १६)

२. अट्ठारसं अठंतरं भोजी फागण नास।

सुब तेरस संतोष गुण, बरण बांकीदास ॥ (बांकीदास ग्रन्थावली, भाग ३, पृष्ठ ६४)

३. कुछ लोग इस पुस्तक को बांकीदास कृत नहीं मानते। विस्तार के लिए बांकीदास ग्रन्थावली, भाग ३ की भूमिका के ५६-६१ पृष्ठ देखिए।

दोहे। इसका विषय वही है जो उपर्युक्त कृपण-दर्पण का परन्तु दोहे नये हैं और चुटीले हैं।

बांकीदास के नीतिकाव्य पर एक दृष्टि

उक्त रचनाओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. वैयक्तिक नीति—१. वचन विवेक पच्चीसी; २. चुगल मुख चपेटिका; ३. सूर छत्तीसी; ४. सीह छत्तीसी; ५. वीरविनोद; ६. मावड़िया मिजाज; ७. कायर बावनी; ८. सुजस छत्तीसी।

२. सामाजिक-नीति—१. वंसक वार्ता; २. वंस वार्ता; ३. कुकवि बत्तीसी; ४. विदुर बत्तीसी; ५. धवल पच्चीसी।

३. आर्थिक नीति—१. संतोष बावनी; २. दातार बावनी; ३. कृपण-दर्पण ४. कृपण पच्चीसी।

४. मिश्रित नीति—१. नीतिमंजरी; २. मोहमदन।

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि बांकीदास ने नीति के चार भेदों पर तो ग्रंथ-रचना की है परन्तु पारिवारिक तथा इतर प्राणि-विषयक नीति के सम्बन्ध में किसी स्वतन्त्र ग्रंथ का अग्रयन नहीं किया। यद्यपि सीह छत्तीसी तथा धवल पच्चीसी में सिंह और बेल के गुरु-कर्म-स्वभाव का उल्लेख किया गया है तथापि उनकी रचना का वास्तविक लक्ष्य उनके प्रति व्यवहार विशेष का प्रतिपादन न होकर वीरता तथा स्वामिसेवा आदि का धारण है। इसी कारण हमने उन्हें क्रमशः वैयक्तिक तथा सामाजिक नीति के अन्तर्गत रखा है। पारिवारिक तथा इतर-प्राणि-विषयक नीतिकाव्यों की उक्त उपेक्षा का कारण खोजना भी कठिन नहीं है। हम ऊपर कह चुके हैं कि बांकीदास निस्सन्तान थे। प्रायः निस्सन्तान व्यक्ति को गृहस्थी नीरस हो जाती है, यह भी सर्वविदित ही है। दूसरे, उनके उक्त दर्जनों ग्रंथों तथा सहास्य ऐतिहासिक वार्ताओं से विदित होता है कि वे सच्चे अर्थों में साहित्यिक व्यक्ति थे और परिवार की ओर साहित्यिक कितना ध्यान दे पाते हैं, यह भी साहित्यिक जनों से छिपा नहीं है। इसलिए यदि अन्य कवियों के समान ही इन्होंने भी पारिवारिक नीति पर स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी तो कोई आश्चर्य नहीं। जीव-दया या मांसभक्षण निषेध पर स्वतन्त्र ग्रंथ की आशा किसी जैन बौद्ध कवि से तो की जा सकती है, परन्तु क्षत्रिय राजा के आश्रित कवि से नहीं। न बांकीदास जैन थे और न किसी जैन नरेश के सभासद। इसलिए उनका इस विषय पर ग्रंथ न लिखना भी विस्मयावह नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे इन विषयों पर नितान्त मौन रहे हैं। उनकी रचनाओं में इन विषयों पर छोट टट रूप से कई पद्य प्राप्त होते हैं। 'मावड़िया मिजाज' में कवि जननी का महत्त्व यों वर्णित करता है—

जनमे बीछू जगत में, जगणी रो ले जीव।

तिरण गुनाह पनही तलै, सह को हरणे सदीय॥

पेट धरे जायो पछे धवरायो मल धोय ।

जिण कारण जगदीस सँ, जणणी गरयो जोय ॥^१

प्राणियों पर दया करने वालों के तो सखा श्री कृष्ण हैं और सेवक अन्य देवता—

जीव दया पाली जकां, उज्जाली निज आव ।

वनमाली फीधो बलू, पड़ी सुराली पाव ॥^२

वैयक्तिक नीति—वैयक्तिक नीति पर कवि ने जो पूर्वोक्त आठ ग्रंथ लिखे हैं वे दो वर्गों में विभाज्य हैं—

(क) शारीरिक नीति से सम्बन्धित—(१) वचनविवेक पच्चीसी; (२) चुगल मुख चपेटिका ।

(ख) आत्मिक नीति से सम्बन्धित—(१) सूर छत्तीसी; (२) संह छत्तीसी; (३) वीरविनोद; (४) मावड़िया मिजाज; (५) कायर बावनी; (६) गुजम छत्तीसी ।

(क) शारीरिक नीति से सम्बन्धित काव्य — वचनविवेक पच्चीसी तथा चुगल-मुख चपेटिका का सम्बन्ध वागव्यवहार से है । वचन विवेक पच्चीसी में कवि ने कटु-भाषण तथा गालीदान के और 'चुगलमुख चपेटिका' में पिशुनता के परित्याग की प्रबल प्रेरणा मनोहर ढंग से की है । यथा—

चंदण लपटै सिरणधरण, रीझै सांभल राग ।

पिण मुख सांभल जहर तै, निदधियो जग नाग ॥^३

सज्जन बांधै पाल सिर, सीसा छकियां गाल ।

बुरजण फोड़ै गाल दै, प्रीत सरोवर पाल ॥^४

कवि के मत में पिशुनता के समान कोई पाप नहीं है और इसीलिए वह पिशुन का चित्रलिखित मुख भी देखने का प्रतिषेध करता है । पिशुन उसी उत्सुकता से मूखों के बानों से मुँह लगाना है, काना-फूसी करता है, जिस उत्सुकता से शिशु माता के स्तनों से ।^५ पिशुनों ने तो बांकीदास को इतनी अधिक घृणा थी कि वे 'वचनविवेक पच्चीसी' के अपने गालीदान के उपदेश को विस्मृत कर बैठे—

पनग लड़ो कीड़ो पड़ो सड़ो भड़ो दुख संग ।

जग चुगलां री जीभड़ी, वायस भखौ विहंग ॥^६

यह बात ध्यान देने की है कि इन काव्यों में कवि का दृष्टिकोण आदर्शात्मक

१. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, मावड़िया मिजाज, पृष्ठ २७।७५, ३०।८८

२. वही, " , मोहमर्दन, पृष्ठ ४७।३६

३-४ . बांकीदास ग्रंथावली, भाग ३, वचन विवेक पच्चीसी, पृष्ठ ७६।८, ७७।१२

५-६. " " " " २ चुगलमुख चपेटिका, पृष्ठ ५३।२५, ५१।१८।

है, व्यावहारिक नहीं। वचनविवेक पच्चीसी में अवसर विशेष पर असत्य भाषण या गाली-दान की वह छूट दिखाई नहीं देती जो वृन्द सतसई आदि में पाई जाती है।

२. आत्मिक नीति—आत्मिक नीति से सम्बन्धित उपर्युक्त छह काव्य तीन वर्गों में विभाज्य हैं—

(क) वीरता-प्रशंसा-विषयक—(१) सूर छत्तीसी; (२) सीह छत्तीसी; (३) वीर-विनोद।

(ख) कायरता-निन्दा-विषयक—(१) मावड़िया मिजाज; (२) कायर बावनी

(ग) सुयश-प्राप्ति-विषयक—(१) सुजस छत्तीसी।

(क) वीरता-प्रशंसा-विषयक काव्य—सूर छत्तीसी, सीह छत्तीसी तथा वीरविनोद तीनों ही वीर रस की उत्तम कृतियाँ हैं। 'सूर छत्तीसी' के वीर स्वामिधर्म का प्राण-पण से पालन कर खाया हुआ नमक हलाल करते हैं। वे संग्राम के समय न ज्योतिर्विद से मुहूर्त पूछते हैं और न शकुन की प्रतीक्षा करते हैं। उनके लिए सभी ग्रह सरल होते हैं। वे कवच धारण कर तथा शास्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर रणभूमि को हथियार से कदममयी बना देते हैं। उन के युद्धकौशल को देखकर नारद आदि कलहप्रिय मुनिराज हँसते हैं और उन्हें साधुवाद देते हैं। उनकी छातियाँ कपाटों के समान विशाल और सुदृढ़ होती हैं तथा मूँछें भौंहों का स्पर्श करती हैं। ऐसे वीरों की पत्नियाँ अपने पतियों की वीरता का अपनी सखियों के समक्ष सगर्व वर्णन इस प्रकार करती हैं—

सखी अमीणौ, साहिबो, मदनमनोहर गात।

महाकाल मूरत बरें, करण गयंदा घात ॥^१

सखी अमीणौ साहिबौ, निरभं कालो नाग।

सिर राखें मिए सांमध्रम, रीझें सिन्धुराग ॥^२

सीह छत्तीसी तथा वीरविनोद में मुख्यतः सिहों के ही गुण-कर्म-स्वभाव के वर्णन के ब्याज से सिहवत् वीर बनने की प्रेरणा की गई है। सिंह शिशु हो, एकाकी हो तो भी बड़े-बड़े हाथियों के झुंडों से भीत नहीं होता, सिंहनी का स्तन्यपायी कभी कायर नहीं होता, इतर प्राणी सुप्त सिंह से भी अस्त रहते हैं। सिंह की माँद के पास पड़े हुए मोतियों तथा कस्तूरी की राशि को कोई भी उठाने का साहस नहीं करता, लोग गोदड़ को सम्मुख देखकर भी नहीं डरते और सिंह के पदचिह्नों को देखते ही भग जाते हैं, सिहों के लिए देश-विदेश समान होते हैं, सिंह के वन में पवन के बिना किसी का प्रवेश सम्भव नहीं, शत्रु-संहार के बाद सिंह सुखपूर्वक गिरि-गुहा में शयन करता है परन्तु उसका प्रताप बाहर पहरा देता है, सिंह पद-पद पर रक्त पात करता है पन्तु शृगाल इस कार्य की निन्दा करते हैं, आदि वीरतापूर्ण नीतियों के वर्णन से कवि निर्जीव मानवों को भी सजीव बनाने में समर्थ है। यथा—

परतल जबक पेलियाँ, कोय न जावै भाग ।
 सौंहां केरा खोज सूं, मांजीज डर माग ।^१
 साइलो बन साहिबो, छाटै पग-पग खून ।
 कायरड़ा इण कांम नूं, जबक कहै जवून ॥^२
 के बंती शृङ्गी किता, किता नखी बन जन्त ।
 समझाया दे दे सजा, साइलें बलबंत ॥^३

इन काव्यों में दो बातों पर विशेष बल है—सेवकों की स्वामिभक्ति और राजाओं की युद्धप्रियता । सेवक वही सच्चा है जो प्रणपण से स्वामिहित साधे और स्वामी वही स्तुत्य है जो ग्रन्थ नरेशों से वैर-वृद्धि करे और एकच्छत्र शासन स्थापित करे । कवि की दृष्टि आदर्श पर केन्द्रित है । व्यवहार पर नहीं । भागकर भी प्राणों की रक्षा करना, पीठ दिखाकर भागते हुए शत्रु को भी क्षमा न करना आदि नीति की प्रसिद्ध बातों का इनमें उल्लेख नहीं मिलता ।

(ख) कायरता-निन्दा-विषयक—वीरता और कायरता एक ही चित्र के दो पक्ष हैं । वीरता की प्रशंसा में कायरता का त्याग और कायरता की निन्दा में वीरता का प्रण व्यंग्य रहता ही है, परन्तु कवि ने इन दोनों पर पृथक्-पृथक् काव्यरचना की है, अतः विवेचन भी पृथक् करना ही उचित है । कविगज ने कायरता-विषयक दो मुक्तक काव्य रचे हैं—मावड़िया-मिजाज और कायरबावनी । क्षत्रिय नरेश के आश्रित कवि की दृष्टि में कायर का गह्वरतम माना जाना स्वाभाविक ही है । इसलिए जहाँ उसने मावड़िया में कायरों पर मर्मवेधी व्यंग्य बाण चलाये हैं वहाँ कट्टकृतियों के प्रयोग में भी कोई कसर नहीं रहने दी । मावड़िया उल्लू के समान दिन भर घर में घुसा रहता है और तारों की छाया में ही बाहर निकलता है । युद्ध का चित्र-मात्र देखकर ही वह हतप्रभ और भूच्छित हो जाता है । उसके धन का सब लोग वैसे ही निस्संकोच प्रयोग करते हैं जैसे गणिका के गाल का । युद्ध पर जाते समय उसके आँसू उसी प्रकार बहते हैं जैसे नबोढ़ा के आँसू सधुराल जाते समय । वस्तुतः वह पुरुष नहीं है, निस्तनी नारी है, कलमुँहा कुत्ता है—

प्रकटे बांम प्रवीण रो, नर निदाड़ियो नाम ।
 नर मावड़िया नामलूँ, बिना पयोधर वाम ॥^४
 लियां रही दस माँस लग, उदरबुखाँ उतराहं ।
 बुल जिण जगणी ने दिवे, कालो मुँह कुतराहं ॥^५

‘मावड़िया मिजाज’ में जहाँ मावड़ियों की खूब खबर ली गई है वहाँ ‘कायर

१. बांकीदास ग्रंथावली, भाग १, सीह छत्तीसी, पृष्ठ १५।२५

२-३. " " " , बीरबिनोद २६।६, २२।१६

४-५. " " " २, मावड़िया मिजाज, पृष्ठ १४।८, २८।७७

बावनी' में शासकों को उपदेश दिया है कि वे वैसे चाटुकार कायरों को न सभा में रखें न सेना में, क्योंकि वे संकट के समय साथ नहीं देते। उन्हें तो काले बेल पर चढ़ाकर निर्वासित कर देना चाहिए क्योंकि वे अधर्म और अपख्याति से तो नहीं भागते, शत्रु को सम्मुख देखकर भाग खड़े होते हैं। शासकों को चाहिए कि वे लाखों मूर्खों को देकर एक पण्डित और लाखों कायरों को देकर एक वीर खरीदें। इस काव्य में स्वामि-भक्ति पर बहुत बल दिया गया है तथा पत्नी और भगोड़े पति का संवाद तो बहुत ही मार्मिक है। पति को सर्वथा स्वस्थ लौटा देखकर पत्नी व्यंग्यपूर्वक पूछती है कि आप के मूछ, नाक, सिर आदि पर तो घाव नहीं लगा। उत्तर में कायर पति कहता है कि ये सब तो स्वस्थ हैं परन्तु भागते समय पगड़ी गिर पड़ी है, सो और मंगवा लूंगा। इस पर पति को लज्जित करने के लिए पत्नी कहती है पगड़ी तो बड़ाज से खरीद लीगे परन्तु प्रतिष्ठा कहाँ से लाओगे—

पाघ बजाजाँ पूछ पी, लेहो मोल मंगाड़।
ईजत किए विध आणसो, पूछूँ हेला पाड़ ॥^१

लक्ष्य करने की बात है कि कायरता की निन्दा के विषय में छिटपुट रूप से कई पद्य प्राचीन कवियों के उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु इस प्रकार की हास्यव्यंग्यमयी सम्पूर्ण रचनाएँ उस समय तक अदृष्टपूर्व ही थीं।

(ग) सुयश-प्राप्ति-विषयक काव्य—इस वर्ग के अन्तर्गत एक ही काव्य है—‘सुजस छत्तीसी’। इस काव्य में कवि ने यश के उपार्जन पर बहुत बल दिया है क्योंकि वही सर्वोत्तम आभरण और रत्न है। यश-प्राप्ति के साधनों में यद्यपि कवि ने प्रतिष्ठा पालन, मधुर भाषण, शरीर के मोह का त्याग, वीरता, अभ्यागत का सम्मान, मिलन-सारी आदि कई गुणों का उल्लेख किया गया है तथापि अधिक बल दानशीलता पर है जो एक राजाश्रित चारण कवि के लिए अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। कवि ने ऊनड़, जगदेव पंवार, विक्रम, जेहाभाराणी, हातमताई आदि देश-विदेश के अनेक यशस्वी दानियों का उदाहरण रूप में उल्लेख किया है। यद्यपि अधिकतर दोहे विशेष-सरस नहीं हैं तथापि कुछ दोहे सुन्दर हैं—

मेलो अत अदतार मन, रुच जस तराँ रहे न।
तन कालो बिसहर तराँ, कंचुक सेत सहै न ॥^२
जसरी गत अद्भूत जिका, सत धारियाँ सुहाय।
नर जीवै नरलोक में, जस अमरापुर जाय ॥^३

सामाजिक नीति—सामाजिक विषयों पर कवि ने जिन पाँच काव्यों की रचना की है, वे दो प्रकार के हैं—

१. बांकीदास ग्रन्थावली, भाग ३, कायर बावनी, पृष्ठ २६।३८
२. वही, भाग ३, सुजस छत्तीसी, पृष्ठ ४८।२१
३. वही, भाग ३, सुजसी छत्तीसी, पृष्ठ ५१।३१

(क) निन्दात्मक; (ख) प्रशंसात्मक ।

(क) निन्दात्मक काव्य—इस वर्ग के अन्तर्गत कवि के ये चार काव्य आते हैं—(१) वंसक वार्ता; (२) वंस वार्ता; (३) कुकवि बत्तीसी; (४) विदुर बत्तीसी ।

१. वंसक वार्ता—इस काव्य में वेश्याओं तथा वेश्यागामियों की निन्दा है और वेश्याप्रशंग से उत्पन्न होने वाले दोषों का सविस्तर वर्णन । संस्कृत में क्षेमेन्द्र ने इसी विषय पर समयमातृका की रचना की थी और अमितामय भी सुभाषित रत्न सन्दोह का एक खण्ड इसे समर्पित कर चुके थे । संस्कृत और हिन्दी के कवियों का ध्यान युवकों को वेश्याजाल से बचाने की ओर तो अवश्य गया है परन्तु उन भाग्यहीन स्त्रियों की ओर नहीं जिन्हें सामाजिक कुपरिस्थितियों के कारण इस जघन्य व्यवसाय को विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है । वस्तुतः उस समय तक लेखकों में तथाविध सुधारक-दृष्टिकोण का आविर्भाव ही नहीं हुआ था । अस्तु, बांकीदास ने वेश्यागमन से होने वाले तेज, बल, आयु, यश, धन, बुद्धि, प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य आदि के नाश का वर्णन तो खूब किया है परन्तु पर्याप्त दोहे इतिवृत्तात्मक हैं । फिर भी इस काव्य में शृंगार रस की सुन्दर व्यंजना हुई है । उद्दीपन के रूप में सावन, भूले, तीज, मोर, पपीहे आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है । वेश्यागात्री व्यक्ति की व्यथित नारी का वर्णन तो बहुत ही मार्मिक है । कुछ दोहे देखिए—

रसियां रो तन रोग सूं, सड़ जावे नह सोच ।

हेम रजत खातर हुवै, पातर लोच पलोच ॥^१

वेश्यागामी की सती पत्नी की पुकार सचमुच हृदय विदीर्ण करने वाली है—

मैं कीधो सांचे मते, नायक तोसूँ नेह ।

बरण आवें तो देह बित, दाह बिरह मत देह ॥^२

२. वंसवार्ता—जैसे क्षेमेन्द्र ने विविध व्यवसायियों की वचनाओं से लोगों को सावधान करने के लिए 'कलाविकास' की रचना की थी, वैसे ही वेश्यों से सतर्क रखने के लिए बांकीदास ने वंसवार्ता की । जीवन के लिए धन अनिवार्य है और धनोपार्जन का मुख्य साधन है व्यापार । व्यापार यदि सत्यता-पूर्वक किया जाए तो प्रशस्य है, परन्तु वैसे व्यापार में लाभ का अधिक अवकाश नहीं रहता । इसलिए प्रायः देखा जाता है कि बनिये शीघ्र ही बहुत धनाढ्य बनने के लिए चरित्र तथा अपयश के विचार को ताक पर रखकर प्रत्येक उचित-अनुचित साधन का निःसंकोच प्रयोग करते हैं—

जग अपजस देखें नहीं, देखें स्वारथ दाय ।

जिम तिम कर बणियो रहै, बणियो तेण कहाय ॥^३

एक तो बांकीदास को यह बात बहुत बुरी लगती थी और दूसरे कदाचित् उन्हें

१-२. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, वंसिक वार्ता, पृष्ठ ५१२१, ६१४५

३. वही, भाग २, वंस वार्ता, पृष्ठ ५६१३

एकाधिक दुश्चरित्र बनिये से पाला पड़ा था, इसलिए उन्होंने इस मुक्तक काव्य में वैश्य-जात्र को घाड़े हाथों लिया है। वैश्य सौ चोरो के समान होता है, वह विश्वासघाती तथा ठग मित्र होता है, उसका प्रत्येक अंग सन्तोष होता है। वह ऊपर से गौ तथा भीतर से व्याघ्र है। वह पिता, बंधु, सास तथा बहू को भी ठगने से नहीं चूकता। उसके लिए पैसा ही गुरु, इष्ट, राजा और राव है। वह मरा हुआ हो तो भी पैसे का नाम सुन जी उठता है। कलम, तोल, तकड़ी, सौगन्ध और जी-जी करना उसके शस्त्र हैं। वह सम्पदा को गहरी गाड़कर दीवाला निकाल देता है और कफ़न के विक्रय में भी लाभ उठाना नहीं भूलता। उसके पलड़े, दंडी, बाट, तराी प्रत्येक वस्तु में धोखा-ही धोखा है। और तो और वह मौत के परवाने पर 'हतायु' का 'शायु' बनाकर यमराज को भी धोखा देकर पुनः मर्त्यलोक में लौट आने वाला है और विष्णु वी भी चकमा देकर स्वर्ग-सुख छूटने वाला है।^१ ऐसा लगता है कि कवि ने वैश्यों के हाथों जल-भुनकर उन्हें जलाने-भूनने के लिए ही इस निन्दाकाव्य की रचना की है। उन्हें कुत्तों से भी नीच और अश्लील वचन कहने में भी कवि ने संकोच नहीं किया। किसी भी व्यवसाय के सभी लोग एक-से नहीं हुआ करते परन्तु बांकीदास ने एक अच्छे बनिये-जगड़साह-के सिवा किसी की प्रशंसा नहीं की है। रचना हास्य-रसपूर्ण है परन्तु इसके व्यंग्य विषले बाण हैं। उदाहरण देखिये—

जोड़ें नांगो जगत में, कर कर करड़ा काम ।

विवनो जीवे बाणियो, नाणां रो सुंण नाम ॥^२

बरणक कहै बोपार बिध, सीखी गुरु सुं सोभ ।

ऊंट मुआं नहि औरतो, कापड़ ऊपर बोभ ॥^३

गायक गायो बीण ले, इण लिख बीनी लाख ।

ऊंकोड़ी पायो नहीं, सहर दिली दे लाख ॥^४

३. कुकवि बत्तीसी—सज्जन-दुर्जन, धनाढ्य-निधन और विद्वान्-मूर्ख के समान सुकवि-कुकवि में भी परस्पर कुछ ईर्ष्या-द्वेष का होना स्वाभाविक है, विशेषतः उस युग में जब कवियों का निर्वाह होता ही राजाओं और रईसों के आश्रय पर था। सुकवि तो प्रतिभा के प्रसाद से, गुरुओं की सेवा से और सतत परिश्रम से काव्यकला में कुशलता प्राप्त करने के बाद राज-सभाओं में धन-मान प्राप्त करते थे परन्तु कई सामान्य लोग गुरु-शिक्षा, अभ्यास तथा काव्योपकरणों के ज्ञान के अभाव में भी शठता, घृतंता, मद, निर्लज्जता, चाटूवित्तियों आदि की सहायता से अपनी तुकबंदी के कारण सुकवियों के समान सम्मान के इच्छुक रहते थे। सुकवि बांकीदास ने ऐसे ही लोगों की भर्त्सना के लिए इस हास्यापदेशक मुक्तक-काव्य की रचना की है। बांकीदास ने त्रिविध

१. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, वंस वार्ता, पृष्ठ ७२। ६७, ७३। ६८

२-४. " " " पृष्ठ ६६। ६५, ६४। ६६, ७१। ६२

कुकवियों का उल्लेख किया है। उत्तम कुकवि एकाध शब्द, मध्यम दोहा और अधम पूरा गीत ही चुरा लेता है।^१ उसे अर्थनाश, छन्द, रस, अलंकार आदि की कोई चिन्ता नहीं होती। वह बनियों के द्वार पर धरना देता है और कुछ प्राप्त हुए बिना उठने का नाम नहीं लेता। उसके हाथ आई हुई पुस्तक के पन्ने ऐसे तितर-बितर हो जाते हैं जैसे बाज के पंजे में पड़े परेवा के पंख। वह परले दर्जे का धूर्त होता है, डिगल-कवियों में पिगल-कवि बन बैठता है और पिगल-कवियों में संस्कृत-कवि। रूपक और श्लेषों की सुन्दर योजना के साथ सुकवि ने कुकवियों पर ऐसे तीखे व्यंग्य कसे हैं कि उन्हें पढ़कर आत्मसम्मान की कुकवि सुकवि-युक्त सभा में ठहरने का नाम न ले। यथा—

बानर री निरसज्जता, उपल कठगता लीष ।
वायस तणों कुकंठ ले, कुकवि विधाता कोष ॥^२
भोगण ईरानी कटक, कुकवि नादर साह ।
कायब हिन्दी दल कटे, रसण तेग बदराह ॥^३
आदू षटरस ऊपरां, मांडी नवरस मंड ।
कुकवि वहै विष सूं कियो, आचारजाँ अफंड ॥^४

कुकवियों की निन्दा पर प्राचीन संस्कृत-कवियों के जो पद्य उपलब्ध होते हैं, उनका प्रभाव बांकीदास के कुछ दोहों पर स्पष्ट लक्षित होता है। यथा—

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता,
जनः स्पर्धालुश्चेवहह कविना वश्यवक्षसा ।
भवेदद्य इवो वा किमिदं बहुना पापिनि कलौ,
घटानां निर्मातुस्ति भुवनविधातुश्च कलहः ॥^५
कविराजा सूं मंद कवि, अकस करे अविचार,
अब जग करता सूं अकस, करसी घट करतार ॥^६

४. विदुर बत्तीसी—यह निन्दाकाव्य अवगुणों के आगार दासी-पुत्रों के विषय में लिखा गया है। प्रश्न होता है, दासविषयक निन्दाकाव्य का नाम विदुर जैसे विद्वान्, नीति-निपुण और धार्मिक मानव के साथ क्यों सम्बद्ध किया गया। उत्तर यह है कि 'विदुर' का व्युत्पत्त्यर्थ तो 'विद्वान्' है^७ परन्तु अनेक बार विद्वान् लोग भी विद्या का

१-३. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, कुकवि बत्तीसी, पृष्ठ ७८।११, ७६।३, ८२।३३

४. " " कुकवि बत्तीसी, पृष्ठ ८०।२४

५. सु० १० भा०, पृष्ठ ३८।२४। अर्थ—यदि हठपूर्वक कुछ पद्य रचने वाला व्यक्ति किसी कुशल कवि से स्पर्धा करने लगे तो इस पापी कलियुग में आज या कल कोई कुम्हार भी जगत्कर्ता से कलह करने लग पड़ेगा।

६. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, कुकवि बत्तीसी, पृष्ठ ८०।२३

७. विदिभिदिछिदे: कुरच् (पारिनि: अष्टाध्यायी, ३।२।१६२)। ज्ञाता तु विदुरो विदुः (अमरकोश)।

दुरुपयोग कर सीधे-सादे लोगों को प्रबंचित करते हैं। अतः यह शब्द धूर्त के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा।^१ यह बात तो सर्वविदित ही है कि विदुर-नीति के कर्ता महात्मा विदुर दासी-पुत्र थे। इसलिए सम्भव है कि धूर्त दासी-पुत्रों के लिए विदुर शब्द का प्रयोग हमारे कवि के काल में शिष्टता या व्यंग्य के कारण होता हो और इस काव्य के लिए भी अपना लिया गया हो।

दूसरा प्रश्न यह है कि दासी पुत्र को समाज में इतना निन्द क्यों कहा गया है। माथा-पच्ची की आवश्यकता नहीं क्योंकि कवि ने कृति के प्रथम दोहे में स्वयं ही कह दिया है—

विदर पिदर जाणं नहीं, मादर विदरां भूल ।

राखें अगलत रंग रा दिल री कुसी बुकूल ॥

अवैध सन्तान को कही भी, किसी भी युग में प्रशंस्य नहीं माना गया। उसे प्रशंस्य मानने का अर्थ होगा दुराचार का प्रोत्साहन। बात यह है कि तथाकथित कुीन राजा और घनाढ्य लोग अपनी पत्नियों से संतुष्ट न होते थे और सामान्य अशिक्षित दासियों को भी कामजाल में फँसा लेते थे। इस प्रकार बेचारे दासी-पुत्र न पिता का नाम बता सकते थे, न गोत्र का। अन्ततः घृणा की दृष्टि से देखे जाने के कारण घृणित आचार-व्यवहार को सहज ही स्वीकार कर लेते थे। विदुर क्षत्रिय वीर्य से उत्पन्न होने के कारण अपने को क्षत्रिय कहने की लालसा तो रखते थे परन्तु बांकीदास ने उनकी तुलना उन ग्राम-शूकरों से की है जो वाराणों या वन्य-शूकरों में सम्मिलित होना चाहते हों—

कुल खत्री बाराह कुल, पोरस बांक्रम पूर ।

मिलिया चाहै ज्या महीं, गोला न गंडसूर ॥^२

उच्च वंश या परिवार में उत्पन्न होना तो किसी भी वंश में नहीं परन्तु जिन अग्र दोषों के कारण विदुर उपहासास्पद कहे गए हैं, उनका परि याग अमम्भव नहीं है। कविराज के मतानुसार विदुर वाचाल और छँल होता है वह मोछें रखना व्यर्थ समझता है परन्तु बाल लम्बे-लम्बे रखता है, वह गली का बाघ (कुत्ता) है परन्तु युद्ध में गौ बन जाता है, वह शस्त्राम्त्र धारण करते समय तो देर लगाता है परन्तु उतारते समय फुर्ती दिखाता है, वह समझा से नहीं मानता, डंडे से फिटने पर ही काम करता है, गाल बजाना, बाल मंवारना और आवारा घूमना उसके प्रिय कार्य हैं। सार यह कि जैसी वेशभूषा और चाल-ढाल आज के गुण्डों में पाई जाती है वंसी ही विदुरों की होती थी। यद्यपि 'सो गोला घर सून' कहकर कवि ने उसके जीवन की

१. बी० एस० आपटे: प्रेक्लिफ़ल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (बम्बई १९२१), पृष्ठ ८५६

२. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, विदुरबत्तीसी, पृष्ठ ६०।२७

निर्गन्धकता का प्रतिपादन किया है तथापि एक उपयोगिता उन्हें भी स्वीकृत करनी ही पड़ी । वह यह कि उन्हीं से तुलना करने पर असल नसल की पहचान हो सकती है । काव्य में यद्यपि कुछ दोहे नीरस भी हैं तो भी अधिकतर पद्य व्यंग्यपूर्ण होने के कारण मनोहर हैं । यथा—

बालमियो, अलबेलियो लाल केसियो भेद ।
विदरां रे ऐ व्याकरण, विदरां रे ऐ वेद ॥^१
गोलो कह बतलावियाँ, चिड़ ऊठे चंडाल ।
जग में सोधी नहँ जुड़ी, गोला माफक गाल ॥^२
बोछू वानर व्याल विष, गरदभ गंडक गोल
ए अलगाइज राखणा, ओ उपदेस अमोल ॥^३

इसी काव्य के अंतिम दोहे से अनुमान होता है कि इसके साथ-ही-साथ वैप्राख में 'जतीरास' की भी रचना की गई थी जिसे किंव ने इस कृति का दूल्हा कहा है^४ और जो आज अप्राप्य है ।

(ख) प्रशंसात्मक काव्य

इस वर्ग के अं गंत बांकीदास की एक ही कृति है—धवल पच्चीसी । धवल अर्थात् श्वेत बल के असाधारण गुणों की आर प्राचीन कवियोंका ध्यान भी आकृष्ट हुआ था ।^५ उन्होंने इसके विलक्षण भार-धारण, शकट-वहन, स्वामिभक्ति आदि गुणों को देखकर कई स्फुट पद्य रचे थे और उनके व्याज से सेवकों को स्वामिभक्ति का सुन्दर पाठ पढ़ाया था । परन्तु जहाँ बांकीदास ने इस काव्य के मिष से सेवकों को स्वामिमेवा की शिक्षा दी है वहाँ उन्होंने स्वामियों को भी सेवकों से सद्व्यवहार करने की प्रेरणा की है । जैसे—

धवल सरीखी धवल है, की कीजं के वार ।
जंतौ भार भलावियं, तेतौ खंचण हार ॥^६
खंध न फेरें धर वहै, धवला एह घरम्म ।
राघव जयां रं राखही सोंगा तरणी सरम्म ॥^७
वियं चहीलं चालतां, आर गाल इक दोय ।
खाइती होती हुवं, धवल न खोटौ होय ॥^८

१. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २. विदुरबत्तीसी, पृष्ठ ८४।४ बालमिया, अलबेलिया, लालकेसिया मारवाड़ के अश्लील भीतों के नाम हैं ।

२-३. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २. विदुर बत्तीसी पृष्ठ ८८।१८, ९१।३३

४. विदुर बत्तीसी बीदली, जतीरास घर जास । व्याह थयो वंसाख में, पूरण प्रेम प्रकास ॥ बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, विदुर बत्तीसी, पृष्ठ ९२।३६

५. सु० २० भा० पृष्ठ २३४-२३५

६-८. बांकीदास ग्रंथावली, भाग १, पृष्ठ ३८।४, ४२।२३, ४२।२०

यद्यपि रचना अन्योक्तिमयी है तथापि अभिधेयार्थ के अधिक प्रबल होने के कारण विशेष सरस नहीं।

आर्थिक नीतिकाव्य—कवि ने आर्थिक नीति पर जिन काव्यों की रचना की है, वे दो वर्गों में विभाज्य हैं—

(क) प्रशंसात्मक (१) संतोष बावनी (२) दातार बावनी

(ख) निंदात्मक (१) कृपण दर्पण (२) कृपण पच्चीसी

(ख) प्रशंसात्मक काव्य

१. **संतोष बावनी**—संतोष और संतोषियों की प्रशंसा तथा लोभ और लोभियों को निंदा ही इस कृति का विषय है जिस पर संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश सभी भाषाओं में पर्याप्त लिखा जा चुका था। लोभ के कारण मनुष्य दूसरों का गला काटता है और अपना भी कटवा बैठता है, वस्त्राच्छादित भी लोभी नग्न होता है और नग्न भी संतोषी आवृत, लोभ ऐसा विलक्षण गुरु है जो धनोपार्जन की अनेक कलाएँ सिखा देता है, अन्धेर कुक्कुर घर-घर भटककर भी उतना खान नहीं पाता जितना घंघरालों कुंजर अपने स्थान पर स्थिर रहता हुआ, लोभ की अग्नि संतोष के जल से ही शांत होती है और संतोष सत्संगति तथा शास्त्रों के पठन-श्रवण से उत्पन्न होत है। आदि सुंदर उक्तियां तो काव्य की शोभावद्धक हैं ही, दो बातें विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। प्रथम, सुन्दर सांग रूपकों का प्रयोग; द्वितीय, लोभी मनुष्यों की संकटपूर्ण यात्राएँ। तृष्णा के कारण लोग हिम-वृष्टि को खेलकर तथा हिमाच्छादित पर्वतों को लाँचकर चीन, भूटान, हलब, यमन, हबश, तातार आदि देशों से स्फटिक, दर्पण, इत्र, हाथी, कस्तूरी आदि पदार्थ लाते हैं। अनेक दोहों पर प्राचीन भारतीय कवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और कहीं-कहीं विदेशी प्रभाव भी। कुछ उदाहरण लीजिए—

मन गज जग सर माँहि, लोभ घांस दस कर लियो।

तुरत छुड़ादण ताहि, होय संतोष हरि हमें ॥^१

आवं जो अकलीम, सात हेक सुरताण रं।

नहीं जिका वे नीम, ईछं लेया आठमी ॥^२

गुरु प्रसाद संतोष गज, जे नर बंटा जाय।

जग लालच कूरर जियां, लाल सकं न लगाय ॥^३

२. **दातार बावनी**—यह पुस्तक 'सुजस छत्तीसी' से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। 'सुजस छत्तीसी' में कवि ने यश को लक्ष्य मान कर दान को उस के प्रधान-साधन के रूप में वर्णित किया है और इसमें दान की प्रेरणा के साथ-साथ देश-विदेश के वाष्पा, आसा, कर्ण, हातम आदि दानी व्यक्तियों का यशोगान सविस्तर किया गया है। अपने सभाकवि सूय को सात सिंध प्रदान करने वाले जामनगर-नरेश ऊनड़ की प्रशंसा कवि ने अनेक दोहों में की है। जैसे—

१-१. बांकीदास ग्रंथावली, भाग ३, संतोष बावनी, पृष्ठ ५३।१, ५८।२७, ६१।३६

माई एहा पूत जएण, जेहा ऊनड़ जांम ।

दीधी सातूं सिब इम, जिम दीजें इक गांम ॥^१

कवि के विचार में दाता ही माता, पिता और देवता है, इसलिए वह ब्रजपति से प्रार्थना करता है कि रोटी बाँटने वालों की मोटी नींद (मृत्यु) दूर ही रहे—

जग दातार जनारदन गिरिधारी गुण गेह ।

ब्रजपत रोटी बाँटणों मोटी नींद मत देह ॥^२

कवि ने काव्य में दान, दाता और प्रतिग्रहीता के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बातें कहीं हैं; जैसे—ब्राह्मण, चारण, स्वामी आदि को मोटे भाग्य और मोटे मन वालों से ही मांगना उचित है, सूर्योदय पर दाता के मुखदर्शन से भूख, भय, क्लेश आदि नष्ट होते हैं जैसे भिक्षु को मांगना, वैसे दानी को देना अच्छा लगता है, यशप्रिय लोग धन-प्रिय नहीं होते, अपने हाथों से दान देकर अपना यश अपने कानों से सुनना चाहिए, अकेला दान अनेक रोगों का नाशक है, उदारता वित्त की मात्रा पर निर्भर नहीं है, दाता के हृदय पर निर्भर है, दाताओं को दान देते देखकर कृपणों के हृदय बिदीरण हो जाते हैं आदि । इस प्रकार की उक्तियाँ निस्सन्देह कवि के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा तत्कालीन लोकविश्वासों पर प्रकाश डालती हैं । इस भावपूर्ण रचना के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

दाता धन जेतौ दिये, जस तेतौ घर पीठ ।

जेतौ गुल लै बालियाँ, तेतौ जीमण भीठ ॥^३

मोटी दाता मांगियो, तोटी भाजं तेण ।

कीजें सायर खेप किल, जुड़ें जवाहर जेण ॥^४

क्यूं न सूकौ कबर में, हातम हंडो हृत्य ।

हातम ले उण हृत्य सूं, अपहड़ बांटी अत्थ ॥^५

(ख) निन्दात्मक काव्य

१. कृपण दर्पण—कविराज ने स्वयं ही ग्रंथ-रचना का उद्देश्य कृति के अन्त में यों स्पष्ट कर दिया है—

कृपणों नूं कृपणों तणों, रूप दिखावण काज ।

ग्रंथ कृपण दर्पण कियो, रोभांवरण कविराज ॥^६

दातृ-प्रशंसा के समान कृपण-निन्दा भी भारतीय नीतिकवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है । इस विषय पर व्यास, क्षेमेन्द्र, रिसुक, सूचिगोभट, रविगुप्त आदि अनेक कवियों की सुन्दर सूक्तियाँ संस्कृत-संग्रहों में दिखाई देती हैं । परन्तु बांकीदास की कृति के अधिकतर पद्य मौलिक हैं, प्राचीन काव्यों से प्रभावित नहीं । रचना हास्य रस से

१-२. बांकीदास प्रयावली, भाग १, दातार बावनी, पृष्ठ ५६।४२, ४६।३

३-५. " " " " " पृष्ठ ४६।१२, ५०।१७ ५४।३६

६. बांकीदास प्रयावली, भाग २, कृपण दर्पण, पृष्ठ ३६।४४

प्रपूर्ण है। अनेक दोहों से कवि की उत्कृष्ट कल्पना-शक्ति का सुन्दर परिचय प्राप्त होता। जैसे—समुद्र-यात्रा में कंजूस के साथ पोत पर न बैठना चाहिए क्योंकि उसने रत्नाकर की पुत्री को पृथ्वी में दफ़ना रखा है, कृपण के घर में यमराज के दूतों के बिना कोई जीव-जन्तु नहीं जा सकता, सूम चारणों, भट्टों और ब्राह्मणों से कहा है कि आप तो सम्मान से ही संतुष्ट हो जाते हैं, दान से तो डोम प्रसन्न होते हैं, इत्यादि।

रचना में दो बातें विशेष रूप से उल्लेख्य हैं प्रथम, कृपण-कृत कपाट-प्रशंसा और दूसरी, कृपणों के नौ प्रकार। कृपण के मत में याचक एक बला है और उससे बचाने के लिए ही विरंचि ने फाटक की रचना की है। नीतिकारों ने सदा ही भाइयों तथा मित्रों को दो बाहु माना है परन्तु कृपण दो कपाटों को ही निज बहुत समझता है। कवि ने कृपणों के ये नव भेद गिनाये हैं—मीठा सूम, हाजर-नाजर सूम जंबुक, सूम, घाम घूम सूम, पर्दा-पोश सूम, चोदू सूम, उधारिया सूम, मज़ाकी सूम दुष्ट सूम और अंध सूम,। कवि ने एक-एक दोहे में एक-एक सूम का ऐसा लक्षण दिया है कि पाठक पढ़ कर लोट पोट हो जाता है। कृति के कुछ दोहे देखिए—

कृपण बराटक पावियाँ, नाटक करे निलज्ज ।
 सुण जाचक खाटक करे, सब दिन फाटक सज्ज ॥^१
 मंगण लारे मंडिया, आगे भागी जाय ।
 सुजस-कुजस न संभले, जंबुक सूम कहाय ॥^२
 दियो सबद सुणियाँ दुसह, लागे तन मन लाय ।
 सूब दियो न करे सदन, परब दिवाली पाय ॥^३
 रत ज्यूँ दत जाचक रसक जाचे बे कर जोड़ ।
 ननो भंगे नव नार ज्यूँ मूढ़ कृपण मुख मोड़ ॥^४

४. कृपण पच्चीसी—‘कृपण दर्पण’ ने वाद इस ग्रन्थ पर दृक्पात करने से तुरन्त अनुमान होता है कि यह ग्रन्थ बांकीदास कृत नहीं है। उक्त अनुमान के आधार निम्नलिखित हैं—

१. कृपण-दर्पण के पश्चात् उसी विषय पर कवि को एक अन्य काव्य लिखने की आवश्यकता ही न थी।

२. बांकीदास के शब्द, दोहा और गीत के अपहारक त्रिविध कुकवियों का उल्लेख ‘कुकवि-बत्तीसी’ में किया है।^५ चौर-कवियों के निंदक सुकवि बांकीदास से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे पूर्ववर्ती कवियों की भाव-भाषा का अपहरण करेंगे। परन्तु ‘कृपण पच्चीसी’ के अनेक दोहे इस दोष से मुक्त नहीं हैं; जैसे—

१-३. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, कृपण दर्पण, ३२।१०, ३८।३७, ३५।२५

४. " " " " पृष्ठ ३७।३२

५. " " " " कुकवि बत्तीसी, पृष्ठ ७८।११

देव किसी उपमा दिवां, ते सरण्या सह कोय ।

तूभ सरीखो तुहिज तू, अवर न दूजो कोय ॥^१ (ईसरदास)

दरब किसी ओपम दियां, तो सूं है सह कोय ।

तो सारीखो तुहिज तू, अवर न दूजो कोय ॥^२ (बांकीदास)

ईसरदास ने जिस दोहे को प्रभु के सम्बन्ध में लिखा था, उसे यहाँ द्रव्य के विषय में कह दिया गया है । भाषा का अ-हरण तो अप्रत्याख्येय है ही । इसी प्रकार कृपण-पच्चीसी का निम्नलिखित दोहा पीपा-कृत है, केवल पीपा के स्थान पर 'पापी' कर दिया गया है और एक पांडुलिपि में तो 'पीपा' पाठ मिलना भी है—

पापी पाप न कीजिए, न्यारा रहिए आप ।

करणी आपो आपरी, कुण बेटो कुण बाप ॥^३

३. काव्य में उपदेशात्मक दोहे भी कई हैं,^४ यह बात कृपण-दर्पण में दिखाई नहीं देती ।

४ कृपण-पच्चीसी के पाँचवें दोहे में सावन में मुरापान न करने वाले को कृपण कहा गया है । इस प्रकार के निन्द्य कर्म की प्रेरणा कविराज ने अन्यत्र नहीं की ।

५. इस काव्य के कई दोहों की भाषा भी बांकीदास की प्रतीत नहीं होती ।

इसके विपरीत निम्नलिखित कारणों से रचना बांकीदास-कृत अनुमित होती है—

१. तवर्ग से सम्बन्धित कूट-दोहा कृपण-दर्पण में भी है और कृपण-पच्चीसी में भी—

एक वरग में ऊपना, सूम कहै इकसार ।

दोलत हरं दकारियो, दोलत थंभ नकार ॥^५

मूल बरण उणईसमो, इवक बीसमय आन ।

साधहु धिय तुम जलन सो, बिस्तुक भो भगवान ॥^६

प्रथम दोहे का भाव यह है कि दकार (दान) धन को हटा है और नकार (दान-निषेध) धन को संचित करता है । दूसरे का आशय यह है कि पहले उन्नीसवें अक्षर (ध) को लिखें और आगे बीसवें अक्षर (न) को । इस प्रकार निर्मित 'धन' का परिश्रमपूर्वक संचय करे ।

१. ईसरदास, हरि रस, १४

२. बांकीदास ग्रंथावली, भाग ३, कृपण पच्चीसी, पृष्ठ ८४।१४

३. " " , " , " पृष्ठ ८६।२१

४. " " , " , " पृष्ठ ८२।६, ८४।१५, ८५।१६

५. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, कृपण दर्पण, पृष्ठ ३४।२१

६. " " ' भाग ३, कृपण पच्चीसी, पृष्ठ ८५।१८

२. 'कृपण-दर्पण' में तो नौ प्रकार के सूत्रों का उल्लेख ही किया गया है परन्तु यह नहीं बताया गया कि उनमें से निन्द्यतम कौन-सा है। इस कमी को 'कृपण-पच्चीसी' का निम्नांकित दोहा पूर्ण करता है जो हमारे विचार में बांकीदास का है—

सारा भदतारां मंहि आछो पड़दा पोस ।

मुंह न दिखावै मंगरां देणो उत्तर दोस ॥^१

वस्तुतः यह दोहा 'कृपण-दर्पण' से ही सम्बन्धित है और किसी अज्ञात कारण से 'कृपण-पच्चीसी' में लिखा गया है।

३. कृपण के साथ जल-यात्रा करने का निषेध, 'कृपण-दर्पण' में भी किया गया है और 'कृपण-पच्चीसी' में भी—

जिका न दीधो जनम घर, हेको कुरा वुज हत्य ।

नहिं बंसीजे नांव में, सायर सूना सत्य ॥^२

की ह्वै तूबा बांधियां, सूमां हके सत्य ।

नर डूबै बहती नदी, सायर तरण समत्य ॥^३

४. भाषा और उनमें प्रयुक्त भारी-भरकम सबाब (सबाब = पुण्य), तफावज (तफावत = फर्क) आदि विदेशी शब्दों के प्रयोग से कई दोहे बांकीदास-प्रणीत ही प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह कृति पूर्ण रूप से बांकीदास-कृत प्रतीत नहीं होती। सम्भवतः उनके किसी शिष्य वा सम्बन्धी ने कुछ उनके और कुछ अपने दोहे संगृहीत कर 'कृपण पच्चीसी' नाम दे दिया है।

अस्तु, दोहे किसी के भी हों, इसमें सन्देह नहीं कि अधिकतर दोहे भावपूर्ण हैं। जहाँ वे कृपण की मनोदशा को सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं वहाँ कवि के कौशल के भी परिचायक हैं। जैसे—

उत्तर नूं खाली कहै, उर ज्यां बड़ो अँधेर ।

उत्तर विसा सुमेर है, उत्तर मांहि कुबेर ॥^४

कहूँ अरज कमलालया, त्यागां बार न तुज्ज ।

जिरा दिए ओ जग छडिस्यां, उरा दिन तोसूँ कज्ज ॥^५

मिश्रित नीति—इस वर्ग के अन्तर्गत कवि के दो ही ग्रंथ आते हैं—(१) नीति मंजरी (२) मोहमर्दन।

१. नीतिमंजरी—इस ग्रंथ में राजोपयोगी नीति का ही विशेष रूप से वर्णन

१. बांकीदास ग्रंथावली भाग ३, कृपण पच्चीसी, पृष्ठ ८७।२७

२. " " भाग २, कृपण दर्पण, पृष्ठ ३३।१४

३-४. " " भाग ३, कृपण पच्चीसी, पृष्ठ ८६।२४, ८३।११

५. " " " " " ' पृष्ठ ८४।१६

किया गया है और इसके भी एक अंग, शत्रु के प्रति व्यवहार, का। काव्य का सार यह है कि शत्रु से अपनी तो सावधानता-पूर्वक रक्षा करनी चाहिए और उसका छल-कपट से भी संहार करना चाहिए। ध्यान देने की बात है कि 'सूर छत्तीसी' आदि में शत्रु के प्रति आदर्शमय व्यवहार का उल्लेख किया गया था परन्तु यहाँ दृष्टिकोण उदार नहीं है, व्यावहारिक है। शत्रु, राजाओं के ही नहीं होते, सामान्य-जनों के भी होते ही हैं, अतः काव्य सामान्य रूप से सामान्य-जनों के लिए भी उपयोगी है। कृति में वृद्धि-तत्त्व की प्रधानता और कल्पना-तत्त्व तथा रागतत्त्व की न्यूनता है अतएव रचना काव्यत्व की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं है। यथा—

हण विषधर विषधर बचौ, आग बुझाय अंगार ।

गिरण मार सुत पिसण रौ, असमझ लिखी उबार ॥^१

दायण मारं दाव सूं, नीत बात निरधार ।

पेख हिरण चीतौ प्रगट, मूसं पेख मँजार ॥^२

२. मोह भर्दन — इस कृति का स्वर सन्त-कवियों के नीति-काव्य के सदृश ही है। जब तक शरीर, परिवार, संपदा और संसार से प्यार बना रहता है तब तक मानव मोह के चंगुल से मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिए कवि ने शरीर को दुःखों, रोगों, व्यसनों तथा मलों का आगार कहा है। वह रसना पर राम और धरा पर नाम रखने की प्रेरणा करता है। दीरता, कीर्ति, वंश तथा वित्त से जन्म अभिमान के त्याग तथा जा, तप और विवेक से अनुगम रखने की प्रेरणा की गई है। सब सम्बन्ध भी झूठे हैं, इसलिए उनके प्रति प्रेम त्याग्य है। संपत्ति साथ नहीं जाती, इसलिए उसका संग्रह व्यर्थ है। जीव-हिंसा पाप है क्योंकि अन्य प्राणियों को भी प्राण हमारे ही समान प्रिय है तथा हिंसा से दया-धर्म का नाश होता है। काल-रूपी विडाल से आयु-रूपी पय की रक्षा करना असम्भव है। मृत्यु की दृष्टि में कोई भी स्थान और व्यक्ति अगम्य नहीं है। वह मनुष्य को दुग्ना पशु बना देती है क्योंकि मृतक अरथी उठाने वाले चार सम्बन्धियों के आठ पावों से दमन को प्रस्थान करता है। संसार झूठा है और इसका प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण क्षीण होता जा रहा है। इसे मत अपनाओ क्योंकि सुख इससे दूर और दुःख ही इसके समीप रहता है। इसी प्रकार की वैराग्यमयी उक्तियों से रचना पूर्ण है। रचना विशेष सरस तो नहीं है परन्तु अनेक सुन्दर रूपकों और सुन्दर कल्पनाओं से समन्वित है। अनेक विदेशीय, अभिमानी शासकों की चर्चा कवि के इतिहास-ज्ञान का सम्यक् परिचय देती है। संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन कवियों का प्रभाव भी अनेक दोहों पर स्पष्ट लक्षित होता है। कुछ दोहे द्रष्टव्य हैं—

१. बाकीदास ग्रन्थावली, भाग १, नीति मंजरी, पृष्ठ ६१।३

२. " " " " " पृष्ठ ६७।२८

तन दुख नीर तड़ाग, रोज विहंगम रुझड़ो ।
 विसन सलीमुख बाग, जरा बरक ऊतर जबल ॥^१
 चरणां आठां चालियो, जंगल री रुख जाय ।
 पुरुष हूत दूंगूं पसू, अंतक कीधो आय ॥^२

आलोचना

दरबारी नीतिकाव्य—बांकीदास के नीतिकाव्यों के अध्ययन के समय यह भावना बराबर बनी रहती है कि उनका अधिकतर सम्बन्ध राज-दरबार से है, सामान्य जनता से नहीं। चुगल-मुख चपेटिका की रचना राज-सभासदों को पिशुनता के परित्याग की शिक्षा देने के लिए की गई प्रतीत होनी है। सूर छत्तीसी, सीहू छत्तीसी, बीरविनोद, मावड़िया मिजाज, कायर बावना और घवल पच्चीसी का प्रणयन राज-सेवकों में वीरता और स्वामिभक्ति के भाव भरने के उद्देश्य से किया गया है। सुजस छत्तीसी, दातार बावनी, कृपण दपण और कृपण पच्चीसी का उद्देश्य राजाओं आदि को कृपणता के त्याग और वदान्यता के अंगीकार द्वारा यशोविस्तार की प्रेरणा करना है। इसी प्रकार नीतिमंजरी शत्रुमर्दन की, विदुर बत्तीसी निकम्मे लोगों को दरबार से दूर रखने की, वैसक वार्ता तथाकथित अभिजात वर्ग को वेश्याओं से और कुकवि बत्तीसी वृकवियों को राज-सभाओं से दूर रहने की शिक्षा देने के लिए रची गई है। शेष चार काव्य—वचनविवेक पच्चीसी, वैस वार्ता, संतोष बावनी और मोहमर्दन-दरबारी वातावरण से प्रभावित नहीं हैं और सर्वसाधारण के हितार्थ ही रचे गये हैं। बांकीदास के उक्त १६ काव्यों में कुल ६१५ पद्य हैं और सामान्य जनता के लिए रचित उक्त चार ग्रन्थों में १६८। इस प्रकार काव्य-संख्या तथा पद्य-संख्या, दोनों की दृष्टि से, बांकीदास के नीतिकाव्य का लगभग ८० प्रतिशत भाग मुख्यतः राज-दरबार से सम्बन्धित है और २० प्रतिशत जन-साधारण से। फिर भी इस काव्य को राजनीति-विषयक काव्य कहना उचित नहीं क्योंकि यह राज-शासन से इतना सम्बन्धित नहीं जितना कि राज दरबार से सम्बन्धित व्यक्तियों से। यहाँ प्रसंग वश इतना और कह देना उचित होगा कि रहीम आदि दरबारी कवि तो थे परन्तु उनका काव्य मुख्य रूप से साधारण जनता के शिक्षार्थ रचा गया था और बांकीदास का प्रधान लक्ष्य ऐसे काव्यों का निर्माण था जिनसे राजा और राजकवि दोनों का हित हो।

रस और भाव—बांकीदास के नीतिकाव्यों की विशेषता यह है कि वे सरस और भावपूर्ण हैं, नीरस पद्यों का संग्रहमात्र नहीं हैं। उनमें वीर रस और हास्य-रस की प्रधानता है। वीर रस के दो ही भेदों—युद्ध वीर और दानवीर की व्यंजना हुई है। शान्त रस तथा संतोष, स्वामिभक्ति और विवेक भाव एक-एक कृति में प्रधान हैं। शेष रस और भाव छिटपुट रूप से दिखाई देने हैं। निम्नांकित तालिका से उनके

काव्यों का रसदृष्टि से वर्गीकरण स्पष्ट हो जाता है—

(क) रस

१. वीर रस

(क) गूढ़ वीर—सूर छत्तीसी, सीहू छत्तीसी. वीरविनोद, नीति मंजरी ।

(ख) दानवीर—दातार बावनी, मृजस छत्तीसी ।

२. हास्य रस—कृपण दर्पण, कृपण पच्चीसी, बैसक वार्ता. कायर बावनी, मावड़िया मिजाज, चुगल-मुख-चपेटिका, विदुर बत्तीसी, कुकवि बत्तीसी, बैस वार्ता ।

३. शान्त रस—मोहमर्दन ।

(ख) भाव

(१) संतोष—संतोष बावनी ।

(२) स्वामिभक्ति—धवल पच्चीसी ।

(३) विवेक—वच-विवेक पच्चीसी ।

इन प्रधान रसों तथा भावों के उदाहरण ऊपर उद्धृत पद्यों में सहज ही देखे जा सकते हैं । स्फुट रूप से आगत कुछ अन्य रसों के उदाहरण निम्नवर्ती पद्यों में दिये जाते हैं—

कर कर्म लोदण भरै, मुख ललरावै जीह ।

मावड़िया जुध में मिलै, पुगतापण रा दीह ॥^१ (भयानक रस)

जस री गत अदभुत जिका, सत धारियां मुहाय ।

नर जीवै नर लोक में, जस अमरापुर जाय ॥^२ (अद्भुत रस)

नायक तीजी नार री, मो दुखदायक मार ।

धरणीधर खाँदह धकै, परणी करै पुकार ॥^३ (कृष्ण रस)

इसी प्रकार रौद्र तथा धीमत्स रस के उदाहरण भी वीरता-प्रतिपादक काव्यों में प्राप्त हो जाते हैं परंतु वात्सल्य-रस का अभाव ही प्रतीत होता है । स्वयं निस्संतान होने से श्रीर राज-दरबारी वातावरण में व्यस्त रहने से ही कदाचित् कवि की कृतियों में इस रस का अभाव है ।

भाषा—उक्त वृत्तियों में प्रौढ़, परिमार्जित तथा सरस डिगल भाषा का प्रयोग किया गया है । इनकी रचनाओं में फारसी-अरबी शब्दों की विस्मयजनक अधिकता है । इसका कारण इनका प्रौढ़ फ्रांसी-ज्ञान तथा फारसी-साहित्य का विस्तृत अध्ययन है । ऐसा लगता है कि ये काव्य-रचना के समय विदेशी शब्दों के परिहार का यत्न न करते थे और जो देशी-विदेशी शब्द सूझ जाता था, निस्संकोच लिख देते थे । हाँ, इन्होंने

१. बांकीदास ग्रन्थावली, भाग २, मावड़िया मिजाज, पृष्ठ १८ १८।२६

२. " " भाग ३, सुजस छत्तीसी, पृष्ठ ५१।३१

३. " ' भाग २, बैसक वार्ता, पृष्ठ ६।४४

पृष्ठ पर दिखाई देती है, हास्यव्यंग्यमयी शैली का प्रयोग भावडिया मिजाज आदि निन्दात्मक काव्यों में और अन्यापदेशात्मक शैली का सीह छत्तीसी, धवल पच्चीसी आदि में प्रचुरता से दिया गया है। उपर्युक्त शैलियों में से अधिकतर के उदाहरण ऊपर प्रसंगवश आ ही चुके हैं। कुछ अन्य शैलियों के उदाहरण लीजिए—

आद अंत दुय अंक नाम जिफा बिन नीडरो ।

बात भली आ बंक, राख दूर निज रसण सूं ॥^१

(उपदेशात्मक तथा कूट शैली)

सहरयार मीनो चहर, कंकाऊस जुहाक ।

सुलेमान जमसेद नूँ, फंस गयो जम फाक ॥^२

(ऐतिहासिक शैली)

पादावर्तक शैली का उदाहरण नीतिमंजरी के ४-६ दोहों में अवलोकनीय है, जहाँ प्रत्येक सोरठे का चतुर्थ चरण 'पैलां घर वांछै पियण' है।^३

अलंकार—कवीर, वृन्द आदि के नीतिकाव्यों में प्रायः यह देखा जाता है कि वे दोहे के एक दल में तो वर्ण्य विषय का उल्लेख करते हैं और दूसरे दल में दृष्टान्त आदि द्वारा वर्ण्य का समर्थन। इस प्रकार काव्य के विषय और अलंकार की मात्रा बराबर-बराबर होती है। पाठक अनुभव करता है कि वर्ण्य विषय में स्वभावतः इतनी शक्ति नहीं है कि सहृदय के हृदय में प्रविष्ट हो सके। परन्तु बांकीदास म प्रायः यह बात नहीं देती जाती। इनके दोहों में भावों की इतनी प्रबलता रहती है कि उन्हें अलंकारों का अवलम्ब लेने की अपेक्षा नहीं रहती। ऐसे लगता है कि इनका काव्य कवि हृदय से सहज सुन्दर रूप में निस्सृत होता है, ऐसा नहीं कि पहले वर्ण्य विषय उद्भूत हुआ हो और बाद में कवि ने उस चमत्कृत करने के लिए उसे गहना पहना दिया हो। बांकीदास के काव्यों में इतने अधिक अलंकारों का सहज प्रयोग हुआ है कि आलोचक सोच में पड़ जाता है कि किसे लिखे और किसे छोड़े। हमारे विचार में ऐसे अलंकार बिरल ही होंगे जो प्रयुक्त न हुए हों। फिर भी शब्दालंकारों में वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा की बहुलता दिखाई देती है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक अप्रस्तुत-प्रशंसा, अर्थान्तर-यास, उत्प्रेक्षा और दृष्टान्त के अतिरिक्त उदात्त, हेतु, समुच्चय, विनोक्ति, विरोधामास, निरुक्ति, विभावना, निदर्शना आदि का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। यथा—

१. आशय-‘खगालय’ के आदि और अन्त के अक्षर हटाने पर शेष बचे हुए शब्द (गाल = गाली) को अपनी जिह्वा से दूर रखो।

(बांकीदास प्रभावली, भाग ३, उच्चनविबेक पच्चीसी, पृ० ७८। १६)

२. ” भाग २, मोहमर्दन, पृ० ४४। २१

३. ” भाग १, नीतिमंजरी, पृ० ६१। ४-६

दे नँह सँधा नूँ दगो रहे कुतो ही ज्ञान ।
 देवे सँधा नू दगो, साह करं सनमान ॥^१ (लाटानुप्रास)
 हँसियो जग आसक हुए, बसियो खोवण वीत ।
 रसियो नागो रांड सूँ, फसियो होण फजीत ॥^२ (वृत्त्यनुप्रास)
 केहर कुंभ विवारियो, गजमोती खिरियाह ।
 जांणे काला जलद सूँ, ओला ओसरियाह ॥^३ (उत्प्रेक्षा)
 समर ढिलो कर सांम नूँ, लस आवं लवड़ाक ।
 मूँछ थकां मूँडत जिके, नाक थकां बिरा नाक ॥^४ (विरोधाभास)

गुण—कुछ इने-गिने पद्यों के बिना, जिन में कवि ने कूट-शैली का आश्रय लिया है, सर्वत्र प्रसाद गुण व्याप्त है। शेष दो गुणों में से माधुर्य की अपेक्षा ओज की मात्रा अधिक है क्योंकि अधिकतर कृतियाँ वीरता-व्ययजक और निन्दात्मक हैं तथा इन दोनों में ही ओज स्वभावतः अधिक आ जाता है।

दोष—बांकीदास उच्च कोटि के कवि थे। उनकी रचना उन दोषों से मुक्त है जो सामान्य कवियों में प्रायः दिखाई देते हैं। फिर भी कहीं-कहीं ऐसे स्थल आ जाते हैं जहाँ से पाठक निर्बाध रूप से आगे नहीं बढ़ सकता। जैसे—

बंरा रा मोठा बचन, फल मोठा फिपाक ।

वे खाधां वे मानियां, हुवा कृतांत खुराक ॥^५ (अक्रम)

ऐसे स्थलों से भी अधिक आपनिजनक वे स्थल हैं जहाँ कवि ने अपने निन्द-काव्यों में मावड़ियों, कृपणों, वैश्यों आदि के सम्बन्ध में नितान्त कटु ही नहीं, अश्लील भाषा का प्रयोग किया है।^६ कहीं-कहीं तो दुष्टान्त भी अत्यन्त अश्लील हैं। ऐसे असभ्य शब्दों तथा वाक्यों की आशा एक विद्वान् कवि से स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। फिर भी जैसे कबीर-से संत के मुँह से भी विरोधियों के प्रति ऐसे शब्द निस्सृत हो ही गये थे वैसे ही स्वभाव से उग्र बांकीदास भी उनका परिहार न कर सके। परन्तु अच्छी बात यही है कि उनके लगभग एक सहस्र नीति-पद्यों में ऐसे पद्य उंगली पर गिनने योग्य ही हैं।

संस्कृत के कवियों का प्रभाव—बांकीदास ने जिन विषयों पर अपने मुक्तक-काव्यों की रचना की है, वे नवीन नहीं थे। उन पर प्राचीन कवि थोड़ी बहुत रचना

१. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, वैस वार्ता, पृष्ठ ६८।४५
२. " २, वैसक वार्ता, पृष्ठ २।८
३. " भाग १, सीह छनीसी, पृष्ठ १८।३५
४. " भाग ३, कायर बावनी, पृष्ठ २६।३९
५. , भाग १, नीति मंजरी, पृष्ठ ६६। २३
६. " भाग २, पृष्ठ १६।१६, ३८।४०, ६१।१०

कर ही चुके थे। फिर भी ऐसे स्थल विरल ही हैं जहाँ पर उन्होंने प्राचीन कवियों के भावों का अनुवाद-मात्र कर दिया हो। जहाँ पर इनके और प्राचीन कवियों के पद्यों में साम्य दिखाई देता भी है, वहाँ पर भी इन्होंने उन से संकेत-मात्र ही लिया है, उसका विकास अपनी प्रतिभा के द्वारा ही किया है। जैसे—

(क) नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगः ।

विक्रमाजितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥^१ (नारायण पंडित)

चमर दुलै न सीह सिर, छत्र न धारै सीह ।

हाथल रा बल सूं हुबौ, औ मृगराज अबीह ॥^२ (बांकीदास)

जिस प्रकार के नीति-विषयक काव्यों की रचना बांकीदास ने की है, उसी प्रकार के काव्यों की रचना काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ग्यारहवीं शती में कर चुके थे। दोनों के अनेक पद्यों में कहीं-कहीं इतना अधिक साम्य है कि बांकीदास पर क्षेमेन्द्र के प्रभाव को स्वीकृत करना ही पड़ता है। जिस प्रकार क्षेमेन्द्र ने 'कलाविकास' के 'लोभवर्णन' शीर्षक द्वितीय सर्ग में बनियों पर व्यंग्य कसे हैं उसी प्रकार बांकीदास ने 'वैस वार्ता' में। जैसे—

क्रयविक्रयकटतुलालाघवनिःक्षेपरक्षणव्याजः ।

एते हि दिवसचौरा मुष्णन्ति मुदा जनं वरिणः ॥^३

दगो पालड़ा डांडियाँ तोला मभ तणियांह ।

गुर सूं ही गुदरे नहीं, वरिण केत दणियांह ॥^४

इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने की है। वह यह कि क्षेमेन्द्र ने इसी सर्ग के अनेक पद्यों में चोरों की एक विशेष जाति 'किराट' का विशेष रूप से उल्लेख किया है। बांकीदास ने भी इसी 'किराट' के विकसित रूप 'किराड़' का प्रयोग 'वैस वार्ता' के अनेक दोहों में किया है—

लोभो ऽदटं प्रविष्टः कुटिलं हृदयं किराटानाम् ।^५ (क्षेमेन्द्र)

गोली सौ गणका जसी, सम सौ चोर किराड़ ।^६ (बांकीदास)

१. हितोपदेश (निरण्यसागर प्रेस, बम्बई १९४९ ई०) पृ० ८९

२. बांकीदास ग्रंथावली, भाग १, पृ० २४।२५

३. भावा-क्रय, विक्रय, कपटपूर्ण तराजू, हाथ की सजाई तथा धरोहर-रक्षा के बहाने से ये दिन में चोरी करने वाले चोर अर्थात् बनिधे लोगों को प्रसन्नतापूर्वक लूटते हैं। (काव्यमाला, गुच्छा १, पृ० ४३।४)

४. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, पृ० ५२

५. अर्थ- (शास्त्रज्ञों द्वारा परित्यक्त) लोभ किराटों के कुटिल हृदय गर्त में घुस गया।

काव्यमाला, गुच्छक १, पृ० ४३।३

६. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, पृ० ६०।७

‘कलाविलास’ के पंचम सर्ग में क्षेमेन्द्र ने कायस्थों को उद्दास का विषय बनाते हुए लिखा है कि वे लेख में अक्षर की तनिक-सी-रेखा मिटाकर ‘सहित’ का ‘रहित’ बना देते हैं—

‘रेखामात्रविनाशात् सहितं कुर्वन्ति ये रहितम् ।’

बांकीदास ने इसी भाव को एक बनिये से सम्बन्धित कर दिया है जो ‘हतायु’ को ‘शतायु’ बनाकर यमराज को भी धोखा देकर धरा पर लौट आया था—

दफ्तर सब दहयूं इसो, कियो सतायु सिताब ।

आयो पाछो चरणक इक, जमपुर सूं कर जाब ॥^१

उक्त उद्धरण इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त प्रतीत होते हैं कि बांकीदास ने कहीं-कहीं प्राचीन कवियों से भाव ग्रहण तो किये हैं परन्तु उनका विकास अपने प्रतिभावल से स्वतंत्र रूप में किया है ।

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नीतिकाव्यों की संख्या और सरसता की दृष्टि से कोई भी प्राचीन कवि कविराज बांकीदास की समता नहीं कर सका ।

२७. बेंताल

नीति के प्रख्यात कवि बन्दीजन बेंताल का काल अभी तक विवादास्पद है । शिवसिंह सरोज में इनका जन्म-संवत् १७३४ दिया गया है । इनके छप्पयों में, ‘बेंताल कड़े विक्रम सुनो’ भी पाँचवें या छठे चरण में नियमित रूप से दिखाई देता है । कुछ विद्वानों का अनुमान है कि किसी अज्ञात कवि ने प्राचीन विक्रमादित्य और बेंताल की कथाओं से इन नामों को ग्रहण कर लिया है । दूसरा मत यह है कि बेंताल चरखारी (बुंदेलखंड) के प्रसिद्ध गूणग्राही और सुकवि राजा प्रतापसाहि के सभाकवि थे जिनका शासनकाल १८३६ से १८८६ तक था । काल के अनिश्चित होते हुए भी इतना तो निश्चित ही है कि बेंताल मध्यकाल के एक प्रसिद्ध नीति-कवि थे और उनके छन्द बहुत लोकप्रिय थे ।

बेंताल का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ, कुछ स्फुट पद्य ही उपलब्ध हुए हैं । उन पद्यों की शब्दावली तथा भावों में भी कहीं-कहीं पर्याप्त भेद है ।^१ यद्यपि बेंताल के वर्ण्य विषय सब के जाने-बूझे हुए हैं तथापि उनके छप्पय नीरस नहीं लगते । इस का प्रधान कारण उन की भाषा और शैली की तीन विशिष्टताएँ हैं । प्रथम, प्रायः प्रत्येक

१. काव्यमाला, गुच्छक १, पृ० ६०।११

२. बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ ७२।६७

३. ना० प्र० सं० काशी के सभासंग्रह, सं० १३३४।८५६ के पत्र १३० के प्रथम पद्य की कविता कौमुदी, भाग १, के पृष्ठ ४६२ पर उद्धृत ‘अरे बेंल’ पद्य से तुलना कीजिए ।

पद्यमें वे किसी-न-किसी संज्ञा, विशेषण या क्रिया पद का इतनी अधिक बार और इतने सुन्दर ढँग से व्यवहार करते हैं कि वह कर्ण तथा अन्तःकरण को एक-साथ ही प्रभावित करता है। द्वितीय विशिष्टता है, प्रतिपाद्य विषय को परस्पर विरोधी तथ्यों द्वारा प्रभावशाली बनाना। छप्पय के प्रथम चार-पाँच चरणों में तो वे एक ही प्रकार के तथ्यों को निहित कहते हैं परन्तु षष्ठ चरण में एक ऐसा तथ्य प्रस्तुत कर देते हैं जो पूर्व-तथ्यों का सर्वथा विरोधी होता हुआ हृदय में तीर की तरह धंस जाता है। असल में वही उनका वास्तविक वर्ण्य विषय होता है। तीसरी विशिष्टता है, विनोदितयों का सुन्दर प्रयोग। इन विशेषताओं के कारण वे, भव्य भावों तथा ऊँची उद्भावनाओं के अभाव में भी, लोकप्रिय हो गये हैं। उन्होंने सुश्लेष ब्रजभाषा में तत्सम शब्दों को अधिमान दिया है और खुंवारी, बेपीर, मदं मुलुक, दर्द सायर आदि सरल विदेशी शब्दावली का भी निःशंक प्रयोग किया है। दो छप्पय देखिए—

राजा चंचल होय, मुलुक को तर करि लावै ।
 पंडित चंचल होय, सभा उत्तर वै आवै ॥
 हाथी चंचल होय, समर में सूँड़ि उठावै ।
 घोड़ा चंचल होय, भयट नैदान देखावै ॥
 ये चारों चंचल भये, राजा पंडित गज तुरी ।
 'बैताल' कहै विक्रम सुनो, लिरिया चंचल अति बुरी ॥^१
 ससि बिन सूनी रैन ज्ञान बिन हिरदै सूनी ।
 कुल सूनी बिन पुत्र पत्र बिन तरवर सूनी ॥
 गज सूनी इक दंत ललित बिन सायर सूनी ।
 विप्र सून बिन वेद और वन पुष्ट पढ़िहूनी ॥
 हरिनाम भजन बिन संत अरु, घटा सून बिन दामिनी ।
 'बैताल' कहै विक्रम सुनो, पति बिन सूनी कामिनी ॥^२

२८. मनरंग लाल

कन्नौज-निवासी दिगम्बर जैन श्रावक मनरंगलाल जी के पिता का नाम कनौजीलाल और माता का नाम देवकी था। इनके जन्म-निधन के काल का तो निश्चित रूप से ज्ञान नहीं है परन्तु इनका साहित्य निर्माण काल विक्रमी उन्नीसवीं शती का उत्तरार्द्ध है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) चौबीस तीर्थंकर का पाठ (सं० १८५७), (२) नेमचन्द्रिका, (३) सप्त-व्यसन चरित, (४) सप्तषि पूजा, (५) शिखर सम्मेदाचल माहात्म्य (सं० १८८६)। उक्त कृतियों में से 'सप्तव्यसन चरित' ही हमारे प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्धित है।

सप्तव्यसन चरित—इस कथा-संग्रहात्मक अपूर्ण नीति-काव्य की हस्तलिखित प्रति हमें अलीगंज (जिला-एटा) के जैन विद्वान् श्री कामता प्रसाद के सौजन्य से देखने को प्राप्त हुई। काव्य के प्रथम २६ पद्यों में जैन तीर्थंकरों का स्तवन है तथा ग्रन्थों के विषय का संकेत है। पर्वर्ती कथाओं में पद्य-संख्या इस प्रकार है—

१. छूत व्यसन कथा (पद्य ३०-१५७)
२. मांसव्यसन कथा (पद्य १-६५)
३. सुरापान व्यसन कथा (पद्य ६६-१५६)
४. वेश्या व्यसन कथा—
 - (क) चारुदत्त कथा (पद्य १-१२८)
 - (ख) रुद्रत्त सेठ की कथा (पद्य १-४३)
५. चोरी व्यसन कथा (अपूर्ण) (पद्य १-८४)

छठी और सातवीं कथाएँ जिनका उद्देश्य आखेट तथा परदाराभिगमन की निंदा था, लुप्त हो चुकी हैं। यद्यपि इस काव्य की रचना जैनधर्म में निषिद्ध प्रसिद्ध सप्त-व्यसनों के आधार पर की गई है तथापि यह सर्वसामान्य के लिए समान रूप से उपयोगी है। पाठकों को उक्त व्यसनों से विमुख करने के लिए कवि ने जिन कथाओं को चुना है वे प्रायः प्राचीन साहित्य से ली गई हैं, कवि-कल्पित नहीं हैं। छूत-व्यसन की कथा के लिए कवि ने पाण्डवों के छूत-जनित वनवास का, मांस-व्यसन की कथा के लिए वत्स देश के कुसुभीपुर के भूपाल नामक राजा के जिह्वालोलुप पुत्र वक के चरित्र का, सुरापान की कथा के लिए यादवों के मद्यपान द्वारा नाश की कथा का और वेश्या-व्यसन की कथा के लिए चारुदत्त तथा वसन्ततिलका की कथा का आश्रय लिया है। परन्तु ये कथाएँ अनुवाद रूप में नहीं हैं। कथाओं के बीज तो प्राचीन पुस्तकों से ले लिये गए हैं परन्तु उनका विकास कवि ने अपनी बुद्धि से किया है। कहीं-कहीं पात्रों के नाम भी परिवर्तित कर दिये गए हैं। जैसे, चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम की कथा संस्कृत-साहित्य में सुविख्यात ही है। यहाँ कवि ने नायिका का नाम वसन्तसेना के स्थान पर वसन्ततिलका कर दिया है। विषय की दृष्टि से यह बात भी स्मरणीय है कि यद्यपि कवि का मुख्य लक्ष्य उपर्युक्त सप्त-व्यसनों का खण्डन है तथापि प्रसंगवश जो अन्य नीति-विषय आ उपस्थित होते हैं, कवि उन पर भी निर्बाध रूप से लिखता है। जैसे, जब पाण्डव लाक्षाग्रह से सुरक्षित निकल भागते हैं तब कवि को पूर्वकृत पुण्यों के महत्त्व पर लिखने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

रस, भाव—चूँकि कथाओं के पात्र अनेक परिस्थितियों में पड़कर विविध कार्य-कलाप करते हैं इसलिए अनेक रसों और भावों की सुन्दर व्यंजना हुई है। छूत-व्यसन की कथा में कर्ण रस की, मांस-व्यसन की कथा में दया-भाव की, वेश्यानिंदा तथा सुरापान की कथाओं में घृणा-भाव की प्रधानता है। परन्तु अनेक छन्द ऐसे भी हैं जो केवल कथा को अप्रसर करने के लिए ही लिखे गये हैं और पाठक को भाव या रस

विशेष में मग्न करने में असमर्थ हैं ।

भाषा, शैली—कवि ने काव्य में स्वच्छ, मधुर और प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा का प्रयोग किया है । विदेशी शब्दों तथा मुहावरों का प्रयोग न होने के तुल्य ही समझना चाहिए । काव्य में मुख्य रूप से व्याख्यात्मक, तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक तथा शब्दावर्तक शैलियों का व्यवहार किया गया है ।

अलंकार—शब्दालंकारों में छेकानुप्रास, लाटानुप्रास और वीप्सा तथा अर्था-लंकारों में हेतु, दृष्टान्त, रूपक और उल्लेख का प्रयोग अधिक दिखाई देता है ।

छन्द—इस काव्य में सर्वैया, दोहा, सोरठा, चौपाई, दिढ़पटा, अड़िल, छप्पय, मनहरन सर्वैया (कवित्त), गीतिका, थोटक, नाराच, पढ़ड़ि और चालि छन्द का प्रयोग किया गया है ।^१

गुण—रचना में प्रसाद गुण तो सर्वत्र ओत-प्रोत है, माधुर्य और ओज भी प्रसंगवश अनेकत्र दिखाई देते हैं ।

अन्त में सार रूप से यह कह सकते हैं कि मनरंगलाल की यह प्रबन्धात्मक रचना कल्पना-तत्त्व की कमी के होते हुए भी नीति-विषय की एक सुन्दर काव्यकृति है । एक उदाहरण लीजिए—

मद्य करे मति भ्रष्टि, मद्य लक्ष्मी निरखारं ।
मद्य दिखावे दुःख, महा अपयश बिस्तारं ॥
मद्य पुण्य को शत्रु, मद्य अकुली जन पोदत ।
मद्य शौचता हरे, मद्य कुलवान न छोदत ॥
मनरंग कहैं लखि दोष दुख, जे दर्शन प्रतिमा धनी ।
नहि जात पास ताके कदा, 'धनि ते धनि ते' यों भनी ॥^२

२६. रघुनाथ

रघुनाथ कवि की 'दुष्ट गंजन पंचावनी' की हस्तलिखित प्रति^३ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के याज्ञिक संग्रह में खण्डित रूप में विद्यमान है । २२ पत्रों की प्रस्तुत प्रति में चूँकि प्रथम पाँच पत्र लुप्त हो चुके हैं, इसलिए १६ से ६५ तक ही पद्य प्राप्त हैं । अन्त में परिशिष्ट रूप में आठ पद्य और लिखे हुए हैं जिनमें गणेश, शिव, हनुमान् आदि से दुष्ट-सहार के लिए प्रार्थना की गई है । काव्य की पुष्पिका इस प्रकार है—

‘ईति कवि रघुनाथ वीरचित दुष्टगंजन पंचावनी सम्पूर्ण सम्बत् १८८६ ।’

१. दिढ़पटा २३ मात्रा का छन्द है जिसमें १३, १० मात्राओं पर यति होती है और चालि १४ मात्रा के सखी छन्द का ही नामान्तर है ।

२. सप्तव्यसन चरित, पृष्ठ ३७ । १५५

३. दुष्टगंजन पंचावनी, याज्ञिक संग्रह, प्रति-संख्या ५१६ । ३६

पुष्पिका में कवि-नाम और संवत् के उल्लेख से तथा लिपिकार के नाम के अभाव से अनुमान होता है कि कवि ने प्रति अपने ही हाथ से लिखी है।

दुष्टों के गुण-कर्म-स्वभाव के सम्बन्ध में प्रायः सभी नीति-काव्यों ने थोड़ा-बहुत लिखा है और इस विषय में यह कवि भी अपवाद नहीं है। परन्तु इस काव्य की विलक्षणता यह है कि इसके अधिकतर भाग में दुष्टों की निन्दा और उनके अमंगल की कामना की गई है। निर्धनों के उतरीड़कों, विप्रों के बेरियों, कृपणों, परोपकार-रहितों और कटुभाषियों को यम-यातनाओं की विभीषिका दिखाई गई है। काव्य के अध्ययन से अनुमान होता है कि विप्र कवि दुष्टों से बुरी तरह सताया गया है और इसीलिए वह उन्हें राज्यक्षमा, वायुगोला, बवासीर, शूल, आमवात, ग्रहणी, गलितकुष्ठ, अपस्मार, भगंदर, महामारी आदि भयंकर और घृणित रोगों से पीड़ित होना का शाप देता है। अपना वश न चलने के कारण कवि महावीर हनुमान को श्री रामचंद्र तथा अंजना के दूध की दुहाई देकर दुष्ट-विनाश का अनुरोध करता है। इन प्रकार प्रस्तुत कृति एक निन्दा-काव्य है जिसमें कवि ने वाणी द्वारा जो का बुखार निकालने में कोई कोर-कसर नहीं रहने दी। सुन्दर प्रवाहपूर्ण अजभाषा में रचित इस कृति में अनुप्रास तथा उपमाओं का सुरुचिपूर्ण प्रयोग दिखाई देता है। प्रायः कवित्त, सबैया तथा छप्पय छन्दों का व्यवहार किया गया है। लिखाई की अशुद्धि से जनित चरणों की मात्राओं में व्युत्पन्नता के कारण कहीं-कहीं गतिभंग भी दिखाई देता है। वीभत्स, वीर, भयानकरों की व्यंजना अच्छी हुई है। रचना में प्रसाद तथा ओज गुण का बाहुल्य है। अपने विषय और प्रकार का यह एक ही ग्रंथ दिखाई देता है। एक सबैया देखिए—

जैसे मराल चुई सुगताहल, चंद-मयूष जकोर ज्यो चावै ।
पंतग पान करै पश्मान कौ, तंव कौ बह्लि भयै करि रावै ॥
दीप-दिवाकर तामस कौ मिलि जलत निसंक कहू नहि रावै ।
दुष्ट कौ भसन काल करै, तत्काल हि तो न भिटै अभिलाषै ॥'

३०. बुधजन

बुधजन का वास्तविक नाम भदीचंद्र या विरधी चंद्र था। ये जयपुर-निवासी वज्रगोत्राय निहालचंद्र जी खण्डेलवाल (जैन) के तृतीय पुत्र थे। इनके जन्म-संवत् तथा बाल्यकाल का वृत्त अभी तक अंधकार से आवृत है। इन्होंने पं० मांगीलाल जी से विद्याध्ययन किया था। ये दीवान अमरचन्द्र के पास मुख्य मुनीम का कार्य करते थे। जैनधर्म के ग्रंथों के स्वाध्याय में ये विशेष रुचि रखते थे तथा धर्मोपदेश और शंका-समाधान में कुशल थे। इनके चार काव्य ग्रंथ प्राप्त हुए हैं—(१) तत्त्वार्थ बोध, (२) बुधजन सतसई, (३) पंचास्तिकाय, (४) बुधजन विलास।

बुधजन सतसई—नीति-काव्य की दृष्टि से बुधजन सतसई विशेष महत्त्व की कृति है। इस पुस्तक की रचना बुधजन ने सं० १८७६ वि० में नृप जयसिंह के शासन काल में की थी—

संवत् ठारा सै असी, एक बरस तें घाट ।

जेठ कृष्ण रवि अष्टमी, हुबो सतसई पाठ ॥^१

रचना के उद्देश्य तथा सार को कवि ने पुस्तक के अन्त में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—

भूख सहो वारिद सहो, सहो लोक अपकार ।

निद काम तुम मत करो, यहै ग्रन्थ को सार ॥

ना काहू की प्रेरना, ना काहू की आस ।

अपनी मति तीखी करन, बरन्यो बरनविलास ॥^२

द्वितीय दोहे का 'वरनविलास' पद कृति के नाम के सम्बन्ध में कुछ संदेह उत्पन्न करता है। जैन-साहित्य के इतिहासकारों ने इस रचना का नाम बुधजन सतसई ही लिखा है।^३ कवि ने स्वयं भी सात सौ दोहों की रचना का उल्लेख किया है—

कीनै बुधजन सात सै सुगम सुभाषित हेर ।

सुनत पढ़त समझें सरब हरें कुबुधि का फेर ॥^४

परन्तु इतने ही आधार पर कृति का नाम 'बुधजन सतसई' मानना अनुचित प्रतीत होता है। सम्भव है, कवि ने इसका नाम 'वरनविलास' ही रखा हो और इतिहासकारों ने ७०० दोहे देखकर सतसई नाम प्रचलित कर दिया हो। पर विचारणीय बात यह है कि वरनविलास नाम भी विशेष सार्थक प्रतीत नहीं होता। यदि कृति की रचना में कोई विशेष वर्णक्रम दिखाई देता तो नाम का औचित्य स्वीकार्य होता। परन्तु बुधजन ने रचना को 'सतसई' न कहकर 'वरनविलास' कहा है। इसलिए जब तक किसी पक्ष के अधिक और पुष्ट प्रमाण न मिलें, पुस्तक के नाम के विषय में कोई मत निर्धारित नहीं करना चाहिए।

आकार-प्रकार—सतसई में कुल ७०२ दोहे हैं जो चार विभागों में निम्नलिखित

१. बुधजन सतसई : (प्र० जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीयावृत्ति), पृष्ठ ७४।६६६

२. वही, पृष्ठ ७४।७००, ७०२

३. (क) कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य (काशी, १९४७ ई०) पृ० १६७
(ख) नेमिचंद्र शास्त्री : हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (काशी, १९५६ ई०)
पृष्ठ २१२

(ग) बुधजन सतसई, भूमिका पृष्ठ ७

४. बुधजन सतसई, पृष्ठ ७४।६६७

रीति से विभक्त हैं—

विभाग	दोहा-संख्या
१. देवानुराग शतक	१००
२. सुभाषित नीति	२००
३. उपदेशाधिकार	२००
४. विरागभावना	२०२
योग	७०२

उक्त चार विभागों में से देवानुराग शतक भक्ति-प्रधान है तो विराग-भावना विरक्ति-प्रधान। नीति-काव्य की दृष्टि से सुभाषित-नीति तथा उपदेशाधिकार ही विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। सुभाषित नीति में तो विविध विषयों का प्रायः कोई विशेष क्रम लक्षित नहीं होता परन्तु उपदेशाधिकार के दोहे विद्या-प्रशंसा, मित्रता और संगति, जूझा-निषेध, मांस-निषेध, मद्य-निषेध, शिकार की निंदा, चोरी-निंदा और पर-स्त्री-संगनिषेध शीर्षकों में विभाजित हैं।

वैयक्तिक नीति—प्रायः जैन-रचनाओं में शारीरिक सुखों की उपेक्षा ही दिखाई है परन्तु बुधजन ने दुःखों से बचने की प्रेरणा ही नहीं की, रोग-निवारण के उपायों का उल्लेख भी किया है—

पट पनही बहु-खीर गो, ओषधि बीज अहार ।
ज्यों लाभें त्यों लीजिये, कीजें दुख परिहार ॥^१
कोढ़ मांस, घृत जुर विषं, सूल द्विदल छौं टार ।
दुगरोगी मंथुन तजौ, नदी घान अतिसार ॥^२

वाग्विषयक नीति में दो बातें विशेषतः ध्यान आकर्षित करती हैं। प्रथम यह कि यावज्जीवन दैन्यपूर्ण वचन मुख से नहीं निकालने चाहिए^३ और द्वितीय यह कि परोपकारक असत्य भी सत्य है—

असत बंन नहिं बोलिये, तातें होत बिगार ।
वे असत्य नहिं सत्य हैं, जातें ह्वें उपकार ॥^४

विद्या और विवेक के महत्त्व पर इन्होंने दर्जनों दोहों की रचना की ही है। विद्या की प्राप्ति के उपायों तथा विवेकहीनों के दोषों का भी उल्लेख किया है—

पुस्तक गुरु थिरता लगन मिलें सुथान सहाय ।
तब विद्या पढ़िबौ बनै, मानुष गति परजाय ॥^५
सौं ग पूछ बिन बेल हैं, मानुष बिना विवेक ।
अख्य अभख समझें नहीं, भगिनि भामिनी एक ॥^६

१-४. बुधजन सतसई, पृष्ठ, २६।२३८ ३०।२८२, २७।२४६, ७२।६७८

५-६. बुधजन सतसई, पृष्ठ ४६।४३०, ४७।४३८

इन्होंने बालकों के लिए पाँच से सोलह वर्ष तक की अवस्था को अध्ययन-काल कहा है और उस काल में उनसे लाड-प्यार करने का निषेध किया है ।^१

दया, क्षमा, उदारता आदि गुण ग्रहण करने पर कवि ने जहाँ कई दोहे रचे हैं वहाँ मन को चिन्ताओं से मुक्त रखने का एक सुन्दर योग भी प्रस्तुत किया है—

हुन्नर हाथ अनालसी, पढ़िबो करिबो मीत ।

सील पंच निधि ये अखय, राखे रहो नचीत ॥^२

पारिवारिक नीति—यद्यपि 'विराग भावना' में कवि ने पुत्र-कलत्र को भूठा और परिवार को ठग तथा मधुर भाषण द्वारा ज्ञानापहारक कहा है तथापि 'सुभाषित नीति' में अनेक उद्योगी बातों का उल्लेख किया है । माता-पिता की सेवा तथा पातिव्रत पर तो सभी नीति कवियों ने थोड़ा-बहुत लिखा है परन्तु दुधजन ने भाई के प्रति पुत्र और पत्नी से भी अधिक प्रेम^३ तथा भानजे के प्रति सावधानता का भी उल्लेख किया है—

निज भाई निरसुन भली, पर गुनजुत किहि काल ।

आंगन तर बिरफा जबहि, छाया राखै घाम ॥^४

जिह्वा दयै कुशिष्य की, करै सुगुण अफकार ।

लाख लड़ावै भानजा, खोसि लेय अधिकार ॥^५

सम्भवतः भानजे के प्रति सतर्कता की यह भावना हमारे समाज में इसलिए है कि वह दूसरे कुल का होता है । इनके अतिरिक्त वादक्य में पत्नी के निधन को, घन के पुत्र के अधिकार में चले जाने को तथा भोजन के बंधु-आधीन हो जाने को तो मरने से भी बुरा कहा है ।^६

सामाजिक नीति—पातिव्रत पर तो प्रायः सभी रीति-कवि बल देते हैं परन्तु पत्नीव्रत पर विशेष बल जैन-कृतियों की विशेषता है । उसी के अनुसार दुधजन ने भी सामाजिक यौन पवित्रता की रक्षा के लिए परदाराभिगमन तथा वेश्यागमन के निषेध पर अनेक भाव-पूर्ण दोहे रचे हैं—

अपनी परतख देखि कै, जैसा अपनै वदं ।

तैसा ही पर नारि का, बुखी होत है मदं ॥^७

हीन दीन तैं लीन ह्वै, सेती अंग मिलाय ।

लेती सरबस संपदा, देती रोग लगाय ॥^८

यद्यपि आरम्भ में जैनधर्म जात-पात का विरोधी था तथापि धीरे-धीरे जाति, वंश और कुल का विचार इसमें भी प्रबल होता गया । सुन्दर-सुयोग्य स्त्री के सम्बन्ध में नीतिकारों ने 'स्त्रीरतनं दुष्कुलादपि' कहकर उदारता का जो परिचय दिया था,

१-८. दुधजन सतसई, पृष्ठ ४६।४३४, २६।२६७, २०।१८०, २०।१८१, २५।२३५,
२४।२२६, ५३।४६२, ५१।४७४

उसका बुधजन ने सामाजिक भय के कारण निषेध कर दिया है—

वरज्ये कुल की बालिका, रूप कुरूप न जोय ।

रूपी अकुली पररातां, हीन कहै सब कोय ॥^१

गुरु और शिष्य, गुरु का महत्त्व, सभी गृहागतों का सम्मान, अत्यन्त मायावी जन, प्रीति के छह साधन, धन्य जन, धिक्कार्य जन, मित्रता, संगीत आदि विषयों के अतिरिक्त इन्होंने शिष्टाचार-सम्बन्धी बातें भी कही हैं—

जो हँसता पानी पियं, चलता खावं खान ।

द्वे अतरावत जात जो, सो सठ ढीठ अजान ॥^२

आर्थिक नीति—यद्यपि बुधजन ने धनजन्य सम्मान तथा दारिद्र्य-जन्य अपमान का अनेक दोहों में सबिस्तर उल्लेख किया है तथापि इन्होंने चोरी, अन्याय, जूआ आदि साधनों से धन-संग्रह को बहुत गह्य कहा है। इनके मत में वित्त के लिए नीति का पतित्याग नितान्त अनुचित है—

नीति तजैं नहि सत पुरुष, जो धन मिले करोर ।

कुल तिय बने न कंचनी, भुगतै विपदा धोर ॥^३

इतर-प्राणि-विषयक नीति—प्राणि सब को प्यारे होते हैं और अहिंसा जनों का मुख्य सिद्धान्त है, इसलिए बुधजन ने मांस-भक्षण तथा आखेट का प्रबल निषेध किया है। इनके अतिरिक्त मदिरा-पान के प्रत्याख्यान के ये हेतु प्रस्तुत किये गये हैं कि उसके नशे में मनुष्य गोप्य बातें प्रकट कर देता है, सुध-बुध भूल गलियों में गिर कुत्तों से मुख चटवाता है और मद्य-निर्माण में होने वाली हिंसा के पाप का भागी बनता है।^४

मिथित नीति—उद्यम प्रशंसनीय है परन्तु दैव के समक्ष उसकी दाल नहीं गलती।^५ उसमें वह शक्ति नहीं कि उद्यमी को सुख, विद्या, आयु, धन आदि में प्रसन्न कर सके। पूर्वजन्म के कर्म इतने प्रबल हैं कि शिशु जब गर्भ में होता है तभी से उसके लिए ये वस्तुएँ निश्चित हो जाती हैं—

सुख दुख विद्या आयु धन, कुल बल बित अविकार ।

साथ गर्भ में अवतरें, देह धरी जिहि बार ॥^६

अन्य विषयों में राजनीति, धर्म की सर्वोच्चता, 'अति' की सर्वत्र त्याज्यता, समय की प्रबल शक्ति, हानिकर स्थानों का परिहार आदि अनेक विषयों का उल्लेख सतसई में दिखाई देता है।

१-२. बुधजन सतसई, पृष्ठ १५।१३१, २८।२६०

३. " , पृष्ठ ३५।३१८

४. " , पृष्ठ ५०।४६७, ४६८, ४७०

५. " , पृष्ठ २१।१८६, १६१

६. " , पृष्ठ २७।२४६

सतसई पर एक दृष्टि—सतसई के नीति-सम्बन्धी अंशों पर दृक्पात करने से विदित होता है कि कवि ने जैन-प्रिय विषयों का ही उल्लेख नहीं किया, सामान्य नीति की भी अनेक उपयोगी बातें समाविष्ट की हैं। इस प्रकार पथ-प्रदर्शन की दृष्टि से कृति की महत्ता में कोई सन्देह नहीं है। परन्तु इस रचना में जो बात सब से अधिक खटकती है वह है सरसता का अभाव। वृन्द सतसई में भाषा की चारुता तथा दृष्टान्तों की उपयुक्ता इस कमी को कम कर देती थी। परन्तु प्रस्तुत सतसई के अधिकतर दोहों को किसी प्रकार भी काव्य कहने का साहस नहीं होता। ऐसे लगता है कि सामान्य बातें सामान्य रीति से, कही जा रही हैं। अधिकतर दोहों में न भाषा में विशेष चमत्कार है, न अर्थ में। दृष्टान्तों का प्रयोग तो हुआ है परन्तु थोड़े ही दोहों में। इस प्रकार रचना को नीति-काव्य की अपेक्षा नीति की पद्यावली कहना अधिक युक्तिसंगत जँचता है।

भाषा—सतसई में व्रजभाषा प्रयुक्त की गई है परन्तु कहीं-कहीं उसमें राजस्थानीपन आ गया है। जैसे—

खाता पीता सोवतां, करतां सब व्योहार ।

गनिका उर वसिओ करे, करतय करे असार ॥^१

फारसी आदि के तद्भव रूप—हुन्नर, माफिक, जिहाज, खुसाल, बजार, हुक्मी आदि भी कहीं-कहीं व्यवहृत हुए हैं। एकाध स्थल पर 'एवजुत' जैसे रूप भी मिलते हैं जिनमें अरबी-हिन्दी का मिश्रण लक्षित होता है। प्रायः तो भाषा में छोटे-छोटे, प्रचलित समस्त रूपों का ही प्रयोग किया गया है परन्तु कहीं कहीं अत्युपचित, दया-मिलाप आदि शब्द कुछ खटकते-से हैं। रुढ़ियों तथा मुहावरों का प्रयोग भा दिखाई देता है, परन्तु बहुत कम।

बहते बारि परवार कर, फेरि न लाभ बारि ।^२

तेता पांय पसारिये, जेती लांबी सोर ॥^३

अलंकार—सतसई में तीनों ही प्रकार के अलंकार दिखाई देते हैं। शब्दालंकारों में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, वीप्सा और लाटानुप्रास का और अर्थालंकारों में उपास, दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास, रूपक, यथासंख्य, उल्लेख, तुल्ययोगिता आदि का और उभयालंकार में संसृष्टि का प्रयोग अधिक दृष्टिगत होता है। यथा—

शब्दालंकार—

गिरि गिरि प्रति मानिक नहीं, दन वन चंदन नाहि ।^४ (वीप्सा)

सुघर सभा में यों लसे, जैसें राजत भूप ॥^५ (छेकानुप्रास)

धन सम कुल सम धरम सम, सम दय भीत बनाय ।^६ (लाटानुप्रास)

१-३. बुधजन सतसई, पृष्ठ ५११४७६, ५५१५१७, २८१२६१

४-६. वही, पृष्ठ २८१२६४, ३११२८६, ४७१४४२

बुराचारि तिय कलहिनी, किकर कूर कठोर ॥' (वृत्त्यनुप्रास)

अर्थालंकार—

बकवत हित उद्यम करें, जे हैं चतुर विसेखि ।^२ (उपमा)

सत्य दीप बाती क्षमा सील तेल संजोय ॥^३ (रूपक)

भला कियँ करि है बुरा, दुर्जन सहज मुभाय ।

पय पायँ विष देत है, फणी महा दुखदाय ॥^४ (दृष्टान्त)

जैसी संगत कीजिये, तैसा ह्वँ परिनाम ।

तीर गहँ ताके तुरत, माला तँ ले नाम ॥^५ (अर्थान्तरन्यास)

यह बात ध्यान देन की है कि उपमा, दृष्टान्त आदि अलंकारों से युक्त दोहे अधिकतर पूर्ववर्ती काव्यों से प्रभावित हैं, मौलिक नहीं ।

उभयालंकार—

नीतिवान नीति न तजै, सहै भूख तिस त्रास ।

ज्यों हंसा मुक्ता विना, बनसर करें निवास ॥^६

(लाटानुप्रास, छेकानुप्रास, दृष्टान्त की संसृष्टि)

विधान, छन्द, शैली—समग्र रचना मुक्तक दोहों में है और छन्द शास्त्र की दृष्टि से दोहे प्रायः निर्दोष हैं । सामान्यतः तथ्यनिरूपक शैली का प्रयोग प्रचुर है । उपदेशात्मक तथा शब्दावर्तक शैलियाँ दिखाई तो देती हैं परन्तु बहुत कम । चरणक्य-नीति के समान पशु-पक्षियों से शिक्षा-ग्रहण की शैली का व्यवहार खूब किया गया है ।

गुण-दोष—प्रमाद ही रचना का प्रधान गुण है । माधुर्य और ओज की मात्रा न्यून है । छन्द को निर्दोष बनाने के लिए कहीं-कहीं शब्दों को विकृत कर दिया गया है, जैसे—

गूढ़ मईयुन चख चपल, संग्रह सजै निधान ॥^७

इस दल में एक मात्रा की कमी को पूरा करने के लिए 'मैयुन' को 'मईयुन' बना दिया गया है । कुछ स्थानों पर च्युतसंस्कृत दोष भी दिखाई देता है, जैसे— 'मतिमान' के स्थान पर 'मतिवान' ।^८ कहीं-कहीं पर 'अप्रयुक्तत्व' दोष भी दृष्टिगत होता है, जैसे—

भयौ कदा अपमान निज भाषें नाहि विचित्र ॥^९

इस दल में 'विचित्र' का प्रयोग 'बुद्धिमान' के अर्थ में लिया गया है । परन्तु ये सब सामान्य स्थलित हैं जिनसे सर्वथा मुक्त रहना कदाचित् किसी भी कवि के वश में नहीं । मुख्य दोष तो नीरसता है जिसके कारण, विषय की दृष्टि से उत्तम होती हुई भी, रचना वृन्द-सतसई के समान लोकप्रिय न हो सकी ।

१-५. बुधजन सतसई, पृष्ठ २७।२५१, १७।१५२, २२।२००, १२।१०४, ३४।३१६

६. " , पृष्ठ ३५।३२०

७-९. " , पृष्ठ १७।१५४, १७।१५४, १७।१५७

३१. बाबा दीनदयाल गिरि

जीवन-परिचय—गोसाईं दीनदयाल का जन्म काशी के गाय घाट मुहल्ले में सं० १८५६ वि० की वसन्तपंचमी के दिन पाठक-कुल में हुआ था। इनके अज्ञातनामा जनक इन्हें केवल पांच-छह वर्ष के वय में महन्त कुशागिरि को सौंपकर स्वर्ग सिधारे। अनेक मठों के स्वामी कुशागिरि के तीन शिष्य थे—दीनदयाल गिरि, स्वयंवर गिरि और रामदयाल गिरि। ऋणी गुरु के गोलोकवास पर उनकी अधिकतर सम्पत्ति तो नीलाम हो गई और शेष के लिए शिष्यों में कलह आरम्भ हो गया। दीनदयाल को दुःखित देख अमेठी-नरेश ने उन्हें अपने यहाँ निमंत्रित किया परन्तु स्वतंत्रता-प्रिय दीनदयाल ने—

पराधीनता दुख महा, सुख जग में स्वाधीन।

सुखी रमत सुक बन विपै, कनक पौजरे दीन ॥^१

कहकर काशी से बाहर जाना उचित न समझा और जीवन भर वहीं रहे। दीनदयाल शैव सन्यासी थे परन्तु साम्प्रदायिक संकीर्णता से सर्वथा मुक्त। ये संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। हिन्दी-काव्य के प्रति रुचि इनमें भारतेन्दु जी के पिता बाबू गोपालचन्द्र की संगति से उत्पन्न हुई थी। बाबा जी अत्यन्त सरल-स्वभाव, विनोद-प्रिय, दयालु, सच्चरित्र, गुरुग्राही तथा आत्माभिमानी व्यक्ति थे। ये स्वयं कभी किसी से कुछ मांगते न थे, इसलिए काशी-नरेश आदि समृद्ध जन गुप्त रूप से इन्हें सहायता भेज दिया करते थे। इनका स्वर्गवास सं० १९१५ में हुआ था।

काव्य-परिचय—गिरि जी ने निम्नलिखित काव्य-ग्रन्थों की रचना की—
(१) दृष्टान्त तरंगिणी (सं० १८७६) (२) अनुराग बाग (सं० १८८८) (३) वैराग्य दिनेश (सं० १९०६) (४) अन्योक्ति-कल्पद्रुम (सं० १९१२) (५) विश्वनाथ नवरत्न। 'दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली' में इनकी 'अन्योक्ति-माला' भी संकलित है परन्तु इसे 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' का पूर्ववर्ती संक्षिप्त संस्करण ही मानना चाहिए। 'शिवसिंह सरोज' में 'बागबहार' को भी इन्हीं की रचना बताया गया है परन्तु वह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।^२ बाबू श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'बागबहार', 'अनुराग-बाग' का ही दूसरा नाम है। अस्तु, उपर्युक्त पाँच काव्यों में नीतिकाव्य केवल दो हैं—दृष्टान्त तरंगिणी और अन्योक्ति कल्पद्रुम और वही यहाँ पर हमारे विवेच्य हैं।

दृष्टान्त तरंगिणी—२०६ दोहों की इस कृति का रचना-काल संवत् १८७६ है—

निधि मुनि बसु ससि साल भैं, आसुन मास प्रकास।

प्रतिपद मंगल दिवस को, कीन्यो गून्थ विकास।^३

१. सं० श्यामसुन्दर दास : दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, (ना० प्र० सं० काशी, १९७६ वि०) पृ० ७७।५५

२. शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ३६५

३. दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, दृष्टान्ततरंगिणी, पृष्ठ-६०।२०६

गिरि जी ने अपनी इस प्रथम कृति को केवल बीस वर्ष के वय में बुद्धि का मल धोने तथा जड़ता और तापों को नष्ट करने के लिए लिखा।^१ नीति-काव्यों में प्रायः प्राप्य सामान्य विषयों के अतिरिक्त इसमें अनेक ऐसी बातों का उल्लेख है जिनकी चर्चा सामान्यतः नीति-काव्यों में नहीं मिलती और न जिनकी आशा एक संन्यासी कवि से की जाती है; जैसे दुर्जन को विपत्ति से मत बचाओ, लोग पुनीत जन की नहीं मलिन जन की पूजा करते हैं, सूरूप का भी सगुण के समान सम्मान होता है, नाम सदा सुन्दर रखना चाहिए, समर्थ व्यक्तियों की बुद्धि तथा चाल-ढाल लोक-विस्मृत होती है, मूर्ख के समक्ष विद्वान् अशक्त हो जाता है, पत्नी-व्रत, पराधीनता और स्वाधीनता, लोग मुसाध्य वस्तु की अपेक्षा दुःसाध्य को अधिक महत्त्व देते हैं, मनुष्य अपना दोष न देखकर दूसरों को अपराधी ठहराते हैं, सज्जन-व्रत भस्मना हिनकागिणी होती है, कार्य की सम्पन्नता प्रेम और खोज पर निर्भर है, बड़े या छोटे पर नहीं, इत्यादि।^२ इससे सिद्ध है कि गिरि जी घिसे-पिटे विषयों पर ही लिखकर संतुष्ट हो जाने वाले व्यक्ति न थे। वह अपनी असाधारण पर्यवेक्षण-शक्ति और प्रखर प्रतिभा से ऐसी बातों को भी अपने काव्य का विषय बनाने में समर्थ थे जो सामान्य कवियों से प्रायः उपेक्षित रह जाती हैं।

‘दृष्टान्त तरंगिणी’ का अध्ययन करते समय हमारे अनेक दोहे भाव और लय से परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यह बात इस कारण से और भी अधिक स्पष्ट होती है कि वे दोहे साथ-साथ दिखाई देते हैं, जैसे—

हूँ अजीत जो गुनि करै, निबल सुमति संघात ।

बहु तिन लै गुन बटन तैं, कुंजर दांघे जात ॥

बहु छुटन के मिलन ते, हानि बली की नाहि ।

ज्यू जम्बुवन तैं नहीं, केहरि नासे जाहि ॥^३

परन्तु आपाततः दिखाई देने वाले इस दोष के लिए कवि को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। संग्रह में दोनों बातें सत्य दिखाई देती हैं। कभी अनेक निर्वल व्यक्ति संघटित होकर सबल को पराजित करने में सफल होते हैं और कभी विफल। नीति-कार दोनों घटनाओं को सत्य मानकर उनका उल्लेख करना अपना वतंव्य समझता है। इसके पश्चात् यह कर्तव्य पाठकों का रह जाता है कि वे अवसर-विशेष पर विचार कर लें कि उस समय पर संगठन सफलतादायक होगा या विफलताजनक।

‘दृष्टान्त तरंगिणी’ का भाषा प्रायः शुद्ध, परिष्कृत और व्यवस्थित है। विदेशी शब्दों का प्रयोग विरल है। कहीं-कहीं पर लोकोक्तियों का प्रयोग भी दिखाई

१. दीन दयाल गिरि ग्रंथावली, दृष्टा तरंगिणी, पृ० ६०।२०४

२. वही, दोहा १०, १४, १८, १६, ८४, १२३, ४०, ५५, ६६, ६०, १४६, १३६

३. वही, पृष्ठ ७६। दोहा ४४-४५, और भी देखें पृष्ठ ८४।१३४-५

देता है जो भाषा की अभिव्यंजना शक्ति तथा प्रभाव का वर्द्धक है। जैसे—

स्वान् अपर को देखि कै करे परस्पर क्रोध ।

बढ़े गरल वहु भुजग को, जथा किये पयपाग ।

पूरन जल बरसे नहीं ज्यों घन गरजन हार ।^१

समाहार गुण भी इसकी भाषा की एक उल्लेख्य विशेषता है, जैसे—

इक बाहर इक भीतरें इक मूत्र दुह दिसि पूर ।

सोहत नर जग त्रिविधि ज्यों बेर बदाम अंगूर ॥^२

एकाध ही स्थल ऐसा है जहाँ लिंग या रुढ़ि-नम्बन्धी त्रुटि दिखाई देती है, जैसे निम्नलिखित दोहों में 'हाल' का स्त्रीलिंग में और 'जल' के साथ 'खाना' का प्रयोग—

ललितत देखी लोक में, समर्थ हूँ की हाल ।

ओइ कहि खाल हर, लजि कै साल दुसाल ॥^३

आये औरंग एक के गुन लज जाय नराय ।

जहाँ खार जलराशि को नहीं पीऊ जल खाय ॥^४

इसी प्रकार एक दोहों में माया-तन्त्र्या को ठीक रखने के लिए इन्होंने 'समीप' को 'सामीप' कर दिया है।^५ संस्कृत के अध्ययन के फलस्वरूप कुछ समस्त और क्लिष्ट रूप भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं, जैसे—अद्भुततर, अंकुश-र आदि। 'धनवान्' के अर्थ में 'धनमान' का प्रयोग भी अशुद्ध है।^६

विधान तथा शैली—दृष्टान्त-तरंगिणी दोहावद्ध मुक्तक-काव्य है। प्रायः दोहे के पूर्व दल में प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख रहता है और उत्तर दल में निहित दृष्टान्त द्वारा उसकी पुष्टि की जाती है। एकाध स्थल पर दृष्टान्त पहले है और प्रतिपाद्य पीछे, यथा—

जैसे धूप प्रभाव तें गगन न होत मलीन ।

तथा कुसंगति पाय कै, मलिन न होहि प्रवीन ॥^७

पहले हों या पीछे, दृष्टान्त अत्यन्त सुन्दर हैं और विषय को हृदयंगम कराने में पूर्ण समर्थ। इसके अधिकतर पद्यों में तथ्यात्मक शैली प्रयुक्त की गई है; उपदेशात्मक तथा ऐतिहासिक शैलियों का व्यवहार बहुत ही कम दिखाई देता है।

अलंकार और गुण—शब्दालंकारों में से छेकानुप्रास तो प्रायः प्रत्येक पद्य में दिखाई देता है और वृत्त्यनुप्रास तथा वीप्सा कहीं-कहीं। अर्थालंकारों में दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास तथा काव्यालिंग का प्रयोग बहुत है। क्रम, तुल्ययोगिता, विनोक्ति आदि भी कहीं-कहीं प्रयुक्त किये गये हैं। रचना प्रसाद गुण से ओतप्रोत है, माधुर्य तथा ओज विरल हैं।

१. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, पृष्ठ ८१।१००, ८१।१०२, ८३।१२८

२-६ ,, , पृष्ठ ८५।१५४, ८०।६३, ८४।१३४, ८४।१३२, ७६।७३

७. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, पृष्ठ ८५।१४४

प्राचीन कवियों का प्रभाव—कबीर, रहीम, वृन्द और दीनदयाल के दोहों में पर्याप्त सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। इस सादृश्य का कारण गिरि जी द्वारा हिन्दी-कवियों का भावापहार नहीं है, मूलस्रोत की एकता है। कबीर ने तो संस्कृत-कवियों के पद्यों को सत्संगति में अर्थ-सहित सुना ही होगा परन्तु रहीम, वृन्द और दीनदयाल संस्कृत के विद्वान् थे। मूल संस्कृत-पद्यों के साथ इन कवियों के दोहों की तुलना करने पर भी हम उपर्युक्त ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जैसे—

शैले शैले न मारिणक्यं, भौवितकं न गजे गजे ।

साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥^१ (चारणक्य)

सिंहों के लेहँडे नहीं हंसों की नहि पात ।

लालों की नहि बोरियाँ, साधु न चलें जमात ॥^२ (कबीर)

साधु रहें नहि राफल थल, कवि जन कहैं बखानि ।

बन वन चंदन होहि नहि, गिरि गिरि मानिक खानि ॥^३ (गिरि)

संस्कृत के श्लोक में मारिणक्य, मोती, साधु और चन्दन की दुर्लभता का उल्लेख है। कबीर ने 'मोती' और 'चंदन' के स्थान पर तो 'सिंह' और 'हंस' शब्द रख दिये हैं, शेष दो पदार्थ यथापूर्व रहने दिये हैं। गिरि जी ने संस्कृत-श्लोक के तीन पदार्थ लिए हैं—साधु, चंदन और मारिणक्य। कबीर ने 'मारिणक्य' के स्थान पर 'लाल' कर दिया था परन्तु गिरि जी ने 'मानिक' ही ले लिया है। अब वृन्द के दोहे से तुलना कीजिए—

माता शत्रुः पिता बंदी येन बालो न पाठितः ।

न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा ॥^४ (चारणक्य)

चतुर सभा में कूर नर, सोभा पावत नहि ।

जैसे बक सोभित नहीं, हंस-भंडली साहि ॥^५ (वृन्द)

नहि पढ़ायो पुत्र कों, सो पितु बड़ो अभाग ।

सोहत सुत सो बुध-सभा, ज्यों हंसन में काग ॥^६ (गिरि)

चारणक्य ने बालक को शिक्षा न दिलाने वाले माता-पिता को शत्रु और उस अशिक्षित बालक को हमों के मध्य में बगले के सदृश कहा था। वृन्द ने अपने दोहे में माता-पिता का नाम तक नहीं लिया, शेष विषय पूर्ववत् रहने दिया। गिरि जी ने माता

१. चारणक्य नीति, पृष्ठ ६।६

२. कविता कौमुदी, भाग १. पृष्ठ १६०।७४

३. दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, पृष्ठ ८४।१४०

४. चारणक्य नीति, पृष्ठ ६।११

५. सतसई सप्तक, पृष्ठ ३०४।२३१

६. गिरि ग्रन्थावली, पृष्ठ ८२।११६

को दोषी ठहराना अनुचित समझा और पिता को ही 'अभाग' ठहराया तथा 'बगुले' के स्थान पर 'काग' कर दिया। उक्त उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, गिरि जी हिन्दी-कवियों से नहीं, संस्कृत-कवियों से प्रभावित हैं। दूसरी, कबीर, वृन्द आदि की अपेक्षा वे कम मौलिक हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वृन्द, रहीम आदि की रचनाएँ प्रौढ़ अवस्था की कृतियाँ हैं और दृष्टान्त-तरंगिणी नवयुवक कवि की।

अन्त में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि दृष्टान्त-तरंगिणी निस्संदेह एक सुन्दर सूक्तिमयी रचना तो है परन्तु रस, भाव तथा कल्पना का विशेष उत्कर्ष न होने के कारण इसे उत्तम काव्य की कोटि में रखना कठिन है।

अन्योक्ति-कल्पद्रुम—इस काव्य की रचना कवि ने दृष्टान्त-तरंगिणी के ३३ वर्ष बाद सं० १६१२ में की—

कर छिति निधि ससि साल में माघ मास सित पच्छ ।

तिथि बसंत जूत पंचमी रवि वासर सुभ स्वच्छ ॥^१

ऐसा लगता है कि कवि को "दृष्टान्त-तरंगिणी" से संतोष नहीं हुआ और उसने काव्य-कला में प्रौढ़ता प्राप्त करने के पश्चात् पुनः उसी विषय पर एक सुकाव्य-रचना की बीड़ा उठाया जिसमें उसे स्तुत्य सफलता मिली।

यह काव्य चार भागों में विभाजित है जिन्हें कवि ने, "कल्पद्रुम" नाम को सार्थक करने के लिए, शाखा नाम से अभिहित किया है। प्रत्येक शाखा के अन्त में दोहे तथा गद्यवाक्य में कवि ने अपना तथा शाखा का उल्लेख किया है। जैसे, —

यह अन्योक्ति सुकल्प द्रुम शाखा प्रथम बखानि ।

बिरची दीनदयाल गिरि कवि द्विजवर सुखदानि ॥^२

"इति श्री काशीवासी दीनदयाल गिरि विरचित अन्योक्तिकल्पद्रुम प्रथम शाखा समाप्ता ।" प्रथम दो शाखाओं में व्यावहारिक विषयों का अधिक सन्निवेश है तो अंतिम दो में आध्यात्मिक विषयों का।

वर्ण्य विषय—पूर्वोक्त षड्विध नीति में से बाबा जी ने वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक और मिश्रित नीति पर ही अधिक लिखा है; पारिवारिक तथा प्राणिविषयक नीति उपेक्षित-सी है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि वाल्यकाल में ही जनक-विहीन तथा विरक्त हो जाने के कारण उन्हें माता-पिता, अपत्य-कलत्र आदि के विषय में कर्तव्य-निर्देश करने की नहीं सूझी।

वैयक्तिक नीति—वैयक्तिक नीति के अन्तर्गत इन्होंने शरीर की नीरोगता, दीर्घायु आदि के सम्बन्ध में नहीं लिखा क्योंकि सन्त-कवियों के समान इन्हें भी संसार एक स्वप्न की सराय और इसके पदार्थ कागद के फूल से अधिक मूल्यवान् नहीं प्रतीत

होते हैं। हाँ, सिंह की अन्योक्ति में इन्होंने जराजन्य घोर दुःखों का तथा अन्य स्थलों पर पिशुनता की निन्द्यता, मूढ़ की वाचालता तथा मूर्खमंडली में मौन की उपादेयता का उल्लेख किया है। विद्या और विवेक के महत्त्व पर इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अधिक नहीं लिखा परन्तु धैर्य, तेज, प्रेम, क्षमा, यश आदि के धारण और छल, काम, क्रोध, मद, कृतघ्नता आदि के निवारण पर अति सुंदर रचना की है। अन्य अनेक कवियों के समान इन्होंने भी निधन के पश्चात् कीर्ति की स्थिरता तथा जीवितावस्था में यश-विस्तार को ही पर्याप्त नहीं समझा, अपनी कीर्ति को अपने कानों से श्रवण करने की भी प्रेरणा की है—

सुनिये भीत गुलाब अलि, क्यों मन रहिहै रोकि ।

रहित न धीरज रसिक बित, कुसुमित कली बिलोकि ॥

कुसमित कली बिलोकि, चहूँ विसि भरत भावरी ।

ताहि न कंठक बेधि करो मत बिकल बावरी ॥

बरनै दीनदयाल, पालि हित अपनो गुनिये ।

रस पराग जुत राग, सुगंधहि दै जस सुनिये ॥^१

सामाजिक नीति—सामाजिक नीति के अंतर्गत यद्यपि गिरि जी ने गुणी, मूर्ख, सुसंग, कुसंग, सामान्य जन, स्त्री, प्रेम, बैरी का सहवास आदि अनेक विषयों पर लिखा है तथापि जितना बल स्वामी, सेवक, गुणी और गुणग्राहक पर है उतना किसी पर नहीं। कारण यह कि यद्यपि बाबा जी किसी राज-सभा के सभासद् न थे तथापि इस बात को भली भाँति अनुभव करते थे कि गुणियों, कवियों और कलाविदों को यदि राजाओं और घनाढ्यों का आश्रय न मिलेगा तो जहाँ वे लोग भूखें मरेंगे वहाँ उनके साथ ही कला भी मर जायगी। दीनदयाल, स्वयं उच्च कोटि के कवि होने के कारण, कला का ह्रास नहीं देख सकते थे और इसीलिए उन्होंने, अन्य पद्यों का तो कहना ही क्या, षड्-ऋतु-परक पद्यों का विषय भी शृंगार न बनाकर द्विजरक्षा ही बनाया है—

पावस ऋतु सुखदानि जग, तुम सम कोऊ नाहि ।

खपलाजुत घनस्याम नित, बिहरत हैं तब माहि ॥

बिहरत हैं तब माहि, नीलकंठह सुखदाई ।

अंबर बेत सुहाय, द्विजन की करत सहाई ॥

बरनै दीनदयाल, सकल सुख तो सुखमा-बस ।

एकें हंस उदास रहे काहे हे पावस ॥^२

जहाँ राजाओं को अनेकत्र गुणग्राहक तथा उदार बनने की प्रेरणा की गई है,

१. दीनदयाल गिरि ग्रथावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ २२१।४१

२. " " " पृष्ठ १६५।६, और भी देखे पृष्ठ

१६३-१६६

वहाँ यह भी स्मरण कराया गया है कि वे सुकवियों को ही आश्रय दें, कुकवियों को नहीं जिससे सत्काव्य का ही विकास हो।^१ गुरियों को यह शिक्षा दी गई है कि मौक्तिकमाला का शवरी-नगरी में आदर नहीं होता; उदार और धनी स्वामी ही सेव्य है, कृपण, निर्धन और कपटी नहीं, युद्ध से पलायन उचित नहीं; अमर-कृत उपेक्षा से चंपक की मानहानि नहीं होती, इत्यादि। दीनदयाल के मत में यद्यपि सांसारिक लोग संकट के साथी नहीं, तथा विवेकहीन होने के कारण सरल का नहीं, कुटिल का आदर करते हैं, तथापि उनके साथ प्रेम-पूर्वक रहने का ही उद्योग करना चाहिए।^२ वरुण-व्यवस्था का खण्डन-मण्डन करने की इन्होंने आवश्यकता नहीं समझी तो भी शंख पर इन्होंने जो अन्योक्ति लिखी है, उससे अनुमित होता है कि वे ऊँच-नीच के भेद को सर्वथा मलिया-भेट करने के पक्षपाती न थे।

यहाँ एक बात और भी उल्लेख्य है। वह यह कि इन्होंने पांडे (ब्राह्मण), क्षत्रिय, वनिक (वंश्य), माली, कुलाल, दरजी आदि अनेक व्यवसायियों पर अनोरम अन्योक्तियाँ रची हैं परन्तु उनकी रचना का उद्देश्य किसी को उच्चावच कहना नहीं, व्यवसाय-विशेष से प्राप्य शिक्षा की ओर संकेत है। जैसे—

हे पांडे यह बात को, को समुझे या ठांव।

इतने न कोऊ हैं सुधी, यह ग्वारन को गांव ॥

यह ग्वारन को गांव, नांव नहिं सूधे बोलें।

बसं पसुन के संग, अंग ऐंडे करि डोल ॥

बरनं दीनदयाल, छाछ भरि लीजं भांडे।

कहा कहो इतहास, सुने को इत हे पांडे ॥^३

स्त्रियों के सम्बन्ध में इनकी नीति संकीर्ण ही है। ये उन्हें आत्मा की शाश्वत-यात्रा में बाधक तथा विष की वल्ली कहते हैं। इन्होंने प्रेम-पथ में पड़ने वाले प्रत्येकाओं का वृत्त ही सरस वरुण प्रेमपंचक के पांच सदैवों में किया है और वास्तविक प्रेम उसी को कहा है जिसका निर्वाह अंत तक किया जा सके। यद्यपि परंपरा-निर्वाह के लिए चातक के प्रेम की अनन्यता का वरुण इन्होंने भी किया है, तथापि आत्म-सम्मान की माया की अधिकता के कारण, ये एक-पक्षीय प्रेम की सराहना नहीं कर सके—

बं तो मानत तोहि नहिं, तें कित भयों उमंग।

नहिं दीर्घाहि कछु दरद क्यों, जरि-जरि मरै पतंग ॥^४

आर्थिक नीति—दान के बिना मान और यश नहीं मिलता, कुपात्र को दान देना अनुचित है, चंचल लक्ष्मी के अधीन होकर अपयश नहीं, उसका उत्सर्ग करके यश

१. दीनदयाल गिरि : ग्रंथावली अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ २१५।१८

२, ३. " " " " पृष्ठ २४२।५, २३१।१

४. " " " " पृष्ठ २२६।६५

लेना चाहिए, संपत्ति-लाभ पर दपं अयुक्त है, वाद्वैक्य में लोभ अच्छा नहीं, कृपण धनी धिक्कार्य है आदि सुन्दर आर्थिक नीतियाँ इनके पद्यों में विकीर्ण हैं। तत्त्वतः अर्थ को माया और माया को ठगिनी मानते हुए भी और संन्यासी होन हुए भी, इनका उपयुक्त नीतियों का प्रतिपादन इनकी व्यावहारिक बुद्धि का परिचायक है।

जीव-दया पर इन्होंने अधिक नहीं लिखा परन्तु मेढक और मयूर की अन्योक्तियों में जीवहिंसा तथा भ्रमक्षय-भक्षण का सुन्दर ढंग से निषेध कर दिया है।^१

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति के अन्तर्गत आडम्बरमय नाम से सावधान रहने की तथा बड़े नाम की अपेक्षा मनुष्य के गुणों की ओर अधिक ध्यान देने की चर्चा कई कुण्डलियों में की गई है। काव्य में पुरुषार्थ पर विशेष बल कहीं भी दिखाई नहीं देता। भाग्य, समय का फेर तथा बुरे दिनों का वर्णन अनेक पद्यों में किया गया है। प्रभु ही सब नाच नचाने वाला है, हम तो उसके हाथ की दाखनटी (कठपुतली) मात्र हैं—

तेरी है कछु गति नहीं, दाख चीर को मेल।

करै कपट पट ओट भैं, वह नट सब ही खेल ॥^२

जब मन में प्रभु-वशता इतनी पंठी हुई है तो उत्साहपूर्वक उद्योग करने की शिक्षा लेखनी से निकल ही कैसे सकती है? ऐसी दशा में संसार के कार्यों को वारि-मंथन और उसकी वस्तुओं को 'कागद का फूल' मानने वाले संन्यासी कवि ने यदि अपनी वस्तुओं की सँभाल कर रखने तथा सांसारिक भोगों को ज़रा-सा चखने की भी अनुमति दे दी तो उसे पर्याप्त ही समझना चाहिए।^३

इस प्रकार इनके नीति के प्रतिपाद्य विषयों में सन्तों और गृहस्थों की नीति का विलक्षण मिश्रण है। इसका कारण है, उनका मठाधीश का जीवन। मठाधी होने के कारण वे संसार व सम्पत्ति का मोह सर्वथा त्याग भी न सकते थे, परन्तु तात्त्विक दृष्ट्या उनकी निरर्थकता से भी अपरिचित न थे। इसी कारण उनके काव्य में ऐहिकता और आध्यात्मिकता दोनों ही का सुन्दर मिश्रण है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ता है कि नीति के उपदेशों में उनकी दृष्टि व्यावहारिकता और स्वायत्त-सिद्धि की अपेक्षा आदर्श पर कुछ अधिक टिकी हुई है।

रस और भाव—अन्योक्ति कल्पद्रुम' अत्यन्त सरस और भावपूर्ण रचना है। वात्सल्य के अतिरिक्त सभी रसों के उदाहरण इसमें प्राप्य हैं। अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार, शान्त, वीर तथा करुण की व्यंजना अधिक हुई है। चातक, भ्रमर, गुलाब आदि की अन्योक्तियों में शृंगार के संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों भेदों के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। प्रायः शृंगार की व्यंजना सुन्दर संयत रूप में हुई है। उसकी

१. दीनदयाल गिरि गून्धावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ २०६।६७, २२६।६०

२. " " " ' पृष्ठ २३४।१३

३. " " " ' २३६।१६, २३५।१५, २०७।५५

ईषत् स्फुटता चतुर्थ शाखा के कुछ पद्यों^१ में ही दृष्टिगत होती हैं परन्तु वहाँ भी वह, एकाध कुण्डलिया को छोड़कर, कहीं भी अरुचिकर दशा को नहीं पहुँची। 'विधि की करनी' में हास्यरस^२ की, बुरे दिनों के वर्णन में करुण रस^३ की, तुरंग^४ तथा क्षत्रिय^५ की अन्योक्तियों में वीर रस की, सूकर की अन्योक्ति में बीभत्स रस^६ की तथा वैश्य, रजक, दारुनटी आदि की अन्योक्तियों में शान्त रस^७ की साधु व्यंजना हुई है। रसों की अपेक्षा भावों का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। सांगी रचना में पुष्पिकात्मक पद्यों को छोड़ एक भी ऐसा छन्द न मिलेगा जो एक या दूसरे भाव से श्रोत-श्रोत न हो। दया, निर्वेद, धृति, उदारता, स्वतन्त्रता, शरणागत-रक्षा, कृतज्ञता, परोपकार, आत्म-सम्मान, विवेक, नम्रता, प्रेम, सहिष्णुता, निष्कपटता, विबोध नामक भाव अन्य भावों की अपेक्षा अधिक व्यंजित किये गए हैं।

भाषा—इस काव्य की भाषा कोमल, मधुर तथा स्वच्छ है। कठोरताजनक टवर्ग तथा संयुक्त अक्षरों का प्रयोग बहुत ही कम दिखाई देता है। दृष्टान्त-तरंगिणी की अपेक्षा विदेशी शब्द इसमें कुछ अधिक दिखाई देते हैं, परन्तु हैं वे सब प्रचलित, जैसे—दौरा, बहादुर, कोमत, सही, ऐव आदि। शब्द अरबी-फारसी के हों या संस्कृत के, इन्होंने उनके तत्सम रूपों की अपेक्षा तद्भव रूपों का ही अधिक प्रयोग किया है, जैसे—सान (शान), मिरियासि (मीरास), कागद (कागज) खलक (खल्क) कृतघन (कृतघन) तत्काल (तत्काल), कृतार्थ (कृतार्थ) ब्रह्मंड (ब्रह्माण्ड), गलानि (ग्लानि)। संस्कृत के सत्सम शब्द प्रायः इन्होंने वहीं रखे जहाँ उनके तद्भव रूप देने से छन्द की गति में विकलता आने की सम्भावना थी। रुढ़ियों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग इस काव्य में दृष्टान्त-तरंगितरी की अपेक्षा अधिक है। जैसे—

(फ) रुढ़ियाँ — 'ह्वं हैं बन के फूल भूल मति तू गुनि राजा।'
'हैं छलमय पल के असद ए कागद के फूल।'
'पछतै है री अंत कंत दिग बारि बिलोवं।'^८

(ख) लोकोक्तियाँ—'बरने दीनदयाल कहाँ कारिख कहँ केसर।'
'तो तैं बहुत कठोर जोर इन चने चबाये।'

१. दीनदयाल गिरि गून्हादली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ २४७-२५०

२. " " " " 'पृष्ठ २५५।५६

३. " " " " 'पृष्ठ २०६।५२

४-५. " " " " 'पृष्ठ २३०।७६, २३२।२

६. " " " " 'पृष्ठ २३१।८०

७. " " " " 'पृष्ठ २३२।३, २३४।६-१०

८. दीनदयाल गिरि गून्हादली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ २३४।१२, २०७।५६,
२३५।१५

‘गरलहु को तर लाय न चाहिये निज कर छेदन ।’
 ‘घर की आग बुझाय सब बाहिरें बुझावें ।’
 ‘यह काजर की ओबरी, निकरो अंग बचाय ।’
 ‘चार दिना यह चांदनी फिर अधियारी रैन ।’

विधान तथा छन्द—अन्योक्ति-कल्पद्रुम मुक्तक काव्य है और इसमें मात्रिक तथा वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है—

(क) मात्रिक छन्द—दोहा, कुंडलिया

(ख) वर्ण-वृत्त—घनाक्षरी, सवैया, मालिनी ।^२

काव्य में कुल २७२ पद्य हैं जिनमें से २४७ पद्य कुण्डलिया, १३ दोहा, २ कवित्त, ५ मालिनी और ५ सवैया छन्द में निबद्ध हैं। दृष्टान्त-तरंगिणी की रचना से सम्भवतः इन्हें अनुभव हो गया था कि दोहे-से लघ्वाकार छन्द में नीति-काव्य की रचना में विशेष सफलता नहीं मिल सकती और इसीलिए इन्होंने अपनी अन्योक्तिमयी कृति के लिए मुख्यतः कुंडलिया का आश्रय लिया जिसका सफल प्रयोग गिरिधर राय इसी प्रकार की रचना के लिए पहले कर ही चुके थे। इसी सम्बन्ध में लक्ष्य करने की एक बात यह भी है कि सवैया छंद में जो पाँच पद्य इन्होंने रचे हैं, वे सब के सब प्रेम-विषयक नीति के हैं। चूँकि रीति-काल में अधिकतर रचनाएँ प्रेम-विषयक तथा कवित्त-सवैया छन्दों में हुईं इसलिए इस काव्य में प्रेम-नीति के लिए सवैया का प्रयोग तत्कालीन साहित्यिक रुचि का ही प्रभाव माना जा सकता है। छन्दशास्त्र की दृष्टि से पद्य निर्दोष हैं और अन्त्यानुप्रास आदि को अविकल रखने के लिए कवि को शब्द में तोड़-मरोड़ की आवश्यकता नहीं पड़ी।

शैली—इस काव्य में मुख्य रूप से अन्यापदेशात्मक शैली का व्यवहार किया गया है जिसका प्रयोग संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक कवि चिरकाल से करते आए थे। परन्तु इतना तो स्वीकृत करना ही पड़ता है कि जो काव्यमाधुर्य इनकी अन्योक्तियों में प्रस्फुटित हुआ है वह हिन्दी-नीति-काव्य में अन्यत्र अप्राप्य है। तथ्यनिरूपक और उपदेशात्मक शैली का प्रयोग भी कुछ इने-गिने पद्यों में दिखाई देता है। गिरि जी ने एक अन्य विलक्षण शैली का व्यवहार भी किया है जिसे सम्बोधनात्मक शैली कह सकते हैं। इस शैली का उपदेशात्मक शैली से कुछ भेद है। उपदेशात्मक शैली में तो व्यक्ति-विशेष को विशेष प्रकार का व्यवहार करने की शिक्षा दी जाती है, परन्तु इस शैली में काम, क्रोधादि को ही सम्बोधित कर उनके स्वरूप का वर्णन किया जाता है तथा उन्हीं को विशेष नीति अपनाने की शिक्षा दी जाती है। जैसे—

१. दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, अन्योक्ति, कल्पद्रुम, पृष्ठ २४०।३३, २४०।३४,
 २०१।३२ २३८।२७, २३९।२८, २२६।६४

२. कुंडलिया सु घनाच्छरी सुखद सु दोहा वृत्त । हरै सवैया मालिनी मिलि पंचामृत
 चित्त । " " " " पृ० २५६।७८)

जिहि मन तें उदभव भयो, जिहि बल जग में सूर ।
तिहि निसि दिन जारत अहो, दुसह कोप गति कूर ॥
दुसह कोप गति कूर, बड़ी कृतघन जग मों है ।
प्रथम बहत है आप, बहुरि दाहत सब फो है ॥
बरने दीन दयाल, कोप ! तू सुनि सब जन तें ।
अजस होत जनि बहै, भयो उदभव जिहि मन तें ॥^१

अलंकार—अलंकारों की दृष्टि से भी यह काव्य महत्वपूर्ण है। प्रायः प्रत्येक पद्य उभयलंकार के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। कारण, लगभग सभी पद्य अन्योक्ति-रूप में रचे गये हैं और अन्योक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अर्थालंकार का ही सारूप्यनिबन्धना नामक भेद है। इस दृष्टि से इसमें अर्थालंकार का ही प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त शब्दालंकारों में से छेकानुप्रास, वृत्तनुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा का तथा अर्थालंकारों में से उपमा, विरोधाभास अपह्नुति अतिशयोक्ति रूपक, निरुक्ति, विषम, सूक्ष्म, मुद्रा, व्याजस्तुति आदि का भी प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। दृष्टान्ततरंगिणी तथा 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' के अलंकार-प्रयोग की आधारभूत मनोवृत्ति में भी अन्तर लक्षित होता है। जहाँ पूर्वोक्त ग्रंथ में अलंकार-प्रयोग का मुख्य उद्देश्य नीति के कथन को स्पष्ट और समृद्ध करना है वहाँ अपरोक्त कृति में काव्य को चमत्कृत करना। कुछ पद्य तो कवि ने अलंकार-प्रयोग में अपनी कुशलता प्रदर्शित करने को लिखे हैं।^२ पर कुशल है कि ऐसे पद्यों की संख्या अधिक नहीं। अन्योक्ति के उदाहरण ऊपर उद्धृत पद्यों में सुलभ हैं, कुछ अन्य उदाहरण लीजिए—

शब्दालंकार—

नाहक गाहक बिना बलाहक ह्याँ तू बरखँ।^३ (छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास)

लखि लखि लाल प्रसून सून मोहत ता माहीं ॥^४ (वीप्सा, यमक)

कूपहि आवर उचित है नहीं गुनिन को हेय ।

अंतर गुन को ग्रहन करि, फिरि फिरि जीवन देय ॥^५ (शब्दश्लेष)

अर्थालंकार—

सुनिये भूप विवेक तुम वासुदेव अवतार ।

किय मन पितु वसुदेव को बंधन ते उद्धार ॥^६ (रूपक)

बरने दीन दयाल कुंद मिस तो जस छाये ॥^७ (कैतवापह्नुति)

सारस हैं, सारस न हैं, त, तें रसैं न हंस ॥ (विरोधाभास)^८

१. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृ० २५१।४२, और भी देखें पृ० २५०-२५४

२. वही, पृष्ठ २५६-२५८

३-८. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, पृ० २०२।३५, २२३।५२, २५६।६३, २५३।५१, १६६।१२, २०३।४३

गुण—अन्योक्ति-कल्पद्रुम में प्रसाद, माधुर्य, तथा भोज तीनों ही गुण विद्यमान हैं परन्तु भोज की अपेक्षा प्रसाद तथा माधुर्य बहुत अधिक है। माधुर्य को स्थिर रखने के लिए कवि ने कर्णकटु अक्षरो तथा शब्दों के परिहार का निरन्तर ध्यान रखा है।

दोष— इस सरस सुन्दर रचना में भी कुछ स्थलों पर च्युत-संस्कृति, न्यूनपदत्व, ग्राम्यत्व आदि दोष दिखाई देते हैं। जैसे—

‘सब की छमत गुनाह नाह तुम सब के भूतल ॥’

‘बच्चो आपनी भाग्य अहो मुक्ता मुख मेल्यो ॥’

उक्त चरणों में ‘गुनाह’ तथा ‘भाग्य’ को स्त्रीलिंग माना गया है, अतः च्युत-संस्कृति दोष है।

दीने ही चोरत अहो इन सम चोर न और ।

इन समीर ते कंज ! तुम सजग रहो या ठोर ॥^२

उक्त दोहे में ‘कपाट’ पद की न्यूनता होने के कारण न्यूनपदत्व दोष है।

पति के ढिग जनि जार पे मार नयन के बान ।

जानत सब विभिचार तब गुनत न नाह सुजान ॥^३

उपयुक्त दोहे में गंवारी भाषा का प्रयोग होने के कारण ग्राम्यता-नामक ग्रंथ दोष है। एकाध स्थल पर पुनरुक्त दोष भी विद्यमान है।^४ परन्तु, स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे खटकने वाले स्थल अत्यन्त अल्प हैं और अतएव उपेक्ष्य हैं।

संस्कृत का अन्योक्ति काव्य और अन्योक्ति-कल्पद्रुम—इस बात का उल्लेख ऊपर^५ कर ही चुके हैं कि संस्कृत-साहित्य में अन्योक्ति शैली में पर्याप्त नीति-काव्य की रचना हुई है, जिसमें से कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में और कुछ स्फुट पद्यों के रूप में संग्रहग्रंथों में प्राप्त होता है। संस्कृत के अन्योक्ति-काव्य से अन्योक्ति-कल्पद्रुम की तुलना करने पर निम्नलिखित पाँच बातें दृष्टिगत होती हैं—

(क) अन्योक्ति कल्पद्रुम में अनेक परंपरागत अप्रस्तुतों का त्याग।

(ख) कुछ नवीन अप्रस्तुतों का उपादान।

(ग) अप्रस्तुत और प्रस्तुत की समानता।

(घ) अप्रस्तुत की समानता में प्रस्तुत का विषय-विस्तार।

(ङ) अप्रस्तुत की समानता होने पर भी प्रस्तुत विषय का संकोच।

(क) अनेक अप्रस्तुतों का त्याग—यद्यपि अन्योक्ति कल्पद्रुम में सूर्य, चन्द्र,

१. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ १६८।१६ २११।४

२. " " " " पृष्ठ २०४।४७

३. " " " " पृष्ठ २४८।३१

४. " " " " पृष्ठ २१७।२६ की २२२।४८ से

तुलना कीजिए

५. प्रस्तुत प्रबंध का ७१ पृष्ठ देखिए

पृथ्वी, जल, समुद्र, पर्वत, सिंह, गज, हंस, भ्रमर, चंदन, रसाल, गेंदा, गुलाब, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक ऐसे अप्रस्तुतों पर अन्योक्तियाँ रची गई हैं जिनका उल्लेख संस्कृत अन्योक्ति काव्य में विद्यमान है तथापि हार, कुंडल, धवल, रासभ, राम, सीता, तैलिक, व्याध, अश्वत्थ, न्यग्रोध, मेरु, विध्य, गंगा, शोण, गरुड, खद्योत, कस्तूरी, तुला आदि अनेक पदार्थ ऐसे भी हैं जिनकी गिरि जी ने उपेक्षा की है। परन्तु इस उपेक्षा के लिए गिरि जी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि संस्कृत-साहित्य में भी उपयुक्त अप्रस्तुतों का उल्लेख किसी एक ही काव्य में नहीं मिलता। हाँ, 'कल्पद्रुम' नाम को देखते हुए यदि इस कृति का आकार कुछ बड़ा होता तो अधिक संगत था।

(ख) नवीन अप्रस्तुतों का उपादान—गिरि जी ने कुछ ऐसे अप्रस्तुतों पर भी अन्योक्ति-रचना की है जिनका उल्लेख प्रायः संस्कृत अन्योक्ति काव्यों में दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे—पांडे, गडधनी, चंग-उडायक, चौपर खिलाड़ी, छैल, पनिहारिन, पाहरू, बजंत्री आदि। इनके अतिरिक्त इन्होंने अन्योक्ति कल्पद्रुम की चतुर्थ शाखा के आरम्भ में पथिक-विषयक जिन २३ अन्योक्तियों की रचना की है वे मार्मिकता की दृष्टि से हिन्दी के नीतिकाव्य में अनुपम ही बही जायँगी।

(ग) अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत की समानता—अन्योक्ति कल्पद्रुम में मेघ, भ्रमर, कोकिल, वृक्ष आदि पर जिन अन्योक्तियों की रचना हुई है, उनमें अनेक ऐसी हैं जो प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों दृष्टियों से संस्कृत की अन्योक्तियों से प्रभावित हैं। फिर भी गिरि जी की भाषा और शैली में कुछ ऐसी नवीनता और सरसता है कि वे स्वतंत्र काव्य-सी ही प्रतीत होती हैं, अनुवाद-मात्र नहीं; जैसे—

यत्पादाः शिरसा न केन विधृताः पृथ्वीभृतां मध्यतस्,
तस्मिन् भास्वति राट्ठणा कवलिते लोकत्रयीचक्षुषि ।
खद्योतः स्फुरितं तमोभिर्हृदितं ताराभिरुज्जृम्भितम्
घूर्णन् हृदितमाः किमत्र करवे किं किं न कैश्चेष्टितम् ॥^१ (मुं०)
लीने आभा आपनी हे अम्बक आधार ।
दीर्घ दर्शन प्रगटि कं तम दुख दलो अपार ॥
तम दुख दलो अपार निसाचर गाजि रहे हं ।
भूत दीप खद्योत उलूक विराजि रहे हं ।
बरन दीन दयाल कोकनद कोकहु दीने ।
कब ह्वं हो हरि उदय तुमं बिन लोक मलीने ॥^२

१. भावार्थ—हाय ! जिसकी किरणों को सभी पर्वतों ने सिर पर धारण किया था उस त्रिलोकी के नेत्र-रूप, सूर्य के राट्ठगस्त होने पर अंधकार, सितारे, जुगनू, उल्लू आदि स्वच्छंद विहार करने लगे। (भगदत्त जल्हण : सूक्तिमुक्तावली, बड़ीदा, १९३८ ई०, पृष्ठ ६३)
२. दीनदयाल गिरि प्रभावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ १६८।२०

हमारा अनुमान है कि गिरि जी की कुंडलिया मुंज की अन्योक्ति से प्रभावित हैं परन्तु कुंडलिया में आशय को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया गया है कि वह स्वतन्त्र प्रतीत होती है। मुंज के पद्य में इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि किसी तेजस्वी नरेश के हतप्रभ हो जाने पर अधम जन ऊधम मचा रहे हैं। परन्तु, कुंडलिया में उपद्रवियों के उद्दाम कृत्यों का उल्लेख कर प्रतापी पृथ्वीपति से प्रकट हो कर खलदलन की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार शैली-भेद ही नहीं किया गया, वर्ण्य उपादानों में भी वृद्धि की गयी है।

(घ) अप्रस्तुत की समानता में प्रस्तुत का विषय-विस्तार—अन्योक्ति कल्पद्रुम में अनेक कुंडलियाँ इस प्रकार की भी हैं जिन का अप्रस्तुत तो संस्कृत की अन्योक्तियों के समान है परन्तु प्रस्तुत भिन्न है। जैसे, पवन को अप्रस्तुत बना कर संस्कृत में जिन अन्योक्तियों की रचना की गई है उनमें उससे जीरां नोका को नदी में न डुबोने की, वृक्षों का उन्मूलन न करने की, प्रदीप्त दीपक को न बुझाने की, कस्तूरी की सुगंध को पामरों तक न पहुँचाने की तथा अधम धूल को पर्वत शिखरों पर न ले जाने की प्रार्थना तो की गई है, परन्तु इस प्रकार की कल्पना द्वारा दिनों के फेर का वर्णन अभी तक हमारे देखने में नहीं आया—

जहं धरि पीत पराग पट, वर सम कियो झिहार ।
तिहि बन पवन जती भयो, रमत रमाये छार ॥
रमत रमाये छार, घोर ग्रीषम दब लागे ।
दुख में मधुकर सखा, संग सब ही तजि भागे ॥
बरनै 'दीनदयाल' रही छबि कुसुमाकर भरि ।
बूलह बन्यो समीर रम्यो पट पीरो जहं धरि ॥^२

(ङ) अप्रस्तुत की समानता होने पर भी प्रस्तुत विषय का संकोच—हम अभी ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत की अपेक्षा अन्योक्ति कल्पद्रुम में अप्रस्तुतों की संख्या बहुत कम है। परन्तु जिन अप्रस्तुतों को गिरि जी ने ग्रहण भी किया है, उन पर भी इतनी विस्तृत रचना नहीं की जितनी कि संस्कृत के कवियों ने की है। उदाहरणार्थ, संस्कृत-कवियों ने मृगेन्द्र पर रची गई अन्योक्तियों में सिंह के पराक्रम, 'स्वयमेव मृगेन्द्रता,' वाद्वैक्य में भी तेजस्विता, गज की विद्यमानता में मृगों पर अनाक्रमण, गर्भस्थ सिंह शावक की वीरता, जातमात्र सिंह शिशु का साहस, विपत्ति में भी उच्च संकल्प, उसकी मृत्यु पर तुच्छ पशुओं की उच्छृंखलता, सिंह तथा शृगाल की मांदों पर लभ्य पदार्थों में अन्तर आदि अनेक बातों की चर्चा की है। परन्तु, गिरि जी ने वनराज पर एक ही कुंडलिया लिखी और उसमें भी सिंह की जराजन्म पंगुता के उल्लेख से वाद्वैक्य-जन्म विवशता को ही प्रतिपादित किया है।^३ माना कि एक विरक्त

१. सुभाषित रत्नभांडागार, पृष्ठ २४५, सूक्तिमुक्तावली, पृष्ठ ६८

२-३, दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, अन्योक्तिकल्पद्रुम, पृष्ठ १६६।१४, २२८।७०

से वीरता के विशद वर्णन की आशा न रखना ही उचित है तथापि सिंह के सम्बन्ध में एक ही अन्योक्ति रची जाय और उसमें भी उसके सहज पराक्रम की उपेक्षा की जाय, यह कुछ जेंचता नहीं।

दीनदयाल और हिन्दी-कवि—यद्यपि अन्योक्ति-कल्पदुम पर संस्कृत के अन्योक्ति-काव्य का ही प्रभाव अधिक है तथापि इसकी कुछ अन्योक्तियों पर कबीर तथा बिहारी का भी यत्किञ्चित् प्रभाव लक्षित होता है। कबीर का प्रभाव तो उन पद्यों में अधिक दिखाई देता है जिनमें गिरि जी ने शान्त तथा शृंगार का मिश्रण करते हुए मायके का मोह छोड़ समुराल जाने, पति से अनन्य प्रेम करने और पातिव्रत के पालन की शिक्षा दी है और बिहारी का प्रभाव भ्रमर आदि की अन्योक्तियों पर। परन्तु यह विस्मरण न करना चाहिए कि दीनदयाल अपनी सतर्कता के कारण अन्योक्तियों की रचना करते समय भाव में ऐसा परिवर्तन कर देते हैं कि उन पर भावा-पहरण का दोष आरोपित करने का साहस नहीं होता। पूर्ववर्ती कवियों के कुछ शब्दों या वाक्यांशों से ही उस प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। निम्नलिखित उद्धरणों से हमारे कथन का समर्थन हो जायगा—

(क) घूँघट का पट खोल रे तोहें पीव मिलेंगे।

घट-घट में वह साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे ॥

धन जोबन को गरब न कीजै, भूठा पँचरँग चोल रे ॥^१ (कबीर)

तेरे ही अनुकूल प्रिय किन बिनवें प्रिय बोलि।

घट में खटपट मति करे घूँघट को पट खोलि ॥

घूँघट को पट खोलि, देखि लालन की सोभा।

परम रम्य बुधगम्य जासु छवि लखि जग सोभा ॥

बरनै 'दीन दयाल' कपट तजि रह्यु प्रिय नरे।

बिमुख करावनि हार तोहि सनमुख बहुतेरे ॥^२ (गिरि)

(ख) माली आवत देखि कै, कलियाँ करीं पुकार।

फूली-फूली चुनि लिये, कालि हमारी बार ॥^३ (कबीर)

इहि आसा अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के भूल।

हुइ हैं बहरि यसन्त ऋतु, इन डारनि वे फूल ॥^४ (बिहारी)

लै पल एक सुगंध अलि, अपनो मानि न भूल।

लै है सांझ सबेर में, वह माली यह फूल ॥

१. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ १७७

२. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, पृष्ठ २४६।३४

३. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ १५७।३३

४. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ४००।१००

बह माली यह फूल कितें दिन लौटत आयो ।

फूले फूले लेत कली सब सोर मचायो ॥

बरनै 'दीन बयाल' लाल लखि फंसै न है छल ।

लगी बाग में आग, भाग रे गंधहि लै पल ॥' (गिरि)

अन्त में इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि अन्योक्ति-कल्पद्रुम विषय की व्याप-
कता, भावों की भाषिकता, भाषा की व्यञ्जकता तथा पदविन्यास की मनोहरता के
कारण हिन्दी-नीतिकाव्य की उत्तम रचना है और इसी के कारण गिरि जी नीति-
कवियों की प्रथम पंक्ति में विराजमान हैं ।

३२. गुपाल कवि

गुपाल कविराय ने 'दंपतिवाक्य विलास' के प्रारम्भिक पद्यों में अपना जो परि-
चय प्रस्तुत किया है उस से विदित होता है कि इनके पूर्वज जुगराज राय परम प्रतापी
कवि थे । उनके तनुज मुरलीधर के यशस्वी पुत्र घनस्याम कहीं बाहर से आकर वृन्दावन
में रहने लग पड़े । घनस्याम के पुत्र प्रवीनराय कवि हुए जिन्होंने पिगल, रस जाल
और कार्तिक एकादशी माहात्म्य नामक ग्रंथों की रचना की । इन्हीं प्रवीनराय के गृह
में गुपाल कवि का जन्म हुआ । गुपाल वृन्दावन में ही रहते थे और द्विजों के प्रति
अगाध श्रद्धा रखते थे । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि गोपाल
कवि ने बलभद्र मिश्र के 'नखशिख' पर एक टीका भी सं० १८६१ में लिखी थी ।^१
सम्भव है, ये गोपाल कवि हमारे गुपाल कवि से अभिन्न हों क्योंकि 'दंपति वाक्य
विलास' का रचना-काल (सं० १८८५)^३, उक्त टीका के रचना-काल के समीप ही है ।

दम्पति वाक्य विलास—इस काव्य की पांडुलिपि जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में
सुरक्षित है ।^४ ५२ पत्रों की इस पूर्ण प्रति का लिपि-काल सं० १९३२ है ।^५ कवि ने
पहले सुख-दुःख-विषयक दो पद्य रच कर कुशल कवियों को दिखाए और उन्हीं से
प्रोत्साहित हो कर पाठकों के बुद्धि-विकास के लिए इस काव्य को रचा—

तिन की आज्ञा पाय मैं, कीना ग्रंथ प्रकास ॥

कहत सुनत या के सदा होइ बुद्धि परकास ॥^६

बुद्धि के प्रकाश के लिए जो काव्य रचे जाते हैं वे प्रायः विशेष सरस नहीं होते

१. दीन बयाल गिरि ग्रंथावली, पृष्ठ २०६।५५

२. हि० सा० ६०, पृष्ठ २०६

३. ठारह सें पिच्यासिया पुन्यों अगहन मास

दंपति वाक्य विलास को तब कीनों परगास ॥ (दंपति वाक्य विलास, पत्र २।१२)

४. क्रमांक २२६२, पत्र-संख्या ५२, आकार ८ $\frac{१}{२}$ " × ६ $\frac{३}{४}$ "

५. "संवत् १९३२ आश्विनकुत्तानवम्या ६ गुरौ जयलालेन लिखितं कृष्णगङ्गा मध्ये"

६. वही, पुष्पिका ।

७. वही, पत्र १।६

परन्तु गुपाल कवि ने इस काव्य को दम्पति के संवाद रूप में लिख कर विशेष सरस बना दिया है। पति घनोपाजन के लिए विदेश जाने का इच्छुक है। पत्नी के प्रदन पर पति अपने अभीष्ट व्यवसाय के गुणों का उल्लेख करता है और फिर पत्नी उस व्यवसाय के दोष प्रकट कर देती है। इस प्रकार भर्ता क्रमशः अनेक पेशों के लाभों का बखान करता है और भार्या उनका प्रत्याख्यान करती है। इस प्रकार के वाक्य-विलास में समय व्यतीत होता जाता है और वे दाम्पत्य-विलास के सुख भी अनुभव करते जाते हैं—

नारि निषेव कियो रजिगार कौं प्रीतम जो करनौ बहरायो ।

प्यार ही प्यार में प्यारी प्रवीन नैं चातुरीतें पिय कौं बिरझायो ॥

रैन दिनां बिछुरें नहिं नैंकहू भोगविलास करें मन भायो ।

राइ गुपाल कौं पास ही राख कैं कीयो भलो अपनौं मन भायो ॥^१

यह काव्य २१ प्रबन्धों में विभक्त है और प्रत्येक प्रबन्ध अनेक वर्गों में। प्रबन्धों में वर्गों की संख्या न्यूनाधिक है, जैसे कलह प्रबन्ध में केवल 'कलह पचीसी' नामक एक ही वर्ग है और राज प्रबन्ध में ३१। कवि-दृष्टि की व्यापकता विस्मयावह है। जहाँ उसने विप्र-रोजगार प्रबन्ध में वेदान्ती, व्याकरणी, ज्योतिषी, मिश्र, पुरोहित आदि के गुण-दोषों की चर्चा की है, वहाँ अधमःधम प्रबन्ध में गण्डिया, भडुआ, छिनरा, छिनारी, लौडेबाजी, कुट्टनी आदि को भी विस्मृत नहीं किया। जहाँ जगत्-प्रबन्ध में बाल्य, यौवन तथा वाढंय के गुण-दोषों का वर्णन है वहाँ परमार्थ-प्रबन्ध में नवधा भक्ति, निर्गुन उपासक आदि का। काव्य के सहर प्रबन्ध, राज प्रबन्ध, फिरंगी प्रबन्ध आदि शीर्षकों से कुछ भ्रम हो सकता है कि इनमें शासन-सम्बन्धी नीरस विषयों का प्रतिपादन होगा। परन्तु बात ऐसी नहीं है। वास्तुतः इन में विविध राज-कर्मचारियों के व्यवसायों के गुण-दोषों का ही उल्लेख किया गया है ताकि पाठक जिस भी व्यवसाय में पड़े, हानि न उठाए—

दंपति वाक्य विलास कौं पढ़ें गुनैं चित लाय ।

रजगारन के करत ही हार न आवैं ताय ॥^२

चूँकि हिन्दी में गृहीत नीति-विषयों का जितना व्योरेवार वर्णन इस काव्य में किया गया है, अन्य किसी में नहीं, अतएव उचित प्रतीत होता है कि संपूर्ण विषय-सूची को यहाँ उद्धृत कर दिया जाय। जहाँ इस से गुपाल कवि के विशाल अनुभव तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय प्राप्त होता है वहाँ इस बात का भी प्रमाण मिल जाता है कि हिन्दी-कवियों ने उन तत्कालीन विषयों को भी अपने काव्य की परिधि में समाविष्ट कर लिया था जिन पर पुराने कवि प्रायः मौन थे।

१. वही, पत्र १।१५

२. वही, पत्र ५।१२७

दम्पति-वाक्य-विलास की विषय-सूची^१

१. प्रथम प्रबन्ध	६. पोसत के	१२. घः मंगा तिलकिया
१. मंगलाचरण	६. मद के	१२. पुसामद
१. कविवंश	६. हुलास के	१२. रोनीनां
१. मनीयारो वर्णन	६. चरस के	७. मंदिर प्रबंध
१. ग्रंथ प्रयोजन	७. हुक्का के	१३. गुसाई के
१. ग्रंथ प्रबंध	७. पाने समाधू के	१३. भट्टन के
१. ग्रंथ समय	७. गांजे के	१३. अधिकारी
१. पुरुष वचन	५. खेल प्रबंध	१३. सरकार के
१. धन सुषदुष	७. चौफर के	१३. फौजदार
२. प्रदेश प्रबंध	७. सतरंज के	१४. भंडारी के
२. प्रदेश सुषदुष	८. गंजफा के	१४. पुजारी के
२. पूरब दिसा के	८. संतोष के	१४. रसोइया के
२. दक्षिण के	८. रुजगार के	१४. छरीदार के
२. उत्तर के	८. घर के	१४. कोतवाल के
२. पश्चिम के	६. विप्र रुजगार प्रबंध	८. संत प्रबंध
३. निज वेस प्रबंध	९. वेदान्ती	१५. महंताई
३. बरात के	९. व्याकरनी	१५. महंत को चेलो
३. बेटा को ब्याह	९. जोतिसी	१५. महंत की चेली
३. बेटी को ब्याह	९. मिश्र के	१५. संतन को
३. समध्याने के	१०. वैद्य के	१६. नांगान को
४. ससुरार के	१०. पंडिताई	१६. परमहंस
४. मिजमानी के	१०. कविताई	१६. सिद्ध को
४. तीरथ जात्रा	१०. भाटपने के	१६. तपस्सी
४. दरसन जात्रा	१०. लिषाई के	१६. विरक्त
५. कथाकीर्तन	११. रासधारी	१७. फकीर के
५. मेला-तमासा	११. गवैया वजवैया	१७. जोगीराज
५. सवारी के	११. भिषारी	१७. जती के
४. अमल प्रबंध	११. प्रोहिताई	१७. स्वान पति के
५. भांग के	११. गहुनाई के	१७. मोडा साध
५. अफीम के	१२. चौवेन	१७. संजोगी

- | | | |
|---------------------|-------------------|-------------------|
| १८. चेला करिवो | २४. मंत्री के | १२. वैश्य प्रबन्ध |
| १८. गृहस्ती | गालंदाज | ३०. बनियाँ के |
| १८. ब्रह्मचारी | सहजदिमानी | ३०. बनिज के |
| १८. वानप्रस्थ | २४. वकील | ३०. बहु बनिज |
| १९. संन्यासी | २५. मल्ल के | ३१. मंडी के |
| १९. सहर प्रबंध | २५. सूरवीर | ३१. हात के |
| १९. सिरदागी | २५. चौबदार | ३१. किराने के |
| १९. थोकदारी | २५. हलकारो | ३१. बहुर गति के |
| १९. मुहल्लेदारी | २५. धाऊन के | ३२. गाम के बोहरे |
| १९. जुम्मेदारी | २६. षोजा के | ३२. लदेनिया |
| २०. जाति चौधर | २६. गुलाम के | ३२. आढत |
| २०. चवूतरा को चौधर | २६. पवास के | ३२. जौहरी |
| २०. पंचन की | २६. पिलमान | ३२. कोठी के |
| २०. जमीदारी | २६. गडमान के | ३३. हुँडियारो |
| २०. इजारदारी | २७. मुल्ला के | ३३. दलाली |
| २१. खेती के | २७. हकीम के | ३३. दुकानदारी |
| २१. पटवारी | २७. कलामत | ३३. कलावत्तू |
| २१. कानूगोह | २७. मोदी के | ३३. तमोली |
| २१. तहसीलद.र | चखादार | ३४. गंधी के |
| २१. जामनी | ११. फिरंगी प्रबंध | १३. रकानि प्रबंध |
| २२. सह्यां के | २७. फिरंगी के | ३४. सराफी |
| २२. ग्वारन के | २८. नाजर के | ३४. बजाजी |
| १०. राज प्रबंध | २८. थानेदार | ३४. परचूना |
| २२. राजा के | २८. चपरासी | ३४. पसारठ |
| २२. दिमान के | २८. जमादार | ३५. हलवाई |
| २३. मुमहागरी मुमाहव | २९. परमट | ३५. कसेरट |
| रसालदार | २९. दिमानी की | १४. जाति प्रबंध |
| २३. बकसी के | नालिश | ३५. सुनार |
| २३. फौजदार | २९. फौजदारी की | ३५. दरजी |
| २३. फौजदारी | नालिश | ३६. रंगरेज |
| २३. दरोगाई | २९. गवाई के | ३६. माली |
| २४. षजानची | २९. जेलखाने के | ३६. कूँजरे |
| २४. सिलहदारी | ३०. चाकरी के | ३६. कडरे |
| २४. दाना दक्ष | ३०. धहु चाकरी के | ३६. कोरिया |

३७. बड़ई	४१. नंगा के	४५. दाता के
३७. लुहार	४१. हराम के	४६. सूम के
३७. संगतरास	४२. ग्वाला	४६. सपूत के
३७. राज-मजूर	४२. सगाई विचौली	४६. बेटा के
३७ चित्रकार	१६. अधमाधम	४६. बेटी के
३८. तेली	४२. गंडिया	१८. परमारथ के
३८. सका के	४२. भडुवा	४७. नवधा भक्ति
३८. नाऊ के	४२. किसवी	४७. निर्गुन उपासक
३८. रजक	४३. भवैया कथक	४७. ब्रह्म उपदेश उपासन
३९. मल्लाह	४३. छिनरा	४७. स्त्री के सुष
३९. महतर	४३. छिनारि	१९. कलहा प्रबन्ध
३९. स्वपच	४३. लौडेबाजी	४७. कलह पचीसी
१५. अधम रजगार	४४. कुट्टनी	२०. सति रस प्रबन्ध
३९. चुगली	१७. जगत प्रबन्ध	४९. कवि पछितानि
३९. मसषरा	४४. वालावस्था	५०. करणाष्टक
४०. उचक्का	४४. तहनावस्था	२१. ग्रन्थ फल स्तुति
४०. चौर	४४. वृद्धावस्था	प्रबन्ध
४०. लवार	४४. गुन के सुषुदुष	५०. ज्ञान उपदेश
४०. हरामजादे	४५. संस्कृत गुन	५१. कलि प्रभाव
४०. डिम्मधारी	४५. भाषा गुन	५१. फलस्तुति ।
४१. वेसरम	४५. फारसी इलम	इति सूची सम्पूर्णम् ।
४१. सेषीषोरा	४५. हुरमत के	

नीति के स्वनिर्दिष्ट छह भेदों की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि यद्यपि इसमें प्राणिनीति के बिना पाँचों प्रकार की नीति का उल्लेख विद्यमान है, तथापि प्राधान्य आर्थिक नीति का है। वैयक्तिक नीति में बाल्यादि अवस्थाओं का सम्बन्ध शांतिरिक्त नीति से, संस्कृत गुण, भाषा गुण, फारसी इलम आदि विषयों का मानसिक नीति से और गुण, सुख-दुख का आत्मिक नीति से है। पारिवारिक नीति के अन्तर्गत बेटा, बेटी, सपूत, स्त्री के सुख आदि का उल्लेख है। सामाजिक नीति में बेटे का बिवाह, बेटी का विवाह, समधियाना, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थ और संन्यासी, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि से सम्बन्धित पद्य रखे जा सकते हैं। आर्थिक विषय में कवि ने अधिकतर नीति कवियों के समान धन के सुख-दुख, दानी, कृपण आदि की ही चर्चा नहीं की, प्रायः उन सभी व्यवसायों को गिना दिया है जिनके द्वारा तत्कालीन लोग अपना निर्वाह किया करते थे। कृति के छठे से लेकर सोलहवें प्रबन्ध तक का विषय विविध व्यवसायी हैं जिनकी संख्या सौ से भी अधिक है। कवि ने व्यवसाय-मात्र

को प्रशंसनीय नहीं कहा है। कुछ व्यवसायों को अधम तथा कुछ को अधमाधम माना है; जैसे चुगली, मसखरा, उचक्का, चोर, लबार, हरामजादे, बेसरम, सेखीखोरा, ग्वाला, सगाई-बिचौली आदि के कार्य अधम रोजगार कहे गये हैं। उक्त प्रबन्धों की वर्ग-सूची पर दृक्पात करने से ऐसे दर्जनों विषय दिखाई देते हैं जिन पर प्राचीन कवियों ने कुछ लिखना उचित नहीं समझा। संस्कृत के ग्रन्थों में वैश्य, कायस्थ, नापित आदि के सम्बन्ध में कुछ स्फुट पद्य भले ही मिल जाएँ परन्तु फिरंगी, नाजर, थानेदार, चपरासी, जमादार आदि परवर्ती विषयों पर तो लिखना अशक्य ही था। मिश्रित नीति में ज्ञान, उपदेश तथा कलियुग के प्रभाव से सम्बन्धित पद्यों को गिनाया जा सकता है।

यह काव्य सरल, मधुर, प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा में लिखित है। अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों का चमत्कार कहीं अधिक है। अनुप्रास कवि का सबसे प्रिय अलंकार है और प्रत्येक पद्य में उसकी सुन्दर छटा देखी जा सकती है। विधान की दृष्टि से रचना को प्रबन्ध-मुक्तक कहा जा सकता है। जहाँ दंपती के संवाद रूप में होने के कारण यह कुछ प्रबन्धात्मक है, वहाँ प्रत्येक पद्य अर्थ की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण होने के कारण मुक्तक है। प्रायः कवित्त, सवैया और दोहा छन्दों का प्रयोग किया गया है। सार यह कि विषय, भाव, भाषा सभी दृष्टियों से यह एक सुन्दर नीतिकाव्य है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य दिये जाते हैं—

(क) आय आय लोग घर बैठे ही सिरामें हाथ,
टंटे औ फिसाद के सु उठत सुगल को
सुकवि “गुपाल” इत उत में दिषाय भय,
करि कँ फरेवी माल मारत जुगल को ।
राति दिन बूझ सरकार में रहति डर,
मान्यों करे लोग ऐसौ जैसो न सुगल को ।
आमैं छलछिद्र कछू परत नवल सदा,
यातें यह भलो रजिगार है चुगल को ।^१

(ख) सब ही की या में छोटी कहनी परति बात,
कहैं चुरदार वर दधैं तन छोजियें ।
गारी गरा बें कें बहु कोसत रहत लोग,
मामले में जाइ कें बिगारि काम दीजियें ।
जाहर भए में यह बिगरत हाल या तें,
कहत “गुपाल” मेरी बात हि पतीजियें ।
भूष रहि जीजियें कि बिस लाइ पीजियें,
यें भूलि रजगार चुगली को नहि कीजिये^२ ।

३३. कैसोदास

“दीपक-बत्तीसी” के रचयिता कैसोदास के सम्बन्ध में अभी तक कुछ विदित नहीं हुआ। फिर भी ये सत्रहवीं शती के गाड़ण चारण केशवदास तथा केशव-बावनी के प्रणेता जैन कवि केशवदास से भिन्न ही प्रतीत होते हैं। “दीपक-बत्तीसी” की जो हस्तलिखित प्रति जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में सुरक्षित हैं, उसका लेखन-काल १९ वीं शती अनुमित किया गया है।^१ पुस्तक में राजस्थानी भाषा के केवल ३२ दोहे हैं। संस्कृत-साहित्य में दीपक पर जो अनेक अन्योक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे यह विशेष प्रभावित प्रतीत नहीं होती। इस अन्योक्ति-प्रधान रचना में दीपक के गुण-दोषों का भी उल्लेख है और पतंग के अनन्य प्रेम का भी। व्यंग्य की प्रधानता और भाषा-सौष्ठव के कारण रचना मनोरम है। निदर्शन के लिए कुछ दोहे लीजिये—

दीपक तूं चिरजीवजें नित-नित वधौ उलास ।

पाव परठे मंदिरें तो बाधें सुबिलास ॥

तिमिर फटें गुण प्रगटें उलटें अंग उलास

उरहूँ काजल उदगिलें तिए नावें वेसास ॥^२

३४. भड्डरी

भड्डरी की जीवनी के विषय में अभी तक कुछ विदित नहीं हुआ। इतना ही पता चला है कि वे राजस्थान के एक ज्योतिषी थे तथा वृष्टि और कृषि के सम्बन्ध में विशेष अनुभव रखते थे। जैसे उत्तर प्रदेश तथा विहार में घाघ की कहावतों का ग्रामीण लोगों में विपुल प्रचार है वैसे ही राजस्थान तथा पंजाब में भड्डरी की कहावतों का। इनकी दो सौ के लगभग कहावतें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से अधिकतर के विषय वर्षा, सुकाल, अकाल, महंगी, विनाश-लक्षण आदि हैं। दिक्शूल, शकुन, आदि विषयों पर भी इनकी कुछ कहावतें विद्यमान हैं। घाघ के समान इनकी कहावतें भी दोहा, चौपाई, चौपई आदि छन्दों में निबद्ध हैं परन्तु उन्हें सरसता-रहित होने के कारण पद्य-मात्र ही मानना होगा, काव्य नहीं। जैसे—

अपनी छोंक महा दुखवाई। कह भड्डर जोसी समुझाई।

अपनी छोंक राम बन गयऊ। सीता हरन तुरंत भयऊ ॥^३

सोम सनीचर पुरुब न चाल। मंगर बुद्ध उतर दिसि काल।

जो बिहफं को दक्खिन जाय। बिना गुनाहै पनहीं लाय ॥^४

१. प्रति संख्या ३५५५ (३), पत्र १४ पर लिपिबद्ध है।

२. दीपक बत्तीसी, दोहा-संख्या २, ६

३. सं० श्रीकृष्ण शुक्ल: घाघ और भड्डरी की कहावतें, पृष्ठ १०६।१६०

४. " " " " पृष्ठ १०६।१७७

३५. मानिकदास

ये ग्रहमदाबाद के विद्वान् पाटीदार थे परन्तु पीछे साधु बनकर उज्जैन में जा बसे थे। मिथबन्धुओं ने इनकी पाँच पुस्तकों का उल्लेख किया है—सन्तोष-सुरतर, सत्संग-प्रभाव, राम-रसायन, कवित्त-प्रबन्ध, आत्मविचार।^१ इनके 'सन्तोष-सुरतर' की हस्तलिखित सटीक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में विद्यमान है।^२ पुस्तक की रचना सम्भवतः ऐतिहासिक में हुई होगी क्योंकि पुष्कर-जातीय रंगीलदास व्यास ने इसे सं० १९१६ में अधिकारी बालमुकुन्द के अध्ययन के लिए लिपिबद्ध किया था।^३ पुस्तक में कुल १११ दोहे हैं। श्री गणेश तथा श्री राम को प्रणाम करने बाद कवि ने रचना का उद्देश्य यों लिखा है—'प्रथम मन की पूरणकामता की सिद्धि के अर्थ पूरणकाम रूप सन्तोष ताके निरूपण के अर्थ पूरण काम करणे वारे ईश्वर ताको नमस्कार करिये हे।' कहना न होगा कि दोहों की टीका भी कवि ने इसी प्रकार के पण्डिताऊ गद्य में की है। सामान्यतः दोहे साधारण कोटि के हैं और उनमें कहीं-कहीं गतिभंग तथा मात्राओं की न्यूनाधिकता भी दिखाई देती है। कुछ दोहे देखिये—

ज्यों धातु के खाये तें, भूष अति बढ़ती जाय ।

त्यों इष्ट अर्थ के लाभ तें, बढ़े तृप्ता को काय ॥

भूल है तन की तनक सी, मन की भूल महान ।

जगत विभ (१) सों न मिटे, मिटे न अमृतपान ॥^४

३६. मनराम

जीवन-परिचय—मनराम का जीवन-चरित अभी तक अन्धकार में है। 'मनराम-विलास'^५ नामक एक काव्य हमें जयपुर में ठोलियों के जैनमन्दिर में देखने का अवसर मिला था। उसके प्रायः सभी पद्यों में 'मनराम' की छाप है परन्तु अन्तिम दोहे से प्रतीत होता है कि मनराम-कृत 'मनराम प्रकाश' से इसका संग्रह किसी बिहारीदास ने किया था।

१. मिथबन्धु विनोद, चतुर्थ भाग, सं० १९९१, पृष्ठ १३०

२. प्रति की संख्या १७ ख। ४३ है। प्रति पूर्ण है और ३६ पत्रों पर लिखित है

३. इति श्री मानिकदास विरचित सुरतर नामक पुस्तक सम्पूर्णम् संवत् १९१६ आशाढ़ वदि १ गुरौ दिने लिपीकृतं, रंगीलदास व्यास पुष्कर-जातीय व्यासेन, पठनार्थं श्री अधिकारी बालमुकुन्दस्य। (वही, पुष्पिका)

४. सन्तोष सुरतर, पृष्ठ १३।४७, २१।७३

५. बेष्टन-संख्या ३९५, पत्र १०, आकार १२×५½"

मेरे चित में ऊपजी, गुन मनराम प्रकास ।

सोधि चीन ए एकठे, कीए बिहारीबास ॥^१

यद्यपि कृति का रचना-काल अज्ञात है तथापि कागज की बनावट और लिखाई से प्रति पुरानी प्रतीत होती है । रचना के ६६ वें पद्य में कवि ने जैन कवि बनारसीदास का स्मरण किया है—

***बनारसी दास सौं प्रणति करे मनराम,

जाकी बानी सुन कं प्रकास होत ग्यान कौ ॥

जैनों में बनारसी दास नाम के दो हिन्दी कवि हुए । प्रथम, आगरा के प्रसिद्ध अध्यात्मी बनारसी दास जो तुलसीदासजी के समकालीन थे और दूसरे 'भविष्यदत्त चरित्र' के रचयिता बनारसीदास जिनकी उक्त कृति का लिपिकाल सं० १८९९ है । हमारी समझ में मनराम का संकेत आगरावासी बनारसीदास की ओर है जिनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई थी इसलिए मनराम को रतिकालीन कवि ही माना जा सकता है, अधिक प्राचीन नहीं ।

कृति-परिचय—‘मनराम विलास’ में केवल ९६ पद्य हैं जिनमें दोहा, सवैया इकतीसा, सवैया बत्तीसा, सवैया तेईसा, कुण्डलिया और कवित्त (सवैया) छन्दों का प्रयोग किया गया है । गुण-ग्रहण, अवगुण-त्याग, क्रोध, लोभ, परोपकार, आत्मश्लाघा की निन्दा, जूआ, जीवदया, स्त्रीनिन्दा आदि जैनों के प्रसिद्ध प्रिय विषयों की अधिक चर्चा है । इस पर भर्तृहरि के नीति-शतक तथा वैराग्य-शतक का प्रभाव अधिक लक्षित होता है । इस विषय में कवि ने सत्य कह कर अपनी विनम्रता यों व्यक्त की है—

जुगति पुराणी दूढ़ करि, किए कवित्त बनाय ।

कछू न मेली गांठि की, जानहु मन बच काय ॥^२

यद्यपि भावों के लिए कवि प्राचीनों का श्रद्धाहीन है तो भी उन्हें सुन्दर दृष्टान्तों से उपवृष्टि करने में उसने विशेष कौशल दिखाया है । काव्य में सामान्य ब्रजभाषा का व्यवहार हुआ है जिसमें कहीं-कहीं राजस्थानी के भी शब्द दिखाई देते हैं । एकाध पद्य में कवि ने शब्दों के आधार पर चमत्कार लाने का भी उद्योग किया है । कला की दृष्टि से रचना सूक्तिकाव्य में गणनीय है । कुछ उदाहरण देखिए—

होत आप बुख आन सुख, सज्जन मन अहलाद ।

लयन गारि तन आपनौ, भोजन करत सुबाद ॥^३

‘दीन’ एक पद अधिक लहि ‘हीन’ कहावत नाम ।

‘धीर’ सीस खंडित भए, ‘वीर’ होत मनराम ॥^४

१. मनराम विलास, पद्य ९६

२. ,, , पद्य ९४

३-४ ,, , पद्य ५७, ६२

सिसु कं साध नहीं लिय की कलु, नगन होत तिहू सौ न लजावै ।
लोई निरखित गुरुन पुरुषन कौ, अवनो अंग दिखावै ॥
तैसे अवनि लोभवंतनि कौ, निज संपति कहुँ मिजर न आवै ।
है मनराम महंत अथिछिक, तिन्हू को नाना विधि बरसावै ॥^१

३७ मूर्खभेद चौपई

प्रायः सभी भारतीय नीति-कवियों ने विद्वानों के साथ-साथ मूर्खों का भी उल्लेख किया है। 'विदुर नीति' के प्रथम अध्याय के अनेक श्लोकों में मूढ़-जनों का स्वस्त्तर उल्लेख पाया जाता है।^२ भर्तृहरि के 'नीतिशतक' का आरम्भ ही मूर्खों के वर्णन से होता है।^३ पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के नीति-पद्यों में भी मूर्ख-वर्णन कई स्थलों पर किया गया है।^४ हिन्दी में भी, मूर्खों को शिक्षा देने के लिए मूर्ख-वर्णन, मूर्ख-प्रकाश, मूर्ख-बहत्तरी आदि पुस्तकों गद्य में उपलब्ध होती हैं। हिन्दी-पद्य में ऐसी रचनाओं की परम्परा 'बुद्धि-रास' से आरम्भ होकर सार सिखामण रास, रावा सौ सीख तथा अन्य बुद्धि रासों के रूप में चलती आई है।^५ मूर्खभेद चौपई उसी परम्परा के अन्तर्गत आती है और वीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में एक जैन गुटके^६ में संकलित है जो लगभग ढाई सौ वर्ष पुराना है।

'मूर्खभेद चौपई' में केवल ४१ पद्य हैं। आरम्भ में तीन तथा अन्त में चार दोहे हैं और मध्य में ३४ चौपडियाँ। आरम्भिक दोहों में कवि ने बुद्धि-विस्तार तथा सुगुण-प्रकाश को रचना का उद्देश्य बताया है। कवि ने उद्यम के बिना धन चाहने वाले, वेश्या के वचन पर विश्वास करने वाले, अपने धन को त्याग कर दूसरे की आशा रखने वाले, पराधीन होकर अहंकार करने वाले तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों को मूर्खों में परिगणित किया है। बातें निस्सन्देह शिक्षाप्रद हैं परन्तु विषय तथा अभिव्यक्ति में विलक्षणता के अभाव के कारण रचना पद्य-कोटि में ही गणनीय है। कहीं-कहीं तो संस्कृत के श्लोकों को शब्दशः अनूदित कर दिया गया है। जैसे, नारायण पण्डित का कथन है—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मंत्रमंथनभेषजम् ।

तपो दानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥^७

१. मन राम विलास, पद्य ४१

२. विदुर नीति, प्रथम अध्याय, श्लोक ३५-४४

३. भर्तृहरिः शतकत्रयम्, पृष्ठ १-६

४. प्रस्तुत प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय देखिये।

५. 'महभारती' (पिलानी, जनवरी १९५५ ई०) में श्री अग्ररचन्द नाहटा का 'मूर्ख-भेद चौपई' शीर्षक निबन्ध देखें।

६. गुटका सं० ९६, उपा०

७. हितोपदेश, (निरणयसागर प्रेस, वम्बई, १९४९ ई०) पृष्ठ ५५।१३१

आउ वित्त गृहछिद्र तप मैथुन औषध दान ।

मंत्र प्रकासे मूढ नर महत् अनै अपमान ॥^१

रचना साधारण राजस्थानी भाषा में है और अनेक चौपइयाँ हतवृत्तत्व से दूषित हैं । एक उदाहरण लीजिए—

बूढ़ापण हुइ चाहै नार, पराधीन करै अहंकार ।

अनभुत ग्रन्थ बखारणै लुढ़, प्रगट अर्थ गोपवै मूढ ॥^२

३८ त्रियाविनोद चरित्र

यद्यपि इस अज्ञात-कर्तृक कथाकाव्य का रचना-काल अज्ञात है तथापि इसमें तो सन्देह नहीं कि यह सं० १६०० के पूर्व की रचना है । इसकी जो सं० १६१३ की हस्तलिखित प्रति हमने उदयपुर के साहित्यसंस्थान विद्यापीठ में देखी, उसकी प्रतिलिपि संवत् १६०० में रावभीम जी सूरजमल की हस्तलिखित प्रति से की गई थी ।^३ कथा की शैली पंच-तन्त्र के समान है; कथाओं के मध्य में से अन्य कथाएँ उद्भूत होती जाती हैं ।

सभाजीत नाम का एक पूर्वदेशीय विप्र राजा भोज की सभा में आता है । भोज उससे प्रश्न करते हैं और वह उन के उत्तर प्रस्तुत करता जाता है; जैसे, नृप के गुणों के सम्बन्ध में भोज के प्रश्न के उत्तर में विप्र कहता है—

राजा होय न नार बस, चाकर बस न होय ।

ज्यो राजा यन बस परे, तौ राजनीत नही कोय ॥^४

यह काव्य स्त्रियों को पातिव्रत की शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखा गया है । इसकी एक कथा इस प्रकार है—

श्रीपाल नाम का एक गृहस्थ अपनी पत्नी से कहता है कि सूरत नगर में जगमाल साह नाम का एक धनी निवास करता था । जब वह व्यापार के लिए विदेश में गया तब पीछे उसकी कुलटा पत्नी कोतवाल के साथ भोगविलास में मग्न हो गई । जब व्यापारी प्रभूत धनोपार्जन के पश्चात् लौटा तब वह पत्नी के चरित्र की परीक्षा के लिए भिक्षुक-वेष में कहीं छिप गया । जब रात को कोतवाल उसके घर न पहुँचा तो वह आधी रात के समय वरदत्ते मेह में कोतवाल के घर जा पहुँची । अन्त में जब

१-२. मूर्ख भेद चौपई, पद्य ३८, ८

३. ईति श्री त्रियाविनोद चरित्र सम्पूर्णम्, आर्तायाम् । लीखीतं रावभीम जी सूरजमल समत १६०० रा, पोस वदि ६, शुक्रवार; तिन प्रति सों प्रतिलिपि कर्ता जसवन्त-सिंह दसौन्दी स्वस्थान कुराबड़, ता० १६।४।५६, वि० २०।१३, क्षेत्र शुक्ला ६ (साहित्य संस्थान की प्रति की पुष्पिका)

४. त्रियाविनोद चरितः साहित्यसंस्थान उदयपुर की प्रति, पृष्ठ १।१६

पति ने उसका कुकृत्य प्रकट कर दिया तो भीत-लज्जित होकर गिर कर मर गई ।

रचना राजस्थानी-मिश्रित व्रजभाषा में है । शृंगार-से विषय को भी सरल बनाने में कवि को सफलता नहीं मिली ।

ग्रंथ दोहा-चौपाई छन्दों में है परन्तु बीच-बीच में अष्ट संस्कृत के श्लोक भी विद्यमान हैं । जैसे—

रूपावती समो नग्री, रूपसेनो च अपती ।

रूपरंभा समो नार न भुतो न भवीसती ॥^१

रचना इस प्रकार की है—

कहै महेस मुनौ श्रव जान, पतीबता री बड़ी बोधान ॥

ऐक पतीवृता यसौ तप कयौ, तिन थी सकल सहर उधयौ ॥^२

यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से कृति का कुछ अधिक महत्त्व नहीं है तथापि इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि रीतिकाल में स्त्रियों को सच्चरित्र की शिक्षा देने के लिए तथा पुरुषों को स्त्रियों के मायावी चरित्र से सावधान रखने के लिए ऐसे काव्यों की रचना की प्रवृत्ति का अभाव न था । कहने की आवश्यकता नहीं कि स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसी कथा-कहानियों की प्राचीन कथा-साहित्य में कमी नहीं है ।

३६. दातार सूर नो संवाद

इस पुस्तक के कर्ता का नाम अभी तक अज्ञात है । इसकी हस्तलिखित प्रति, जिसका लिपिकाल सं० १८८८ है जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित है ।^३ काव्य में केवल २५ पद्य हैं जिन में छप्पय, पदरि और दूहा छन्दों का प्रयोग किया गया है । दाता को अपनी वक्षान्यता का और शूर को अपनी वीरता का अभिमान है । दोनों ही अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए इतिहास-पुराण आदि से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । जब वे किसी समझौते पर नहीं पहुँचते तब 'राया तिलक' रायसिंह के पास निर्णयार्थ जाते हैं जो दाता को शूर से उत्तम निर्णीत करता है । राजस्थानी भाषा में रचित वीर रस की यह रचना अच्छी रोचक है । दो पद्य लीजिए—

प्रथम दातार कहै --बलि अगैं त्रिहुं भदण राइ अर हस्त पसारे ।

करण इंद्र अपीयो कवच तन हुंत उतारे ।

वीरोचन तन विहर दियो विप्रकुं निकारे ।

भजि कपोत सीचान भौ सिब सरण आरे ।

१. वही, पृष्ठ २५

२. वही, पृष्ठ १३

३. दातार सूर नो संवाद, गुटके का क्रमांक ११२२, ग्रंथांक ६८

यह समा ऊठि इल ऊपरा अहि सुर नर मो उच्चरै ।
 बातार गरवै बोलियो कवण मुझ सम बड़ करै ।^१
 अथ सूर वाक्यम्—लंका रादण राम चन्द षटमास षटाए ।
 पाडंव पांच दुरजोधनां बनवास भमाए ।
 कालजवन अगलै दीया हरि बड़ह पयाणां ।
 जरा सिंधु शिशुपाल सो तो जाति मांहि समांणां ।
 जालंधर जीतौ त्रिहुं भुवण गयो सामर सराणै हरि ।
 कहै सूर बातार नै तो मो किसी बराबरी ॥^२
 २. नीतिग्रन्थों के अनुवादक कवि

उपर्युक्त मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त रीतिकाल में अनेकों कवियों ने नीति के प्राचीन प्रख्यात ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये । उन अनुवादों में से कुछ गद्य में हैं, कुछ पद्य में और कुछ गद्यपद्य-मिश्रित । चूँकि हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में गद्यमयी कृतियों की चर्चा नहीं की अतएव यहाँ भी ऐसी ही रचनाओं का परिचय दिया जायगा जो पद्यमयी हैं अथवा पद्य-प्रधान ।

जयसिंहवास—इन्होंने संवत् १७८२ में सारंगढ़ कोट के मन्त्री बाबू देवकीनन्दन की आज्ञा से हितोपदेश का अनुवाद “हितोपदेश के कथा” नाम से किया । अनुवाद छप्पय, घनाक्षरी, चौपाई, दोहा, तोमर, सबैया, पद्धरिका आदि छन्दों में है । अनुवाद की हस्तलिखित खंडित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में सुरक्षित है ।^३ कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक भी दिये गये हैं जिनकी अक्षरी अनेकत्र अशुद्ध है । अनुवाद साधारण है और उसकी भाषा इस प्रकार है—

अष्टादशहि पुराण में बचन द्यास के दोय ।

पर उपकार जो पुन्य है, परबुख पाप जु होय ॥^४

नयनसिंह—खरतरगच्छ के मुनि नयनसिंह या नयनचंद ने संवत् १७८६ में विक्रमपुर अर्थात् बीकानेर के महाराज अनूपसिंह के पुत्र आनन्दसिंह के आदेश से भर्तृहरि की शतकत्रयी का सबैया-बद्ध अनुवाद किया । इस अनुवाद की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में मिली ।^५ अनुवाद के पूर्व भूमिकारूप में भर्तृहरि का संक्षिप्त वृत्तान्त गद्य में दिया हुआ है अनुवाद में ऊपर मूल श्लोक है, नीचे हिन्दी के पद्य । अनुवाद की भाषा सुन्दर है परन्तु अनुवाद कहीं-कहीं व्याख्या की भूलक देता है । जैसे—

१-२. बातार सूर नो संवाद, पृष्ठ ८७।१, ८७।२

३. सभासंगृह, सं० ६६६।४७८

४. हितोपदेश के कथा, पद्य ४३

५. प्रति संख्या ८३ । इसकी एक प्रति पुरातत्त्व मंदिर, जयपुर, में भी विद्यमान है, क्रमांक ३६७४

मूल— बुज्जंनः परिहृतंभ्यो विद्ययालंकृतोपि सन् ।

मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥^१

अनुवाद— पर के गुन पेघत द्वेष धरं बदगोई करं दिल अंदर षीजे ।

सठ वंर वहै हठ बुद्धि ग्रहै कोऊ कसैं करो पुनि सो नहीं रीकैं ।

षल ऐसो कोऊ गुन है जु लऊ मनि भूषित नाग लों संग न कीजैं ।

अब यौं जु विचारि कं छारि कं दूर ते भी नित ता मुख छार ही दीजैं ॥^२

कृष्ण कवि—विहारी के पुत्र-रूप में प्रसिद्ध माथुर चौबे कृष्ण कवि ने महा-राजा जयसिंह के मन्त्री राजा आया मल्ल के आदेश से विहारी सतसई के अतिरिक्त विदुरनीति की टीका भी लिखी—

राजा आया मल्ल की आग्या अति हितु जानि ।

विदुर प्रजागर कृष्ण कवि भाषा कह्यो बखानि ॥^३

संवत् १७६२ में रचित इस टीका की पूर्ण प्रति ७२ पत्रों पर लिपिबद्ध है । इसमें दोहा, पदरि, सोरठा, कवित्त, रोला आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है । विदुरनीति में तो आठ ही अध्याय हैं परन्तु कुरुवंश के इतिहास के उल्लेख से इसे नवाध्यायी बना दिया गया है । टीका तो सुन्दर है परन्तु पद्यशः प्रस्तुत नहीं की गई । अनेक मूल पद्यों का आशय एक-एक भाषापद्य में संगृहीत कर दिया गया है, जिससे मूल की कई बातें छूट गई हैं । जैसे—

मूल क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्री स्तम्भो मान्यमानिता ।

यमर्यान्नापकर्षन्ति स वै पंडित उच्यते ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।

कृतमेवास्य जानन्ति, स वै पंडित उच्यते ॥^४

टीका— जा के मन कौ कृत्य मंत्र कोऊ नहि जानैं ।

भयौ काज सब वेषि प्रगट सब जगत वषानैं ॥

मान्य आप कैं मानि गरव मन में नहि लावैं ।

ए लच्छिन लच्छिय नाम पंडित जु कहावैं ॥^५

द्वारका नाथ सरस्वती (भट्ट)—“हितोपदेश भाषा पृथ्वीमंगल” की रचना भट्ट जी ने कूर्मवंश-शिरोमणि पृथ्वीसिंह के आदेश से संवत् १८२८ में की । “हितोप-

१. शतकत्रयम्, पृष्ठ २४।४२

२. भर्तृहरिशतक भाषा, सर्वयावद्ध, पत्र ११।२६

३. विदुर प्रजागर भाषा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, याज्ञिक संग्रह, सं० ३४।७, (लिपिकाल सं० १६२३), पत्र ७२

४. विदुरनीति पृष्ठ ६।२२, २३

५. विदुरप्रजागर भाषा, पत्र १७।१४

‘देव’ के इस पद्यमय अनुवाद की प्रतिलिपि संवत् १८८६ में रामलाल ने की और उस प्रति से पुरोहित हरिनारायण जी ने सं० १९६२ में प्रतिलिपि कराई, जो जयपुरीय विद्याभूषण पुस्तकालय में सुरक्षित है।^१ अनुवाद पूर्णतया पद्य में है जिसमें दोहा, चौपाई कवित्त, तथा सबैया छन्दों का प्रयोग किया गया है। अनुवाद में साहित्यिक सौष्ठव तो लक्षित नहीं होता परन्तु मूल के भावों की सुरक्षा सावधानता से की गई है। संस्कृत के जो श्लोक कहीं-कहीं उद्धृत हैं, उनमें लिपिकारों के प्रमादवश कई भूलें दिखाई देती हैं। अनुवाद का निदर्शन देखिये—

मूल — “यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवति ।

वक्षोपि किं न कुरुते चंचोश्चोदरपूरणम् ॥”

अनुवाद — “जा के जीवत बहु जियै, दहै जीवई एह ।

बकहू कहा न चंच सौं, उदर भरे बन गेह ॥”

देवीचन्द — इन द्वारा अनूदित ‘पंचाल्यान’ में पांच कथासंग्रह हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह, सन्धि, तथा लब्ध-प्रणाश। इसकी हस्तलिखित प्रति^३ बीकानेर के अनूपसंस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसमें १४८ पत्र है। इसे महात्मा सवाई राम ने बीकानेर में सं० १८४४ में फलोधी के विमलसी के पुत्र घमंडसी के अध्यक्षनार्य लिपिबद्ध किया था। ग्रंथ गद्य-पद्य-मिश्रित ग्वालेरी भाषा में है और दूहा, सोरठा, छप्पय और कवित्त छन्दों में है। अनुवादक मूल के भावों की रक्षा पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक कर पाया है परन्तु वह गद्य भी अत्यन्त अव्यवस्थित है। अनुवाद का एक उदाहरण लीजिए—

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥^४

सबके नेन जु ग्रंथ हैं, पढ़े ग्रन्थ कछु नाहिं ।

ते ऊ अंधरे पुरुष हैं, सब संसार जुग माहिं ॥^५

व्रजनिधि—जयपुर-नगंश सवाई प्रतापसिंह ने सं० १८५२ में भर्तृहरि के तीनों शतकों के अनुवाद, नीतिमंजरी, शृंगारमंजरी तथा वैराग्यमंजरी नाम से प्रस्तुत किये। इनकी हस्तलिखित प्रतियां राजस्थान से वाराणसी तक अनेक पुस्तकालयों में प्राप्त होती हैं और अनुवाद की लोकप्रियता का पुष्ट प्रमाण हैं। अनुवाद भाव-रक्षा और भाषा की सुन्दरता, दोनों दृष्टियों से सफल हैं; भावों में हेरफेर बहुत ही कम हुआ है। उदाहरण —

१. बस्ता सं० १२, प्रतिलिपि का क्रमांक, ११७२

२. हितोपदेश, भाषा, प्रथ्वीमंगल, पृष्ठ ५४।६६, ६७

३. प्रति संख्या ४२८।६

४. हितोपदेश (निरणयसागर प्रेस बम्बई, १९४६), पृष्ठ ३।१०

५. पंचाल्यान, पत्र २।६

श्रूल— शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी,
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो,
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥^१

अनुवाद— फीको है ससि दिवस कौ, कामिनि जोबन-हीन ।
सुन्दर मुख अच्छर बिना, सरवर पंकज छीन ॥
सरवर पंकज-छीन, होइ प्रभ लोभी धन कौ ।
भिन्न जू कपटी होय, नृपति ढिग बाल खलन कौ ।
ये सातों ईं सत्य, मरमछेदन या जी कौ ।
व्रजनिधि इनको देखि होत मेरो मन फीको ॥^२

चन्दनराम—चन्दनराम या “चंद कवि” ने सं० १८६७ में “प्रश्नोत्तरी विदग्धमुखमण्डन” की रचना की । इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के संग्रह में सुरक्षित है ।^३ कृति का नाम कुछ भ्रामक है क्योंकि यह धर्मदाससूरि-प्रणीत संस्कृत के विदग्धमुखमण्डन का अनुवाद नहीं, अपितु—

विद्यापति भुक्कुनि रचित सुखानी मे दोइ ।

प्रश्नोत्तरमणिमालिका ताको सारक होइ ॥^४

“प्रश्नोत्तरमणिमालिका” का सार है । ४६ पद्यों की इस कृति में कुंडलिया तथा सबैया का प्रयोग अधिक है । बीच-बीच में दोहा तथा सोरठा छन्द भी हैं । दोहों की अपेक्षा सबैया-रचना सुन्दर है । यथा—

सबैया— कौन जु ठौर सदा डरिये, भद कानन दुस्तर जो अंधियारी ।

लोकापवाद ये व्याघ्र भयानक ता नैं टिको है सदा अविचारी ॥

कौन सुदधु कहो कविचंद विपति सहाइ करै सहचारी ।

मातृपिता पुनि कौन कहौ जोई परिपालक और मुरारी ॥^५

उम्मेदराम—श्री मोतीलाल मेनारिया ने इनके जिस “राजनीति-चारणक्य”^६ का उल्लेख किया है, सम्भवतः उसी का नाम “भाषा चारणक्य” भी है । “भाषा चारणक्य”

१. शतकत्रयम्, पृष्ठ २६।४५॥

२. ना० प्र० सं० के याज्ञिक संग्रह में सं० ३३७।३६ की हस्तलिखित नीतिमंजरी की प्रति । व्रजनिधि ग्रन्थावली (ना० प्र० सं० काशी, सं० १९६०) में तीनों शतकों के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं ।

३. प्रति-संख्या ३०५६।१६१६

४. प्रश्नोत्तरी विदग्धमुखमण्डनम्, पद्य ४७

५. ” ” ” ४०

६. मोतीलाल मेनारिया: राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २५०

की हस्तलिखित प्रति जयपुर के विद्याभूषण पुस्तकालय में सुरक्षित है।^१ कवि ने इसकी रचना सं० १८७२ में अलवर-नरेश विनयसिंह के आदेश से की थी। २४६ पद्यों के इस अनुवाद में दोहे को “युग्मम् छंदः” तथा “द्विपदम्” कहा गया है। अनुवाद सुन्दर है। यथा—

मूल—बुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।

ससर्पे च गृहे वासो, मृत्युरेव न संशयः ॥^२

अनुवाद—तिय बुष्टा अरु मित्र सठ, भूत उत्तर देवाल ।

सर्पसहित जा को सदन, बिना काल ही काल ॥^३

विष्णुगिरि—अज्ञातकालीन गोसांई विष्णु गिरि ने लघु तथा वृद्ध चारणव्य-नीति के दोहों तथा सोरठों में अनुवाद किये जो बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में विद्यमान हैं।^४ अनुवाद ३३ पत्रों पर लिपिबद्ध है और अच्छा है। इस प्रति से चारणव्य-नीति के पाठभेदों का भी कुछ पता चल जाता है। ‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’ के प्रतिपादक-पद्य का पाठ आज इस रूप में है और सार्थक है—

अति रूपेण धे सीता अति गर्भेण रावणः ।

अतिदानाद् बलिर्बद्धो, ह्यति सर्वत्र वर्जयेत् ॥^५

परन्तु गोसांई जी की प्रति में श्लोक इस प्रकार है—

अति रूपवती सीता, अति गर्वीच रावणः ।

अतीव बलवान् रामो लंका येन क्षयं गता ॥^६

इस श्लोक का अर्थ कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु यह भी नहीं कह सकते कि गोसांई जी ने स्मृति-मात्र से ही इसका उक्तरूप में उल्लेख कर दिया होगा क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में अविदित-कालीन देवमुनिकृत लघुचरणव्य (लघुचारणव्य) में उक्त श्लोक निम्नांकित रूप में दिखाई देता है—

अति रूपे हरी सीता अति गरवे च रामना ।

अति बली महां रामो लंका जैनक्षयं करी ॥^७

अस्तु, गोसांई जी के अनुवाद की तुलना में देवमुनि-कृत अनुवाद, जैसा कि निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट है, नगण्य है—

१. ग्रंथांक १३४८

२. चारणव्यनीति, पृष्ठ ३।५

३. भाषा चारणव्य, पद्य ३

४. ग्रंथांक हिन्दी ४२३।१

५. चारणव्य नीति, पृष्ठ १४।१२

६. लघु चारणव्य नीति शास्त्र, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, पत्र ३।२

७. याज्ञिक संग्रह, सं० ३२४।३१ पत्र २।२

सीय हरी अति रूप तें, हत रावरण अति गर्व ।
अति बल राघव लंक सी नगर कर्यो क्षय सर्व ॥^१ (विष्णुगिरि)

सीय हरी अति रूप थे, बस सिर गये जु गात ।
जरजोधन गये अभिमान थे, अति बरजी सब बात ॥^२ (देवमुनि)

अनुवादों की सरसता या नीरसता मूलग्रंथों की सरसता या नीरसता पर भी निर्भर होती है और अनुवादक के काव्य-कौशल पर भी । नीति-ग्रन्थों के अनुवादकों ने प्रायः चाणक्य नीति, हितोपदेश, पंचतन्त्र, भर्तृहृत नीतिशतक, विदुरनीति आदि का आश्रय लिया है जो काव्यत्व की दृष्टि से उत्तमकाव्यों में परिगणित नहीं होते । दूसरे, जिन विद्वानों ने उपर्युक्त ग्रन्थों के अनुवाद का बीड़ा उठाया, उनमें से अधिकतर काव्यकौशल-विहीन थे । यही कारण है कि अधिकतर उपलब्ध अनुवादों को सुकाव्य कहने में संकोच होता है । तो भी अनुवादकों को जनता में नीति की उत्तम बातें थोड़े-बहुत रोचक ढंग से प्रसारित करने का श्रेय देना ही उचित है ।

३. शृंगारी कवियों का नीतिकाव्य

पीछे उन कवियों और काव्यग्रन्थों का विवरण दिया गया है, जिनका मुख्य विषय नीति था । अब रीतिकाल के कुछ ऐसे कवियों पर भी दृक्पात कर लिया जाए जिनका प्रधान विषय शृंगार था । ऐसे कवि दो वर्गों में विभाज्य हैं । प्रथम वर्ग सेनापति, विहारी, घनानन्द, ग्वाल आदि कवियों का है जिन्होंने सामान्य रूप से शृंगारिक रचनाएँ कीं । द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत केशव, मतिराम, देव, भिखारीदास, पद्माकर आदि कवि आते हैं जिन्होंने आचार्यत्व की दृष्टि से रीति-काव्यों का प्रणयन किया । प्रथम वर्ग के कवियों की रचनाओं में नीति के पद्य स्वतन्त्ररूप से दृष्टिगत होते हैं और द्वितीय वर्ग के कवियों की कृतियों में रीति-विषयों के लक्षणों के स्पष्टीकरण के लिए उनकी रचना की गई है । परन्तु वे नीति-पद्य स्वतन्त्र हों या लक्ष्यरूप से प्रस्तुत, उनमें, कवियों के मुख्यरूप से शृंगारी होने के कारण, कोई विशेष अन्तर लक्षित नहीं होता । यहाँ पर इतना और स्मरणीय है कि अनेक शृंगारी कवियों ने धर्म, अध्यात्म आदि विषयों पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा स्फुट पद्य रचे हैं । केशवदास की विज्ञान-गीता, देव की जगद्दर्शन-पञ्चीसी, पद्माकर का प्रबोध-पचासा आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं । इनमें भी कहीं-कहीं नीति के सुन्दर पद्य दिखाई देते हैं, परन्तु वह इन कवियों का प्रधान स्वर नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि वे ग्रन्थ या पद्य भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने के बाद, मानो पश्चात्ताप के रूप में, प्रणीत हुए हैं । इन ग्रन्थों की नीति जहाँ सन्त तथा भक्त कवियों की नीति से अधिक सादृश्य रखती है वहाँ शृंगारिक रचनाओं की नीति का स्वर भिन्न है । यहाँ मुख्यतः शृंगारिक रचनाओं में

१. अनुपसंस्कृत पुस्तकालय, हिन्दी ४२३।१, पत्र ३।२

२. याज्ञिक संप्रह, सं० ३२५।३१, पत्र २।२

उपलब्ध नीतिकाव्य का विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

वैयक्तिक-नीति—यद्यपि इन कवियों की आध्यात्मिक कृतियों में शरीर को निस्सार और मल-मूत्र की थैली तथा उरोजों को मांसस्थि आदि कहा गया है^१ तथापि इनकी शृंगारिक रचनाओं में प्रायः इन धारणाओं का खण्डन है। उनमें तो यौवन-जन्य शारीरिक सुषमा का, अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता का तथा शारीरिक सुखों के उपभोग का विस्तृत और मनोज्ञ वर्णन ही मिलता है। तरुणाई जनित निकाई का वर्णन चिन्तामणि ने यों किया है—

सरद तें जल की ज्यों दिन तें कमल की ज्यों,
धन तें ज्यों थल की निपट सरसाई है।

घन तें सावन की ज्यों आप तें रतन की ज्यों,
गुन ते सुजन की ज्यों परम सुहाई है ॥

‘चिन्तामनि’ कहै आछे अछरन छन्द की ज्यों,
नितागम चन्द की ज्यों दृग सुखदाई है।

नग तें ज्यों कंचन वसन्त तें ज्यों बन की,
यों जोबन तें तन की निकाई अधिकारी है ॥^२

यह निकाई नेत्रों की तृष्णा शान्त करने के लिए ही नहीं है, यौन सुखों के उपभोग के लिए है। जो व्यक्ति यौवन में भी उनसे वंचित रहता है वह डूबा हुआ है—
तन्त्रीनाद कवित्त-रस सरस राग रतिरंग।

अनबूढ़े बूढ़े तरे जे बूढ़े सब अंग ॥^३ (बिहारी)

उक्त सुखों का उपभोग करते समय यदि यौवन में कोई व्यक्ति सामाजिक मर्यादाओं का भी अतिक्रमण कर जाता है तो इन कवियों के मत में वह अक्षम्य नहीं है—

इक भीजें चहलें परें बूढ़े बहैं हजार।

किते न औगुन जग करे बं न चढ़ती बार ॥^४ (बिहारी)

यौवन ही जीवन का सुवर्णमय काल है क्योंकि इसी में सब इन्द्रिय-शक्तियाँ पूर्णता को प्राप्त करती हैं। इसलिए जो मनुष्य तारुण्य में यौवनोचित सुखों की अवहेलना करेगा, उसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा—

१. सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र: पद्माकर पंचामृत (काशी, सं १९६२), प्रबोध पचासाँ,
पद्य, २३, २६, २७; देवशतक, पद्य ४५, कुलपति मिश्र: रस रहस्य, पंचमबुलान्त
पद्य १०७

२. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ४०२

३. जगन्नाथदास रत्नाकर; बिहारी रत्नाकर (सन् १९५१), पृष्ठ ४४।६४

४. " " " पृष्ठ १९१।४६१

समय पाइ के रूप धन मिलत सबई आइ ।

बिलस न जानै याहि जो समय गए पछताइ ॥^१ (रसनिधि)

वाणी के सुप्रयोग के विषय में इन कवियों की लेखनी विशेषरूप से सचेष्ट रही है। सत्य-भाषण का महत्त्व,^२ प्रणपालन की प्रशंसा, प्रतिज्ञा-भंग की गर्हा, कटु-भाषी के मुख में मृगमद रखने का औचित्य, रहस्य-गोपन आदि वाणी-विषयक नीतियों का अनेकत्र उल्लेख दिखाई देता है। जैसे

कस्तूरी थपि नाभि विधि, वादि दियो मृग मीच ।

में विधि होउ तो वहि धरौं, खल जीभन के बीच ॥^३ (दास)

सज्जन मुख मीठे बचन, सहज न कहत बनाय ।

लंबो कौन सुगन्ध कौ, भँवरन बेत सिखाय ॥^४ (कुलपतिमिश्र)

उचित व्यवहार के लिए लोगों के हार्दिक भावों से परिचित होना नितान्त आवश्यक है परन्तु लोग प्रायः मन की बात जिह्वा तक नहीं आने देते। ऐसे अवसरों पर नीतिमान् मानव उनके नेत्रों से ही हृद्गत भाव को भांप जाते हैं क्योंकि आंखों के नाम की सार्थकता मनोगत भावों के आख्यान में ही है—

जो कछु उपजत आइ उर, सो वे आंखें बेत ।

रसनिधि आंखें नाम इन, पायौ अरथ समेत ॥^५ (रसनिधि)

शृंगारी कवि सरस्वती के आराधक थे और उसी की सेवा द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। इसलिए इनकी कृतियों में विद्या और साहित्य की वह उपेक्षा दिखाई नहीं देती जो अधिकतर सन्त कवियों की रचनाओं में हम देख ही चुके हैं।

भिलारीदास के शब्दों में अनेक सम्बन्धी हमारी उतनी हितसाधना करने में समर्थ नहीं, जितनी एकाकिनी विद्या कर देती है—

मित्र ज्यों नेह निबाह करै, कुलनारि महा परलोक सुधारन ।

संपति दान को साहिब ज्यों, गुरु लोगन सों गुरु ग्यान पसारन ॥

दास जू भ्रातन सो बलदाइनि, मातु सी है वह दुःखनिवारन ।

या जग में बुधिवंतन को बर दिद्या बड़ी वित ज्यों हितकारन ॥^६

अन्यान्य विद्याओं की अपेक्षा कवियों का ध्यान काव्य-कला की ओर जाना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि इनकी कृतियों में काव्य-कला की भूरि-भूरि

१. सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई, पृष्ठ २२३।६५६

२. सं० मिश्रबन्धुः देवसुधा (लखनऊ, सं० २००५), पृष्ठ २४।१५

३. भिलारीदासः काव्य निर्णय (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९३७ ई०) पृष्ठ १५६।२६

४. कुलपति मिश्रः रसरहस्य, द्वितीय वृत्तान्त, पद्य २१॥

५. सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई, पृष्ठ १६६।३४४

६. भिलारीदास; काव्यनिर्णय, पृष्ठ ७८।५२

प्रशंसा दिखाई देती है। परन्तु उसमें प्रवीणता प्राप्त करने के लिए कठोर साधना अपेक्षित होती है। जो लोग साधना के अभाव में 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' के अनुसार तुकबन्दी करके ही सुकवियों की समता करने का साहस करते हैं, उनकी दास जी ने खिल्ली उड़ाई है—

जूगनू भानु के आगे भली विधि आपनी जोतिन्ह को गुन गँहै ।

माखियो जाइ खगाधिप सों उड़िबे की बड़ी-बड़ी बात चलैहै ॥

दास जबें तुक जोरनहार कविन्ह उदारन की सरि पँहै ।

तौ करतारहु सों औ कुम्हार सों एक बिना भगरो बनि एँहै ॥^१

विलासी नरेशों तथा सामन्तों के आश्रित रहने वाले इन रसिक कवियों की शृंगारिक रचनाओं में यदि काम की कुत्सा कम ही दिखाई देती है तो कोई आश्चर्य नहीं। परोपकार तथा नम्रता की प्रशंसा और लोभ तथा अभिमान की निन्दा अनेकत्र की गई है।^२ स्वभाव की अपरिवर्तनशीलता तथा गुणों के महत्त्व का वर्णन कई कवियों ने किया है। आत्मसम्मान की रक्षा की भावना भी अनेक कवियों ने व्यक्त की है, परन्तु इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि गौरव का अत्यधिक ध्यान रखने पर दुःख-प्राप्ति की भी सम्भावना है। यथा—

(क) घर घर डोलत दीन ह्वं जनु जनु जाचतु जाइ ।

दियें लोभ-चसमा चखनु लघु पुनि बड़ो लखाइ ॥^३ (विहारी)

(ख) प्यास सहत पी सकत नहि, औघट घाटनि पान ।

गज की गरबाई परी, गज हो के गर भान ॥^४ (रसनिधि)

पारिवारिक नीति—शृंगारिक कवियों की कृतियों का वातावरण दाम्पत्य पवित्रता के अनुकूल नहीं दिखाई देता। जिस विलासमय समाज का वहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है, उसमें स्त्रियाँ और पुरुष अपने ही परिवार में सन्तुष्ट नहीं हैं। वे अनेक उपायों से पारिवारिक मर्यादाओं को भंग कर कामवासना की तृप्ति के लिए उद्योगशील हैं। ऐसे वातावरण में भी कुशल यही है कि शृंगारी कवि, विलासी सामन्तों के आश्रय में रहते हुए भी, स्वकीया-प्रेम की प्रशंसा, परकीया-प्रेम की विषमता तथा गणिका-प्रेम की गद्दी कहीं-न-कहीं कर ही देते हैं। जैसे—

मुख संपति संतति सुगति, स्वकिया सुख संभोग ।

परकीया उपपति विपति, लघुसुख गर्भविद्योग ॥

१. भिखारीदास, काव्यनिर्णय, पृष्ठ ८३।७५

२. भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड (ना० प्र० स० काशी, सं० २०१३), रत्न सारांश, पृष्ठ ८०।५४२

३. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ६७।१५१

४. सतसई सप्तक, रसनिधिसतसई, पृष्ठ २२३।६४६

प्रगट भये परकीय अरु, सामान्या को संग ।

धर्म हानि धन हानि सुख, थोरो दुख इकंग ॥^१ (देव)

तत्कालीन परिस्थितियों में पुरुषों को स्त्रियों से प्रेम करने का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि वे तो पहले ही कामान्ध हो रहे थे। आवश्यकता थी तो उन्हें स्त्रैणता से बचाने की जिससे वे कलंदर के बंदर के समान स्त्रियों के संकेत पर नर्तन न करने लगे। इसी विषय में कुलपति का कथन है—

स्तिय पश होंह न चतुर नर, ते दुर्लभ तिहूँ लोक ।

फूलत कामिनि पग परस, आनन्द मगन अशोक ॥^२

पत्नी के शील, सौन्दर्यादि गुणों तथा जीवन की सार्थकता इसी बात में निहित है कि उसका पति उससे परितुष्ट रहे। देव की सर्वा नायिका को यों सीख देती है—

बारिये बंस बड़ी चतुरे हो, बड़े गुन देव बड़ीऐ बनाई ।

सुन्दरे हौ सुघरे हो सलोनी हौ, सील भरी रस रूप सनाई ॥

राजबह बलि राजकुमारि, अहौ, सुकुमारि न मानौ मनाई ।

नैसिक नाह के नेह दिना, चकचूर ह्वै जैहै सबे चिकनाई ॥^३

जैसे सुन्दर व्यक्ति या वस्तु के प्रति प्रेम या लोभ का स्फुरण स्वाभाविक है वैसे ही प्रिय व्यक्ति को सुन्दर रूप में देखने की इच्छा सहज है। इसी इच्छा के फल-स्वरूप कभी-कभी पति अपनी प्रियतमा का प्रसाधन भी करने लगता है। परन्तु जब अन्य अंगों के अलंकरण के बाद वह प्रिया के चरणों में महावर तक लगाने को उद्यत हो जाता है तब पत्नी अत्यधिक सम्मान की भावना की भी उपेक्षा कर पति की प्रतिष्ठा को भंग नहीं होने देती। निम्नलिखित कवित्त द्वारा सेनापति इसी पारिवारिक मर्यादा की रक्षा की व्यंजना करते हैं—

फूलन सौ बाल की बनाई गुही बेली लाल,

भाल दीनी बंदी मुगमद की असित है ।

अङ्ग-अङ्ग भूषन बनाइ ब्रजभूषन जू,

बीरी तिज कर कं खवाई अति हित है ॥

ह्वै कं रस बस जब दीवे फौ गहाउर के,

सेनापति स्याम गह्यौ चरन ललित है ।

चूमि हाय नाथ के लगाइ रही आंखिन सौं,

कही प्रानपति यह अति अनुचित है ॥^४

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इन काव्यों का वातावरण प्रायः पातिव्रत तथा

१. देवः प्रेमतारंग, दोहा ७-८

२. कुलपति मिश्र : रसरहस्य, तृतीय वृत्तान्त, पद्य ११८

३. मिश्रबन्धु, देवसुधा, पृ० १४८।२३४

४. सेनापति : कविसरत्नाकर, द्वितीय तरंग, पृष्ठ ४३।३६

पत्नीव्रत के प्रतिकूल ही है, तो भी यह विस्मृत न करना चाहिए कि प्रसंग आने पर ये कवि इन उच्च आदर्शों की ओर ध्यान आकषित करना नहीं भूलते। श्रीरामचन्द्र के विवाह के अवसर पर सेनापति नव-दम्पती को उक्त धर्मों के पालन करने की मधुर प्रेरणा करने से नहीं चूकते—

देखि चरनारविन्द बंदन कायौ बनाइ,
उर को बिलोकि विधि कीनी आलिंगन की।
चैन के परम ऐन राखे करि नैन नैक,
निरखि निकाई इन्दु सुन्दर बदन की॥
मानौ एक पतिनी के व्रत की पतिव्रत की,
“सेनापति” सीमा तन मन अरपन की।
सिय रघुराई जू कौ माल पहराइ, लौन
राई करि वारी सुन्दराई त्रिभुवन की॥^१

पारिवारिक जीवन का सच्चा सुख पति-पत्नी के साथ-साथ रहने में निहित है। संस्कृत का शब्द “गृहस्थ” भी प्रायः घर में ही रहने की ओर संकेत करता है। बिहारी की दृष्टि में संतोषपूर्ण गृहस्थ-जीवन परम सुखमय है—

पटु पांखें, भखु कांकरै, सपर परेई संग।

सुखी, परेवा, पुहुमि में, एकं तुहीं विहंग॥^२ (विहारी)

इन कवियों ने पुत्र, कलत्र आदि सम्बन्धियों को, शृंगारी काव्यों में प्रायः झूठा, स्वार्थी और त्याज्य नहीं कहा, अपितु उनके परित्याग को दुःख का हेतु बताया है—

जे छोड़त कुल आपनो, ते पावत बहु खेद।

लखहु बंस तजि बांसुरिग, लहे लोह सौं छेद॥^३ (पद्माकर)

केशवदास के मत में सम्बन्धियों की प्रिय बातों का तो कहना ही क्या, कटु गालियाँ भी मधुर प्रतीत होती हैं—

नीकी सदा लगै गारि सगँन की, डांड भलौ जौ गया भरिये जू॥^४

सामाजिक नीति—इन कवियों की सामाजिक नीति सन्तों व भक्तों की सामाजिक नीति के समान उदार नहीं, अपितु व्यावहारिक है। इन्होंने उसी से प्रेम की शिक्षा दी है जो हमसे प्रेम करता है। जिसके हृदय में हमारे लिए स्थान नहीं है, हमें भी उसको अपने हृदय में न बैठाना चाहिए चाहे वह सर्वगुणसम्पन्न ही क्यों न हो। कवि बोधा कहते हैं—

१. वही, चतुर्थ तरंग, पृष्ठ ७६।१८

२. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ २५६।६१६

३. पद्माकर पंचामृत, पद्माभरण, पृष्ठ ६४।२०८

४. केशव ग्रंथावली, खण्ड १, कविप्रिया, पृष्ठ १७४।७३

हिलि मिलि जानें तासों मिलि कं जनाबं हेत
 हित को न जाने ताको हितु न बिसाहिये ।
 होय भगूर तापं वृत्ती भगुरी कीजं,
 लघु ह्वं चलें जो तासों लघुता निबाहियें ।
 “बोधा कवि” नीति को नबेरो यही भांति ग्रहै,
 आप को सराहै ताहि आपहू सराहिये ।
 दाता कहा सूर कहा सुन्दर सुजान कहा,
 आप को न चाहै ताके वाप को न चाहिये ॥^१

इन काव्यों में स्त्री का नारीत्व, मातृत्व आदि की दृष्टि से तो प्रायः कोई सम्मान लक्षित नहीं होता परन्तु स्वकीया, परकीया व सामान्या नायिका के रूप में उसके रूप-सौन्दर्य के वर्णन से प्रायः सभी काव्यग्रन्थ प्रपूर्ण हैं। जब तक वह यौवन-सुलभ रूप-लावण्य से युक्त है और कवि तथा उनके आश्रयदाता भी वृद्ध नहीं होते तब तक वह मदन की बाड़ी, फूलों की माला, कंदर्प की पाग आदि विशेषणों से सम्मानित की गई है। परन्तु उसके गलित-यौवना तथा इनके जरठ हो जाने पर वही नारी, परमार्थ-पथ में कष्टक-रूप हो जाने के कारण, छाया-ग्रहिणी राक्षसी से कम प्रतीत नहीं होती। परन्तु स्मरण रहे कि शृंगारी रचनाओं में उसका अप्सरा-रूप राक्षसी-रूप की अपेक्षा कहीं अधिक चित्रित किया गया है। क्रमशः दोनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

सोभा सब जोषन की, निधि है मृदुलता की,
 राजें नव नारी मानों मदन की बारी है ॥^२ (सेनापति)
 या भव-पारावार कों, उलँघि पार को जाइ ।

तिय-छवि छायाग्राहिनी, प्रसैं बीचहीं आइ ॥^३ (बिहारी)

तत्त्वतः दोनों ही रूप मान्य नहीं हैं : प्रथम में वह वासना-पूर्ति का साधन मात्र है और द्वितीय में मोक्षमार्ग की बाधिका। गार्हस्थ्य के धर्मों का सम्यक् निर्वाह करने वाली और तप, त्याग, दया, क्षमा आदि गुणों से समन्वित सती स्त्री की ओर इन कवियों का ध्यान कम ही गया है।

यद्यपि शृंगारी कवियों का प्रेम-वर्णन पति-पत्नी तक ही सीमित न रहने के कारण और समाज में व्यभिचार का परोक्षतः प्रचारक होने के हेतु गर्ह्य ही कहा जायगा, तथापि उसमें प्रेम के विभिन्न पक्षों पर जो सुन्दर काव्य-रचना हुई है वह प्रेम-विषयक नीति की दृष्टि से उपेक्ष्य नहीं। उससे प्रेमी जीवों को कई सुन्दर शिक्षाएँ

१. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५१६।८

२. सेनापति : कवित्तरत्नाकर, प्रथम तरंग, पृष्ठ ५।१३

३. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ १७८।४३३

प्राप्त होती हैं; जैसे—प्रेमपथ पर चलना तलवार की धार पर चलना है, प्रेम में धर्म तथा जातपात की बाधा नहीं पड़नी चाहिए, प्रारम्भ किये हुए प्रेम को लोकलाज या प्राणभय के कारण अथबीच ही छोड़ना अनुचित है, पापाणहृदय प्रियतम से किया हुआ प्रेम दुःखदायक होता है, जिससे प्रेम हो जाय वह सदोष होता हुआ भी प्रिय लगता है, सच्चे प्रेमी को दुखी करना उचित नहीं, आदि । इन्हीं नीतियों से सम्बन्धित कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

(क) “कवि बोधा” अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है ।

यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पे घावनो है ॥^१

(ख) जात औ कुजात कहा हिन्दू औ मुसलमान,

जाते कियो नेह फेर ताते भजनो कहा ।

या तो रंग काहू के न रंगिये सुजान प्यारे,

रंगे तो रंगेई रहै फेर तजनो कहा ॥^२ (गवाल)

(ग) उयें सोख जल लेत है, बिना उयें दुख देत ।

कठिन दुहैं विधि कमल कौ, करै मोत सौं हेत ॥^३ (रसनिधि)

चूँकि शृंगारी कवि प्रायः राजाओं आदि के आश्रय में रहते थे, इसलिए इन्हें स्वामी तथा सेवकों के सम्बन्ध में बहुत कुछ देखने-सुनने का अवसर अनायास ही मिल जाता था । इस विषय की आत्मानुभूति इनके अनेक काव्यों में प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है । पराश्रित व्यक्ति प्रायः दया-ला रहता है, उसे अनेक खरी-खोटी भी सुननी पड़ती है, पद च्युत होने की आशंका भी उसके मन में बराबर बनी रहती है, इसलिए इन काव्यों ने परमुखापेक्षा की निन्दा ही की है । भिखारीदास उस स्वतन्त्र मृग के भाग्य की ओं सराहना करते हैं जिसे जीवन्निवाह के लिए पराया मुंह नहीं ताकना पड़ता—

काहू धनवंत को न कबहूँ निहार्यो मुख,

काहू के न आगे दोरिबे को नेग लियो तें ।

काहू को न रिन करै काहू के दियो ही दिन,

हरो तिन असन दसन छोड़ि दियो तें ।

“दास” निज सेवक सखा सौं अति दूर रहि,

लूटै मुख भूरि को हरष पूरि हियो तें ॥

सोबत सुरचि जागि जीवतो सुरचि धन्य,

बन्धव कुरंग कहु कहा तप कियो तें ॥^४

१. कविता-कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५१५।१

२. “ ” ” ” ” ” ५३२।६

३. सतसई सप्तक, रसनिधि सत.र्त्त, पृष्ठ २२४।६७२

४. भिखारीदास : काव्यनिर्णय, पृष्ठ १२४-२५

उदरपूर्ति के निमित्त पर-सेवा निस्सन्देह निन्द्य कर्म है। परन्तु सब पर दैव की दयादृष्टि एक-सी नहीं पड़ती। इसलिए विवशतः कभी-कभी सेवा-वृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ती है। ऐसी दशा में सेवक का यह कर्तव्य हो जाता है कि स्वामी की तन-मन से सेवा करे और स्वामी पर कुछ शंका या पड़ने पर उपाय का साथ न छोड़े, आवश्यक हो तो प्राण-त्याग करने में भी संकोच न करे—

कहा भयो जो लखि परत दिन दस कसुमित नाहि ।

समुझि देखि मन मैं मधुप ए गुलाब वे आहि ॥^१ (विक्रमसिंह)

साथ ही आश्रयदाता की खोज के समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह विवेक-शून्य न हो, क्योंकि अविवेकी राजा आश्रितों के गुणदोष की परीक्षा में असमर्थ होने के कारण गुणी सेवकों के हृदय में शूल के तुल्य खटका करता है। घनानन्द के मत में तो ऐसे हृदयांध स्वामी की सेवा स्वप्न में भी अच्छी नहीं—

मही दूध सम गनै, हंस-यग भेद न जानै ।

कोकिल काक न ज्ञान, कांच भनि एक प्रमानै ॥

चन्दन-ढाक समान रांग-रूपी सम तोलै ।

बिन विवेक गुन-दोष मूढ़-कवि व्यौरि न बोलै ॥

प्रेम-नेम हित चतुरई, जे न विचारत नेकु मन ।

सपने हूँ न विलंबिये, छिन तिन ढिग “आनन्दघन”^२ ॥

जो लोग भृत्यों से कड़ा परिश्रम कराते हैं, जो गुणी का अनादर और निर्गुण का आदर करते हैं, जो निर्दय तथा स्वार्थी हैं, जो आडम्बरमय जीवन व्यतीत करते हैं परन्तु आश्रितों की आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं करते, उनकी इन कवियों ने अपनी व्यंग्य-मयी उक्तियों और अन्योक्तियों द्वारा खूब खबर ली है। जैसे—

(क) पावक मैं बसि आंच लगे न, बिना छत छाड़े कि धार पै धावै,
भीत सों भीत, अमीत अमीत सों, दुख सुधी, सुख में दुख पावै ।
जोगी हूँ आठ हूँ जाम जगँ, अठ जामनि कामनि सों मनु लावै ।
आगिलो पाछिलो सोचि सबै, फल कृत्य करे तब भृत्य कहावै ॥^३ (देव)

(ख) श्रीफल दाख अँगूर अति, नूत नूत फल भूर ।
तजिकं नुक सेमर गयी, भई आस-चकचूर ॥^४ (विक्रमसिंह)

(ग) कहा भयो “मतिराम” हिय, जो पहिरी नन्द लाल ।
लाल भोल पावै नहीं, लाल गुंज की गाल ॥^५

१. सतसई सप्तक, विक्रमसतसई, पृष्ठ ३६८।३२६

२. सं० विश्वनाथ प्रसाद, ‘घनानन्द’, सुजातहित, पृष्ठ ६१।२८५

३. मिश्रबन्धु : देवसुधा, पृष्ठ २७।२३

४. सतसई सप्तक : विक्रमसतसई, पृष्ठ ३६६।३३६

५. ” ” मतिराम ” ” १२०।४२

समाज में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी, उच्च जातियों के लोग भा थे और नीच जातियों के भी । इन कवियों ने इन जन्म-मूलक भेदों को प्रश्रय नहीं दिया । इनमें वह संकीर्णता दिखाई नहीं देती जिसे कुम्भनदास ने एक पद में यों व्यक्त किया है—

जिनको मुख देखे दुख उपजत तिनको करिबे परी सलाम ।^१

साम्प्रदायिक तथा जातीय भेद-भावों को ये दूर करने के ही पक्षपाती प्रतीत होते हैं—

(क) हिन्दू में क्या और है, मुसलमान में और ।

साहिब सबका एक है, व्याप रहा सब ठौर ॥^२ (रसनिधि)

(ख) हूं उपजे रज-बीज ही ते, बिनसे हू सब छिति छार कै छाड़े ।

एक-ते देख कछू न बिसेखु, ज्यों एकै उन्हार कुम्हार के माड़े ।

तापर ऊंच औ नीच बिचारि, वृथा ब्रजि वाद बढ़ावत चाड़े ।

वेदन नूंदु कियो इन दूंदु, कि सूदु अपादन पावन पाड़े ॥^३ (देव)

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कवियों की नीति जात-पात और साम्प्रदायिक भेदभाव के विषय में सन्त कवियों के समान ही है । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये समाज के सभी लोगों को सर्वथा समान समझते थे । इनकी दृष्टि में मनुष्यों के गौरव या लाघव का कारण उनकी समृद्धि, वदान्यता तथा अन्य गुणों का भाव या अभाव था । इस आधार पर भेद-भाव को स्वीकार कर इन कवियों ने नीति के अनेक छन्द रचे हैं । जैसे—

अति अगाध अति औथरौ, नदी कूप सरु बाइ ।

सो ताकों सागर जहां, जाकी ध्यास बुझाइ ॥^४ (बिहारी)

कहा भयो जौ सिर धयो, कान्हू तुम्हें करि भाव ।

मोरपैखा बिन और तुम, उहां न पैहौ नांव ॥^५ (रसनिधि)

अधिकतर शृंगारी कवियों का व्यवसाय ही काव्य-निर्माण था । काव्यकला में कौशल प्राप्त करने के पश्चात् ये धनी-मानी नरेश-सामन्तों की खोज में निकलते थे और उन्हीं के आश्रित रहकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के इच्छुक थे । कई भाग्य-शाली कवियों को उदार आश्रयदाता मिल जाते थे, और कई अभिने व्यर्थ ही इधर-उधर मारे मारे फिरते थे । अनेक आश्रयदाता ऐसे ही होते थे जिन्हें हीरे और कठुर की पहचान नहीं थी । उनके यहां सुकवियों का तो सम्मान नहीं होता था परन्तु कुक-

१. रामचन्द्र शुक्ल : हि० सा० इ० पृ० १७८

२. सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई, पृ० १७८।६७

३. मिश्र बन्धु : देवसुधा, पृष्ठ २१।६

४. सतसई सप्तक, बिहारी सतसई, पृष्ठ ६२।४११

५. " " , रसनिधि सतसई, पृष्ठ २२।६४१

वियों की अच्छी आवभगत की जाती थी। कहीं पर गुणी कवियों के पहुँच जाने पर सामान्य तुक्कड़ों की उपेक्षा कर दी जाती थी तो कहीं पर अगुणज्ञ लोग सुकवियों की अवहेलना कर देते थे। ऐसी परिस्थितियों से प्रेरित होकर इन शृंगारी कवियों ने गुणी, निगुण और अगुणज्ञों के विषय में पर्याप्त और सुन्दर सूक्तियाँ रची हैं। जैसे—

कर लं, सूँधि, सराहि हूँ, रहे सब गहि मौनु ।

गंधी अंध, गुलाब की, गवाई गाहकु कौनु ॥^१ (बिहारी)

ल्यायौ कछू फल मोठो विचारिकं, दूरि तें दौरे सब ललचाने ।

हाथ लं चाखि कं राखि दयो निसवादिल बोलि सब अलगाने ॥

‘वास जू’ गाहक चीन्ह्यो न लीन्ह्यो तूँ नाहक दीन्ह्यो बगारि दुकाने ।

रे जइ जीहरी गांव गंवारे में कौन जवाहिर के गुन जाने ॥^२

दुइ मन तौल मिलाइ के पुन इकठे कर हेर ।

यं गौहूँ अर बाजरे बड़े भाव में फेर ॥^३ (रसनिधि)

नहि जानत गुन जासु कौ, सो तिहि निंदत जाइ ।

गज मुक्ता तजि के अधम गुंजा लेत उठाइ ॥^४ (विक्रमसिंह)

इन कवियों ने सज्जन और दुर्जन के भेद के विषय में भी खूब लिखा है। दुर्जन सत्संगति के प्रभाव से भी नहीं सुधरते, वे शरणागत को भी विश्वासघात द्वारा मार डालते हैं, वे दुष्टता का परित्याग कर दें तो भी उनसे अनिष्ट की सम्भावना बनी रहती है, आदि विषयों पर इनकी सुन्दर उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा होते हुए भी और सज्जनों के अनेक गुणों की प्रशंसा करते हुए भी अपनी प्रशंसनीय व्यावहारिक दृष्टि के कारण ये कवि सौजन्य में “अति” का निषेध ही करते हैं, क्योंकि जगत में पूजा बुरों की और उपेक्षा सज्जनों की होती है; जैसे—जंगल में रक्षा वक्र वृक्षों की और काट-छांट सरल वृक्षों की ही की जाती है। अस्तु इस विषय में अधिक न कहकर भिखारी-दास का ही एक कवित्त उद्धृत करना पर्याप्त होगा, जिसमें उन्होंने श्लिष्ट शब्दावली का प्रश्रय लेकर सज्जन और दुर्जन दोनों के ही स्वभाव का संक्षेप में वर्णन कर दिया है—

सुजस जनावें भगतन ही से प्रेम करें,

चित अति ऊजरे भजत हरि नाम हैं ।

दीन के दुखन देखे आपनो सुखन लैखें,

विप्र पाप रत तैन मन मोहें धाम हैं ।

१. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ २५७।६२४

२. भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, रससारांश, पृष्ठ ८०।५४३

३. सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई, पृष्ठ २२२।६४८

४. ,, , विक्रमसतसई, पृष्ठ ३६८।३३३

जग पर जाहिर है धरम निबाहि रहै,
देव दरसन ते लहत विसराम हैं ।

“बास जू’ गनाये जे असज्जन के काम हैं,
समुझि देखो एई सब सज्जन के काम हैं।”

आर्थिक नीति—धन के विषय में इन कवियों का दृष्टिकोण सन्त-कवियों के संबंधा विपरीत है। यद्यपि सम्पदा-जन्य दोषों की इन्होंने उपेक्षा नहीं की तथापि सम्पत्ति के महत्त्व को इन्होंने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। सम्पदा से प्राप्य प्रतिष्ठा तथा उसके अभाव के कारण लभ्य अवमानना का सुन्दर दृश्य देव ने इस प्रकार चित्रित किया है—

संपत्ति में एँठि बंठि चौतरा अदालत के,
विपत्ति में पेन्हि बैठे पांय झुनझुनिया ।
जेतो सुख संपत्ति इतोई दुख विपत्ति में,
संपत्ति में मिरजा विपत्ति परे धुनिया ।
संपत्ति ते विपत्ति विपत्ति हू ते संपत्ति है,
संपत्ति औ विपत्ति बराबर के गुनिया ।
संपत्ति में कांय कांय विपत्ति में भांय भांय,
कांय कांय भांय भांय देखो सब दुनिया ॥^२

जब तक मनुष्य जीवित है तब तक तन और पेट की आवश्यकताएँ उसे किसी-न-किसी रूप में चिन्ताग्रस्त रखती ही हैं। इन्हीं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह विविध वेष धारण करने पर विवश हो जाता है। देव जीवन में अर्थ की अनिवार्यता और कतिपय वेषों का यों वर्णन करते हैं—

कहूँ जोगी भेष के जगावत अलख कहूँ,
सन्यासी कहाय मठ सन्यासी ठयो फिर ।
बैरागी के रूप कहूँ जंगम अनूप रस,
स्वांग हू बनाय संग रंग उनयो फिर ।
छुधा छोभ छीन कहूँ पंडित प्रदीन कहूँ,
कहूँ हरि रंग हीन तापन तयो फिर ।
लोभ की लपेट काम क्रोध की दपेट पेट,
पेट की चपेट लगे चेटक भयो फिर ॥^३

परन्तु जहाँ लक्ष्मी मनुष्य को विभिन्न चिन्ताओं से मुक्त रखने में समर्थ है, वहाँ इस बात की भी सम्भावना विद्यमान रहती है कि मनुष्य उसके आधिक्य के कारण अविवेक और मद के गर्त में गिरकर जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर बैठे। इसलिए

१. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ४७६।१

२-३. बेवशतक, जगद्दर्शन पच्चीसी, पद्य १७, २४

ये कवि पाठकों को इस ओर भी सतर्क रहने की प्रेरणा करने से नहीं चूकते—

अद्भुत या धन को तिमिर मो पै कही न जाय ।

ज्यों ज्यों मनिगन जगमगत त्यों त्यों अति अधिकाइ ॥^१ (मतिराम)

कनकु कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय ।

उहि खाएँ बौराइ इहि, पाएँ हों बौराइ ॥^२ (बिहारी)

कई अविवेकी लोग धनसंग्रह को ही जीवन का उद्देश्य बना बैठते हैं। न वे अच्छा खाते-पहनते हैं और न जीवन को सुख-सुविधाओं से सम्पन्न करते हैं। उनकी दृष्टि लखपति और करोड़पति बनने पर ही केन्द्रित रहती है। ऐसे लोगों को बिहारी यों मधुर उपदेश देते हैं—

मौत त नीति गलीत हूँ, जो धरिये धनु जोरि ।

खाएँ खरचें जो जुरै, तौ जोरिये करोरि ॥^३

अर्थात् करोड़पति होना भी बुग नहीं परन्तु उसकी अपेक्षा भी जीवन-स्तर तथा प्रतिष्ठा को ऊँचा रखना कहीं श्रेष्ठ है।

उदारता की प्रशंसा तथा कृपाता की निन्दा इन राजाश्रित कवियों का अत्यन्त प्रिय विषय था। ये अपनी कविता द्वारा इस बात की प्रेरणा करते रहते थे कि जिनके पास सम्पत्ति हो उन्हें गुणियों की संगति से गुण-धारण तथा यशोपाजन अवश्य करना चाहिए।^४ जो लोग सम्पत्तिशाली होकर भी सत्कार्यों में धन का मद्ध्यय न करते थे, उनका निर्मम परिहास करने में इन कवियों ने विशेष निपुणता दिखाई है; जैसे—

दलि सरवस्व दै हिरस्व करि राखे दिइनु,

अति उच्च ताको जस चढ़ि सरसात है ।

संकर को सीस दै के रावन बने शंकर न,

भयो तिहूँ पुर को भयंकर विख्यात है ।

“ग्वाल कवि” राम दै बिभीषण को लंकराज,

तोर लई लंक जाकी अजो बंक घात है ।

सुमन की नाव जलहूँ पै फाटि डूब जात,

वातन की नयका पहाड़ चढ़ि जात है ॥^५

इतर-प्राणि-विषयक नीति—ये कवि प्रायः उन राजाओं तथा सामन्तों के आश्रय में रहते थे, जो युद्ध, आखेट आदि में मग्न रहा करते थे। इसलिए इनके

१. सतसई सप्तक, मतिराम सतराई, पृष्ठ १२२।६४

२. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ८२।१६२

३. ” ” ” १६८।४८१

४. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५१२।६

५. सं० कविकर्कर : ग्वालरत्नावली, प्रयाग १६४५ ई०, पृष्ठ ४५।७६

शृंगारिक काव्यों में तो अहिंसा, जीवदया आदि पर विशेष बल लक्षित नहीं होता, परन्तु इनकी आध्यात्मिक कृतियों में इन विषयों का अभाव नहीं है। ऐसा होते हुए भी इन विषयों के वर्णन की जो प्रचुरता जैन कृतियों में हम देख चुके हैं, वह यहाँ दृष्टिगत नहीं होती। जीवदया तथा क्रूरता-निन्दा के विषय में इनके कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

भीता कसक कसाव को, कहि हिसाब कह कौन ।

कसकै हिये कसाव जो, छुरी चलावै कौन ।

होते जो पै चलत कहूँ, सदा दाम के दाम ।

रहन न देते बे-दरद काहू तन में चान ॥^१ (रसनिधि)

प्राणिमात्र के मन पर मोह का इतना घना आवरण छाया हुआ है कि अपने प्राणों को अत्यन्त प्रिय मानता हुआ भी अन्य जीवों के प्राण लेने में संकोच नहीं करता—

जानै कहावत है जग में जन जानै नहीं जम फांसि जरी को ।

आपुन काल के जाल पर्यौ अरु जाहत और की राजसिरी को ।

देव सु दोरत दूरि तैं नीच नगीच न देखत सोच रिरी को ।

हौं तफौं स्थान को स्वान बिली को बिली तफैं चूहा को चूहा रिरी को ॥^२ (देव)

मिश्रित नीति—इन कवियों ने निःसन्देह अपनी आध्यात्मिक रचनाओं में ही नहीं, शृंगारी रचनाओं में भी कई स्थलों पर ब्रह्म को सत्य और संसार को मिथ्या कहा है। जैसे—

(क) तूल भरे फल मेसर सेइकं कीर तू काहे को होत अग्राने ।

आस लिये यहि रूखे पै ह्वै बहु भूखे निरास गये बिलखाने ॥^३ (भिखारीदास)

(ख) मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु फांचो फांच सौं ।

एकै रूपु अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहां ॥^४ (बिहारी)

तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे यहाँ के आमोद-प्रमोद तथा भोग-विलास को हेय समझते थे। वास्तुतः इनका मन तो ऐहिक विषयों में ही अधिक रमता था, उपर्युक्त प्रकार के पद्य तो इन्होंने निर्वेद भाव, शान्तरस आदि के उदाहरणों के रूप में ही लिखे प्रतीत होते हैं। कुछ एक कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि का मखौल उड़ाते हुए इसी लोक में उनकी विद्यमानता का प्रतिपादन किया है। केशवदास के शब्दों में वेदोक्त मुक्ति का स्वरूप यह है—

१. सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई, पृष्ठ २२५।६७८, ६७६

२. देवशतक, जगद्दर्शन पञ्चीसी, पद्य १५

३. भिखारीदास ग्रन्थावली, खण्ड १, रससारांश, पृष्ठ ८०।५४१

४. बिहारी रत्नाकर, पृ० ७८।१८१

पण्डित पूत सपूत सुधी पतिनी पति-प्रेम-परायन भारी ।
जाने सब गुन माने सब जन दानविधान दया उरधारी ॥
'केसव' रोगिन ही सों वियोग संजोग सुभोगन सों सुखकारी ।
साँव कहै जग माहि लहै जस मुक्ति यहै चहुँ वेद विचारी ॥^१

इसी प्रकार केशवदास ने उस मनुष्य को नरकस्थ कहा है जिसका वाहन कुचाली, चाकर चोर, चित्त चपल, मित्र मतिहीन, स्वामी कृपण और भोजन पराधीन हो ।^२ चाहे उक्त पद्यों को अर्थवाद के रूप में भी स्वीकृत किया जाए तथापि इस बात का प्रतिषेध तो कठिन ही है कि केशवदास ऐहिक सुखपूर्ण जीवन को स्वर्ग से और दुःखपूर्ण जीवन को नरक से कम न मानते थे । महाकवि देव की तो स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, श्राद्ध-तर्पण, पुनर्जन्म आदि में कोई आस्था ही नहीं थी । वे तो इनमें आस्था रखने वालों तथा इनका प्रचार करने वालों को स्पष्ट शब्दों में ही मूढ़ और लवार कहते हैं—

(क) पापु न पुन्य न नर्क न स्वर्ग मरो सु मरो फिरि कौन दुलायो ।

गूढ़ ही वेद पुरानन दांघि लबारनि लोभ भले भुरकायो ॥

(ख) जीवत तौ व्रत भूख मुखौत सररि महा सररुख हरे को ।

ऐसी असाधु असाधुन की बुधि साधन देत सररिध नरे को ॥^३

ग्वाल भी उसी जीवन को अच्छा समझते हैं जिसमें मनुष्य खाए-पिए, धूसे-फिरे और यथेष्ट आनन्द-प्रमोद में मग्न रहे, क्योंकि बार-बार तो जन्म नहीं मिलता—

दिपा है खुदा ने खूब खुसी करि ग्वाल कवि,

खाव पिओ देव लेव यही रह जाना है ।^४

आये परवाना पर चले न बहाना इहां,

नेकी करि जाना फेरि आना है न जाना है ॥^५

जहाँ ग्वाल कवि ने सुखमय जीवन के लिए व्यय से दुगुनी या कम-से-कम सवाई आय, सुन्दर नारी, विद्वान् की संगति आदि को^६ आवश्यक ठहराया है वहाँ रस-निधि हुक्के को भी विस्मृत नहीं कर पाये हैं, क्योंकि वह सच्चा सखा अन्तिम सांस तक साथ देता है—

हुक्का सों कहु कौन पै, जात निदाहो साथ ।

जाकी स्वासा रहत है, लगी स्वास के साथ ॥^७

१. केशव ग्रन्थावली, खण्ड १, कविप्रिया, पृष्ठ १२२।३०

२. " " " " १२३।३४

३. देवसुधा, पृष्ठ २२।११, १०

४. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५३३।१४

५. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५३३।१०

६. सतसई सप्तक, प्रसन्निति सतसई, पृष्ठ २२०।६२२

मृत्यु, कलियुग, समय का फेर, अवसर का महत्त्व आदि विषयों पर इन कवियों के विचार, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट होता है, प्राचीन कवियों के समान ही हैं—

(क) या जग बीच बचै नहिं मीचु पै, जे उपजे ते मही में मिलाने ।

रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहाँ जनमे ते तहाँई बिलाने ॥^१ (देव)

(ख) देखो कलिजू के राजनीति को तमासो यह,

वासो कियो आय हर एक की अवल पै ।

खानदान वारे पानपान लिए दौरत हैं,

तान गान वारे बंठे जोवत महल पै ॥^२ (ग्वालकवि)

(ग) भरत प्यास पिजरा पर्यो सुआ समय कैं फेर ।

आदर दें दें बोलियतु बाइसु बलि की बेर ॥^३ (बिहारी)

(घ) बिन औसर न सुहाइ तन, चंदन त्यावै गार ।

औसर की नीकी लगै, मोता सौ सौ गार ॥^४

भाग्य तथा पुरुषार्थ दोनों ही विषयों पर इन कवियों ने कविता की है परन्तु अदृष्ट की बलवत्ता में जितनी आस्था दिखाई देती है, पुरुषार्थ में उतनी नहीं। ऐसे लगता है कि वैदिक काल के पश्चात् उद्योग में विश्वास का क्रमशः ह्रास होता गया। जहाँ वेद तो कहते हैं कि—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।^५

वहाँ केशवदास पद्याकर आदि कवि कलियुग में ही नहीं, चारों युगों में भाग्य की प्रबलता को इन शब्दों में स्वीकृत करते हैं—

(क) बालि बिंध्यो, दलिराज बँध्यो कर सूली के सुल कपाल शली है ।

काम जय्यो जग, काल पर्यो बंदि, सेष धरें दिष हालाहली है ॥

सिंधु मथ्यो, किल काली नथ्यो, कहि “केसव” इन्द्र कुचालि चली है ।

राम हू की हरी रावन बाम चहूँ जुग एक अदिष्ट बली है ॥^६

(ख) हावि अर लाभ ज्यान जीयन अजीवन हू,

भोग हू दियोग हू संयोग हू अपार है ।

१. देवसुधा, पृष्ठ ३५।३७

२. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५३२।७

३. बिहारी रत्नावर, पृष्ठ १७६।४३५

४. सतसई सप्तक, अस्तनिधि सतसई, पृष्ठ २२०।६२१

५. अर्थ-मेरे दक्षिण हाथ में पुरुषार्थ है और वाम में विजय—(अथर्ववेद ७।५०।८)

६. केशवप्रयावली खंड १, कविप्रिया पृ० १२६।५४

कौन दिन कौन छिन कौन घरी कौन ठौर,

कौन जाने कौन को कहां धौं होनहार है ॥^१ (पद्माकर)

इसी प्रकार अदृष्ट के भय से थरथराने वाले इन कवियों का विश्वास यह था कि निर्लोभ नेगी, क्षोभ-रहित पटैत, लोर्कपणा-हीन तपस्वी, अप्रक गेह, निष्कपट स्नेह, अकलंक वंश, दम्भहीन विद्या, आलस्य-शून्य वृत्त, निर्व्यसन वृत्त और नीरोग काया इस जन्म के पुष्पार्थ से प्राप्त नहीं होती, पूर्वसंचित पुण्यों के प्रताप से ही मिलती है ।^२

इन विषयों के अतिरिक्त, त्रिराज्य में प्रजा के दुस्सह दुःख,^३ न्याय व शस्त्र से जनता का बशीकरण,^४ राजा, पाप और रोग द्वारा निर्बल का ही दमन,^५ नई वस्तु का पुरानी होना और पुरानी का नई बनो रहना,^६ किसके बिना क्या शोभा नहीं देता,^७ धिक्कार्य कार्य,^८ आदि अनेक विषयों का इन काव्यों में सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है । उदाहरणार्थ निम्नांकित सर्वथा द्रष्टव्य है जिसमें वेश्यदास ने अनेक गहर्ष बातों का उल्लेख किया है—

पाप की सिद्धि सदादिन वृद्धि सुकीरत आपनी आप कही की ।

दुख को दान जु सूतक न्हान जु दासी की संतति संतत फोकी ॥

बेटी को भोजन, भूषन रांड को, केसव प्रीति सदा, परन्ती की ।

जूम में लाज दया आरि को अर दाहून जाति सों जीति न नोकी ॥^९

संक्षिप्त आलोचना

पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव—उपर्युक्त विवरण तथा उद्धरणों से स्पष्ट है कि शृंगारी कवियों का नीतिकाव्य मात्रा में अधिक न होता हुआ भी अपने ऐहिक दृष्टिकोण तथा सरसता के कारण श्लाघ्य है । अब इसकी मौलिकता पर भी दृक्पात कर लिया जायँ । इस में सन्देह नहीं कि इन शृंगारिक कवियों के स्फुट नीति-पद्यों में आत्मानुभूति की मात्रा अत्यधिक है तथापि इस बात का प्रत्याख्यान सम्भव नहीं कि इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियों से भी सहायता ली है । जैसे—

(क) संस्कृत-कवियों का प्रभाव—अधिकतर शृंगारी कवि संस्कृत के विद्वान् थे और उन्होंने संस्कृत-साहित्य का अवगाहन किया था । साथ ही यह भी स्मरणीय

१. पद्माकर पंचामृत, प्रबोधपचासा पृ० २३१

२. भिलारीदासः काव्यनिरणय, पृ० १६१।५१

३. बिहारीरत्नाकर, पृ० १४८।३५७

४. कुलपति मिश्रः रस रहस्य, द्वितीय वृत्तान्त, पद्य ३०

५. बिहारी रत्नाकर, पृ० १७६।४२६

६. सं० केदारनाथ गुप्तः कवियों की भांकी, मतिराम, पृ० १४१।१०

७-८. केशवग्रन्थावली, खंड १, कविप्रिया, पृष्ठ १६०।३, १६०।२, १७४।७७

है कि सुकवि होने के नाते वे दूसरों के भावों तथा भाषा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण करना भी उचित नहीं समझते थे। यही कारण है कि इनके स्फुट नीति-पद्यों में जहाँ कहीं पूर्ववर्ती कवियों से कुछ भाव लिये गए हैं वहाँ इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि उनके पद्य अनुवाद-मात्र ही न बन जाएँ। जैसे, किसी संस्कृतकवि की सूक्ति है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।

धर्मो न यं यत्र च नास्ति सत्यम्, सत्यं न तद्यच्छलनानुयिदम् ॥^१

केशवदास ने इसी पद्य के भाव को क्रमालंकार के उदाहरण में एक सवये में इस प्रकार उपन्यस्त किया है—

सोभति सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं ।

ते न पढ़े जिन साधु न साधित, दीह दया न दिपे जिन माहीं ॥

सो न दया जु न धर्म धरै धर, धर्म न सो जहँ दान वृथाहीं ।

दान न सो जहँ सांच न केसव, सांच न सो जु बसँ छल छाहीं ॥^२

दोनों पद्यों की तुलना से स्पष्ट विदित होता है कि केशवदास कुछ सीमा तक भाव और भाषा दोनों में संस्कृत-कवि के आभारी हैं। परन्तु, केशवदास ने अपने आप को सभा, वृद्ध, धर्म और सत्य तक ही सीमित नहीं रखा, सवये में विद्या, दया, दान आदि का भी समावेश कर दिया है।

हिन्दी-कवियों का प्रभाव—हिन्दी-कवियों का प्रभाव तीन प्रकार का है—
(क) भावों का प्रभाव (ख) भाव तथा भाषा का प्रभाव (ग) शैली का प्रभाव। क्रमशः तीनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

(क) भावों का प्रभाव

बिगरी बात बन नहीं लाख करी किन कोय ।

“रहिमन” फाटे दूध को मथे न माखन होय ॥^३

कोटि-कोटि “मतिराम” कहि जतन करौ सब कोइ ।

फाटे मन अरु दूध में नेह न कबहूँ होइ ॥^४

उपर्युक्त दोहों की तुलना से स्पष्ट है कि मतिराम ने अपने दोहों में रहीम के दोहे के “लाख” के स्थान पर “कोटि-कोटि” कर दिया है और “दूध” तक ही अपने को सीमित न रखकर “मन” को भी साथ संयुक्त कर दिया है। इस प्रकार मतिराम ने रहीम से संकेत लेकर उसको विकसित और अधिक स्पष्ट कर दिया है।

१. अर्थ—वह सभा ही नहीं जिस में वृद्ध न हों, वे वृद्ध ही नहीं जो धर्म का उपदेश न दें, वह धर्म ही नहीं जिसमें सत्य न हो और वह सत्य ही नहीं जिसमें छल विद्यमान हो। (सु० २० भा० पृष्ठ १७४।८८४)

२. केशवग्रन्थावली, खण्ड १, कविप्रिया, पृ० १६०।३

३. सं० बजरत्नदास, रहिमनविलास, पृष्ठ १४।१३५

४. सतसई सप्तक, मतिराम सतसई, पृष्ठ १२२।७०

(ख) भाव तथा भाषा का प्रभाव

रहिमन छोटे नरन सों होत बड़ो नहि काम ।

मढ़ो दमामो ना बने सौ चूहे के चाम ॥^१

कैसे छोटे नरनु तें सरत बड़नु के काम ।

मढ़यो दमामो जात क्यों कहि चूहे कें चाम ॥^२ (बिहारी)

बिहारी ने अपने दोहे में उत्कर्ष लाने के लिए दो युक्तियों का प्रयोग किया है । प्रथम, “बड़ो” के स्थान पर “बड़नु” कर देने से “छोटे नरन” के साथ विरोध स्पष्टतर हो गया है और दोहे के प्रभाव में वृद्धि हो गई है । द्वितीय, “सौ चूहे के चाम से” तो कभी दमामे के मढ़े जाने की सम्भावना हो भी सकती है परन्तु एक चूहे के चाम से तो त्रिकाल में भी असम्भव है । ऐसा होते हुए भी यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भाव और भाषा दोनों के विचार से बिहारी स्पष्टतया रहीम के आभारी हैं ।

(ग) शैली का प्रभाव—वैसे तो तथ्य-निरूपक, अन्यापदेशात्मक आदि शैलियों का प्रयोग इन कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों के समान किया ही है तथापि जो शैली विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है वह है नैतिक उपमानों की शैली, जिसे गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस के किष्किन्धा-काण्ड में विशेष रूप से प्रयुक्त किया है, जैसे—

बरषाहि जलद भूमि निअराएँ । जथा नर्वाहि बुध विद्या पाएँ ।

बूंद अघात सहहि गिरि कैसें । खल के बचन सन्त सह जैसें ॥^३

कदाचित् उन्हीं से प्रेरणा लेकर इन कवियों ने भी कहीं-कहीं इस शैली का प्रयोग किया है । जैसे—

दुबराई गिरि जातु है, कंकन कामिनि बाँह ।

उपदेस न ठहरात ज्यों, दुरजन के उर माँह ॥^४ (मतिराम)

सोच तें रूप कुमंत्र ते भूपरु हास बिताय गये घर दाम ज्यों ।

नेह घटे जिमि जोति दिया ससि की छवि देखत ही रवि घाम ज्यों ॥

लोभ तें धन बड़ाई अनीति ते होते सनेह बिदेश बिराम ज्यों ।

नैक वियोग में ही तन प्यारी को छीन ह्वै जात है साँझ के घाम ज्यों ॥^५

निष्कर्ष—रीतिकालीन शृंगारी कवियों की साहित्यिक विशेषताओं के सम्बन्ध में इतना अधिक लिखा जा चुका है कि हम उसकी पुनरावृत्ति करना समीचीन नहीं समझते । हाँ, उपसंहार रूप में उनके नीति-काव्य की प्रमुख विशेषताओं की और ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है—

१. रहिमन बिलास, पृष्ठ १६।१८६

२. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ५६।१३१

३. रामचरित मानस, मूलगुटका, (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०।१३), पृष्ठ ४५४

४. सतसई सप्तक, मतिराम सतसई, पृष्ठ १३०।१७२

५. कुलपति मिश्र: रसरहस्य, अष्टम वृत्तान्त, पृ० १७

१. इन कवियों के शृंगारी काव्यों में शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों के विकास पर उचित बल दिया गया है।

२. इनमें पारिवारिक जीवन की प्रशंसा दृष्टिगत होती है और पारिवारिक जीवन के सुखों के भोग की प्रेरणा मिलती है।

३. प्रेम-विषयक नीति का वर्णन सविस्तर किया गया है।

४. इन कवियों ने सुकवि, कुकवि, सुकविता, कुकविता आदि पर विशेष रूप से लिखा है।

५. राजाओं तथा सामन्तों को गुणग्राही बनने और कृपणता का परित्याग करने की प्रेरणा पर्याप्त मात्रा में है।

६. प्रायः वर्ण, धर्म, जाति आदि से जनित भेदभाव को दूर करने की प्रेरणा की गई है।

७. स्त्री का महत्त्व तो वर्णित है परन्तु वह स्त्रीत्व के कारण नहीं, भोग्यात्व के कारण है।

८. इन कृतियों में आमुष्मिक जीवन की अपेक्षा ऐहिक जीवन को सुखी बनाने पर बल अधिक है।

९. कुशल कवियों की कृति होने के कारण यह नीति-काव्य अधिकतर नीति-रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक सरस व भावपूर्ण है।

१०. ये रचनाएँ मुक्तक-शैली में ही हैं। प्रायः कवित्त, संवया, दोहा और छन्दो का प्रयोग दिखाई देना है।

११. इनमें प्रायः परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है जिसमें अरबी, फारसी आदि के शब्दों की संख्या भी पर्याप्त है।

१२. इन काव्यों की भाषा अलंकृत है और उसमें यथास्थान प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों ही गुण दृष्टिगत होते हैं।

१३. इन कवियों की कृतियाँ स्वतन्त्र नीति-ग्रन्थों के रूप में न होती हुई भी अधिकतर स्वतन्त्र नीति-काव्यों की अपेक्षा अधिक कवित्वपूर्ण हैं।

(४) संग्रह-ग्रन्थों में नीति-काव्य

रीतिकाल में मौलिक तथा अनुवादात्मक रचनाओं के साथ-साथ संग्रहग्रन्थों के संकलन की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रायः सभी संग्रहालयों में धर्म, शृंगार आदि विषयों के अनेक संग्रहों के साथ-साथ नीतिकवियों के उत्तमोत्तम पद्यों के संग्रह भी पर्याप्त दिखाई देते हैं। कभी-कभी तो उन में ऐसे कवियों के पद्य भी दिखाई देते हैं जिनके नाम तथा कृतियों से हम अनभिज्ञ होते हैं। ऐसे नीतिविषयक संग्रहों को प्रायः प्रास्ताविक संग्रह भी कहा गया है। पंडितराज जगन्नाथ ने “भामिनी-विलास” के नीतिविषयक अन्यापदेशिक प्रथम विलास को प्रास्ताविक विलास नाम से

अभिहित किया है। मम्भवतः तभी से इस शब्द का प्रयोग नीतिविषयक कविता के लिए होने लगा हो। अस्तु, दिग्दर्शनमात्र के लिए दो-चार नीति-संग्रहों का उल्लेख पर्याप्त होगा।

बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय के एक संग्रह में अनेक कवियों के नीति-पद्य संगृहीत हैं जिन में सेउ और सम्मन मुख्य है।^१ इसी गुटके में बिहारीसतसई भी संगृहीत है जिस का लिपि-काल सं० १७४४ दिया गया है। अतः संग्रह पीने तीनसौ वर्ष प्राचीन है। इसके दो दुर्लभ पद्य नीचे दिये जाते हैं—

आवत ही आदर नहीं, टेढ़ी भोह कराइ।

“सेऊ” तहा न जाइये, जो कंचन बरसाइ ॥

“मधुसूदन” कोइ कुटिल सूं, सरल करो मति हेत।

नैकु धनुष के जुरत ही, बान प्रान हर लेत ॥^२

फ़ोर्ट विलियम कालेज के प्राध्यापक पं० लल्लूलाल ने भी संवत् १८७० में “सभाविलास” नाम से नीति-काव्यों का संग्रह किया था। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित इस संग्रह के प्रारम्भिक १५ दोहे तो भक्ति-विषयक हैं और बाद में क्रमशः वृन्द, रहीम, रसनिधि आदि के दोहे संगृहीत हैं।^३ इस संग्रह में दोहे, सोरठे, कुंडलिया, बरवै, अरिल्ल, छप्पय, सबैया पहेली, मुकरी सभी कुछ विद्यमान है।

उक्त सभा में ही “गुणगंजनामा”^४ शीर्षक संग्रह भी सुरक्षित है जिसे सं० १८८७ में जगन्नाथ ने संकलित किया था। इसमें कवीर, दादू, रज्जव आदि की नीति तथा उपदेशविषयक साखियों का संग्रह है।

जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में ‘प्रास्ताविक दोहरा’^५ नाम से एक अन्य संग्रह विद्यमान है जिसमें वृन्द-सतसई के ७६ तथा स्फुट छन्द ७१ हैं। स्फुट छन्द हितोपदेश आदि के पद्यों के अनुवाद प्रतीत होते हैं। उनकी भाषा राजस्थानी है और अक्षरी अत्यन्त अशुद्ध है। जैसे—

गीत विनोद विलास रस पण्डीत दोह लहंत।

के निन्त्रा के कलह करि मुरष दीवस गमंत ॥^६

१. संग्रह-संख्या ७२।७२ क; पत्र ११२-१३०

२. „ „ ११२।५, ११३।१

३. सभासंग्रह सं० ४४६।३२७। “सभाविलास” प्रथम बार तो संग्रहीता के जीवन-काल में और द्वितीय बार १९४६ में प्रकाशित हुआ था।

४. सभासंग्रह सं० २५२।१४७६

५. क्रमांक ४८०६

६. „ „ पत्र २।५

कहना न होगा कि उक्त दोहा हितोपदेश के एक दोहे का विफल अनुवाद है।^१ इस संग्रह का लेखन-काल १६ वीं शती अनुमित किया गया है।

पुरातत्त्व मन्दिर का ही एक अन्य संग्रह भाषा की विचित्रता की दृष्टि से उल्लेख्य है।^२ चारपत्रों के इस संग्रह में केवल ६५ पद्य हैं, जिनमें अधिकतर दोहे हैं। अनेक दोहे सम्मन के हैं और अनेक अज्ञातकर्तृक। कुछ दोहों की भाषा ऐसी है जिसे न हिन्दी कहते बनता है न संस्कृत। जैसे—

रत्न पिंजरे बसति काको, अमृत भोजन भष्यति।

पठ्यते चतुर वेदान्त स्व स्वभाव न मुंचति ॥^३

अधिकतर पद्य राजस्थानी भाषा के हैं। यथा—

सील सरीरा आभरण सोयन भारी अंग।

मुष मंडण साचा वचण बिन तंगोलै रंग ॥^४

इस संग्रह का भी लिपिकाल १६ वीं शती है।

वहीं पर और उन्नीं शताब्दी का 'कवित्व प्रसंगीक' शीर्षक एक अन्य संग्रह भी सुरक्षित है जो अपनी सरसता के कारण उल्लेख्य है।^५ दस पत्रों पर लिपिबद्ध प्रस्तुत संग्रह में १३० पद्य हैं जिन में अधिकतर कवित्त हैं और कुछ छप्पय। कुछ कवित्त देवीदास के हैं और कुछ मकरन्द आदि अन्य कवियों के। कवियों के आत्म-सम्मान, सरदारों की कृपणता, नीति का महत्त्व, क्षत्रियों की वीरता आदि पर अनेक सुन्दर पद्य इसमें संकलित हैं। हास्य रस का एक व्यंग्य-पूर्ण कवित्त देखिए—

साधन कु मत देत बातन सुमेर देत

रिन मांगे रोय देत कहाँ धौ कहतु हैं।

जाहि ताहि दुष देत बीच परें दगा देत

साधन कौ दोस देत ग्यान न लहत हैं।

घर मांझ गारी देत रन मांझ पूठ देत

सांझ को किंवारी देत ऐसे निबहत हैं।

एसे पर कहूं सब भैया कछु देत नाहि,

भैया जू तो आठों जाम देवोई करत हैं।^६

१. हितोपदेश, पृष्ठ १२।१

२. क्रमांक ४६१२

३. „ पत्र १

४. „ पत्र १।७

५. संग्रह-क्रमांक २३१८, आकार ६ $\frac{३}{४}$ " × ४"

६. „ „ पत्र १।६

इन संग्रहों के द्वारा जहाँ हम जयदेव, प्राननाथ, बलदेव, प्रधान, भवसेरी, बुद्धिसेन, कुन्दन, अम्बुज, निहाल, चैन, पुखी, भरमी आदि अनेक कवियों के नामों से परिचित होते हैं वहाँ हमें इनके अत्यन्त मधुर काव्यों के रसास्वादन का भी अवसर प्राप्त होता है। इन संग्रहों में जो पद्य नीतिविषयक प्राप्त होते हैं, उनसे संग्रहकारों की मनोवृत्ति पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। यद्यपि इनमें नीति के प्रायः सभी विषयों का उल्लेख छिटपुट रूप से मिल जाता है तथापि इनमें राजसभाओं में पिशुनता करने वालों की निन्दा, कृपण राजाओं तथा सरदारों को उपालम्भ तथा उन पर व्यंग्य, सूम की संपदा, कर्कशा नारी, राजाश्रय से वंचित कवियों की खीझ, घूसखोरों और कायस्थों की गद्दी, यश की महिमा, कलि का प्रभाव, कवियों का आत्मसंमन, राजाओं पर कवियों का सहज दावा, सेवकों में योग्यतानुसार कार्य वितरण न करने वाले राजाओं की कुत्सा, बूढ़ों की कामुकता, विधि की विवेकहीनता, दान में दिये गए बेकार पदार्थ, निरुद्ध सेवक, बगुला-भक्ति, सूम जजमान की निन्दा, अच्छे पंचों की प्रदांसा तथा बुरों की निन्दा, कवि के बिना सभा का फीकापन आदि विषयों की चर्चा अधिक है। यह बात विशेष रूप से उल्लेख्य है कि जो नीरसता प्रायः अनुवादात्मक कृतियों में दिखाई देती है उसका यहाँ अभाव है। कारण यह है कि इन संग्रहों में प्रायः जिन कवियों के पद्य संगृहीत हैं वे वस्तुतः ऐसे कवि थे जो भाव या रस में मग्न होकर काव्यरचना करते थे, सामान्य पंडित, मुनि या लोक-हितैषी न थे जो विशेष योग्यता के न रहते हुए भी चारण्य-नीति, हितोपदेश आदि का अनुवाद करने पर कटिबद्ध हो जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि भाव, भाषा, रस, अलंकार आदि सभी दृष्टियों से संग्रहों का नीतिकाव्य प्रशंसनीय है।

(५) फुटकर नीति कवि

१. **अकमल या अकू**—इनकी “शीलवत्तीसी” जयपुर के लूणकरण मंदिर में सुरक्षित है। रचना का लिपिकाल संवत् १७२१ है। ३४ कुंडलिया छन्दों की इस राजस्थानी भाषा की रचना का विषय है, शील, जिसमें पातिव्रत और पत्नीव्रत दोनों ही समाविष्ट हैं।

२. **प्रवीण कविराय**—इनका जन्म संवत् १६६२ था। संग्रह-ग्रंथों में इनके नीति के स्फुट सुन्दर पद्य प्राप्त होते हैं। इनकी शान्त रस की कविता भी अच्छी है।

३. **महेश मुनि**—इनकी “अक्षर वत्तीसी” की रचना संवत् १७२५ में उदयपुर में की गई थी। प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, में विद्यमान है। प्रति-संख्या ८१११ है और कुल दोहे ३४। वर्णमाला-क्रम से रचित दोहों में गर्व, छल, पाप आदि से दूर रहने की प्रेरणा की गई है।

४. **भरमी कवि**—इनका जन्म संवत् १७०८ में हुआ था। इनके नीति के रोचक कवित्त कालिदास हजारा में द्रष्टव्य हैं।

५. लक्ष्मीवल्लभ गरिण उपाध्याय—इनकी “कवित्त बावनी” में कुल ५८ छप्पय हैं, जिन्हें संवत् १७४१ में घेसूड़ा ग्राम में उपाध्यायजी के शिष्य मुनि हीरा नन्द ने लिपिबद्ध किया था। राजस्थानी में रचित इस कृति में भाव-महिमा, लज्जा-महत्त्व आदि पर सुन्दर पद्य हैं। सम्भवतः ये लक्ष्मीवल्लभ वही हैं, जिनका विवरण प्रमुख नीति-कवियों में दिया जा चुका है।

६. महाराज जसवन्तसिंह—मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज जसवन्तसिंह ने अठा-रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रबोध चंद्रोदय नाटक का सुन्दर अनुवाद किया।

७. जगन्नाथ—इन्होंने “गुरुमहिमा” नाम की एक पुस्तिका संवत् १७६० में रची, जिसे अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में देखा। हस्तलिखित प्रति की संख्या ६५/६५ क है। ४९ पद्यों की यह चौपाई-प्रधान रचना पद्मपुराण के गुरुगीता नामक संदर्भ के आधार पर रची गई है। कृति में गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा तो प्रकट की गई है परन्तु रचना साहित्यिकता से शून्य है।

८. गङ्गू—राजस्थानी के इस कवि के स्फुट नीति-छन्द संग्रह-ग्रंथों में देखे जाते हैं। इनका रचना-काल संवत् १७७० के लगभग है।

९. प्रस्तन पुष्प पाप—किसी अज्ञाता-नामा जैन कवि की यह रचना जयपुर के काले छावड़ों के मन्दिर [गुटका संख्या ८२ (क)] में सुरक्षित है। लिपि-काल संवत् १७७२ है और पद्य संख्या २६। दोहा-चौपई में निबद्ध इस रचना में प्रश्नोत्तर शैली प्रयुक्त की गई है। वैधव्य, वैश्यात्व, दारिद्र्य आदि के कारणों के विषय में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

१०. प्रेमचन्द—इनकी “मृत्यु महोत्सव पञ्चीसी” का लिपिकाल सं० १७७८ है। दो पत्रों पर लिखित इस रचना में १७ दोहे तथा ८ सोरठे हैं। मृत्यु सुख का कारण है, क्योंकि जीव पुराना घर त्यागकर नव-गृह में प्रविष्ट होता है, यही इस रचना का विषय है। हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित है।

११. अमरसी—अमरसिंह की “गुरुचला नी चडबड” का रचना-काल तो विदित नहीं परन्तु लिपिकाल १८वीं शती निर्धारित किया गया है। इसकी हस्तलिखित प्रति (क्रमांक १४४२) जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में विद्यमान है और १७ पत्रों पर लिपिबद्ध है। रचना प्रश्नोत्तर शैली में है। पहेलियाँ तथा नीति-विषयक सुभाषित सामान्य राजस्थानी भाषा में निबद्ध हैं।

१२. भीष्म—इनकी “सप्त व्यसन दूहा कुंडलिया” पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर, में सुरक्षित है। प्रति का क्रमांक २२१७ है और लिपिकाल १८वीं शती। राजस्थानी की इस रचना में मांस, मदिरा आदि सप्त व्यसनों का निषेध किया गया है।

१३. नागरीदास—इनके “इस्कचमन” की हस्तलिखित प्रति बीकानेर में मोतीचन्द खजानची के पुस्तक-संग्रह (गुटका सं० ३) में देखी। ४५ दोहों की उस पूर्ण प्रति में प्रेमविषयक नीति पर ब्रजभाषा में सुन्दर दोहे हैं, जिनमें फारसी-अरबी

के शब्दों की भी कमी नहीं।

१४. मुनि मान—मुनि जी की सर्वेया 'मानबावनी' की प्रति बीकानेर के ग्रन्थ जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। इस प्रति को धोधूदा ग्राम में मयाचन्द ने सं० १८१२ में लिपिबद्ध किया था। स्वाभी, सेवक, मित्र, पुत्र आदि नीति के प्रचलित विषयों पर रचित सामान्य कृति है।

१५. बारहखड़ी—किसी अज्ञात जैन कवि की एक 'बारहखड़ी' काले छाबड़ों के मन्दिर (जयपुर) में सुरक्षित है। संवत् १८१४ में लिपिबद्ध इस खंडित रचना में कुल २४ पद्य हैं, जिनमें मोह, मान, लोभ, पाप आदि से लड़ने की प्रेरणा अनुप्रासमयी भाषा में की गई है।

१६. लालचन्द—१८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में उक्त नाम के तीन जैन कवि हुए हैं। 'छिनाल पच्चीसी' तथा 'मूरख सोलही' सम्भवतः उस लालचन्द की हैं जिसका दीक्षा नाम लाभवर्द्धन था। 'छिनाल पच्चीसी' की २५ चौपाइयों में कुलटाओं के और 'मूरख सोलही' के सोलह चान्द्रायण छन्दों में मूर्खों के लक्षणों का उल्लेख है। दोनों की प्रतियाँ बीकानेर के ग्रन्थ जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं।

१७ ब्रजदासीदास—वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी वृन्दावनवासी इस कवि ने १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में संस्कृत के प्रबोधन्द्रोदय नाटक का विविध छन्दों में सुन्दर अनुवाद किया था।

१८. उम्मेदराय—जयपुर राज्य में हणूतिया ग्राम के वासी उम्मेदराम का जन्म सं० १८०० में हुआ और निधन सं० १८७८ में। इनकी 'सत्योपदेश' नाम की नीति-कृति जयपुर के विद्याभूषण पुस्तकालय में विद्यमान है। ३५ पादाकुल छन्दों की इस पुस्तिका को कवि ने बलवन्त नृप के लिए रचा। नीति के साधारण विषयों का सामान्य रीति से उल्लेख किया गया है।

१९. श्रीतार—इनकी 'उपदेश सत्तरी' जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित है। राजस्थानी की इस रचना में वाङ्मय-जनित विवशता तथा सन्तान की स्वार्थ-परता का करुणाजनक चित्रण है। रचना का लिपि काल सं० १८३८ है और क्रमांक २२१३।

२०. क्षमाकल्याण—खरतरगच्छ के वाचक अमृत धर्म के शिष्य क्षमाकल्याण का रचना-काल सं० १८२९ से १८७२ तक है। इनकी 'हित-शिक्षा द्वात्रिसका' बीकानेर के ग्रन्थ जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। 'बत्तीसी' के आदि तथा अन्त में एक-एक सर्वेया है और मध्य में ३१ दोहे। इन्द्रियसंयम, विषयनिन्दा, अलंकार, तृष्णा आदि पर रचित इस बत्तीसी में कहीं-कहीं साहित्यिक आभा भी विद्यमान है।

२१. रसिकगोविन्द—वृन्दावन वासी तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्री रसिक गोविन्द ने सं० १८६५ में 'कलिजुग रासो' की रचना की। १६ कवित्तों की इस रचना में कलि-जनित दोषों का उल्लेख है और उनसे त्राण के लिए श्री गोविन्द से

प्रार्थना की गई है।

२२. शिवलाल दूबे—शिवसिंह सरोज में इनका जन्म संवत् १८३९ दिया गया है और जन्म-स्थान डोंडियाखेरा। इन्होंने नीति-विषयक स्फुट सुन्दर पद्यों की रचना की थी।

२३. देवाग्रह या देवा पांडे—इनके तीन नीति-ग्रंथ प्राप्त हैं—ढालमधुबन्द, गुरसीप और सास बहू का भगड़ा। प्रथम दो तो जयपुर के काले छाबड़ों के मन्दिर में सुरक्षित हैं और अन्तिम वहीं के ठोलियों के मन्दिर में। 'ढालमधुबन्द' में अर्धरूप तथा मधुबन्दु की प्रसिद्ध कथा १९ पद्यों में निबद्ध है। 'गुरसीप' के १३ पद्यों में नीति की सामान्य बातें हैं। 'सास-बहू का भगड़ा' का लिपिकाल सं० १८७२ है और विषय नाम से ही स्पष्ट है।

२४. सूरत—इनकी 'बारहखड़ी', जैन की बारहखड़ी के नाम से भी प्रसिद्ध है और राजस्थान के अनेक पुस्तक-भंडारों में प्राप्य है। जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर (क्रमांक ५४०३) की प्रति में ४२ पद्य हैं और वहीं के छाबड़ों के मन्दिर की खंडित प्रति (गुटका सं० ३५) में ७९। प्रयुक्त छन्द को अविकसित कुंडलिया कह सकते हैं क्योंकि दोहे के चतुर्थ चरण को रोला के आरम्भ में दोहराया गया है परन्तु कुंडलिया के समान आदिम तथा अन्तिम शब्द समान नहीं हैं। विषय सप्त व्यसन आदि हैं। गुटके का लिपिकाल सं० ८८० है।

२५. जीवो रीषी (ऋषि)—जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित इनकी 'कक्का बन्नीसी' (क्रमांक २०५६) दो पत्रों पर १९वीं शती में लिपिबद्ध की गई थी। परनारी, परद्रव्य, परनिंदा आदि से बचने के उपदेश वर्णमाला-क्रम से दिये गए हैं। भाषा राजस्थानी है।

२६. पारषीदास—इनकी 'बारहपड़ी' जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में विद्यमान है। १९वीं शती में लिपिबद्ध इस कृति का क्रमांक १८५८ है और भाषा ब्रजभाषा। कुल पद्य ३५ हैं जिनमें काव्यत्व-रहित जैन उपदेश हैं।

२७. वणारस सुन्दर दास—अज्ञातकालीन इस कवि की 'बावनी' बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित है (प्रति सं० ८०७२)। तीन पत्रों की खंडित प्रति में २८ पद्य (छप्पय, कवित्त तथा सवैये) हैं। गुणों से महत्त्व, माता का गौरव, गुरु-महिमा आदि विषयों पर अच्छे पद्य हैं।

२८. मुरलीदास—अज्ञातकालीन मुरलीदास का 'ग्रिहसत-सत-सार' बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय के गुटका सं० १६०।१६० में सुरक्षित है। ३६ पद्यों की कृति में ७ दोहे, २६ चौपाइयाँ और ३ सोरठे हैं। सत्यभाषण, बाँटकर खाना, परधन तथा परस्त्री का त्याग, सत्संगति, मादक द्रव्यों का निषेध आदि इसके वर्ण्य विषय हैं। जोधपुर के बालोत्रा नामक स्थान में गोविन्द राम ने इसकी प्रतिलिपि की थी।

२९. गिद्ध या गोध कवि—शिवसिंह सेंगर तथा मिश्र वन्धुओं ने इनके फुटकर

दोहा, कवित्त, छप्पय, पहेली आदि का उल्लेख किया है। शिवसिंह सरोज तथा हस्त-लिखित संग्रह-ग्रंथों में इनके नीति के कुछ पद्य प्राप्त होते हैं। जिनमें भवसर का महत्त्व, प्राणिमात्र की सदोपता आदि का वर्णन है। कवि-समय अभी तक अज्ञात है।

३०. भगवानदास निरंजनी—इस अज्ञातकालिक कवि ने भनूहरि शतक का कवित्तों में सुन्दर अनुवाद किया था।

३१. देवमणि—इस अज्ञातकालीन कवि ने 'चारण्य नीति' का सोलहवें अध्याय तक भाषा में अनुवाद किया।

रीतिकालीन नीतिकाव्य की समीक्षा

वर्ण्य-विषय—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नीति-विषयक जितनी मौलिक, अनुवादात्मक, संग्रहात्मक तथा स्फुट रचनाएँ रीतिकाल में की गई, उतनी आलोच्य-युग के किसी अन्य काल में नहीं। उनका विषय-क्षेत्र इतना व्यापक है कि देखकर आश्चर्य होता है। पूर्वोक्त छह प्रकार की नीति में इतरप्राणि विषयक नीति को छोड़ सभी पर अनेक स्वतन्त्र मौलिक काव्य इस काल में प्रणीत हुए। परन्तु वह भी सर्वथा उपेक्षित नहीं रही। फिर यह बात भी नहीं कि नीति के विभिन्न प्रकारों में परंपरागत बातों का ही उल्लेख किया गया हो। देश और काल के अनुसार नव-नव कर्तव्यों व व्यवहारों का वर्णन इस काल की कृतियों की उल्लेख्य विशिष्टता है।

वैयक्तिक नीति—यद्यपि शारीरिक स्वास्थ्य, दीर्घायु आदि पर इस काल में भी कोई स्वतन्त्र-काव्य दिखाई नहीं देता तथापि काया की वह उपेक्षा भी अवगत नहीं होती जो प्रायः जैन, बौद्ध तथा भक्तकवि करते आये थे। लक्ष्य करने की बात है कि जैन बुधजन ने 'सतसई' में स्वास्थ्य-रक्षा के विविध उपचारों का वर्णन किया है।^१ गिरिधर कविराय भी काया को स्वस्थ तो रखना चाहते हैं परन्तु उनकी आस्था ओषधियों की अपेक्षा सुरसरिता के सलिल पर अधिक है। 'निर्वल के बल राम' की अपेक्षा वृन्द स्वयं बलवान् बनकर कार्यसिद्धि करने की प्रेरणा करते हैं। मूँछों की सार्थकता मुख-श्री-वर्द्धन में नहीं, अपितु यशोपाजन, उपकार, प्रण-पालनादि सुकृत्यों में है। सुन्दर रूप भी उत्तम गुणों के समान संमान्य होता है।

आदि काल तथा भक्तिकाल में वाचिक नीति के विषयों पर किसी स्वतन्त्र-काव्य की रचना नहीं हुई परन्तु रीतिकाल में राजाश्रित बांकीदास ने 'वचनविवेक पच्चीसी' तथा 'चुगलमुख चपेटिका' दो काव्य प्रस्तुत किये। राजसभासद् होने के कारण वे पिशुनों की कुचालों से सम्यक् परिचित थे और बाणी के सविवेक व्यवहार का महत्त्व भी खूब अनुभव करते थे। इसलिए उन्होंने इन कृतियों में कटुभाषण, गाली-दान तथा पशु-यु के विरुद्ध खूब लिखा। ध्यान देने की बात है कि जहाँ भक्तिकालीन कवि 'सांघ बराबर तप नहीं, भूठ बराबर पाप' का उपदेश देते थे वहाँ रीतिकालीन कवियों ने

अवसर पर कुछ झूठ भी बोल देने की, अनृत के सत्यवत् भाषण की, यथार्थ कथन के समय वाच्यम बन जाने की, हाथ से बिगड़ी बात को वाणी द्वारा सँवार लेने की तथा विदीर्ण हृदय का उपचार मधुर वाणी से करने की प्रेरणा की है। और, आश्चर्य तो यह है कि, जैन कवि बुधजन ने परोपकारार्थ असत्यभाषण को भी सत्य कह दिया है।

मानसिक नीति के क्षेत्र में विद्या आदि के महत्त्व पर कोई स्वतन्त्र कृति इस काल में भी दृष्टिगत नहीं होती। लालचंद की 'मूर्ख सोलही' तथा अज्ञातकर्तृक 'मूर्ख भेद चौपई' में लोकव्यवहार से अपरिचित लोगों का तो निर्देश कर दिया गया है परंतु विद्या, उसके साधन, विद्वान् आदि पर विशेष नहीं लिखा गया। फिर भी यह बात स्मरणीय है कि रीतिकालीन अधिकतर काव्यों में छिटपुट रूप से पोथी-पत्रे और पाण्डित्य की प्रशंसा ही अधिक लक्षित होती है। वृन्द तथा बुधजन ने विद्या-सम्बन्धी अनेक उपयोगी बातों की चर्चा अपनी सतसङ्गियों में की है। यद्यपि भैया भगवती दास, भूधरदास आदि जैन कवियों ने शृंगारी काव्यों के प्रणयन को निन्द्य तथा गिद्धर कविराय ने ब्रह्मज्ञान से रहित विभिन्न भाषाओं के ग्रंथों को 'गपोड़ा' कहा है तथापि अधिकतर कवियों ने विद्या की प्रशंसा, पिंगल-डिंगल की तुलना, शून्य-मस्तक व्यवित की निन्दा, बासी रोटी से बुद्धि का नाश, वेदानुकूल आचरण की स्तुति आदि विषयों पर पर्याप्त रचना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि युग के ऐहिकता-प्रधान तथा अनेक कवियों के राजाश्रित होने के कारण रीतिकालीन नीतिकाव्यों में विद्या का महत्त्व ही अधिक प्रदर्शित किया गया है और वह प्रायिक उपेक्षा दिखाई नहीं देती जो आदि-काल तथा भक्तिकाल में सुलभ है।

आत्मिक नीति पर प्रचुर पुस्तकों का प्रणयन किया गया। मन तथा इन्द्रियों के वशीकरण पर भैया भगवतीदास ने 'मन बत्तीसी' और 'पंचेन्द्रियसंवाद' की, पुण्य और पाप के विवेक पर अज्ञात कवि ने 'प्रस्न पुन्यपाप' की, गोपालचानक ने 'पुण्य-शतक' की, वीरता की प्रशंसा पर बांकीदास ने 'सीहछत्तीसी' 'सूर छत्तीसी' तथा 'वीर-विनोद' की, कायरता की कुत्सा पर इसी कवि ने 'कायर बावनी' और 'भावडियाभिजाज' की, कीर्ति-प्राप्ति पर गोपाल चानक ने 'कीर्ति-शतक' की और बांकीदास ने 'सुजसछत्तीसी' की और प्रेम पर देवीदास ने 'प्रेमरत्नाकर', नागरीदास ने 'इश्कचमन' और केसीदास ने 'दीपक-वत्तीसी' की रचना की। काम, श्रेधादि के वशीकरण पर जैन कवियों ने छिट-पुट रूप से बहुत लिखा है परन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ बांकीदास-कृत 'मोहमर्दन' ही उपलब्ध होता है। लक्ष्य करने की बात है कि शम, दमादि विषयों पर तो अधिक स्वतन्त्र रचनाएँ जैन लेखकों की हैं और वीरता, कायरता, सुयश आदि विषयों पर राजाश्रित अजैन कवियों की। प्रेम-विषयक नीति के प्रतिपादन में अमर और कमलादि के पुत्रों ने अग्रस्तुत ही गृहीत नहीं हुए, सुगन्ध और पवन, समुद्र तथा वडवानल के उपमान भी प्रस्तुत किये गए हैं। इनके अतिरिक्त मनमर्कट, ब्रह्मचर्यमहत्त्व, निश्चितता के पाँच उपाय आदि विषयों पर स्फुट पद्य भी बहुत दिखाई देते हैं।

पारिवारिक नीति—इस काल की अधिकतर कृतियों में पारिवारिक जीवन प्रायः हेय नहीं माना गया। यद्यपि श्रीसार ने ‘उपदेश सत्तरी’ में सन्तान की स्वार्थ-परता का उल्लेख किया है तथापि अकमल ने ‘शीलबत्तीसी’ में पातिव्रत और पत्नीव्रत की और मुरलीदास ने ‘ग्रिहसत सतसार’ में गार्हस्थ्योपयोगी अनेक सुन्दर नीतियों की चर्चा की है। चाचा हितबुन्दावनदास ने ‘कलिचरित्र बेगी’ में संयुक्तपरिवार-प्रथा की प्रशंसा की तथा देवापाण्डे ने ‘सास-बहू का झगड़ा’ में एक परंपरागत पारिवारिक समस्या का अच्छा चित्रण किया है। इन स्वतन्त्र कृतियों के अतिरिक्त अनेक उपयोगी पारिवारिक नीतियों का उल्लेख भी जहाँ-तहाँ किया गया है। उदाहरणार्थ, पुत्री-हत्या की निन्दा; विवाह के पश्चात् पुरुष का माता-पिता से कह और ससुराल वालों से प्रेम; लाड़ से संतान का बिगाड़ तथा ताड़ना से सुधार; भानजे के प्रति सतर्कता की आवश्यकता; पत्नी तथा पुत्र की अपेक्षा भी भाई की स्नेहपात्रता; सास-ससुर, देवर, ननदादि के विरुद्ध पत्नी का पति के कान भरना; वाढक्य में पत्नी की मृत्यु, धन का पुत्राधीन तथा भोजन का बन्धुओं के अधीन होना मृत्यु से भी दुःखद, घर की फूट से हानि; वासी पेड़ों द्वारा पितरों का श्राद्ध; दुःखपूर्ण गृहस्थी की अपेक्षा मृगचर्मधारण की श्रेष्ठता इत्यादि। तात्पर्य यह कि उन अनेक बातों के प्रति गृहस्थों को सतर्क कर दिया गया है जिनके कारण गृहस्थी प्रायः नरकमयी बन जाया करती है।

सामाजिक नीति—रीतिकालीन सामाजिक नीति निम्नांकित वर्गों में विभाज्य है—(१) सुकवि और कुकवि, (२) स्वामी और सेवक, (३) दुष्ट और साधु, (४) विद्वान् और मूर्ख, (५) गुरु और शिष्य, (६) स्त्री, (७) वर्ण, जाति-पात, (८) फूटकर।

१—सुकवि और कुकवि : यद्यपि इस विषय पर बांकीदास की “कुकवि बत्तीसी” के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र काव्य तो दिखाई नहीं देता तथापि फूटकर पद्यों की संख्या पर्याप्त है। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि रीति-काल में काव्य-प्रणयन की शिक्षा का विधिवत् प्रचार होता था इसलिए कुशल कवियों के कानों में कुकवियों की भरी कविताएँ बुरी तरह खटकती थीं। दूसरा, अनेक सुकवि राजाओं की सभाओं में रहते थे और उनके निर्वाह का साधन ही कविता थी। इसलिए फूहड़ कवियों का सामन्त-सभाओं में समादृत होना और उनका उपेक्षित रह जाना उनके जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता था। इस विषय की रचनाओं में निम्नांकित प्रकार के भाव मिलते हैं—कविराजों का महाराजों पर सहज दावा है; कृपण पर कवित्-रचना करने से पश्चात्ताप स्वाभाविक है; सुकवि के बिना सभा की कोई आभा नहीं; कवि “कीर्ति के विरवा” होते हैं। अनेक पद्यों से उन कवियों की खीझ भी व्यक्त होती है जिन्हें उचित गुणग्राही के अभाव में झंझर-झंझर भटकना पड़ता था।

२. स्वामी और सेवक : इस विषय पर भी बांकीदास की ही कृति “धवल-पच्चीसी” उपलब्ध होती है, जिसमें श्वेत वृषभ की अन्योक्तियों से सेवकों को स्वामि-

भक्ति की सुंदर सीख दी गई है। इसके अतिरिक्त अनेक कवियों ने ऐसे पर्याप्त फुट-कल पद्य रचे हैं जिनमें गुणप्राप्ति स्वामी की प्रशंसा, क्षुधित-चाकरों की निन्दा, सेवकों में कार्यों का यथायोग्य वितरण, निर्गुण स्वामी को रिझाने के उपाय, राजदरबारों में व्याप्त पिशुनता आदि का सुंदर वर्णन किया गया है।

३. **दुष्ट और साधु** : दुष्टों और श्रेष्ठों पर नीतिकाव्य की न्यूनाधिक रचना तो प्रत्येक काल में होती रही है परन्तु स्वतन्त्र गन्ध का निर्माण रीतिकाल में ही दिखाई देता है। रघुनाथ की “दुष्ट गंजन पचावनी”, रघुराम के “समासार नाटिक” तथा गुपाल कवि के “दम्पतिवाक्य विलास” में विविध दुष्टों का विवरण सविस्तर देखा जा सकता है। परन्तु स्मरणीय बात है दुष्टों के प्रति व्यवहार में परिवर्तन। जहाँ भक्तिकालीन कवि दुष्टों को क्षमा करने को या चुपचाप उनसे दूर हट जाने को उत्तम नीति समझते थे, वहाँ ये कवि उनकी ताड़ना के पक्षपाती हैं तथा उन्हें अनेक प्रकार के अभिशाप भी देते हैं। इनके मत में विपदग्रस्त दुष्ट की रक्षा अनौचित्य है। इन काव्यों में पाखंडी साधुओं के बचाव की प्रेरणा की गई है तथा सच्चे साधुओं की परीक्षा के वाईस निकप भैया भगवतीदास ने “वाईसपरीक्षा” में वर्णित किये हैं।

४. **विद्वान् और मूर्ख** : इस काल में मूर्खों के विषय पर लालचंद ने “मूर्खा-सोलही” तथा किसी अज्ञात-नामा कवि ने “मूर्ख भेद चौपई” नामक दो छोटी-छोटी पुस्तकें तो लिखी हैं परन्तु विद्वानों के महत्त्व पर, कदाचित् आत्मविक्रम को अनुचित मानते हुए, उन्होंने मोन रहना ही उचित समझा। फिर भी उक्त काव्यों, गुरुचेली की चड़बड़, कुकवि बत्तीसी आदि पुस्तकों से विद्वानों तथा सुकवियों की प्रशंसा व्यक्त हो ही जाती है। विद्या और विद्वानों के महत्त्व के विषय में स्फुट पद्य तो अनेक काव्यों में देखे जा सकते हैं।

५. **गुरु तथा शिष्य** : गुरु-महिमा के विषय पर भक्ति-काल में स्फुट पद्यों की रचना ही नहीं हुई थी, ‘सद्गुरु महिमा नीसानी’ पुस्तक भी लिखी जा चुकी थी। आशा तो की जाती थी कि रीतिकाल में गुरु के प्रति दृष्टिकोण में भेद हो जायगा, सद्गुरु पूज्य माने जायेंगे और कृगुरु उपेक्ष्य। परन्तु जगन्नाथ की “गुरु-महिमा” के अवलोकन से विदित होता है कि गुरु चाहे कामी, शोधी, लोभी, कपटी और लंगटी भी हो तो भी शिष्य उसे हरि से हीन न माने, उसकी अटपटी बातों का भी प्रत्याख्यान न करे, उसका जूठा खाए और चरणामृत पिये। शिष्यों के विषय में कोई स्वतन्त्र काव्य तो दृष्टिगत नहीं होता परन्तु “गुरुचेली की चड़बड़” में मूर्ख या शून्यमुस्तक को पुस्तक पढ़ाने का निषेध और स्फुट पद्यों में पात्रानुसार विद्या-दान का उल्लेख कई नीतिकाव्यों में किया गया है।

६. **स्त्री** : पीछे हम कह चुके हैं कि शृंगारी कवियों ने, भोग्या होने के कारण स्त्री की पर्याप्त प्रशंसा की है परन्तु स्त्री होने के नाते उसके महत्त्व पर कोई स्वतन्त्र काव्य इस काल में नहीं लिखा गया। जैन मुनियों तथा गिरिधर कविराय ने ग्रन्थात्म मार्ग

में विघ्नरूप होने के कारण स्त्री को निंद्य कहा है। अज्ञातकर्तृक “त्रीयविनोद चरित्र” में एक कुलटा की कथा है जो रहस्य प्रकट हो जाने पर आत्मघात कर लेती है। लाल-चन्द ने “छिनाल पच्चीसी” में उन हाव-भावों का उल्लेख किया है जिनके द्वारा कुच-रित्र कामिनियां मुख्य और कामुक जनों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। बांकी-दास ने “वैसक वार्ता” में वेश्याओं के प्रेम की अविश्वसनीयता का उल्लेख करते हुए वेश्यागमन के दोषों का सविस्तर वर्णन किया है। तात्पर्य यह कि पातिव्रत और पतिव्रता के प्रशंसा-विषयक स्फुट पद्य तो उपलब्ध होते हैं परन्तु स्वतन्त्र काव्य एक भी नहीं दिखाई देता।

७. वर्ण-व्यवस्था और जातिपाति : नीतिकवियों ने ब्राह्मणों और शूद्रों के विषय में तो किसी स्वतन्त्र काव्य की रचना नहीं की परन्तु सूर छत्तीसी, सीह छत्तीसी, वीर-विनोद आदि उपयुक्त ग्रंथ क्षत्रिय-विषयक ही हैं। जहाँ इन काव्यों में क्षत्रियों की वीरता की प्रशंसा है वहाँ बांकीदास-कृत “वैसवार्ता” में वेश्यों की उनके कपट-पूर्ण वणिज-व्यापार के कारण अत्यधिक गरीबी की गई है। शूद्रों के व्यवसायों की चर्चा तो “दंपतिवाक्य विलास” में खूब की गई है परन्तु स्वतन्त्र काव्य एक भी दिखाई नहीं देता। अलवत्ता क्षत्रिय और दासी के संयोग से जात विदुरों को, जो दण्डनकर, कायर और दुर्वृत्त होकर भी, क्षत्रियों में परिगणित किये जाने की अभिलाषा रखते हैं, बांकीदास ने “विदुरवत्तीसी” में आड़े हाथों लिया है। जैन कवि जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था का विरोध करते हैं परन्तु हिन्दू नीतिकवियों की उसमें आस्था दिखाई देती है। जात-पात के भूत से जैन कवि भी मुक्त दिखाई नहीं देते। जहाँ संस्कृत-कवि “कन्यारत्नं दुष्कुलादपि” कह कर सुरुष और सुगुण कन्या को कहीं से भी लेने के समर्थक थे, वहाँ बुधजन वर्जित कुल की बाला से व्याह का निषेध करते हैं। इसी प्रकार गिरिधर कविराय भी जहाँ ब्रह्म के जिज्ञासुओं के लिए वर्णाश्रम विवेक की आवश्यकता नहीं समझते, वहाँ खान-पान के समम जात, वरन और कुल का विचार कर लेने की प्रेरणा करते हैं।

फुटकर : सामाजिक नीति पर लिखित उपयुक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक सामाजिक विषयों पर छिटपुट रूप से पद्य भी रचे गये। उदाहरणार्थ, कायस्थ-निन्दा, मुन्गी कसाई की कलम, सुपंचों की स्तुति, कुपंचों की कुत्सा, विप्र रसोइए की गरीबी, मूर्ख के समक्ष विद्वान् की विवशता, समर्थ की चाल-ढाल की लोक-विपरीतता, सुन्दर-नामों की वांछनीयता तथा आडम्बरमय नामों का परित्याग, स्वाधीनता, पराधीनता, शहरी मित्र, सभाविगाड़, कंफ़ी (शराबी), घर में नारी प्रधान, रोवती सूरत आदि। गुपाल कवि के “दंपतिवाक्य-विलास” तथा रघुराम के ‘सभासार नाटिक’ से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि सामाजिक नीति के क्षेत्र में भी ये नीति-काव्य पूर्णतः जागरूक थे।

आर्थिक नीति—अन्य कवियों का तो कहना ही क्या, इस काल की जैन गृहस्थों

और मुनियों द्वारा रचित कृतियों में भी वित्त का महत्त्व मुक्तकंठ से स्वीकृत किया गया है। धनोपलब्धि प्रधानतः कृषि, वाणिज्य तथा कलाकौशल द्वारा होती है और इन तीनों ही पर स्वतन्त्र रचनाएँ इस काल में प्राप्त हैं। कृषि के विषय में घाष की पद्यात्मक लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध ही हैं। सुखदेव ने वाणिज्यनीति में धन की प्राप्ति और रक्षा के उपायों का सविस्तर उल्लेख किया है। गुपाल कवि के दम्भति-वाक्यविलास में दर्जनों व्यवसायों के गुणदोषों को सरस रीति से प्रकट किया गया है। आश्चर्य और प्रशंसा की बात यह है कि इस ऐहिकता-प्रधान काल के कवियों ने भी धन को चौर्य, छूत, घूस आदि अनुचित उपायों से प्राप्त करने की प्रेरणा प्रायः नहीं की। जहाँ कई स्थलों पर धनजनित चिन्ताओं का उल्लेख भी किया गया है वहाँ संतोष की प्रशंसा में बांकीदास ने “सन्तोषबावनी” तथा मानिकदास ने “सन्तोष सरतस” नाम की स्वतन्त्र काव्यकृतियों की रचना की है। जो धनाढ्य होकर भी अपनी सुख-सुविधा के लिए न व्यय करते हैं और न दान-पुण्य द्वारा दूसरों की सहायता, उन्हें इन कवियों ने बुरी तरह कोसा है। बांकीदास के “कृपणदर्पण” तथा “कृपणपच्चीसी” में कृपणों का खूब उपहास किया गया है तथा उन्हीं की “दातार बावनी” में दानियों की प्रचुर प्रशंसा है। किसी अज्ञात कवि ने “दातार सूर नौ संवाद” में दानी को वीरों से भी श्रेष्ठ सिद्ध किया है। इन स्वतन्त्र काव्यों के अतिरिक्त दान न देने के दुष्परिणाम, याचक-निन्दा, धन-प्राप्ति के लिए क्वचित् अनुचित उपायों का प्रयोग, उध, लबार, विवेकी और कलियुग के दानी, धन ही सर्वोत्तम गुण, घूसखोरी, नीयत के अनुसार बरकत, जीर्ण-शीर्ण वस्तुओं के दानी, उपवास तथा विरेचन के बाद तुलादान करनेवाले व्यक्ति आदि आर्थिक विषयों पर भी बहुत मार्मिक काव्य-रचना स्फुट पद्यों के रूप में प्राप्त होती है। इससे सिद्ध होता है कि रीतिकालीन कवियों की दृष्टि धन-सम्बन्धी विषयों पर अनायास ही जा पड़ती थी।

इतरप्राणि-विषयक नीति—जैन कवियों की कृतियों में जीवदया, मांसभक्षण तथा आखेटादि का प्रबल निषेध होना स्वाभाविक है। राजपूत नरेशों के आश्रित हिन्दू कवियों ने इस विषय पर प्रायः मौन धारण ही उचित समझा है। इन विषयों पर कोई स्वतन्त्र काव्य तो लक्षित नहीं होता, मनरंगलाल के “सप्तव्यसन चरित”, भीम की “सप्तव्यसन दूहा-कुंडलिया”, सूरत की “बारहखड़ी” आदि में स्फुट पद्य पर्याप्त दिखाई देते हैं। सुरा, भांग, अफीम, चरस, पोस्त, हुक्का, गाँजा आदि मादक द्रव्यों के दोष भी अनेक कवियों ने स्फुट पद्यों के रूप में लिखे हैं।

मिश्रित नीति—रीतिकालीन नीतिकाव्यों में देश, काल, धर्म, भाग्य, संसार, शकुन, ज्योतिष, मृत्यु, धर्म परलोकादि अनेक विषयों की चर्चा की गई है। भूमि के उपकारों का भी उल्लेख किया गया है और निवास-योग्य स्थान का भी। प्रवास के सुख-दुःखों की भी चर्चा उपलब्ध होती है और मरुभूमि में वर्षा जल के लिए होड़ की भी। काल-विषयक नीति में जहाँ समय के मूल्य को स्वीकार किया गया है वहाँ अवसर

के महत्त्व को भी । सत्ययुग से लेकर कलियुग पर्यन्त धर्म और सत्य क्रमशः क्षीण होते जाते हैं, इस परंपरागत भावना का त्याग ये कवि भी नहीं कर सके । चाचा हित-वृन्दावनदास की “कलिचरित्र वेलि” तथा रसिकगोविन्द के “कलिजुग रासो” में अनेक पारिवारिक तथा सामाजिक कुरीतियों का कारण कलियुग कहा गया है और उनसे रक्षा के लिए कृष्ण का आह्वान किया गया है । आदिकाल तथा भक्तिकाल की अपेक्षा इस काल में भाग्य की निस्वत उद्यम पर बांकीदास ने अपने वीरता-परक काव्यों में अधिक बल दिया है । गोपाल चानक ने “कर्मशतक” में भाग्य को कर्म के अधीन भी कहा है परन्तु कर्म-रेखा की अमार्जनीयता को स्वीकार किया है । आशय यह है कि उद्योग और पुरुषार्थ के महत्त्व की जितनी अधिक आज्ञा इस युग से अपेक्षित थी, उतनी लक्षित नहीं होती । परम्परा से तो भाग्यवाद प्राप्त था ही, शताब्दियों की राजनीतिक पराधीनता भी उसे अक्षुण्ण रखने में सहायक हुई हो तो आश्चर्य नहीं । सांसारिक सुख भोगने की जितनी प्रेरणा शृंगारिक कवियों में है, उतनी हिन्दू नीति-कवियों में नहीं; जैन नीति-कवियों में तो उसकी मात्रा और भी कम है । एक भी ऐसा पद्य दिखाई नहीं देता, जिसमें जीवन की अवधि को अनिश्चित मानकर दीर्घजीवी बनने की प्रेरणा की गई हो । जो भी कुछ रोगोपचार किये जाते हैं, वे दुःख-निवारण मात्र के लिए हैं, आयु तो न तिल भर घटती है और न राई भर बढ़ती है । शृंगारिक कवियों की अपेक्षा इनमें ईश्वर, धर्म और परलोक में आस्था अधिक है परन्तु परिहास के रूप में विधाता की कई भूलें इन्होंने पद्यबद्ध कर ही दी हैं । “मजहब” के दोष और “मजहबी” लोगों की मत्तान्धता का जो खंडन गिरिधर कविराय ने किया है, वह तो अनुपम ही माना जायगा । बांकीदास की “नीतिमंजरी” में “राजनीति” प्रधान है परन्तु सामान्य लोगों को भी उससे “शत्रु के प्रति ईंट का जवाब पत्थर” से देने की तथा उसे जैसे-तैसे परास्त करने की प्रेरणा अनायास ही प्राप्त होती है । शकुन और फलित-ज्योतिष में जैसा विश्वास आदिकाल और भक्तिकाल में जगनिक, जायसी, तुलसीदास आदि की रचनाओं में पाया जाता था वैसा ही इस काल में भड्डरी की कहावतों में देखा जा सकता है परन्तु अन्य कवियों में वह अपेक्षाकृत कम है ।

वर्ण्य विषय के प्रसंग में अन्त में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि यद्यपि रीति-कालीन नीतिकवियों में आदर्श व्यवहार के पद्य भी विद्यमान हैं तथापि इस काल की प्रमुख विशेषता है व्यावहारिकता की अधिकता जो निम्नांकित प्रकार की नीतियों से स्पष्ट हो जाती है—सरल और कुटिल में मिलाप नहीं होता, शत्रु छल-बल से जेतव्य है; अति घनिष्टता अनादर का कारण है; बलवान् निर्बल का सहज शत्रु है; लोकापवाद से डरना ही उचित है, बुरे से भी कभी हित हो ही जाता है; वहाँ जाओ जहाँ से लौट कर आ सको; निर्यल के पास उत्कृष्ट गुण का होना आपत्ति-जनक होता है; भलाई का फल भी बुरा हो जाता है; जैसे-तैसे स्वार्थ सिद्ध करना चाहिए; यथा-सम्भव किसी को रुष्ट न करना चाहिए; मूढ़ ही सज्जन-दुर्जन में समदर्शी होते हैं;

निस्तेज व्यक्ति की अवज्ञा होती ही है; उन्नति कठिन है और अवनति सहज; इत्यादि। कहना न होगा कि इस प्रकार के ऐहिक विषयों की बहुलता तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों और कवियों की आत्मानुभूति का ही परिणाम है।

रस और भाव—रसों और भावों की व्यंजना की दृष्टि से भी रीतिकालीन अधिकतर रचनाएँ उपेक्ष्य नहीं हैं। यद्यपि वात्सल्य रस को छोड़ सभी रसों की व्यंजना हुई है तथापि प्रमुख स्थान हास्य, वीर और शान्त रस का है। बांकीदास ने कृपण-पच्चीसी तथा कृपणदर्पण में कृपणों को, मावड़िया मिजाज में स्त्री-स्वभाव के पुरुषों को, कुकवि बत्तीसी में कुकवियों को, कायर बावनी में भीरु जनों को और वैस-वार्ता में वैश्यों को हास्य का आलंबन बनाया है। गुपालकवि ने दंपतिबावयविलास में विविध ग्रन्थम व्यवसायियों को, रघुराम ने सभासारनाटिक में विभिन्न दुर्जनों तथा शहरी मित्र को चाचा हितवृन्दावन दास ने कलिचरित्र केली में और देवपाण्डे ने सास-बहू का भगड़ा में घरफोड़ बहू को उपहासास्पद चित्रित किया है। वीर रस के भेदों में से युद्धवीर तथा दानवीर की व्यंजना ही अधिक दिखाई देती है। बांकीदास की सूरछत्तीसी, सीहछत्तीसी और वीर विनोद में तथा गोपाल चानक के वीर शतक में युद्धवीर सम्पक् व्यंजित हुआ है। बांकीदास की दातारबावनी तथा मुजस-छत्तीसी और अज्ञातनामा कवि के “दातार सूर नो संवाद” में दानवीर अच्छा प्रस्फुटित हुआ है। दीनदयाल गिरि, गिरिधर कविराय तथा जैन लेखकों में शान्त रसका आधिक्य है। रघुनाथ की “दुष्टगंजन पंचावनी” में रौद्र रस तथा बांकीदास की वीरतात्मक कृतियों में रौद्र, बीभत्स, अद्भुत और भयानक रस की अभिव्यक्ति यत्र-तत्र हुई है। भावों में से, जसराज, भगवतीदास, गिरिधर कविराय आदि की रचनाओं में निर्वेद, “बाईस परीक्षा” में धृति, दोपक बत्तीसी, शीलबत्तीसी, प्रेमरत्नाकर आदि में रति, सन्तोष बावनी, संतोष-सुरतरु आदि में सन्तोष, पंचेन्द्रिय-संवादादि में ईर्ष्या, गुरु महिमा में गुरुभक्ति और धवल-पच्चीसी में स्वामिभक्ति आदि भाव सुष्ठु अभिव्यक्त हुए हैं।

गुण-दोष—इस काल की नीति-विषयक रचनाएँ प्रसाद, भोज और माधुर्य तीनों ही गुणों से युक्त दिखाई देती हैं। प्रसाद तो प्रायः सार्वत्रिक है। बांकीदास, गोपालचानक, रघुनाथ आदि की रचनाओं में भोज तथा दीनदयाल गिरि, भैया भवतीदास, भूधरदास, गुपाल कवि आदि की रचनाओं में माधुर्य की मात्रा पर्याप्त है। नीति के फुटकर कवियों में प्रमुख कवियों की अपेक्षा इन गुणों की न्यूनता है। प्रमुख कवियों में तो अपनी रचनाओं को यथा-सम्भव शास्त्रीय दोषों से मुक्त रखने का उद्योग किया है। परन्तु फुटकर कवियों में हतवृत्तत्व, अधिक-पदत्व, न्यूनपदत्व आदि दोष यत्र-तत्र पाये ही जाते हैं।

भाषा—रीतिकालीन नीतिकवियों की कृतियाँ दो भाषाओं में प्राप्त हैं—ब्रज-भाषा और राजस्थानी। दीनदयाल गिरि, भूधर दास, भगवती दास, रघुराम आदि

राजस्थान से बाहर रहने वाले कवियों की कृतियाँ ब्रजभाषा में हैं। राजस्थान-वासी वृन्द, देवीदास आदि कुछ कवियों ने अपनी रचनाएँ ब्रजभाषा में लिखीं और बांकीदास, नाथिया, कृपाराम आदि ने राजस्थानी में। लक्ष्मीवल्लभ, धर्मसिंह आदि जैन मुनियों की रचनाएँ राजस्थानी और ब्रजभाषा दोनों में प्राप्त होती हैं। उनकी पिगल-रचनाओं में भी राजस्थानी का पुट विद्यमान रहता है। राजस्थान के कवियों की कृतियों में, विशेषतः राजाश्रित कवियों की कृतियों में, फारसी, अरबी आदि के नफो (नफा), खारच (खारिज), पोसाक आदि तद्भव शब्द अन्यप्रान्तीय लेखकों की कृतियों की अपेक्षा कुछ अधिक ही लक्षित होते हैं। राज-दरबारों में यवन-संस्कृति का प्रभाव ही इसका कारण प्रतीत होता है। कुछ मुनियों की भाषा में, उनके देशाटन के कारण, पंजाबी आदि के भी शब्द दृष्टिगत होते हैं। रण, रुदन, दर्पण, आदि के स्थान पर रण्य, रुदन, द्रपण आदि में स्त्रिय व्यंजनों का प्रयोग भी राजस्थान के कवियों की रचनाओं में, चंदादि की परम्परा के अनुरार, दिखाई देता है। अधिकतर कवियों ने अपनी भाषा को सुबोध ही रखने का यत्न किया है परन्तु कई कवियों ने बीच-बीच में हास्यास्पद टूटी-फूटी संस्कृत के श्लोक भी रख दिये हैं। प्रमुख कवियों की भाषा साफ सुथरी तथा सुगठित है परन्तु अधिकतर फटकर कवियों में भरती के तथा विकृत शब्द भी अनेकत्र देखे जा सकते हैं। कुशल कवियों ने भाषा को प्रभविष्णु बनाने के लिए रुढ़ियों और लोकोक्तियों का भी अवलम्ब ग्रहण किया है।

काव्य-विधान—यद्यपि इस काल में रघूराम-कृत 'सभासार नाटिक' नाम से दृश्य काव्य का आभास देता है परन्तु आधुनिक दृष्टि से वह श्रव्य काव्य ही है। प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक के अनुवाद किये गये परन्तु वे अध्यात्मप्रधान हैं। नीति की शेष रचनाएँ तीन वर्गों में विभाज्य हैं—१. मुक्तक २. प्रबन्ध ३. निबन्ध।

१. मुक्तक-काव्य—इस काल में नीति-विषयक जो रचनाएँ प्रस्तुत की गई उनमें संख्या और कवित्व की दृष्टि से मुक्तक का ही स्थान श्रेष्ठ है। जसराज, भैया भगवतीदास, वृन्द, धर्मसिंह, गोपाल चानक, भूधरदास, गिरिधर कविराय, गणपति भारती, कृपाराम बारहठ, बांकीदास, बुधजन, दीनदयाल आदि के नीति-मुक्तक हमारे साहित्य के शीवर्द्धक हैं। वास्तुतः नीति की बात जितने मार्मिक ढंग से मुक्तक में कही जा सकती है, कश्चित् उसी ढंग से प्रबन्धकाव्य में नहीं। नीति-विषयक प्रबन्ध-काव्य की रचना भी असम्भव तो नहीं परन्तु वैसा प्रतिभाशाली कवि इस काल में कोई दिखाई नहीं देता। अस्तु, मुक्तकों के रचयिताओं ने अपनी रचनाएँ संग्रह-रूप में कीं और संगृहीत पद्यों की संख्या के अनुरूप उन्हें पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, पंचावनी, सत्तरी, बहत्तरी, शतक, अष्टोत्तरी (१०८ पद्यों की रचना) और सत्सई नाम दिये। पद्य, कथा आदि की संख्या के अनुसार कृतियों का नामकरण भारत में चिरकाल से प्रचलित है। ललितापंचकम्, गंगाष्टकम्, न्यासदशकम्, वीरविंशतिका, सिंहासन-द्वात्रिंशिका, चौरपंचाशिका, शुक्ल-सप्तति, नीतिशतकम्, गाहा-सत्सई आदि

संस्कृत और प्राकृत की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इन्हीं के अनुकरण पर नीतिकाव्य-कारों ने भी अपनी पच्चीसी, वत्तीसी, छत्तीसी, वावनी, शतक आदि की रचना की। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसे संग्रहों में पद्य न्यूनाधिक भी दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ, गोपाल चानक के पूर्वोक्त चारों शतकों में से किसी एक की भी पद्य-संख्या स्वनाम को सार्थक नहीं करती।

१. प्रबन्ध काव्य—इस वर्ग के अन्तर्गत गुपाल कवि के ‘दंति वाक्य विलास’, रघुराम के ‘सभासार नाटिक’, मनरंग लाल के ‘सप्तव्यसन चरित’ और अज्ञातकर्तृक ‘श्रीयाविनोद चरित्र’ को रखा जा सकता है। ये कृतियाँ आकार तथा प्रबन्ध की दृष्टि से निम्नलिखित निबन्धकाव्यों से उत्तम हैं।

३. निबन्ध काव्य—भैया भगवतीदास का ‘पंचेन्द्रिय संवाद’, देवा ब्रह्म का ‘ढाल मधु बूंद’, और ‘सास-बहू का झगड़ा’ आदि रचनाएँ इस वर्ग के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

सामान्य रूप से कह सकते हैं कि प्रबन्धात्मक और निबन्धात्मक रचनाओं की अपेक्षा मुक्तक रचनाएँ अधिक कवित्वपूर्ण और प्रभविष्णु हैं परन्तु उपर्युक्त ‘दंपति-वाक्य विलास’ और ‘सभासार नाटिक’ अपवाद-स्वरूप हैं।

शैली—रचनाओं की संख्या के समान ही शैली की दृष्टि से भी रीतिकाल पूर्ववर्ती कालयुग की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। इसमें निम्नांकित शैलियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है— १. तथ्यनिरूपक २. उपदेशात्मक ३. ऐतिहासिक ४. शब्दावर्तक ५. संख्यात्मक ६. संवादात्मक ७. कथात्मक ८. रूपक काव्य शैली ९. अन्याप-देशात्मक १०. व्याख्यात्मक ११. सम्बोधनात्मक १२. व्यंग्यात्मक १३. कक्का शैली।

इनमें से प्रथम चार शैलियों के निदर्शन तो वृन्द, गोपाल चानक आदि कवियों की रचनाओं में सुलभ हैं। स्यामदास के ‘हितोपदेश में संख्यात्मक शैली, गुपाल कवि के ‘दंपतिवाक्यविलास’ में संवादात्मक शैली, मनरंगलाल के ‘सप्तव्यसन चरित’ में कथात्मक शैली, भगवतीदास के ‘पंचेन्द्रियसंवाद’ में रूपक शैली, बांकीदास की ‘सीह छत्तीसी’ में अन्यापदेशात्मक शैली, दीनदयाल गिरि के ‘अन्योक्ति कल्पद्रुम’ में संबोधनात्मक शैली बांकीदास की ‘कृपण पच्चीसी’ में व्यंग्यात्मक शैली, सूरत की ‘बारह खड़ी’ में कक्का शैली आदि का प्रयोग सहज ही देखा जा सकता है। प्रायः इन सभी शैलियों का न्यूनाधिक प्रयोग संस्कृतादि प्राचीन भाषाओं के नीतिकाव्य में देखा जा चुका है। आश्चर्य तो यह है कि इन कवियों का पन्द्रह तिथि, सप्तवार आदि शैलियों में रचित कोई ग्रंथ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया।

छंद—रीतिकालीन नीति कवियों ने मुख्यतः दोहा, सोरठा, कवित्त, रावैया, छप्पय और कुंडलिया छन्दों का प्रयोग किया है। चौपाई, चौबोला त्रिभंगी, मालिनी, ढाल, पदरि आदि छन्दों का भी कहीं-कहीं प्रयोग दिखाई देता है। अधिकतर प्रयोग मात्रिक छन्दों का ही किया गया है परन्तु रघुराम ने ‘मालिनी’ वर्णावृत्त का भी व्यव-

हार किया है। कई कवियों ने एक-एक कृति में अनेक छन्दों का व्यवहार किया है, कई ने एक-एक कृति में एक ही छन्द का। जैसे, धर्मसिंह की छप्पय बावनी में केवल छप्पय छंद प्रयुक्त किया गया है तो 'सभसार नाटक' में अनेक छन्दों का। फिर कई कृतियों के नाम से छन्दों में भ्रम होने की भी सम्भावना है क्योंकि काल और प्रदेश के कारण छन्दों के नाम भी परिवर्तित हो चुके हैं। उदाहरणार्थ, लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय तथा जिनहर्ष (जसराज) की कदिस-बावनियों में छप्पय का प्रयोग दिखाई देता है। पृथ्वीराज रासो में 'छप्पय' के अर्थ में 'कवित्त' का प्रयोग देख ही चुके हैं। इसी प्रकार जिनहर्ष की मातृका-बावनी में सबैये को कवित्त तथा अनेक कवियों की रचनाओं में कवित्त को इक्तीसा सबैया कहा गया है। धर्मसिंह की कुंडलिया-बावनी में कुंडलिया की समाप्ति पर सातवें चरण के रूप में प्रथम चरण के कुछ शब्दों की आवृत्ति टेक के समान की गई है। इससे अनुमान होता है कि कुंडलिया के सस्वर पाठ के पश्चात् प्रथम चरण को दोहराया जाता होगा। गोपाल चानक के 'कीर्तिशतक' में अन्त्यानुप्रास चौबोला के चारों चरणों में न होकर, केवल प्रथम और द्वितीय में तथा तृतीय और चतुर्थ में है। बांकीदास ने नीतिमंजरी में 'वड़ो दुहो' और 'दोहो तुवरौ' का भी प्रयोग किया जिनके लक्षण बांकीदास के विवरण में दिये जा चुके हैं।

अलंकार—चूंकि नीति-कवियों का मुख्य उद्देश्य भावोन्मेष नहीं, पाठकों के मन पर नैतिक अर्थों को अंकित करना होता है इसलिए इनकी रचनाओं में अर्थालंकारों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। तो भी अनुप्रास, लाटानुप्रास, वीप्सा तथा यमक का व्यवहार यत्र-तत्र दिखाई देता ही है। अर्थालंकारों में से दृष्टान्त और अन्योक्ति का प्रयोग अर्थों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है क्योंकि दृष्टान्त-समर्थित नीति अधिक हृदयग्राही हो जाती है और अन्योक्ति व्यंग्यार्थ के विशेष चमत्कार से हृदय को तुरन्त आल्लादित कर देती है। वैसे तो अधिकतर कृतियों में दृष्टान्त और अन्योक्तियाँ यत्र-तत्र दिखाई देती ही हैं, परन्तु भगवतीदास की दृष्टान्त-पच्चीसी, वृन्द-सतसई और दीनदयाल की दृष्टान्त-तरंगिणी में दृष्टान्तों की तथा गणपति भारती के अन्योक्ति-दण्डन, बांकीदास की सीह-रत्तीसी और धवल-पच्चीसी तथा दीनदयाल के कल्पदुम में अन्योक्तियों की छटा देखते ही बनती है। शेष अर्थालंकारों में से उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा, आवृत्ति दीपक, निदर्शना और अर्थान्तर-न्यास का प्रयोग अधिक दिखाई देता है।

रीतिकालीन नीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ

१. नीति के जितने कवि इस काल में प्रस्फुरित हुए, उतने न आदि काल में न भक्ति काल में।
२. नीतिविषयक जितनी मौलिक, अनूदित, संग्रहात्मक तथा स्फुट कृतियाँ इस काल में प्रस्तुत की गईं, उतनी किसी अन्य काल में नहीं।
३. इतर-प्राणिविषयक नीति को छोड़कर सब प्रकार की नीति पर अनेक

स्वतंत्र काव्यों का प्रणयन किया गया ।

४. शारीरिक स्वास्थ्य, रोगनिवारणादि पर यथेष्ट बल दिया गया तथा वाचिक नीति पर स्वतंत्र काव्यों की रचना हुई ।
५. बीरता, कायरता, कीर्ति, प्रेम और संयम पर अनेक काव्यों का निर्माण हुआ ।
६. पारिवारिक जीवन उपेक्ष्य नहीं रहा, काम्य बन गया ।
७. स्वामी, सेवक, सुकवि और कुकवि पर अत्यधिक रचना हुई ।
८. दुष्ट जन उपेक्ष्य और क्षम्य नहीं रहे, ताड़न और अभिशापों के पात्र बने ।
९. शृंगारी कवियों को छोड़कर प्रायः सभी कवियों का जन्ममूलक बर्णव्यवस्था तथा जात-पात में विश्वास पाया जाता है ।
१०. वेश्यावृत्ति तथा कुलटात्व के विरोध में तो काव्य लिखे गये परन्तु स्त्री के महत्त्व का परिचायक कोई स्वतंत्र काव्य दिखाई नहीं देता ।
११. धन के महत्त्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकृत किया गया परन्तु अनैतिक उपायों से उसके उपार्जन का प्रायः निषेध किया गया ।
१२. वदान्यता की प्रशंसा तथा क्रूरता की निन्दा पर कई काव्य प्रणीत हुए ।
१३. मांस, मुरा, अफीम आदि मादक द्रव्यों का अ-राजाश्रित कवियों, विशेषतः जैन कवियों ने उग्र खण्डन किया ।
१४. आदर्श की अपेक्षा दृष्टि व्यवहारिकता पर अधिक केंद्रित रही । देश, काल, पात्रादि को देख कर उचित व्यवहार की शिक्षा दी गई ।
१५. उद्यम के महत्त्व का तो पर्याप्त वर्णन किया गया परन्तु भाग्य को अभिभूत करने की शक्ति उस में नहीं दिखाई गई ।
१६. जैन कवियों की अपेक्षा अर्जन कवियों ने सांसारिक सुखों को अधिक भोग्य कहा ।
१७. शकुन, ज्योतिष, कलियुग आदि के प्रभाव में आस्था इस काल में भी क्षीण नहीं हुई ।
१८. प्रमुख कवियों की रचनाएँ प्रायः सरस और भावपूर्ण हैं तथा उन में हास्य, वीर और शान्त रस प्रमुख हैं ।
१९. अधिकतर रचनाएँ ब्रजभाषा और राजस्थानी में की गई । कुछ एक रचनाओं में गुजराती, पंजाबी आदि के भी शब्द विद्यमान हैं ।
२०. यद्यपि प्रबन्ध और नियन्ध रूप में भी काव्य-रचना हुई तथापि प्राधान्य मुक्तक रचनाओं का ही है ।
२१. अधिकतर रचनाएँ पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी आदि के रूप में की गई परन्तु छन्दों की संख्या अक्षरशः नामानुसारिणी नहीं है ।
२२. अन्य छन्दों की अपेक्षा दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय और कुंडलिया

छन्दों का प्रायोग बहुत अधिक किया गया ।

२३. अन्य अलंकारों का तो प्रयोग हुआ ही, दृष्टान्त और अन्योक्त पर तो स्वतंत्र काव्यों की भी रचना हुई ।
२४. सप्तवार और पन्द्रह-तिथि शैलियों के अतिरिक्त प्रायः पूर्वोक्त सभी शैलियाँ व्यवहृत की गईं । सम्बोधनात्मक शैली तो इसी काल में दिखाई दी ।
२५. ऐहिकता की प्रधानता के कारण सामान्य जनों के लिए जितना उपयोगी इस काल का नीतिकाव्य है, उतना किसी अन्य काल का नहीं ।

पूर्ववर्त्ती नीति-काव्य का हिन्दी-नीतिकाव्य पर प्रभाव

प्रायः प्रत्येक साहित्य अपने पूर्ववर्त्ती साहित्यों का किसी-न-किसी रूप में न्यूनाधिक मात्रा में ऋणी होता है। जहाँ वह पूर्ववर्त्ती साहित्यों से भाव, भाषा, शैली, छन्द, अलंकार आदि कई बातें ग्रहण करता है, वहाँ परवर्त्ती साहित्यों को अपनी कतिपय विशेषताओं से प्रभावित भी करता है। हिन्दी का नीति-काव्य भी उक्त नियम का अपवाद नहीं है। वह भाव, भाषा, रस, अलंकार, विधान, शैली और छन्द सभी क्षेत्रों में पूर्ववर्त्ती साहित्यों का थोड़ा-बहुत ऋणी है ही।

(१) भाव—वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में वैदिक तथा संस्कृत-नीतिकाव्य में शरीर की पवित्रता, दीर्घायु, स्वास्थ्य तथा आत्म-रक्षा पर बहुत बल दिया गया है। संपत्ति, पत्नी और पृथ्वी का परित्याग करके भी अपनी रक्षा की प्रेरणा की गई है। पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के नीति-काव्यों में प्रायः शरीर को मलिन, दुर्गन्धमय और नश्वर बताकर उसकी उपेक्षा पर ही बल दिया गया है। हिन्दी नीतिकाव्य इन दोनों ही विचारों से प्रभावित है। वीर-काव्यों के रचयिताओं ने यश की तुलना में शरीर को नगण्य कहा है; भक्तिकाल के अधिकतर कवियों ने काया को कलुषित और नश्वर कह-कह कर उसकी उपेक्षा पर बल दिया है और नीति-कालीन कवियों ने उसे स्वस्थ तथा चिरायु बना कर सुख भोगने की प्रेरणा की है।

मानसिक नीति के क्षेत्र में भी इसी प्रकार का प्रभाव-भेद दृष्टिगत होता है। जहाँ वैदिक तथा संस्कृत-नीति-काव्य विद्या-माहात्म्य का बखान करते-करते नहीं थकते और सन्तान को निरक्षर रखने वाले जनकों को वैरी और शत्रु कहते हैं वहाँ आत्म-साक्षात्कार पर अत्यधिक बल देने वाले प्राकृत व अपभ्रंश के कवि पोथी-पंडितों की उपेक्षा ही हितकर समझते हैं। इस क्षेत्र में हिन्दी-सन्त-कवि प्राकृत तथा अपभ्रंश कवियों के अधिक ऋणी हैं और अन्य कवि संस्कृत-नीतिकाव्य के।

आत्मिक क्षेत्र में सच्चरित्रता और सद्गुणों के महत्त्व पर उपर्युक्त सभी साहित्य सहमत हैं। हिन्दी-नीतिकाव्य इस क्षेत्र में उक्त सभी साहित्यों का समान रूप से ऋणी है।

२. पारिवारिक नीति—पारिवारिक नीति के क्षेत्र में यद्यपि हिन्दी के पूर्ववर्त्ती सभी साहित्यों में माता-पिता को पूज्य, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य, बहिन-भाइयों को स्नेह-पात्र तथा पत्नी को जीवन-सखा कहा गया है तो भी पालि आदि के नीतिकाव्य

में इन सभी सम्बन्धों को मोक्ष-मार्ग का बाधक और बन्धन कह कर आत्मसाधना को ही श्रेयस्कर माना है। हिन्दी का पारिवारिक नीतिकाव्य अधिकांश में पालि आदि से ही प्रभावित है। वह इन सम्बन्धों को तत्त्वतः झूठा मानता हुआ भी इनके निर्वाह की यत्किञ्चित् प्रेरणा करता है। वीरकाव्य, रामकाव्य तथा रीतिकालीन काव्यों में पारिवारिक कर्तव्य निबाहने की प्रेरणा अधिक दिखाई देती है।

३. सामाजिक नीति—वैदिक नीतिकाव्य तो गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था मानता और चारों वर्णों से प्रेम करने की शिक्षा देता है, परन्तु परवर्ती संस्कृत-काव्य में वर्ण-व्यवस्था उत्तरोत्तर जन्म-मूलक होकर जात-पात का रूप धारण कर गई। ब्राह्मण अत्यन्त पूज्य हो गये तथा शूद्र अत्यन्त हेय और अछूत। जन्म से ऊँच-नीच मानने के सिद्धान्त का खण्डन पालि तथा प्राकृत नीतिकाव्यों में उपलब्ध होता है। अपभ्रंश-नीति-काव्य में फिर जात-पात अपना सिर उठाती हुई दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी के सामाजिक नीतिकाव्य में दोनों ही विचारधाराएँ लक्षित होती हैं। नाथों तथा सन्तों ने जन्म-मूलक भेद-भाव का तीव्र खण्डन किया तो तुलसी आदि ने जन्म-मूलक व्यवस्था तथा ऊँच-नीच का पुनः प्रतिपादन। कर्म-प्रधान और जन्म प्रधान दोनों ही विचार-धाराओं का प्रभाव हिन्दी-नीति-साहित्य में यत्र-तत्र लक्षित होता है।

स्त्री का स्थान—वैदिक नीति-काव्य में स्त्री सम्मान्य थी परन्तु उत्तरोत्तर उसका आदर कम होता गया। संस्कृत-नीति-काव्य की अपेक्षा भी उसका मान पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में न्यून हो गया। कारण, पालि आदि के साहित्य अधिकतर वैराग्य-प्रवण बौद्ध-जैन कवियों द्वारा रचित हैं और आध्यात्मिक साधनाओं में बाधक होने के कारण नारी उनमें निन्द्य मानी गई। हिन्दी नीति-काव्य में भी नारी का स्थान स्पृहणीय नहीं है। रीतिकालीन शृंगारी-काव्य में उसके रूप-लावण्य की प्रशंसा तो बहुत है परन्तु वहाँ वह भोग-सामग्री के रूप में प्रशंसा की पात्र बनी है, देवी के रूप में श्रद्धेय नहीं।

वेश्या—वेश्या-प्रथा चिरकाल से भारतीय समाज का एक कलंक रही है। आयु, बल, धन, प्रतिष्ठा आदि का नाशक होने के कारण वेश्यागमन का जैसा उग्र विरोध संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के नीति-कवियों ने किया, वैसी ही अभिव्यंजना प्रायः समूचे हिन्दी-नीतिकाव्य में भी हुई। यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं उनसे अनेक कलाओं की शिक्षा ग्रहण करने की भी प्रेरणा दिखाई देती है, क्योंकि उनका अनेक कलाओं में कुशल होना अनिवार्य माना जाता था।

गुरु—प्राध्यात्मिक और लौकिक पथ-प्रदर्शक होने के कारण गुरु और आचार्य भारतीय समाज में सदा ही विशिष्ट स्थान तथा सम्मान के अधिकारी रहे हैं। इसी कारण संस्कृत, पालि आदि के नीतिकाव्यों में उन्हें अनेकत्र अत्यन्त पूज्य कहा गया है। अक्षर-ज्ञान के दाता गुरु की अपेक्षा आध्यात्मिक रहस्य अवगत कराने वाला गुरु पूज्यतर माना गया है। हिन्दी-नीतिकाव्य ने गुरुपूजा की परम्परा तो पूर्ववर्त्ती काव्यों से ली,

परन्तु इसमें गुरु को कहीं तो भगवान् के समान मान्य कहा गया है और कहीं उससे भी अधिक पूज्य ।

राजा—प्राचीन भारत में राजा वंश-क्रमानुगत भी होते थे और प्रजा द्वारा निर्वाचित भी । वैदिक काव्य में नागरिकों को तेजस्वी तथा गुणी राजा निर्वाचित करने तथा उसे सहयोग देने की शिक्षा मिलती है । अत्याचारी राजाओं को सिंहासन-च्युत करने के उल्लेख भी उपलब्ध होते हैं । परन्तु जहाँ शासक वंश-क्रमानुगत होते थे, वहाँ प्रजा को उनका आदर-सम्मान करने की प्रेरणा ही दिखाई देती है क्योंकि राजा देवताओं के अंशों से निर्मित माना जाता था । उससे कुछ दूर रहने में ही मंगल माना जाता था क्योंकि क्रुद्ध काल एक को ही कवलित करता है, परन्तु कुपित नरेश समग्र वंश का ही उच्छेद कर देता है । अधिकतर हिन्दी-साहित्य की रचना विदेशीय स्वच्छन्द शासकों के काल में हुई जब “राजा करे सो न्याय” की उक्ति चरितार्थ होती थी । अतः उसमें राजाज्ञा के पालन पर विशेष बल दिया गया । शासक की निरंकुशता के कारण उस पर विस्वास न करने की शिक्षा भी दी गई ।

४. आर्थिक नीति—वैदिक काव्य में धन की उपादेयता की बार-बार अभिव्यक्ति हुई है, परन्तु पापाजित धन को नष्ट करने की उदात्त भावना भी लक्षित होती है । संस्कृत-नीति-काव्य में धन की प्रशंसा की तो प्रचुरता है परन्तु उपाजन, रक्षण, व्यय आदि में दुःखकर होने से कहीं-कहीं उसे निन्द्य भी कहा गया है । पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में कहीं-कहीं धन की प्रशंसा भी है परन्तु आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होने के कारण वह प्रायः बन्धन-रूप ही माना गया गया है । इन दोनों विचारधाराओं से प्रभावित हिन्दी-नीति-काव्य में धन की प्रशंसा और निन्दा दोनों ही मिलती हैं । भक्तिकाल के कवि जहाँ सम्पदा की निन्दा करते नहीं अघाते, वहाँ रीतिकालीन कवि प्रायः इसका गुणगान करते ही दिखाई देते हैं । लक्ष्मी की चंचलता और याचना की निन्दा करने में हिन्दी के नीति-काव्यकार पूर्ववर्ती साहित्यकारों से प्रभावित हैं ।

५. इतर-प्राणि-विषयक नीति—वैदिक काव्य में गौ आदि उपयोगी प्राणियों की रक्षा तथा सर्प आदि हानिकारक जीवों की हिंसा की प्रेरणा मिलती है । प्राणि-मात्र को मित्र की आँख से देखने का उपदेश भी विद्यमान है तो युद्ध में शत्रु-संहार भी कर्तव्य कहा गया है । संस्कृत-नीति-काव्य में मांस को मांस-वर्द्धक कहकर अनिवार्यता की अवस्था में मानव-जीवन के मूल्य को उनके जीवन से अधिक मूल्यवान् भी बताया गया है । पालि, प्राकृत आदि के साहित्यों में जीव-दया विशेष कर्तव्य, अहिंसा परम धर्म तथा मांस-भक्षण अत्यन्त निन्द्य हो गया है । हिन्दी का अधिकतर नीति काव्य इस क्षेत्र में पालि आदि से ही विशेष प्रभावित है ।

६. मिश्रित नीति—मिश्रित नीति के क्षेत्र में वैदिक काव्य उद्यम का ही प्रशंसक है, भाग्यवाद का नहीं । परन्तु परवर्ती संस्कृत-काव्य में उद्यम की प्रशंसा होते हुए भी दैव की अपरिहार्यता पर भी बल दिया गया है । आलस्य-परित्याग तथा सदुद्योग की

प्रेरणा पालि आदि के नीतिकाव्य में बहुत उपलब्ध होती है परन्तु “भाग्य की अमिट रेखा” का उल्लेख उनमें भी कम नहीं है। सामाजिक तथा आर्थिक विषयताओं का कारण पूर्वकृत कर्म माना गया है। संसार के मिथ्या, नश्वर और त्याज्य होने का विशेष उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। परन्तु परवर्ती संस्कृत, पालि आदि के साहित्यों में यह भावना बढ़ती गई है और सांसारिक भोग हेय माने गये हैं। स्थान और काल के महत्त्व का निरूपण संस्कृतादि के नीतिकाव्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। हिन्दी-नीतिकाव्यों पर इन सभी बातों का थोड़ा-बहुत प्रभाव निरसन्देह लक्षित होता है।

इसके अतिरिक्त कई नैतिक सुविचार समान रूप से संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी-भाषाओं में उपलब्ध होते हैं और बरबस यह मानने की प्रेरणा करते हैं कि एक सुन्दर विचार को विभिन्न भाषाओं के कवियों ने उत्तरोत्तर हम तक पहुँचाने का श्लाघ्य उद्योग किया है। जैसे, माँगने से मनुष्य हलका पड़ता है, इस नैतिक तथ्य को कवियों ने विष्णुवामन की कथा द्वारा यों व्यक्त किया है—

याचना हि पुरुषस्य महत्त्वं नाशयत्यखिलमेव तथा हि ।

सद्य एवं भगवानपि निष्णुर्दामनो भवति याचितुमिच्छत् ॥^१

बलि अबभत्यणि महमहरण लहुई हूआं सोइ ।

जइ इच्छहु बडत्तरणउं देहु म मगहु कोइ ॥^२

मांगे घटते रहीम पद, फिलौ करौ बड़ि काम ।

तीन पैग बसुधा करी, तऊ बायन नाम ॥^३

(७) भाषा—हिन्दी के नीति-कवि भाषा के क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती साहित्यों के आभारी हैं। इनके नीतिकाव्यों में से ऐसे सैंकड़ों पद्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनकी भाषा पर संस्कृतादि प्राचीन भाषाओं की अमिट छाप दिखाई देती है। उदाहरणार्थ—

(क) दैवं फलति सर्वत्र न विद्या। न च पौरुषम् ।

लघुद्रमंथनाल्लेमे हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम् ॥^४ (अज्ञात कवि)

भाग्य सर्वत्र फलत है, न च विद्या पौरुष सरल ।

हरि हर मिल सागर मथ्यो, हरको मिल्यो गरल ॥^५

(गिरधर कविराय)

(ख) हियडा संकुडि मिरिय जिम, इंदिय एसह निवारि ।

जित्तिउ पुज्जइ पंगुरण, तित्तिउ पाउ पत्तारि ॥^६ (सोमप्रभ)

१. सुभाषित रत्नाकर, पृष्ठ ७१।२४

२. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ १७४।६६

३. रहस्यन विलास, पृष्ठ १५।१४६

४. सु० २० भा०, पृष्ठ ६१।१०

५. गिरधर कविराय : कुंडलिया, पृष्ठ ३६।१०२

६. हि० का० बा०, पृष्ठ ४१०।१११

अनवी पहुँच बिचारि कै, करलब करियँ दौर ।

तेते पांव पसारिये, जेती लंबी सौर ॥^१ (वृन्द)

(८) रस — कवि का कोशल वर्ण्य-विषय को रसपूर्ण या भावपूर्ण ढंग से कहने में ही होता है। अच्छी बात भी नीरस और सामान्य ढंग से कही जाय तो उक्ति-मात्र रहती है, काव्य नहीं बन पाती। यही कारण है कि प्राचीन नीति-कवियों ने निज नैतिक उक्तियों को सरस बनाने का भरसक उद्योग किया था। हिन्दी-कवियों पर उन की सरस अभिव्यंजना का प्रभाव निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट सिद्ध होता है। संस्कृत के महाकवि माघ वीर रस की अभिव्यंजना यों करते हैं—

पादाहतं यदुत्थाय मूढधनिमधिरोहति ।

स्वस्थादेवावमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥^२

मिट्टी को भी पांव से ठुकराओ तो सिर पर सवार हो जाती है। अपमान को छुप-चाप सह लेने वाले से तो मिट्टी ही श्रेष्ठ है। इसी भाव को वृन्द ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

हीन जानि न विरोधियँ, वह तौ तन दुखदाय ।

रजहू ठोकर मारियँ, चढे सीस पर आय ॥^३

अपभ्रंश-काव्य में काया-वर्णन में वीभत्स रस की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। कबीर ने सम्मतः उन्हीं भावों को परंपरा से ग्रहण किया होगा। जैसे—

माणसु देहु होइ घिणि-बिटलु । सिरिहि गिबद्ध हड्डह पोदटलु ।

अतहो पोदटलु पक्खिहि भोयणु । बाहिहि भवणु मसाणहो भायणु ॥^४

(स्वयंभू)

‘कबीर’ कहा गरबियो, चांम लपेटे हड्ड ।

हँबर ऊपर छत्र सिरि, ते भी देना खड्ड ॥^५

(९) अलंकार—अलंकारों के क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती नीति-काव्यों ने हिन्दी के नीति-काव्य को कम प्रभावित नहीं किया। यह प्रभाव अर्थालंकारों में ही अधिक दृष्टिगत होता है। जैसे, आसन की अपेक्षा गुणवत्ता की महत्ता एक संस्कृत कवि ने यों व्यक्त की है—

गुणंस्तुंगतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः ।

प्रासादशिखरारूढः काकः किं गरुडायते ॥^६

१. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ २२८।१६

२. शिशुपाल-वध, सर्ग २।४६

३. सतसई सप्तक: वृन्द सतसई, पृष्ठ ३२१।४५१

४. हिन्दी-काव्यधारा, पृष्ठ १२२

५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१।११

६. सु० २० भा०, पृष्ठ ६१

ऊँचे बंटे ना लहै, गुण बिन बड़पन कोइ ।

बंटे देवल शिखर पर, वायस गरुड़ न होइ ॥^१ (वृन्द)

दोनों पद्यों में अर्थान्तरन्यास अलंकार है और काक-गरुड़ के दृष्टान्त द्वारा प्रतिपाद्य का समर्थन किया गया है ।

कुसंगति के कारण होने वाले गुणों के नाश तथा विपत्तियों के आगमन का वर्णन जोइःदु ने इस प्रकार किया है—

भल्लाहंघि एणसंति गुण, जहँ संसग्ग खलेहि ।

वइसाणर लोहहँ मिलिउ, तँ पिट्ठिइ घणोहि ॥^२

बाबा दीन दयाल गिरि ने 'गुण-नाश' का स्थान 'मान-हानि' को देकर उसी अलंकार को इन शब्दों में ले लिया है—

नीच संग ते सुजन की मानि-हानि ह्वं जाय ।

लोह कुटिल के संग तें, सहै अगिन घन घाय ॥^३

(१०) काव्य विधान— हिन्दी का पूर्ववर्ती नीतिकाव्य चार वर्गों में विभाज्य है—

१. प्रबन्ध; २. मुक्तक; ३. निबंध-मुक्तक; ४. पद ।

१. प्रबन्ध — इस वर्ग के अन्तर्गत हम संस्कृत, प्राकृतादि की उन कथाओं को लेते हैं जो नैतिक शिक्षा के लिए ही लिखी गईं; उदाहरणार्थ, महाभारत के शान्ति पर्व के मत्स्याख्यान तथा कपोताख्यान और प्राकृत की ज्ञानपंचमी कथा आदि । हिन्दी में ठकुरसी का कृपणचरित्र, जान कवि का सतवंती सत आदि रचनाएँ इस वर्ग में मन्निवेश्य हैं ।

२. मुक्तक—संस्कृत में तो चाणक्य-नीति, नीतिद्विशतिका आदि अनेक स्वतंत्र नीति-काव्य उपलब्ध होते हैं परन्तु पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में एक भी नहीं । संस्कृत में मुक्तक रचनाएँ दो प्रकार की दिखाई देती हैं । प्रथम में तो एक ही कवि के विभिन्न-विषयक मुक्तक बिना किसी क्रम के संगृहीत रहते हैं और दूसरे में अनेक कवियों के नीति-सुभाषितों का संग्रह होता है । 'चाणक्य-नीति' प्रथम कोटि के अन्तर्गत आती है तो जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' द्वितीय कोटि में । हिन्दी में 'वृन्द सतसई,' 'बुधजन सतसई' आदि प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आती हैं तो रीतिकाल के संग्रह-ग्रन्थों के नीतिपद्य द्वितीय वर्ग में । हिन्दीकवियों को इस प्रकार की रचनाएँ करने की प्रेरणा संस्कृत से ही प्राप्त हुई ।

३. निबंधमुक्तक—निबंध-मुक्तक उन रचनाओं को कहा गया है जिनमें प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र अर्थ भी रखता है और सम-विषयक अन्य पद्यों के साथ शिथिल रूप में सम्बद्ध भी रहता है । इस प्रकार की रचनाओं के दो रूप हैं । पहला, एक ही

१. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ ३००।१६८

२. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ २४८

३. दीनदयाल गिरि प्रन्थावली, पृष्ठ ७४।१७

विषय पर सम्पूर्ण ग्रन्थ, जैसे संस्कृत के मोहमुद्गर, दर्पदलन आदि। हिन्दी में बांकीदास की सूर छतीसी, कायर बावनी आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। दूसरा, एक ग्रन्थ के विभिन्न परिच्छेदों में विषयों के अनुसार श्लोक-संग्रह; जैसे धम्म पद, नीतिशतक, वज्जालग आदि में। हिन्दी में भी भूधर का जैन शतक, रज्जव की सर्वांगी आदि ऐसे कई निबंध-मुक्तक विद्यमान हैं।

४. पद—भारतीय साहित्य में पदों की रचना सर्वप्रथम अपभ्रंशकाल में हुई। सिद्धों ने जिन पदों की रचना की उनमें से कई पद नैतिक विषयों के हैं। अपभ्रंश की पदरचना की इस प्रवृत्ति का प्रभाव कबीर, सूर, तुलसी आदि पर भी पड़ा।

इस प्रकार काव्य-विधान की दृष्टि से भी पूर्ववर्त्ती नीति-काव्यों का हिन्दीनीति काव्य पर प्रभाव स्पष्ट सिद्ध होता है।

(च) शैली—प्रथम खण्ड के द्वितीय अध्याय में हम कह चुके हैं कि हिन्दी के पूर्ववर्त्ती नीति-काव्यों में प्रायः तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, आत्माभिर्व्यंजक, संवादात्मक, प्रत्योत्तरात्मक, ऐतिहासिक, कथात्मक, संख्यात्मक, व्याख्यात्मक, अन्यापदेशिक, हास्य-व्यंग्यात्मक और बारह खड़ी शैली का प्रयोग दिखाई देता है। हिन्दी के नीति काव्य पर भी, जैसा कि द्वितीय खण्ड में देखते आये हैं, प्रायः इन सभी शैलियों का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा ही है।

(छ) छन्द—छन्दों की दृष्टि से भी हिन्दी-नीति-काव्य पर जितना प्रभाव अपभ्रंश-नीति-काव्यों का पड़ा है उतना संस्कृत, प्राकृत आदि का नहीं। संस्कृत में तो प्रायः वराणवृत्तों का प्रयोग होता था और प्राकृत में गाथा का। हिन्दी में अधिकतर प्रयोग दोहा, सोरठा, छप्पय, कवित्त, सर्वैया, कुण्डलिया और चौपाई छन्दों का किया गया है। इनमें से कवित्त और कुण्डलियों को छोड़कर शेष सभी छन्द, कभी-कभी कुछ परिवर्तित रूप में, अपभ्रंश से ही लिये गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव, भाषा, रस, अलंकार, शैली, छन्द आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दी का नीति-काव्य पूर्ववर्त्ती भाषाओं से प्रभावित है। परन्तु यह प्रभाव पालि और प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत और अपभ्रंश का अधिक पड़ा। कारण, जिस युग में हिन्दीसाहित्य की रचना हुई उसमें संस्कृत का ही पठन-पाठन अत्यधिक होता था और हिन्दी की जननी होने के कारण हिन्दीकवि, विशेषतः जैन कवि, अपभ्रंश के साहित्य से परिचित होना भी आवश्यक समझते थे।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

क्रमिक विकास—पूर्ववर्ती अध्यायों के परिशीलन से हिन्दी में नीतिकाव्य के विकास का सहज ही परिचय हो जाता है। आदिकाल में नीति का कोई स्वतन्त्र काव्य प्राप्त नहीं होता। नीति के जो कुछ पद्य उपलब्ध होते हैं, वे धार्मिक, मनोविनोदात्मक या वीरता-व्यंजक काव्यों में ही। भक्ति-काल में हमें नीति के कुछ स्वतन्त्र काव्य दिखाई देते हैं परन्तु उनमें धार्मिक नीति की मात्रा भी पर्याप्त है। हाँ, अकबरी दरबार के कवियों ने नीति-विषयक स्फुट पद्यों की रचना पर्याप्त मात्रा में की। इसी काल में संस्कृत के कुछ नीति-ग्रन्थों के अनुवाद भी किये गये। नीति-काव्य की दृष्टि से रीतिकाल सुवर्णयुग है क्योंकि जितनी अधिक और सुन्दर नीति-काव्य-रचना इस काल में हुई, उतनी पूर्ववर्ती कालों में नहीं हुई। इस प्रकार हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास स्वाभाविक क्रम से हुआ है, मंडूक-प्लुति-न्याय से नहीं।

मूल्य-आंकन—नीतिकाव्यों का उद्देश्य ऐसे आचार-व्यवहार की सरस रीति से शिक्षा देना है, जिससे मनुष्यों का ऐहिक जीवन सुखी, समृद्ध और गौरवपूर्ण बन सके, उन बातों का उपदेश देना नहीं जिनसे उसे ब्रह्म, स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो। जो नीति-काव्य इस लक्ष्य की सिद्धि में जितना अधिक सहायक हो, वह उतना ही अधिक सकल समझा जायगा और विपरीतावस्था में विफल। इस दृष्टि से समग्र हिन्दी-नीति काव्य को सार्थता सफल या विफल कहना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विभिन्न कालों और प्रवृत्तियों के कवियों ने अलग-अलग प्रकार की कृतियाँ प्रस्तुत की हैं।

नाथ-काव्य—उक्त निकष पर कसने से नाथ-पंथी नीति काव्य का कोई विशेष महत्त्व प्रतीत नहीं होता। यद्यपि उसमें पवित्र आचरण, आडंबर-खण्डन और धार्मिक सामंजस्य आदि के विषय में कुछ उपयोगी बातें अवश्य लिखित हैं तथापि वह गार्हस्थ्य, स्त्री और धन-सम्पत्ति का घोर विरोध करता है। इस नीति पर आचरण मनुष्य जाति के लिए कदाचित् सामुदायिक रूप में श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। उधर कला की दृष्टि से भी उस नीति-काव्य का कोई मूल्य नहीं।

वीर-काव्य—वीरगाथाओं का नीति-काव्य मात्रा में अल्प होता हुआ भी अपनी ऐहिक दृष्टि के कारण महत्त्वपूर्ण है। वह भूमि, धन, स्त्री, स्वतन्त्रता, यश, साहस आदि को काम्य कह कर जीवन को आनन्द-पूर्वक व्यतीत करने की प्रेरणा करता है। परन्तु, उसमें त्रुटि यह है कि वह सुरापान, वेश्या-गमन, बहुपत्नी-विवाह, चूत, शकुन,

ज्योतिष, कलियुग, भवितव्य, यंत्र-मंत्रादि कुप्रथाओं तथा मिथ्या-विश्वासों का खण्डन नहीं करता। तथापि, वीररस से प्रपूर्ण होने और जीवन-संघर्ष के लिए प्रोत्साहित करने के कारण वह प्रशंसनीय है।

भक्तिकालीन प्रमुख नीति-कवि—तुलसीदास, देवीदास, जानकवि, बनारसीदास आदि भक्तिकालीन प्रमुख नीति-कवियों के नीति-काव्यों में धर्म और नीति का मिश्रण दिखाई देता है। जहाँ इनमें मांस, आखेट, सुरा, धूत, स्तेय, व्यभिचार, वेश्या-गमन आदि व्यसनों का खंडन किया गया है वहाँ स्वास्थ्य, विद्या, यश-प्राप्ति, रूपशील-संयोग, हिन्दू-मुस्लिम-सामंजस्य, सज्जन-दुर्जन, उपहासास्पद जन, मैत्री-रक्षा के उपाय, अति, आदि विषयों पर सुन्दर भावपूर्ण रचनाएँ की गई हैं।

अकबरी दरबार के कवि—नरहरि, रहीम, गंग आदि कवियों के नीति काव्यों का, ऐहिक दृष्टिकोण और आत्मानुभूति के कारण, महत्त्व बहुत अधिक है। अपने समकालीन प्रमुख नीति-काव्यों की अपेक्षा, दरबारी वातावरण के कारण, इनमें ऐहिकता अधिक और धार्मिकता कम है। इनमें शूरता, गुणोपार्जन, विद्यामहत्त्व, स्वामिभक्ति, सम्मानपूर्ण जीवन, कुलीन और ओछे, याचकता-निन्दा, धनक्षय से गौरव-नाश, घूस आदि पर पर्याप्त लिखा गया है। पराधीनता के कारण ये कवि मांस, मदिरा आदि का खंडन नहीं कर सके। कला की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ सुन्दर हैं।

संत कवि—सन्तों का नीति-काव्य सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं। संसार को सेमल-सुमन के समान निस्सार, शरीर और विद्या को उपेक्ष्य, तथा कंचन और कामिनी को कुत्सित समझने वालों की नीति जन-साधारण के लिए कितनी उपयोगी हो सकती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि इन्होंने जन्ममूलक वर्णव्यवस्था, जात-पात, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य को दूर कर, समता का सुन्दर उपदेश दिया है और मिथ्या विश्वासों का खण्डन किया है तथापि इनकी नीति पाठक को संसार की ओर प्रवृत्त नहीं करती, उससे निवृत्त ही करती है। कवित्व की दृष्टि से भी इनकी अधिकतर कृतियाँ उपेक्ष्य ही हैं।

सूफी कवि—यद्यपि सन्तों के समान सूफियों का भी प्रधान लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही है तथापि इनकी प्रेम-कथाओं के नीतिकाव्य का मूल्य सन्तों के काव्य से अधिक है। कारण इनमें शरीर, यौवन, जीवन, सुखभोग, पठन-पाठन, धन, स्त्री की वह उपेक्षा लक्षित नहीं होती जो सन्त-काव्य में सुलभ है। यद्यपि इनमें भाग्यवाद, शकुन, ज्योतिष, जादू-टोना, यंत्र-मंत्रादि में विश्वास लक्षित होता है तथापि धर्म, साहस, दृढ़ संकल्प, निर्भयता आदि उन गुणों पर भी पर्याप्त बल दिया गया है जो सफल जीवन के साधन हैं। इनका फुटकर काव्य तो सन्तों के समान ही है परन्तु प्रेम-कथाओं का नीति-काव्य सन्तों से, ऐहिकता और साहित्यिक सौष्ठव दोनों दृष्टियों से, उत्तम है।

राम कवि—यद्यपि इस काव्य का मुख्य उद्देश्य सगुण राम की भक्ति का प्रचार है, नीति-शिक्षा नहीं, तथापि पारिवारिक जीवन को स्वर्गमय बनाने के लिए इस काव्य

का महत्त्व सम्पूर्ण हिन्दी-नीति-काव्य में अद्वितीय है। इसमें सत्य-वचन प्रतिज्ञा-पालन, वेद-शास्त्र के प्रति श्रद्धा, माता-पिता, पत्नी, पति, तथा अन्य पारिवारिक कर्त्तव्य आदि से सम्बद्ध नीति का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था, शत्रु-ज्योतिष, ऊँच-नीच, कलियुग-प्रभाव आदि में विश्वास रखता हुआ भी यह काव्य अपनी सुन्दर पारिवारिक नीति तथा काव्य-सौष्ठव के कारण महत्त्वपूर्ण है।

कृष्ण कवि—नीति काव्य की दृष्टि से कृष्ण-काव्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं। उसमें आराध्यों के सुखमय जीवन का तो सरस वर्णन किया गया है परन्तु आराधकों के लिए धन और सांसारिक सुख त्याज्य माने गये हैं। गौ की पूज्यता तथा प्रेम-विषयक नीति का वर्णन पर्याप्त है। पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादाओं की उपेक्षा और जीवन में साफल्यदायिनी नीति की कमी के कारण, सरस होता हुआ भी, कृष्ण-काव्य नीति-काव्य की दृष्टि से विशेष उपयोगी नहीं।

रीतिकाल का नीति काव्य—नीति-काव्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का रीति-काल अद्वितीय है। इस काल की प्रमुख विशेषता है नीति-काव्यों में धार्मिकता का प्रायः अभाव और ऐहिकता का प्राधान्य। जितने अधिक और जितने सरस नीति कवि इस काल में उत्पन्न हुए उतने न आदिकाल में, न भक्तिकाल में। लक्ष्मीवल्लभ, वृन्द, धर्मसिंह, देवीदाम, भूधरदास, गोपाल चानक, गिरिधर कविराय, वांकीदास, मनरंगलाल, रघुराम, गणपति भारती, बुधजन, दीनदयालगिरि, गुपाल कवि आदि के नाम नीति-काव्य के इतिहास में अमर रहेंगे। इन कवियों ने राजकुमारों की शिक्षा, व्यवसायों में सफलता, बुद्धि के विकास तथा लोकहित के लिए जिन पच्चीसी, बत्तीसी, बावनी, पंचावनी, सत्तरी, बहत्तरी, शतक, सत्सई तथा कथा-काव्यों आदि की रचना की उनमें कान्ता-सम्मतोपदेश का अपूर्व समावेश है। इस काल में षड्विध नीति पर स्फुट पद्यों या स्वतन्त्र नीति-काव्यों का प्रणयन हुआ। जहाँ वीरों, स्वामिभक्तों, दानियों आदि का प्रशंसा में स्वतन्त्र काव्य रचे गये वहाँ कायरों, कृपणों, मादड़ियों, वेश्याओं और कुलटाओं की निन्दा पर भी। कृषि-नीति और वाणिज्य-नीति पर तो रचनाएँ हुई ही, विविध व्यक्तियों व व्यवसायों के गुण-दोषों पर रघुराम और गुपाल कवि ने जो रचनाएँ कीं वे हमारे विचार में, विषय-वैविध्य की दृष्टि से, अद्वितीय हैं। यह भी स्मरणीय है कि उक्त प्रमुख नीति-काव्यों की अधिकतर रचनाएँ सरस और भावपूर्ण हैं, तुकबन्दी-मात्र नहीं।

इसी काल की शृंगारी कृतियों में विद्या, सुकवि, कुकवि, गुणग्राही, मूर्ख स्वामा आदि पर पर्याप्त रचना हुई। मात्रा में अल्प होता हुआ भी यह स्फुट काव्य सरसता से श्रोत-प्रोत है क्योंकि अधिकतर राजाश्रित शृंगारी कवि नीति-कवियों की अपेक्षा काव्य-कला में अधिक निपुण थे।

सार रूप में कह सकते हैं कि वीरकवियों, भक्तिकालीन प्रमुख नीति-कवियों, अकवरी दरबार के कवियों, सूफी प्रेमकथाकारों, रामकवियों और रीतिकालीन प्रमुख

नीतिकवियों का नीतिकाव्य नाथों, सन्तों, कृष्णकवियों, फुटकर कवियों तथा अनुवादकों की अदेक्षा अधिक उपयोगी और सुन्दर है।

तुलनात्मक मूल्यांकन—प्रथम खण्ड के द्वितीय अध्याय में हम देख चुके हैं कि हिन्दी में नीति-काव्य का आरम्भ होने के पूर्व संस्कृतादि भाषाओं के अधिकतर नीति-काव्य की रचना हो चुकी थी। अब अन्त में यह देख लेना भी अनुचित न होगा कि उन भाषाओं के नीतिकाव्य की तुलना में हिन्दी के नीतिकाव्य का क्या स्थान है। यह तुलनात्मक अध्ययन पाँच शीर्षकों के नीचे किया जा सकता है—(क) परिमाण (ख) वर्ण्य विषय (ग) मौलिकता (घ) उपयोगिता (ङ) काव्यसौष्ठव।

(क) **परिमाण**—परिमाण की दृष्टि से यदि हिन्दी के नीति-काव्य की तुलना कोई पूर्ववर्ती नीति काव्य कर सकता है तो संस्कृत का ही। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने अपने प्रबन्ध में संस्कृत के साठ प्रमुख नीतिकाव्यों की सूची दी है।^१ सम्भव है, साधारण नीतिकाव्यों को जोड़ देने से यह संख्या सौ तक पहुँच जाए। हमने द्वितीय खण्ड में हिन्दी के ११३ कवियों की १५५ कृतियों का निवरण दिया है जिनमें से ५६ कवि और १०३ काव्य प्रमुख हैं। इस प्रकार कृति-संख्या की दृष्टि से हिन्दी और संस्कृत के नीतिकाव्य लगभग समकक्ष ही हैं। धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में ऐहिक नीति का कोई स्वतन्त्र काव्य प्रणीत ही नहीं हुआ। फिर भी पालि के धम्मपद और अपभ्रंश के सावयधम्मदोहा, उपदेश-रसायन रास, संयममंजरी आदि के कुछ अंशों को नीतिकाव्य के अन्तर्गत मान सकते हैं। ऐसी दशा में इनकी हिन्दी के नीतिकाव्य से तुलना का विचार ही व्यर्थ है।

(ख) **वर्ण्य विषय**—वर्ण्य विषय की दृष्टि से भी हिन्दी का नीतिकाव्य संस्कृतादि के नीतिकाव्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक और समृद्ध है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि हिन्दी इन सब से परवर्ती भाषा है और इसके अधिकतर नीतिकाव्यों को पूर्ववर्ती भाषाओं के नीतिकाव्यों के अध्ययन का अवसर सहज सुलभ था। इसलिए ऐसे विषय विरल ही हैं जिन्हें हिन्दी कवियों ने अनूदित या न्यूनाधिक परिवर्तित रूप में हिन्दी में उपन्यस्त न किया हो। द्वितीय, जिस काल में हिन्दी के नीतिकाव्य की रचना हुई उसमें केवल भारतीय संस्कृति का ही प्रचार नहीं था, वरन् वह भारत, अरब और योरोप की संस्कृतियों के मिश्रण का युग था। इसलिए हिन्दी नीतिकाव्यों में ऐसे विषय भी अनायास समाविष्ट हो गये जिनका वर्णन प्राचीन नीतिकाव्यों में असम्भव था। यहीं पर लक्ष्य करने की बात यह भी है कि संस्कृत के नीतिकाव्य में सेव्य-सेवकोपदेश, समयमातृका, कलाधिलास, दर्पदलन जैसे काव्यों की कमी है जो नीति के विशिष्ट विषयों पर ही प्रणीत हुए हैं। अधिकतर रचनाएँ तो नीतिशतक, अन्योक्तिशतक आदि नामों से ही की गई हैं जिनमें प्रत्येक कवि ने अपनी विविध-विषयक नीति-सूक्तियों को संगृहीत कर दिया है। यद्यपि हिन्दी में इसी ढँग पर बत्तीसी, छत्तीसी, १ हिन्दी नीतिकाव्य, पृष्ठ ३७-३६

बावनी आदि की रचना भी पर्याप्त हुई है, तथापि वचन विवेकपञ्चीसी, चुगलमुख चपेटिका, रूपगुण-संवाद, सूरछत्तीसी, वीरशतक, कीर्तिशतक, मावड़िया-मिजाज, कायर बावनी आदि दर्जनों काव्य विशिष्ट विषयों पर लिखे गये हैं।

(ग) मौलिकता—प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में हम अनेक स्थानों पर दिखा चुके हैं कि जहाँ प्रत्येक काल और प्रवृत्ति के कवि कुछ बातों के लिए संस्कृतादि के नीतिकाव्यों के श्रुणी हैं वहाँ उन्होंने अपनी अनुभूति, पर्यवेक्षण तथा परिस्थितियों से प्रेरित होकर भी सैकड़ों नई बातें लिखी हैं। उदाहरणार्थ, आदिकाल में जब विदेशी आक्रान्ताओं या पड़ोसी शासकों से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा आवश्यक थी तब कवियों ने मातृभूमि की रक्षा, स्वतन्त्रता की महत्ता, शत्रु-संहार, यशस्वी जीवन, स्वामिधर्म और वीरगति के महत्त्व पर बहुत बल दिया। जब कवियों ने अनुभव किया कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को यहीं रहना है तब उन्होंने राम-रहीम के द्वैत, धार्मिक असहिष्णुता, अस्पृश्यता, जाति-पाँति, चौका-चूल्हा, बाह्याडम्बर, हराम-हलाल आदि का उग्र खण्डन कर राम-रहीम की भक्ति, पवित्र जीवन, मानव-मात्र की एकता और परस्पर प्रेम का प्रचार किया। ऐहिकतामय रीति-काल में कवियों का ध्यान परमार्थ से हटकर ऐहिक जीवन को सुखी-समृद्ध बनाने की ओर गया। अतः कवि की दृष्टि आदर्श से उतरकर व्यवहार पर केन्द्रित हो गई। इसीलिए विविध व्यवसायों और व्यवसायियों का जितना विस्तृत वर्णन इस काल में दिखाई देता है, उतना अन्य किसी काल में नहीं। दुष्ट गंजन पंचावनी, सास बहू का भगड़ा, दम्भति वाक्य-विलास आदि काव्य उक्त दृष्टिकोण के ही परिणाम हैं।

(घ) उपयोगिता—हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि लोक-व्यवहार की दृष्टि से हिन्दी के विभिन्न कालों तथा प्रवृत्तियों के नीतिकाव्य का मूल्य पृथक्-पृथक् है। जो महत्त्व वीरकवियों, भक्ति तथा रीतिकाल के प्रमुख कवियों, अकबरी दरबार के कवियों और राम-कवियों के काव्यों का है, वह अन्य का नहीं। फिर भी सामूहिक रूप से कह सकते हैं कि लोकोपयोगिता की दृष्टि से हिन्दी-नीति-काव्य की समानता वैदिक, संस्कृत और अपभ्रंश के ऐहिक तथा सिद्धसाहित्य ही कर सकते हैं, पालि और प्राकृत के नीतिकाव्य तथा अपभ्रंश के जैन काव्य नहीं। कारण, बौद्धों तथा जैनों की रचनाएँ आध्यात्मिक अधिक हैं, ऐहिक कम। एक अन्य कारण से भी हिन्दी का नीति-काव्य पालि आदि के नीतिकाव्यों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। आज का वैज्ञानिक युग आध्यात्मिकता का नहीं, भौतिकता का है। अधिकतर लोगों का ध्यान इसी जीवन को सुखी-समृद्ध बनाने की ओर है, क्योंकि परलोक, स्वर्ग, नरक, मोक्षादि में आस्था की ही कमी हो गई है। इसलिए हिन्दी के रीतिकालीन व्यावहारिक नीतिकाव्य का जो महत्त्व हमारे लिए हो सकता है, वह अधिकतर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं का नहीं।

नीतिकवि प्रायः समकालीन परिस्थितियों को देखकर ही नीतिकाव्यों के प्रण-

यन में अग्रसर होते हैं। इस दृष्टि से भी प्राचीन भाषाओं के नीतिकाव्यों की अपेक्षा हिन्दी-नीतिकाव्यों का महत्त्व अधिक है क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम, छूत-छात आदि की कई समस्याएँ आज भी लगभग उसी रूप में विद्यमान हैं जिस रूप में संतकवियों के काल में थीं। इस उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी यह बात बड़ी चिन्त्य है कि उसमें मनुष्य के कर्तृत्व की स्वतन्त्रता का अधिक उल्लेख नहीं हुआ। प्रमुख कवि भी प्रायः मावव को विधाता के हाथ की कठपुतली स्वीकार करते हैं। उद्यम की प्रशंसा भी विद्यमान है परन्तु भाग्य का हाथ अधिक प्रबल प्रतीत होता है। वह उत्साह प्रायः दृष्टि-गोचर नहीं होता जो बुरे दिनों को अच्छे दिनों में परिवर्तित कर सके। कलिकाल में पापों के आधिक्य की मान्यता ने भी नीतिकाव्यों का पीछा नहीं छोड़ा। जब से कलियुग आरम्भ हुआ है तभी से वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक विषमताएँ उत्पन्न हो गई हैं और जब तक वह समाप्त न होगा तब तक उन कलहवर्षों का पर्यवसान भी इन कवियों को असम्भव ही दिखाई देता है। परन्तु इन बातों के लिए इन कवियों पर दोषारोपण वृथा है। जो विचार संस्कृतादि में सहस्राब्दियों से चले आते हैं उनका सर्वथा परित्याग अत्यन्त दुष्कर होता ही है।

(ङ) काव्य-सौष्ठव—प्रथम खण्ड के प्रथमाध्याय में हम कह चुके हैं कि नीति की रचनाएँ राग-तत्त्व, कल्पनातत्त्व, बुद्धि-तत्त्व, शब्दार्थ-चमत्कार और व्यंग्यार्थ की प्रधानता, गौणता या अभाव के कारण उत्तम, मध्यम या अवर काव्य अथवा सूक्ति या पद्य-मात्र मानी जाती हैं। इस दृष्टि से जब हम संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के नीतिकाव्यों पर दृक्पात करते हैं तो विदित होता है कि सभी भाषाओं में सब प्रकार की रचनाएँ न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। तथापि, तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर जितना काव्य-सौष्ठव संस्कृत के नीतिकाव्य में लक्षित होता है, उतना किसी अन्य भाषा में नहीं। इसका मुख्य कारण संस्कृत नीति-कवियों की व्युत्पन्नता, ऐहिकता और मौलिकता है। उन्होंने अपनी अधिकतर रचनाएँ भाव-मग्न होकर की हैं और अपने भावों की अभिव्यक्ति परिष्कृत भाषा, विभिन्न शैलियों, विविध छन्दों तथा उपयुक्त अलंकारों की सहायता से की है। संस्कृत की नीति-रचनाओं के उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव का अनुमान इस तथ्य से भी सहज ही किया जा सकता है कि जहाँ पालि आदि में विशुद्ध नीति का एक भी स्वतन्त्र काव्य उपलब्ध नहीं होता और हिन्दी में भी अन्योक्तिमयी नीति-कृतियाँ दो-चार ही हैं, वहाँ संस्कृत के अन्यापदेशिक नीतिकाव्यों की संख्या बीस के लगभग है। पालि का नीतिकाव्य, निस्सन्देह, अपनी सुन्दर उपमाओं और दृष्टान्तों के कारण प्रख्यात है किन्तु वह राग-तत्त्व, कल्पनातत्त्व, और परिमाण की न्यूनता के कारण हृदय को स्थायी आह्लाद प्रदान करने में असमर्थ है। प्राकृत का नीतिकाव्य भी यद्यपि अभिव्यक्ति की सरसता, भाषा की सुकुमारता और अलंकारों की सुन्दरता के कारण श्लाघ्य है तथापि अपनी अल्पपरिमाणता के कारण संस्कृत का समकक्ष नहीं हो सकता। आध्यात्मिक ग्रन्थों में

समाविष्ट अपभ्रंश का अधिकांश नीतिकाव्य तो विशेष सरस नहीं परन्तु जो ऐहिक नीतिकाव्य स्फुट पद्यों के रूप में अन्यविषयक ग्रन्थों में विकीर्ण है, उसकी सरसता, चमत्कार और प्रभविष्णुता में कोई सन्देह नहीं है। परन्तु ऐसे सरस नीति-पद्यों की संख्या अत्यल्प है, इसलिए अपभ्रंश का नीतिकाव्य भी संस्कृत की समता करने में अशक्त है। हिन्दी का नीतिकाव्य यद्यपि रचनाओं की संख्या, परिमाण, विषय-वैविध्य और उपयोगिता की दृष्टि से संस्कृत के नीतिकाव्य से कम नहीं तथापि यह मानना ही पड़ता है कि विशेष प्रतिभाशाली कवियों की कमी के कारण वह संस्कृत नीतिकाव्य के समान सरस, चमत्कारपूर्ण और प्रभविष्णु नहीं बन सका। फिर भी पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के नीतिकाव्यों से तो वह प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ ही है।

निष्कर्ष—अन्त में हिन्दी के नीतिकाव्य के विषय में संक्षेपतः हमारी धारणा यह है कि जहाँ वह परिमाण की दृष्टि से विपुल, विषयों की दृष्टि से व्यापक, मौलिकता की दृष्टि प्रशंसनीय और उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है वहाँ कला की दृष्टि से भी उसका अधिकतर भाग उपेक्ष्य नहीं है। भले ही उसका अधिकांश राग-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और व्यंग्यार्थ की अप्रधानता के कारण उत्तमकोटि के काव्य में परिगणनीय न हो तो भी उसका पर्याप्त अंश काव्य की मध्यम या अवर कोटि में सहज ही रखा जा सकता है। ऐसे पद्यों की संख्या अधिक नहीं है जो नितान्त अकाव्य की कोटि में आते हों

प्रथम परिशिष्ट

हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची

- अक्षर बत्तीसी : महेश मुनि; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
अक्षर बावनी : जयपुर के तेरहपंथियों के मन्दिर में
अन्योक्ति बावनी : विनय भक्ति; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
अन्योक्ति वर्णन : महाकवि गणपति भारती; विद्याभूषण पुस्तकालय, जयपुर
इस्कचमन : नागरीदास; मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
ईसर शिक्षा : ईसर; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
उदैराज रो बूहा : उदैराज; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
उपदेश बत्तीसी : जसराज (जिनहर्ष); अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
उपदेश शक्तक : हेमराज; बधीचन्द जैन का मन्दिर, जयपुर
उपदेश सत्तरी : श्रीसार; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
कक्का बत्तीसी : जीवो ऋषि; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
कर्म छत्तीसी : समय सुन्दर; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
कर्म बत्तीसी : अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
कर्मशतक : गोपाल चानक; ना० प्र० स०, काशी
कल् चरित्र : बान कवि; अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
कवित्त बावनी : जसराज; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
कवित्त प्रसंगीक : पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
किसन बावनी : किसन; मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
कीर्ति शतक : गोपाल चानक; ना० प्र० स०, काशी
कुंडलिया : नाथूराम; मोतीचन्द खजानची का संग्रह; बीकानेर
कुंडलिया बावनी : धर्मसिंह; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
कृपण चरित्र : ठकर सी; दिगम्बर जैन मन्दिर, बम्बई
केशव बावनी : अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
क्षमा छत्तीसी : समय सुन्दर; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
गुरु सीख : देवा ब्रह्म; काले छाबड़ों का मन्दिर, जयपुर
गुरु चेला नी चडबड : पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
गुरु महिमा : जगन्नाथ; अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर

प्रिहसत सत सार : मुरलीदास; अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
 छप्पय बावनी : धर्मसिंह; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 छिनाल पच्चीसी : लालचन्द; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 छोहल बावनी : छोहल; लूण करण पांडे का मन्दिर, जयपुर
 जगद्गान पच्चीसी : देव; हस्तलिखित प्रति डा० नगेन्द्र के पास
 ढाल मधुबूंद : देवा ब्रह्म (देवा पांडे); काले छावड़ों का मन्दिर, जयपुर
 दानशील तप भावना संवाद : पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 बूहा बावनी : लक्ष्मी वल्लभ; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 देवशतक : प्रति डा० नगेन्द्र के पास
 द्विपंचसिका : क्षमाहंस (खेम); लूणकरण पांडे का मन्दिर, जयपुर
 धर्म बावनी : धर्मसिंह; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 पंच दड़ई : ना० प्रा० स० काशी के संग्रह सं० १३१४। ८५६ में संगृहीत
 पंचाख्यान (अनुवाद) : देवीचन्द; अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
 पंचेन्द्री बेली : ठकर सी; बघीचन्द का मन्दिर, जयपुर
 पुण्य छत्तीसी : समय सुन्दर; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 पुण्य शतक : गोपाल चानक; ना० प्र० स०, काशी
 प्रदोत्तरी विदग्ध मुखमंडन (अनुवाद) : चन्दनराम (चन्द कवि); ना० प्र० स०, काशी
 प्रत्न पुन्य पाप : काले छावड़ों का मन्दिर, जयपुर
 प्रास्ताविक दोहरा : पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 प्रेम तरंग : देव; हस्तलिखित प्रति डा० नगेन्द्र के पास
 प्रेम रत्नाकर : देवीदास; विद्याभूषण पुस्तकालय, जयपुर
 फुटकल पद्य : धर्मसिंह; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 बारहखड़ी : अज्ञात कवि; काले छावड़ों का मन्दिर, जयपुर
 बारहखड़ी : सूरत; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 बारहखड़ी : पारषीदास; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 बावनी : वणारस सुन्दरदास; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 भर्तृहरिशतक भाषा सबैया-बद्ध : नयनसिंह; अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
 भाषा चारिणक्य (अनुवाद) : उम्मेदराम; विद्याभूषण पुस्तकालय, जयपुर
 मातृका बावनी : जसराज; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 मूरख सोलही : लालचन्द; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 मृत्यु महोत्सव पच्चीसी : प्रेमचन्द; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 रंग बहत्तरी : जिनरंग सूरि; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 रस रहस्य : कुलपति मिश्र
 राजनीति के कवित्त : देवीदास; ना० प्र० स०, काशी, याज्ञिक संग्रह

रूपगुण संवाद : लाल (?); अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
 लघुचरणाई (लघुचरणकथ; अनुवाद) : देवमुनि: ना० प्र० स०, काशी, याज्ञिक संग्रह
 लघु तथा वृद्ध चरणकथ नीतिशास्त्र (अनुवाद) : विष्णुगिरि: अनूप संस्कृत पुस्तकालय
 बीकानेर

दारुकारी दोहा : तेरहपन्थी बड़ा मन्दिर, जयपुर
 विदुर प्रजागर भाषा (अनुवाद) : कृष्णकवि; ना० प्र० स० काशी, याज्ञिक संग्रह
 शीर शतक : गोपाल चानक; ना० प्र० स०, काशी
 शील बत्तीसी : अकमल (अकू); लूणकरण मन्दिर, जयपुर
 संग्रह ग्रन्थ (सं० १२६। ६२) : ना० प्र० स०, काशी
 संग्रह सं० २५२१। १४७६ : ना० प्र० स०, काशी
 संग्रह सं० ४४६। ३२७ : ना० प्र० स०, काशी
 संग्रह सं० ७२। ७२ क० : अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
 संग्रह क्रमांक ४६१२ : पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 संतोष छत्तीसी : समय सुन्दर; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 सप्तवंती सत : जानकवि; अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
 सत्योपदेश : उम्मेदराम : विद्याभूषण पुस्तकालय, जयपुर
 सप्त व्यसन दूहा कुंडलिया : भीम; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 सभासार नाटिक : रघुराम; मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
 सदैवा बावनी : बालचन्द; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 सदैवा वावनी : लक्ष्मीवल्लभ; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 सदैवा मानबावनी : मानमुनि; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 साखी ब्राजिद : अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
 सात बहू का भगड़ा : देवाब्रह्म; ठोलियों का मन्दिर, जयपुर
 सिछया सार : नाथूराम (नाथिया); मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
 सिछया सागर : जानकवि; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 सोलामण ढाल : (?) पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
 सुभाषित गाथा सटीक : त्रिपाठी
 स्फुट पद्य : वेंताल; ना० प्र० स० काशी, के सभा-संग्रह में
 स्फुट पद्य संग्रह : उदैराज; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 हित-उपदेश : स्यामदास; ना० प्र० प०, श्रावण, १९८७ वि०
 हित-शिक्षा द्वात्रिंशिका : क्षमा कल्याण; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
 हितोपदेश के कथा (अनुवाद) : जयसिंहदास; ना० प्र० स० काशी, सभा-संग्रह
 हितोपदेश भाषा प्रण्वी संगल (अनुवाद) : द्वारकानाथ सरस्वती भट्ट; विद्याभूषण
 पुस्तकालय, जयपुर

द्वितीय परिशिष्ट^१

प्रमुख प्रकाशित ग्रंथों की सूचियाँ

(क) संस्कृत

अथर्व वेद : (सायण भाष्य)

आर्यासप्तशती : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३४ ई०

ऋग्वेद (सभाष्य) : अरविद आश्रम पांडेवरी

ऐतरेय ब्राह्मण : आनंदाश्रम, पूना, १९३१ ई०

कालिविडंबन : काव्यमाला, गुच्छक ५

कालिदास ग्रंथावलि : सं० सीताराम चतुर्वेदी, काशी २००१ वि०

काव्यप्रकाश : मम्मटः चौखम्बा विद्या भवन, १९५५ ई०

काव्यानुशासन : वाग्भट द्वितीयः निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ई०

काव्यानुशासन : हेमचंद्रः निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ई०

काव्यालंकार : भामहः चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी १९८५ वि०

काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : वामनः कलकत्ता १९२२ ई०

कुमारसम्भव : कालिदास

कौटिलीय अर्थशास्त्र : सं० शाम शास्त्री, मंसूर १९२४ ई०

चंद्रालोक : जयदेवः खेलाड़ी लाल एंड संस, काशी १९५४ ई०

चम्पू भारत : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५० ई०

चारणक्य नीति वर्णन : गोवर्धन पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण ।

चारणक्य सूत्र : आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली

चारणक्य सूत्र : कौटिलीय अर्थ शास्त्र के परिशिष्ट में, मंसूर १९२४ ।

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धनः चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी १९४० ई०

नल चम्पू : चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३२ ई०

नाट्य शास्त्र : भरतः चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी

निरुक्त : यास्काचार्य : बम्बई संस्कृत एंड प्राकृत सीरिज, १९१८ ई०

नीतिमंजरी : द्या द्विवेदीः हरिहर मंडल, काल भैरव, काशी, १९३३ ई०

पंचतंत्र : पंडित पुस्तकालय, काशी १९५२ ई०

१. कई पुस्तकों के प्रकाशकादि का परिचय प्रबन्ध में दिया चुका है ।

बुद्ध चरित : अश्वघोष

भगवद् गीता (सभाष्य) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३६ ई०

भागवत महापुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर

भामिनी विलास : पं० जगन्नाथ; पूना, १९३८

मनुस्मृति : चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३५ ई०

महाभारत, भाग ३, (उद्योग पर्व) : चित्रशाला प्रेस, पूना, १९३१ ई०

मुग्धोपदेश : जल्हणः काव्यमाला गुच्छ ८, निर्णयसागर प्रेस, १९११ ई०

मुद्राराक्षस (सटीक) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३६ ई०

मेघ दूत : कालिदास

यशस्तिलक चम्पू : सोमदेव

रघुवंश : कालिदास

रस गंगाधर : जगन्नाथः निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४७

रामायण (तिलक-सहित) : निर्णयसागर प्रेस, १९३० ई०

लोकोक्ति-मुक्तावली : काव्यमाला गुच्छक ११, १९३३ ई०

वाचस्पत्य कोश : १८७३ ई०

विक्रमांकदेव चरित : बिल्हणः ज्ञानमंडल यंत्रालय, काशी, १९७८ वि०

विदुर नीति : गीताप्रेस गोरखपुर, २०११ वि०

व्याख्यान-माला : सं० अच्युतानन्द; लाहौर, १९२७ ई०

शतकत्रयम् : भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४६ ई०

शुक्र नीति (सटीक) : वैकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १९८२ वि०

संक्षिप्त महाभारत : सं० सी० बी० वैद्य, बम्बई, १९१२ ई०

साहित्य दर्पण : विश्वनाथः वाचस्पत्य यंत्र, कलकत्ता, १९४३ ई०

सुभाषित रत्नभांडागार : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३५

सुभाषित रत्नसन्दोह : अमितगतिः निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९०९

सुभाषित रत्नाकर : गोपालनारायण एंड० को०, बम्बई १९१३ ई०

सूक्तिचर्णामृत : श्रीधरदासः प्र० मोतीलाल बनारसी दास, लाहौर, १९३३

सूक्तिमुक्तावली : जल्हणः थोरिएंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३८ ई०

स्तोत्र रत्नावली : गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१३ वि०

हितोपदेश : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४९ ई०

(ख) पालि

खुद्दकपाठ (सटीक) : प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ

धम्मपद : अनु० अवधकिशोर, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९९५ वि०

सिंहाल सुत्तं : अनु० भिक्षु कित्तिमाः बर्मी बौद्ध विहार, सारनाथ, १९५० ई०

सुत्तनिपात : प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ

(ग) प्राकृत

- अर्धभागधी कोश : गुलाबचंद, १९३० ई०
 अर्धभागधी कोश : रत्नचंद, १९२७ ई०
 कंस बहो : हिन्दी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९४० ई०
 कर्पूरमंजरी : राजशेखरः निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४९ ई०
 गाथा सप्तशती : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३ ई०
 बहमुहबहो (सेतुबन्ध) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४५ ई०
 नारणपंचमी कहाओ : भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४९ ई०
 पाइअर सद्द महाराणवो : हरगोविन्द दास, कलकत्ता, १९८२ वि०
 प्राकृत व्याकरण : हेमचंद्रः मोतीलाल लुद्धा जी पूना, १९२८ ई०
 प्राकृत सुभाषित संग्रह : सं० बी० एम० शाह, सूरत, १९३५
 मूलाचार : वट्टकेरः जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई
 सूक्ति सरोज : धर्मदास जैन मित्र मंडल, रतलाम वि० १९९६

(घ) अपभ्रंश

- अपभ्रंश काव्यत्रयी : ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९२७ ई०
 अपभ्रंश पाठावली : गुजरात वर्नेकूलर सोसाइटी, अहमदाबाद, १९३५ ई०
 कीर्तिलता : डा० बाबूराम सक्सेना, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९८६ वि०
 पाहुड़बोहा : रामसिंहः करंजा, १९३३ ई०
 संदेशरासक : भारतीय विद्या भवन, बम्बई, २००१ वि०
 सावय धम्म बोहा : देवसेनः सं० हीरालाल जैन, करंजा

(ङ) हिन्दी

- अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ, सं० २००७ वि०
 अणभे वाली : स्वामी रामचरणः शाहपुरा, १९२५ ई०
 अनुराग बांसुरी : नूर मुहम्मदः हि० सा० सं०, प्रयाग
 अपभ्रंश दर्पण : जगन्नाथ राय शर्मा, पटना, १९९८ वि०
 अपभ्रंश साहित्य : डा० हरिवंश कोछड़ः भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली २०१३ वि०
 असली आल्हलखण्ड : सं० सी० ए० इलियटः फर्रुखाबाद, २००६ वि०
 ऐतिहासिक काव्यसंग्रह : प्र० शंकरदान शुभैराज नाहटा, सं० १९९४ वि०
 कबीर ग्रन्थावली : ना० प्र० सं० काशी, १९४७ ई०
 कबीर वचनावली : ना० प्र० सं० काशी, सं० २००३ वि०
 कलिचरित्रबेली : चाचा हितवृन्दावनदासः वृन्दावन, सं० २००९ वि०
 कविस्त रत्नाकर : सेनापति

- कविता कौमुदी (भाग १) : नवनीत प्रकाशन, बम्बई, १९५४ ई०
- कवितावली : गो० तुलसीदास
- कवियों की भांकी : छात्रहितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग, १९४८ ई०
- काव्यनिर्णय : भिखारीदास; बेलबेडियर प्रेस, प्रयाग, १९३७ ई०
- “कुंभनदास” : विद्या विभाग, कांकरोली, २०१० वि०
- कुंडलिया : गिरिधर कविराय; वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, २००६ वि०
- केशवग्रन्थावली (भाग १, २) हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, १९५५ ई०
- केशवपंचरत्न : सं० भगवानदीन; रामनारायण लाल, प्रयाग, १९८६ वि०
- खुसरो की हिन्दी कविता : ना० प्र० स० काशी, २०१० वि०
- गोरखबानी : प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००३ वि०
- गोराबादल की कथा : प्रयाग, सं० १९९१
- “गोविन्दस्वामी” : विद्याविभाग, कांकरोली, २००८ वि०
- ग्वालरत्नावली : सं० कविकर्किकर, प्रयाग, १९५४ ई०
- “घनानन्द” : वाणीवितान प्रेस, बनारस, २००६ वि०
- घाघ और भड्डरी की कहावतें : सं० श्रीकृष्ण शुक्ल, पुस्तक सदन, बनारस
- चतुर्भुजदास : विद्याविभाग, कांकरोली, २०१४ वि०
- चित्रावली : ना० प्र० स० काशी, १९१२ ई०
- छंदशिक्षा : पं० परमेश्वरानन्द, लाहौर, १९४१ ई०
- छोतस्वामी : विद्याविभाग, कांकरोली, २०१२ वि०
- जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य : डॉ० सरला शुक्ल, लखनऊ, २०१३ वि०
- जायसी ग्रंथावली : सं० रामचन्द्र शुक्ल, काशी, २००६ वि०
- जायसी ग्रंथावली : सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग, १९५२ ई०
- जैनशतक : भूधरदास; बीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली, २००७ वि०
- जैनार्णव : प्र० चन्द्राश्रम, इटावा, १९१२ ई०
- ज्ञानसार ग्रंथावली : सं० अग्ररचन्द नाहटा, बीकानेर, २०१३ वि०
- डिगल में बीररस : डा० मोतीलाल मेनारिया; हिं० सा० सं० प्रयाग, २००३ वि०
- डूंगर बाबनी : पद्मनाभ; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
- तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी; दिल्ली, १९५३ ई०
- तुलसी ग्रन्थावली (दूसरा खंड) : ना० प्र० स० काशी, २००४ वि०
- तुलसी और उनका साहित्य : डा० विमलकुमार जैन
- तुलसी सतसई : सरस्वती भंडार, पटना, १९२९ ई०
- तुलसी सूक्तिसुधा : सं० वियोगी हरि; साहित्य सेवासदन, बनारस, १९८६ वि०
- दयानन्द ग्रन्थमाला : शताब्दी संस्करण, १९२५ ई०

- दीनदयालगिरि ग्रन्थावली : ना० प्र० सा० काशी, १९७६ वि०
 देवमुष्ठा : सं० मिश्रबन्धु; लखनऊ, २००५ वि०
 दोहावली : गो० तुलसीदास; गीताप्रेस, गोरखपुर; सं० २००० वि०
 नन्ददास ग्रन्थावली : सं० ब्रजरत्नदास
 निर्धारशतक : अक्षर अनन्य; ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५२, अंक १ ।
 पंचामृत : प्र० स्वामी लक्ष्मी राम ट्रस्ट, जयपुर, १९४८ ई०
 परमानन्द सागर : विद्या विभाग, कांकरोली
 परशुराम सागर : उदय कार्यालय, उदयपुर
 पद्माकर पंचामृत : सं० विश्वनाथ प्रसाद, काशी, १९६२ वि०
 पृथ्वीराज रासो (भाग १) : साहित्य संस्थान उदयपुर, सं० २०११
 पेम्प्रकाश : बरकत उल्लाह पेमी; (फ्रैंक ब्रदर्स, दिल्ली १९४३ ई०)
 प्राकृत विमर्श : डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ, २००६ वि०
 बघनाजी की वाणी : जयपुर, सं० १९६३
 बनारसी विलास : सं० भंवरलाल कस्तूरचन्द, जयपुर २०११ वि०
 बांकीदास ग्रन्थावली (भाग १-३) :
 बिहारी रत्नाकर : ग्रन्थकार प्रकाशन, बनारस, १९५१ ई०
 बीसलदेव रासो : ना० प्र० सा० काशी, सं० १९८२ वि०
 बुधजन सतसई : जैन ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई (तृतीयावृत्ति) ।
 बृहद् हिन्दी कोश : ज्ञानमंडल, काशी
 ब्रह्म विलास : भैया भगवतीदास; प्र० जैन बुक डिपो, शोलापुर, १९२६ ई०
 भारतीभूषण : अर्जुनदास केडिया; भारतीभूषण कार्यालय, काशी, १९८७ वि०
 भिलारीदास ग्रन्थावली : ना० प्र० सा० काशी, सं० २०१३ वि०
 भूषण ग्रन्थावली : हिन्दी भवन लाहौर, १९३८ ई०
 मतिराम रत्नावली : भारतवासी प्रेस, प्रयाग, १९४३ ई०
 मिश्रबन्धु विनोद : मिश्रबन्धु
 मोराबाई की पदावली : सं० परशुराम चतुर्वेदी, हिं० सा० सं० प्रयाग, २०११ वि०
 रत्नावली : सं० नाहरसिंह सोलंकी; सं० १९६५ वि०
 रसखानि : वाणीवितान: बनारस
 रहिमान रत्नावली : सं० मयाशंकर, सं० १९८५ वि०
 रहिमान विलास : सं० ब्रजरत्नदास; रामनारायण लाल, प्रयाग, १९८७ वि०
 राजस्थान का पिंगल साहित्य : डा० मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर, १९५२ ई०
 राजस्थानी भाषा और साहित्य : मोतीलाल मेनारिया; हिं० सा० सं० प्रयाग, २००८
 वि०
 राजिया के सोरठे : कृपाराम बारहठ; हिन्दी-साहित्य मान्दर, जोधपुर, १९२७ ई०

- रामचन्द्रिका : केशवदास
- रामचरितमानस (गुटका) : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३ वि०
- रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह, बलरामपुर, २०१४ वि०
- रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, दिल्ली, १९४९ ई०
- बाणिज्य नीति : सुखदेव; आधुनिक प्रेस, दतिया, १९५२ ई०
- विनय पत्रिका : गो० तुलसीदास; गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००७ वि०
- विवेक पत्रिका बेली: चाचा हितवृन्दावनदास; वृन्दावन २००९ वि०
- वीरकाव्य : उदयनारायण तिवाड़ी; प्रयाग १९४८ ई०
- वीरसतसई : सूर्यमल्ल; प्र० बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, २००५ वि०
- वैदिक साहित्य : रामगोविन्द त्रिवेदी, १९५० ई०
- व्यासबाणी : प्र० राधाकिशोर, वृन्दावन, १९९४ वि०
- ब्रजनिधिग्रन्थावली : महाराजा प्रतापसिंह; ना० प्र० स० काशी, सं० १९९०
- ब्रजविलास : ब्रजवासीदास, वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६४ वि०
- शिर्वासिंह सरोज : नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण
- संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो : डॉ० हजारीप्रसाद, इलाहाबाद, १९५२ ई०
- संक्षिप्त रामस्वयंवर : रघुराजसिंह; ना० प्र० स० काशी, १९८१ वि०
- सन्त दादू और उनकी बाणी : हिमालय प्रेस, बलिया
- संतबानी संग्रह (भाग २) : वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९३८ ई०
- संतबाणी : सं० वियोगी हरि; १९३८ ई०
- सन्तसुधासार : सं० वियोगी हरि; सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, १९५३ ई०
- सतसई सप्तक : सं० श्यामसुन्दरदास; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९३१ ई०
- साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोष : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५५ ई०
- सिद्धान्तरत्नाकर : निम्बार्क शोधमण्डल, वृन्दावन' २०१३ वि०
- सिद्धसाहित्य : डा० धर्मवीर भारती, प्रयाग, १९५५
- सुन्दरसार : सं० श्यामसुन्दरदास, ना० प्र० स० काशी; १९२८ ई०
- सूदनरत्नावली : सं० सत्यप्रिय; भारतवासी प्रेस, प्रयाग
- सुफीकाव्य संग्रह : सं० परशुराम चतुर्वेदी
- सूरराम चरितावली : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१४
- सूरसागर : सं० नन्ददुलारे बाजपेयी; ना० प्र० स०, काशी
- सेवकबाणी : (हितामृतसिन्धु के साथ मुद्रित)
- हंस जवाहर : कासिमशाह; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३७ ई०
- हनुमन्नाटक : हृदयराम; वैकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, १९४५ ई०
- हम्मररासो : ना० प्र० स०, काशी, २००५ वि०
- हितामृतसिन्धु : हित हरिवंश, वृन्दावन, २००९ वि०

हिन्दी काव्य धारा (हि० का० धा०) : राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, प्रयाग, १९४५ ई० ।

हिन्दी के कवि और काव्य : सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी, १९३९ ई०

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : नामवरसिंह; प्रयाग, १९४५ ई०

हिन्दी के सपूत : डॉ० सूर्यकान्त, लाहौर, १९४५ ई०

हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : कामताप्रसाद जैन, काशी, १९४७

हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (भाग १, २) : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६ ई०

हिन्दी नीतिकाव्य : डॉ० भोलानाथ तिवारी, आगरा, १९५८ ई०

हिन्दी पुस्तक साहित्य : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९४५ ई०

हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह : सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी; प्रयाग, प्रथम संस्करण

हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य : डॉ० कमलकुलश्रेष्ठ; अजमेर, १९५३ ई०

हिन्दी शब्द सागर : ना० प्र० स०, काशी

हिन्दी साहित्य : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (दिल्ली १९५२ ई०)

हिन्दी साहित्य : श्यामसुन्दरदास, प्रयाग, १९५३

हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल; ना० प्र० स०, काशी, २००६

हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ० हजारीप्रसाद, बम्बई, १९४८ वि०

(ज) पंजाबी

ग्रन्थसाहब (भाग १) : प्र० जवाहरसिंह कृपालसिंह, अमृतसर

बशमग्रन्थ : गुरु गोविन्दसिंह; अमृतसर २०१३ वि०

(छ) अंग्रेजी

एन्थालोजी ऑफ क्रिटिकल सेइंग्स : डॉ० अमरनाथ झा, प्रयाग, १९३१ ई०

एंशेंट इण्डिया : आर० सी० मजूमदार, १९५२ ई०

एथिक्स ऑफ इण्डिया : ई० डब्ल्यू० हाफ्किन्स; येल यूनिवर्सिटी प्रेस, यू० एस० ए०

ए शार्ट हिस्टरी ऑफ एथिक्स : आर० ए० पी० राजर्स, लन्दन

कौटिलीय अर्थशास्त्र (अंग्रेजी अनुवाद) : अनु० शामशास्त्री, मैसूर १९२९ ई०

गीतारहस्य (अंग्रेजी अनुवाद) : अनु० भालचन्द्र सीताराम, पूना, १९३६ ई०

गालि-इंग्लिश डिक्शनरी : आर० डेविड्स, लन्दन, १९२५ ई०

पुराणिक वर्ड्स ऑफ बिज्डम : भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४७ ई०

प्रेक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : सं० वी० एस० आपटे; बम्बई, १९२१ ई०

भगवद्गीता (अंग्रेजी अनुवाद) : डॉ० राधाकृष्णन्, लन्दन १९४९ ई०

मुगल एम्पायर इन इंडिया : श्रीरामशर्मा; खण्ड ३, बम्बई, १९४१ ई०

हिन्दू पालिटी : के० पी० जायसवाल, बंगलोर, १९५५ ई०

हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर : विटरनिट्ज, भाग २

हिस्टरी ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर : एम० कृष्णान् आचार्यर, १९३७ ई०

हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर : ए० वी० कीथ, १९४८ ई०

होली बाइबल :

(ज) पत्र-पत्रिकाएं

आलोचना : दिल्ली

जर्नल ऑफ डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स (जे० डी० एल०) : कलकत्ता यूनिवर्सिटी, भाग,
२८, ३०

राजस्थान भारती :

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (भाग १-४) :

राजस्थानी : प्र० राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता

नागरी प्रचारिणी पत्रिका : काशी

हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज : ना० प्र० सभा, काशी २००६ वि०

संकेत-सूची

एच० एस० एल० : हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर (कीथ)

एच० सी० एस० एल० : हिस्टरी ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (कृष्णामाचार्यर)

ए० सी० एस० : एंथालोजी ऑफ क्रिटिकल सेइंस (अमरनाथा झा)

जे० डी० एल० : जर्नल ऑफ डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

ना० प्र० प० : नागरी प्रचारणी पत्रिका, काशी ।

ना० प्र० स० : नागरी प्रचारणी सभा, काशी ।

पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू० : पुरानिक वर्ड्स आफ विज़डम (बम्बई)

सु० २० भा० सुभाषित रत्न भाण्डागार (बम्बई)

हि० का० धा० : हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन)

हि० सा० सं० : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

अनुक्रमणी

(क) ग्रन्थकार

अ

अकमल या अकू ६११, ६१७

अक्षर अनन्य ४८६, ४८७

अच्युतानन्द २५६, ३७७

अप्पय दीक्षित ६०

अब्दुल रहमान ११३

अमरसिंह ६१२

अमित गति ६७

अमृत कवि २८६

अयोध्यासिंह उपाध्याय ३६५

अर्जुनदास केडिया २२, ३०

अश्वघोष ५२

आ

आनन्द वर्धन २०, २७, ६१

आलम ३२७, ३२६-३३१, ३३६

इ

इकबाल अलीशाह ३४

ई

ईसर २६०

ईसर दास ५३७

उ

उदैराज २०५-२११

उम्मेद राम ५८७-५८६, ६१३

उसमान ३२४, ३३२, ३३३, ३३७,

३४६, ३४७

ए

ए० वी० कीथ ५६, ५८, ६६, ७०

ए० ई० एफिफी ३२२

क

कण्ठपा ११४

कबीर २२१, २६३-३०७, ३०६, ३१३,

३१४, ३१६-३१८, ३६३, ३६५,

४४८, ५६०, ५७१, ५६४, ६२२,

६३४

करनेस २८६

कल्हरा ५६

कादिर २८६

कालिदास ७, ५३, ५५, ६३, ६४, ६१,

३४५, ३४७, ३६६, ३७७, ४४६

कासिम शाह ३३३, ३३७, ३४०, ३४२,

३४५, ३४७

किशोर दास ४२३, ४३५, ४३८, ४४६

किसन ४६६, ४६७

कुंतक २४, २६

कुभन दास ४४२

कुलपति मिश्र ५६१, ५६३

कुशल धीर २४१-२४३

कुसुम देव ६६

कृपाराम ५१५, ६२३

कृपाराम बारहठ ५१८-५१९

बेदारनाथ गुप्त ६०५
 केशवदास १७६, ३६०, ३६७, ३७२,
 ३७६, ३८२-३८६, ३६१, ४०१,
 ४०४, ४०६, ४०६, ४१३, ४१६, ४२०

केशवदास जैन ४८६

कैसौदास ५७८, ६१६

कौतुहल ३२०

क्षमा कल्याण ६१३

क्षमाहंम या खेम २६०

क्षेमेन्द्र ६८, २४४, ५४५

ख

खुसरो १३६-१४१

ग

गंग २६३-२७०, ६२१, ६३६

गङ्ग ६१२

गणपति भारती ५१६-५१७, ६२३,

६३३, ६३७

गणेश प्रसाद द्विवेदी ३२२

गरीबदास ३०६

गिरिजाप्रसाद आनन्द १६

गिरिधर कविराय ५०४-५१०, ६१५,

६१६, ६१८, ६१६, ६२१-६२३,

६३१, ६३७

गीध कवि ६१४

गुपाल कवि ५७२-५७७, ६१८-६२०,

६२२, ६२४, ६३७

गुलाबचन्द १४

गोपालदास चानक ४८६-४८४, ६१६,

६२१-६२४, ६२५, ६३७

गोरथनाथ १३०

गोरेलाल १४४, १४५, १५४, १६८,

१७०, १७४

गोवर्धनाचार्य ५६

गोविन्दसिंह २६६

गोविन्द स्वामी ४४२, ४५२, ४५३

ग्वाल ५६६

घ

घाघ ५००-५०२

च

चंड ११२

चन्द्र गोमिन् ६६

चंदन राम ५८७

चंदबरदाई १४५, १५५, १६०, १६६,

३८६

चन्द्रशेखर वाजपेयी १४४, १४७

चतुर्भुजदास ४२८

चरणदास २६५, २६६, २६६, ३०२,

३०८, ३०८

चाणक्य ६, ६५, ५६०

चाहुड़ सोगाणी ११२

चिन्तामणि ५६०

छ

छीत स्वामी ४३४, ४४५

छीहल १८५-१८७

ज

जगनिक १४३, १४५, १४७, १५०,

१५१, १५७, १६२, १६५, १६८,

१७५, ६२१

जगन्नाथ २१, ६२, ७१, ७३, ६०८,

६१२, ६१६

जगन्नाथ दास रत्नाकर ५६०

जन हर्ष गणि ६३

जनार्दन भट्ट ५६

जमाल २८६

जयचन्द १४२
जयदेव २०, १२१
जयवल्लभ ८८
जयसिंह दास ५८४
जल्हणा ६८, ६९, ७२, ७३, ७७
जसराज (जिनहर्ष) ४५९-४६१, ६२२,

६२३, ६२५

जसवन्तसिंह ६१२
जानकवि २११-२१७, ३४७, ३६१,
६३३, ६३६

जानसन २५

जायसी ३२०, ३२४-३३३, ३३७, ३३८,
३४०, ३४९, ३५०, ३५३-३५५,
३६१, ६२१

जिनदत्त सूरि ११०, ११४, ११६, १२४

जिन रंग सूरि ४८५

जिनहर्ष, देखें 'जसराज'

जिनेश्वर सूरि ९३

जीवो रीषि ६१४

जोइन्दु ६३३

जोध राज १४४, १४५, १५२, १५४,
१५७, १६३, १६६, १६७, १७०

ज्ञानसार (योगिराज) ५११-५१४

ठ

ठकरसी १८३, ६३३

ड

ड्राईडन २४

त

तानसेन २८८

तिहुयणा संयम्भु १२०

तुलसी दास १२, १८७, १९८, ३४५,
३६५, ३६७-३८३, ३८५-३८९,

३९१-३९३, ३९६, ४०१-४०३,

४०७, ४०८, ४१०, ४११, ४१३,

४१५, ४१७-४१९, ४२३, ४३७,

४४९, ६३६

त्रिविक्रम भट्ट ५७

द

दक्षिणा मूर्ति ७०

दाहू २९२, ३००, ३०१

दीन दयाल गिरि ५५७-५७२, ६२२--

६२४, ६३३, ६३७

दीन दरवेश ३५५

दुरसा जी १४४, १६४

देव ५९३, ५९८, ६००

देवमणि ६१५

देवमुनि ५८८, ५८९

देवसेन ११४

देवा ब्रह्मा या देवपाण्डे ६१४, ६१७,-

६२२, ६२४

देवी चन्द ५८६

देवी दास २०१, २०५, ४८७-४८९,

६१६, ६२३, ६३६, ६३७

द्या द्विवेदी ११, ७०

द्वारकानाथ सरस्वती भट्ट ५८५, ५८६

द्वारका प्रसाद १४९-१५१

घ

घनद राज ७०

घन पाल १०६, ११७

घनेश्वर मुनि ९३

घर्म वीर भारती १२०

घर्म सिंह ४८१-४८५, ६२३, ६२५,

६३७

न

नन्द दास ४२४, ४२६, ४२८, ४२९,
४३४, ४३५, ४३७, ४३८, ४४६

नय नन्दी १०६

नयनसिंह ५८४, ५८५

नरपति नाल्ह १४३, १४६, १४४, १७५

नरहरि २४८-२५६, ६३६

नरायणदास २८६

नागरीदास ६१२, ६१६

नाथुराम (नाथिया) ५१४-५१६, ६२३

नानक २६६, २६९, ३०७

नामदेव २६२, ३०१

नामवरसिंह १०६

नारायणदास पंडित ३४६, ४१७, ४७९,
५४५

निसार ३४०, ३४२

नीलकण्ठ दीक्षित ७०, ७१

नूरमुहम्मद ३२१, ३२२, ३२४, ३२५-
३२६, ३३०-३३५, ३३८, ३४०-
३४३, ३४५, ३४६, ३४८, ३५०,
३५२

प

पट्टप भट्ट ४४७

पद्मनाभ १८२

पद्माकर १६३, १६४, १६८, १७०,
५६४

पद्मानन्द ६०

परमानन्द दास ४२६, ४३०, ४३३,
४४४

परमेश्वरानंद ३६०

परशुराम चतुर्वेदी ३६०, ४३६, ४४१,
४५२

पलटू २६४, २६७, २६८, ३००, ३१६-

३१८

पारषीदास ६१४

पाणिनि ३

पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू ७४

पीताम्बर दत्त बडधवाल ३७५

पुष्प दंत १०६, १२०, १२४

प्रवरसेन ८६, ९०

प्रवीण कविराय ६११

प्रेमचन्द ६११

ब

बषना २६३

बनारसीदास २१७-२२६, २८६-२८८, ६३६

बरकत जल्ला 'पेमी' ३५३-३५५, ३६०

बांकीदास ५१६-५४६, ६१५-६१७,
६१९-६२५, ६३४, ६३७

बाँन २३७-२४०

बाबूराम सक्सेना ८२

बालचन्द १११, ४८६

बिहारी १२, २७, ४८०, ४८१, ५७१,
५६०, ५६१, ५६४, ५६५, ५६८,
५६९, ६०१

बुच्चराय १८८

बुधजन जैन ५५०-५५६, ६१५, ६१६,
६२३, ६३७

बुल्लेशाह ३५४, ३६१

बैताल ५४६-५४७

ब्रजरत्नदास ६०६

ब्रह्म २५८-२६३

ब्रह्म साहा १११

भ

भगदत्त जलहणा ५६६

भगवती दास ४६३-४६५, ६१६, ६१८,

६२२-६२४, ६२५

भगवानदास निरंजनी ६१५

भट्टि स्वामी ५४

भट्टरी ५७८, ६२१

भरत २३, २६

भरमी कवि ६११

भर्तृहरि १०, ५६, ६७, २०४, ४४६

४७६, ४६८, ५०६

भल्लट ७१

भवभूति ८, ६४

भामह १६, २३, २६

भारवि ८

भास ६३

भिखारीदास ५६१, ५६२, ५६६

भीम ६१२, ६२०

भूधरदास ४६७-५००, ६१६, ६२२,

६२३, ६३४, ६३७

भूषण १५६, १७४, १७६

भोजराज २०, २४, ६१, १००, ११२

भोजानाथ तिवारी ६३८

भ

भंजन ३२८

भतिराम ६०१

भनरंगलाल ५४७-५४९, ६२०, ६२४,

६३७

भनराम ५७६-५८१

भनु ३७७, ४३३

भनोहर कवि २८६

भम्मट १६, २४, २६, २८

भयूर ३२०

भलूक दास ३०५, ३०७, ३०८, ३११

महचन्द १११

महापात्र नरहरि २४८-२५७

महीश्वर ४

महेशदास २५८-२६३

महेश मुनि ६११

महेश्वर सूरि ६३, ६४, १०३, ११०

माघ ८, ५४, ६३२

मान १४४, १५६, १६१, १७६

मानिक दास ५७६, ६२०

मार्गेरेट स्मिथ ३३६, ३४०

मिश्रबन्धु ५६३

मीराबाई ४२६, ४३०, ४३३, ४३४,

४३८, ४४८

मुंज ५६६

मुनिमान ६१३

मुनि समय सुन्दर २८६

मुरलीदास ६१४, ६१७

मथिलीशरण गुप्त २६

मोतीलाल मेनारिया ५८७

य

योगीन्दु १०६, ११४, ११६, १२४

र

रघुनाथ ५४६-५५०, ६१८, ६२२

रघुराज सिंह ३७०, ३८१, ४०८, ४१३

रघु राम ४६४, ६१८, ६१९, ६२३-

६२४, ६३८

रज्जव ६६४, ३१३, ६३४

रत्नचन्द १४

रत्नावली १६६-२०१

रसखान ४२७, ४३०

रसनिधि ५६१, ५६२, ५६६, ५६८,

५६९

रसिक गोविन्द ६१३, ६२१
 रसिक देव ४३२, ४३७
 रहीम ३१, २७०-२८२, ४८०, ६३६
 राजशेखर ६१
 राज समुद्र २४०-२४१
 राजा टोडर मल २५७-२५८
 राजा वीरबल २५८-२६३
 राजेन्द्र द्विवेदी १८
 रामगोविन्द त्रिवेदी ४२
 रामचन्द्र शुक्ल ३२१, ५६८
 रामचरण २६८, ३०३, ३०७
 रामदहिन मिश्र ३०
 राम पाणिवाद ८६, ६०
 रामसिंह १०६, ११४
 रामानन्द ३७५
 राहुल सांकृत्यायन १०६
 रघु १६, २४

ल

लक्ष्मण गिरि ६३
 लक्ष्मी नारायण दास पौहारी ३७३
 लक्ष्मी वल्लभ ४६५-४६७, ६२२, ६२३,
 ६२५, ६३७
 लखम देव १०७
 लल्लूलाल ६०६
 लाल कवि २४३-२४५
 लालचन्द ५०१, ६१३, ६१४, ६१६,
 ६१८, ६१९

व

वणारस सुन्दरदास ६१४
 वट्टकेर ६२
 बल्लभदेव ७२, २४४

वाक्पतिराज ८६, ६०
 वाग्भट १६, २०
 वाजिन्द (वाजिद) २३५-२३६
 वामन २०, २४
 वाल्मीकि ४, ५, ४१७
 विटरनिट्ज ८३
 विक्रमसिंह ५६७, ५६६
 विद्यानाथ १६
 विद्यापति ११३
 विनयचन्द १११
 विपिनविहारी त्रिवेदी १४५
 विमलकुमार जैन ४००
 विमल सूरि ६३
 विल्हण ५६
 विश्वनाथ २०
 विश्वनाथ मिश्र ५६०
 विष्णुगिरि ५८८-५८९
 वीरचन्द १११
 वीरेश्वर ७२
 वृन्द १३, २२, ३२, ४६७-४८१, ५६०,
 ६१५, ६१६, ६२३, ६२४, ६३९,
 ६३३, ६३७
 व्यास (महर्षि) १७०
 व्यास ४२५, ४३१, ४३३, ४३५, ४३७,
 ४४०, ४४२-४४५, ४४७, ४४८,
 ४५१
 व्रजनिधि ५८६-५८७
 व्रजवासी दास ४३१, ६१३
 वेदान्त देशिक ६६
 श
 शंकराचार्य ६१, ६२, ६७, ४६७

शंभु ५७
 शार्ङ्गधर ७२, ३१३
 शिवलाल द्वे ६१४
 शीलाचार्य ६३
 शुद्धक ६३, ६१
 शेख नवी ३२६, ३३३, ३३४, ३४४
 शेख फरीद ३६३
 श्रीधर दास ७२
 श्री सार ६१३, ६१७
 श्री हर्ष ८, ५४
 स
 समय सुन्दर गणि ६२, ६३, २८६
 सरदार इकबाल अलीशाह ३३६
 सर फिलिप सिडनी २४
 सरला शुक्ल ३२२
 सरहपा ११४, १२१
 सायणाचार्य ७२
 सिल्हण ६६
 सुखदेव ४६१-४६२, ६२०
 सुनीति कुमार चटर्जी १२१
 सुन्दर दास २२६-२३५
 सुन्दर पाण्ड्य ६६
 सुप्रभाचार्य १०६
 सुमित्रा नन्दन पन्त २६
 सूदन १५८, १५९, १६४
 सूर किशोर ३७७, ३८१
 सूरत ६१४, ६२०, ६२४
 सूरदास १२, ३६८, ३६९, ३८३,

३८८, ३९१, ४०६, ४२१, ४२५,
 ४२६, ४३३, ४३८, ४४०, ४४१,
 ४४७, ४४८, ४५२, ४८०, ६३४
 सूर्य मल्ल १४७-१४९, १५३, १५६
 १५७, १६२-१६४, १७१, १७७
 सेनापति ५६३-५६५
 सेवक ४३२
 सोमदेव ११, ५७
 सोमप्रभाचार्य ६३, १०८, ११७, ४६०,
 ६३१
 सोमेश्वर ६२
 स्याम दास ५१७-५१८, ६२४
 स्वयंभू १०६, १०७, ११४, ११६, ११७,
 १२५, ६३२
 ह
 हंट २५
 हर गोविन्द दास १४
 हरिकवि ७३
 हरिदेव १०८
 हाजी वली ३६३
 हित वृन्दावन दास ५०२-५०४, ६१७,
 ६२१, ६२२
 हित हरि वंश ४४४
 हृदय राम ३६६, ३८२, ३८६, ४०२,
 ४०६, ४१६
 हेम चन्द्र १६, ६६, ६१, ६३, ६४, ६७,
 १००, १०१, १०७, १११२, ११८,
 १२५
 हेमराज २८६, ४६२

(ख) ग्रन्थ

अ

अक्षर बन्नीसी ६११
 अणभै वाणी २४८, ३०३ ३०७
 अथर्ववेद ४, ३५-४०, ३४८, ६०४
 अदं कयानक २१८
 अद्भुत उपदेश २३०
 अनुराग बँसुरी ३२२-३३५, ३३६, ३४०
 ३४२, ३४३, ३५०, ३५२
 अनुराग बाग ५५७
 अन्यापदेश शतक ७१
 अन्योक्ति कल्पद्रुम ५५७, ५६१-५७२, ६२४,
 ६२५
 अन्योक्ति बावनी ५११
 अन्योक्ति वर्णन ५१६-५१७
 अन्योक्ति शतक ७२
 अपभ्रंश काव्यत्रयी १२४
 अपभ्रंश दर्पण ११६
 अपभ्रंश पाठावली १२०, १२१
 अपभ्रंश स हित्य १०८, १०९, १२१
 अभिज्ञान शाकुन्तलम् ६३, ६४, ३४५, ३४७
 अभिलषितार्थ चिन्तामणि ७२
 अरिल २३५-२३७
 अर्धमागधी कोश १४
 अलगज्जाली दी मिस्टिक ३४०

अलफ खाँ की पेंड़ी २११

अष्टाध्यायी ३

असली आल्हखण्ड १४२-१५१, १५३,
 १५६, १६१, १६२, १६५-१६८,
 १७५, १७८-१८०

आ

आत्म विचार ५७६

आर्या सप्तशती ५६

आल्हा १४८, १५०—१.

इ

इन्द्रावती ३२१, ३२४, ३३६, ३४५,
 ३४६, ३४८

इस्क चमन ६१२, ६१६

इस्लामिक सूफिज्म ३३६

उ

उत्तर रामचरित ६४

उद्दिम-कर्म-संवाद २४२-२४३

उदैराज रा दूहा २०५-२०६

उपदेश बत्तीसी ४५६

उपदेश शतक ४६२

उपदेश सत्तरी ६१३, ६१७

उबएस रसायण ११५, ११६, ११८, ६३८

ऋ

ऋग्वेद ४, ३५, ३७, ३८, ३९, ४१,

७४, ३७३

ए

एब० एस० एल० ५६, ५८, ५९, ७०

ऐ

ऐतरेय ब्राह्मण ४२

ऐन एपोलोजी फार पोएट्री २४

ओ

ओरिजन एण्ड डिवेलपमेंट आफ बंगाली
लैंग्वेज १२१

क

कंस व्हो ८९, ९०

कक्का बत्तीसी ६१४

कठोपनिषद् ४३, ८४, १२६

कथा कंवलावती ३४८

कथा कोश प्रकरण ९३

कबीर ग्रंथावली २९५, २९६, २९९-
३०१, ३०४-३०७, ३६१, ३६३,
४४८, ६३२

कबीर वचनामृत ३१०

कबीर वचनावली २९२-२९९, ३०२,
३०३, ३०६-३११, ३१३ ३१४,
३१६, ३१७, ३६५

करकण्ड चरित ३२०

करणा लहरी ६२

कर्पूर मंजरी ९१, ९५

कर्म बत्तीसी २४१

कर्म शतक ४९१—४९२, ६२१

कला विलास ५४५, ५४६, ६३८

कलि चरित्र बेली २३७-२४०, ५०२-
५०४ ६१७, ६२१, ६२२

कलिजुग रासो ६१३, ६२१

कलि विहम्बन ७०

कल्याण मन्दिर स्तोत्र २८६

कवित प्रबन्ध ५७९

कवित बावनी ४६१, ६१२, ६२५

कवित रत्नाकर ५९३

कविता कौमुदी १५३, १५५, २२१,
२५५, २६३, २६७, २८४, ३०४,
३६३, ३६४ ३८६, ४४८, ४८०,
५४६, ५४७, ५६०, ५७१, ५९०,
५९४, ५९६, ६००, ६०३, ६०४.

कवितावली ४०२, ४१८

कवियों की भाँकी ६०५

कवीन्द्र वचन समुच्चय ७२

कायम रासो २११

कायर बावनी ५२३-५२६, ५४०—५४४,
६१६, ६२२, ६३१, ६३९

कालीदास हजारा ६११

कालेज करेंट एस्सेज १९

काव्य दर्पण ३०

काव्य निर्णय ५९१, ५९२, ५९६, ६०५

काव्य प्रकाश १९, २४, २९

काव्यमाला ५५, ५७, ५९-६२, ६९,
७०

काव्यादर्श ९५

काव्यानुशासन १९, ९१, ९७, ९९-१०१

काव्यालंकार १९, २३

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति २०

किरातार्जुनीय ८, ५३

किशन बावनी ४९६-४९७

कीर्तिलता ११३

कीर्ति शतक ४९१, ६१६, ६२५, ६३९

कुक्कि बत्तीसी ५२२, ५२४, ५२९,
५३०, ५३६, ५४०, ५४१, ६२२

कुण्डलिया ५०५-५१०, ५१३-५१६, ६३१	गोरख वाणी १३२-१३६
कुण्डलिया बावनी ४८३-४८४, ६२५	गोविन्द स्वामी ४४२, ४५२
कुमार पाल चरित ६३, ६४, १०६	गौड वध ८६, ९०
कुमार पाल प्रतिबोध ६३, ११७	ग्रन्थ साहब २६२, ३०६
कुमार संभव ५३	ग्रिहसत सत सार ६१४, ६१७
कुम्भनदास ४३६, ४४२, ४५२	ग्वाल रत्नावली ६०१
कुवलय माला ३२०	घ
कृपण चरित्र १८३-१८४, ६३३	घाघ और भड्डरी की कहावतें ५७८
कृपण दर्पण ५२२, ५२४, ५३४—५३८,	च
५४०, ५४१, ६२०, ६२२	चतुर्भुज दास ४२८, ४३०, ४३६, ४३६,
कृपण पञ्चीसी ५२३, ५२४, ५३४,	४५२
५३६—५३८, ५४०, ६२०, ६२२,	चन्द्रालोक २०
६२४	चम्पू-भारतम् ५८
केशव ग्रन्थावली ५६४, ६०३—६०६	चर्पटमंजरिका ४६७
केशव पंचरत्न १७६, १७७	चाणक्य नीति ६, ६५, ६६, ७४, ७५,
केशव वावनी ४८६	७६-८१, ३५०, ४००, ४१६, ४७८,
कौटिल्यार्थशास्त्र ६	५६०, ५८८, ६११, ६१५, ६३३
ख	चाणक्य सूत्र ६
खुसरो की हिन्दी कविता १४०-१४१	चित्रावली ३०४, ३३२, ३३७, ३४६,
ग.	३४७
गंगाष्टकम् ६२३	छुगल मुख चपेटिका ५२२, ५२४, ५२५,
गज सुकमाल चौपाई २४१	५४०, ५४१, ६१५, ६३६
गर्ग संहिता ४००	छूनड़ी १११
गाथा सप्त शती ८८, ६६, ६७, १००	चौबीस तीर्थकर का पाठ ५४७
गाथा सहस्री ६२, ६३	चौबीसी २४१
गाहा सतसई ६२३	चौर पंचाशिका ६२३
गीता रहस्य ६	छ
गीतावली ३०६	छन्द शिक्षा ३६०
गुण बावनी २०५	छप्पय बावनी ४८४, ६२५
गुर सीष ६१४	छान्दोग्योपनिषद् ८०, १०८
गुरु-चेलानी चढ़ बड़ ६१२, ६१८	छिनाल पञ्चीसी ५०१, ६१३, ६१६
गुरु महिमा ६१२, ६१८	छीत स्वामी ४२२, ४३४, ४४५

छीहल बावनी १८५-१८७

ज

जसहर चरित १०६, १२०, १२४, ३२०

जातक निदान कथा १०८

जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और
काव्य ३२२, ३२४, ३२६, ३२९-
३३१, ३३३, ३३५, ३३७, ३४३,
३४६, ३४८, ३५४-३५७, ३६१

जायसी ग्रन्थावली ३२१, ३२३, ३२६-
३३०, ३३२-३३८, ३४९-३५१,
३५३-३५७, ३६१

जिन सहस्रनाम २८६

जीव मनः करण संलाप कथा १०८

जे०डी०एल० १०४-६

जैन शतक ४९७-५००, ६३४

ज्ञान दीप ३३३

ज्ञान पंचमी कथा ६३, ६४, ६३३

ड

डिगल में वीर रस १४७, १६४

डीफेंस आफ ऐन एस्से आफ ड्रामेटिक

पोएट्री २४

डूंगर बावनी १८२

ढ

ढाल मधु बृन्द ६१४, ६२४

ण

णाय कुमार चरित १०६, ३२०

णेमि णाह चरित १०७

त

तर्क चितावनी २३१

तिसट्ठि महापुरिस चरित १०६

तुलसी और उनका साहित्य ४००

तुलसी ग्रन्थावली ३७४, ४०२, ४०६,

४११, ४१३, ४१८, ४४९

तुलसी रत्नावली ४१२, ४१५

तुलसी सतसई ३६८, ३७०-३७२, ३७४,

३७८, ३७९, ३८०-३८२, ३८५-

३९७, ४०३, ४०४, ४०७, ४१२,

४१५, ४१८, ४२३

तुलसी साहित्य रत्नाकर ४१७

तुलसी सूक्ति सुधा ३६६, ३६८, ३७०,

३७४, ३८३, ३८१, ४०४, ४११,

४१२, ४१४

तेरह कठिया २१८-२१९

तैत्तिरीय उपनिषद् ३६२

त्रीया विनोद चरित्र ५८२-५८३, ६१९,
६८४

द

दम्पति वाक्य विकास ५७२-५७७, ६१८-

६२०, ६२२, ६२४, ६३९

दर्पदलन ६९, ६३४, ६३८

दशम ग्रंथ २९६, ३०१

दशमुख वध ८९, ९०

दश रूपक ९१

दातार बावनी ५२१, ५२४, ५३४,

५४०, ५४१, ६२०, ६२३

दातार सूर नो संवाद ५८३-५८४, ६२०,
६२२

दीन दयाल गिरि ग्रन्थावली ५५७-५७२,
६३३

दीपक बत्तीसी ५७८, ६१६

दी मिस्टिकल फिलासफी आफ मुहीउद्दीन

इब्नुल अरबी ३२२

दुष्ट गंजन पंचावनी ५४९, ५५०, ६१८,
६२२, ६३९

दूहा बावनी ४६६, ४६७

दृष्टान्त तरंगिणी ५५७-५६१, ६२५

दृष्टान्त पञ्चीसी ४६३, ६२५

देव सुधा ५६१, ५६३, ५६७, ६०३,
६०४

देव शातक ६००, ६०२

देवीदास जी रा कवित्त २०१-२०५

देव्यपराध क्षमापण स्तोत्र ६२

दोहा कोश ११४, ११५

दोहावली १८७-१९८, ४१८

दोहावली वा सतसई २७१

घ

घम्मपद ८२-८७, ६३४, ६३८

घर्म बावनी ४८२-४८४

घवल पच्चीसी ५२१, ५२४, ५३३,
५४०, ५४१, ६१७, ६२२, ६२५

घन्यालोक २०, २७, ६१, ६२५

न

नन्द दास ग्रंथावली-४२२, ४२४, ४२८,
४२९, ४३२, ४३४-३८, ४४६,
४५२

नल चम्पू ५७

नव रत्न कवित्त २१९-२२१

नव रस पद्यावली २१८

नाटक समय सार २१८

नाट्यशास्त्र २३

नाण पंचमी कहाओ १०२

नाम माला २१८

निरुक्त ३७१

निर्घार शतक ४८७

नीति द्विशतिका ६६, ६३३

नीति पद्य संग्रह ६०९

नीति मंजरी ११, ७०, ५२१, ५२४,
५३८, ५४१, ५८६, ६२१, ६२५

नीतिवाक्यामृत ११

नीति शतक १०, ६२३, ६३४, ६३८

नेम चन्द्रिका ५४७

नैषध चरित ८, ५४

न्यास दशकम् ६२३

प.

पञ्चम चरिय ६३, १०६, १०७

पंचतन्त्र ११, ८१

पंचाख्यान ५८६

पंचेन्द्रिय चरित्र २२९-२३०

पंचेन्द्रिय संवाद ४६३, ६१६, ६२२,
६२४

पंचेन्द्री बेली १८३-१८५

पद्माकर पंचामृत १६३, १६५, १६६,
१६८, १७०, ५६०, ५६४, ६०५

पद्मावत ३२०, ३३६

पद्मावती ३२०

परमात्म प्रकाश ११५, ११९, १२४

परमानन्द दास ४३०

परमानन्द सागर ४२६, ४२९, ४३४,
४३६, ४४०, ४४४, ४५२

परशु राम सागर ४२४, ४३६, ४४१,
४४३, ४५०-४५२

पल्लव २९

पाद्म सद् महर्णावो १४

पाहुड़ दोहा ११४

पुण्य शतक ४६२-४६३, ६१६

पुराण ४९-५२

पुराणिक वर्ड्ज आफ विज्डम ४९

पुरानी हिन्दी ६३१

प्रताप रुद्र यशोभूषण १९

पृथ्वीराज रासो १४५, १४६, १५२, ६२५

प्रबन्ध चिन्तामणि ११२

प्रबोध चन्द्रोदय ६१२, ६१३

प्रश्नोत्तर माला २४१

प्रश्नोत्तरी ६७
 प्रश्नोत्तरी विदग्ध मुख मण्डन ५८७
 प्रसन्न राघव ४१६
 प्रश्न पुण्यपाप ६१२, ६१६
 प्राकृत पंगल ११२, ११८
 प्राकृत लक्षण ११२
 प्राकृत व्याकरण ११६, १२५
 प्राकृत सुभाषित संग्रह ८६, ६५, ६७,
 १०२

प्रास्ताविक अष्टोत्तरी ५.३, ५१४
 प्रास्ताविक दोहरा ६०६
 प्रास्ताविक फुटकर कविता २२२-२२४
 प्रीफेस टु शेक्सपीयर २५
 प्रेम तरंग ५६३
 प्रेम प्रकाश ३५३-३५५, ३५७, ३६०,
 ३६१
 प्रेम रत्नाकर ४८७, ६१६, ६२२
 प्रेमावती ३२०

फ

फुटकल पद्य ४६४, ४६५, ४८४

ब

वषणा जी की वाणी २६३
 बनारसी विलास २१८-२२६
 बार्डस परीक्षा ४६४, ६१८, ६२२
 बाँकी दास ग्रन्थावली ५२०-५४६
 बारह खड़ी ६१३, ६१४, ६२०, ६२४
 बालावबोध २४१
 बिहारी रत्नाकर ५६०, ५६२, ५६४,
 ५६५, ५६६, ६०१, ६०२, ६०५,
 ६०७

बिहारी सतसई ५६८, ६०४, ६०६
 बीशी २४१

बीसल देव रासो १४३, १४६, १४६,
 १५४, १७५
 बुद्ध चरित ५२
 बुधजन विलास ५५०
 बुधजन सतसई ५५०-५५६, ६१५, ६३३-
 बृहदारण्यकोपनिषद् १०८
 बृहद् हिन्दी कोश १४

भ

भगवद् गीता ६, ४६, १७०, ४१७
 भट्टि काव्य ५४
 भर्तृहरि शतक भाषा ५८५, ६१५
 भल्लट शतक ७१
 भविस्सयत्त कहा १०६, १०७, ११७
 भागवत ५१, ७५, ४१७, ४४७, ५०३
 भामिनी विज्ञान ७१, ७३
 भारती भूषण ३०
 भाषा चाणिक्य ५८७, ५८८
 भिलारी दास ग्रन्थावली ५६२, ६०१
 भूषण ग्रन्थावली १४६, १५२, १५६,
 १६४, १७४
 भ्रम विध्वंस अष्टक २३०

म

मतिराम सतसई ५६७, ६०१, ६०६,
 ६०७
 मधु मालती ३२८, ३२६
 मन बत्तीसी ४६३-४६४, ६१६
 मनराम विलास ५७६-५८१
 मनुस्मृति ८१, ८६, ८७, १४६, ३०८,
 ३१३, ३७७, ४३४, ४७३
 मन्त्र ब्राह्मण ३३६
 मयण जुझ १०८
 मयण पराजय चरित १०८

महा पुरुष चरित ६३

महाभारत ४, ५, ४५-४६, ८१, ४१६,
६३३

मातृका बावनी ४५६-४६०, ६२५

माधवानल काम कंदला ३२७, ३२६

मान बावनी ६१३

मालती माधव ८

मावड़िया मिजाज ५२२, ५२४-५२७,
६१६, ६२२, ६३६

मिरगावती ३२०

मिश्रबन्धु विनोद ५७६

मीरा बाई की पदावली ४२२, ४२६,
४२६, ४३०, ४३३, ४३४, ४३६,
४३८, ४४०, ४४८,

मुगधावती ३२०

मुग्धोपदेश ६६

मुण्डकोपनिषद् १२६

मुद्राराक्षस १५

मूरख सोलही ६१३, ६१६, ६१६

मूलं भेद चौपाई ५८१-५८२, ६१६,
६१६

मूलाचार ६२

मृच्छकटिकम् ६३, ६१

मृत्यु महोत्सव पन्चीसी ६१२

मेघदूत ५५, ४४६

मोहन मर्दन ५२२, ५२४, ५३६—
५४१, ६१६

मोह मुद्गर ६३४

य

यजुर्वेद ३५, ३७, ३८, ४१, ३६६,
३७३

यशस्तिलक चम्पू ५८

र

रंग बहत्तरी ४८५

रघुवंश ७, ५३, ३६६, ३७७

रत्नावली १६६-२०१, ३२०

रत्नावली लघु दोहा संग्रह १६६-२०१

रयण सेहरी कहा ६३

रसखानि ४२७, ४३०

रस गंगाधर २१, ६१

रस निधि सतसई ५६१, ५६२, ५६८,
५६६, ६०३, ६०४

रस रहस्य ५६३, ६०५, ६०७, ६३१

रहिमन विलास २३, ३१, २७२-२८२,
२८४, २८५, ६०६, ६०७, ६३१

रहीम रत्नावली २७१

राज विलास १६१

राजस्थानी भाषा और साहित्य ५८७

राजिया के सोरठे ५१८-५१६

रामचन्द्रिका ३६७, ३७१, ३७३, ३७६,
३८२-३८७, ३९०, ३६१, ३६३,
३६७-३६६, ४०१, ४०३-४०६,
४०८-४१०, ४१३, ४१५, ४२०

रामचरित मानस १२, ३१, ३६५-३८३
३८५-४०४, ४०७-४१५, ४१७,
४१६, ४३७, ६०७

रामचरितावली ३६८, ३८३, ३८८

राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय ३७३,
३७७, ३८१

राम रसायन ५७८

रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ ३७५

रामायण ४, ४३-४५, ११४, ११६,
११७, १२५, ४१६, ४१७

रिटठणोमि चरित १०६

रूप गुण संवाद २४३-२४५, ६३६
रेवातट १४५

ल

लघु चाणक्य नीति शास्त्र ५८८
ललिता पंचकम् ६२३
लोकोक्ति मुक्तावली ७०

व

वक्रोक्ति जीवित २६
वचन विवेक पञ्चीसी ५२३-५२५, ५४०,
५४१, ६१५, ६३६
वज्जालग ८८, ६३४
वाग्भटालंकार २०
वाचस्पत्य कोश १३, १४
वाणिज्य नीति ४६१
वादु २४६-२५१
वारःकरी दोहा १११
वाल्मीकि रामायण, दे० रामायण
वासवदत्ता ३२०
विक्रम सतसई ५६७, ५६६
विक्रमांक देव चरित ५६
विदुर नीति ५, ४७-४६, ७६, ५८१,
५८५
विदुर प्रजागर भाषा ५८५
विदुर बत्तीसी ५२२, ५२४, ५२६,
५३१, ५४०, ५४१, ६१६
विनय पत्रिका ३४५, ३६८, ३७५,
४१०, ४११
विरुद छहत्तरी १४४
विवेक चिन्तावनी २३१
विवेक पत्रिका बेली ४२३, ५०४
विश्वनाथ नवरत्न ५५७
वीर काव्य १४४-१४७, १५४, १५६,

१६८, १७०, १७१, १७४
वीर विनोद ५२१, ५२४-५२६, ५४०-
५४२, ६१६, ६२२
वीर विशतिका ६२३
वीर सतसई १४७-१४६, १५३, १५६,
१६२, १६३, १७७, १७८
वीर शतक ४६०, ४६१, ६२२, ६३६
वृन्द विनोद सतसई ४६७, ४८१
वृन्द सतसई २२, ६२५, ६३३
वैदिक साहित्य ४२
वैद्य आदि के भेद २२१-२२२
वैराग्य बोध २३१
वैराग्य दिनेश ५५७
वैराग्य मंजरी ५८
वैसक वार्ता ५२१, ५२४, ५२६, ५४०,
५४१, ६१६
वैस वार्ता ५२२, ५२४, ५२६, ५४०,
५४१, ६१६
व्याख्यान माला २५६, ३७७
व्यास वाणी ४२२, ४२३, ४२५, ४३१,
४३३, ४३५-४३७, ४३६, ४४०,
४४२-४४५, ४४७, ४४८, ४५१
व्रज विलास ४३१, ४३२
वृहट् इज पोएट्री २५
श
शतक त्रयम् ७५, ७६, ८१, २०४, २२६,
३३८, ३५६, ३६६, ४४६, ४७६,
५८१, ५८५, ५८७
शब्दार्थ चिन्तामणि कोष १३
शार्ङ्ग घर पद्धति ७२
शालि भद्र चौपाई २४१
शिर्वासिंह सरोज ४८६

शिवापराध क्षमापण स्तोत्र ६१

शिशुपाल बध ८, ५४, ६३२

शील बत्तीसी २४१, ६११, ६१७, ६२२

शुक सप्तति ६२३

शुक नीति १०

शृंगार मंजरी ५८६

शृंगार शतक ५६

स

क्षिप्त पृथ्वीराज रासो १४८

संक्षिप्त महाभारत ४६, ४७

संक्षिप्त राम स्वयंवर ३७०, ३७१,
३८१, ३८२, ३९०, ४०३, ४०८,
४१३, ४१४

संत दादू और उनकी वाणी २६२,
२६७, ३१६

संत वाणी २६६, ३००, ३०७, ३०९,
३१०, ३५४, ३५६

संत सुधा सार ११५, २६४-२६६, ३००-
३०३, ३०५, ३०८, ३०९, ३११,
३१३, ३१६-३१८

संतोष बावनी ५२३, ५२४, ५३४, ५४०-
५४२, ६२०, ६२२

संतोष सुरतर ५७६, ६२०, ६२२

संदेश रासक ११३

संबोध अष्टोत्तरा ५१२, ५१३

संयममंजरी ११०, ६३८

संस्कृत आभाषणक ४३०

सतवंती सत २१२-२१३, ६३३

सतसई सप्तक १२, १३, २२, २७, ३२,
४६८-४८१, ५६०, ५६६-५६९,
६०१-६०४, ६०६, ६०७, ६३२-३

सत्योपदेश ६१३

सत्संग प्रभाव ५७६

सदुक्ति कर्णामृत ७२

सद्गुरु महिमा नीसानी २३०, ६१८

सपनावती ३२०

सप्तषिपूजा ५४७

सप्त व्यसन चरित्र ५४७, ५४८, ६२०,
६२४

सप्तव्यसन दूहा कुंडलिया ६१३, ६२०

सभासागर नाटक ४६४-४६६, ६१८,
६१९, ६२२-६२४, ६२५

समामातृका ६८, ६३८

सरस्वती कंठाभरण २०, ६१, ६६, ११२

सरह पा १०४, १०५

सर्वांगी ६३४

सर्वैया बावनी ४६६-४६७, ४८६

साकेत २६

साक्य धम्म दोहा १०६, ११५, ११८, ६३८

सामान्य भाषा विज्ञान ८२

सास बहू का झगड़ा ६१४, ६१७, ६३६

साहित्य दर्पण १०, ६१, ६२२, ६२४

साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्द कोश
१८

सिगालमुत्तम् ८३

सिंहासन द्वात्रिंशिका ६२३

सिछ्या सार ५१५

सिद्ध साहित्य १२०

सिद्ध हैम शब्दानुशासन ११२

सिद्धान्त कौमुदी ३

सिद्धान्त रत्नाकर ४२३, ४२४, ४३२,
४३५-४३८ ४४६, ४५१, ४५२

सिष्या सागर २१२, २१३-२१७

सीखामरण ढाल २६०

सीह छत्तीसी ५२१, ५२४-५२६, ५४०

५४१, ६१६, ६२२, ६२४, ६२५

सुजस छत्तीसी ५२३-५२६, ५२८, ५४०
६१६, ६२२

सुजान हित ५६७

सुदंसण चरित १०६

सुदामा चरित ४३२

सुन्दर सार २२६—२३५

सुपाश्वनाथ चरित ६३

सुभाषित रत्नभाण्डागार ७४, १०२,
१०३, १६५, १६६, २०८, ३१४,
३२६, ३४५, ३५०, ४४७, ५७०,
६०६ ६३१-२

सुभाषित रत्न संदोह ६७, ६८

सुभाषित रत्नाकर ३१३, ६३१

सुभाषित सुधानिधि ७२

सुभाषितावली ७२, ७३

सुमति नाथ चरित ६३

सुर सुन्दरी चरित ६३

सुश्रुत २२४

सूक्ति कर्णामृत ७२

सूक्ति मुक्तावली ६८, ६९, ७२, ७७,
२४४, २८६, ४६०, ५६६, ५७०,
६३३

सूक्ति सरोज ८६, ६६—१००, १०३

सूफी काव्य संग्रह ३६०, ३६१, ३६३

सूदन रत्नावली १५८, १६४, १६६

सूर छत्तीसी ५२०, ५२४—५२६, ५४०,
६३४, ६३६

सूर दास ४४१

सूर पंचरत्न ४२८, ४३०, ४५१

सूर राम चरितावली ३६६, ३६०,
३६१, ४०६

सूर सागर १२, ४२१—४२६, ४२६,
४३१, ४३३, ४३६, ४३८, ४४०—
४४४, ४४७, ४८०

सेव्यसेवकोपदेश ६८, ६३८

सौन्दरानन्द ५२

स्टडीज इन प्राली मिस्टिसिज्म ३३६

स्फुट पद्य संग्रह २०५, २०६-२११

स्वप्नवासवदत्तम् ६३

ह

हंस जवाहर ३३३, ३४०, ३४५, ३४७

हनुमन्नाटक ३६६, ३८२, ३८६, ४०२,

४०६

हम्मीर रासो १४४, १४५, १५२, १५५,

१६३, १६६, १७०, १७८, १७९

हम्मीर हठ १४४, १४५

हारावली ७३

हित उपदेश ५१७—५१८

हित शिक्षा दात्रिसका ६१३

हितामृत सिन्धु ४३२, ४३५, ४४३—

४४५, ४५२

हितोपदेश ११, ३४६, ४१६, ४१७,

४७६, ५८१, ५८७, ६०६—

६११, ६२४

हितोपदेश कथा ५८४

हितोपदेश भाषा ५८५—५८६

हिन्दी काव्य धारा १०६, ११६, ११६,

६३१-३

हिन्दी के कवि और काव्य ३०७

हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह ३२२, ३२७

३२६—३३१, ३३६, ३४०—

३४२

हिन्दी शब्द सागर १४

हिन्दी साहित्य १३२

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर ८३

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अव्राप्ति सं०
Acc. No.....

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

[illegible]

GL H 891.431
RAS



123810
LBSNAA

#

891.431

रतिकेश

अवाप्ति सं० ~~15046~~

ACC. No.....

वर्ग सं.

पुस्तक सं.

Class No..... Book No.....

लेखक

Author रतिकेश, रामतत्प शास्त्री

शीर्षक

हिन्दी में नोति काव्य का

891.431

LIBRARY

15046

रतिकेश

BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No.

123810

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving